विचार संग्रह

संशोधक : पण्डित गौरीशंकर शास्त्री

भूमिका

यह विचार—संग्रह नामक ग्रन्थ—भक्ति-मुक्ति, ज्ञान-वैराग्य, आत्मा-परमात्मा इत्यादि विषयों पर विस्तृत रूप से लिखा गया है और—लेख शैली शुद्ध—हिन्दी में की गई है।

अनेकों वेद-वेदान्त उपनिषद् श्रुति स्मृति संहिता पुराण आदि ग्रन्थों से संग्रह, श्री बाबा मौजीरामजी ब्रह्मनिष्ठ, एक्जीक्यूटिव इञ्जिनियर P. W. D. सिंध ने अपने घोर परिश्रम द्वारा दत्त चित्त होकर किया है।

वास्तव में संग्रह ही नहीं किन्तु अनुभवी योगी व सिद्ध पुरूषों के वास्तविक अनुभव व उपदेशों का पूरा पूरा आत्मिक यौगिक शुद्ध प्रामाणिक विवरण को भी लिखा गया है और उनके सच्चे लक्ष्य को सामने रखकर भक्ति मार्ग पर चलने के लिए एक सहायक पुरुष आपके लिए उत्पन्न करके अपने उदारों को प्रगट किया है।

मेरे देखने में अनेकों वेद वेदान्त आदि धार्मिक ग्रन्थ आए किन्तु इस प्रकार का प्रामाणिक संग्रह—ग्रन्थ हिन्दी में अभीतक कोई देखने में नहीं आया।

आशा करता हूँ कि विचार संग्रह के ग्रन्थकार व ग्रन्थ को हार्दिक—धन्यवाद देते हुए सहर्ष आदर पूर्वक पाठक वृन्द विचार संग्रह ग्रन्थ का पूर्ण सम्मान करेंगे व मन लगाकर पठन पाठन करेंगे।

संशोधन में एवं दृष्टि में व मुद्रण में कोई त्रुटि या अशुद्धि रह गई हो उसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।

संशोधक—
पं० गौरीशंकर शास्त्री
सिविल लाइन अलवर (राजस्थान)

ता० २५-१२-५६

नोट—छापने व प्रकाशित व उलथा करने का सर्वाधिकार अपने अधिकार में रक्खा है। यदि कोई उलङ्घन करेगा तो वह दण्ड का भागी समझा जाएगा।

आदर्श मार्ग

श्री स्वामीजी रामेश्वरानन्द जी महाराज जिन्होंने इस "विचार संग्रह" ग्रन्थ का आरम्भ करवाया, यह सब कृपा स्वामी जी की ही है, इसका विवरण संक्षिप्त में इस प्रकार है।

सन् १९१० में श्री बाबा मौजीरामजी ब्रह्मनिष्ठ सिंध राज्य में एक्जीक्यूटिव इंजिनियर P.W.D थे, उस समय एक दिन रात्रि को स्वप्न में श्री स्वामी जी का चित्र दिखाई दिया, श्री बाबा मौजीराम जी ने कभी देखा या सुना भी नहीं था। उस बिम्ब ने हृदय में स्थान बना लिया और कभी २ आँखों में वह घूमने लगा, और समझने का विचार करने लगे।

कुछ दिनों के पश्चात् श्री स्वामी जी महाराज सिंध पहुंच कर यकायक इंजिनियर सा० के सामने जा खड़े हुए। श्री स्वामी जी के दर्शन पाते ही पूर्व स्वप्न का स्मरण हो आया और दिव्यात्मा को आत्मा ने पुकार लिया और चरणों में मस्तक नवा दिया।

इंजिनियर सा० ने श्री स्वामी जी से आग्रहपूर्वक प्रार्थना की कि मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा जब कि आप इस कुटी में कुछ दिन रह कर पवित्र करेंगे। हार्दिक प्रेरणा समझ कर श्री स्वामीजी ने सहर्ष स्वीकार करली और कुछ समय रह कर अपना उपदेश दिया।

श्री स्वामी जी की आयु सन् १० में ११४ वर्ष की थी। दिव्य-मूर्ति, गौराङ्ग, मधुर भाषी, दयालु योगी पुरुष थे और विद्वान् एवं वेद के एवं योग के व सांख्य के तो अपूर्व ज्ञानी थे। उनके भाषण में ज्ञान, रस एवं श्रद्धा उत्पन्न होती थी। आपका प्रयाग में स्थान था और कुछ समय ठहर कर पुनः सिंध से प्रयाग आ पहुंचे। दुबारा श्री बाबा मौजीराम जी के प्रयाग में कुंभ के अवसर पर श्री स्वामी जी का दर्शस्पर्श किया।

इसके पश्चात् सन् १९२० में १२४ वर्ष की अवस्था में देह त्यागने का ही समाचार मिला। यह उसी उपदेश एवं दर्शन का ही प्रसाद "विचार संग्रह" नामक ग्रन्थ आज आप सज्जनों के सामने रक्खा गया है। उपरोक्त विचारों को ही समर्पित कर हम श्री पूज्य स्वामी जी से याचना करते हैं कि हमारी आत्मा को भी इसी प्रकार आभास एवं पथ प्रदर्शित करावें जिससे लोक परलोक में जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जावे।

लेखक
पं० गौरीशंकर शास्त्री
सिविल लाइन्स, अलवर (राजस्थान)

५-१२-१९५६

श्री स्वर्गीय बाबा मौजीरामजी (ब्रह्मनिष्ठ)

एक्जीक्यूटिव इञ्जीनियर [illegible] सिन्ध व बंबई

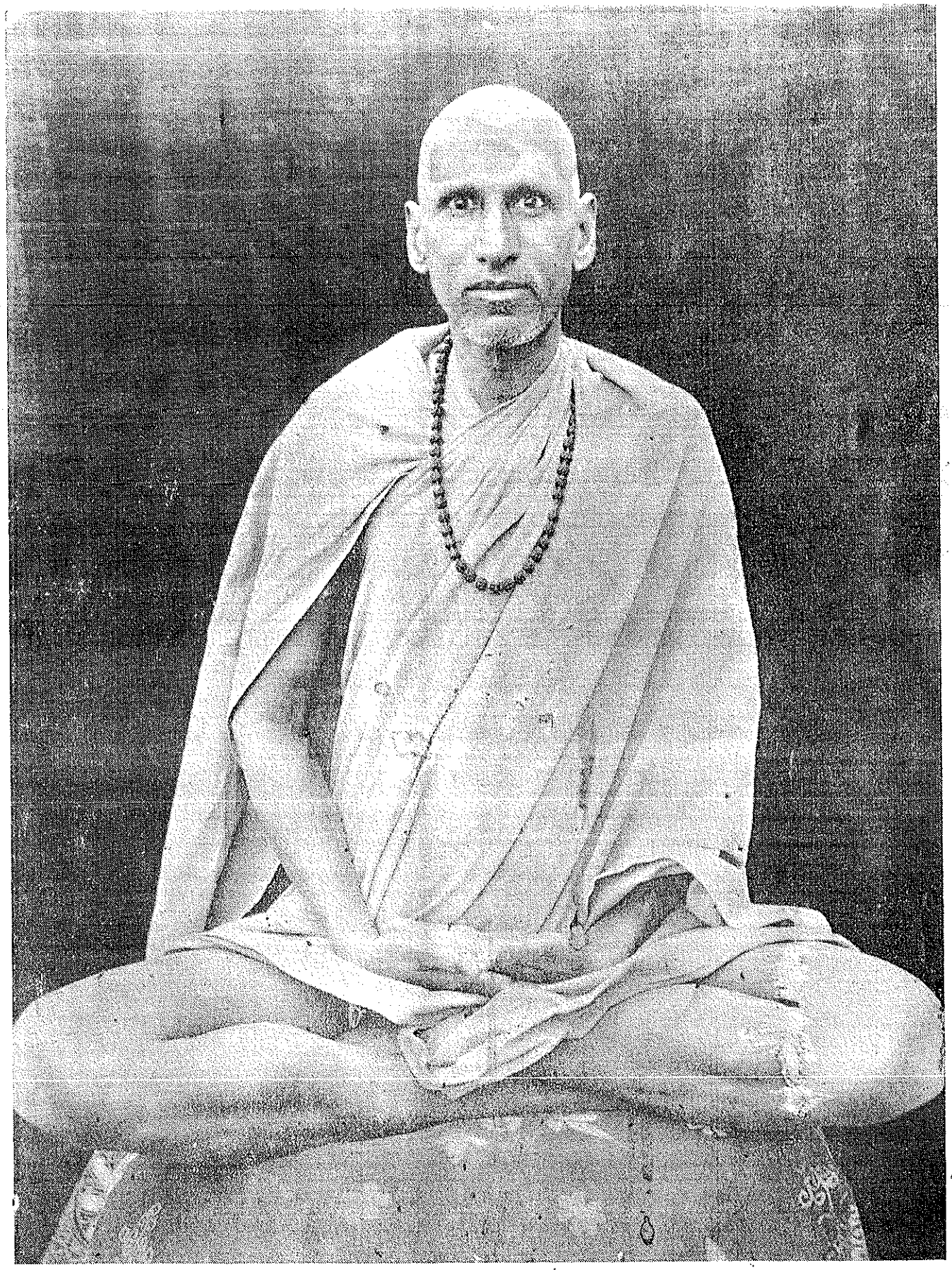

श्री १०८ स्वामी रामेश्वरानन्दजी महाराज
प्रयाग (उत्तर प्रदेश)

॥ श्री ॥

श्रीबाबा मौजीराम जी ब्रह्मनिष्ठ की संक्षिप्त जीवनी

श्री बाबा मौजीराम जी का जन्म सन् १८७१ में मेंडू ग्राम, जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) में, आदि-गौड ब्राह्मण वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० बुधसैन जी था और वैद्यक में बड़े निपुण थे, दूर २ के रोगी आया करते थे और अपने प्रान्त के प्रसिद्ध वैद्य गिने जाते थे। आप बड़े दयालु, सदाचारी एवं सौम्य-स्वभाव धार्मिक पुरुष थे।

आपके पांच पुत्र थे, उनमें सबसे छोटे होनहार मौजीराम थे। आपने आगरा कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की थी। जिस समय आगरा कालेज में शिक्षा पा रहे थे उस समय इनके पिताजी का स्वर्गवास हो चुका था और गृहस्थ एवं परिवार का भार इनके बड़े भाई डा० सुन्दर लाल के ऊपर निर्भर था। अकस्मात् रेल दुर्घटना द्वारा आपकी मृत्यु हो गई और मौजीराम जी को शिक्षा छोड़ कर गृह भार संभालना पड़ा और नौकरी करली।

मौजीराम जी बड़े बुद्धिमान थे अपनी विद्या, बुद्धि एवं परिश्रम के बल से इञ्जिनियरी का काम सीखा और धीरे धीरे अपने काम में प्रवीण हो गए और सिंध राज्य में P. W. D. में एक्जीक्यूटिव इन्जिनियर के पद पर नियुक्त किए गए। सन् १९२९ में सिंध मीरपुर खास से आपको एक्स-ई-एन के पद से अवकाश प्राप्त हुआ।

जन्म से ही आपकी बड़ी धार्मिक एवं सामाजिक वृत्ति थी। ग़रीबों की सहायता किया करते थे। आप में बड़ा भारी गुण तो यह था कि जांति पांति एवं छूआछूत को आप नहीं मानते थे बल्कि उनके उत्थान करने में प्रोत्साहन भी देते थे। इन्जिनियर सा० को जो वेतन मिलता था उसका ½ आधा भाग अनाथ निस्सहाय बालकों की शिक्षा एवं धामिक सामाजिक कार्यों में व विवाह (शादी) आदि धामिक कृत्यों में, साधु संन्यासियों के वस्त्रों मेंस हायतार्थ लगाया जाता था। आधा वेतन गृह कार्यों के काम में लिया जाता था।

विद्यार्थियों को भोजन कराते और काम सिखाते, पश्चात् उनको नौकरी दिलवाते। इस प्रकार से दीन बालकों को उन्नत बनाया करते थे। इस प्रकार लगभग २५ बालकों को शिक्षा देकर एवं दिलाकर अच्छे २ पदों पर पहुंचाया। इस प्रकार की निःस्वार्थ सेवायें कीं जो आज तक भी आपको याद करते हैं।

आपके शेष जीवन की परिचर्या इस प्रकार से थी कि आप दिन रात में अनुमान ३-४ घंटे ही सोया करते थे, शेष २२ घंटों में सद् ग्रन्थों का पठन पाठन, भगवत् भक्ति एवं भक्तों के साथ भक्ति विज्ञान सम्बन्धी बातें किया करते और अपना अपना अनुभव भी पूछा करते और अनेकों ग्रन्थों से सहायता लेकर पुस्तक (विचार संग्रह) जो आपके सामने है अधिकतर लेख लिखने में ही अपना समय लगाया करते थे।

अवकाश (रिटायर्ड) मिलने के पश्चात् जोधपुर में रहने लगे और अपने स्थान का नाम 'सत्संग भवन' रक्खा। वह सत्संग करने वालों के लिए ही नियुक्त था, बड़े २ ज्ञानी मानी साधु फकीर आकर ठहरा करते और अपना भाषण एवं अनुभवी ज्ञान मार्ग के उपदेश दिया करते थे। बाल वृद्ध इत्यादि प्रेमी जन वहाँ आकर सत्संग भवन में सुना करते थे। हर समय बैठे ही रहते थे, श्रोताओं का मन वहाँ से उठने को नहीं चाहता था।

मौजीराम जी शर्मा दिनोंदिन ज्ञान एवं ब्रह्म की चर्चा में संलग्न होते गये। इनके भाषणों में इतना आकर्षण था कि बीच में उठने को रुचि नहीं होती थी, इसी कारण आपका नाम आद्योपान्त (याने आगे पीछे की उपाधियों) में परिवर्तन होकर "बाबा मौजीराम ब्रह्मनिष्ठ" पड़ा, और 'विचार संग्रह' नामक ग्रन्थ की पूर्ति करने के पश्चात ७४ वर्ष की अवस्था में ता० १९-७-१९४५ को प्रातः ४ बजे जोधपुर (राज) नगर में ब्रह्मलोक को प्रयाण किया, जिनकी याद (स्मरण) में यह "विचार संग्रह" ग्रन्थ है। आशा करते हैं प्रेम पूर्वक इस ग्रन्थ का पठन पाठन एवं मनन करके उनकी पवित्रात्मा को कृत-कृत्य समझेंगे!

जीवनी लेखक

पं० गौरीशङ्कर शास्त्री

सिविल लाइन अलवर (राजस्थान)

ता० ५-१२-१९५६

अनुक्रमणिका

[पूर्वार्ध]

क्रम संख्या	विषय	वैराग्य		पृष्ठ
१.	मंगलाचरणम्	...	...	१
२.	विषय-प्रवेश	...	...	१
३.	मनुष्य की आयु गणना	...	...	६
४.	शरीर का निर्णय	...	...	११
५.	पञ्च ज्ञानेन्द्रियां	...	...	१६
६.	मनुष्य का कर्त्तव्य	...	...	२२
७.	कर्म, उपासना और ज्ञान	...	...	२८
८.	उपासना	...	...	३३
९.	भक्ति की विशेष व्याख्या	...	...	३८
१०.	ज्ञान	...	...	५८
११.	चार प्रकार के मनुष्य	...	...	६१
१२.	धर्म	...	...	६३
१३.	दश मानव धर्म	...	...	६६
१४.	महर्षि पातञ्जलि के पांच यम और पांच नियम	...	...	६९
१५.	ब्रह्मचर्य	...	...	७२
१६.	धर्म के प्रकार	...	...	८७
१७.	षोडश संस्कार	...	...	९३
१८.	उपासना यज्ञ	...	...	९५
१९.	अवतारोपासना	...	...	९८
२०.	पञ्च-सगुण ब्रह्मोपासना	...	...	१००
२१.	निर्गुण ब्रह्मोपासना	...	...	१०५
२२.	निर्गुण प्रणवोपासना	...	...	११३
२३.	योग सम्बन्धी चतुष्टय उपासना	...	...	११८
२४.	नाम जप की विधि	...	...	१२३

क्रम संख्या	विषय			पृष्ठ
२५.	गायत्र्यादि मन्त्र, जप-संख्या व अजपा जप की विधि	...	...	११३
२६.	सोऽहं का यथार्थ जप और ध्यान	..	..	१४६
		हठ-योग		
२७.	हठयोग का पहला अंग-षट्कर्म	...	...	१५१
२८.	,, द्वितीय अंग-आसन	...	...	१५४
२९.	,, तृतीय अंग-मुद्रा	...	...	१५५
३०.	,, चतुर्थ अंग-प्रत्याहार	...	...	१५७
३१.	,, पंचम अंग प्राणायाम	...	...	१५८
३२.	,, षष्टम अंग-ध्यान	...	...	१६२
३३.	,, सप्तम अंग-समाधि	...	...	१६२
३४.	हठयोग साधक के लिये २४ नियम	...	...	१६३
		लय-लोग		
३५.	शाम्भवी मुद्रा	...	...	१७०
३६.	अनहद नाद के प्रगट करने का गुप्त साधन	...	...	१७२
३७.	परलोक तत्व	...	...	१८०
३८.	पिण्ड-ब्रह्मांड विवेचन	...	...	१८७
३९.	ईश्वर तत्व विवेचन	...	...	१९४
४०.	जीव भावोत्पत्ति	...	...	२०२
४१.	जीव की नैसर्गिक गति	...	...	२०८
४२.	कृष्ण एवं शुक्ल गति	...	...	२१३
४३.	सहजगति या जीवन-मुक्ति	...	...	२२२
४४.	प्रेतत्व-प्राप्ति एवं श्राद्ध	...	...	२२९
४५.	नरक भोग	...	...	२४०
४६.	ऐशगति और उपसंहार	...	...	२४४
४७.	प्रार्थना	...	...	२५२
४८.	ईश्वर प्रार्थना से असाध्य रोगों का इलाज	...	...	२५७
४९.	स्वामी ब्रह्मानन्द कृत कल्याणप्रद प्रार्थना	...	...	२५९
५०.	नास्तिक मत खंडन	...	...	२७७
५१.	ईश्वर पूजा की सफलता वा सिद्धि	...	...	२८१
५२.	माया के स्वरूप	...	...	२८९
५३.	मनोबोध (चुने हुए उपदेश)	...	...	२९१
५४.	उपयोगी बातें	...	...	३००
५५.	ईश्वर अनुभूति की सप्त भूमिका	...	...	३१५

क्रम संख्या	विषय			पृष्ठ
५६.	ईश्वर का अनुभव	...	...	३३०
५७.	माया और ईश्वर	...	...	३३१
५८.	जीव तथा ईश्वर का स्वरूप	...	...	३४१
५९.	ईश्वर की प्राप्ति का सरल उपाय	...	...	३४२
६०.	जगत् का स्वरूप	...	...	३४४
६१.	ब्रह्मज्ञान का सर्वोत्तमत्व	...	...	३४९
६२.	भगवत्प्राप्ति के विविध उपाय	...	...	३५१
६३.	परमार्थ साधन के आठ विघ्न	...	...	३६७
६४.	साधक के लिए २१ उपदेश	...	...	३७०
६५.	महात्मा बनने के मार्ग में विघ्न	...	...	३७२
६६.	कैवल्य रत्न	...	...	३७४
६७.	उपदेश	...	...	३७६
६८.	सद्गुरु श्रीचन्द्रजी के अमूल्य उपदेश	...	...	३८१
६९.	परमहंस रामकृष्ण के अमृतमय वचन	...	...	३८२
७०.	सदुपदेश	...	...	३८४
७१.	श्री पापाजी महाराज के उपदेश	...	...	३८७
७२.	अरण्यवासी महात्मा के उपदेश	...	...	३८९
७३.	शारीरिक दुःख दर्द दूर करने की औषधि	...	...	३९१
७४.	कल्याणप्रद उपदेश	...	...	३९५
७५.	शिव पूजा-शतकम्	...	...	३९८
७६.	काशी वाले स्वामी अभयानन्द जी महाराज के बताये हुए योग सम्बन्धी १६ साधन			४४४
७७.	श्री स्वामी गङ्गागिरिजी के बताये हुए आत्म साक्षात्कार के साधन		...	४५३
७८.	श्री १०८ परमहंस स्वामी हरिहराश्रम के उपदेश		...	४५५
७९.	महात्मा प्रेमानन्द माधवजी का उपदेश	...	...	४५९
८०.	योगिराज स्वामी माधवानन्दजी का उपदेश	...	...	४६०
८१.	स्वामी ब्रह्मानन्द जी के 'अमूल्य उपदेश'	...	...	४६१
८२.	प्रश्नोत्तर	...	...	४६३
८३.	प्रश्नोत्तरी	...	...	४६७
८४.	प्रश्नोतरी की सूची	...	...	४९८
	राज योग			
८५.	चित्त और चित्त की वृत्ति	...	...	५०२
८६.	राजयोग के आठ अंग	...	...	५०९
८७.	सप्त ज्ञान भूमियां	...	...	५१८

क्र० सं०	विषय			पृष्ठ
८८	सिद्धियां	...	...	५२४
८९.	बोध और उपासना	...	...	५२९
९०.	योग की कुछ आवश्यक बातें	...	...	५३६
९१.	परोक्ष अपरोक्ष-ज्ञान	...	...	५४५
९२.	प्रारब्ध	...	...	५५१
९३.	महावाक्य-माहात्म्य	...	...	५५८
९४.	ईश्वर और माया	...	...	५६७
९५.	अभ्यास	...	...	५६९
९६.	समाधि का विशेष विवेचन	...	...	५७१
९७.	षट्-समाधि का अभ्यास	...	...	५७८
९८.	सप्त ज्ञान भूमिका	...	...	५८१
९९.	ज्ञान प्राप्ति में प्रतिबन्ध	...	...	५९३
१००.	मृत्यु - रहस्य	...	...	५९४
१०१.	स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर के अंत होने का क्रम व पंचाग्नि विद्या का रहस्य			६०१
१०२.	धूम्र-मार्ग	...	...	६२३
१०३.	परलोक और जन्मातर तत्त्व	...	...	६२५
१०४.	प्रेत योनि तथा प्रेत लोक	...	...	६२६
१०५.	मृत्यु का चिन्तन	...	...	६३९
१०६.	मृत्यु समय के उपचार	...	...	६४२
१०७.	विशेष धर्म	...	...	६४४
१०८.	आश्रम-व्यवस्था	...	...	६५३
१०९.	सन्यास के प्रकार	...	...	६६२
११०.	ऋषि उपस्ति	...	...	६६८
१११.	आपत्काल में महर्षि विश्वामित्र	...	...	६६९
११२.	ब्रह्मज्ञान (दर्शन परिषद्)	...	...	६७०
११३.	वेदान्त का अष्टांग योग	...	...	६७८
११४.	ज्ञान कुल्हाड़ा	...	...	६८१
११५.	महा वाक्य	...	...	६८२
११६.	सृष्टि की उत्पत्ति	...	...	६८३
११७.	ईश्वर की माया	...	...	६९१
११८.	माया का खेल	...	...	६९९
११९.	सृष्टि की आयु	...	...	७०१
१२०.	अध्यात्म निरूपण	...	...	७०७
१२१.	धार्मिक ग्रंथों की सूची	...	...	७११

क्र० सं०	विषय			पृष्ठ
१२२.	वेद विषय	...	...	७१२
१२३.	उपनिषत्सिद्धान्त	...	...	७१६

[उत्तरार्ध]

१२४.	श्रीमद्भगवद्गीता	...	...	७२४
१२५.	फुटकर-विषय (प्रातः स्मरण स्तोत्रम्)	...	...	७३३
१२६.	श्री हरिशरणाष्टकम्	...	...	७३५
१२७.	श्री गुर्वष्टकम्	...	...	७३८
१२८.	श्री दक्षिणा मूर्त्ति स्तोत्रम्	...	...	७४१
१२९.	श्री अच्युताष्टकम्	...	...	७४४
१३०.	श्री गङ्गाष्टकम्	...	...	७४७
१३१.	श्री गंगाजीकी उत्पत्ति	...	...	७५१
१३२.	यजुर्वेदीय-शिवाष्टक	...	...	७५५
१३३.	उपदेश पंचकम्	...	...	७५७
१३४.	काशी पंचकम्	...	...	७६०
१३५.	हस्तामलक स्तोत्रम्	...	...	७६३
१३६.	आत्मषटकम्	...	...	७६७
१३७.	सप्तश्लोकी गीता	...	...	७६९
१३८.	चतुश्लोकी भागवत	...	...	७७२
१३९.	अष्टादश श्लोकी गीता	...	...	७७३
१४०.	श्री कबीर साहब की ज्ञान गुदड़ी	...	...	७८२
१४१.	प्रश्नोत्तरी (रत्न मालिका)	...	...	७८४
१४२.	वेदान्तार्थ का प्रकाशक कुंजी	...	...	८०२
१४३.	संज्ञा शब्दार्थ	...	...	८०५

परमभक्ता गृहलक्ष्मी श्रीमती कस्तूरीबाई का (संक्षेप से) जीवन चरित्र।

यों तो न जाने कितने प्राणी इस संसार में जीते और मरते हैं परन्तु जिनका जीवन आदर्श जीवन है, जिनके जीवन से संसार को कुछ लाभ पहुँचता है, उन्हीं का जीवन यथार्थ जीवन गिना जाता है और उन्हीं से यह संसार सुशोभित होता है।

प्रिय पाठकगण ! आप लोग जिनकी दिव्य-मूर्ति इस पुस्तक में देख रहे हैं उनका जीवन ऐसे ही जीवन में गिनने योग्य है।

आपका जन्म-स्थान भारतवर्ष के ऐतिहासिक प्रख्यात अलीगढ़ जिले में एक छोटा सा 'लोधा' नाम का गांव है। आपके पूज्य पिता का नाम पंडित गंगाराम था। आप बड़े ही व्यापार चतुर मनुष्य थे। आपके दो संतानें थीं। पहिली संतान-आपकी बड़ी पुत्री श्रीमती कस्तूरीबाई थी जो इस चरित्र की नायिका हैं और दूसरी इनकी छोटी बहिन श्रीमती नारायणीबाई।

कस्तूरीबाई का जन्म अनुमान सन् १८७६ ई० में हुआ था। आपका स्वभाव बचपन से ही मिलनसार था यद्यपि बचपन में आपको किसी बात की शिक्षा का सम्बन्ध नहीं मिला। तथापि घर के काम-काज में आप बड़ी निपुण थी। पाहुनगत करना आप भली भांति जानती थीं और आपको धर्म प्रेम भी बहुत अच्छा था और ये स्वरूप में अति रूपवती, कमलनयनी और द्वितीय चन्द्रवत् थीं और वैसे ही चतुर, इसलिए इनके पिता ने उचित वर की खोज में अनेक बड़े बड़े नगर ढूंढ़ डाले परन्तु आप इस कार्य में यथोचित (सफलीभूत) नहीं हुए। अन्त में निराश होकर अति चिन्तायुक्त हुए और विचार करने लगे कि क्या विधाता ने इस मेरी प्रिय पुत्री के लिए कोई बर रचा ही नहीं ? अति व्याकुल होकर कभी २ उनके मन को बड़ा कष्ट होता था। इसी विचार ही विचार में उन्हें एक समय अपने एक सम्बन्धी के यहां उसकी लड़की के विवाह में जाना पड़ा। वहां जो घटना हुई वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है।

इस संसार में बहुत से लोग ऐसे हैं जो भाग्य व प्रारब्ध को कोई वस्तु नहीं मानते। तथापि उन्हें ऐसी घटनाओं के सन्मुख होना पड़ता है जिनसे विवश होकर उन्हें भाग्य मानना ही पड़ता है।

जिस समय उक्त विवाह की सब क्रियायें पूर्ण हो चुकी थीं और बरात की अन्तिम रीति अर्थात् टीका विदा (मिलनी करना) ही शेष रहा था कि अनायास इस चरित्र-नायिका के परम पूज्य पिता की दृष्टि कन्या-पक्ष के एक ऐसे आदर्श बालक पर पड़ी कि जिसकी (चटा) छटा देख कर न मालुम उसके हृदय में कहां अद्वितीय प्रेम प्रगट हो गया और शरीर कम्पायमान होने लगा। उनके आसपास जो महाशयगण बैठे थे उनको बड़ा ही आश्चर्य प्राप्त हुआ और वे कहने लगे कि पंडित जी आपको क्या हो गया है जो आप प्रेम में फूले नहीं समाते। अन्त में पंडित जी से न रहा गया और यही कहा कि आज मुझे अपनी चन्द्रवदनी प्रिय पुत्री के लिए उचित वर मिल गया।

होनहार बलवान है। कहां तो उनका वर्षों वरों की तलाश में एक से दूसरे नगर में भ्रमण करना और अन्त में निराश होकर घर में बैठना और कहां बिना परिश्रम उनको उचित वर घर बैठे मिलना। पाठक गण! आप स्वयं विचार कर लें कि इस प्रसन्नता का क्या ठिकाना?

आखिर लड़के के मामा से जो दैवयोगवश वे भी वहां बरात में स्वयं उपस्थित थे, हाथ जोड़कर बहुत विनय की कि इस लड़के का सम्बन्ध मेरी पुत्री से कर लिया जावे तो मैं अपने को बड़ा धन्य समझूंगा परन्तु लड़के के माता पिता इस बात से सहमत न हुए क्योंकि लड़का विद्या सीखने में बड़ा निपुण था और उनका इरादा था कि जब लड़का पूर्ण विद्या सीख जावे तब उसका विवाह करें।

परन्तु कहा है कि:—

॥ दोहा ॥

होनहार होके रहै, बिसर जाय सब शुद्ध।
जैसी हो होतव्यता, तैसी उपजै बुद्ध॥

परन्तु सब लोगों के आग्रह करने पर अन्त में वे भी प्रसन्न हुए। लड़का यह सुन कर कि ये सब लोग उसकी सगाई करने पर प्रस्तुत हैं महा दुःखी हुआ और बारम्बार जोर जोर से रोने लगा। परन्तु विचारा पराधीन बालक था। अतः क्या कर सकता था? अन्तिम यही फल हुआ कि रोती हुई हालत में ही पहिले पहिल उसे ही सब बरातियों के सन्मुख पट्टे पर बिठा कर उसके श्वसुर महाशय (पं० गंगाराम जी) ने उसका टीका कर दिया। पश्चात् बरात की मिलनी आरम्भ की।

देखिये होनहार का यह फल होता है। आखिर जब सगाई होगयी तब कुछ अर्से पश्चात् विवाह भी बड़ी धूम धाम के साथ होगया। विवाह में भी लड़का बहुत रोने लगा। मगर फिर क्या हो सकता था? विवाह होने के पहले ही लड़का हिन्दी और अंग्रेजी दोनों की इलाहाबाद यूनीवर्सिटी की मिडिल और

ऐंग्लो मिडिल परीक्षायें पास कर चुका था। और गौना होने के पहिले उसी यूनीवर्सिटी की ऐंन्ट्रैंस परीक्षा भी पास करली थी, जब एफ, ए० क्लास में पढ़ता था तब इस चरित्र की नायिका का रहना अपने पति के साथ हुआ।

श्रीमती कस्तूरीबाई स्वभाव की इतनी सरल थी कि गौना होने पर भी उनको स्त्री-पुरुष के सांसारिक मार्ग की कुछ भी खबर न थी। अपना उचित समय हरि भजन और विद्या पढ़ने में ही व्यतीत करतीं थीं। अर्थात् अपने पतिदेव के पास रहने का सौभाग्य प्राप्त होने पर सिवाय घर के काम काज के उपरांत केवल विद्याभ्यास, हरिभजन व अपनी सास, ननद की सेवा सुश्रूषा में ही उनका समय व्यतीत होता था।

इनकी सास इतनी परमभक्ता थीं कि जितनी उनकी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। जैसी परमभक्ता सास वैसी ही परम सुशीला पुत्र बधू—फिर तो कहना ही क्या था? जो आनन्द के साथ वे रहती थीं वह अकथनीय है। इनकी सास की भक्ति इतनी प्रबल थी कि वे जो कुछ वचन बोलतीं सत्य (सिद्ध) हो जाता था। सैकड़ों जन उनकी सेवा में आकर अपना लाभ उठाते थे। प्लेग अथवा हैज़े के प्रकोप में उनको हंसी आया करती थी और भ्रम और भय तो उनके पास होकर नहीं निकला था। काम क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार उनके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं कर सकते थे।

पाठकगण! आप अब स्वयं ही विचार लें कि ऐसी सास मिलने से फिर और क्या बाक़ी रह सकता है? जो कुछ मनुष्य शुभ कार्य्य करता है। उसका मुख्य उद्देश्य ही यही रहता है कि इस संसार में उसे चारों पदार्थ अर्थात् धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो।

अन्त में यही हुआ कि अपनी परमभक्ता सास की सेवा करते करते इतनी उन्नति को प्राप्त हो गईं कि उनकी सास ने उनको जीते जी इतनी आशिषें दी और जो कुछ उनके पास था सर्वस्व श्रीमती कस्तूरीबाई को अर्पण कर दिया। में इनके कुल में पांच पुत्र-बधू थीं मगर ये सबसे छोटीं थीं, परन्तु सासजी की उचित सेवा करने से अन्त में इस सब से छोटी पुत्र-बधू को ही घर का सब भार सौंप कर और बड़ी पदवी देकर सन् १९११ ई० में अपना शरीर अनुमान ८४ वर्ष की अवस्था में छोड़ कर दैवलोक को सिधारी। तब से कुल घर का भार इन्हीं चरित्र नायिका के सिर पर पड़ा। तारीख २० मार्च सन् १९२० ई० में अर्थात् पूर्ण १० वर्ष घर का सम्पूर्ण प्रबन्ध भली-भांति करके आप भी अनुमानतः ४१ वर्ष की अवस्था में परमधाम को सिधारीं

जब से (अर्थात् सन् १९११ ई० से) इनके सिर पर घर का सब प्रबन्ध पड़ा तब से स्त्री-पुरुष का सांसारिक व्यवहार छोड़कर इनके पति और पत्नी दोनों केवल घर के प्रबन्ध और हरिकथा में ही अपना समय व्यतीत

करने लगे। चूंकि इनके चार बड़ी जिठानी थीं और एक ननद थी, इनके अतिरिक्त जिठानियों की चार पुत्री थी जिनका विवाह हो गया था। इन सब की सेवा सुश्रूषा भली भाँति करती थीं। जो कुछ उनके पति को वेतन (तनख्वाह) मिलती थी वह सब घर के प्रबन्ध व लड़के लड़कियों के पढ़ाने में ही खर्च कर देती थीं। यदि कोई दीन जन आगया तो उसे अपना अंग का कपड़ा तक दान कर देती थीं। इनका मुख्य उद्देश्य यह रहता था कि हर एक जन उससे प्रसन्न रहे अर्थात् परोपकार करना ही उनका पूर्ण ध्येय रहा करता था। स्त्री या पुरुष जो इनके समागम में एक घड़ी को भी आगया तो उन्हीं का हो रहा अर्थात् उनके हाथ बिक गया। इनकी इच्छा शक्ति जिसको अंग्रेजी में (Will Power—विल पावर) कहते हैं अति ही प्रबल थी। नित्य प्रति प्रसन्न चित्त रहती थीं।

सारांश यह है कि अपने शरीर छोड़ने तक धन की ओर से धन का प्रेम नहीं किया। परम धाम में सिधारने तक अपने पति को यही उपदेश करती रहीं कि आपकी मातेश्वरी यही आज्ञा कर गई थीं कि आप घूंस (रिश्वत) का पैसा कदापि न कमाना। चाहे घर में कैसी ही कठिनता आ पड़े और मेरी भी आपसे यही प्रार्थना है।

इनके पति पहले पहिल दक्षिण प्रांत के खानदेश मुल्क में नौकर हुए थे। परन्तु जब से श्रीमती का रहना उनके पास हुआ तब से वह एक देश यानी सिंध देश में ही रहे। हां, सिंध में रहने के पहिले कुछ समय के लिए खानदेश में भी रही थीं। श्रीमती जी सिंध देश के प्रधान शहर करांची में परमधाम को सिधारीं।

श्रीमतीजी को मीरांबाई की भांति दिन रात हरिभजन और हरि-कीर्तन का ही बड़ा प्रेम था और जब २ संतों की वाणी सुनती थीं, एक दम गद्-गद् हो जाती थीं। नित्य-प्रति सूक्ष्म भोजन करती थीं और जब तक नित्य-क्रिया पूर्ण न कर लेतीं तब तक कदापि भोजन न करतीं। इनके पुत्रों को प्लेग हुआ और कई बार मोतीझरा (टाईफोइड फीवर) निकला परन्तु वे हमेशा हँसती रहती थीं और यही कहती थीं कि ये सिर्फ भगवान् की लीला है। दैवयोग-वश सब लड़के चंगे-भले उठ खड़े होते थे। यद्यपि डाक्टर और हकीम (वैद्य) निराश होकर कह देते थे कि ये लड़के न बचेंगे।

अपने ज्येष्ठ के लड़कों पर अपने निज पुत्रों से भी अधिक प्यार करती थीं। खाने पकाने में इतनी निपुण थीं कि लड़कों को इनके हाथ के अतिरिक्त दूसरे के हाथ का बनाया हुआ भोजन पसंद ही नहीं आता था। इनके विषय में कहाँ तक लिखें, लिखने से एक बड़ा ग्रन्थ बन जावेगा क्यों कि इनकी परम भक्ता सास और ये परम-भक्ता बहू एक ही श्रेणी की परम कल्याण स्वरूपणी जीवात्मा थीं। इनकी हालत अधिकतर गहरे खिंचाव की रहा करती थी, वह किसी मत की निन्दा नहीं करती थीं। उनका सिर्फ यही कहना था कि इष्ट

सब से ऊंचे और समस्त पिण्ड और ब्रह्माण्ड के धनियों के धनी का बांधना चाहिये और उसी की सेवा और भक्ति करना चाहिये। निर्मल चैतन्य देश के अर्थात् ब्रह्मलोक के नीचे के धनियों की भक्ति करने से परिश्रम तो उतना ही पड़ेगा परन्तु लाभ पूरा न मिलेगा अर्थात् भक्त का काम अधूरा रह जायेगा और वह आवागमन से न छूटेगा, क्योंकि ये लोक माया के घेरे में हैं चाहे वह कितनी ही सूक्ष्म माया हो। श्रीमद्भगवत्गीता में यह बात बड़े स्पष्टरूप से दिखलाई गई है।

श्रीमतीजी प्राचीन अथवा अर्वाचीन संतों की अगम व अगाध वाणी सुनकर फूली नहीं समाती थीं। जब कभी अपने प्रिय पतिदेव को चिन्तायुक्त देखती तो एक दम ऐसा उपदेश करतीं कि न मालूम वह उदासी कहाँ विलीन हो जाती थी। समयानुसार अपने पतिदेव को कभी कभी भविष्य की बातें भी सुनाया करती थीं और जब तक परमात्मा का साक्षात्कार न हुआ तब तक वह महाउदासीन-व्रत् रहा करती थीं और मन को ऐसा धिक्कारती थीं कि उस हालत में किसी शूरमां का ही काम है जो ठहर सकें।

धन्य उन की जननी को है। उन्हें तुलसी कृत रामायण, श्रीमद्भागवत और संत-वाणी संग्रह से भी अति प्रेम था। उनका अपने पति से यह कहना था कि यह संसार महादुस्तर है और समय बड़ा विकराल है, इस घोर कलिकाल में मनुष्य अनेक कुकर्म करते हैं इसलिए आप एक ऐसी पुस्तक बनावें जो गृहस्थी से लेकर संन्यासी तक के काम में आवे और संसार के सुख दुःख में अति ही लाभदायक हो। अतः उनके मतानुसार ग्रन्थकार ने यह पुस्तक हाथ में ले ली थी और श्रीमती को पसंद भी बहुत आई परन्तु दैवयोगवश पुस्तक यों ही अधूरी पड़ी रही। इस बीच में श्रीमती जी को भी कुछ ध्यान न रहा बल्कि ईश्वरी प्रेम में फिर वह अनेक ऊपर के लोकों की बातें अपने पति को बतलाती रहीं। फल इसका यह हुआ कि इधर श्रीमती जी का देवलोक प्रस्थान करना और उधर पुस्तक का प्रारम्भ लग-भग एक साथ ही हुआ। न जाने इस घटना से ऐसा ही होना था कि अन्त में यह ग्रन्थ श्रीमती जी के स्मारक में ही बनाया जावे। जो कुछ भी हो अब यह पुस्तक हाथ में ले ली है, जिसमें सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञान सम्बधी क्रमशः सब विषय व संतों की वाणी व उनके उपदेश और भी अनेक लाभदायक और अत्योपयोगी विषय सम्मिलित किये गये हैं जिनसे सब प्राणी अपना आधार भूत समझ कर जब तक शरीर में प्राण है लाभ उठावें। यों तो अनेक ग्रन्थ हैं और होते रहेंगे परन्तु पाठकगण जब इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे तब आप ही ज्ञात हो जायगा कि इसे एक घड़ी भी दूर न करें। जीव को शान्ति प्राप्त करना व परमपद का लाभ ही होना इस ग्रन्थ का उद्देश है। यह 'विचार संग्रह' नामक ग्रन्थ जोधपुर (मारवाड़) प्रदेश में तारीख ११ नवम्बर, सन् १९४३ ई० को पूर्णतया समाप्त हुआ है जब कि पतिदेव की अवस्था ७२ वर्ष की हो चुकी है।

अभिलाषा थी कि इस शरीर के उपस्थित रहते २ इस ग्रंथ को छपवा कर अधिकारी पुरुषों में बिना मूल्य कापियां वितरण कर दी जावें परन्तु दैवयोगवश वर्तमान महाभयङ्कर विश्व-व्यापी महायुद्ध के कारण यह

अभिलाषा पूर्ण होना सम्भव ज्ञात नहीं होता दिखाई दिया। अतः यह कार्य पुत्रों व पौत्रों के आधार पर छोड़ दिया गया। पश्चात् समझेंगे तो छपवा कर यह कार्य पूर्ण कर देंगे वरनः हरि इच्छा बलवान् है।

प्रिय पाठकों से निवेदन है कि वे इस ग्रंथ को अध्ययन करते समय शब्दों पर ध्यान न देकर निरन्तर भाव पर विचार करें, उसे अपनावें तथा उससे लाभ उठावें।

श्रीमती जी का यह भी कहना था कि अहंकार अर्थात् स्वार्थ को दूर करो, वर्तमान समय के अनुसार कार्य करो, भूत और भविष्य का सोच न करो। पूर्ण धनी सब इच्छाओं को पूरा कर देगा और आगे को मार्ग बतायेगा। यही वास्तविक उन्नति है। जब तक किसी वस्तु का त्याग मन से न हो तब तक कोई मनुष्य सन्यासी या त्यागी नहीं हो सकता है। और यही कारण है कि आजकल के ज्ञानी पुरुष मूल आनन्द से वंचित रह जाते हैं।

श्रीमती ने शरीर छोड़ने के एक दिवस पहिले अपने पति महाराज के पास रात्रि को जाकर प्रार्थना की आप दिन प्रति दिन श्रीमद्भागवत् सुनाते हैं और फिर संतों के भजन व वाणी और ज्ञान द्वारा आनन्दित करते हैं। आज मैं आपको भजन सुनाती हूँ। कृपया सुनिये पहिला भजन यह गाया:—

पहला भजन

भजन तो बनता नहीं, मन तो सैलानियां।
लड्डू चहियें पेड़ा चहियें और ठंडा पानियां॥
चाबने को पान चहियें, और पीक दानियां।
हाथी चहियें घोड़ा चहिये, तम्बू आसमानियां॥
क़िला तो अटूट चहिये, फौज धूर धानियां।
सेज तो मलूक चहिये, रूपवन्ती रानियां॥
पुत्र तो सपूत चहिये, कुल की निशानियां।
माया चहिए दौलत चहिए, और राजधानियां॥
कहते परमानन्द दुनियां, माया में भुलानियां॥

दूसरा भजन

हे गोविन्द राखो लाज आय के हमारी ॥ टेक ॥

दुःशासन चीर खींच, ले आयो सभा बीच, मानत नाहिं अधम नीच ।
मोहिं कर उघारी ॥ हे गोविंद राखो० ॥ १ ॥
गहे केश झटकत है, शीश मोर चटकत है ।
नयन नीर टपकत है, कष्ट ना बिचारी ॥ हे गोविंद राखो० ॥ २ ॥
अबला पर करत जोर, हा हा कर करत शोर ।
तुम बिन को सुने मोर, श्याम जी हमारी ॥ हे गोविंद राखो० ॥ ३ ॥
कटि ऊपर चीर रह्यो, तन पर दुःख बहुत सह्यो ।
धीरज नहिं जात गह्यो, द्रौपदी पुकारी ॥ हे गोविंद राखो० ॥ ४ ॥
फटजा तू धरणि माय, तामें जाऊँ समाय ।
जासों ये प्राण जाय, पत रहे खरारी ॥ तुम बिन० ॥ ५ ॥
सिंह गाय घेर लई, नाथ मैं अनाथ भई ।
हारी तब टेर दई, हेरिये बिहारी ॥ तुम बिन० ॥ ६ ॥
दुःशासन थकित भयो खैंच खैंच हार गयो ।
द्रौपदी ने नाम लियो, गोवर्धन धारी ॥ तुम बिन० ॥७ ॥
सुनिये ब्रजराज आज, संकट में राखो लाज ।
चरण शरण रही आज, आश रख तिहारी ॥ तुम बिन० ॥ ८ ॥

स्थान करांची कैंट (सिंध), ता० २० मार्च सन् १९२० ।

जब भजन सम्पूर्ण हो गये तब ऊपर से नीचे उतर कर थोड़ा ही समय हुआ होगा कि अपने पति महाराज को बुलवाया और कहा कि कृपया आप खाट दूसरे कमरे में बिछाओ और आप भी वहां आज रात्रि को मेरे पास बैठे रहें। उनके पतिदेव ने बहुत कुछ पूछा कि क्या मामला है मगर कुछ स्पष्ट उत्तर न दिया और कहा कि कुछ नहीं है। परन्तु यदि आपको निद्रा आती हो तो आप ऊपर चले जायें और सो रहिये। पति समझ गये क्योंकि अपने प्रस्थान होने की बाबत कई बार भविष्य वाणी कही थी परन्तु कोई मुख्य दिवस नहीं कहा था। रात्रि भर इधर उधर का वार्तालाप होता रहा। कभी कभी हाथ पैरों में थोड़े थोड़े दर्द की बातें करती रहीं। जब सुबह पांच बजे का समय आया तब उनके पतिदेव ने पूछा कि आप अब श्रीमद्भागवत् सुनेंगी ? क्योंकि वे नित्य प्रति सुबह साढ़े पांच बजे से साढ़े सात तक श्री मद्भागवत् सुना करती थी, उत्तर

दिया कि अब कौन सुनेगा ? इतना कह कर समाधिस्थ की सी हालत होती गई। पतिदेव समझ गये, फिर भी हालत ऐसी थी कि यकायक यह शक नहीं होता था कि यह आज ही शरीर छोड़ जायगी क्योंकि बातें चीतें बदस्तूर होती थी। जब दिन के १० बजे, तब उनके पति अपने औफ़िस जाने लगे तब श्रीमती जी ने कहा कि आप आज भी औफ़िस जाते हैं ? मगर फिर कब वापिस आओगे ? दो बार पूछा परन्तु पति का हृदय भर आया और कण्ठ रुक गया। अन्त में बड़ी देर में अपने परम प्रिय भतीजे ब नाम बाबुलाल को जिसको श्रीमती जी भी अपने प्राणों से भी प्यारा रखती थी कहा कि मैं २ या ३ घंटे में वापिस आता हूँ। करीब २ बजे दो पहर बाद पतिदेव अपने औफ़िस से लौट कर आये, आते ही श्रीमती जी से पूछा कि कैसी हालत है ? उत्तर मिला मैं अच्छी तरह हूँ', पति ने कहा कि अब आप समाधिस्थ होकर ऊपर ध्यान लगावें, उन्हों ने उत्तर दिया कि मैं समाधिस्त ही हूँ' मगर आपके प्रश्नों का उत्तर मुझे देना ही पड़ता है। आखिर पति ने कहा कि अब आप बातें चीतें छोड़कर समाधिस्थ हो जाइये और जो पति इस समय उच्च स्वर से परमात्मा से प्रार्थना व विनय करें वह सुनिये। बस ऐसा ही हुआ। आधे घंटे के अन्तर्गत ही समाधिस्थ होकर तीन पुत्र (गौरी शंकर, चोखे लाल, और विष्णु दत्त) और एक पुत्री (ओमवती) छोड़कर परमधाम को सिधार कर शरीरान्त किया। दाह क्रिया तक शरीर की कान्ति वैसी ही रही जैसी जीवित अवस्था में थी। अनेक स्त्री पुरुषों को उनके अन्मि दर्शन का लाभ हुआ। परमात्मा ऐसे अनेक रत्न सदैव इस भारतवर्ष में पैदा करें।

इति
समाप्तम्

पूर्वार्द्ध

निम्न लिखित छः साधनों द्वारा ग्रन्थ की परीक्षा करके उसका तात्पर्य्य निश्चय करना चाहियेः—

(१) उसकी विशेषताएँ क्या हैं ?

(२) उसके आरम्भ और समाप्ति में क्या कहा गया है ?

(३) उसमें किस विषय का युक्ति सहित प्रतिपादन है ?

(४) उसमें किस विषय का बार-बार समर्थन एवं पुनरावृत्ति है ?

(५) उसमें किस विषय के गुण प्रदर्शन एवं प्रशंसा है, और

(६) उसका परिणाम क्या निकला ?

प्रतिदिन जीव मृत्यु के मुख में जा रहे हैं पर बचे हुए लोग अमर रहना चाहते हैं, इससे बढ़ कर आश्चर्य क्या होगा। अतएव भाई! अचेत मत रहो। उस दिन को याद रखो सारी शेखी चूर हो जायगी। यह राजमहल, सिंहासन, ऊँची ऊँची अट्टालिकायें किसी काम में न आवेंगी। बड़ी चाह से मकान बनाया था, सजावट में धन की नदी बहा दी थी पर उस दिन उस प्यारे महल दो घड़ी के लिये इस देह को स्थान न मिलेगा। गृह-स्वामित्व क्षण भर में नष्ट हो जायगा। सारी पद-मर्यादा जाती रहेगी। इस जीवन में किसी की कुछ भलाई होगी तो लोग अपने स्वार्थ के लिये दो चार दिन तुम्हें याद करके रो लेंगे। सभाओं में शोक प्रस्ताव पास कर रीति विधि पूरी कर दी जायगी। दुःख देकर मरोगे तो लोग तुम्हारी मृत-देह (लाश) पर थूकेंगे, वश न चलेगा तो नाम पर चुपचाप अवश्य ही थूकेंगे। बस, इस शरीर का इतना सा नाता यहाँ रह जायगा।

अभी कोई भगवान् का नाम लेने को कहता है तो उत्तर दिया जाता है, 'मरने की भी फुर्सत नहीं है काम से वक्त ही नहीं मिलता'। पर याद रखो, उस दिन आप से आप अवकाश मिल जायगा। कोई बहाना चलेगा ही नहीं। सारी उछल-कूद मिट जायगी। तब पछतावोगे, रोओगे, पर 'फिर पछताए क्या बने, जब चिड़ियां चुग गयीं खेत'। मनुष्य जीवन जो भगवान् को प्राप्त करने का एक मात्र साधन था उसे यों ही खो दिया। अब बस रोओ। तुम्हारी तन्द्रा का यह परिणाम ठीक ही तो है। पर अब भी चेतो। विद्या, बुद्धि, वर्ण धन मान पद का अभिमान छोड़ कर सरलता से परमात्मा की शरण लो। भगवान् की शरण के सामने ये सभी कुछ तुच्छ हैं, नगण्य हैं। विद्या के अभिमान में रहोगे फल क्या होगा? तर्क वितर्क करोगे, हार गये तो रोओगे, पश्चात्ताप होगा। जीत गये तो अभिमान बढ़ेगा। अपने सामने दूसरों को मूर्ख समझोगे। हम शिक्षित हैं इसी अभिमान ने तो आज हमारे मन से बड़े बड़े पुरखाओं को मूर्खता का पद दे दिया है। इस बुद्धि के अभिमान ने श्रद्धा का सत्यानाश कर दिया, आज परमेश्वर भी कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। जो बात हमारी तुच्छ तर्क से सिद्ध नहीं होती, उसे हम किसी के भी कहने पर कभी मानने को तैयार नहीं। दुरभिमान ने सत्-शास्त्र और सन्तों के अनुभव सिद्ध वचनों में तुच्छ भाव पैदा कर दिया। हम उन्हें कवि की कल्पना मात्र समझने लगे। धन के अभिमान ने तो हमें दीन भाइयों से—अपने ही जैसे हाथ पैर वाले भाइयों से सर्वथा अलग कर दिया। ऊँची जाति के घमंड ने मनुष्यों में परस्पर घृणा उत्पन्न कर एक दूसरे को वैरी बना दिया। व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार आज हमारे चिर संगी बन गये। बड़े से बड़े पुरुष आज हमारी तुली-नपी बुद्धि के सामने परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। पद-मर्यादा की तो बात ही निराली है, जहाँ कुर्सी पर बैठे कि आँखें फिर गईं, आसमान उलटा दिखाई पड़ने लगा। दो दिन की परतंत्रता, देश शासन पर इतना घमंड, चार दिन की चाँदनी पर इतना इतराना, अरे! रावण, हिरण्यकश्यप सरीखे धरती तोलने वालों का पता नहीं लगा फिर हम तो किस बाग की मूली हैं। सावधान हो जाओ। छोड़ दो इस विद्या, बुद्धि, वर्ण, धन, परिवार-पद के झूँठे मद को, तोड़ दो अपने आप बाँधी हुई इन सारी फाँसियों को, फोड़ दो भंडा जगत् के मायिक रूप का, जोड़ दो मन उस अनादि काल से नित्य बजने वाली मोहन की महा मायाविनी किन्तु मायानाशिनी मधुर मुरली ध्वनि में और मोड़ दो निश्चात्मिका बुद्धि की गति को निज नित्य निकेतन नित्य सत्य आनन्द के द्वार की ओर।

सब को उस सर्वान्तर्यामी की प्रतिमूर्त्ति समझ कर सबसे अभिन्न प्रेम करो। आगे ग्रन्थ का आरम्भ होता है—

❀ ॐ ❀

भूमिका

ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त सभी प्राणी सुख को चाहते हैं। बात भी ठीक ही है क्योंकि सुख जीव का स्व-रूप (१) है और स्व-रूप के साथ सभी का परम प्रेम देखा गया है। परन्तु फिर भी अनादि अविद्या से विमूढ़ जीव को वह है दुष्प्राप्य। रात दिन उसकी इच्छा भी करता है, ध्यान लगाकर उसका चिन्तन भी करता है और सर्व शक्ति से उसकी प्राप्ति के लिये यत्न भी करता है, तो भी अनन्त जन्मान्तरों में अपने किये पुण्य पापों के फलों को भोगता हुआ यह जीव दुःख से विनिर्मुक्त नहीं होता। वास्तविक सुख की प्राप्ति तो इसे है ही नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुण्य का फल सुख होता है परन्तु ऐसा सुख वास्तविक सुख कदापि नहीं कहला सकता, क्योंकि अविशुद्धि, क्षय, सातिशयता, राग द्वेष आदि अनेक दुःखों के बीज पड़े रहने के कारण इसमें दुःख सदा मिला ही रहता है। एक और भी कारण है। सुख और दुःख इन दोनों की गति चक्र के समान होती है। दुःख के अनन्तर सुख और सुख के पश्चात् दुःख आया करता है। जिस प्रकार दुःख भोगने के अनन्तर थोड़ा सा सुख बहुत सुख के समान प्रतीत होता है इसी प्रकार सुख के अनन्तर जब थोड़ा सा भी दुःख आ पड़ता है तो वह दूभर हो जाता है। इसीलिये ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का सुख, दुख की विशेषता की प्रतीति का कारण होने से, वस्तुतः दुखःरूप ही है। जब ऐसी बात है तो इसे वास्तविक सुख कैसे कहा जा सकता है।

"जिस प्रकार महत्प्रमाण वाले हाथियों के मस्तक में लगा हुआ छोटा सा भी अंकुश अत्यन्त दुखदायी होता है इसी प्रकार महान् पुरुषों के ऊपर पड़ा हुआ थोड़ा सा भी दुख बहुत क्लेशप्रद होता है"। (हर्षचरित में सावित्री देवी वचन)

इस प्रकार सर्व अनर्थ परम्परा का मूल कारण अविद्या ही है। वेद भगवान् भी जहां तहां अनेक स्थलों पर इसी अविद्या के दौरात्म्य को कथन करते उसकी शक्ति को बतलाते हैं, देखिये (२):—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयः।
क्षीयन्ते चाव कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डक उ० १।२।८.

अर्थः - उस पर अपर—वाच्य वाचक—जान लेने पर अर्थात् पारब्रह्म के साक्षात्कार होने पर हृदय की अविद्या की गांठ खुल जाती है, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं, उसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।

जिस प्रकार एक अन्धे के पीछे लगे हुए अनेक अन्धे पुरुष मार्गादिसे अनभिज्ञ हुए २ भटकते ही रहते हैं, इसी प्रकार अविद्या वशीभूत जीव अपने आप को धैर्य सम्पन्न और बुद्धिशाली समझते हुए भी जन्म मरण के चक्र में घूमते ही रहते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सर्व अनर्थ की बीजभूत अविद्या से छुटकारा किस प्रकार पाया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर प्रायः वादियों ने अपनी अपनी दृष्टि से भिन्न भिन्न ही दिया है। कई कहते हैं कि कर्मों के द्वारा इस अविद्या का नाश किया जा सकता है। दूसरे कहते हैं कि नहीं, उपासना के बिना इसे दूर किया ही नहीं जा सकता। तीसरे कर्म और उपासना इन दोनों से हटकर तीसरा ही उपाय—अर्थात् भक्ति—इसकी निवृत्ति के लिये सर्वतोपरि साधन बताते हैं परन्तु

(१) पंचदशी १/७-९ (२) मुण्डक उ० १/२-८; कठ० उ० २/५

विचारशील आस्तिक पुरुषों से यह बात छिपी नहीं है कि इन तीनों में से कोई भी उपाय अविद्या को निवृत्त करने में समर्थ नहीं। "जो जो पदार्थ कर्मजन्य होता है वह अवश्य अनित्य अर्थात् नाशवान् होता है।" यह एक अनुभव सिद्ध न्याय है। अनेक श्रुतियें तथा स्मृतियें इसी न्याय का अनुवाद करती हुई इसका समर्थन करती हैं। उदाहरण के लिए देखिये छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है (१) कि जिस प्रकार इस लोक में कर्मजन्य पदार्थ क्षय को प्राप्त होता है, इस प्रकार परलोक में यज्ञादिक पुण्यकर्मों द्वारा सम्पादित स्वर्गादि पदार्थ भी क्षय को प्राप्त हो जाता है।" मुण्डकोपनिषद् का वचन (२) है कि "कर्मजन्य पदार्थों का क्षयिष्णुत्वरूप परिणाम देखकर मुमुक्षु पुरुष को उनसे वैराग्य कर लेना चाहिये क्योंकि यह एक अटल नियम है कि (नित्य) मोक्ष कर्मों से नहीं होता।" भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं (३) कि "स्वर्गप्रापक पुण्यों के क्षीण हो जाने पर स्वर्गीय जीव फिर मर्त्यलोक में आजाते हैं।" श्रीमद्भागवत् में भी वह यही कहते हैं (४) कि "पुण्य के क्षीण हो जाने पर काल से चाहित हुआ स्वर्गीय जीव न चाहता हुआ भी नीचे (मर्त्यलोक में) गिर जाता है।" इन श्रुति स्मृतियों से अर्थ संवाद रखने वाली एक और श्रुति कहती है (५) कि "कर्म, प्रजा और धन से कदापि अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती। इनके त्याग से ही पूर्वकाल में अनेकों ने इसे प्राप्त किया है।" यह श्रुति साक्षात् अपने मुख से अमृतत्व प्राप्ति में कर्म प्रजा धनादिकों की साधनता का निषेध करती हुई कर्मादि के त्याग से ही उस की प्राप्ति को बताती है। इससे स्पष्ट है कि कर्म से नित्य मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

इस प्रकार यद्यपि साक्षात्रूप से कर्मों की मोक्षहेतुता का निषेध सिद्ध है तो भी विविदिषा के सम्पादन अर्थ मलिन अन्तःकरणवाले जिज्ञासुओं के मनों के मल को निकाल कर उन्हें शुद्ध करने के लिये, निष्काम भाव से शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान भी परम आवश्यक मानना पड़ता है, क्योंकि यदि इस प्रकार स्वीकार न किया जाय तो अनेक श्रुतियों स्मृतियों और श्रद्धेय आचार्यों के वचनों की सङ्गति न लगा सकेगी। तथापि यजुर्वेद (१) में कहा गया है कि "कर्म करता हुआ ही पुरुष सौ वर्ष जीने की अभिलाषा करे।" उपनिषदों (२) में कथन किया है कि "मुमुक्षु पुरुषों को वेदानुवचन, यज्ञ, दान और अनशनादि तपों के द्वारा आत्मविषयक जिज्ञासा का सम्पादन करना चाहिए।" श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है (३) कि ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में कर्मविषयक भ्रम अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित हुआ और सब कर्मों को करता हुआ वह उनसे भी वैसा ही करावे। आगे चलकर भगवान् ने वही फिर कहा है (४) कि "योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में, निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है।" श्रीमद्भागवत् में भी उन्होंने अनेक स्थलों पर निष्काम कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता कही है देखिये — "जब तक वैराग्य न हो जाय अथवा मेरी कथा आदि के श्रवण और कथन में श्रद्धा न हो तब तक कर्मों को करता ही रहे। (५) भगवन्परायण पुरुष "निवृत्ति प्रयोजनवाले निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करे।" (६) भगवान् के पार्षद योगेश्वर आविर्होत्र कहते हैं (७) कि जो अजितेन्द्रिय और अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करते वह विहित कर्म के पाप से

(१) ८/१/६, (२) १/२/१२, (३) /९/२१, (४) ११/१०/२६, (५) कठ० उप० २, महा ना० ३०/१०/५, (१)४०/२ (२) बृ० ३०/४/४/२२, (३) ३/२६, (४) ६/३, (५) ११/२०/९, (६) ११/१०/४, (७) श्रीमद्भ० ११/३/४५-४६,

बार बार जन्म मरण को प्राप्त होते हैं। वेदोक्त कर्मों को निःसङ्ग भाव से तथा ईश्वरार्पण बुद्धि से करता हुआ पुरुष नैष्कर्म सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।" श्री शंकराचार्यजी कहते हैं (८) "जिस प्रकार निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से प्रकाशमान होता है इसी प्रकार निर्मल अन्तःकरण में ही विद्या ठीक प्रकार से प्रकाशमान होती है। इसीलिये यम, नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म तथा निष्काम भाव से अनुष्ठान किये हुए यज्ञों से अन्तःकरण को शुद्ध अवश्य करना चाहिये।" अन्यत्र वह कहते हैं (९) कि चित्त की शुद्धि के लिए (निष्काम भाव से) कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है।" सुरेश्वराचार्यजी का कथन है (१०) कि "जिस कारण नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान की महिमा महान् है इसलिए आत्मज्ञान के अभिलाषी मुमुक्षों का अन्तःकरण शुद्धि के लिये सदैव नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।" इस प्रकार कर्मों के विधान करने वाले अन्य भी कई वाक्य मिलते हैं। मोक्ष में कर्मों की हेतुता के निषेध करने वाले वाक्यों के साथ इन वाक्यों की सङ्गति लगाने के लिए अन्तःकरण की शुद्धिपर्यंत कर्मों की कर्त्तव्यता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। एक बात और भी है और वह यह है कि अनेक स्थलों पर श्रुति यह प्रतिपादन करती है कि निर्मल अन्तःकरण वाले पुरुषों का ही आत्मविचार में अधिकार है दूसरों का नहीं। उदाहरण के लिये एक दो स्थल यहाँ पर उद्धृत कर दिये जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है (१) कि "अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर निदिध्यासन द्वारा पुरुष उस निष्कल अर्थात् निरंजन प्रभु के दर्शन कर सकता है।" कठोपनिषद् में लिखा है (२) कि "जो पुरुष पापों से निवृत्त नहीं हुआ, जिसने अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश न कर सकने के कारण चित्तैकाग्र सम्पादन नहीं किया वह सर्वान्तर्यामी प्रभुविषयक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे उसका साक्षात्कार नहीं होता।" आगे चलकर वहीं पर फिर लिखा है कि (३) जिसने मन को वश में नहीं किया, अतएव जिसको विज्ञान की प्राप्ति नहीं और जो सदा अपवित्र रहता है वह प्रभु के पद को न पाकर जन्ममरणरूप संसार-चक्र को प्राप्त होता रहता है।" (४) "मन और इन्द्रियों की एकाग्रता परम तप है। यह धर्म सब धर्मों से उत्कृष्ट है। इसको परम धर्म कहते हैं।" इत्यादि, स्मृतिओं में वर्णित मन के समाधान का महात्म्य भी यही जतलाता है कि बिना चित्त की एकाग्रता किये ब्रह्मविचार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त विद्वानोंका अनुभव भी इस बात का साक्षी है कि जब किसी सूक्ष्म पदार्थ को समझना होता है तो उसके लिए चित्त को समाहित करना आवश्यक होता है क्योंकि चित्त समाहित किये बिना उसकी गति सूक्ष्म नहीं होती जब आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है— यहाँ तक कि उसे मन वाणी का अगोचर कहा जाता है— तो उसके ज्ञान के लिये चित्त का समाधान परम आवश्यक (अर्थ सिद्ध) है। और क्योंकि चित्त की एकाग्रता (समाहितता) बिना विक्षेप-मल की निवृत्त के हो ही नहीं सकती और विक्षेपों की निवृत्ति बिना उसकी शुद्धि के बन नहीं सकती और शुद्धि का शास्त्रविहित उपाय केवल (आहार शुद्धि सहकृत) विहित कर्मों का निष्काम भाव से अनुष्ठान करना ही है इसलिये यह बात सिद्ध है कि चित्त के मल विक्षेप के निमित्त, आहार शुद्धि के साथ साथ, निष्काम भाव से विहित कर्मों का अनुष्ठान करना परम आवश्यक है। चित्त की निर्मलता हो जाने के अनन्तर फिर उनकी आवश्यकता नहीं रहती। फिर तो सद्गुरोपदिष्ट रीति के विचार कर लेने पर वेदान्त वाक्यों से ब्रह्मज्ञान और उससे साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह शास्त्र का परम सिद्धान्त है।

(८) उ० सा० प० १०/२२, (९) विवेक चूड़ामणि ११, (१०) नै० सि० १/५०/-
(१) ३/१/८; (२) १/२/२३; (३) १/३/७; ग० मा० १२/२५०/४; ३/२६०/२५,

इस प्रकार जब कर्मों से अविद्या की निवृत्ति नहीं बनती तब उपासना से वह कैसे बन सकती है क्योंकि उपासना भी तो एक मानसिक कर्म विशेष ही है। इसके अतिरिक्त मोक्ष (१) 'अकृत' है अर्थात् मोक्ष क्रिया साध्य नहीं, नित्य सिद्ध है। जब ऐसी बात है तो इसमें कर्मों या उपासना की गति कैसे हो सकती है? कदापि नहीं। एक और भी बात है। कर्म और उपासना इनमें से किसी का भी विरोध अविद्या से नहीं है। अविरोधी पदार्थ कभी दूसरे का घातक और बाधक नहीं होता। अन्धकार अन्धकार का नाश कभी नहीं करता क्योंकि इनका आपस में विरोध नहीं होता। अग्नि भी अग्नि को कभी नहीं जलाता। कारण यह है कि अग्नि अग्नि का विरोधी नहीं तो फिर अविद्या के अविरोधी कर्म और उपासना किस प्रकार उसका नाश कर सकते हैं? श्रुति तो बार बार यही कहती है कि बिना विद्या के अविद्या तथा तत्कार्य की निवृत्ति करके उपलक्षित मोक्ष की प्राप्ति होती ही नहीं। "ज्ञान के बिना मुक्ति के लिये कोई भी दूसरा मार्ग नहीं है। (२) "जब मनुष्य चर्म की भांति आकाश को लपेट लेंगे तब कहीं (जाकर) परम प्रभु के ज्ञान बिना दुःख का अन्त होगा पहिले नहीं (३)। इत्यादि कई श्रुतिओं के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि विद्या ही मुक्ति का एक मात्र साधन है। यही अविद्या को नष्ट कर सकती है। इन्हों का परस्पर विरोध है। प्रामाणिक विद्या प्रबल होने के कारण अप्रामाणिक होने से निर्बल अविद्या को कैसे रहने दे सकती है? प्रकाश के बिना अन्धकार कदापि दूर नहीं होता और प्रकाश के हो जाने पर ठहर भी नहीं सकता।"

यहां पर अब यह प्रश्न हो सकता है कि सिद्धान्त में "अहं ब्रह्मास्मि" इस अखण्डाकार वृत्ति को अविद्या की निवृत्ति माना जाता है। यह अखण्डाकार वृत्ति वृत्ति होने से अविद्यान्तर्गत है, अविद्या से बाह्य नहीं। अविद्यारूप अखण्डाकार वृत्ति अविद्या को कैसे नाश कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार निर्मली बूटी का चूर्ण स्वयं रज होता हुआ भी पानी के रज को दूर करने के सामर्थ्य वाला होता है, जिस प्रकार संवादि भ्रम भ्रम होता हुआ भी सम्यक् फल को देने में समर्थ होता है, और जिस प्रकार प्रतिबिम्ब स्वयं मिथ्या होता हुआ भी बिम्ब के आकार आदि का अनुमान कराने में प्रामाणिक समझा जाता है इसी प्रकार अखण्डाकार वृत्ति स्वयं अविद्यारूप होने से मिथ्या होती हुई भी अविद्या की विरोधिनी होने से उसकी निवृत्ति करने में समर्थ होती हुई मोक्ष का साधन बन सकती है। इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आ सकती। यहां पर यदि यह कहा जाए कि इन तीनों दृष्टान्तों के रहते हुए उपासना से ही अविद्या के नाश की सम्भावना को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते, तो इसका उत्तर पहिले ही दिया जा चुका है कि उपासना का अविद्या के साथ विरोध नहीं है। अखण्डाकार वृत्ति अविद्यान्तर्गत होती हुई भी विद्या के अत्यन्त समीप होने से विद्या रूप ही कथन की जाती है। देखिये शंकराचार्यजी 'उपदेश सहस्री' में एक स्थान पर लिखते हैं कि (१) 'मैं कूटस्थ निर्विकार हूँ इसको विषय करने वाली बुद्धि वेदान्त शास्त्र में विद्या नाम से पुकारी जाती है।" इस प्रकार विद्यारूप होने से यह वृत्ति अविद्या की विरोधिनी है। अविद्या की अविरोधिनी उपासना उन विषम दृष्टान्तों के आधार पर अविद्या की निवृत्ति कदापि नहीं कर सकती।

ननु, यदि उपासना अविद्या के नाश करने में समर्थ नहीं तो श्री स्वामी विद्यारण्यजी ने पञ्चदशी में

(१) मु० उ० १/२/२/१२, (२) श्वे०उ० ३/८, ६/२५। (३) श्वे०उ० ६/२०।
(१) पद्म भाग १/१२/

यह कैसे लिख दिया है कि (२) "जिस प्रकार से संवादि भ्रम भ्रम होता हुआ भी सम्यक् फल को दे देता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व की उपासना भी मुक्तिरूप फल को दे देती है" उत्तर—ठीक है श्री स्वामी विद्यारण्यजी ने ऐसा लिखा है। परन्तु इससे उनका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि उपासना साक्षात् मुक्ति का साधन है। वह भी विद्या द्वारा ही उपासना को मुक्तिप्रद मानते हैं। देखिये वह अपनी ही लेखिनी से उसी प्रकरण में क्या लिखते हैं:— (३) निर्गुण ब्रह्म की उपासना शनैः शनैः ब्रह्मज्ञान रूप हो जाती है" और जिस प्रकार संवादि भ्रम फल काल में प्रमारूप हो जाता है उसी प्रकार अतिपरिपक्व हुई उपासना भी फल काल में वद्यारूप हो जाती है।" यदि वह उपासना की साक्षात् ही मुक्ति का साधन स्वीकार करते तो उन्हें यह कहने की आवश्यकता न पड़ती अतः कर्म और उपासना दोनों ही किसी प्रकार से भी साक्षात् रूप से अविद्या को निवृत्त करने में समर्थ नहीं माने जा सकते।

इसी प्रकार "मैं एक मात्र भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता हूँ" (१) सांख्य योग धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग इनमें से कोई भी इस प्रकार मुझको वश में नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि मेरी अनन्य भक्ति।" (२) इत्यादि भक्ति मार्ग को सब से श्रेष्ठ निश्चय कराने वाले वाक्य भी लगा लेने, क्योंकि इनका तात्पर्य भी उपासना वाले वाक्यों की ज्ञान भांति द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कराने में है, साक्षात् रूप से नहीं। श्री मद्भागवत में जहां पर ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्य आये हैं— राजा निमि को उपदेश देते हुए भगवान् विष्णु के पार्षद महायोगश्वर कवि ने भक्ति प्रसंग में (३) कहा है कि "हे राजन। निर्दिष्ट रीति से, भगवान् के चरणों का निरन्तर भजन करते करते भक्त को भगवान् से प्रेम, भगवान् को छोड़कर अन्य सब पदार्थों में वैराग्य फिर भगवान् के स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। तत्पश्चात् वह साक्षात् परम शान्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

उल्लिखित विद्या से अविद्या की निवृत्ति होते ही मोक्ष, अभिव्यक्त, करने योग्य हो जाता है। इसकी अभिव्यक्ति के अनन्तर कुछ करणीय शेष नहीं रह जाता। मोक्ष अमृतत्त्व, वास्तविक सुख, निःश्रेयस तथा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति यह सब शब्द पर्याय होने से एक ही अर्थ के बोधक हैं। यह मोक्षरूप अर्थ नित्यसिद्ध होने पर भी नितान्त दुर्लभ है। कारण यह है कि आवरण तथा विक्षेपरूप दो महान् शक्तियों वाली अविद्या की महिमा से इस जीव ने अपना स्वरूप खोकर कुछ का कुछ समझ लिया हुआ है। इसी हेतु से चाहे वह निरन्तर इसकी चाह भी करता रहे, समाधिस्थ होकर इसका ध्यान भी धरता रहे और इसके अतिरिक्त यावत् शक्ति इसकी प्राप्ति के लिये यत्न भी करता रहे तो भी इसकी प्राप्ति तब तक असम्भव सी बनी रहती है जब तक आत्मज्ञान की प्रचण्ड अग्नि से अविद्यारूप महान् तूलराशि जल नहीं जाती। परन्तु यह बात भी भूलने योग्य नहीं कि जब एक बार इसको प्राप्त कर लिया जाता है तो बस फिर सदा के लिए— बन्धन की निवृत्ति हो जाती है। बन्धन फिर रहता ही नहीं। इसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। वेद भगवान् कई स्थलों पर कहते हैं कि "वह (ज्ञानी) फिर जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ता। वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है।" (४) उसका आवागमन इस लोक में होता ही नहीं।" (५) इत्यादि। ब्रह्मसूत्र में व्यास भगवान् भी ऐसी श्रुतियों के भाव का

(५) ६/१३। (३) पञ्चदशी ६/१२२—१२३ (३) श्रीमद्भ० ११/१४/२०० (१) श्रीमद्भ० ११/१४/२०/ (२) श्रीमद्भ०११/१४/१६(३) ११/२/४३ (४) कालाग्निरुद्रोपनिषत् (५) छा०उ० ८/१५/१

वर्णन करते हुए कहते हैं (१) "कि वेद भगवान् इस बात का साक्षी है कि वहां पहुँचकर फिर किसी की आवृत्ति इस लोक में होती ही नहीं।" भगवान् कृष्ण भी अपने श्रीमुख से कथन कहते हैं (२) "हे कुन्ती -पुत्र ! मुझे प्राप्त होकर फिर किसी का जन्म नहीं होता।

एक और बात स्मर्ण रखने योग्य है। मोक्ष को पाकर भी यदि क्षय होने का खड्ग मुक्त पुरुष के शिर पर तना रहता हो तो मोक्ष और स्वर्ग में अन्तर ही क्या रह जाता है। फिर तो जैसे स्वर्ग विनाशी होने से हेयता कोटि के अन्त पाती है वैसे ही मोक्ष भी क्षयी होने से परम उपादेय नहीं हो सकेगा ? अतः अगति से भी मोक्ष शाश्वत ही सिद्ध ठहरता है।

कार्यसहित अविद्या को दूर करके नित्य आनन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति की साधना भूत जो विद्या, वह बिना वैराग्य के हो ही नहीं सकती और वैराग्य सदा उसी पदार्थ में होता है जिसमें दोष बुद्धि हो। शास्त्र की दृष्टि से अविद्यातत्कार्य में दोष दृष्टि करनी उचित है परन्तु बिना विवेक के वह असम्भव है। यह विवेक ही बतलाता है कि कौन पदार्थ सत् है कौन असत् है। सत् और असत् के विवेचन अर्थात् पृथक्करण को ही विवेक कहते हैं। परन्तु विवेक भी बिना विचार के कदापि नहीं हो सकता। इसीलिए तो विचार का महत्त्व शास्त्रों में जहां तहां भली प्रकार निरूपण किया है। देखिये "त्रिपुरा रहस्य में" ब्राह्मण कुल तिलक तपस्वी परशुराम को उपदेश देते हुए भगवान् दत्तात्रेय कितनी सरलता से विचार की महिमा और अविवेक का निरूपण करते हैं (३)

"विचार सब का मूल है। मोक्षरूप महल में जाने के लिए इसे पहली सीढ़ी समझना चाहिये। सुविचार के बिना कब किसका कल्याण हुआ ? अविचार तो परम मृत्यु है। अविचार के मारे जीव जन्म मरण चक्र में घूमते ही रहते हैं। परन्तु विचारशील पुरुष को अभिष्ट की प्राप्ति होती है। उसकी सर्वत्र जय होती है। विचार सुखरूप वृक्ष का शक्तिशाली बीज है। विचार से पुरुष की उन्नति होती है। ब्रह्मा विचार के कारण सबसे उच्च गिने जाते हैं। विचार के कारण ही विष्णु का पूजन किया जाता है। शिव भी विचार के कारण ही सर्वज्ञ कहलाये। श्रीरामचन्द्र जी कितने बुद्धिमान थे ? परन्तु वह भी अविचार के कारण सुवर्णमृग के इच्छुक होकर परम आपत्ति को प्राप्त हुए। परन्तु पीछे उन्होंने विचार द्वारा समुद्र में पुल बांधकर राक्षसों से भरी लंका को भी जीत लिया। हे भार्गव ! तुम्हें यह ज्ञात ही है कि एक बार ब्रह्मा भी अविचार से मूढ़ हो कर अभिमान के वशीभूत हो गये थे। तब उन्हें अपना शिर कटवाना पड़ा था। महादेव ने भी एक बार बिना विचारे एक असुर को वर दे दिया था। उसका फल क्या हुआ ? अपने ही भस्मीभवन से डर कर उन्हें भागना पड़ा। इसी प्रकार अन्य भी सब देवता राक्षस पुरुष पशु आदि जब कभी विपत्ति को प्राप्त करते हैं उसका मूल कारण सर्वदा अविचार ही होता है। हे परशुराम ! वह धैर्यशाली महापुरुष धन्य हैं जिनके पास विचार सदा रहता है। उनको निरन्तर प्रणाम हो।"

आगे फिर कहते हैं (१) कि "जैसे सन्निपात रोग से ग्रस्त पुरुष को औषधि के सेवन करने पर भी तब तक भय बना रहता है जब तक कि शारीरिक धातुओं की पूर्णरूप से शुद्धि नहीं होती वैसे जब तक विचाररूप पूर्ण आरोग्य ग्रसित का उदय नहीं हो जाता तब तक पुरुष अविचाररूप रोग से रात दिन ग्रसा

(१) ब्र० सू० ४/२२ (२) भ० गी० ८/१६ (३) ३/२/५—६३ (१) त्रि०र० ३/२/७५—७८

रहता है। इसी लिये बड़ा भारी भय रहता है। जब परम विचार की प्राप्ति हो जाती है तब मनुष्य जीवन सफल समझा जाता है। जिन जन्मों में अध्यात्म विचार प्राप्त नहीं होता वह सब के सब जन्मरूप वृक्ष फलहीन होने के कारण निष्फल जानने चाहिये। जिस जन्मरूप वृक्ष पर विचाररूप फल लगे वही सफल होता है।"

इसके आगे और भी कहते हैं (२) कि "पुरुष निर्विचार हैं वह सब के सब कूप मण्डूक के समान हैं। जैसे कुए का मैंढक कुए में उत्पन्न होता है और अपना शुभ और अशुभ जाने बिना वहीं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही अन्य प्राणी भी ब्रह्माण्डरूप कुए में वृथा ही बार बार उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं। अपने हित और अहित को नहीं समझते। दुःखों में सुख बुद्धि कर बैठते हैं और सुख में दुःख बुद्धि कर लेते हैं। बस फिर क्या! अपने अविचार के प्रभाव से जन्म-मरणरूप प्रचण्ड अग्नि में बार बार दाह को प्राप्त होते रहते हैं। दुःख से दुःखी भी होते हैं परन्तु उसे छोड़ते नहीं। जैसे गर्दभी के पदाघात से पीड़ित हुआ भी गर्दभ उसके पीछे ही जाता है वैसे ही प्राणी संसार कूप में पड़ा ही रहता है उससे निकलने का प्रयत्न नहीं करता। परन्तु हे राम! तूने विचार (स्वरूप) नौका की शरण ले ली है अब तू अपने को दुःख सागर से पार पहुँचा ही समझ।"

"विचार को छोड़कर अन्य (कर्मादिक) साधनों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।" (अपरोक्षानुभूति २२)" विचार से ही विद्यमान वस्तु का निर्णय हो सकता है।" विचार से ही पदार्थों का निश्चय देखने में आता है (२) इसलिये (अन्य सब साधनों से अवकाश पाकर मुक्ति के लिये केवल) विचार ही करना चाहिये (३) इत्यादि महापुरुषों की उक्तियों का तात्पर्य भी विचार की महिमा बताने में ही है।

महा महिमाशाली इसी विचार को संसार में प्रवृत्त कराने के लिए तथा मोटी तथा खोटी बुद्धि वाले पुरुषों के अन्तः करण को निर्मल करके विचारोपयोगी बनाने के लिए तत्त्वज्ञ महर्षियों ने अनेक दर्शन शास्त्रों की रचना की। उन सब दर्शनों में मुख्य दर्शन छः ही हैं जिनका विशेष विवरण इस ग्रन्थ के दर्शन परिषद् विभाग में किया गया है इन सभी दर्शनों में वेदरूप शब्द प्रमाण को परम श्रद्धेय माना है। अपनी अपनी दृष्टि से वेद का उल्लङ्घन कोई भी नहीं करता। परस्पर विरोध केवल स्वस्वदृष्टिगत है वास्तव में नहीं और इस प्रतीयमान विरोध की उपयोगिता जिज्ञासुजनों की बुद्धि को सूक्ष्मातिसूक्ष्म करने में सर्वथा सफल होती है। इसके अतिरिक्त सोपानक्रम न्याय से अथवा स्थूलारुन्धती न्याय से इन सबका समन्वय एक ही पदार्थ के निरूपण में है। किसी भी विषय का निरूपण करते हुए यह आवश्यक नहीं होता कि जिस बात को काट देना हो उसका निरूपण ही न किया जाय। शास्त्रों में सर्वत्र पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की रीति सदा से चली आई है। एक पक्ष को दृढ़ करने के लिये स्थूणानिखनन न्याय से उसके विरोधी पक्ष को खड़ा करना कोई नई बात नहीं है। महर्षि वशिष्ठ अजातसन्तावादी थे तीनोंकालों में सृष्टि का अभाव है यह उनका अकाट्य मत था। परन्तु तो भी उन्होंने सृष्टि का अपवाद करने के ही अभिप्राय से सृष्टि की उत्पत्ति का कितना लम्बा चौड़ा वर्णन कर डाला था। उन्होंने स्वयं इस विरोध का परिहार करते हुये कहा कि "यह क्रम केवल मन्द बुद्धि पुरुषों को भली भांति वस्तु तत्त्व समझाने के लिये रखा गया है।" श्री कृष्ण भगवान भी उद्धव के प्रश्न करने पर भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा की हुई भिन्न-भिन्न तत्त्व संख्याओं की योजना

(२) त्रि० र० ३/२/३६-८४, (१) विवेक० ११/, (२)विवेक १३/, (३) विवेक १५/

बताते हुए कहते हैं।" इस प्रकार ऋषियों ने नाना प्रकार से तत्त्वों की गणना की है। युक्तियुक्त होने के कारण वे सभी ग्राह्य हैं। विद्वानों की किसमें शोभा नहीं ? उन्हें सभी कुछ शोभा देता है।" (४)

इस प्रकार यद्यपि यह सभी दर्शन मान्य है तो भी इन सब में ब्रह्म दर्शन मुख्य है। इसका कारण यह है कि इस दर्शन का मुख्य विषय साक्षात् आत्मस्वरूप निरूपण ही है। इसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो सुख अनेक तीर्थों की यात्रा करने से हजारों वर्ष नाना प्रकार की समाधि लगाने से भी नहीं प्राप्त होता, वही ब्रह्मसुख वेदान्त शास्त्र के द्वारा क्षणमात्र में प्राप्त हो जाता है। इसी कारण वेदान्त शास्त्र को सर्वशास्त्रों का शिरोमणि माना गया है। यदि सच पूछिये तो चित्त को शान्ति वेदान्त शास्त्र के विचार करने से ही प्राप्त होती है। वेद कहते हैं "जानना" और अन्त कहते "सीमा" अतएव जहां जानने की पराकाष्ठा हो जिस वस्तु के जानने मात्र से और कुछ जानना शेष न रहे उसको ही वेदान्त कहते हैं।

वेदान्त आदि शास्त्रों में तीन सत्ता व दृष्टि लिखी हैं। इन्ही के क्रम से वेदान्त अर्थों का निर्णय व निश्चय ठीक हो सकता है। जैसे हनुमान ने श्रीरामजी के आगे अपना अनुभव प्रगट किया था कि ज्ञान दृष्टि से तुम, हम एक और शास्त्र दृष्टि से तुम ईश्वर मैं आपका अंश जीव हूँ तथा लौकिक रीति से तुम स्वामी मैं दास हूँ और इसी भांति वेदान्त के सब वाक्यों में तीन सत्ता और अधिकारी का भेद मान करके ही यथार्थ निश्चय हो सकता है।

सब साधन न बन पड़ें तो दया, क्षमा, सन्तोष आदि शुद्ध भाव (सद्गुणों) को धारण करके पदार्थों को जानने वाले अधिकारी अवश्यमेव कैवल्य मुक्ति के भागी हो सकते हैं। दया आदि को सब साधनों का मूल अष्टावक्र मुनि ने स्पष्ट लिखा है।

अतः मुमुक्षों को उचित है कि वेद व वेदान्त को अपनी शुद्ध बुद्धि से विचार करना अथवा निष्काम विद्वानों के द्वारा सारार्थ को समझ कर पुनः २ अभ्यास करके मनुष्य जन्म को सफल करना चाहिये।

अनुबन्ध।

(१) विषय, (२) प्रयोजन, (३) अधिकारी और (४) सम्बन्ध, इन चार वस्तुओं का नाम अनुबन्ध चतुष्टय है। प्रत्येक ग्रन्थ वा कार्य के येही चारों प्रधान अवयव होते हैं, अर्थात् इनके बिना किसी कार्य का प्रबन्ध ठीक नहीं होता। इनमें से कोई सा एक भी यदि न हो वा अज्ञात हो अर्थात् यथार्थ रूप में स्पष्टता से न जाना वा समझा गया हो तो वह ग्रन्थ वा कार्य खण्डित सा जाना जाता व रहता है अर्थात् उसका फल वा प्रयोजन यथावत् सिद्ध नहीं होता, इसलिये इनका जता देना अतीव आवश्यक हुआ।

(४) श्रीमद्भा० १६/२२/२५

इस ग्रन्थ का विषय और प्रयोजन और सम्बन्ध क्या है और अधिकारी कौन है सो सुनो। इस ग्रन्थ में अचिन्त्यचिन्मात्र सच्चिदानन्द आत्मा का दर्शन—ज्ञान करा देना—यह तो विषय है। परमानन्द रूप आत्मा की प्राप्ति और देहादि अनात्म अभिमान की निवृत्ति करा देना—यह प्रयोजन है और ब्रह्मविद्यारूप मोक्ष के उपाय से आत्मपदका प्रतिपादन करना—यह सम्बन्ध है।

जिसको यह निश्चय है कि मैं अद्वैतब्रह्म अनात्मदेह से बांधा हुआ हूं सो किसी प्रकार छूटूं वह न अति ज्ञानवान् है न मूर्ख है, ऐसा विकृत्ति आत्मा यहां अधिकारी है।

इस ग्रन्थ का मोक्ष उपाय, परमानन्द की प्राप्ति करने वाला है। जो पुरुष इसको निरन्तर विचारेगा वह ज्ञानवान् होकर फिर जन्म—मृत्युरूप संसार में न आवेगा।

उपक्रम।

वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों का ही प्रतिपादन किया है अतः इस ग्रन्थ में प्रथम वैराग्य—मनुष्य की आयु व मनुष्य का कर्त्तव्य सहित तत्पश्चात् कर्म, उपासना, भक्ति (विशेष) और ज्ञान का पारभाषिक वर्णन और फिर धर्म की पूरी व्याख्या न साधारण धर्म की विशेष व्याख्या—कर्म, उपासना, ज्ञान व मृत्यु व्याख्या सहित, तत्पश्चात् विशेष-धर्म असाधारण और आपद्धर्म की संक्षिप्त व्याख्या फिर दर्शन परिषद् व वेदान्त द्वारा ब्रह्मज्ञान का विशेष वर्णन किया है।

योग प्रकरण प्रथक् नहीं निर्माण किया किन्तु साधारण धर्म की उपासना के अन्तर्गत ही लिखा है। मोक्ष प्रकरण के पश्चात् उपनिषद व श्रीमदभगवद्गीता की व्याख्या और अन्त में अनेक फुटकर प्रार्थना सहित उपयोगी विषय लिखे हैं। यह ग्रन्थ ऐसी सरल भाषा में निर्माण किया है कि जिससे सर्व साधारण मनुष्य भी सुगमता से आत्मज्ञान का लाभ उठा सके। अतएव हम दृढ़ता पूर्वक सज्जनों को विश्वास देते हैं कि यदि कोई सत्व-बुद्धियुक्त श्रद्धापूर्वक तीव्र संवेग से विधियुक्त इस ग्रन्थ की क्रियाओं अथवा साधनों को करके, उनका अनुभव लेके और मोक्ष प्रकरण को उचित रीति से अवलोकन करें तो उन्हें सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मदर्शन से अवश्य ही परमानन्द प्राप्त होगा।

ग्रन्थ का आरम्भ—

जोधपुर (राजपूताना)
तारीख २६ मार्च सन् १९४२ ईस्वी

चैत्र शुक्ल पक्ष श्रीरामनवमी, दुर्गा ९
बृहस्पतिवार विक्रम सम्वत् १९९९
शकः १८६४

❀ ॐ तत्सत् ❀

विचार संग्रह

वैराग्य ।

मंगलाचरणम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः

शब्दार्थः—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण की वृद्धि होती है, पूर्ण में से पूर्ण ले लेने से भी पूर्ण ही अवशेष रहता है। ॐ शान्तिः, शान्तिः शान्तिः।

उस जगत्पिता परमब्रह्म परमात्मा को कोटानिकोटि नमस्कारन्तर शिष्योद्धारक श्री सद्गुरु पूर्ण-कृपालु (ब्रह्मलीन स्वामी श्री रामगिरिजी व स्वामी श्री गंगागिरिजी) की इस लूली जिह्वा से स्तुति करता हूँ, तथा इस अल्प स्तुति से ही अपने को कृतार्थ मानता हूँ, मुझ पर तारक स्वामी श्री रामगिरिजी व श्री गंगागिरिजी पिता का इतना उपकार हुआ है कि उससे उऋण होना असम्भव है। न उस उपकार के वर्णन करने की मुझ में शक्ति है जो उनके गुणानुवाद रूपी स्तुति से उनको सन्तुष्ट करूं, तथा न कोई ऐसी अमूल्य वस्तु ही है जो उनको देकर ऋण मुक्त होऊं; अतएव पवित्र चरण कमलों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर केवल तन्मय ही होता हूँ।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवेनमः ॥

अर्थः—श्री गुरु 'अखण्ड मण्डलाकार' हैं, सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त हैं, 'तत्पद' (ब्रह्मपद) के दिखाने वाले हैं।

—विषय प्रवेश—

इस बात को सभी लोग जानते हैं कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि चारों युग बराबर ही अपनी अपनी वारी से आते और जाते रहते हैं। जिस काल में सब मनुष्य सत्यवादी और धर्मात्मा होते हैं उसी काल का नाम सत्ययुग (१७,२४,००० वर्ष) है, फिर जिस युग में तीन भाग सत्यवादी और चौथा

भाग असत्यवादी होते हैं उसी युग का नाम त्रेतायुग (१२,९६,००० वर्ष) है और जिस समय में आधे सत्यवादी आधे असत्यवादी होते हैं उसका नाम द्वापर (८,६४,००० वर्ष) है जबकि चौथा भाग सत्यवादी होते हैं तब कलियुग (४,३२,००० वर्ष) कहा जाता है। आजकल कलियुग ही वर्त्तमान है और इसके ४,३२,००० चार लाख बत्तीस हजार वर्षों में से केवल ५,०४१ वर्ष ही व्यतीत हुए हैं अभी ४,२६,९५९ वर्ष शेष हैं अन्त में वे भी एक दिन व्यतीत हो जायंगे। जगत् में कोई पदार्थ स्थिर नही रहेगा, सब नाशरूप और तुच्छ हैं। सबका प्रतियोगी काल है और अनेक जीवों को भोजन करता है। जूं आदिकों को मक्षिका और मच्छर आदिक खाते हैं, और मक्षिका मच्छरादिकों को दादुर (मैंढक) खाते हैं, मैंढकों को सर्प, और सर्पों को नेवला, नेवले को बिल्ली, बिल्ली को कुत्ते, कुत्तों को भेड़िये, भेड़ियों को सिंह, सिंहों को शरभ (एक प्रकार का छोटा सा जानवर होता है); शरभ को मेघ की गर्जना नष्ट करती है। मेघ को वायु, वायु को पर्वत, पर्वत को इन्द्र का बज्र और इन्द्र के बज्र को विष्णुजी का सुदर्शन-चक्र जीत लेता है, विष्णु भी अवतारों को धर के सुख दुख जरा मरण संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार निरन्तर भूत जाति को काल जीर्ण करता है। परस्पर जीव जीवों को खाते हैं और निरन्तर नाना प्रकार के भूत (जात) दशों दिशाओं में उपजते हैं। जैसे जल में मच्छ कच्छ, पृथ्वी में कीट आदि, अन्तरिक्ष में पक्षी, वन में सिंहादिक, मृग, स्थावर में पिपीलिका, दर्दुर, कीटादि, विष्ठा में कृमि और नाना प्रकार के जीव गण इसी प्रकार निरन्तर उपजते और मिटते जाते हैं कोई हर्षवान होता है कोई शोकवान होता है कोई रुदन करता है और कोई सुख दुःख मानते हैं। पापी पापों के दुःख से निरन्तर मरते है और सृष्टि में उपजते और नाश होते हैं। जैसे वृक्ष से पत्ते उपजते हैं तैसे ही कितने भूत उपज कर नाश होते हैं, उनकी कुछ गिनती नहीं। जो ज्ञानवान पुरुष हैं वे अपने आप से आप पर दया करके आपको संसार समुद्र से पार करते हैं।

जब कि संसार में सब ही वस्तुएं अनित्य और अस्थायी हैं तो प्रत्येक मनुष्य को अपने भूत और भविष्यत् का विचार करना चाहिये। एक दिन वह था, जब कि तुम निगोद में पड़े थे। उस समय तुम्हें क्या क्या कष्ट भोगने पड़े, यह तुम्हें आज मालूम नहीं है। किसी पुण्य के उदय होने से, तुम उस निगोद से निकल कर क्रमशः एकेन्द्रिय, द्वैन्द्रिय, त्रैन्द्रिय और चौथेन्द्रिय शरीर में आये। पश्चात तुम्हारा पुण्य और बढा, जिससे तुम्हें पंचेन्द्रिय और उसमें भी यह उत्तम शरीर प्राप्त हुआ। मनुष्य शरीर प्राप्त होने से पूर्व तुम्हें किन किन कष्टों को सहना पड़ा है इसके लिए तुम वनस्पति, पतंगादि कीड़े मकोड़े और पशुओं को देखो। उन्हें देखकर और उनके कष्टों का पता लगाकर अपने भूत का निश्चय करो, कि हमने इन कष्टों को न मालूम कितनी बार सहा है। तुम लोग यदि उतनी दूर की बात न देखना चाहो, तो इस मनुष्य शरीर पर से ही अपने कष्टों का पता लगाओ। इस मनुष्य शरीर में जन्म धारण करने के पूर्व— माता के गर्भ में तुम लोगों ने कितना कष्ट सहा है! नव मांस तक— एक संकुचित स्थान में उलटे टंगे रहना, मल मूत्रादि में लिपटे रहना, क्या कम कष्ट है? इन कष्टों को निरन्तर भोगते भोगते तुम्हें यह मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है। यह शरीर क्यों प्राप्त हुआ है? इस शरीर के प्राप्त होने से क्या लाभ है? क्या इस शरीर को भी तुम लोग उसी प्रकार गमाना चाहते हो, जिस भांति कि अन्य शरीरों को गमाया है? मनुष्य शरीर के अतिरिक्त दूसरे शरीर में तो तुम में भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति नहीं थी, इसीलिए उन शरीरों को उसी प्रकार व्यतीत करने पर तुम्हें कोई मूर्ख नहीं कह सकता, परन्तु

इस मनुष्य शरीर को— जिसमें कि भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति है— उसी तरह व्यतीत कर देना, क्या मूर्खता नहीं होगी ? क्या यह शरीर भी उन्हीं कार्यों के लिये मिला है, जिन कार्यों को अन्य शरीरों में रहकर भी किया जा सकता है ? तुम जिन भोगों में सुख मान कर निश्चिन्त बैठे हो, वे भोग ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन भोगों से ही तुम्हारा पतन होगा। यह मनुष्य-शरीर उन भोगों को भोगने के लिये नहीं है। ये भोग तो पशु— शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, इसलिए इनको भोगना ही मानवता का चिन्ह नहीं है।

मनुष्य-शरीर तुम्हें तप के लिये मिला है। इस मनुष्य-शरीर को पाकर तप द्वारा आत्म-कल्याण करो और ऐसा सुख प्राप्त करो, जिसके पीछे दुःख न हो। यदि यह मनुष्य-शरीर भी तुमने उसी प्रकार व्यतीत कर दिया— जिस प्रकार की अन्य शरीरों को व्यतीत किया है, तो तुम्हारे लिये वे ही कष्ट तैयार हैं, जिन्हें तुम भूतकाल में भोग चुके हो। इसलिये ऐसा कार्य करो, जिसमें वे दुःख फिर न भोगने पड़ें।

दूसरे शब्दों में यों समझो कि जितनी भोग संपदा है उनमें किंचित् भी सुख नहीं है। यह जानकर भी पुरुष जिस शरीर का अभिमान करते हैं, वह शरीर क्षणभंगुर, अस्थिर, तथा महा अपवित्र है। इस देह की आदि उत्पत्ति को देखिये। जब अत्यन्त घृणित रजवीर्य माता के उदर में एकत्र होता है, तब जीव उसी नरकवत् स्थान में बुद्धि को पाकर महाकष्ट से, अधोमुख झूलता हुआ, समय व्यतीत कर बाहर आता है। ऐसे जिन अपवित्र अंशों से इसकी उत्पत्ति हुई तथा जिस में जग-व्याधि आदि दुःख अर्थात् पेटशूल, शिरवाय, श्वांस और कासादि नखशिखपर्यन्त रोग भरे हैं, ऐसे महामलीन रोगग्रस्त दुःखदाई शरीर का गर्व कर उस परब्रह्म को भूलते हैं उनके समान अज्ञ कौन होगा ? फिर भी इस महाभ्रष्ट शरीर से जिन भोगों का बड़े यत्न से सम्पादन करते हैं, उनको देखते उन सब में उत्कृष्ट लक्ष्मी देख पड़ती हैं। जहां उसकी प्राप्ति हुई कि सर्वगुण सद्गुण नष्ट हो मनुष्य आत्मदर्शन से विमुख हो जाते हैं, या यों कहो कि लक्ष्मी से मनुष्य ऐसे अन्धे हो जाते हैं, कि उनको भला बुरा कुछ सूझता ही नहीं।

जब मनुष्य धनवान् हो जाता है तब वह सीधी बात नहीं करता, उसको पराया दुःख नेत्रों से नहीं दीखता और हीन दीन जनों की करुणा उसे सुन नहीं पड़ती। यह सब लक्ष्मी करती है। मनुष्य का कुछ दोष नहीं। क्योंकि एक ही समुद्र से उत्पन्न होने के कारण वह लक्ष्मी तो कालकूट विष की बहिन है। आश्चर्य केवल इतना ही है कि वह मनुष्यों का प्राण नहीं हरण करती। हे लक्ष्मी ! हमारे निन्दात्मक वचनों को क्षमा करो, किन्तु सत्य बात तो यही है, कि तुम्हारे दर्शन होने से मनुष्य अंधे हो जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो कमलपत्र के समान विशाल नेत्र होने पर भी श्रीनारायण सर्प की शय्या पर क्यों सोते ? क्या वे यह नहीं जानते थे, कि सर्प सोने का पदार्थ नहीं है। लक्ष्मी के प्राप्त होने पर समस्त सद्गुणों का नाश होकर गर्व उत्पन्न होता है, क्योंकि लक्ष्मी के प्राप्त होते शुभगुणयुक्त होना ही दुर्लभ है। लक्ष्मी को पाकर जो भोग के लिये जीने की इच्छा करता है वह मनुष्य नहीं किन्तु वृक्ष—पशु—पक्षीवत् जड़ है, वृक्षादि से भी परोपकार हो सकता है, क्योंकि जिसने मनुष्य शरीर पाकर भी आत्मपद पाने का प्रयत्न नहीं किया तो मानो उसने अपना आप ही नाश कर लिया।

ईशावास्य उपनिषद् में लिखा है कि—

असुर्या नामते लोका अन्धेन तमसा ऽ वृता ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्म हनो जनाः ॥

श्रुति भगवती उनको आत्मघाती कहती है । क्योंकि धन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादिक दुर्गुण वृद्धि को पाकर दुख से अधिक ताड़ित करते हैं तथा महात्मा लोगों के गुणों विवेक, वैराग्य, और संतोषादि की ओर जाने नहीं देते । उन्हें तृष्णा जलाती है, जिससे जितना उनके पास है उतने से शान्ति नहीं मानते और घर घर विचरते हैं अर्थात् तृष्णा अधिक से अधिक बढ़ती है । अतएव पूर्ण सन्तोष धारण कर इस स्वप्नवत् मिथ्या प्रपंच का त्याग करो जो बड़ा दुःखदाई तथा आत्मानन्द प्राप्ति के द्वार में महा विघ्नकारक है । मनुष्यों को इस असार संसार में सुख किंचित् मात्र नहीं है । जो विद्वान पुरुष आत्मा में प्रीति वाले हैं उनका नाम सुर है, उनसे भिन्न अज्ञानी देवादिक भी असुर हैं । उन ब्रह्मबोध रहित असुर पुरुषों से प्राप्त होने योग्य जो पुण्य पाप कर्म का फल भोगने वाले लोक हैंउन लोकों का नाम असूर्य है । वे असूर्यनामी लोक आत्मा के शुद्धरूप को आवरण करने वाले अज्ञानरूप अंधतम करके व्याप्त हैं । उन लोकों को आत्म हत्यारे पुरुष प्राप्त होते हैं । नास्तिक भाव ही आत्महनन है ।

अतः मुमुक्षुओं को योग्य है कि पुत्रेषणा वित्तेषणा और लोकेषणा की तृष्णा का त्याग करके निरहंकार होकर गुरुजनों का संग और सत्शास्त्र श्रवणादि करके इस मनुष्य देह से (जो कि अनेक जन्मों के पुण्य-समूह से प्राप्त हुआ है) सुकृत कर ज्ञान लाभ करें नहीं तो अत्यन्त दुःख की प्राप्ति होने से अन्त में बहुत ही पछतावेंगे। क्योंकि जो पुरुष पुत्र-वित्तादि की इच्छा करते हुए रात--दिन तृष्णा से पीड़ित रहते हैं, वे केवल दुःख भागी ही हैं।

कबीर साहब ने कहा है:—

राग धनाश्री

दिन ते पहर पहर ते घड़िया, आयु घटै तन छीजै । काल अहेरी फिरै बधिक ज्यों कहो कवन विध कीजै ॥ सो दिन आवन लागा । मात पिता भाई सुत बनिता कहो कोऊ है काका ॥ जब लग ज्योति काया में बरते आपा पशू न बूझे । लालच करे जीवन पद कारन लोचन कछू न सूझे ॥ कहत कबीर सुनोरे प्रानी छोड़ो मन के भर्मा । केवल नाम जपो रे प्रानी परो एक की शरना ॥

दिन के पीछे रात्रि व रात्रि के पीछे दिन लगातार जा रहे हैं और हमने केवल छल कपटादि कर्त्तव्य से ही धन संग्रह कर इस नाशवन्त देह को भोग भुगाना ही परम कर्त्तव्य मान रखा है। हम कौन हैं, कहां से आये हैं, कहां जायंगे, तथा हमारा मुख्य कर्त्तव्य क्या है ; इस ओर वे किंचित् भी दृष्टिपात नहीं करते ! किन्तु जिस दिन हिसाब होगा उस दिन उनकी बुद्धि स्तब्ध हो जायगी, चतुराई को अग्नि लग जायगी, मन मृतकसा हो जायगा, चित्त को चेतना न रहेगी, अहंकार को अहम् करने की सुध नहीं रहेगी, तथा बन्धुवर्ग से एकाएक ममता तोड़ उन्हें रुदन करते हुए छोड़कर हृदय

विदारक यम यातना सहते हुए पराधीन हो प्रथक् होना पड़ेगा और उस सर्वाधीश के सामने राई राई का लेखा देना पड़ेगा। क्योंकि वहां किसी अन्य का राज्य नहीं है जो कुकर्मियों पर दया की जावे। वहां का न्यायालय सत्य की सीमा है राई राई पाप का फल भुगताये बिना नहीं छोड़ता। वहां श्वास लेना कठिन पड़ जायगा, सब टेढ़ी चाल, टेढ़ी पगड़ी, चञ्चल दृष्टि और कपट की टट्टी छार छार हो जायगी, छक्के छूट जायंगे और प्राण व्याकुल होकर तृष्णा के मारे निकलना चाहेंगे परन्तु पराधीनता से जलन प्राप्त होने पर भी बारह कला के सूर्य से तपाया हुआ लोह चूर्ण खाना पड़ेगा और एक क्षण दुःख कल्प के समान व्यतीत होगा। जिस धन को उन्होंने अनर्थ से दूसरों के प्राण घोट घोट एकत्रित किया था उसको उनके दावेदार बन्धुवर्ग—आनन्द से भोगेंगे। उस समय उन्हें पूर्णरूप से विदित हो जायगा कि यदि हम सज्जनों का उपदेश ग्रहण कर सत्संगादि सत्कर्म करते तो आज हमें ऐसी दारुण अकथनीय विपत्ति नही भोगनी पड़ती। किन्तु उस समय क्या हो सकता है? अर्थात् उस समय के पश्चाताप से कुछ भी हाथ नहीं आता, इसलिये सुज्ञ पुरुष प्रथम ही सोचें, समझें, संभलें और उठ बैठें—भोगरूपी व्यसन में पड़े रहने से आत्मपद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। किन्तु विवेक—वैराग्य से प्राप्त हुए सत्संगादि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

तुम्हारा आत्मा भविष्य के कष्ट से तभी मुक्त हो सकता है, जब यह मोक्ष प्राप्त करले। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता है जन्म-मरण—तब-तक इसके पीछे लगा है—तब तक इसे वे कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिन्हें यह भोग चुका है। इसलिये उन उपायों को काम में लाओ, जिनके काम में लाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्तितः।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः॥

अर्थात्—हृदय में जो कामनाओं का निवास है, उसी को संसार कहते हैं और उनके सब तरह से नाश हो जाने को ही मोक्ष-मार्ग कहते हैं।

किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक लालसाएँ बनी हुई हैं-हृदय से निकली नहीं है, तब तक मोक्ष की इच्छा करना, पवन को मुट्ठी में रोकने की चेष्टा करना है। इसलिये लालसाओं का त्याग करो। लालसाओं को त्यागने के लिये सब से पहले हिंसा का त्याग करना होता है। बिना हिंसा त्याग किये, लालसाएँ नहीं मिट सकतीं। हिंसा का त्याग करने के लिए, झूंठ को छोड़ना पड़ता है। जहां झूंठ है, वहां हिंसा है और जहां हिंसा है वहां लालसा है। बिना झूंठ छोड़े, हिंसा नहीं छूट सकती और बिना हिंसा छोड़े लालसा नहीं मिट सकती। झूंठ का त्याग करने के लिये चोरी का त्याग करना आवश्यक है। बिना चोरी त्यागे, झूंठ नहीं छूट सकता और जहां झूंठ है वहीं हिंसा भी है तथा लालसा भी है। चोरी को त्यागने के लिये, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। बिना ब्रह्मचर्य पालन किये - बिना इन्द्रियों को वश में किये न तो चोरी छूट सकती है, और न झूंठ या हिंसा ही। ब्रह्मचर्य पालन के लिये परिग्रह का त्याग करना पड़ता है। जहां परिग्रह वहीं अब्रह्मचर्य, चोरी, झूंठ और हिंसा भी है। पाप करने वाला, परिग्रह ही है। आत्मा को संसार में भटकने

का मूल कारण परिग्रह ही है। इसलिए परिग्रह को छोड़ो। संसार की जिस वस्तु से आत्मा को ममत्व है आत्मा के लिये वही परिग्रह है, इसलिये संसार की प्रत्येक वस्तु से ममत्व त्याग दो। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये सब से पहले परिग्रह का, फिर अब्रह्मचर्य चोरी, झूंठ और हिंसा का क्रमशः त्याग करना होता है। जो आत्मा इसका जितने अंश में त्याग करेगा, उसकी लालसाएँ उतनी ही कम होंगी और लालसाएँ जितनी कम होंगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा। इनको पूर्ण रूप से त्यागने वाला मोक्ष के बिलकुल ही समीप होगा और कभी न कभी वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इसलिये अस्थायी तथा अवास्तविक हानि, लाभ, सुख, और दुःख का विचार छोड़कर, अपने उस हानि, लाभ और दुःख का विचार करो, जो वास्तविक तथा स्थायी है। मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर आत्मा के लिये दुःख का अस्तित्व ही उठ जाता है अतः मोक्ष - प्राप्ति का उपाय करो, जिसमें आत्मा का कल्याण हो।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मन बड़ा ही चंचल है। मनुष्य को यह कभी शान्ति प्राप्त नहीं होने देता। चाहे राजा हो चाहे रंक मिथ्या हुआ भी मन सबको अपनी शक्ति द्वारा संसार चक्र की कंटकमय सड़कों पर घुमाता रहता है। इसने अहंता, ममता [मेरा तेरा] का रूप जाल बिछा कर जीवरूप पक्षी को फंसाकर बहुत जकड़ लिया है, अतः जब तक ब्रह्मज्ञान रूप शस्त्र से इस जाल को न काटा जावेगा तब तक इससे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। प्रमाण—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं, शुद्ध वा शुद्धमेव च।
अशुद्धं काम संपर्कीच्छुद्धं काम विवर्जितम्॥ (योग वाशिष्ठ)

अर्थः—मन दो प्रकार का है, एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। जो सकाम अर्थात् काम क्रोध युक्त है वह मन अशुद्ध और इनसे रहित हो वह शुद्ध कहा गया है। और जब यही मन विचार करने से शुद्ध होता है तब आप ही अद्वैत [आत्मा] की प्राप्ति होती है— योगवासिष्ठे—

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन है। जो मन विषयासक्त हो तो बन्धन को प्राप्त होता है और विषय वृत्ति से रहित मन मुक्त होता है। इसलिए मुक्ति की इच्छा वाले मनुष्य को चाहिये कि मन को शुद्ध करे निर्विषय मन वाले की ही मुक्ति होती है। विषय संग से पृथक हुआ हृदय में स्थित जब मन उन्मनी भाव को प्राप्त होता है तब वह परम पद को प्राप्त होता है। जब तक हृदय में मन का क्षय [नाश] न हो तब तक उसको निरोध करना चाहिये। मन के निरोध को ज्ञान और मोक्ष कहते हैं, और इससे भिन्न मात्र ग्रन्थ का विस्तार रूप है। अशुद्ध मन से ब्रह्म का चिन्तवन नही हो सकता परन्तु शुद्ध मन से ब्रह्म अचिन्त्य नहीं है इसलिए ब्रह्म अचिन्त्य होते हुए भी चिन्तवन हो सकता है। इस प्रकार चिन्तवन करने से पक्षपात रहित ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

प्रथम स्वर में (सगुण ब्रह्म) मन को लगाकर फिर अस्वर (निर्गुण ब्रह्म) की धारणा करनी चाहिये। निर्गुण भावना से भाव (परमार्थ वस्तु) अभावरूप नहीं होता। यही सब प्रकार की कला से रहित, सब

विकल्प से रहित माया से रहित ब्रह्म है, इस प्रकार का ब्रह्म स्वरूप में हूँ ऐसे ज्ञान की जब प्राप्ति होती है तब निश्चय ब्रह्म को प्राप्त होता है। ब्रह्म में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है। वह अन्त रहित है उसमें हेतु दृष्टान्त (कार्य कारण) भाव नहीं होता। वह प्रमाण रहित है उससे प्रथम कोई नहीं है। ऐसे परम शिव का ज्ञान प्राप्त होने से ज्ञानी को किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहता, उसमें उत्पत्ति भाव नहीं रहता, उसको बन्दन करने योग्य कोई नहीं होता, उसका शासनरूप कोई नहीं होता, उसको मुक्ति की इच्छा नहीं होती और मुक्ति का भाव भी नहीं होता यह स्थिति परमार्थता है।

एक ब्रह्मज्ञान ही वह वस्तु है जो संसार के महान् कष्टों को छुड़ाकर परमानन्द को प्राप्ति करता है। परन्तु शोक है कि अविद्या ने मनुष्यों को दुस्तर भ्रम में डाला है कि सुख में उन्हें दुःख की और दुःखरूप संसार में सुख की प्रतीति होती है। इस भ्रमरूप अविद्या का नाश करने के लिये आवश्यकता के अनुसार समय समय पर महान् महान् शक्तियां प्रकट होकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश करती रहीं हैं परन्तु हम मतिमंद उसकी ओर किंचित् भी दृष्टि नहीं डालते। इसी ब्रह्मज्ञान का उपदेश भगवान् ने गीता में अपने प्रिय मित्र अर्जुन को जब कि युद्ध के समय उसे अनुचित मोह हो गया तब किया था। भगवान् ने गीता में स्पष्ट कह दिया है कि मुझे चार प्रकार के भक्त अर्थात् १— आर्त २— अर्थार्थी ३— जिज्ञासु और ४— ब्रह्मज्ञानी प्यारे हैं परन्तु उनमें से ब्रह्मज्ञानी ही सबसे अधिक प्यारा है बल्कि वह मेरा ही स्वरूप है। इनमें से प्रथम के तीन— आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु सकाम भक्त माने जाते हैं और चौथा ज्ञानी निष्काम होता है। ऐसा भक्त ही श्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि वह ज्ञान के साथ बिना किसी गरज के भक्ति करता है।

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने बन जाने के समय लक्ष्मणजी के प्रति यही उपदेश किया है कि हे लक्ष्मण! संसार के भोग तो मेघरूपी वितान में चमकती हुई बिजली के समान चंचल हैं और आयु अग्नि में तपाये हुए लोहे पर पड़ी हुई बूंद के समान क्षणिक है। जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ भी मेंढ़क मच्छरों को ताकता रहता है उसी प्रकार लोग कालरूप सर्प से ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगों को चाहते रहते हैं। कैसा आश्चर्य है कि शरीर के भोगों के लिए ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकार की क्रियाएं करता रहता है। यदि यह समझले कि शरीर आत्मा से भिन्न है तो फिर भला पुरुष कैसे किसी भोग को भोग सकता है? पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु-बान्धवों का संग प्याऊ पर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदी—प्रवाह से इकट्ठी हुई लकड़ियों के समान चंचल है। यह निःसन्देह दिखाई पड़ता है कि लक्ष्मी छाया के समान चंचल, यौवन जल—तरङ्ग के समान अनित्य है, स्त्री—सुख स्वप्न के समान मिथ्या और आयु अत्यन्त अल्प है तथापि प्राणियों का इनमें कितना अभिमान है? यह संसार सदा रोगादि (संकुल) तथा स्वप्न और गंधर्व नगर के समान मिथ्या है, मूढ़ जन तो इसको सत्य मानकर इसका अनुकरण करते हैं।

नित्य सूर्य उदय और अस्त होने से आयु क्षीण हो रही है तथा नित्य ही दूसरों की वृद्धावस्था और मृत्यु होती देखी जाती है तो भी मूढ़ पुरुष को किसी प्रकार चेत नहीं होता। नित्य प्रति उसी प्रकार दिन और रात होते हैं किन्तु मूढ़मति पुरुष भोगों के पीछे ही दौड़ता है, काल की गति नहीं देखता। कच्चे घड़े में भरे हुए जल के समान आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है और रोग-समूह शत्रुओं के समान शरीर को

घुलाये डालते हैं। वृद्धावस्था सिंहिनी के समान डराती हुई सामने खड़ी है और यह मृत्यु भी उसके साथ ही चलती हुई अन्त समय की प्रतीक्षा कर रही है। किन्तु देह में अहं-भावना करने वाला जीव इस कृमि विष्ठा और भस्मरूप शरीर को ही 'मैं लोक—प्रसिद्ध राजा हूं, ऐसा मानता है।

"हे लक्ष्मण! तुम कुछ सोचकर बताओ कि यह शरीर त्वचा, अस्थि, मांस, विष्ठा, मूत्र, शुक्र और रुधिर आदि से बना हुआ विकारी और परिणामी होकर आत्मा किस प्रकार हो सकता है? हे भाई! इस देहाभिमान से युक्त पुरुष में ही सम्पूर्ण दोष उत्पन्न हुआ करते हैं। 'मैं देह हूं' इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं' चेतन आत्मा हूं इसी को विद्या कहते हैं। अविद्या जन्म-मरणरूप संसार की कारण है और विद्या उसको निवृत्त करने वाली है; अतः मोक्ष-कामियों को सदा विद्योपार्जन का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदि से प्रथक् तथा शुद्ध स्वयं प्रकाश, अविकारी और निराकार है।"

इसी प्रकार महाराजा दशरथ के मरण के उपरान्त वशिष्ठजी ने भी भरतजी के प्रति कहा है कि "आत्मा तो नित्य, अविनाशी, शुद्ध और जन्मनाशादि से रहित है और शरीर जड़, अत्यन्त अपवित्र और नाशवान् है। इस प्रकार विचार करने पर शोक के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़ जन ही उसके लिये छाती पीट कर रोते हैं, किन्तु, इस असार संसार में यदि ज्ञानियों को किसी से वियोग होता है तो वह उनके लिये वैराग्य का कारण होता है और सुख तथा शान्ति का विस्तार करता है। यदि किसी ने इस लोक में जन्म लिया है तो मृत्यु भी अवश्य उसके साथ लगी हुई है। अतः जन्म लेने वालों के लिये मृत्यु सर्वदा अनिवार्य है। 'अपने कर्मानुसार ही सब प्राणियों के जन्म मरण होते हैं' यह जान कर भी देखो मूढ़ लोग अपने बन्धु-बान्धवों के लिये कैसा शोक करते हैं। करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट होगये, अनेकों सृष्टियां बीत गईं, ये सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जायँगे, फिर इस क्षणिक जीवन में भला क्या आस्था की जावे? यह आयु हिलते हुए पत्ते की नोक पर लटकती हुई जलकी बूंद के समान क्षणभंगुर है, असमय ही छोड़ कर जली जाती है, उस का तुम क्या विश्वास करते हो? इस जीवात्मा ने अपने पूर्व-देह-कृत कर्मों से यह शरीर धारण किया है और फिर इस देह के कर्मों से यह और शरीर धारण करेगा। इसी प्रकार आत्मा को सदा पुनः पुनः देह की प्राप्ति होती रहती है। मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को उतार कर नये वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार देहधारी जीव पुराने शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। अतः इस में शोक का क्या कारण है? क्यों कि आत्मा तो न कभी मरता है, न जन्मता है और न बढ़ता ही है। वह षड्-भाव विकारों से रहित, अनन्त सच्चित्स्वरूप, आन्नदरूप, बुद्धि आदि का साक्षी और अविनाशी है। वह परात्मा एक अद्वितीय और समभाव का स्थित है। इस प्रकार तुम आत्मा का दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर शोक रहित हो समस्त कार्य करो।"

श्री भर्तृहरि जी ने भी अपने वैराग्य-शतक में कहा है। "सूर्य के उदय अस्त होने से दिन दिन आयुष्य घटती जाती है। अनेक कार्यों करके भारी व्यापार में बीता काल जाना नहीं जाता और जन्म बुढ़ापा, विपत्ति और मरण देख के भी त्रास नहीं होता। इससे यह निश्चित हुआ कि मोहमयी प्रमाद-रूपी मदीरा पी के जगत् मतवाला हो रहा है।

अतः प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन धर्म से संस्कृत करके उत्तम बनाना चाहिये। धर्म से संस्कृत जीवनवाला सांसारिक ऋद्धि सम्पदा का सुख भी भोग लेता है और फिर उसे इस प्रकार छोड़ देता है जैसे मिश्री का रस लेकर मक्खी उड़ जाती है। मिश्री पर बैठने वाली मक्खी मिश्री का रस तो ले लेती है, परन्तु उसमें लिपट कर प्राण नहीं देती। इसी प्रकार धर्म से संस्कृत जीवनवाला, संसार में रह कर मर्यादा सहित संसार के भोग भी भोग लेता है और फिर संसार को त्याग कर आत्म कल्याण में लग जाता है। संसार में फंस कर प्राण नहीं देता। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है, जब धर्म को हृदय में स्थान दिया जावे।

जिसके हृदय में धर्म का स्थान है, वह संसार में रहने पर भी संसार को अपना नहीं मानता, किन्तु संसार और आत्मा को पृथक्-पृथक् देखता है। उसका यही विचार रहता है कि 'संसार और आत्मा दो हैं, एक नहीं। यह संसार मुझे किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता, जो मुझे दुःख न हो। किन्तु मैं इससे जितना अधिक प्रेम करूँगा, यह मेरे लिये उतना ही अधिक दुःखदाई होगा। अतः इस संसार को सदा के लिए छोड़ देने में ही मेरा कल्याण है। इस विचार से उसका ध्येय सदा यही रहता है, कि मैं संसार को त्याग कर आत्म कल्याण में लगूं।

आत्मा नित्य है, इसलिये इसके पुण्य-पाप इसके साथ ही रहते हैं। इस पुण्य-पाप को भोगने के लिये आत्मा प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ है। अपनी समानता वाले को सभी चाहते हैं, इसके अनुसार पाप तो पाप को चाहता है और पुण्य पुण्य को। पाप पाप की वृद्धि करता है और पुण्य पुण्य की। पाप से आत्मा को नाना प्रकार के कष्ट होते हैं, बार-बार जन्म मरण करना पड़ता है, और पाप ही नरक में गिराता है। इसके विरुद्ध पुण्य सुख दाता है। पुण्यानुबन्धी - पुण्य से धर्म प्राप्त होता है। धर्म प्राप्त होने पर, धीरे धीरे संयमानुसार मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष प्राप्त होने जाने पर न तो किसी प्रकार का कष्ट ही प्राप्त होता है न जरा-मरण और जन्म का ही भय रहता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने पुण्यानुबन्धी - पुण्य को, साधक दशा में उपादेय माना है।

मनुष्य की आयु गणना

मनुष्य की आयु सौ वर्ष की प्रमाण की गई है। लेकिन वर्त्तमान समय में घोर पापाचरण तथा अयोग्य रहनी सहनी के कारण इस समय उम्र ६५ वर्ष की रह गई है। उसका गणित श्री स्वामी शङ्करानन्द सरस्वती इस प्रकार करते हैं:—

१. **बाल्य अवस्था**—पाँच वर्ष तक।

२. **निद्रा**—प्रति दिन ८ घंटे बीस घड़ी के हिसाब से अपनी आयु २० वर्ष जाती है।

३. **विद्या**—पाँच वर्ष से २५ वर्ष की आयु के हिसाब से ८ वर्ष ४ महीने तक प्रति दिन २० घड़ी १० घण्टे।

४. **व्यापार, नौकरी**—२५ वर्ष से ६० वर्ष तक प्रति दिन २० घड़ी (८ घंटा) रोज के गणित से ११ वर्ष ८ महीना चले जाते हैं।

५. **शौच क्रिया**—प्रतिदिन सवा घड़ी (½ घंटे) गणित से ६५ वर्ष की आयु की हिसाब से १ वर्ष और ३ महीने जाते हैं।

६. **दांतुन पानी**—५ वर्ष से ६५ वर्ष तक प्रतिदिन २५ पल (१० मिनट) नित्य के गणित से आयु के पांच महीने चले जाते हैं।

७. **स्नान**—प्रतिदिन सवा घड़ी (½घंटे) के गणित से सारी आयु के १ वर्ष ३ महीना चले जाते हैं।

८. **भोजन**—प्रतिदिन ढाई घड़ी (१ घंटे) के गणित से सारी आयु के २ वर्ष और ६ महीना चले जाते हैं।

९. **रहनी सहनी**—वार्त्तालाप, नाटक, खेल देखना, खोटी गप्प सप्प उड़ाना इसमें प्रतिदिन ६ घड़ी (२½ घंटे) की गणित से आयु के ६ वर्ष ३ महीना चले जाते हैं।

१०. **रोग व्याधि**—इसमें प्रतिदिन ढाई घड़ी (१ घंटा) रोज के गणित से आयु के ५ वर्ष चले जाते हैं।

११. **गृह व्यवस्था**—२५ वर्ष से ६५ वर्ष की आयु तक प्रतिदिन ५ घड़ी (२ घंटे) के हिसाब से ३ वर्ष ४ महीना चले जाते हैं।

इस प्रकार सारी अवस्था सांसारिक प्रपंच और आनन्द उड़ाने में चली गई। इस पर से आप विचार सकते हैं कि जो भगवान का भजन १० वर्ष की आयु से ६५ वर्ष की अवस्था तक प्रतिदिन सवा घड़ी (आधा घंटा) नित्य करो तो कुल १ वर्ष और १५ दिन अपनी आयु का परमेश्वर भजन कीर्त्तन स्मरण पूजादि में में व्यतीत हो और आपकी सारी आयु सफलता को प्राप्त हो।यदि इतना भी न हो सके तो समझो कि संपूर्ण अवस्था योंही चली गई।

यदि सौ वर्ष पर्यन्त जीवन हो तो भी गणित से सुख का समय कुछ भी नहीं निकलता और यह तो मनुष्य का जीवन जल तरंग के समान अत्यन्त चंचल है फिर इसमें एक ईश्वर के आश्रय बिना सुख कहां प्राप्त हो सकता है।

कबीर दास जी कहते हैं:—

दोहा

कहा भरोसो देह को, बिनसि जाय छिन मांहि।
श्वांस श्वांस सुमिरन करो, और जतन कछु नाहि॥

परन्तु यह भी कब सम्भव हो सकता है जब कि शरीर पुष्ट और निरोग हो। इस विषय में महाराज भर्तृहरी जी कहते हैं कि:—

श्लोक

यावत्स्वस्थ मिदं कलेवर गृहं यावच्च दूरे जरा ।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिर प्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ॥
आत्म श्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् ।
प्रोद्दीप्ते भवने च कूप खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति बनी हुई है, आयु शेष है, तभी तक बुद्धिमान को अपने कल्याण की चेष्टा अच्छी तरह से कर लेनी चाहिये। इन सब के अभाव में कल्याण की चेष्टा करनी, घर में आग लगने के समय कूप खोदने का प्रयत्न करने के समान निरर्थक है।

यहां तक तो हुआ मनुष्य की आयु गणना का विवरण। अब शरीर का निर्णय व मनुष्य का कर्तव्य वर्णन किया जाता है।

शरीर के निर्णय के विषय में जैसा अनुपम वर्णन आधुनिक समय में श्रीस्वामी मित्रसेन जी महाराज ने निजकृत "श्री परमानन्द की प्राप्ति" में किया है वैसा हमें अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ अतः यहां हम उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं:—

शरीर का निर्णय

त्रिगुणात्मक माया ।

जगत् की उत्पत्ति माया से जान ली गई है और माया को आत्मा में भ्रम हो जाना जाँच लिया गया है इसका दृष्टान्त रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध है। ऐसे कि कहीं अंधेरे में रस्सी पड़ी हुई है और उस पर भ्रम होकर सर्प होने का निश्चय कर लिया है। वह वास्तव में रस्सी ही है परन्तु भ्रम करके रज्जु का भाव जाता रहा और सर्प का होना निश्चय हो गया। जब उसको भली भाँति देखा जावे और विचार किया जावे तो भ्रम और भय निवृत होने से सर्प का भाव जाता रहेगा और रज्जु ही जान ली जावेगी। विचार कि पहले सर्प होना सच्चा था और फिर झूँठा हो गया। ऐसे ही माया को न सच्चा कह सकते हैं न झूँठा, परन्तु अब हमको जगत् सत्य भास रहा है और उस पर निश्चय हो रहा है कि कि यही कुछ है सो प्रथम है मान कर विचार उठा कि जगत् माया से उत्पन्न भया। रज्जु को सर्प माना हुआ है तो भ्रम करके भय भी हो रहा है, सो भय और भ्रम का निवृत हो जाना माया का निवृत हो जाना है। इसी कारण माना गया है कि माया सत्य है और उसकी सत्यता अर्थात् अपनी भूल और भ्रम को हटाना ज्ञान करके बन सकता है और वह ज्ञान माया को जान लेना है। जैसे रज्जु सर्प नहीं परन्तु उस

पर सर्प का निश्चय पड़ रहा है सो जब सर्प को भली भांति जाचेंगे सो सर्प होने का भाव भी जाता रहेगा और रज्जु को भी पहले ही जान लेना आवश्यक है कि जिससे सर्प का भ्रम दूर हो। जब सर्प ही को जानते रहेंगे और उसके सब चिन्ह उसमें न मिलेंगे तो यह विचार होगा कि यह सर्प तो नहीं और ही कुछ है। इसी कारण रज्जु का विचार भी अवश्य चाहिये जो सत्शास्त्र और सत्संग के द्वारा हो सकता है। अब जो सर्प भास रहा है तो पहले सर्प ही पर विचार उठाकर भय और भ्रम दूर होगा।

इसके पीछे के विचार पर दृष्टि डालने से खुल गया कि प्रथम माया ही पर विचार उठाना चाहिये कि उसके जान लेने पर अज्ञानता के साथ भय और भ्रम नष्ट हो। सो माया सत्व, रज, और तम करके बँधी हुई है और इन तीनों ही का यह सब विस्तार है। सत्व विद्या, रज कर्म और तम अविद्या है। इन तीनों के तीन शरीर हैं, कारण, सूक्ष्म और स्थूल। अब यह शरीर जो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है स्थूल है और तमोगुणी गुण के साथ है और रजोगुणी के सूक्ष्म और सत्वगुणी से कारण बना है। स्थूल को आपा (आत्मा) जान कर प्रीति करना तमोगुणी अर्थात् भूल में फँसना है, और इस शरीर का स्वभाव आलस्य और निद्रा आदिक है सो इसी स्वभाव में पड़ना है। और स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म को आपा (आत्मा) जानना रजोगुणी अर्थात् गर्म गति में पड़ता है और सूक्ष्म से हट कर कारण को आपा (आत्मा) जानना सत्वगुणी में उलझना है। इस शरीर का स्वभाव विचार और ज्ञान उठाना है जिससे माया अर्थात् भय और भ्रम की निवृत्ति होती है और भय और भ्रम ही जगत् में दुःख का मूल है, और यह प्रत्यक्ष सूझता है कि विचार से भूल भ्रम जाता रहता है सो पहले विचार ही के मार्ग चल।

प्रथम स्थूल का विचार चाहिये, फिर सूक्ष्म का और फिर कारण शरीर का, अर्थात् तमोगुणी से रजोगुणी में और रजोगुणी से सत्वगुणी में आना चाहिये कि इस गुण में विद्या से ज्ञान होकर भय और भ्रम दूर करके माया से निकल जावेंगे। जिस गुण को जितना चाहो बढ़ाओ अन्त को पूरा होकर छोड़ा जायेगा। तमोगुणी का अन्त स्थूल को मिथ्या जानकर उससे प्रीति का हट जाना है और रजोगुणी का अन्त सृष्टि और भोगों को तुच्छ जानकर संतोष हो जाना और सत्वगुणी का ज्ञान करके एक निश्चय पर ठहर जाना है। कोई प्राणधारी तीनों गुणों से बाहर नहीं हो सकता परन्तु अपने निश्चय को तीनों से बाहर निकाल लेना बाहर हो जाना है। ऐसा जो मुमुक्षु पुरुष है, उसकी चेष्टा तो और जैसी भासेंगी परन्तु विचार करके देखा जावे तो अन्तर बहुत ही है जिसको ज्ञानी भी पा सकता है।

क—स्थूल शरीर।

यह हाड मांस रुधिर आदिक का बना हुआ जो प्रगट भासता है उसको जीव का घर ही कहना ठीक होगा और यह दुःख सुख के भोगने का स्थान है जो पहिले उत्पन्न होता है फिर बाल, युवा और वृद्ध अवस्था पर आकर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् यह छः (१)विकारों वाला है। देखो सब वस्तुएँ नष्ट

(१) "जायते, वर्द्धते, निर्णयते, अवक्षीयते, विनश्यति इति षट् विकाराः"। (यास्कमुनि-'निरुक्त' और 'निघण्टु') अर्थात् जो उत्पन्न होता है, स्थित है, बढता है, परिणाम को प्राप्त होता है, क्षण क्षण में क्षीण होता है और नाश हो जाता है।

हुई भी किसी न किसी काम में आ जाती हैं, परन्तु बिना जीव का यह अशुद्ध शरीर फूंक ही दिया जाता है। सो ऐसे उसका अन्त विचार कर उसी से प्रीति करना मिथ्या है। हाय! ऐसी अस्थिर और नाशवान् वस्तु के लिये आपा गंवा देना मूढ़ता ही है। यह जड़ तेरा नचाया हुआ नाचता है और तेरी चेष्टा और लीला इसमें होकर भासती हैं सो इसकी चेष्टाओं से भी प्रीति नहीं करनी चाहिये। यह पशुवृत्ति का शरीर इससे तो बाहर ही होना चाहिये। यह शरीर देखने में का सुन्दर है परन्तु विचार करके देखा जाये तो घृणा आती है और जब यह मृत्यु को प्राप्त होता है तो फिर ऐसा अशुद्ध हो जाता है कि उसके साथ उसके कुटुम्ब वाले भी अशुद्ध हो जाते हैं और हाथ भी लगाने से संकोच करते हैं क्योंकि इसमें से रत्न वस्तु जीव निकल जाता है। यह जीव इस सारे शरीर में भली भांति फैला हुआ है परन्तु इससे न्यारा है जैसे दूध में घृत मिला हुआ रहता है। तो अब विचार कर कि एक दिन अवश्य यह जीव शरीर से न्यारा होगा सो उचित हुआ कि पहिले ही आपे से न्यारा निश्चय करके इससे प्रीति न दृढ़ायें और जो कुछ हो सके इससे भली भांति काम लेवें ऐसा कि इसके फिर प्राप्ति की चाह न रहे और आलस्यादिक में डालकर मिथ्या सुख देना अच्छा नहीं यह तेरी चेष्टाओं को दिखलाने वाला है सो जिस चेष्टा को मनुष्य खोटा बतलावें वह इसी से न होने दें। इस शरीर के आद्यन्त पर विचार के इसको अपना कभी न विचार, इसी को अपना बन्धन जानता रहे और सोच ले। जैसे पक्षी लालच के कारण पिंजरे में फँस जाता है सो यह शरीर भी तेरी वासनाओं का पिंजरा है। हाय! क्या अचम्भा है पक्षी पिंजरे में बहुत दुःखी हो जाता है और नित्य चाहता रहता है कि कोई टुक भी अवसर मिल जावे तो उस बन्धन से बाहर निकल जावे। कभी नहीं देखा कि कोई पक्षी पिंजरे से प्रीति करके उसमें रहना चाहता हो, चाहे कैसा ही सुन्दर से सुन्दर पिंजरा हो और कैसे ही उसको भोग प्राप्त हों परन्तु अवसर पाते ही पता नहीं देता। सो तेरी बुद्धि कहां नष्ट हो गई, तू क्या स्वाद चाहता है। अरे! फिर भी बन्धन है सो विचार कर शरीर रूपी पिंजरे से नित्य भाग जाना सोचता रह।

ख—सूक्ष्म शरीर।

दशों इन्द्रियां, पाँच प्राण, मन, और बुद्धि ये १७ तत्व मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यह रजोगुणी शरीर है इसको विचार कर सतोगुणी में बरते और रजोगुणी से निश्चय बाहर निकालना चाहिये और १७ तत्व जो इसके बतलाये गये हैं उनका विचार भली भांति चाहिये। एक २ तत्व को सम्भाल २ कर उसके विषय से बचाना चाहिये सो अपने ही विचार से यह प्रयोजन सिद्ध हो सकता है और आगे के लिखे हुए विचार भी विषयों को रोकने के लिये बहुत ठीक होंगे।

दश इन्द्रियां = ५ कर्मेन्द्रियां + ५ ज्ञानेन्द्रियां।

पाँच कर्मेन्द्रियां यह हैं—(१) वाणी, (२) हाथ, (३) पाँव, (४) लिङ्ग और (५) गुदा। इनका विचार यों करो:—

(१) वाणी।

वाणी का विषय बात करना अथवा बोलना है इसके लिये ये बात स्मरण रक्खो:—

१. कटु बाणी जिसको मनुष्य बुरा बोल कहें ऐसा कभी न बोलो अर्थात् ऐसा वचन जो किसी को बुरा प्रतीत हो न बोलो।

२. बिना प्रयोजन कभी न बोलो। प्रतिदिन विचार करके बोलना कम करते रहो और जहाँ तक हो सके मौन को बहुत ही अच्छा समझते रहो।

३. जो कहो सो पहिले उसको भली भांति विचार लो आगा पीछा भली भांति खूब जाँच लो।

४. बोलने से पहिले अपनी बुद्धि से तर्कना करके देख लो कि जो नहीं बोलेंगे तो क्या हानि हो जायेगी।

५. बात को बढ़ाओ नहीं जल्दी पूरा करने का स्वभाव डालो।

६. बिना बुलाये कभी न बोलो। पहिले आप बात न छेड़ो।

७. प्यारा और मीठा बोलो।

८. बात को दोहराओ नहीं।

९. सहज और सरल स्वभाव से खोल कर बोलो।

१०. किसी और की बात में बोलने का क्या काम है। बाणी को चुपचाप भी न रखो तो राम नाम अथवा और किसी नाम को जिसपर तुमको निश्चय हो जिह्वा पर बराबर फिराते रहो ऐसे कि तुम्हारी जिह्वा और होंठ हिलते और फरकते हुए किसी को मालूम न हों।

कर्मेन्द्रियों में सबसे प्रबल बाणी है सो इसका बहुत ही गहरा विचार होना चाहिए। यह नित्य व्यर्थ बातों में बहुत ही लगी रहती है सो इसपर जितना विशेष विचार किया जावे उतना ही थोड़ा है, इसको जितना रोका जाये उतना ही अच्छा है। और जब भली भांति विचार किया जावे तो खुल जावे कि दिन भर में कितना व्यर्थ थूक बिलोया जाता है। यह मनुष्य को हलका भी कर देती है सो जहाँ तक हो सके बहुत ही कम बोलना चाहिये।

इस मनुष्य शरीर को बाणी की बड़ाई मिली हुई है अर्थात् और पशु पक्षी आदिक आपस में बातें चीतें नहीं कर सकते। तो विचारो कि मनुष्य की बुद्धि की ताली यह बाणी ही है कि इसी करके अपनी बुद्धि और गुण भली भांति प्रकट कर सकता है और इसी करके अपना दुर्बुद्धि और अवगुण दिखा सकता है अर्थात् पशु आदिक और मनुष्य में बुद्धि का अन्तर और बुद्धि को प्रकट करने वाली बाणी और बाणी को विद्या से पुष्ट किया जावे तो बुद्धि की विशेषता होगी। विचार करो कि सब प्रकार अर्थात् बुद्धि को बढ़ाने वाली और बुद्धि को प्रकट करने वाली बाणी ही हुई सो सबसे विशेष बाणी ही का विचार करना चाहिये। जो मनुष्य बाणी ही में विशेषता रखता है वही जगत् में पूरी पूरी महिमा और बड़ाई पाता है। सो बाणी रूपी जाल जगत् में फैला हुआ है जिसमें बड़े २ बुद्धिमान, मनुष्य बड़ाई की चाह करके फँस जाते हैं। जैसे बड़ाई के कारण लक्ष्मी की सुन्दरता आदिक में आसक्त हो जाते हैं ऐसे ही बाणी की मधुरता में फंसे रहते हैं। बहुत से मनुष्य यह कह दिया करते हैं कि मुख से कहना ही कहना है। वह यह नहीं जानते कि मुख का कहना भीतर की सारी अवस्था का भली भांति ब्यौरा देता है। जैसा निश्चय होगा वही मुख पर आवेगा और जो बनावट होगी तो विचारवान् ज्ञानी तत्काल परख लेगा। इसलिए जितना थोड़ा बोला जायेगा उतना ही अच्छा रहेगा बोलने की बड़ाई को मन से दूर कर, विशेष बोलने की विशेष तो बुराई ही है।

यह बात तो प्रसिद्ध है कि यही वाणी घोड़े पर चढ़ा दे और यही गधे पर, तो फिर घोड़े पर चढ़ने का विचार चाहिये। जितना बहुत बोलोगे उतना ही बहुत बहकोगे, सो नित्य विचार करके बोलना कम करता रह।

(२)--हाथ

हाथ का विषय वस्तु का ग्रहण व त्याग अर्थात् लेना व देना है। यह इन्द्रिय अपने वश की दीख पड़ती है, बिना विचार मार्ग से हट जाती है सो इसके लिये ऐसे विचार उठाइये।

१. आवश्यक वस्तु के लिये हाथ बढ़ा, बिना प्रयोजन की वस्तु से क्या काम।
२. किसी से मांगने के लिये क्यों हाथ फैलाने लगा था यह तो बड़ी लज्जा की बात है।
३. किसी की बुराई के लिए हाथों को न बढ़ाओ।
४. कोई शस्त्रादिक हाथ में न रख, कोई भी तेरा शत्रु नहीं है। तेरा भ्रम और भय तेरा शत्रु है सो विचार से दूर हो सकता है। जिस पर तू हाथ उठाता है उसी का तू शत्रु बन जाता है।
५. ऐसे सुन्दर और हितकारी हाथ हैं सो उनको अशुभ कर्मों में कभी मत हिला, विचार करके शुभ कर्म कर।
६. हाथों को रीता भी न रख अर्थात् अपने विचार आदिक लिखता रह अथवा अपने उसी परम नाम को उन पर फिराता रह और किसी के लिये भलाई और शुभ कर्म भय त्याग कर करता रह।

(३)—पांव।

पांव का विषय चलना है। सो विचारे तो यह इन्द्रिय भी वश में प्रत्यक्ष है सो इसके लिये विचार भली भांति रख।

१. बिना प्रयोजन कहीं आने जाने का काम क्या है और बिना प्रयोजन उसको समझ जिसके बिना काम चल सके।
२. सरल स्वभाव चला जा, कुछ प्रमाद न कर।
चलने में इधर उधर न घूर। उसी परम नाम के विचार में जल्दी २ चला जा, कभी सुस्ती न कर और उन्मत्त भी न रह। मार्ग में कहीं खड़ा होना अच्छा नहीं। यही कहा जा सकता है कि जहाँ तक हो सके चलना फिरना विचार करके बहुत कम करता रह।

(४)--लिङ्ग।

लिङ्ग का विषय विषयानन्द भोगना। यह इन्द्रिय लज्जा में से गिनी जाती है. कभी नाम भी न लेना चाहिये। यह अति प्रबल इन्द्रिय प्रबल विषय रखती है। इसी कारण इसका विषय बहुत बड़ी लज्जा में गिना गया है। सो लोगों की लज्जा का गाढ़ा विचार कर। यह दूध जैसा उबाल थोड़े दिनों का है जो

इस उबाल को रोक लेवे तो फिर नितान्त पारस है सो ऐसी बातों को कभी भी मुख पर न लाया कर। हा ! कितने दिन के लिये डूबे, क्या धूल स्वाद है कि पीछे बुरा मुंह हो जावे। जैसे पशु बरतते हैं उसी मार्ग पर रह। बड़ा आश्चर्य है कि पशु तो अपने वीर्य्य को निष्फल न खोवें और तू स्वाद में डूबा हुआ निष्फल डाल दे। हाय ! तुझे विचार नहीं होता, तू कैसा मनुष्य है और तेरी बुद्धि कहां है। यह प्रीति की रग है सो जब तक विषयानन्द से मन न हटावेगा परमेश्वर में प्रीति न होगी।

(५)—गुदा

गुदा का विषय मल का त्याग करना है। यह इन्द्रिय भी गुप्त रखी जाती है। यह इन्द्रिय तुझे सब कर्मेन्द्रियों का आवश्यक मार्ग बतलाती है अर्थात् जैसे इस इन्द्रिय की आवश्यकता के योग्य काम लेता है ऐसे ही और शेष इन्द्रियों से चाहिये। यह अपनी अवश्यकता को आप ही बतला देती है और बेग ही कर्म करती है। जो विचार किया जावे तो सभी कर्मेन्द्रियां अपनी आवश्यकता प्रकट कर देवें परन्तु चाह और भ्रम में डूबा हुआ विचार को विचारता और दुःख उठाता है।

पांच ज्ञानेन्द्रियां।

पांच ज्ञानेन्द्रियां अर्थात् १ आंख २ कान ३ नाक ४ जिह्वा और ५ त्वचा है। और तू मूढ़ इन्ही इन्द्रियों के वश पड़ा हुआ दीन से दीन वृत्ति को पहुंच गया है और ऐसे कर्म जो करने योग्य नहीं होते उनमें आसक्त होकर बैठता है और उन ही के कारण डूबता फिरता है यही तुझको निर्लज्ज कर देती हैं और लोक परलोक दोनों खो देती हैं। सो ऐसे प्रबल शत्रुओं को भली भांति विचार के पहरे में रखना चाहिये और उनके भोग आदिक सब तुच्छ और मिथ्या निश्चय करके दृढ़ता पकड कर उनसे भली भांति मन आदिक खींच लेने चाहियें और उनके वश पड़ा हुआ आपे से बाहर नहीं होना चाहिये अर्थात् अपने ही विचार में नित्य लगा रह। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय को उसके विषय से रोकने के लिये नीचे लिखे हुए विचार बहुत ही ठीक रहेंगे सो विचार।

(१)—आंख।

आंख का विषय रूप का ग्रहण है। यह इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों में सब से अति प्रबल है कि दृष्टि की सृष्टि यही इन्द्रिय बना देती है क्योंकि यह दूर २ की वस्तुओं को ग्रहण करके मन को सौंपती है इसी कारण इस इन्द्रिय के विषय पर गहन विचार चाहिये। ऐसे कि:—

१—दृष्टि को नित्य आपे में गोई हुई रख।
२—बिना प्रयोजन ऊपर को न घूर।
३—सरल और सहज स्वभाव से देख, आंख गाड़ कर किसी वस्तु को न जांच।
४—किसी मनुष्य से आँखें न मिला।
५—क्रूर और खोटी दृष्टि दूर कर।
६—जिस वस्तु के देखने से तुझे मोह होता प्रतीत हो उससे विचार करके दृष्टि हटा ले और फिर उस ओर न देख।

७—सृष्टि के बाहर पर क्या दृष्टि डालता है, यह तुच्छ मिथ्या क्षण मात्र में नष्ट हो जाती है। जो देखना चाहता है तो अपनी बहार देख जो नित्य एक रस रहती है। तेरी दृष्टि आपे से बाहर निकलती हुई है इसी कारण तुझे अपना आपा नहीं भासता। जो तू इस दृष्टि को विचार के पहरे में भली भांति रखे तो ज्ञान-दृष्टि तुझे प्राप्त हो जावे जिससे तू अपनी और अपने स्वामी की बहार देख सकता है। सो वह नाम जो तेरी जिह्वा पर फिर रहा है उसी पर दृष्टि जमाई हुई रख और उसका परम रूप निरख।

(२)—कान।

कान का विषय शब्द का ग्रहण करना है। यह दूसरी इन्द्रिय पहली से उतरती हुई है। यह भी प्रबल है कि अपने वश की ही नहीं, सो इसके लिये ऐसे विचार रख।

१—हर एक बात को ध्यान देकर सुनने का चाव दूर कर। जगत् की सभी बातें सरल और सहज स्वभाव से सुन लिया कर, वह भी प्रयोजन की।

२—गति आदिक रसिक बातें कभी भी न सुनियो।
३—कानों को चौकन्ना सा मत रखा कर।
४—पराई स्त्रियों की बातें प्यारी लगा करती हैं सो भूल कर भी सुनना न विचारियो।

५—पराई बातें और कहानियाँ आदिक सुनने का चाव छोड़ दे। तू तो अपने उसी नाम को जो तेरी जिह्वा (जिभ्या) पर फिर रहा है और दृष्टि जिसको देख रही है भली भांति सुनाकर अर्थात् यह श्रवण द्वारा सिद्ध करना है और इसी को ज्ञान के कान कह सकते हैं कि नित्य तुझे यह प्रतीत होता रहे कि राम नाम की ध्वनि मेरे भीतर उठ रही है और तू उसको सुनता रहे। इसी प्रकार कुछ दिन गाढ़ा अभ्यास कर और देख कि इन इन्द्रियों के विषय कैसे सुलभ हो जाते हैं और श्रवण द्वारा सुधि करना यही परम ध्यान है।

(३)—नाक

नाक का विषय गंध ग्रहण करना है।
१—इस इन्द्रिय का इतना ही विचार बहुत होगा कि जो वस्तु सुन्दर गंध वाली प्रतीत हो और

उस पर मन चलायमान हो उसी से नाक को दूर रख अर्थात् उसके सूंघने का पुरुषार्थ न कर। सो अपने उसी परम नाम की जिस पर ध्यान लगा हुआ है भली भांति सुगंध ले कि सदा एक ही रस तुझको तृप्त रखे।

२—नासिका से सांस का आना जाना भी गिना जाता है। सो विचार रख कि जब सांस हृदय से उठे तो 'रा' उच्चारण होता है और जब उल्टा जावे तो 'म', ऐसे प्रत्येक सांस के साथ राम भली भांति आप ही आप उच्चारण होता रहता है यह विचार गाढ़ा रख।

(४)—जिह्वा।

जिह्वा का विषय रस ग्रहण करना है। यह इन्द्रिय विशेष करके शेष और ज्ञानेन्द्रियों के आश्रय होती है अर्थात् जो वस्तु देखी जावे वा सुनी जावे वा सूंघी जावे और स्पर्श की जावे उसी पर स्वाद लेने को मन चलायमान होगा। सो जब और इन्द्रियों को भली भांति रोका जावेगा तो फिर यह क्या करेगी। और इसके लिये ये विचार उस पर ठहरा।

१—जो प्राप्त होगया है उसी को स्वादु समझ कर भोजन कर और सब भटकना है। सारे ही रस और स्वाद केवल जिह्वा ही पर हैं; क्षण मात्र में लोप हो जाते हैं, जहां नीचे को उतरा और सब स्वाद बराबर हुए।

२—जल्दी से खा लिया कर स्वाद देखने भालने की आवश्यकता नहीं।

३—संतोष करके सरल स्वभाव से जो मिलगया उसको अमृत समझ कर भोजन करले।

४—जो मनकी चाह और स्वाद जाँच कर भोजन करेगा वही दुःखदाई और रोग उपत्न्न करने वाला भोजन होगा, विचार कर के सोच।

५—जो तू बहुत स्वाद चाहता है तो वह नाम जो जिह्वा पर फिर रहा है उसका अमृत सहज २ पीता रह, देख सदा एक रस एक भांति स्वाद देता रहे और कैसा परमानन्द प्राप्त हो, यह गुप-चुप का स्वाद है जिसको मैं नहीं कह सकता और न तू कह सकेगा, जो काटेगा वही स्वाद पावेगा।

(५)—त्वचा।

त्वचा का विषय स्पर्श को ग्रहण करना। सो ऐसे विचार कि जो वस्तु करने में कोमल और प्यारी लगे उसको न छू कि अन्त में कठोर और दुःखदाई हो जाया करती है। सो वही नाम जो सब भांति बर्त रहा है उसी को स्पर्श भी किया हुआ सोच, और २ वस्तुओं से स्पर्श का विचार दूर कर दे।

विचार तो यही चाहिए कि कोई इन्द्रिय चाह के साथ न बर्ती जाये, जहां चाह हुई और विषय जागा। और ऐसे भयानक वाक्य जो कर्मकाण्डियों आदिक ने घड़ रखे हैं कि एक इन्द्रिय के वश पड़कर पशु पक्षी आदिक जीवन दे देते हैं और मनुष्य के पाँच इन्द्रियां हैं यह कैसे बच सके कभी न सुन। यह सोच

कि विचार और ज्ञान मनुष्य को इसलिये दिया गया है कि पशुवृत्ति से बाहर होवे और इस जन्म में आकर इस जगत् जंजाल से मुक्त होवे। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि तू भूला हुआ विचार और ज्ञान को भी इन विषयों के पूरा करने में बरतता है इन इन्द्रियों को क्या रोता है तू उसपर इतना काम और विशेष कर देता है अर्थात् मनुष्यता को भी इन ही के साथ लवलीन कर देता है सो इन बातों को विचार और देख। बड़ा आश्चर्य यह है कि तू विचारता नहीं कि देखना, सुनना, सूंघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना आदि बहुत प्यारी वस्तु का हुआ करता है सो विचार सबसे प्यारा अपना आपा है तो बस उचित हुआ कि आपे ही को देख, सुन, सूंघ, चख और स्पर्श कर अथवा अपने स्वामी से जो तेरे ध्यान में है सब ही इन्द्रियों के विषयों को लगा और परम मग्न और आनन्दित रह।

पांच प्राण

पांच प्राण अर्थात् १. अपान २. समान ३. प्राण ४. व्यान ५. उदान हैं जिनमें अपान का विषय छोड़ना, समान का विषय उठाना, प्राण का विषय चलना, व्यान का विषय सोना और उदान का विषय जागना। इन सब पर ऐसा विचार चाहिये कि जो कुछ किया जावे अथवा बरता जावे सो आवश्यकता के साथ और आवश्यक कर्म वही कहा जा सकता है जिस के किये बिना नहीं बनता हो। और जो अपनी चाह के साथ, किया गया है वह आवश्यक कर्म नहीं गिना जा सकता। विचार कर किसी को अच्छे भोजन आदिक प्राप्त हो गये हैं और वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने के विचार से उनको त्याग कर और प्रकार के भोजन बरते तो देख यही चाह होगई। वह भोजन जो प्राप्त था सो आप ही बरता जाता, उसमें झगड़े की क्या आवश्यकता थी अर्थात् इन्द्रियाँ मारने की चाह हो गई और दूसरे वह विरस भोजन चाह से हुआ है और अच्छे भोजन यथा प्राप्ति थे सो उनका छोड़ना नहीं बनता। सो शरीर इन्द्रियाँ आदिक अपने विषय में लगी रहें। तू उनमें वासना और चाह उठाकर आसक्त न हो, तू तो अपने ही विचार में लगा रह, तुझे उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। जैसे वे अपने काम में रहें, रहो, तू अपने विचार से क्षण मात्र भी न्यारा मत रह।

मन।

अब इस सूक्ष्म शरीर में मन और बुद्धि शेष रहे हैं। सो जब प्रत्येक इन्द्रिय को विचार के साथ बरतेगा तो ये क्या करेंगे ये भी विचार में रहेंगे और तू सारा ही विचार रूप हो जावेगा। मन का विषय संकल्प-विकल्प (अर्थात् किसी वस्तु को अच्छा समझ कर ग्रहण करना और किसी वस्तु को बुरा मान कर उसका त्याग करना) और। सो यही सारा झगड़ा है और यही भ्रम और भेद भाव सब विकारों का मूल है, यही इन्द्रियों को उनके विषय में लगा देता है और यही भ्रमना बड़े २ जान जोखों के काम और बारह दूनी उजाड़ के कुएँ झुकवाती है। सो विचार करके समदृष्टि पकड़ दाएँ और बाएँ हाथ में क्या अन्तर। हाय! बड़ा आश्चर्य कि तू ऐसे २ भेद भाव खड़े कर लेता है, तू शरीर का भीतर बाहरी भली भांति विचार करे तो निश्चय है कि सब अन्तर छोड़ देवे सभी सृष्टि उस एक ईश्वर की रचना है फिर यह क्या बेईमानी है कि एक को अच्छा और दूसरे को बुरा जाँचता फिरे। भला परमेश्वर कोई वस्तु बुरी क्यों बनाने लगा था। यह सब भेद भाव तेरी भूल और भ्रम का है। विचार कि इन्द्रियों के साथ मन का क्या लगाव और मेल है तो यह ऐसे है जैसे नेत्रों का कर्म रूप देखना है। परन्तु अच्छे बुरे का अन्तर करना अथवा अच्छे पर मन चलायमान करना और बुरे से मन हटाना नहीं। राम २ मन का काम है, सो प्रत्येक इन्द्रिय की चेष्टाओं से मन का विषय दूर कर।

बुद्धि ।

बुद्धि का विषय निश्चय करना है। मन जो संकल्प विकल्प उठाता है उसको बुद्धि निश्चय करती रहती है अर्थात् तेरा निश्चय भी ठीक नहीं बैठता। बुद्धि बेचारी भी चंचल और चपल मन के साथ छिनाल हो जाती है। सो इन दोनों को परम नाम से जकड़ दे अर्थात् उसी नाम का संकल्प विकल्प उठा कर उसी नाम पर निश्चय जमाता रह। जैसा नित्य इस विचार का अभ्यास पकड़ेगा वैसे सरल और सहज स्वभाव के साथ उसी का नाम संकल्प विकल्प रहा करेगा और फल यह होगा कि संकल्प विकल्प जड़ मूल से जाता रहेगा और भटकना मिट कर एक निश्चय पर ठहर जाएगी। घबरा नहीं विचार करके मन और बुद्धि को घेर कर उसी पर जमाता रह। जो ऐसे अभ्यास रखे तो कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। तू टुक भी अपना विचार करे तो सब कुछ भली भांति वश मैं कर सकता है। अचम्भा देख कि तू बाहर के और हजारों देश भर के बन्दोबस्त (प्रबन्ध) कर लेता है और तेरे से अपने आपे का प्रबन्ध नहीं हो सकता। बड़ी लज्जा की बात है जो टुक भी अपने आपे का विचार करे तो परम सुख और परमानन्द तुझे प्राप्त हो जावेगा।

ग—कारण शरीर ।

कारण शरीर तीन तत्व और चित् अहंकार वा जीवात्मा से है। यह सत्व गुणी शरीर है। बहुत से इसमें उल्झे रहते हैं सो यह शरीर जगत् का अंकुर कहना ठीक होगा।

चित् ।

उसका विषय ऐसे विचार कि चित् का विषय वासना है अर्थात् चाह यह जगत्की बेड़ी है। सो इसके लिये भी अपने उसी परम नाम का विचार उठावे अर्थात् उसी की चाह रखे। जिस वस्तु की वासना रखे तत्काल उसी वस्तु से हटाकर उस नाम पर डालता जावे; ऐसे बहुत ही सुगमता से वासना दब जावेगी और यह सब उतार चढ़ाव के विचार हैं। जब सूक्ष्म शरीर का पूरा २ प्रबन्ध हो जावेगा तो फिर चित् आदिक उसी मार्ग पर पड़ जावेंगे।

अहङ्कार ।

अहङ्कार का विषय ममत्व है और यह प्रमाद करके उठता है और यह अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी मारता है। टुक विचार कर। तू जो 'मैं' और 'मेरा' करता फिरता है सो क्या है? तू अपने शरीर में भली भांति देख कि 'मैं' कौनसी वस्तु है तो कोई भी न मिलेगी और जब 'मैं' नहीं रही तो 'मेरा' क्या धूल होगा। विचार करने से दोनों की निवृत्ति हो जाती है, जो तेरा है तेरे साथ। सो मिथ्या जगत् से मेर बांध कर झगड़ा मोल लेता है क्योंकि जब मेरा उठावेगा तो वासना उठेगी और फिर संकल्प विकल्पादिक और अन्य रूप रसादिक विषय जागेंगे। सो क्यों व्यर्थ भिड़ के छत्ते में हाथ डालता है, कितने काल के लिये मैं, मेरा आदिक करता है। सो ऐसे २ विचारों का अभ्यास करके अहङ्कार को दबा और अपने आपे पर मेर बाँध, उसी को सँभाल अथवा उसी अपने परम नाम पर मेर का धुरा बाँध और मग्न रह। क्या तुच्छ वस्तुओं पर मेर बाँधता फिरता है।

वेदान्तियों ने ६ शरीर बांधे हैं, अर्थात् महाकारण, कैवल्य और छठा ब्रह्म अथवा आत्मा मान रखा है। सो इन सब को ऐसे विचार ले कि जैसे एक सूखा हुआ वृक्ष खड़ा है अर्थात् फूल पत्ते आदि कुछ नहीं जड़ है सो वह स्थूल शरीर में गिनो और इससे पहिले जो हरे भरे फूल थे फलादि से लदा (पदा) था वह था सूक्ष्म शरीर और वह जो अँकुर निकला था सो कारण और जब अंकुर पहिले अर्थात् बीज में था सो महा कारण और बीज के भाव से पहिले वह जो वास्तविक दशा में था सो कैवल्य, और जिस ठौर को बतला नहीं सकते अनिर्वचनीय, अर्थात् कहने, सुनने, देखने आदिक में नहीं आ सकता सो ब्रह्म है सो राम नाम रूपी कमन्द के सहारे से उसी पद को पहुँच सकता है और उसी के संग करके सब शरीरों से बाहर हो सकता है।

आत्मा।

यह जो छठा शरीर आत्मा बतलाया जाता है, सो राम नाम को निश्चय कर ले और जांच ले कि यह परम नाम सब प्रकार आप ही आप उच्चारण होता है। यह जो विशेष निर्णय जगत् का किया जाता है सो जगत् को सत्य कर देना है क्योंकि जब वह है ही नहीं तो निर्णय काहे का करना। परन्तु प्रयोजन निर्णय से भ्रम का दूर करना है। सो प्रथम वह भ्रम सत्य मान कर फिर ज्ञान करके दूर किया जा सकता है। परन्तु इस ज्ञान में उलझना उचित नहीं क्योंकि ज्ञान भ्रम दूर करने के लिए है और जब भ्रम दूर हो गया तो बस ज्ञान भी जाता रहा और निर्णय शरीरादिक किसका किया जावे। इसी कारण सृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाना परम ज्ञान और परम मोक्ष है क्योंकि वह ब्रह्म पर अत्यन्त अभाव करके है। इन शरीरों की संभाल में भी न फंस और नित्य इन सब झगड़ों से बाहर होने का अत्यन्त गाढा विचार रख।

इति शरीर का निर्णय समाप्तम्।

शुभम् !

मनुष्य का कर्त्तव्य।

विषय सुख प्राणीमात्र चाहता है परन्तु उसके वास्ते कुछ कर्त्तव्य नहीं है। जिस प्रकार दुःख सब को बिना बुलाये प्राप्त होता है इसी प्रकार सुख भी प्राप्त होता है, देखो भोग सुख तो मनुष्यों से अधिक पशुओं को प्राप्त होते हैं क्योंकि मनुष्य पशुओं की सेवा करते हैं,तथा यह सब संसार अज्ञान मूलक है और दुःख की कोई इच्छा नहीं करता है इसलिए मूल अज्ञान सहित जो अज्ञान का कार्य पुनर्जन्म रूपी दुःख उसकी निवृत्ति के वास्ते ही मनुष्य को यत्न कर्त्तव्य हैं, क्योंकि मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है। यह आकार संसार के समस्त दुःखों से परित्राण पाने का द्वार है। यही ईश्वर की शक्ति और भक्ति कमाने का द्वार है। यह ८४ लाख योनियाँ भोगने के पश्चात् मिलता है। यदि मनुष्य इस मानव-जीवन में भी चूक जाता है, आवागमन-जन्म-मरण के फँदे से छूटने का उपाय नहीं करता, तो वह पछताता और रोता है, पर यह सुअवसर उसे फिर नहीं मिलता, अतः मनुष्य का पहिला कर्त्तव्य यह है कि, वीर्य की रक्षा करते हुए स्वाध्याय (सद्विद्या का विचार) व उत्तम २ शिक्षाओं का ग्रहण तथा अच्छे २ भावों को संग्रह करके सब बुरे व्यसनों को त्याग देना चाहिये अर्थात् अनापशनाप भोजन, मादक पदार्थों का सेवन, जुआ आदि दुर्व्यसन, कामोद्दीपन चर्चा व पुस्तकों का पढ़ना और दुराचारी मनुष्यों का सहवास इत्यादि दूषित रूप विघ्नों को त्यागना उचित है, ब्रह्मचर्य की रक्षा होकर देह बलवान् निःरोग व दीर्घ आयु और बुद्धि की निर्मलता होने से विचार और दुर्भाव छूट जाते हैं।

शुभभावों के संग्रह करने के लिये सत्संग में पहुंच कर प्रश्नोत्तर से सद् अर्थों का निर्णय और निश्चय करना उचित है। बुरेसंग के त्याग के बिना सत्संग का रस पाना कठिन है; इसलिये कुसंग को त्याग कर धर्मात्मा व हितैषी सज्जनों और ब्रह्मवेत्ता महात्माओं की संगति व दीनों पर दया, सर्वत्र प्रेम, सरलता, क्षमा और शान्ति आदि सद्गुणों का संग्रह करके अधिकारी मुक्त हो सकता है।

जब तक हृदय में सद्भावों की दृढ़ता नहीं हो लेती तब तक किये हुए और साधन सार्थक नहीं होते इसलिये श्रेष्ठ भावों को धारण करना मनुष्यों का मुख्य कर्त्तव्य है। इसके पश्चात् उपासना में रुचि और अधिकार होता है। सारांश यह है कि मनुष्य के कल्याण का यथोचित उपाय कर्म और उपासना द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् ज्ञान प्राप्त करना ही है।

अज्ञानी जीवों के हृदय में मल, विक्षेप और आवर्ण यह तीनों दोष होते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त यह है कि जल से पूर्ण मिट्टी के पात्र में जैसे गदलापन व चंचलता और परदा होवे तब उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है? इसके पहले गंदलापन दूर किया जावे व वायु से बचा के और परदा हटाकर सूर्य के सन्मुख रक्खा जावे तब उसमें ठीक २ प्रतिबिम्ब सूर्य का पड़ सकता है। वैसे स्थूल शरीर रूप मिट्टी का पात्र व अन्तःकरण जल और ब्रह्मरूप सूर्य है अर्थात् निष्काम कर्मों के यथाविधि करने से अन्तःकरण (मन) शुद्ध होता है। पुनः उपासना करते हुए

विक्षेप (पदार्थों का राग) दूर होकर सद्गुरु द्वारा महावाक्य को सुनकर ब्रह्म अभ्यास होने पर तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

अब आचरण के विषय में थोड़ा सा और कह कर पश्चात् कर्म, उपासना और ज्ञान का संक्षेप में विवरण करेंगे, ध्यान देकर सुनो ।

संसार में दो प्रकार के जीव हैं । एक तो वे जो खाने के लिये जीते हैं और दूसरे वे जो जीने के लिये खाते हैं । जो लोग खाने के लिये जीते हैं उनकी भावना यह रहती है कि मैं खाने के लिये ही जन्मा हूं अतः मन भर खालूं । ऐसी भावना वाले लोग भक्ष्याभक्ष तथा समय असमय नहीं देखते । वे तो केवल खाने ही में ध्यान रखते हैं । वे यह विचारना भी अनावश्यक समझते हैं कि हमारी इस भोजन शूरता से किसी जीव को कष्ट तो नहीं होता । भक्ष्याभक्ष लोगों के लिये ही पशु पक्षी मारे जाते हैं, दीन दुःखी सताये जाते हैं और अनेक प्रकार के पाप होते हैं । वास्तविक बात तो यह है कि संसार में पाप की वृद्धि भूखे मरनेवाले लोगों की अपेक्षा इन खाने के लिये जीने वाले लोगों ने अधिक की है । यदि भक्ष्याभक्ष का ध्यान रक्खा जावे तो इतना अधिक पाप न फैले । लेकिन भक्ष्याभक्ष का ध्यान वे ही लोग रख सकते हैं जो खाने के लिये न जीते हों, किन्तु जीने के लिये खाते हों ।

जो लोग जीने के लिये खाते हैं उन लोगों का ध्येय यह नहीं रहा कि हम खाकर शरीर तथा उसकी शक्ति बढ़ावें और फिर पाप करें । किन्तु वे इसलिये खाते हैं कि हमारा शरीर बना रहे जिससे हम धर्म की सेवा कर सकें क्यों कि धर्म सेवा के लिये शरीर का होना आवश्यक है और शरीर रक्षा के लिये भोजन करना आवश्यक है । जीने के लिये खाने वाले भक्ष्याभक्ष का ध्यान रखते हैं । वे इस बात के लिये सदा चिन्तित रहते हैं कि हमारे खाने के कारण किसी जीव को अनावश्यक कष्ट न हो और वह दिन कौनसा होगा जब हमारे इस कारण से किसी भी जीव को कष्ट न हो । यद्यपि खाने को तो दोनों तरह के लोग खाते हैं, परन्तु खाने के लिये जीनेवाला तो पाप प्रकृति बांधता है और जीने के लिये खाने वाला खाकर भी पुण्य प्रकृत्ति (बांध) सकता है । सारांश यह है कि खाने में भी अन्तर है । एक पापके लिये होता है और एक धर्म के लिये ।

सब मनुष्य के आचरण पर निर्भर है, मनुष्य यदि चाहे तो आचरण द्वारा ऋद्धि प्राप्त कर सकता है और यदि चाहे तो मृगालोढ का सा नर्क भी प्राप्त कर सकता है । सुख दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति इष्ट-अनिष्ट आदि बनना और प्राप्त होना आचरण पर ही निर्भर है यद्यपि आचरण का साधन एक ही है, परन्तु उस साधन के उपयोग में ही इतना अन्तर हो सकता है कि, चाहे तो सम्पत्तिवाला बन जावे और यदि चाहे मृगलोढ़सा । जैसे बोलने के लिये तो वही है परन्तु उस मुंह से चाहे ईश्वर का भजन करे या दूसरे की निन्दा । सत्य बोले या झूंठ । काम करने के लिये हाथ तो वे ही हैं, परन्तु चाहे उनसे उपकार करे या अपकार । रक्षा करे या मारे । धर्म दान दे या अधर्म दान । अनुकम्पादि दान दे या वेश्या को दे । पांव वे ही हैं, परन्तु पावों से चाहे साधु के यहां जावे या वेश्या के यहां । मतलब यह है कि आचरण का साधन तो एक ही है, परन्तु उस साधन का चाहे

दुरुपयोग या सदुपयोग। उस साधन से चाहे बुरा आचरण करे या अच्छा आचरण। इसी में ऋद्धि भी मिलती है और मृगलोढ़ का सा दुख भी। अर्थात् आचरण के साधन का सदुपयोग करके उनसे आचरण करें तब तो ऋद्धि है और दुरुपयोग करके बुरा आचरण करें तो मृगलोढका सा दुःख।

साधक के भोजन की व्यवस्था

प्रश्न—साधक को कैसा भोजन करना चाहिये ?

उत्तर—विचार से देखो, भोजन किस लिये किया जाता है ? भूख का दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवन शक्ति काम करती रहे; इसलिये भोजन किया जाता है। विवेकी पुरुष तो भोजन नहीं करता बल्कि प्राण भगवान् को आहुति देता है। आहुति ऐसी वस्तुओं की देनी चाहिये जिससे जीवन शक्ति दैवी स्वभाव की हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पाये। भोजन का शारीरिक स्वभाव से अभेद सम्बन्ध है। भोजन की सामग्री सत्वप्रधान हो। सत्वप्रधान का अर्थ यह नहीं है कि केवल फल, दूध आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक काल तक शक्ति भी दे सके। भोज्य पदार्थों के प्राप्त करने के लिये धन भी सात्विक हो, अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो और भोजन बनाने वाला सात्विक स्वभाव का हो अथवा परिवार-सम्बन्धी हो। क्योंकि कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं उनको (नौकर आदि को) अपने जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन में भोजन पान करने का रस प्रायः बना रहता है, मिलता है नहीं। अतः उस भोजन में मानसिक दोष आ जाता है, ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिये जो अपने समान उसे भी खिला सकें, नहीं तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिये, जिससे भोजन में मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिये वही उचित होता है कि जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।

आहुति में अभक्ष्य पदार्थ (अंडा, मांसादि) बिलकुल नहीं होना चाहिये। उन पदार्थों के सेवन करने से प्राण में शक्ति निर्बलता और स्वभाव में असुरता आती है।

प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदय में यह भाव हो कि हम प्राण भगवान् को आहुति दे रहे हैं। प्रधानतः पाँच प्रकार का प्राण है। यह भावना दृढ़ करने के लिये प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा आदि प्राणों की भावना से भोजन के आरंभकाल में आचमन करने के पश्चात्, यदि हो सके तो, सात्विक पदार्थों के ही ५ ग्रास प्रत्येक प्राण के नाम से आहुति दे। ऐसा प्रतिदिन करने से, 'मैं भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण को आहुति देता हूं' यह भावना दृढ़ हो जायेगी और भोजन में आसक्ति नहीं रहेगी। स्वाद बुद्धि का अन्त हो जायगा क्योंकि स्वाद का अभाव होने पर वीर्य-रक्षा बड़ी सुगमता से ही होजाती है। जो भोजन का संयम नहीं कर सकता वह वीर्य रक्षा नहीं कर सकता। वीर्य-रक्षा के बिना बुद्धि आदि में सात्विकता नहीं आती। अतः साधक को भोजन समझ बूझकर करना चाहिये। देखो एक एक ज्ञानेन्द्रिय से एक एक कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध है। जो स्वाद को नहीं जीत पाता वह उपस्थ को नहीं जीत पाता, जैसे जो सुन नहीं पाता वह बोल नहीं पाता, आदि।

यदि जीवन को सुखी करना हो तो आत्म श्रद्धा को जाग्रत करो।

संसार में जो बाहरी मनुष्य का शरीर दिखाई देता है, वास्तव में वह भीतरी मनुष्य की छाया है। आज तो हमारी यह दशा हो रही है, मन का एक भाग एक रीति से विचार करता है और दूसरा दूसरी रीति से विचार कर रहा है। हम चाहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। इससे हमारे जीवन की एकता नष्ट हो जाती है। आज हजारों स्त्री पुरुष व्याकुलता के रोग से दुःखी हो रहे हैं। मन की इस उधेड़ बुन से हमारा चित्त अस्थिर हो जाता है। इस प्रकार खबराए हुए चंचल चित्त से मनुष्य निद्रा में प्रवेश करता है और सबेरे उठते समय भी घबराया हुआ, मुर्दे के समान शिथिल और निर्जीव शरीर से शय्या से उठता है, मानो उसका शरीर निष्प्राण है।

जीवन में तनिक भी कोई अप्रिय-प्रसंग या प्रतिकूल परिस्थिति से सामना करना पड़े तो आकुल व्याकुल हो जाता है और हर एक बात की दूसरों से निंदा करता है। वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। उसे यह समझ नहीं आता कि पहले क्या काम करना चाहिये। वह शून्य मनस्क (absent minded) हो जाता है। सोचने विचारने की शक्ति कुंठित हो जाती है। काम करने की कठिनाइयों से वह बचना चाहता है।

मनुष्य के जीवन पर तीन प्रकार के प्रभाव अपना अधिकार रखते हैं एक उसके स्वयं के विचार, दूसरे अन्य मनुष्य के विचार, तीसरे जीवन में जो अच्छी बुरी घटनाएँ होती या दृश्य देखता है उनका अप्रतिहत प्रभाव होता है। विचार ही मनुष्य की सब क्रियाओं का करने वाला है। विचारों में गड़बड़ हुई कि (nervous system) ज्ञान तंतुजाल में विकार पैदा हो जाता है। मस्तिष्क के जीव कोष्ठ दुर्बल हो जाते हैं और उसका मन इतना ग्रहण शील (Sensitive) हो जाता है कि दूसरों के व्यर्थ विचारों का तुरंत उसके मन पर प्रभाव हो जाता है। उसका मन विक्षिप्त हो जाता है, वह रात-दिन हाय हाय करता रहता है और चिंता में डूबा रहता है, मस्तिष्क पर बड़ा बोझ सा मालूम होता है मानो सौ मन का बोझ शिर पर चढ़ा दिया गया हो। ऐसे मनुष्य (Nervousness) घबड़ाहट के रोग से व्यग्र रहते हैं, बात बात में उद्विग्न हो जाते हैं, चिढ़ जाते हैं। शान्ति और स्वस्थता से निन्द्रा तो इन्हें कभी आती ही नहीं है।

जब हमारा ज्ञान-तन्तु-जाल दुर्बल हो जाता है तो शारीरिक और मानसिक शक्ति का भी ह्रास हो जाता है और नसों पर और ज्ञान तंतु पर बड़ा भार हो जाता है। प्राण की गति में गड़बड़ हो जाती है, रक्त-संचालन ठीक नहीं होता और मस्तिष्क तो बिलकुल जड़ हो जाता है।

स्त्रियों का नसों का जाल तो इतना कोमल होता है कि उनमें सहन - शक्ति का अभाव हो जाता है। घर की छोटी छोटी सी बात में वे भड़क उठती हैं, किञ्चित् भी किसी ने कुछ कहा कि वे सहन नहीं कर सकतीं। परिणाम यह होता है कि वे मूर्छा (Hysteria) रोग से ग्रस्त हो जाती हैं या अन्य कोई ऐसा रोग उनको चिपट जाता है कि जन्म भर वे चिंतित रहती हैं। ज्ञान-तन्तु की दुर्बलता के रोग दवाओं के सेवन करने से कभी दूर नहीं होते।

शक्ति से अधिक काम करने से, शरीर और मन को उचित विश्राम न देने से, एक ही प्रकार का निरन्तर कार्य करते रहने से, मनुष्य के मस्तिष्क पर एक प्रकार का भार (Tension) हो जाता है। सोचने, विचारने की शक्ति मंद पड़ जाती है। कोई न कोई गुप्त या प्रकट मानस व्यथा हमारे हृदय में विक्षेप पैदा करती रहती है। चित्त में संशय - शंका - भय - भ्रान्ति और भ्रम क्षोभ उत्पन्न करते हैं। एक क्षण भी मन स्थिर और शांत नहीं रहता। अपने आप किसी बात का निर्णय नहीं कर सकते। मांस पेशियां - स्नायु, शिराएँ एवं ज्ञान-तन्तु संकुचित हो जाते हैं। हर एक बात में संदेह और भ्रम होने लगता है। अकेले बैठे रहने में भ्रम लगता है। भीड़ में जाने से भी घबराहट होती है। एकान्त में बैठे हुए अपनी पिछली बीती हुई अनिष्ट घटनाओं का चिन्तन करने में डूबा रहता है।

हजारों मनुष्य ऐसी दयनीय दशा में अपने जीवन का अन्त कर लेते हैं, तो क्या फिर इन लोगों को आत्म-हत्या करके मर जाना चाहिये या कोई उपाय ऐसा है कि जिससे इस मानसिक बंधन से मुक्त हों। तो सर्व प्रथम बंधन के विचार को हृदय से हटा दीजिये। जब विचार बंधन रहित हो जायगा तो आपकी इच्छा भी वैसी ही होगी। तुम जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हो उसे तुम अवश्य प्राप्त कर सकते हो दूसरों के विचारों को अपने मस्तिक में प्रविष्ट करके विक्षिप्तता पैदा न करो, आपकी इच्छा जिस वस्तु को प्राप्त करने की होगी तो वह इच्छा आपको उस ओर ही ले जायगी। आपकी इच्छा पूर्ण स्वतंत्र बनने की है या जीवन के साथ पूर्ण एक राग हो जाने की है तो वह आपको उस ओर ही ले जायगी।

यदि आप अपने बंदीगृह से निकलना चाहते हैं तो काम समाप्त हुआ कि उसी के साथ काम के विचारों को वहाँ ही विसर्जन कर दो। काम की चिन्ता को अपने साथ बिस्तर पर मत ले जाओ। शरीर को रात्रि को विश्राम देते समय कोई भी चिन्ता या क्लेश आपके मन में विक्षेप या क्षोभ उत्पन्न करने के लिए मनोमय-कोष में नहीं प्रवेश करना चाहिये। उन विचारों को मस्तिष्क में प्रवेश होने से एक साथ रोक दो।

दूसरी बात यह है कि तुमको अपने में आत्म-विश्वास नहीं है अर्थात् अपने आप पर थोड़ा भी भरोसा नहीं है। यही चित्त की चंचलता और अस्थिरता का कारण है जिसमें आत्म-विश्वास का अभाव होता है वह हिम्मत हार जाता है; कायर हो जाता है। उसका मन किसी भी कार्य में नहीं लगता और किसी भी कार्य को वह सिद्ध नहीं कर सकता।

जब तुम अपनी आत्मा में श्रद्धा और विश्वास को जाग्रत करोगे तभी अपने मन की दुर्बलता पर विजय प्राप्त कर सकोगे। जब तक तुम बाहरी शक्ति और सहायता पर विश्वास करते रहोगे, दीन-हीन पराधीन और अभागे प्राणी बने रहोगे। अपने आप में अविश्वास अथवा श्रद्धा का अभाव ही तुम्हें दीन-हीन और आश्रित दरिद्री बना रहा है।

चाहे कैसी भी तुम्हारी गई बीती अवस्था हो संसार के सब उपाय निष्फल हो रहे हों। मनुष्य मात्र की सहायता व्यर्थ मालूम दे रही हो, कोई भी सहारा तुम्हें दृष्टि नहीं आ रहा हो— व्याधि, विपत्ति डर, भय, शोक-चिन्ता तुम्हें दुःखी कर रहे हों। चाहे कैसा भी गाढ़ अंधकार तुम्हारे हृदय और आस पास छाया हुआ हो ऐसे विकट प्रसंग में अपनी विरोधी परिस्थिति से पीठ फेर लो, बाहर की ओर से वृत्ति हटा कर अपने भीतर की अनन्त शक्ति की ओर मुंह फेर लो।

श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र तुम्हारे भीतर है। जब तक तुम अपने इस भीतर वाली शक्ति पर मन को एकाग्र न करोगे तब तक तुम भ्रान्ति और अज्ञान में गोते खाते रहोगे। प्रसन्नता का अक्षय स्रोत तुम्हारे भीतर बह रहा है।

किसी सरल आसन से बैठ जाओ। अपना शरीर सीधा रखो, रीढ को तानकर रखो, शिर ऊपर, हृदय भाग बाहर निकला हुआ, पेट भीतर की ओर, नेत्र मूंद लो, प्रत्येक श्वांस-प्रश्वांस के साथ निम्न भावनाओं को अपने हृदय-पटल पर अंकित करो।

"परमात्मा सामर्थ्य का भंडार है। सर्व-शक्तिमान, सर्व-व्यापी एवं सर्वज्ञ परमात्मा मेरे हृदय में व्याप्त है। मैं अपनी भीतर की शक्ति पर दृढ़ - विश्वास रखता हूँ और चाहे जो कर सकता हूँ। मेरे आनन्द में कोई बाधा नहीं डाल सकता। मैं शोक, चिन्ता, संदेहवश भय और मनोविकारों के वशीभूत कभी नहीं हो सकता, मैं ने मानसिक दुर्बलता को पैरों से कुचल दिया है। मैंने अपने दुःख के कारण और बंधन को नष्ट कर दिया है।"

मानस-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि बार - बार कही बात सत्य प्रतीत होने लगती है। श्रद्धा सहित उत्पादक विचार इच्छा शक्ति का रूप धारण कर लेता है।

जिस हृदय में ये भावनाएँ विश्वास और श्रद्धा का रूप धारण कर लेते हैं वह सब कुछ करने को समर्थ हो जाता है, उसके सब संशय, शंका और संदेह गायब हो जाते हैं। व्याकुलता (Nervousness) का रोग तो एक क्षण भी उसके हृदय में ठहर नहीं सकता। आत्म-श्रद्धा के द्वारा मनुष्य तिनके को पहाड़ बना देता है और पहाड़ को तृण बना सकता है। जिसने अपने भीतर की इस शक्ति का अनुभव कर लिया उसने ईश्वर को भी जान लिया है। आत्म—विश्वास और ईश्वरीय श्रद्धा में परस्पर सम्बन्ध है। मनुष्य में जितना अधिक आत्म - विश्वास होगा उतनी ही अधिक ईश्वर में श्रद्धा होगी।

यह आत्म विश्वास ही तुम्हारा सच्चा सहायक और उद्धारक है। तुम्हारा उद्धार कोई महात्मा या दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। तुम्हारे भीतर का ईश्वर ही तुम्हारा सच्चा उद्धारक है। जो अपने आप अपनी आत्म—श्रद्धा में स्थिर हो जाता है उसके सब शोक, दुःख, संकट और मन की दुर्बलता दूर हट जाते हैं। स्वाधीनता आनन्द और मुक्ति उसी को प्राप्त होते हैं जिसने अपने आप पर अधिकार कर लिया है।

स्मरण रखो— "श्रद्धाऽस्माकं परं बलं।" श्रद्धा ही हमारा सबसे बड़ा बल है।

(कल्पतरु उज्जैन से) अगस्त १९४३ ई०

जिनको आत्मपद की इच्छा है उनको चाहिये कि निरंतर परमात्मा का स्मरण करें, मन जो इन्द्रियों के भोगों की ओर दौड़ता है उसको संसारिक विषय भोगों से रोक कर सर्वदा आत्मा में लगावें, मन को कभी बाहर की ओर जाने न दें सदा अपने भीतर निरोध करें, और अपने कर्त्तव्य अर्थात् स्वधर्म की आसक्ति त्याग कर निष्काम भाव से पालन करें। जो पुरुष दृढ़ अभ्यास द्वारा मन को सब ओर से रोक कर केवल परमात्मा के और कुछ चिन्तन नहीं करते वह आत्मपद को प्राप्त होते हैं। जिस परमात्मा के

अन्तर्गत सब भूत हैं और जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह अनन्य भक्ति ❀ से प्राप्त होने योग्य है।

याद रहे कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव वा क्षेत्रज्ञ वा पुरुष कहते हैं, माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर वा पुरुषोत्तम कहते हैं। अन्तःकरण, माया इन दोनों में उपाधि के भेद से जीव ईश्वर का भेद है। शुद्ध चैतन्य ब्रह्म परमात्मा है। प्रतिबिम्बयुक्त चैतन्य जीव, ईश्वर है, परब्रह्म बिम्बरूप है।

साक्षी चिति, चैतन्य, ज्ञान, बोध, प्रत्यगात्मा, तथा कूटस्थ आदि अनेक नामों से व्यवहार में आने वाले, उसी साक्षी की सन्निधि से नाना प्रकार की चेष्टायें करने वाली, उस बुद्धि के जिस अंश में कर्तृ-स्वरूपा वृत्ति का उदय हो, वह तो 'अहंकृति' कहाती है। तथा जिसमें अहमिदमात्मक ('मैं' 'यह' इस प्रकार की) वृत्ति का उदय हो, वह 'अन्तःकरण, कहाती है। श्रोत्र आदि करणों की अपेक्षा आन्तर होने से उसे भीतरी अन्तःकरण कहा जाता है। क्रमानुसार 'कर्त्ता' और 'मन' भी इन दोनों के ही दूसरे नाम है।

मनुष्य का क्रम

जो प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में कर्मकाण्ड करे और वानप्रस्थाश्रम में उपासना उसे सन्यासाश्रम में अवश्य विज्ञान प्राप्त होकर परमात्मा के दर्शन होंगे जिससे सब अविद्या जीवन दोष दूर होकर परमानन्द दर्शन की प्राप्ति होगी।

कर्म, उपासना और ज्ञान

पहिले हम कह आये हैं कि वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का विवेचन है, इसलिए सामान्य मनुष्य इन तीनों को एक ही अवस्था के समझते हैं, परन्तु वास्तविक इन तीनों की समान अवस्था नहीं हैं। इन तीनों पर भूमिका में हमने अच्छे प्रकार प्रकाश डाला है। विषय गहन है अतः अब स्वामी योगानन्दजी महाराज के शब्दों में निम्न प्रकार से वर्णन करते हैं:—

कर्म और उपासना दोनों ही कर्म स्वरूप हैं, स्थूलता की विशेषता वाली क्रिया कर्म कही जाती है और सूक्ष्म क्रिया उपासना कहलाती है। जिन कर्मों में ज्ञान की विशेषता नहीं होती वे कर्म कर्मेन्द्रिय के

❀ भजन कई प्रकार से होता है और भक्ति भी कई प्रकार की है। जैसे—

१—सत्सङ्ग। २—आत्मज्ञान में चित्त लगाना। ३—जितेन्द्रिय होकर शान्ति आदि दैवी सम्पदा सहित नित्य शुभाचार में प्रीति। ४—सर्व जगत् को आत्मा में कल्पित देखना। ५—गुणों का ग्रहण करना अवगुणों का त्याग करना। ६—संतोष धारण करना। ७—दूसरे के दोषों को न देखना। ८—शान्त व छलहीन बनना, न हर्षित होना न दुःखी व दीन होना ९—अत्यन्त श्रद्धा व प्रीति से सत्य, ज्ञान रूप अनन्त, आनन्द स्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अनादि, एक अद्वैत ब्रह्म, चैतन्यरूप, माया से परे परमात्मा का पूजन करना।

समान हैं, उपासना में भिन्न २ प्रकार के ज्ञान की विशेषता होती है इसलिये उपासना ज्ञानेन्द्रिय के समान है और आत्मज्ञान साक्षी स्वरूप है। उपासना के कर्म और ज्ञान दोनों का सम्बन्ध है परन्तु ज्ञान माया में होने के कारण वह उपासना कहलाती है। कर्म को अविद्या, उपासना को विद्या और ज्ञान को पराविद्या अथवा स्वरूप कहते हैं। अविद्या अज्ञान की सहचरी है, विद्या धनता-रहित अज्ञान है और परा विद्या ज्ञान स्वरूप है। देवताओं का ज्ञान विद्या स्वरूप उपासना है और परा विद्या आत्मज्ञान है, जो विद्या और अविद्या से परे है। कर्म और उपासना में क्रिया की आवश्यकता है, ज्ञान में क्रिया की आवश्यकता नहीं है। अज्ञानयुक्त कर्म फल को उत्पन्न करता है और उपासना कर्म फल को दिव्य बनादेती है। उपासना सहित किये हुए कर्म बलिष्ठ होते हैं। जब अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त उपासना की जाती है तब अन्तःकरण की शुद्धि करती है। फल के निमित्त किया हुआ कर्म जो शास्त्रोक्त विधि और श्रद्धा सहित होता है तब कर्म फल के अदृश्य को उत्पन्न करता है। शास्त्र-विधि से शुद्धि के निमित्त किया हुआ कर्म फल-पाप दोष को निवृत्त करता है, शुद्धि के निमित्त की हुई शास्त्रोक्त उपासना विक्षेप-चंचलता को निवृत्त करती है और आत्म ज्ञान-बोध, अज्ञान को निवृत्त करता है। जिसका अन्तःकरण मल और विक्षेप दोष रहित है उसको प्रवृत्ति ज्ञान में भली प्रकार होती है और यदि पूर्व के शुभ संस्कार भी सहायक रूप हों तो वह उत्तम अधिकारी होता है। ऐसे उत्तम अधिकारी को श्रवण मात्र से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह स्वरूप की दृढ़ता से पूर्ण हो जाता है, असंभावना और विपरीत उसे नहीं सतातीं, मध्यम अधिकारी को श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान में सहायक होते हैं परन्तु जिसमें ज्ञान होने के योग्य शुद्धता और तीव्रता नहीं होती और जिसका मन अत्यन्त चंचल है उसको उपासना करना चाहिये। यद्यपि उपासना सीधी रीति से ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकती तो भी जो मलिनता, चंचलता बोध होने में प्रतिबन्धक है, उसको निवृत्त करती है। फल के निमित्त कर्म करना जीवरूपी वस्त्रको मैला करना है और फलके निमित्त उपासना करना जीवरूपी वस्त्रपर भौतिक ऐश्वर्य का रंग चढाना है, अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त कर्म करना जीवरूपी वस्त्र को भट्टी में चढाना है और अन्तःकरण की शुद्धिके निमित्त उपासना करना जीवरूपी वस्त्र को धो डालना है। जीव अपनी सब उपाधी-मलिनता को छोड़कर अपने स्वरूप का बोध करे यह ज्ञान है। इससे अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान है।

अब कर्म, उपासना और ज्ञानकी पारभाषिक व्याख्या यों वर्णन करते हैं:—

१—कर्म

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे,
विश्णुर्येन दशावतार गहने शिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटने कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे।(भर्तृहरिः)

अर्थ—जिस कर्म ने ब्रह्मा को कुम्हार की नांई निरन्तर ब्रह्माण्ड रचना के हेतु बनाया और विष्णु को बारम्बार दश अवतार गृहण करने के संकट में डाला और रुद्र को कपाल हाथ में लेकर

भिक्षा मांगने के कष्ट में रक्खा और सूर्य्य को आकाश में भ्रमण चक्र में डाला, उस कर्म को प्रणाम है।

यह जगत् पुरुष प्रकृति के विलास का मण्डल है। शरीर, वाणी और मन से शुभ व अशुभ क्रियाएँ की जाती हैं, उनको कर्म कहते हैं।

प्रश्न—कर्म क्यों होता है ? उत्तर—जब तक हृदय में किसी प्रकार की विलासिता जीवित है तब-तक ही शुभ तथा अशुभ कर्म में रुचि होती है।

विलास का अन्त होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं और फिर कर्म में रुचि बिलकुल नहीं होती और त्याग आजाने पर हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि किसी का त्याग ही दूसरे का प्रेम हो जाता है।

प्रश्न—कर्म किस प्रकार करना चाहिये ? उत्तर—कर्म को विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप उत्पन्न होता है। अर्थात् कर्म में रुचि नहीं होती।

त्याग और कर्म में यही भेद है कि त्याग संसार के चढ़ाव (मूल) की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके नदी के कारण को जान लेता है उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है।

कर्म का फल

जिस प्रकार नदी के बहाव की ओर जाने वाला महासागर में डूब कर बार-बार उसी पानी में चक्कर लगाता है, अर्थात् नदी के कारण को नहीं जान पाता, उसी प्रकार कर्म करनेवाला घोर संसार में चक्कर लगाता है परन्तु संसार के कारण को नहीं जान पाता।

वे कर्म तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् पूर्व काल के संग्रह (संचित) हुए, भविष्य में होने वाले कर्म आगामी हैं।

उन संचित कर्मों में से पके (फल देने वाले) प्रारब्ध कर्म अब भोगे जाते हैं। वह प्रारब्ध, कोमल तीव्र, और तीव्रतर तीन प्रकार की होती हैं। शीघ्र मिटने वाली कोमल, बहुत यत्नों से मिटने वाली तीव्र और किसी उपाय से दूर न होने वाली तीव्रतर प्रारब्ध भोग कर मिटती है, जैसे असाध्य रोग। संचित और आगामी कर्म ज्ञान से नाश होते हैं।

इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है।

श्रीयुत् पं० श्री झावरमल्लजी शर्मा 'कर्म तत्त्व' के विषय में निम्न प्रकार वर्णन करते हैं:—

जीव कर्मों के बन्धन में बंधा हुआ है। वास्तव में जीव भी क्रमोन्नति के मार्ग में सहायक उसके

अपने ही कर्म हैं। कर्म के तीन भेद हैं—(संचित) (२) क्रियमाण और (३) प्रारब्ध।

जन्मान्तर में किये हुए कर्मों के समूह को संचित कर्म कहा जाता है। आगे भोगने को जो कर्म वर्तमान में किये जाते हैं, उनका नाम क्रियमाण कर्म है। जीव के जन्मान्तर में कृत (संचित) कर्मों में से जितना भोग इस जन्म के लिये छंट कर आरम्भ हो जाता है—वह प्रारब्ध है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इस जन्म के जिस कर्म भोग का प्रारम्भ होगया वह प्रारब्ध कहाता है। प्रारब्ध का भोग जीव को भुगतना ही पड़ता है। संचित कर्म चाहे कितने ही बड़े पर्वत समान हों, ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म वर्तमान शरीर के रहने तक रहते हैं। रहा क्रियमाण कर्म—इस सम्बन्ध में शास्त्र का आदेश यही है कि स्वार्थबुद्धि से कोई कर्म नहीं करना चाहिये। यह मोटी बात कि सांसारिक अभिलाषाओं को लेकर कर्म करना चाहिये ही बन्धनरूप है। यथा—

श्लोक—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

अर्थात् जो आशा के दास हैं, वे सब (लोक) के दास हैं और आशा जिनकी दासी है, सब उनके दास—आज्ञानुवर्ती के समान हो जाते हैं। आशाएँ किंवा अभिलाषाएँ सांसारिक स्वार्थबुद्धि से होती हैं। वस्तुतः स्वार्थ शरीर में आत्मबुद्धि करने से आता है और शरीर में आत्मबुद्धि होने का कारण अविवेक है। इसलिये विवेक पूर्वक कर्म करने चाहिये।

निष्काम कर्म

ईश्वर अर्थ समत्व बुद्धि से अर्थात् आसक्ति और फल की इच्छा को त्यागकर कर्त्तव्य कर्म के आचरण को निष्काम कर्म कहते हैं। कर्म सभी दोष युक्त हैं पर दोष कर्म में नहीं, उनके फल अर्थात् बन्धन में है, पर कर्म का त्याग करना अति दुर्लभ है। कोई भी मनुष्य क्षण मात्र बिना कर्म किये नहीं रह सकता लेकिन कर्मों के फल अर्थात् पाप पुण्य के बन्धन से बचने की यह युक्ति है कि सम्पूर्ण कर्म समत्व बुद्धि से अर्थात् कामना और आसक्ति से रहित होकर फल की आशा और इच्छा को त्यागकर निष्काम भाव से किये जावें किन्तु अपना कर्त्तव्य समझ कर मनुष्य कर्म करे परन्तु कर्म के फल की ओर दृष्टि न दे। समत्व बुद्धि को प्राप्त हुए मनुष्य को कर्म नहीं बांध सकते, उसको सांसारिक दुःख नहीं व्याप सकता, उसे यह सर्वदा रहने वाली उपाधि वश नहीं कर सकती। समत्व बुद्धि अर्थात् निष्काम भाव से किये हुए कर्म का बन्धन करने वाला फल नहीं होता और इस भाव से किया हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता वह अन्तःकरण को अवश्य शुद्ध करता है जिससे बुद्धि निर्मल हो जाती है, फिर ज्ञान उपजता है, और विचार द्वारा मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है।

शास्त्र विहित कर्म निष्काम भाव से किये हुए सात्विक, रागद्वेष सहित किये राजस, तामस मोह से किये निन्दित कर्म नाम से हैं। सात्विक कर्म परमार्थ के सहकारी, राजस सुख-दुःख का हेतु और तामसी केवल

दुखदाई होते हैं। शुद्ध भावों और शास्त्रों के अनुसार विधि सहित की हुई चेष्टायें सफल व उन्नति कर देती हैं। अन्यथा विपरीत फल देती हैं। इसलिये मनुष्य मात्र को चाहिये कि अपने वर्णाश्रम के कर्त्तव्य निष्काम हो कर किया करें।

जब तक मन में बुरे भाव व खोटी प्रवृत्ति रहती है तब तक जानों उस मनुष्य में तीनों द्वेष अर्थात् मल विक्षेप और आवरण विद्यमान हैं। खोटे कर्म व प्रवृत्ति को त्याग शुभ क्रियाओं को करते २ शेष अपने पुत्र व धन और स्त्री आदि पदार्थों से जब तक प्रेम रहता है तब तक उसके मन में दो दोष रह जाते हैं परन्तु उपासना करने पर उन सब पदार्थों में अधिक राग नहीं रहता किन्तु उनको बन्धन रूप जानता है तब आत्म (स्वरूप का आवर्ण पर्दा) यह एक दोष रह जाता है वह ज्ञान से दूर होता है। जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता तभी तक साधनों के आचरण की आवश्यकता रहती है।

यह बात कदापि न भूलना चाहिये कि कर्म के द्वारा ही मनुष्य निष्काम हो सकता है। कर्म त्याग के द्वारा नहीं हो सकता यह सिद्धान्त सब उपनिषदों की सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता में पूर्णरूप से सिद्ध कर दिया है। इसीलिये मुनिगण भी नैषकर्म सिद्धि के पहिले कर्मों का आचरण करते हैं, क्योंकि (निष्काम भाव से) कर्म करने वाला पुरुष प्रायः निरीहता (प्राप्त कर) ही सकता है। निष्काम कर्म ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन! निष्काम कर्मों से सकाम कर्म तुच्छ हैं, निष्काम कर्मों का फल महान् होता है, उससे बुद्धि सम हो जाती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है, ज्ञान उपजता है और मनुष्य ब्रह्मरूप होजाता है, पर सकाम कर्म अल्प फल देने वाला है। यदि परमानन्द प्राप्ति की इच्छा है और चाहना है, तो निष्काम कर्म करो"।

"निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले जिन सज्जनों के पाप नष्ट हो जाते हैं, वे राग-द्वेष आदि द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त हुए और दृढ़ निश्चय वाले मनुष्य आत्मा को सब प्रकार से भजते हैं। ऐसे प्रेमियों का योग क्षेम आत्मा स्वयं प्राप्त कर देता है।"

मनुष्य के कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले अत्यन्त प्रबल शत्रु राग-द्वेष ही हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य कर्मबन्धन में फंसता है। कर्मयोगी इनसे रहित होकर भगवदर्थ कर्म करता है, अतएव वह भगवान की दया के प्रभाव से अनायास ही कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

सारांश—मनमें राग-द्वेष का होना ही यथार्थ में कर्म है। यही मौलिक कर्म है। अविद्या से अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से अहङ्कार और अभिमान होते हैं, अभिमान से राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष से कर्म, कर्म से शरीर मिलता है और शरीर से दुःख प्राप्त होता है। यही सात कड़ियों के द्वार बंधन की शृङ्खला है। यही दुःख की शृङ्खला है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा इनके मूल अविद्या को ही नष्ट करना चाहिये, सारी कड़ियां छिन्न-भिन्न हो जांयगी। मुक्ति ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होती है।

२—उपासना।

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नाम ! स्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणि समन्ताद्भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपिहि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति ॥

'हे भगवन्नाम ! तुम्हारे दो रूप हैं; एक वाच्य और दूसरा वाचक। तुम वाचक हो और भगवान् तुम्हारे वाच्य हैं। यद्यपि दोनों ही अभिन्न, एक तत्त्व हैं, तथापि वाच्य भगवान् की अपेक्षा उनका वाचक 'नाम' अधिक दयालु है। जो जीव भगवान् के सामने अनेकों अपराधों के अपराधी हैं, वे केवल मात्र मुख द्वारा नाम की उपासना करके अर्थात् नाम-कीर्तन करके निरपराधी हो जाते हैं एवं भगवान् की कृपा प्राप्त करके आनन्द-सिन्धु में निमग्न हो जाते हैं।'

मनुष्य स्वभाव ही से किसी न किसी का उपासक है। इसमें उपासना वृत्ति नैसर्गिक है कृत्रिम नहीं, विद्वानों ने जङ्गली जातियों में भी उनके बुद्धि विकास के अनुसार उपासना वृत्ति का अस्तित्व देखा है। इतिहास के मन्दिर में प्रविष्ट होकर किसी जाति के यदि पुरातन से पुरातन वर्ष-पत्र को निकाला जाय, तो उसमें ऐसा एक भी दिन न मिलेगा, जबकि वह उपासना शून्य थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य मण्डल को मृत्युलोक में अवतार धारण करते समय ही उपासना वृत्ति के तार में पिरो दिया गया है, कि कहीं यह अमरलोक से विमुख न हो जाय और इसका अनन्त के साथ सम्बन्ध बना रहे। सूर्यदेव जिस प्रकार अपने से बिछुड़े हुए ग्रहों को अपने आकर्षण द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं, इसी प्रकार परमात्मदेव अपनी अपार दया से परमपद से पतित मायाभिमुख प्राणी को अपनी ओर खींचते हैं, और यह आकर्षण परम सुख की प्राप्ति की आकांक्षा के रूप में सब मनुष्यों में प्रत्यक्ष है। तीन गुणों से मिश्रित सृष्टि में, धूप छाया की भांति परिवर्त्तनशील जगत् में परम सुख की प्राप्ति मानना 'मृगतृष्णा' है। क्योंकि दृश्य पदार्थ देश और काल से घिरे हुए हैं, इसलिये अल्प हैं परम नहीं। जो वस्तु अल्प है उससे परम सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? परम सुख की प्राप्ति और परमानन्द की उपलब्धि तो देश काल से ऊपर परम प्रभु परमात्मदेव ही के लाभ से हो सकती है अन्यथा नहीं। इस समझ को सन्त लोग आत्मिक विवेक कहते हैं। आत्मिक विवेक युक्त विवेकी भक्तजन परम सुख की प्राप्ति के लिये परमात्मदेव का जो ध्यान आराधन और चिन्तन करते हैं वही परम पावनी उपासना है।

वेदान्त में उपासना एकही बताई है; क्योंकि उपासना के प्रकार का और उपास्य के गुणों का भेद होने पर भी विद्या एक ही है। वेद विद्या की एकताको दिखलाता है। वेद की सब शाखाओं में भी विद्या की एकता है। शब्द ब्रह्म रूप शास्त्रमें कुशल और ज्ञान विज्ञान में तत्पर हुआ बुद्धिमान पुरुष शास्त्र का अभ्यास करके और 'वेदों की भिन्न २ शाखाओं में ज्ञान एक ही प्रकार है' ऐसा जानकर, सब शाखाओं का त्याग करता है और 'सब शरीरों में आत्मा गुप्तरूप से रहता हुआ है ऐसा जान कर अन्तःकरण से सदा आत्मा का चिन्तन

करता है। जिसमें उपास्य का अभेदरूप से चिन्तवन किया जाता है, वह 'अहंग्रह' उपासना है। जैसे शास्त्र और गुरु से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार सुनकर ब्रह्म जो उपास्य और उपासना करने वाला जीव जो उपासक है, उन दोनों को तत्वरूप से एक करके किया हुआ चिन्तवन 'अहंग्रह' उपासना है। इस उपासना में उपास्य से उपासक की सत्ता का प्रथम भाव नहीं होता। यह उपासना मुख्य है। दूसरी उपासना तटस्थ कही जाती है, इस उपासना में एक पदार्थ-वस्तु का शास्त्र विधि के अनुसार अन्य प्रकार से चिन्तवन किया जाता है, जैसे शालिगराम की बट्टियों में विष्णु का ध्यान करना, यह सगुण है और ॐ में ब्रह्म का चिन्तवन करना निर्गुण है। दूसरे शब्दों में:—

'भगवान् के चिन्तन, पूजन, गुणकीर्तन, जप आदि का नाम उपासना है। उपासना काण्ड का अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरण की वृत्तियों को साधन के द्वारा निरुद्ध कर परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करना है, तरंग रहित जलाशय में जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है; चित्त की वृत्तियां निरुद्ध होते ही दृश्य प्रपंच के दृष्टा परमात्मा का स्वरूप वैसा ही अन्तःकरण में दिखाई देने लगता है। इस विज्ञान का विस्तृत विवरण ऋषि पातंजलि कृत योग दर्शन के सूत्रों में पढा जाता है।

उपासना और भक्ति दोनों शब्दों का अर्थ सेवा, परिचर्या, शुश्रूषा है। उपासना का प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीर में प्राण न रहने से जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती वैसे ही भगवत्भक्ति रहित योग नट का खिलवाड़ होजाता है शरीर के अभाव में प्राण के रहने का कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशा में प्राण का अस्तित्व ही संभव नहीं रहता। इसी विज्ञान के अनुसार भक्ति और योग का उपासना काण्ड के साथ सब साध्यों में अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है

भगवान् के स्वरूप में जो चित्त की एकाकारिता है उसको भक्ति कहते हैं अर्थात् भक्ति वह है कि जिससे पूज्य विषय के अतिरिक्त और कुछ अच्छा न लगे, यहां तक कि केवल उसके और कुछ न भासे। यही उपासना का स्वरूप है कि आप को सर्वथा विस्मरण करके उपास्य रूप हो जाना—भक्ति और उपासना की परिपक्वता का चिन्ह सजातीय प्रत्ययों का तिरोधान है। उसी को ध्यान कहते हैं जब अन्त में उपास्य और उपासक में भेद नहीं रहता और एकाकार वृत्ति होने से सब वृत्तियां लय हो जाती हैं तो फिर कोई वृत्ति नहीं रहती और वही निर्विकल्प समाधि है। यही सब शास्त्रों का सिद्धान्त है।

उपयुर्क्त कथन से उपासना दो प्रकार की प्रसिद्ध है—प्रतीक और अहंग्रह अर्थात् सगुण और निर्गुण।

प्रतीक उपासना में बाहर के पदार्थों में पदार्थ दृष्टि हटाकर ब्रह्म को देखना होता है, अहंग्रह उपासना में अपने भीतर जो अहं वा ममता कल्प रक्खी है, उससे पल्ला छुड़ा ब्रह्म ही देखना होता है।

यहां तक तो हुई उपासना वा भक्ति की पारिभाषिक व्याख्या, अब हम इनकी विशेष व्याख्या के प्रथम यह जतलाना चाहते हैं कि इस मार्ग के पथिक को अभ्यास में क्या क्या बाधायें (रुकावटें)

प्राप्त होती हैं। साधन करने से प्रथम और इस मार्ग पर पांव रखने से पहिले रुकावटों का जानना अति आवश्यक है। ये बाधायें हर एक मनुष्य को सताती हैं और उसको आगे बढ़ने से रोक लेती हैं। अतः हर एक अभ्यासी को इनका जानना अनिवार्य है। इन बाधाओं का विवरण महर्षि पतंजलि ने इस प्रकार किया है:—

बाधायें।

१—अभ्यास करने वाले के लिये सबसे बड़ी रुकावट "व्याधि" (बीमारी) है।

रोगी मनुष्य का ध्यान किसी प्रकार एकाग्र नहीं रह सकता। ध्यान करने में हृदय और मस्तिष्क पर ज़ोर पड़ता है। अगर किसी रोग के कारण यह दोनों निकम्मे और अशक्त हो रहे हों तो मनुष्य को इस ओर का विचार बिलकुल छोड़ देना चाहिये। उसके लिए बस इतना ही उचित है कि बाहिरी नाम का जप-जिह्वा से करता रहे और गुरु की देखी भाली सूरत का चिन्तन रक्खै और जब रोग रहित हो जावे तब किसी आन्तरिक साधन में चित्त दे।

२—दूसरी बाधा महर्षि ने "स्त्यान्" बतलाई है कि जिसमें मनुष्य इस प्रकार के विचार किया करता है कि "हमारा वह काम पूर्ण हो जाय तो फिर अवकाश पाकर भजन करेंगे। फिर हमको झंझट नहीं रहेगा"। और इसी भांति सोचते २ सारी आयु अथवा उसका बड़ा भाग-व्यर्थ निकाल देता है। क्योंकि संसार के काम न कभी पूर्ण हुए और न होंगे। यदि एक से निबट गये तो झट दूसरा सामने आगया। इसका उपाय यही है कि सोच विचार छोड़ कर एक साथ ही कार्य में लग जाय और साथ २ सांसारिक काम भी अपने संभाले रखे। क्योंकि न मालूम मृत्यु किस समय आकर हमको दबोचले और हम सोचते सोचते ही चले जांय। यह बाधा इस मार्ग में प्रवेश होने से पूर्व की अवस्था है।

३. तीसरी बाधा संशय है। जिनको हम गुरु करना चाहते हैं यह न मालूम कैसे महात्मा हैं, जो कुछ बतलायेंगे वह हम से न जाने हो सकेगा वा नहीं, इनके मार्ग पर चलें अथवा अमुक ग्रंथ में सम्मिलत हो कार्य करें इत्यादि। ऐसे विचार 'संशय' कहलाते हैं।

४. चौथे प्रमाद—जब शंका और संदेह से भी निवृत्ति हो कर हम किसी महान् पुरुष के उपदेशानुसार साधन करने लगते हैं तो कभी २ नियम पालन करने की सुधि ही नहीं रहती। जो समय हमने अपने अभ्यास या भजन के लिए नियत किया था उस समय उसके करने की स्मृति ही नहीं आती। यह "प्रमाद" कहलाता है। जो लोग अपने लिये समय-सूची नहीं बनाते अथवा पूर्णतः या नियम के साथ उसका पालन नहीं करते वह "प्रमादी" कहलाते हैं। ऐसों को कभी किसी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती।

५ पाँचवे आलस्य—याद तो है कि यह हमारे भजन का समय है परन्तु तमोगुण के वशीभूत हुए पड़े २ चारपाई पर ही करवट बदल रहे हैं। उठा ही नहीं जाता, इसको "आलस्य" कहते हैं। आलसी मनुष्य कभी योग नहीं कर सकता।

६. छठे अवरति—सुधि भी है, आलस्य भी नहीं है, परन्तु एक मित्र बैठा हुआ गप्प लड़ा रहा है, अथवा ताश या शतरंज की बाज़ी डट रही है और मन उस समय उसमें ऐसा लिप्त हो रहा है कि उसको छोड़ना ही नहीं चाहता। चाहे भले ही अभ्यास या सत्संग का समय निकल जाय, परन्तु अभी थोड़ी देर इसका चसका तो ले ही लें इसको शास्त्र "अवरति" कहते हैं।

"अवरति" के मारे हुए अनेक अभ्यासी पतित होते देखे गये हैं। जैसे मशक़ का एक छोटा सा छिद्र ही आगे चलकर बड़ा हो जाता है और उसके सारे पानी को अपने द्वारा निकाल देता है वैसा ही इसका हाल है। इस विघ्न का सामना हिम्मत के साथ करो तब पूरा पड़ेगा। साथियों से कहदो कि आप अमुक समय के लिये हमको क्षमा करें यह हमारे भजन का समय है। उससे निवृत्त हो कर फिर आपकी सेवा करेंगे। यदि इस पर कोई बुरा माने और आपको उससे रोकने की कोशिश करे तो ऐसों की मित्रता को तिलाञ्जलि दे दो। क्यों कि वह मूढ़-स्वयं दुःख रूपी गढ़े में गिरेगा और तुमको भी साथ ले जायगा।

शास्त्र कहते हैं कि माता, पिता, स्त्री और भ्राता इत्यादि सम्बन्धी भी यदि अच्छे कर्म करने से तुमको रोकें तो उनका कहना न मानना ही "धर्म" है। ७ वां "भ्रान्तिदर्शन" है, यह विघ्न पढ़े लिखे आदमियों को तथा उन लोगों को जो बहुत से साधु-संतों की संगत में बैठते रहते हैं सताता है। ऐसों के हृदय में श्रद्धा और विश्वास बड़ी कठिनाई से आता है। यह लोग गुरु के उपदेश को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसा करते हैं और अपनी पढ़ी पढ़ाई वा सुनी सुनाई बातों से उसका मिलान किया करते हैं। यदि उनके पिछले जाने हुए शब्दों के अनुसार ही इनका कथन हुआ तब तो बड़ाई उनके हृदय में कुछ कुछ आई, नहीं तो दृष्टि से गिर गये। ऐसे पढ़े लिखे और जाने बूझे मूर्खों को यह ब्रह्मविद्या कठिनता से आती है। भला पुस्तकों को पढ़के अथवा सुन सुनाके कोई आज तक हकीम या वैद्य अथवा डाक्टर बन सका है। गुरु ने जो साधन तुम्हारे लिये बताया है उस पर विश्वास के साथ साधना करना चाहिये क्योंकि गुरु लोग साधक की अवस्था और संस्कार पर धयन देकर तब उसके लिये कर्म नियत करते हैं, यह उनका परीक्षा किया हुआ और अपनी बुद्धि से ही निकाला हुआ तुम्हारे लिए अनुभूत योग है; तुम इसको पुस्तको में ढूंढ़ते हो सो कहाँ मिलेगा। इस अज्ञान को छोड़ो और कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। यदि थोड़े दिनों के साधन से तुम्हारे भीतर किसी प्रकार का परिवर्तन न हो और तुम्हारे स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन होता हुआ न मालूम दे तो उसको छोड़ दो। यही इसकी परीक्षा है। व्यर्थ में समय नष्ट न करो।

आजकल के अधिकारी अधिकतर "भ्रान्तिदर्शन" में फंस के रह जाते हैं। "संशय" और "भ्रान्तिदर्शन" यह दोनों बहुत बड़े विक्षेप हैं। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है वही इन दुष्टों से बच पाता है नहीं तो यह दानव अनेकों को ग्रास बना डालते हैं।

८. आठवाँ, अलब्ध भूमिकत्व है। इसके अर्थ हैं कि जो स्थान धारणा के लिये गुरु ने बतलाया है उसको दिल पसन्द ही नहीं करता। गुरु कहते हैं कि तुम्हारे लिये इस समय हृदय देश में मन ठहराना लाभदायक होगा और सीखने वाला कहता है कि "साहब! वहाँ तो मेरा चित्त उलझता है परन्तु ब्रह्मांडी स्थानों में चित्त बहुत लगता है? यह बड़ी भूल है। इससे बड़ी हानि होती है। वैद्य कहै मूंग की

दाल खाना और रोगी कहे कि मैं तो रतालू की भाजी खाऊँगा क्योंकि मेरे मन को अच्छा लगता है। ऐसा रोगी कब अच्छा हो सकेगा।

९. नवीं रुकावट "अनवस्थि तत्व" है। यह चंचलता की अवस्था है। मन ठहराने को भूमि तो हमने नियत करली, परन्तु मन ठहरता ही नहीं है, चलायमान रहता है। जब तक ऐसी दशा रहेगी—साक्षात्कार नहीं हो सकेगा। उद्योग करने से यह हालत दूर हो जाती है।

१०. दसवाँ "दुःख" है। अधिक कष्ट के समय भी मन नहीं ठहरता। कहावत है कि 'भूखे भजन न होइ गुसाईं।" जिस समय चारों ओर से विपत्ति ने घेर लिया हो अथवा उद्योग पर आघात पहुँचा हो उस समय निश्चित होकर ध्यान जमाना बहुत कठिन है यह भी अभ्यासी को रोकता है। ऐसे समय स्मरण और प्रार्थना करना ही लाभदायक होता है।

११. वाँ "दौर्मनस्य" अवस्था है! हृदय में किसी बात की प्रबल इच्छा हो और वह इच्छा किसी कारणवश पूर्ण न हो सकी तो चित्त में कभी २ बड़ी ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। उस समय भजन पूजन ईश्वर और गुरु की ओर से थोड़ी देर के लिए मन एक दम खिंच जाता है, विश्वास में कमी होकर यह सब बातें थोथी जान पड़ती हैं। अथवा किसी दुष्ट ने कुछ आघात पहुँचाया, हम उसको उसके कर्म का दण्ड देना चाहते हैं परन्तु कुछ बन नहीं पड़ता उसका बोल-बाला ही रहता है और हम बराबर दबते चले जाते हैं। उस समय अन्तःकरण में बड़ा ही क्षोभ होता है और हम अपने इन कर्मों को व्यर्थ समझने लगते हैं। इस अवस्था को "दौर्मनस्य" कहते हैं। यह ग्यारहवीं रुकावट है जो अभ्यासियों पर आया करती है।

१२. वाँ विघ्न "अंग में जयत्व" है। इसके अर्थ हैं "शरीर के भागों को हिलाते रहना।" जब हम अभ्यास के लिए बैठें तो इतने स्थिर बैठें कि शरीर का कोई भाग हिलने न पाये। साधना करने से ऐसा हो जाता है। पहिले पहल थोड़ा कष्ट प्रतीत होता है परन्तु यत्न करने से धीरे २ आसन दृढ़ हो जाता है। अभ्यास के लिए आसन का दृढ़ होना बहुत आवश्यक है। जब तक एक आसन पर थोड़ी देर बैठने का अभ्यास नहीं कर लोगे तब तक मन को कभी न रोक सकोगे। क्योंकि शरीर के हिलते ही मन भी डावांडोल हो जाएगा। मन और शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध है। यह भी ध्यान करने वालों के लिये एक बड़ी रुकावट है कि जिसको शास्त्र "अंग में जयत्व" कहता है।

यह बारह प्रकार के विक्षेप हर एक साधना करने वाले पर कभी न कभी आया करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति क्यों करनी चाहिये। इसका संक्षेप में समाधान यह है कि भक्ति की किसी को आवश्यकता नहीं हैं किन्तु भक्ति करना प्राणी मात्र का गुण है। यहाँ एक भी जीवधारी मनुष्य से लेकर पशु, पक्षी, चींटी, हाथी और वृक्ष व लताओं तक नहीं पाया जाता कि जो भक्ति से रहित हो। जैसे पुष्पों में सुगंधि रहती है और यह अकारण ही अपनी सुगंधि फैंकते रहते हैं अथवा पानी की नदियाँ स्वाभाविक ही अपने मूल भंडार समुद्र में मिलने को उत्सुक रहती हैं वैसे ही प्राणियों में भक्ति रहती है।

सरल भाषा में भक्ति के अर्थ हैं— मेल-मिलाप, सेवा, और बंदगी। संसार की कोई भी वस्तु इनसे अलग नहीं है। यहाँ प्रत्येक परमाणु एक दूसरे से गुंथा हुआ है। वृक्ष और बेलें आपस में लिपट रही हैं, परिंदों ने अपते २ जोड़े बना लिये हैं, पशु भी अपने बच्चों और अपनी जातिवालों से प्रेम करता है फिर मनुष्यों की क्या गिनती है। इसने तो सैकड़ों के प्रेम को अपने मन में रख छोड़ा है और उसी के वशीभूत होकर सब की सेवा किया करता है। इसी सेवा और प्रेम को "भक्ति" कहते हैं। भक्ति करना तो मनुष्य का स्वाभाविक गुण है परन्तु मनुष्य अपने अज्ञान से और भ्रम से भक्ति करने में भूल कर जाता है। यही भक्ति रूपी अमोघ शक्ति किस कार्य के लिए हमको दी गई थी और हम मूर्खतावश उसका उपयोग कर रहे हैं। उचित था कि इस शस्त्र के द्वारा मायावी दैत्यों को मारकर हम अपने लिए अखंड सुख और अनुपम आनन्द को प्राप्त करें, परन्तु हमने मिट्टी के एक नाशवान पुतले को अपना लक्ष्य बनाया है और दिन रात उसी लक्ष्य के बेधने में अपनी सारी शक्ति लगा डालते हैं। भक्ति ऐसे आनन्द और सुख की प्राप्ति के लिये है कि जिसका कभी नाश ही न हो।

भक्ति की विशेष व्याख्या

भक्ति शब्द का साधारण अर्थ है अनुराग, प्रीति, रति, आसक्ति, प्रेम, स्नेह अनुरक्ति। इस शब्द का प्रयोग ईश्वर - भक्ति के ही ❀ अर्थ किया जाता है। मन में जब भिन्न अर्थ होता है, तब दूसरे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, जैसे:— देशभक्ति गुरुभक्ति, अन्धभक्ति इत्यादि।

भक्ति की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकता कठिन है। यह आस्तिकता का प्रकट चिन्ह, गूँगे का मिष्टान और अनुभव गम्य वस्तु है। इसे जन्म-मरण की अमोघ औषधि भी कहते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है कि जिसमें जीव 'चेतन, अमल, सहजसुखराशी' दशा में पहुँच कर स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप बन जाता है— इस अवस्था में आत्मोद्धार और जगतोद्धार एक ही बात हो जाती है। जो सज्जन निष्काम भाव से परमात्म चिन्तन में निरन्तर लीन रहते हैं, वे ही भक्ति, भक्त और भगवान् हैं अथवा साधन, साधक और साध्य का— थोड़ा बहुत रहस्य बतला सकते हैं। इसीलिये परमार्थप्रेमी साधकों और जिज्ञासु व्यक्तियों को सद्गुरु की आवश्यकता होती है। भक्ति परमात्मा की कृपा शीघ्र प्राप्त करने का एक सुगम मार्ग है।

तंत्रसार में वर्णन किया है कि "भक्ति" शब्द का प्रथम अक्षर "भ" यह भवरूप संसार के दुःखों को दूर करता है। और दूसरा अक्षर "क" यह (मुमुक्षओं को) सर्वदा कल्याण अर्थात् परमानन्द स्वरूप में लुब्ध करता है। और तीसरा अक्षर "ती" यह तीव्र ज्ञान की प्राप्ति करता है। इस कारण राजस, तामस अर्थात् मध्यम और कनिष्ट भक्ति को त्याग कर उत्तम सात्विक भक्ति का ही आश्रय करना चाहिये। वह उत्तम भक्ति यह है कि परमात्मा को सर्व चराचर में व्यापक और वर्तमान देखकर सब स्थावर जंगम को भगवन्मय जानना और पूर्ण ब्रह्म श्रीराम, कृष्णादि के सगुण स्वरूप और दिव्य गुणों में लवलीन होकर

❀ शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है:— 'सा च परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में पूर्ण निरन्तर और निष्केवल अनुरक्ति का रहना ही भक्ति है।

अपनी (जीवात्मा) और परमात्मा की एकता कर अपने २ श्रीरामादि इष्टदेव के समान ही सर्व सामर्थ्यमय ब्रह्म शक्ति से सम्पन्न हो जाना। परन्तु ऐसी अद्वैत भक्ति प्राप्त होना सद्गुरू के बिना बहुत ही दुर्लभ है।

द्विधा भक्ति।

भक्ति दो प्रकार की बतलाई गई है; (१) अपरा (अर्थात् गौणी) और (२) पराभक्ति (अर्थात् निर्गुण मुख्या, नित्या, ज्ञानमय, अद्वैतात्मदर्शी)। कोई कोई शास्त्रकार भक्ति के तीन भेद बतलाते हैं, जैसे (१) वैधी (अर्थात् साधन भक्ति), (२) रागात्मिका (अर्थात् भावभक्ति) और (३) परा (अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति)।

भक्त चार प्रकार के होते हैं १—आर्त, २—अर्थार्थी, ३—जिज्ञासु और ४—ज्ञानी। आर्त्त का अर्थ है दुःख से अत्यन्त पीड़ित। अर्थार्थी भक्त कुछ मनोरथ, स्वार्थ, वासना और कामना रखकर ईश्वर की उपासना करता है। जो तत्त्व को जानने— समझने और प्राप्त करने की धुन में श्रद्धापूर्वक लगा हो उसे जिज्ञासु कहते हैं, इनमें किसी भी प्रकार का भक्त होना और साधनलीन रहना भाग्योदय का चिन्ह है। ज्ञानी भक्त संसार में रहकर भी संसार में अलिप्त रहता है— सारे कर्म करता हुआ भी फल कामना और आसक्ति से दूर रहता है।

अपने कष्टों को दूर कराने की इच्छा रखने वाले भक्त, ज्ञान प्राप्त करने की पवित्र इच्छा रखकर सद्गुरु-सेवन अथवा शास्त्र – सेवन करने वाले भक्त, और धन, पुत्र, कलत्र, कीर्ति आदि का अर्थ रखकर सहेतुक भक्ति करने वाले भक्त कुछ निजी हेतु और तात्कालिक स्वार्थ-के लिये परमात्म चिन्तन करते हैं। अतएव इनकी सकाम भक्ति अ—परा (अनित्य, अप्रधान, गौणी) कहलाती है। यह भक्ति की प्रारम्भिक अथवा अभ्यास की सीढ़ी है— इस अवस्था की भक्ति अवनति कारक और अस्थायी रहती है। वैधी अवस्था में साधक— भक्त शास्त्र और गुरु के बताये हुए विधि-निषेध अथवा कर्तव्य – अकर्तव्य के नियमों को सहायता से अभ्यास किया करता है। जो अद्वैतज्ञानी भक्त ईश्वर को ही अपना सर्वस्व मानता है, जो ईश्वर सेवा को ही परम लाभ समझता है, परमार्थ और परोपकार ही जिसका दैनिक स्वार्थ बन जाता है, उसकी भक्ति परा भक्ति कहलाती है। यह भक्ति की अन्तिम सीढ़ी है— यह साधकों में नहीं, केवल सिद्ध पुरुषोंमें पाई जाती है। इस अवस्था की भक्ति में पूर्णता, निर्मलता, अनन्यता, तन्मयता और विश्वरूप परमात्मा से भक्त की मनसा - वाचा - कर्मणा एकता पाई जाती है। इस अवस्था में अज्ञान, अविवेक, अविश्वास, मोह, भय, संशय, स्वार्थ और भेद-बुद्धि का अस्तित्व थोड़ा भी नहीं रहता। भक्ति की प्रारम्भिक और अन्तिम सीढ़ियों के बीच में एक मध्यवर्ती सीढ़ी है जो 'रागात्मिका' कही जाती है अर्थात् जिस अवस्था में ईश्वर-भक्ति कुछ अधिक विकसित दशा में और निरन्तर (परन्तु परा-भक्ति की अवस्था से कम) पाई जाती है।

रामायण में ❀ स्वयं रामजी ने शबरी से नवधा-भक्ति (नौ प्रकार की भक्ति) का वर्णन किया है, वह यहां पर ध्यान देने योग्य है। भक्ति के राम द्वारा प्रतिपादित नौ अङ्ग ये हैं:—

❀ 'कलि विशेष नहिं आन उपाऊ' (रामायण)

१. सत्संग, १. हरिकथा, ३. श्रवण, ४. सद्गुरु-सेवा, ५. कीर्तन, ६. दृढ़ विश्वास-पूर्वक जय, ७.इंद्रिय-दमन और परोपकार, ८. अद्वैत भाव, ९. सन्तोष परछिद्रान्वेषण से अलिप्तता और समबुद्धि पूर्वक चराचर विश्व से सरल व्यवहार। इसी रामायण में लक्ष्मण जी के पूछने पर श्रीराम जी ने एक दूसरे प्रकार की नवधा भक्ति का वर्णन और किया है। यह वर्णन पञ्चवटी निवास के समय अरण्य काण्ड में मिलता है। यहाँ उसी नवधा भक्ति (श्रवण कीर्तन .....) की ओर संकेत किया गया है जिसकी चर्चा श्री मद्भागवत में है। दो प्रकार की नवधा भक्ति के वर्णन में कुछ आशय होना चाहिये। वह आशय यह दीखता है कि प्रथम प्रकार की भक्ति का मूल पूर्ण विरक्ति है, और दूसरे प्रकार की नवधा भक्ति में (लक्ष्मण जी का) पूर्ण अनुरक्ति मूलक भक्ति योग है-परन्तु दोनों प्रकार में देव दुर्लभ परम पद प्राप्त करा देने की शक्ति है।

भक्ति के बिना सारे अनित्य सुख फीके हैं और ईश्वर के लिये दृढ़ अनुराग होना 'सकल सुकृत का फल' है। भक्त के पास परम प्रकाश रहता है, उसे मानस रोग (काम, क्रोध,लोभ, मोह, मद, मत्सर) सता नहीं सकते, वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा जाता है। तात्पर्य यह है कि चिरंतन सुख परम शान्ति, शीघ्र आत्मबोध और स्थायी उद्धार के लिये सुगम भक्तिमार्ग का सहारा लिये बिना काम नहीं चल सकता।

भक्ति का उदय विशेष कर ऐसे अवसरों में होता है जब कोई प्राणी अत्यन्त पीड़ित और निराश दशा में पहुँच कर चारों ओर से सताया जाता है, असहाय और निराधार बन जाता है, अत्यन्त दरिद्रता, भयंकर रोग, तीव्र अपमान और अशक्तता का आखेट हो जाता है, स्त्री-पुत्र-धन-यश आदि के नाश का शूलप्रद दृश्य देखता है अथवा जब बुद्धि, बल, धन, प्रभुता आदि का कारण टूटकर कर्ताभाव नष्ट हो जाता है। यह आर्त्त दशा की भक्ति है। अभ्युदय और ऐश्वर्य की अभिलाषा तथा रजोगुणी बुद्धि की प्रेरणा से भी किसी - किसी में भक्ति का उदय हो सकता है—स्वार्थ-साधन की इच्छा रखने वाले ऐसे सकाम भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं। ऐसी भक्ति इच्छानुसार धन, पुत्र, पद अथवा सफलता मिल जाने पर प्रायः क्षीण या नष्ट हो सकती है। स्वार्थ पूरा हुआ कि भक्ति निस्संबंध (या दूर) हुई। जो अभ्यास से, संस्कार से या सत्संग से सदाचारी, नीतिज्ञ, विषय-विमुख, विवेकी धर्मशील, जाग्रत और ऊर्ध्वगामी होते हैं उनकी गणना जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तों में की जाती है।

जब किसी में भक्ति का उदय हो जाता है, तब उसमें कुछ भीतरी और कुछ बाहरी चिन्ह भी प्रकट होने लगते हैं। ऐसा जीव एक उच्च कोटि के मानसिक सुख, तृप्ति, मस्ती और कृतकृत्यताका अनुभव करने लगता है। उससे स्थिरता और अनासक्ति आने लगती है। उसमें कुछ बाहरी शारीरिक ❀ चिन्ह भी दिखाई देने लगते हैं।

❀ जैसे शरीर में रोमाञ्च हो आना, नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आना, जिह्वा से कोई बात न निकाल कर गूंगा सा बन जाना, तत्व पदार्थ अथवा अपने इष्टदेव की ओर मूर्ख की भांति इकटक देखना, शरीर की दशा भूल जाना इत्यादि।

त्रिधा भक्ति

(१) वैधी (साधन भक्ति)

'विधिसाध्य माना वैधी सोपान रूपा'

विधि के द्वारा जिसका साधन किया जाय, वह उन्नत दशा में पहुँचने के लिये सहायकारी सोपान (सीढ़ी) रूप भक्ति वैधी है। गुरूपदेश के अनुसार विधि-निषेध के अधीन होकर वैधी के विविध अङ्गों के नियमित साधन से भक्त को उन्नत भूमिका में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है, यह वैधी भक्ति नव अङ्गों में विभक्त है। जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनम् वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, वैधी भक्ति के ये नौ अङ्ग हैं।

(१)—**श्रवणं**—श्री भगवान् की मधुर-गुण-कथाओं को सुनना भक्ति का प्रथम अंग है। इस विषय में श्रीमद्भागवत् में कहा है—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेणस्वानां भाव सरोरुहम्।
धुनोति समलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्॥

श्री भगवान् की मधुर - गुण - कथा कर्ण - रन्ध्र द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर हृदय की मलिनता को इस प्रकार धो डालती है जैसे शरद् ऋतु सरोवर के जल को परिशुद्ध कर देती है। वैधी भक्ति के प्रथम अङ्ग के सेवन से भक्त का चित् धीरे धीरे श्रीभगवान् के चरण-कमलों-में प्रवेश करने लगता है जिससे श्रीभगवान् के मधुर चरित्र - समूह के कीर्तन में उसकी प्रवृत्ति होती है।

२—**कीर्तनम्**—प्रभु के नाम-चरित्र आदि के अधिकारानुसार श्रद्धा से कथन को कीर्त्तन-भक्ति कहते हैं।

श्री भगवान् अनन्त देव की गुणावलियों के कीर्तन से उनकी मधुर मूर्ति हृदय में विराजमान होकर उसमें छिपे हुए ससस्त व्यसनों को इस प्रकार दूर कर देती है कि जिस भाँति सूर्य की किरण अन्धकार को और प्रचन्ड वायु का वेग बादल-समूह को। इस कीर्त्तन भक्ति—के विषय में भगवान् स्वयं निज मुख से कह रहे हैं कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

हे नारद! मैं न तो वैकुण्ठ में बसता हूँ और न योगियों के हृदय में ही। मेरे भक्त जहाँ मेरा नाम-गुण-गान करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।

इस प्रकार श्री भगवान् के मधुर-चरित्र और मधुर नाम कीर्तन करने से भक्त-हृदय में धीरे धीरे भगवद्भाव का उदय होने लगता है। इसके पश्चात् वैधी भक्ति के तीसरे अङ्ग में प्रवृत्ति होती है।

३—स्मरणम्—भगवत् गुणों का चिन्तन करना अर्थात् गुरुमुख से श्रवण किये हुए वाक्यों को एकान्त में बैठ श्रुति अविरुद्ध तर्क मनन करना।

श्री भगवान् के चरण-कमल का निशि-दिन स्मरण करने से अमङ्गल का नाश होता है और शान्ति, अन्तःकरण की शुद्धि, परमात्म भक्ति और विज्ञान विराग युक्त ज्ञान की वृद्धि होती है। श्रीभगवान् स्वयं श्री मुख से कह रहे हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (गीता ८।१४)

जो अनन्य चित्त होकर मेरा स्मरण करता है उस नित्य युक्त योगी के लिए मैं बहुत ही सुलभ हो जाता हूँ।

४—पाद सेवनम्—भगवान् के चरणों की सेवा करना।

भगवान् के अनन्य भक्तों का सङ्ग करने से भगवान् की चरण सेवा का तत्त्व, रहस्य और प्रभाव सुनने को मिलता है, उससे श्रद्धा होकर तब यह भक्ति प्राप्त होती है। इस चतुर्थ अङ्ग के सेवन से भक्त का हृदय कमल श्रीभगवान् की कृपा-किरणों से धीरे धीरे प्रफुल्लित हो उठता है, जिस कमलासन पर श्री भगवान् आनन्द के साथ आसीन हो जाते हैं।

जिस प्रकार श्री भगवान् के चरण-कमल से निकली हुई गङ्गाजी क्षेत्र क्षेत्र में बढ़ती हुई संसार की मलिन पाप-राशि को दूर करती है, उसी भांति श्रीभगवान् के चरण-कमलों की सेवा द्वारा अनेक जन्म जन्मान्तरीय मलिनता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार चित्त की मलिनता के नष्ट होने पर भक्त-हृदय में भगवद्भाव का प्रादुर्भाव होता है। यह वैधी भक्ति के पाद-सेवन-अङ्ग का फल है।

५—अर्चनम्—इस वैधी भक्ति के पञ्चम् अङ्ग का अर्चन है। मणि, पाषाण, मिट्टी आदि की स्थूल मूर्ति बनाकर या हृदय में मनोमयी मूर्ति बनाकर बाह्य और मानस पूजा करने का नाम अर्चन है। भक्ति-भाव के साथ इस प्रकार पूजा करने से भगवत्-प्रसन्नता प्राप्त होती है। भगवान् कहते हैं:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

पत्र पुष्प, जल, जो भी कुछ भक्ति के साथ मुझे अर्पण किया जाता है उसे मैं सादर भोजन करता हूं।

६—वन्दनम्—वैधी भक्ति के छठे अङ्ग का नाम वन्दन है। साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना।

श्री भगवान् के चरण-कमलों की वन्दना करने से भक्त के अहंकार का नाश होकर उसके हृदय में भगवद्ज्ञान का उदय होता है ।

इसके अनन्तर दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन है । वैधी भक्ति के इन अन्तिम तीन अङ्गों का साधन विहित है, यद्यपि इन तीनों का विकास वास्तविक रूप से रागात्मिक भक्ति की दशा में ही होता है तथा रागात्मिका और वैधी भक्ति की सन्धिदशा में भी अभ्यास के तौर पर इन तीनों का साधन रागात्मिका दशा की प्राप्ति के लिये किया जाता है ।

७—दास्यम्—अपने दास और भगवान् को स्वामी मानकर सेवा में तत्पर रहना ।

श्री भगवान् का दास बनकर सेवा का अभ्यास करने से अहंकार छूटकर भक्ति की प्राप्ति होती है ।

८—सख्यम्—भगवान् को अपना सखा मानकर प्रेम भाव करना । सख्य-भाव में एक प्राणता की के लिये हार्दिक प्रयत्न करने से भक्त-हृदय में अवश्य ही श्री भगवान् के प्रति पुण्यमय मधुर प्रेम का विकास होने लगता है ।

९—आत्मनिवेदनम्—आत्मा को भगवान् में निवेदन करना अर्थात् पूर्वोक्त अष्ट साधनों में शुद्ध अन्तः-करण को भगवान् के स्वरूप में लय कर देना । आत्मनिवेदन-भाव के अभ्यास से भक्त की शारीरिक तथा मानसिक सभी चेष्टायें भगवद्भावमयी ही हो जाती हैं, जिसके फलरूप में श्रीभगवान् के प्रति अपूर्व दिव्यराग का उदय हो जाता है ।

इस प्रकार नव साधनयुक्त पुरुष को भक्ति प्राप्त होती है और एक २ साधन से भी अनेक प्राणी भक्ति को प्राप्त कैवल्यमोक्ष को प्राप्त हुए हैं । राजा परीक्षित गार्गि जन्मेजय आदि श्रवण से, सनत्कुमार, नारद, शुकदेव आदि कीर्तन से, ध्रुव प्रहल्लादादि स्मरण से, भरत और लक्ष्मी चरण सेवा से राजा पृथु और अम्बरीष पूजन से,अक्रूर एवं भीष्मादि वंदन से, हनुमानादि दास-भाव से, अर्जुन और उद्धव सखा-भाव से, राजा बलि सर्वस्व समर्पण से—यह सब भक्त एक एक भक्ति साधन से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं ।

सूक्ष्म विचार करने से इस नवधा भक्ति का आत्मनिवेदन नामक अन्तिम भक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है । तीव्र भक्ति-योग के लिये यह आवश्यक है कि भक्त सर्वतोभावेन अपने को भगवान् की दया पर छोड़ दे । सच्चा भक्त अनुराग की गाढ़ता में अपने आपको सर्वथा खो बैठता है, किसी सांसारिक हेतु का आश्रय न लेकर भगवान् में जो प्रेम किया जाता है वही सब से ऊंची भक्ति है । भगवान् विष्णु की निष्काम आराधना में यह सामर्थ्य है कि उसका साधन करने वाला निर्वाणपद का अधिकारी हो जाता है ।

भगवान् के शरणागत प्रेमी भक्तों का संग सेवन करने से और उनके द्वारा भगवान् के नाम, रूप, गुण, तत्त्व, महिमा आदि का श्रवण और मनन करने से यह भक्ति प्राप्त होती है ।

भगवान् ने स्वयं इस आत्मनिवेदन रूपा शरणभक्ति का महत्व प्रकट करते हुए इसके परम फल की गीता में बड़ी प्रशंसा की है। जो पुरुष भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखों का अत्यन्त नाश हो जाता है। उसके आनन्द और शान्ति का पार नहीं रहता। भगवान् उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते। भगवान् का सर्वस्व उसका हो जाता है, वह परम पवित्र हो जाता है, उसके दर्शन, भाषण और चिन्तन से पापात्मा लोग पवित्र हो जाते हैं। वह तीर्थों के लिये तीर्थ रूप बन जाता है।

भगवान् के प्रेम का मूर्तिमान् विग्रह बने हुए ऐसे भक्त को सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है, वह जिस मार्ग में जाता है उसी मार्ग में श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, आनन्द, समता और शान्ति का प्रवाह बहने लगता है, ऐसे भक्त को अपने ऊपर धारण कर धरणी धन्य और सनाथ होती है। पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं और देवतागण नाचने लग जाते हैं।

(२) रागात्मिका (भावभक्ति)

'रसानुभाविकाऽनन्दशान्तिदा रागात्मिका'

रस अनुभव कराने वाली, आनन्द और शान्ति देने वाली भक्ति को 'रागात्मिका' कहते हैं।

आत्मनिवेदन-भाव के सम्यक् उदय होने पर साधक का अन्तःकरण रात-दिन केवल इष्ट देव श्री भगवान् के ध्यान में ही निमग्न रहने से उसका हृदय-कमल विकसित हो उठता है और श्री भगवान् के प्रति जिस समय तैलधारा की तरह अविश्रान्त अपूर्व अमृतमयी प्रेमधारा का प्रवाह बहने लगता है, जिस प्रेमधारा के मधुर आस्वादन से परितृप्त भक्त के हृदयाविन्द में श्री भगवान् विराजमान् होकर निरन्तर आत्म-रति, आनन्द, और शान्ति का अनुभव करवाया करते हैं, ऐसे निरन्तर बहने वाले भगवत्प्रेम का नाम ही रागात्मिका भक्ति है।

भक्ति के इस भाव में श्री भगवान् के प्रति निरन्तर प्रीति बनी रहती है। भक्त का मन भगवच्चरणार-विन्द के ध्यान में, वाणी भगवद् गुणगान में, हाथ उनके मन्दिरों के मार्जन में—उसके जनों की सेवा-कार्य में, कर्ण भगवद्विषयक मधुर कथा के सुनने में, नेत्र भगवत् मूर्ति के दर्शन में, शरीर उनके भक्तों के अङ्ग-स्पर्श में, नासिका भगवच्चरण के आघ्राण में, रसना उनको अर्पित की हुई तुलसी के आस्वादन में, चरण उनके तीर्थ-क्षेत्रों के गमन में, मस्तक उनके चरण-वन्दन में और काम-विषय-विलास में मुग्ध न होकर श्री भगवान् की सेवा में नियुक्त होते हैं। भागवत में कहा है:—

'एवं हरौ भगवति प्रतिलब्ध भावो, भक्त्या द्रवत्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्य वाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तर्वाऽशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
भक्ति हरौ भगवति प्रहवन्नजस्र, मानन्दवाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो नात्मानमस्मरद सावित मुक्तलिङ्गः॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्त्या, भक्तिर्विरक्तिं भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्, ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥'

श्री भगवान् के प्रति प्रेम का भाव प्राप्त कर भक्तहृदय द्रवित हो जाता है, समस्त अङ्ग परम आनन्द से रोमाञ्चित हो उठते हैं, वे अश्रुपूर्ण नेत्रों से गद्गद-कण्ठ होकर श्री भगवान् के चरण-कमलों में अपने मन-मधुकर को सदा निमग्न रखते हैं, ऐसे भक्त श्री भगवान् के प्रेम में उन्मत्त तथा विलीन होकर अहंभाव-शून्य हो जाते हैं, इस रागात्मिका भक्ति की दशा में भक्त में लोक-लज्जा, लोक-भयादि कुछ भी नहीं रहता, वे कभी भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर नाचने गाने लगते हैं, कभी मधुपान में आसक्त भ्रमर की तरह भगवान् के आनन्दामृत पान करने में निमग्न होकर स्तब्ध रहते हैं और कभी बाह्य-ज्ञान शून्य होकर अन्तर में विराजमान परमात्मा के अलौकिक आनन्द में ही रमण करते हैं।

उनका काम भगवत्प्रेम-कामना में, क्रोध, कुभावों के दमन में, अभिमान श्री भगवान् के प्रति एकात्मरति के अभिमान में चरितार्थ हो जाता है। जिसके फलस्वरूप उनके हृदय-कमल में श्री भगवान् की सच्चिदानन्दमयी मूर्ति आठों पहर विराजमान रहती है, वे चाहते हैं तभी प्रार्थना करते हैं और उसी क्षण श्री भगवान् के भावमय स्थूल स्वरूप को अपने नेत्रों के सामने देख सकते हैं।

भक्त श्री भगवान् से प्रार्थना करते हैं:—

'अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रिय प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्' ॥

हे कमलनयन्! जिस प्रकार पंखहीन पखेरू बालक अपनी माता को देखने के लिये व्याकुल रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधातुर शिशु मातृस्तन पान करने के लिये व्यग्र रहता है और जिस प्रकार प्रवासी पति के दर्शन के लिये पति-प्राणा पत्नी व्याकुल रहती है, उसी भांति हमारा चित्त भी आपके दर्शन के लिये व्यग्र हो रहा है।

इस प्रकार जब रागात्मिका भक्तियुक्त भक्त का चित्त भगवद्दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल हो उठता है, तब उन्हें श्री भगवान् का दर्शन होता है। जैसा आगे दूसरे श्लोक में कह रहे हैं:—

'पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयांवदन्तिः ।'

'भगवद्भक्त महात्मा प्रसन्नवदन, अरुणनेत्र, दिव्यरूपधारी, वरदाता, श्री भगवान् का दर्शन करते हैं और उनके साथ प्रिय मधुर आलाप करते हैं।'

शान्तस्वरूप श्री भगवान् में इस प्रकार के आसक्त चित्त वाले भक्त को कहीं भी किसी लोक में भी सुख का अभाव नहीं रहता। कालचक्र भी उसका ग्रास नहीं कर सकता, समस्त संसार उसके लिये आनन्दकानन बन जाता है, वह जगत् में सर्वत्र ही भगवत् प्रेम का उल्लास देखने लगता है। उसकी

दृष्टि में समुद्रतरङ्ग में प्रेम का नृत्य, नदी के प्रवाह में प्रेम का प्रवाह, पवन के सञ्चालन में उनकी करुणा का प्रवाह, पुष्पों के विकास में आत्मानन्द की लहरीलीला, सुधाकर के मुख में प्रेमसुधामय मधुर हास्य, नक्षत्रमण्डल में प्रेमानन्द की अनन्त विलासमयी निर्झरिणी भ्रमर-गुञ्जार में प्रेम का गुञ्जार, जगच्चक्र की नित्यगति में प्रेममयी प्रकृति माता की अनन्तानन्द समुद्र की ओर तीर्थयात्रा तथा जगज्जीवों की निखिल चेष्टाओं में प्रेममय भगवान् की पवित्र पूजा दिखायी देने लगती है।

रागात्मिका भक्ति की इस दशा में भक्त और भगवान् की परम घनिष्ठता हो जाती है। भक्त भगवान् के साथ प्रियतम, सखा और आदर की आत्मीय वस्तु की भांति हंसते खेलते रहते हैं। उन पर सब प्रकार की गुरुत्वता तथा सम्मान करते हैं और प्रेमाम्बुधि भक्तवत्सल भगवान् भी उन पर सब मान और प्यार के लक्षणों को आनन्द के साथ सहन करते रहते हैं। इस आत्मीयतामूलक शक्ति के साथ ही जिस समय श्री भगवान् ने भक्त सूरदास से अपना हाथ छुड़ा लिया था, उस समय उन्होंने कहा था।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

दोहा—बाँह छुडाये जात हो, निबल जानिके मोहि।
हृदय से जब जाउगे, मर्द बखानूं तोहि॥

हे भगवन्! तुम हाथ छुड़ा कर जाते हो, इस में तुम्हारा कौन सा पौरुष है? हृदय छोड़कर जा सकोगे तभी तुम्हारा पौरुष मानूंगा। इसी प्रणयमूलक बल और अहंकार के साथ भक्त उदयनाचार्य ने कहा था:—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवन्! तुम ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त होकर हमारी अवज्ञा करते हो परन्तु याद रक्खो कि जिस समय बौद्ध लोग तुम्हारी सत्ता के खण्डन करने के लिये उद्यत होंगे उस समय तुमको हमारे ही अधीन होना पड़ेगा क्योंकि उस समय नास्तिक बौद्धमत का खण्डन करके हम ही तुम्हारी सत्ता की रक्षा करेंगे।

रागयुक्त भक्त का भी भगवान् के प्रति घनिष्ठतामूलक यही सच्चा भाव है। भक्त के हृदय में इस प्रकार का भाव उदय होने पर भक्तवत्सल भगवान् उनके वश हो जाते हैं। भागवत में श्री भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है:—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याता कथं तास्त्यक्तुमुत्सहे ॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत् स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यम् साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

'मैं भक्तों के अधीन हूँ । स्वतंत्र नहीं हूँ । मेरे हृदय पर साधु-भक्तों का पूरा अधिकार है । मेरे भक्त साधुओं को छोड़कर मैं अपनी आत्मा और परम प्रिया लक्ष्मी को भी नहीं चाहता । जिन महात्माओं ने स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादि तथा परलोक के सुख की सारी इच्छा छोड़ कर मेरा आश्रय ले लिया है उनको मैं किस प्रकार छोड़ सकता हूं ? जैसे पतिव्रता स्त्री पति-प्रेम के द्वारा पति को वश कर लेती है, उसी भांति समदर्शी साधुगण भी मुझ में अपना हृदय बांधकर मुझे अपने वश कर लेते हैं । साधु मेरे हृदय हैं और मैं उन साधुओं का हृदय हूं । मेरे अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते तो मैं भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता ।' भक्ति की रागात्मिका दशा में भक्त और भगवान का यही पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध है ।

(३) परा (प्रेमा अथवा प्रेमलक्षणा-भक्ति)

'स्वरूप द्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा ।'

आनन्दमय परमात्मा के अखण्ड स्वरूप की प्रकाशिका होने के कारण पराभक्ति पूर्ण आनन्द प्रदा है ।

'रसस्वरूप एवायं भवति भावनिमज्जनात्'

भाव-समुद्र में निमग्न होकर भक्त रसरूप आनन्दमय भगवान के साथ तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है ।

आत्मनिवेदन भाव—परायण भक्त समस्त शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन, आत्मा के द्वारा श्री भगवान् में एकान्त-निष्ठ होकर उन्हीं के चरण कमलों में सर्वस्व समर्पण करते हैं । श्री भगवान् में इस प्रकार परमरति और आत्मसमर्पण भाव के सम्यक् उदय होने से भक्त श्री भगवान् की कृपा से अनायास ही भवसिंधु को पार कर जाते हैं । स्वयं श्री भगवान् कहते हैं:—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

जो मेरे भक्त समस्त कर्म मुझ में समर्पण कर मत्परायण होकर अनन्यभाव से ध्यानयोग के द्वारा मेरी उपासना करते हैं, भगवद्भाव-निमग्न उन भक्तों को मैं शीघ्र ही संसार-सागर के पार कर देता हूँ। मुझ में एक-चित्त, मेरे भक्त, मेरे भजनशील तथा मुझको प्रणाम करने वाले भक्त अवश्य ही मुझे प्राप्त करते हैं।

आत्म-निवेदन-भाव के द्वारा सभी भावों के उदय होने से भक्त शीघ्र ही आत्मरूप और आत्मरति होकर परा भक्ति की पदवी को प्राप्त कर लेते हैं। सर्वस्व समर्पण हो जाने से उनके जीव भाव का अहंकार समूल नष्ट हो जाता है और भक्त-हृदय अनन्त भगवान् के अनन्तामृतमय प्रेम में निमग्न होकर पराभक्ति के परमानन्दमय पद में सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यही आत्मनिवेदन-भाव का मधुर लक्षण और अलौकिक परिणाम है। नृपों में बलि और महर्षियों में श्री नारद जी आत्मनिवेदन-भाव के अपूर्व दृष्टान्त हैं।

यह भाव-अनुराग का चरमरूप तथा रागात्मिका भक्ति और पराभक्ति का संधिरूप है। इस भाव के उदय होने से भाव-समुद्र में निमग्न और आत्मसत्ता की पृथक्ता को विस्मृत होकर कभी भक्त अपने को ही प्रणाम करने लगते हैं। और कभी अपनी स्थिति का अनुभव कर भगवान् को प्रणाम करते हैं, जैसेः—

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यम् शिवाय च।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय तुभ्यमेव नमोनमः ॥
मह्यम् तुभ्यमनन्ताय मह्यम् तुभ्यं शिवात्मने।
नमो देवादि देवाय पराय परमात्मने ॥

हे परम पुरुष परमात्मन्! तुम्हें नमस्कार और प्रत्यक्-चैतन्यरूप मुझको भी नमस्कार। अनन्त शिवरूप देवादि देवरूप मुझको और तुमको नमस्कार। इस प्रकार तन्मय होकर भक्त अपने को और परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं और भगवत्-भाव में डूब कर आत्मरूप ही हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अपने चार भक्तों में ज्ञानी को अपना आत्मनिरूपण किया है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे' ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है। श्रुति भी कहती है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, अयमात्मा ब्रह्म तत्वमसि,' इत्यादि। अतः श्रुति-स्मृति समन्वय से यह निश्चय होता है कि अद्वैतात्मज्ञानवान ही सर्वश्रेष्ठ भक्त है। तथा अद्वैतात्मबोध ही परा—भक्ति है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि लोकसिद्धार्थानुवादिनी श्रुति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि अपने आप में ही मुख्य प्रीति है, और अपने से भिन्न पदार्थों में अपने लिये ही प्रीति है, उनमें तथा आत्मा में उन पदार्थों के लिये प्रीति नहीं है, अतः आत्मा से भिन्न पदार्थों में गौणी प्रीति है। इस न्याय से यह निर्णय हुआ कि स्वभावतः (अज्ञानतः) प्राप्त जीवेश्वर—भेद-विषयक

दृष्टि जब तक विद्यमान है तब तक ईश्वर में जो भक्ति (रति = प्रीति) है, वह ईश्वर के लिये नहीं, अपने लिये है, अतः वह परा (मुख्या) भक्ति नहीं है, प्रत्युत अपरा (गौणी) है। जो भक्त 'तत्त्वं' पदार्थ का शोधन करके अद्वैतात्मदर्शनरूप महावाक्यार्थ-ज्ञान से सम्पन्न है अर्थात् अद्वैतात्मदर्शी है, उसी की ईश्वर में परा (मुख्या) भक्ति है, अतएव वही ईश्वर का पर— भक्त है, क्योंकि ईश्वर का वह आत्मा है और ईश्वर उसका आत्मा है और इसलिये श्रीभगवान् कहते हैं कि मैं ज्ञानी के लिये अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है।

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनो ऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः ॥'

मेरे भक्तों में से ज्ञानी विशिष्ट (श्रेष्ठ) भक्त है, क्योंकि वह 'नित्ययुक्त' और 'एक भक्त' है। आर्त भक्त का आर्ति से छूटकर जिज्ञासु का ज्ञान पाकर, और अर्थार्थी का अर्थ को पाकर भक्ति से विरत हो जाना सम्भव है, अतः यह तीनों भक्त नित्ययुक्त नहीं हैं और अज्ञानी होने के कारण 'एक भक्त' भी नहीं हैं। परन्तु अद्वैतात्मदर्शी 'एक भक्त' है। 'यह जगत्, मैं और ईश्वर एक (अभिन्न) ही हैं।' जिस पुरुष की ऐसी अन्तःकरण वृत्ति है; वह 'एक भक्त' कहाता है, इस प्रकार सर्वभूतात्म भूतात्मा पुरुष ही निर्व्याज भक्त है, अतएव भागवतोत्तम है और उसी की भक्ति 'परा' भक्ति है।

एक भक्त— श्रेणी ऐसी भी है जिसका यह विश्वास और निश्चय है कि यह जगत्, जीव और परमेश्वर परस्पर विभिन्न हैं, तथा वह भेद पारमार्थिक (सत्य) तथापि 'सर्वं वासुदेवः' 'सर्वं खल्विंद ब्रह्म' इत्यादि शास्त्रविधिवशात् जगत्, जीव और ईश्वर में अभेद का आरोप (आहार्य्यबुद्धि) करके वह भक्त-श्रेणी, "मैं और यह विश्व नारायणस्वरूप है' ऐसी उपासना निष्काम भाव से करती है, इस श्रेणी का पुरुष भी अति-शीघ्र ज्ञानवान् हो जायगा, क्योंकि जो अभेद उसकी दृष्टि से आरोपित है वस्तुतः यथार्थ है, संवादिभ्रमवत् वह दृष्टि भगवदनुग्रह से शीघ्र ही यथार्थ अद्वैतबोधरूपता को प्राप्त होती है, इसी अभिप्राय से शिष्ट लोगों की यह उक्ति प्रचलित हुई है कि 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'। भक्ति ज्ञानरूप में परिणत होती है, अतः ऐसे भक्त को भी भागतवोत्तम ही मानना चाहिये। ऐसा महात्मा भी सुदुर्लभ है। यद्यपि इन दोनों भक्तों- में ज्ञानाज्ञान-प्रयुक्त भेद अवश्य है तथापि भेद-दृष्टि-भक्त भी सत्वर ही अभेद-दृष्टि हो ही जाता है, अतः इदानीं 'भागवतोत्तम जातीय' होते हुए भी भावी विचार से वह भागवतोत्तम है।

निष्काम भक्ति से आराध्यमान परमात्मा शीघ्र ही आकृष्ट होता है, अहेतुकी भक्ति से बढ़कर भगवान् के वशीकरण के लिये और कोई मंत्र-तन्त्र नहीं है। 'भक्तिप्रियो 'माधवः' माधव भक्ति-प्रिय हैं, या माधव भक्तप्रिय हैं, और 'भक्तो माधवप्रियः' भक्त माधवप्रिय है। अन्योन्य प्रेमाभिभूत हो एक दूसरे का परित्याग या वियोग सहन नहीं कर सकते। भक्त लोग यद्यपि निःस्पृह हैं तथापि भगवान् उनके हृदय-कमल में निविष्ट होकर उनके पापपुञ्ज को निःशेष विनिष्ट कर देते हैं और उनके योगक्षेम को स्वयं वहन करते हैं, यह उनकी प्रतिज्ञा है—

कौन्तेय प्रतिजानीहिन मे भक्तः प्रणश्यति ।
अनिन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।

पराभक्ति की अद्वैतात्मदशा में जब भक्त भगवान् के साथ तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है तब भक्त निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अलौकिक सुख-दुःख-रहित परमानन्द का उपभोग करते हैं ।

इस पराभक्ति-दशा में स्वरूप स्थित होकर भक्त जिस अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं वह आत्यन्तिक दुःख लवलेश-विहीन नित्यानन्द है, जो इन्द्रियों से अतीत और सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा ही अनुभव करने योग्य है । इस आनन्द पर प्रतिष्ठित होकर महात्मा पुरुष कभी किसी समय भी अपनी तात्त्विक स्थिति से विचलित नहीं होते । प्रारब्धजनित गुरुतर कष्ट आने पर भी उनके अन्तःकरण पर इसका प्रभाव नहीं होता । वह वस्तु को प्राप्त करके और किसी वस्तु को उससे अधिक स्पृहणीय नहीं समझते । वे योगयुक्त आत्मा पूर्ण-भक्त , परमात्मा को सकल भूतों में और सकल भूतों को परमात्मा में देखते हैं एवं आनन्दमय परमात्मा को सर्वत्र देखकर समस्त अवस्था में ही समाधि का परमानन्द प्राप्त करते हैं । उनके लिए लौकिक जगत् के समस्त पदार्थ ही परमात्मा में अवस्थित होने के कारण दिव्य भावयुक्त और परमानन्दप्रद हो जाते हैं । भगवान् श्री शंकराचार्य ने इसी अवस्था के दर्शन में यह वर्णन किया है—

सम्पूर्णम् जगदेव नन्दनवनं सर्वेपि कल्पद्रुमाः;
गाङ्गंवारि समस्तवारि निवहा पुण्या समस्ताः क्रियाः
वाचः प्राकृत संस्कृता श्रुति गिरोवाराणसी मेदिनी,
सर्वावस्थिति वस्तुरस्य विषया दृष्टे परे ब्रह्मणि ॥

जिस संत ने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये सारा जगत् नन्दन वन है, सब वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सब जल गंगाजल हैं, उसकी सारी क्रियाएँ पवित्र हैं, उसकी वाणी चाहे प्राकृत हो या संस्कृत वह वेद का सार है उसके लिये सारी पृथ्वी काशी है और उसकी सभी चेष्टाएँ परमात्मरूपी हैं ।

पराभक्ति की यह दशा ज्ञानी की पर-ज्ञानदशा, वैराग्यवान् की परवैराग्य-दशा, और योगी की निर्विकल्प समाधि-दशा, ये सब अन्त में तुल्य ही हैं । सभी अवस्थाएँ अन्त में एक ही भाव में आकर पूर्णता को प्राप्त होती हैं ।

परं ज्ञानं परं साख्यं परं कर्म विरागिता ।
पराभक्तिः समाधिश्च योग पर्यायवाचकाः ॥

इस प्रकार पराभक्ति प्राप्त करके साधक चिन्मय भाव में लय हो जाते हैं । यही ज्ञान की चर्म सीमा है और वैराग्य की भी यही परम सीमा है । इस प्रकार सच्चिदानन्द-भाव में ज्ञानी भक्त जीव-मुक्ति दशा

आत्मरति होकर प्रारब्धक्षय पर्यन्त संसार में रहते हैं, तत्पश्चात् प्रारब्धवसान में विदेह-मुक्ति लाभ करते हैं। उस समय उनकी प्रकृति विराट् प्रकृति में, उनका आत्मा व्यापक परमात्मा में मिलकर एक हो जाता है। फिर उनको इस अनन्त दुखमय संसार में आना नहीं पड़ता। यही सर्व साधना का लक्ष्य और भक्ति-मार्ग का चरम् परिणाम है।

श्री स्वामी पं० केशवानन्द जी महाराज ने करांची पधार कर भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की थी:—

भक्ति

भगवान के स्वरूप में जो चित्त की एकाकारता है उसको भक्ति कहते हैं जैसे:—

"शार्दूल"

"व्याधस्या चरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रिस्यका।
का जातिविदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ॥
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नोधनम्।
भक्त्या तुष्यति केवलं नच गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

भगवान् को भक्ति ही प्रिय है गुण प्रिय नहीं है जैसे व्याध का कौनसा उत्तम आचरण था कि जिसको भगवान् ने वैकुण्ठ में भेजा। अर्थात् एक समय श्री कृष्ण भगवान् प्रभास क्षेत्र में पीपल वृक्ष के नीचे चौंतरे पर चरण के ऊपर चरण धर के विराजमान थे चरण में पद्म के चिह्न को देखकर मृग का नेत्र समझ व्याध ने बाण मारा, चरण के नीचे गिरते ही व्याध भाग कर आया तो देखा भगवान् चतुर्भुज स्वरूप शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण करे हैं चरण में बाण विराजमान है देखते ही महान अपराध के कारण व्याध के छक्के छूट गये, रोमाञ्च खड़े होगए, हाथ से धनुष गिर पड़ा, थर २ कांपने लगा और नेत्रों से प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, और मन भगवान् में तदाकार हो गया। त्राहि मां ३ करते हुए चरणों में गिर पड़ा, इस प्रकार तदाकार वृत्ति होते ही भगवान् कहते हैं नहीं २ घबराओ मत हमारे जाने से पहिले तुमही वैकुण्ठ को जाओ, उसे बैकुण्ठ भेज दिया और ध्रुव जी की क्या अवस्था थी अर्थात् सात वर्ष का नादान बालक ध्रुव विमाता के कटु वचन से जगत् ग्लानि को प्राप्त हो कि सहस्रों राजाओं की भोगी और त्यागी हुई राजगद्दी की मैं इच्छा नहीं करता मैं तो ऐसी पदवी प्राप्त करूँगा कि जिसको आजतक किसी ने भी न प्राप्त किया हो। अथवा साक्षात् नारायण को ही प्राप्त करूँगा।

ऐसा दृढ़ निश्चय कर ध्रुवजी बन को चले गये, मार्ग में नारद जी मिले, उन्होंने भी बहुत समझाया तू छोटा सा बालक कैसे असम्भव बात को संभव करना चाहता है। ध्रुव बाल-हठ का आश्रय किये हुए थे, नहीं माने तब दयार्द्र हृदय नारद जी ने द्वादशाक्षर मन्त्र का जप और चतुर्भुज श्याममूर्ति का ध्यान बतला कर उनके उत्साह को दृढ़ करके बन को भेज दिया।

ध्रुव मधुवन में जा एकान्त पवित्र भूमि में बैठ ध्यान-जप करने लगे। खड़े हुए एक पैर के सहारे अंगूठे के भार पर हो, अन्न, जल, शौच, स्नानादि सब क्रिया त्याग, अचल हो गये। ऐसी दशा पर भला भक्तवत्सल भगवान् को शान्ति कहां ? भगवान् सामने आकर कहने लगे—हे ध्रुव ! मैं विष्णु तुम्हारे सामने खड़ा हूं, तू नेत्र खोल कर मुझे देख, ध्रुव नेत्र नहीं खोलते कि कहीं ध्यान न भूल जाऊँ। भगवान् कहते हैं अरे भाई ! जिसका तू ध्यान जप कर रहा है सो मैं ही तो हूं, तू नेत्र तो खोल और मेरे को देख, परन्तु ध्रुव नहीं देखते। भगवान् कहते हैं कि तू हमको तंग मत कर देख हम वही हैं जिनका तू ध्यान करता है और जो तेरे हृदय में स्थित है। ध्रुव कहते हैं-यदि आप वही हैं तो आप उसी मेरे हृदय के रूप से ही कहिये कि मैं वही हूं क्योंकि उनसे तो मेरी एकता हो रही है, मैं उनसे प्रथक् नहीं हो सकता। बस फिर क्या चित्तवृत्ति एकाकार होते ही भगवान् ने प्रसन्न हो हृदय में से अपना स्वरूप अदृश्य कर लिया। अब ध्रुव घबराये, बाहर देखें तो वही मूर्ति सामने ज्यों की त्यों खड़ी है। प्रेम निमग्न ध्रुव प्रणाम कर अटल पदवी प्राप्त करके अमर हुए।

गजराज कब काशी-काश्मीर जा कर विद्या पढ़ा था अर्थात् हस्ति (हाथी) की अत्यन्त आलसी जाति है। जो कि महान् हृष्ट-पुष्ट बलिष्ट होने पर भी बिना चलाये चलना ही नहीं चाहता। सो ग्राह से लड़ते समय जब तक अपने को बली समझता रहा तब तक तो कुछ नहीं और जब जल के राजा ग्राह ने उसको जल में खींच लिया, केवल जौ भर ही सूंड जल से ऊपर रही तब निराश्रय हो मन की एकाग्रता (एकाकार वृत्ति) से भगवान् को पुकारा। तभी भगवान् उतावले हो पैदल ही भागे। मन से अधिक वेग किसी का नहीं, उस मन से सौगुणा वेग गरुड़ जी का है ऐसे वेगगामी गरुड़ जी को भी त्याग कर शीघ्र आ गये और ग्राह के फन्द से छुड़ा कर कल्याण किया।

विदुर जी की क्या जाति थी अर्थात् बड़े शुद्ध पवित्र कुलीन क्षत्रिय दुर्योधन के सत्कार और राजसी तैयारी को छोड़ कर दासी पुत्र विदुर जी के शाक पाया, दुर्योधन ने जब कहा कि भोजन तैयार है, कीजिये तब श्री कृष्ण भगवान् ने यह उत्तर दिया कि भाई भोजन दो प्रकार से होता है। या तो भोजन कराने वाले में प्रेम हो या भोजन करने वाले पर कोई आपत्ति हो। सो यहां दोनों बात नहीं, आप में प्रेम नहीं और मेरे ऊपर कोई आपत्ति नहीं। ऐसा कह कर सीधे दासीपुत्र विदुर जी के घर पहुंचे, इधर विदुर जी तो स्नान, सन्ध्यादि करने श्री गङ्गातट गये हुये थे और विदुर जी की पत्नी किवाड़ बन्द कर नग्न स्नान करती हुई विचार कर रही थी, सुना है कि आज श्रीकृष्ण भगवान् कौरव-पाण्डवों में सन्धि का प्रस्ताव लेकर पधारेंगे सो सब को दर्शन होंगे परन्तु मैं अभागिनी स्त्री जाति घर में ही पड़ी २ सड़ने वाली पराधीन कैसे दर्शन कर सकूंगी।

इस प्रकार नाना प्रकार के संकल्प विकल्प करती, नेत्रों से प्रेमाश्रु धारा बहाती, जल को भूल उसी अश्रु जल से ही स्नान कर रही थी बस फिर क्या था। इसी एकाकार वृत्तिरूप डोर में बँधे

भगवान द्वार पर आकर कहने लगे--भइया, विदुरजी किवाड़ खोलो, बस शब्द पहिचानते ही विदुरानीजी ने प्रेम विह्वल-वेसुध हो नंगी उठकर किवाड़ खोल दिया। भगवान् को आसन पर बैठाय प्रणाम किया और अपने नंगे ढके की कुछ भी सुध नहीं थी, भगवान् कहते हैं-मैं भूखा हूं कुछ खाने को दो, कोरे प्रणाम से क्या होता है ?

विदुरानी जी ने केले की फलियां लीं, पास बैठ गई, छील २ कर मींगी (गिरी) तो फेंकने लगी और छिलका भगवान् को खिलाने लगी, भगवान् बड़े प्रेम से केले का छिलका खा रहे हैं कि इतने ही में विदुरजी भी भगवान् के पधारने का समाचार सुनकर भाग आये। और पूर्वोक्त लीला को देख आश्चर्य में होकर कहने लगे, अरी दुष्टा ! भगवान् के सन्मुख तू नंगी बैठी है और छिलके खिला रही है, तब विदुरानीजी महारानी को चेत हुआ।

धन्य है ऐसे प्रेम को, सो उन्होंने उठ कर अन्दर जाके वस्त्र धारण किया और विदुरजी अपने हाथ से केला छीलकर मींगी तो भगवान् को खिलाने और छिलका फेंकने लगे।

मींगी खाकर भगवान् कहते हैं:—भइया विदुरजी ! वह स्वाद तो इसमें नहीं है कि जो विदुरानीजी के फलों में था और हमने तो उनके शरीर को देखा ही नहीं कि नंगा है या ढका है, हम तो प्रेम के द्वारा उसके अन्तःकरण से मिल रहे थे। इसका नाम है प्रेम-भक्ति और भगवान्।

उग्रसेन राजा ने क्या पुरुषार्थ किया था कि जो भगवान् ने स्वयं साथियों सहित कंस को मारा, उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठाया और आप चँवर लेकर उनके शिर पर ढुलाने लगे, यह भक्ति का ही प्रभाव है।

कुब्जा का कौनसा सुन्दर रूप था कि जो व्रज गोपियों को त्याग कर उसके ऊपर भगवान् रीझे। अर्थात् एक समय सूर्य-ग्रहण का पर्व था-इस कारण कुरुक्षेत्र में द्वारिकावासी व्रजवासी सब एकत्रित हुये। रुक्मिणी, सत्यभामादि महारानियों ने श्रीकृष्ण भगवान् से पूछा—महाराज ! श्रीराधिकादि व्रज-गोपिकाओं की आप बड़ी भारी प्रशंसा किया करते हैं, सो उन्हें हमें भी दिखलाओ। भगवान् ने कहा—अच्छा देखो जब अवसर लगेगा तब दिखलाऊंगा। एक दिन श्री राधाजी की सवारी स्नान करने को चली, भगवान् अपने खेमे में तम्बू के अन्दर बैठ गये। और सब रानी पटरानियों को बुलाकर पास बैठा लिया। जिस समय गोपियां चोब-बल्लम-और छत्र ले लेकर आगे २ चली तब एक २ गोपी के रूप--लावण्य को देखकर रुक्मिणी आदि कहती थी क्या यही राधा हैं। भगवान् कहते हैं-नहीं यह तो उनकी दासी हैं। कोई बुहारी लगाने वाली हैं, कोई जल भरने वाली हैं, कोई गोबर कूड़ा करने वाली हैं। जिस समय नवीन रूप गोपियां जै २ कार करती हुई आई और श्रीराधाजी हवादार में बैठी चमर छत्र होते निकली तब श्रीराधाजी के स्वरूप को देखते ही रुक्मिणी आदि को चकाचौंध होगया सो ऐसी २ रूप लावण्य सम्पन्न श्रीराधा आदि व्रजगोपियों को छोड़कर टेढ़ी-कूबरी कुरूपा-परन्तु भक्ति रूप रंग में रंगी कुब्जा के घर भगवान् पधारे, यह भी भक्ति का ही प्रभाव है। दूसरे जिस समय भगवान् ने पत्र देकर श्रीउद्धवजी को गोकुल में भेजा था उस समय कुब्जा ने व्रजगोपियों को एक संदेशा दिया कि—हे गोपियो ! सुनो, किसी एक किसान ने अपने खेत में तोंबा बोये और उसमें एक बेल कडुवे तोंबे की भी

उपज आई, इसमें तोंबी लगी किसी के काम में नहीं आई। सो बेल समेत उखाड़ कर वह तोंबी बाहर मार्ग में डाल दी गई, सो कड़वी तोंबी किसी चतुर कारीगर के हाथ पड़ गई। उसने उस कड़वी तोंबी की वीणा बनाई तब सो तोंबी-वीणा होकर बड़े २ ऋषि, महर्षि, राजा महाराजा और गन्धर्वों के कान पर रक्खी जाने लगी और राग की दुलारी बन गई, इसी प्रकार गृह रूप में से कुबरी रूप कुरूपा कड़ुवी तोंबी मथुरा की गलियों में बाहर फेंकी हुई श्रीभगवान् रूप सुवड़ कारीगर के हाथ पड़कर सुन्दर स्वरूपा हो वीणा के रूप में राज दुलारी होगई है। सो तुम उससे क्यों डाह करती हो। क्यों खीजती हो ? यह संदेशा दिया। यह केवल भक्ति का ही प्रभाव है।

सुदामा के पास क्या धन था कि एक निर्धन भिक्षुक ब्राह्मण सुदामा फटे हुए मलिन वस्त्र धारण किये मलिन शरीर, मार्ग की रज उड़ २ कर शरीर पर पड़ी—टूटी हुई फिटकनी जूतियां पहिरे श्रीमद्राजाधिराज द्वारकाधीश के मिलने की परम अभिलाषा से प्रसन्न मन द्वार पर जा खड़े हुए; पहरेदार ने रोका-जाओ महाराज सदावर्त्त ले बनाओ खाओ, यहां क्यों खड़े हो ? सुदामा जी ने कहा नहीं भाई हम सदावर्त्ती नहीं हैं। हम तो श्रीकृष्ण के मित्र हैं—मिलने आये हैं पहरेदार ने कहा अरे ! जा मुंह संभाल के बात कर यहां तो बड़े २ राजा महाराजा चक्रवर्ती आते हैं। सो भी बिना आज्ञा पाये अन्दर नहीं जा सकते तू सोधा कैसे चला जा रहा है, हट यहां से। द्वाराध्यक्ष ने पहरेदार को आज्ञा दी कि भाई इसकी सूचना तो महाराज को करही दो, पहरेदार ने जाकर कहा श्रीमान् ! एक दुर्बल तन दीन ब्राह्मण सुदामा नाम बतलाता है, द्वार पर खड़ा है अपने को श्रीमान् का मित्र बतलाता है' क्या आज्ञा है ? बस फिर क्या था, सुदामा नाम सुनते ही अन्तर्यामी भक्त वत्सल भगवान् स्वयं उठ खड़े हुए और कहा कि शीघ्रता से उनको ले आओ। सत्कारपूर्वक लाना, स्वयं श्री भगवान् गये और द्वार पर से सुदामा भक्त को ले आये। महल में ला हृदय से लगा प्रेमाश्रुधारा से ही सुदामाजी को स्नान करा दिया, बड़े प्रसन्न हुए। सुदामाजी के मलिन वस्त्र उतार उत्तम सुगंधित तेल उबटन लगाकर गर्म जल से अपने हाथ से स्नान करा उत्तम उत्तम वस्त्र पहिराये, अगर चन्दनादि से मस्तक पर लेपन कर पुष्प मालादि से सुसज्जित करके स्वर्णमय सिंहासन पर विराजमान करा नाना प्रकार के षड्रस भोजन करा पानादि खिला बड़े प्रसन्न हुए। और सुदामाजी की सेवा में तत्पर रानी पटरानी हंसती हुई बड़े आश्चर्य्य में डूब रही हैं कि जिसकी भगवान् स्वयं अपने हाथ से सेवा करें ऐसा अतिथि तो आज तक यहां कोई भी नहीं आया। एक फटीसी चद्दर के कोने में सुदामा का सर्वस्व 'भगवान् की भेंट' बंधी थी कि जिसको सुदामाजी छिपा २ कर रखे थे, अन्तर्यामी भगवान् ने हाथ में लेकर खोली उसमें से चावल कण निकालकर कहने लगे, भइया भाभी जी की अर्पण करी हुई सौगात तो आपने हमको दी ही नहीं (अहो-भक्त वत्सलता !) इस प्रकार कहते हुए उसमें से दो मुट्ठी खाकर दोनों लोक का सुख ऐश्वर्य सुदामा जी को दे दिया।

इस प्रकार प्रेम प्रमोद में कुछ दिन बिताकर सुदामाजी सोचते हैं कि भगवान् ने अभी तक मेरे से यह भी नहीं पूछा कि सुदामा तुम कैसे आये हो ? और उधर घर में ब्राह्मणी भूखी मरती होगी, मैं घर होता तो मुट्ठी भर आटा मांग लाता तो उसको भोजन तो मिलता, ऐसा विचार कर भगवान् से कहते हैं। महाराजाधिराज ! अब आज्ञा दें तो मैं घर को जाऊँ। ऐसा सुनकर भगवान् बहुत उदासीन हुए। और कहने लगे भइया सुदामाजी आपने यह तो बड़ा बेढ़ब प्रश्न किया है। इसका उत्तर मेरे पास है ही नहीं क्योंकि—

अपना मित्र प्यारा कहीं जाता हो तो उससे कहा जाय कि मत जाओ तो यह अमंगल है और जो कहा जाय कि जाओ तो यह स्नेह से शून्य वचन हैं। और जो कहूं कि ठहरो तो इसमें प्रभुता है और जो कहूं कि जैसी आपकी रुचि हो वैसा करो तो इसमें उदासीनता है —अर्थात् आपके रहने से हमारा कुछ लाभ नहीं और चले जाने से हानि नहीं तो यह उदासीनता है। इस कारण एक वचन मैं आपसे कहता हूँ कि जिसमें कोई भी उपचार नहीं। हे मित्र! जब तक फिर आपका दर्शन हो तब तक प्रेमपूर्वक हमारा स्मरण रखना।

इस प्रकार भगवान् भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं गुणों से नहीं, माधव भक्ति प्रिय हैं।

जिस समय श्रीकृष्ण भगवान् को यशोदा मैया ने नटखट स्वभाव से लीला करते देखकर ऊखल से बांध दिया था उस समय बलदेव जी आये तो उनसे भगवान् कहने लगे कि भइया मेरे को छुड़ाओ, तब बलदेवजी ने प्रेमाश्रुभरे नेत्रों से कहा कि जब आप पालने में झूलते थे तब पूतना मारी, शकटासुर संहारा, बकासुर, अघासुर, तृण, वर्तादि राक्षस मारे तब किसकी सहायता ली थी। बस दुष्टों के ही दलन में आप कुशल हैं। भक्तों के सामने आपकी भी बन नहीं पड़ती, सो मैया की भक्ति रूपी रस्सी में आप बंधे हुए हैं। आपको कौन छुड़ा सकता है और यह भी पता नहीं है कि इसमें बंधकर भी आप क्या करना चाहते हैं, ज्ञात होता है कि इसमें भी किसी भक्त का ही कार्य होगा क्योंकि भक्त आपको बहुत बहुत प्रिय हैं। सो बलदेवजी के कथनानुसार वही हुआ। यमलार्जुन वृक्ष के रूप में कुबेर के पुत्र नलकूवर, मणि ग्रीव को शाप से छुड़ा निज पद दिया। इस कारण सब को भगवद्भक्ति ही करनी चाहिये, भक्ति का कारण प्रेम है, प्रेम का कारण है भगवन्नाम-स्मरण-इसलिये नाम स्मरण करते २ प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम से भक्ति होती है, भक्ति से ज्ञान द्वारा कल्याण होता है, इस कारण सबको हर समय भगवान् का नाम स्मरण करना चाहिये।

नवधा भक्ति व नव प्रकार के भक्त—पृष्ठ ३५, ३८ देखो

"पारिशेष्याद् भक्ते मुक्ति भक्ते मुक्तिः" नि० मी० अ०

परिशेष से भक्ति से ही मुक्ति होती है, भक्ति से ही मुक्ति होती है। यहां पर पुनरुक्ति दृढ़ता को ही सूचित करती है।

❀ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ❀

इतना जानकर भी कई लोग तो मोह माया वश अनेक कामना और व्यर्थ साधनों में लगे रहते हैं। और कई लोग रसायन (सोना चांदी, कीमिया) बनाने के ही झंझट में लगे रहकर पास का द्रव्य भी (ठगों में) खो बैठते हैं, और कोई २ ऋद्धि, सिद्धि प्राप्त करने में अथवा नया देह (कायाकल्प) सम्पादन करने में, और कोई २ दिव्य औषधि अथवा वशीकरण, गारुड़ी (सांवरी) विद्या, ताल, खड्ग, गुटिका, जलमंत्रादि के सिद्ध करने में ही काल व्यतीत किया करते हैं। और कोई २ कसेरों की दुकान के समान देवताओं की झांकी बना

ताल ठोक २ कर द्रव्यार्थ ❀ लोगों को सताया करते हैं, पर आत्मतत्व की ओर प्रवृत्त होकर परमात्मा को प्राप्त नहीं करते यह उनका बड़ा ही अविवेक है।

भगवान् श्री स्वामिनारायण का उपदेश।

भगवान् श्री स्वामिनारायण का उपदेश यही था कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत प्रकार के योगों में से किसी भी योग को सिद्ध करके भगवत्-प्राप्ति करना चाहिये। यदि भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो सब प्रयत्न निष्फल हैं। इस उद्देश्य के अनुसार श्री स्वामिनारायण भगवान् के समय से चलाया हुआ भक्तियोग ही सब योगों में प्रधान माना गया है, और सब योगों के फल एक भक्तियोग के फल से चरितार्थ हो जाते हैं। भक्तियोग वाले को अन्य योगों की आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान समय में समग्र स्वाश्रित जनता में भक्तियोग को प्रधान रूप से स्थान मिलता है। भगवान् में प्रेम-पराकाष्ठा को भक्ति कहते हैं। मुमुक्षुजन विषयों से विरक्त होकर अपने रक्षण के लिये वात्सल्यादि गुण सागर पुरुषोत्तम नारायण के समीप जाकर—'हे भगवन्! तुम्हारी प्राप्ति के साधन रूप तुम ही हो'—इस प्रकार महाविश्वास पूर्वक याचना करे, प्रपत्ति और शरणागति कहाती है। इस प्रपत्ति में भगवान् की प्रसन्नता से प्रारब्ध का भी नाश हो जाता है—

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।

(न्यायसिद्धाञ्जन)

भक्तजन भगवान् के शरण में रहकर प्रेमभक्ति में यहां तक लीन हो जाते हैं कि उस समय न तो उनको शरीर का भान रहता है, न इन्द्रियों का या अन्तःकरण का विषयाभिज्ञान रहता है। सब वृत्तियां भगवान् में लग जाती हैं, नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। प्रेम से अहो! अहो! पुकारता हुआ भक्त

❀ जो भक्त कहाकर भी लोगों से याचना करते हैं वे अवश्य ही ढोंगी हैं क्योंकि सद्भक्त मरते मरते तक भी भीख नहीं मांगते, उन्हें तो परमात्मा का ऐसा दृढ़ अनुभव रहता है कि—

मन क्रम वचन छांडि चतुराई। भजतहिं कृपा करै रघुराई॥
जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥
रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥

ऐसे अनेक वचनों से महात्मा अयाचित वृत्ति से रहकर सर्वदा निर्द्वन्द्व रहते हैं किन्तु दाम्भिक तो विषय कामनाओं में ही रहते हैं फिर उन्हें परमात्मा की प्राप्ति कहां से होवे?

इसी से कहा है कि—

जहां काम तहां राम नहीं, जहां राम तहां नहीं काम।
तुलसी दोनों ना रहें, रवि रजनी इक ठाम॥

पर दाम्भिक अपना हठ नहीं त्यागते इसी से तुकाराम बाबा कहते हैं कि ,,अभक्त ब्राह्मण जलो त्यांचे तोड़। काय त्यासी रांड प्रसवली॥"

सदा पुलकित रहता है, उसके शरीर को कोई मारे, काटे, जला डाले, धूल लपेटे, कीचड़ लगावें, चाहे कुछ भी करें, उस प्रेममग्न भक्त को उससे कुछ नहीं होता। उसकी वृत्तियां दिव्य मूर्ति में लीन हो जाती हैं। पृथिवी, जल आदि उसे आवरण नहीं करते। ऐसी स्थिति के पश्चात् स्वेच्छानुसार तत्काल या दीर्घकाल होने पर ऐसे भक्त शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक में भगवान् की शरण में जाकर परम मुक्ति को पाते हैं। ऐसी ब्रह्मदशा के लिये श्री स्वामिनारायण भगवान् ने तथा उनके ब्रह्मनिष्ठ भक्तजनों ने बहुत से ग्रन्थों में उपदेश द्वारा सरल मार्ग बताये हैं—

व्यर्थः कालो न नेतव्यो भक्तिं भगवतो विना।

(शिक्षापत्री)

आत्मपिपासा।

संसार में आत्मकल्याण पिपासु सौभाग्यवान पुरुष, सब कोई नहीं हैं। कहा भी है:—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

अर्थात् पहाड़ २ पर मणि नहीं, प्रत्येक हाथी के मस्तक में मोती नहीं होती। इसी प्रकार सब देशों में साधु और वन वन में चन्दन भी नहीं मिलते।

जन्म उसी का सार्थक, जिसने ऐसे मानव देह लाभ करके, विष्णु शिव में भक्ति बढ़ाई। मृत्यु उसकी ही सार्थक, जिसकी और मृत्यु न होगी अथवा जन्म उसी का सार्थक जिसका और जन्म नहीं होगा। देखो, मक्खियों में कोई तो फूलों में बैठकर मधुरस पान करती हैं, और कोई विष्ठा में रहती हैं। विष्ठा में बैठने वाले को क्या शहद का आनन्द मिल सकता है? कदापि नहीं। विष्ठा खाने वाले को यदि कभी दैववशः मधु भी मिल जाय, तो भी वह मधु का श्रेष्ठत्व कभी स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि, जो निरन्तर विष्ठा खाने वाला है, वह शहद का स्वाद नहीं जान सकता है। मानो सूप और चलनी। सूप का स्वभाव तो खराब को त्याग कर अच्छा को रख देना है, और चलनी अच्छे को त्याग कर अशुद्ध को ही संग्रह करती है। समुद्र में घड़ियाल वास करता है, और स्थल में गैंडा। इसका चमड़ा इतना मोटा कठिन होता है कि बन्दूक की गोली भी प्रवेश नहीं करती है।

ऐसे ही संसार में एक वे मनुष्य होते हैं जो सदा विषयरूप विष्टा में मग्न रहते हैं और दूसरे सज्जन लोग जो सूप की भांति गुणग्राही होते हैं, और विन्दक चलनी जैसे दोष को मात्र ग्रहण करते हैं। कुम्भीर और गेंडा का दृष्टान्त इस प्रकार है कि, भगवत् भजन विहीन अत्यन्त विषयासक्त जन कि, जिनका अन्तःकरण विषय ताप से इतना कठिन हो जाता है, कि भगवत् कथा रूपी गोली, उसमें प्रवेश नहीं करती है। मनुष्य तो वास्तव में वही है, भगवान् के द्वार पर जिसका आदर होता है। मनुष्य तो वास्तव में वही है, जो मनुष्य जैसा जीवन पाकर अपना परमार्थ ग्रहण कर लेता है। ऐसे पुरुष को स्वयं यमराज

भी प्रेम करते हैं। अन्यथा, चक्रवर्ती सम्राट् क्यों न हो, हरि गुणगान विहीन, साधु सन्तों को अथवा सतकर्मादि में निन्दा करने वालों को, परमेश्वर की नीति से, भविष्यत में जो कर्मफल सृजन होता है, उस पर किञ्चित विचार करने से, ऐसे आदमियों के लिये शोच ही करना पड़ता है।

स्वामी नित्यस्वरूपानन्द तीर्थ पुकार कर कहते हैं, हे प्रेमियो ! हे भक्तो ! तुम लोग ऐसे मनुष्यों से दूर रहो, जैसे कालकूट विषधर सर्प को देखकर आदमी भाग जाता है। ऐसे बुरे मनुष्य के सङ्ग में रहने से, १२ वर्ष का हरिभजन एक दिन में नष्ट हो जाता है।❀

३—ज्ञान।

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपोश्चीत्यंश पञ्चकम्।
आदित्रयं ब्रह्मरूपम् जगद्रूपम् ततोद्वयम्॥

सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप ये पाँच वस्तुयें हैं। इनमें से प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्य दो जगत् के रूप हैं।

ज्ञानकाण्ड का अन्तिम लक्ष्य अविद्या जनित अज्ञान से विद्या की कृपा से दूर कर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्मा के भेद का जो मिथ्या ज्ञान है उसको हटा कर जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैत सिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रों में मिलता है।

निष्काम कर्म व उपासना और ज्ञान की जब यथाक्रम से सिद्धि हो जाती है तो मनुष्य कैवल्य मुक्ति का पात्र बन जाता है। इस प्रकार वेद शास्त्रों की यथार्थ उपयोगिता है। अर्थात् वेद वेदान्त आदि के सेवन का मुख्य फल ब्रह्मज्ञान है, इस ब्रह्मज्ञान से ही कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति।

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के संक्षिप्त और सुगम उपाय नीचे वर्णन किये जाते हैं:—

१. सत्संग २. सद्विचार ३. पूर्ण वैराग्य ३. शुद्ध आहार ५. शुभ प्रयत्न और ६. इन पांचों के सहकारी पूर्वले उत्तम संस्कारों की आवश्यकता भी है; इन षटों में जितनी २ त्रुटियां रहती हैं वह ब्रह्म-ज्ञान में प्रतिबन्ध होकर अभीष्ट अर्थ (ब्रह्म-ज्ञान) प्राप्ति होना दुर्लभ हो जाता है अर्थात् इन साधनों के उत्तम रीति से किये बिना मुक्ति पद प्राप्त होना कठिन हो जाता है।

१. सत्संग—जो अति ही निष्काम और यथार्थ ब्रह्मवेत्ता हैं उनके समीप जाकर पूर्ण श्रद्धा व प्रेमपूर्वक उनसे तत्त्व ज्ञान की मुक्ति पूछ कर तदनुसार धारणा॥ इति सत्संग॥

❀ नोटः—भक्ति, श्रद्धा पर अवलम्बित है। इसी लिये भक्तों को श्रद्धा वृद्धि करते जाना चाहिये। श्रद्धा के लिये अत्यन्त घातक, नास्तिक जनों का सङ्ग भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

२. **सद् विचार**—कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का और सत्य असत्य का तथा जीव-ब्रह्म की एकता का यथार्थ रीति से निर्णय व निश्चय करने के लिये दृष्टान्त आदि सद् युक्तियों का विवेचन करना। ॥ इति सद् विचार ॥

३. **पूर्ण वैराग्य**—देहादि सब जगत् को दुःख का कारण और मलिनरूप निश्चय करते हुए लोक परलोक के सब भोगों से उदासीन होकर इनकी इच्छा का सर्वथा त्याग करना ॥ इति पूर्ण वैराग्य ॥

४. **शुद्ध आहार व्यवहार**—धर्म कमाई का सादा और अल्प आहार और सब क्रियाओं को संतोष और नम्रतापूर्वक करते हुए सदा प्राणीमात्र का हित चाहना और सब दुर्व्यवहारों को त्याग अपने अपने २ धर्मानुसार यथार्थ बर्ताव करना ॥ इति शुद्ध आहार व्यवहार ॥

५. **शुभ प्रयत्न**—सद्गुरू और सद्शास्त्र के कथनानुसार ब्रह्मज्ञान के साधनों में सदैव तैयार रहना। और इसमें विशेष रहस्य यह है कि ब्रह्म मन बुद्धि आदि का सर्वथा विषय नहीं है इसलिये दृष्टान्त रूप युक्ति बिना ब्रह्म का चिन्तन और निर्णय कभी नहीं हो सकता। योगवासिष्ठ आदि में हर एक प्रसंग के साथ दृष्टान्तों को लिखा गया है। जैसे स्वप्न सृष्टि में भासे हुए सूरज आकाश पृथ्वी पर्वत और मनुष्य ये सब स्वप्न में सत् भासते भी कल्पित हैं। और उनका साक्षी (आत्मा) सत् है। (१) जलाशय में प्रतिबिम्बित पदार्थ सत्य नहीं किन्तु एक जल ही है। (२) दृष्टिदोष से भासे हुए तरुवरे और मुक्ताला वास्तव से शुद्ध आकाश ही है। (३) आभूषणों के नाम रूप और व्यवहार सुवर्ण से भिन्न कदाचित् नहीं होते। (४) वेदान्त सिद्धान्त का एक अमिट सिद्धान्त यह भी है कि जब तक तीन सत्ताओं और अधिकारी का भेद न समझा जाय तब तक वेद वेदान्त के वाक्यों की निर्दोष व्यवस्था नहीं हो सकती किन्तु संशय विपर्यय बने रहते हैं।

अतः नाम रूप जगत् का बाध करके शेष एक सच्चिदानन्द ब्रह्म का निश्चय हो सकता है। इसलिये अधिकारियों को इस ब्रह्मज्ञान का नित्य प्रति विचार करना चाहिये।

उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के लिये ३ तीन साधन बतलाये गये हैं, यथाः—

(१) तप, (२) दम और (३) कर्म।

१. तप—कठोरताओं के सहने, अशुद्धियों को दूर करके शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार रखने तथा कठिन समयों पर जनता की सेवा करने का नाम तप है।

२. दम—इन्द्रियों के निग्रह को कहते हैं। इन्द्रियों को ऐसा बना देना है जिससे वे कोई अनुचित काम न कर सकें।

३. कर्मः—ब्रह्मविद्या का साधन कर्म निष्काम कर्म है, जिसको गीता में कर्मयोग कहा गया है क्यों कि निष्काम कर्म ही का तात्पर्य समझा जावे; इसका कारण यह है कि सकाम कर्म से उस वासना की उत्पत्ति होती है जिसको उपनिषदों में "हृदय ग्रन्थि" कहा गया है। इस वासना के चित्त में बने रहने से मनुष्य आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकता। परन्तु निष्काम कर्म से बन्धन में लाने वाली यह वासना उत्पन्न नहीं होती। यही निष्काम कर्म की विशेषता है।

उपर्युक्त साधनत्रय पर आचरण करने ही से कोई ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है। ये साधन वेद वेदाङ्गों में प्रतिष्ठित हैं और वेद वेदाङ्गों के लिये कहा गया है कि उनका आयतन (आधार) सत्य है। इस सत्य के आधार होने की बात का कारण यह है कि वेद और वेदाङ्ग चाहते हैं कि उनमें वर्णित ये साधन (तप, दम, कर्म) सत्य पर निर्भर हैं, यदि इन साधनाओं में सचाई न हो तो फिर ये साधन, केवल दिखावट की बात रह जाते हैं। नीति में एक जगह कहा गया है:—

इज्याऽध्ययन दानानि तपः सत्यं धृति क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधि स्मृतः॥
तत्र पूर्वश्चतुवर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुवर्गो महात्मन्येष तिष्ठति॥

अर्थात् १. यज्ञ, २. अध्ययन, ३. दान, ४. तप, ५. सत्य, ६. धृति, (७) क्षमा और अलोभ में से प्रारम्भ के चार दम्भ के लिये भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु अन्त के चार (दिखावट से शून्य) महात्माओं ही में होते हैं। अन्त के चार सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ हैं। स्पष्ट है कि सदाचार दम्भ से शून्य हुआ करता है इसलिये यदि ब्रह्मविद्या के साधन तप, दम और कर्म सत्य पर निर्भर हों तो फिर उनके भीतर दम्भ और दिखावट नहीं हो सकती। उनमें वास्तविकता होगी और इस प्रकार वे ब्रह्मविद्या और ब्रह्म की प्राप्ति के असंदिग्ध साधन होंगे।

प्रश्न – चाह क्यों उत्पन्न होती है?

उत्तर – सभी प्रकार की चाह उस समय उत्पन्न होती है जब हम अपने में शरीर-भाव धारण करते हैं, क्योंकि शरीर-भाव धारण करने से सीमित अहं भाव उत्पन्न हो जाता है। सीमित अहं भाव होने से किसी प्रकार की बन्धन युक्त भावना अपने में अनुभव करते हैं, उसी बन्धन की हुई भावना करके अनुसार करने का भाव उत्पन्न होता है।

प्रत्येक क्रिया का जन्म इच्छा से होता है।

ज्ञान की स्थिति

ज्ञान की स्थिति के लिए श्रवण, मनन आदिकों की आवृत्ति पुनः पुनः करे, क्योंकि उद्दालक ने अपने पुत्र के प्रति नव वार 'तत्त्वमसि' महा वाक्य का उपदेश किया है। बारम्बार श्रवणादिकों के करने से चित्त की वृत्ति विजातीय भावना का त्याग करके सजातीय भावना वाली होकर आत्माकार हो जाती है।

कर्म, उपासना और ज्ञान का सारांश

कर्म, उपासना और ज्ञान का सारांश यह है कि अग्नि होत्र, संध्या, यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि कर्म केवल अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त हैं और अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान के अधिकार के निमित्त है। ज्ञान उत्पन्न होने से भगवत् स्वरूप का साक्षात्कार होता है। भगवत् स्वरूप के साक्षात्कार

होने से प्राणी को किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये मलिन अन्तःकरण वालों के लिये कर्म का ही साधन योग्य है, पर इस में काम्य कर्म बंधन के कारण होते हैं और निष्काम कर्म बन्धनों से छुड़ा देते हैं।

चार प्रकार के पुरुष

संसार में चार प्रकार के पुरुष हैं, अर्थात् उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और महाकनिष्ठ।

१. उत्तम—उत्तम के लिये तो सोहं का जप करना ही ठीक है।

२. मध्यम—मध्यम के लिये चित्त की शुद्धि के वास्ते ॐकार या गायत्री मंत्र का जप करना उचित है।

३. कनिष्ठ—कनिष्ठ के लिये मूर्ति का पूजन करना चाहिये।

४. महाकनिष्ठ—जो अति ही कनिष्ठ अर्थात् महान् मूर्ख हैं उनके लिये शास्त्र में कोई पूजा नहीं कही गई है, वे अज्ञान के वश होकर अनेक जीवों को देवी आदिकों के सामने मार कर मद्य के साथ उनके मांस का सेवन करते हैं और इसी को ईश्वर की पूजा समझते हैं।

अब संक्षेप से धर्म का विवरण करेंगे जिससे कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड का रहस्य और भी स्पष्ट हो जायगा। तद्नन्तर षट् दर्शन परिचय, सृष्टि की उत्पत्ति आदि और भी अनेक उपयोगी बातों का विवरण कर इस ग्रन्थ की समाप्ति करेंगे।

देखिये महात्मा भर्तृहरि मनुष्यों के कल्याण के लिये क्या कहते हैं:—

प्राण घाता निवृत्तिः परधनहरेण संयमः सत्य वाक्यं।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा मूकभावः परेषाम्॥
तृष्णा श्रोतो विभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहत विधिः श्रेयसामेवपन्था॥

अर्थात् जीव हिंसा से निवृत्त रहना, पराये धन हरण करने से संयम करना, सत्य बोलना, समय पर यथा शक्ति दान देना, पर स्त्रियों की कथा में मौन रहना, तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना, बड़े लोगों से नम्र रहना, प्राणी मात्र पर दया रखना, सब शास्त्रों में प्रवृत्ति रखना और नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते रहना, यही सब मनुष्यों के कल्याण का पथ है। इन सब बातों का पूर्ण विवरण धर्म के विषय में आगे कहा जायेगा।

पाँच महायज्ञों के विषय में मनुजी ने इस प्रकार कहा है—

ऋषियज्ञम् देवयज्ञम् भूतयज्ञम् च सर्वदा।
नृपयज्ञम् पितृयज्ञम् च यथाशक्ति न हापयेत्॥

मनु कहते हैं कि, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृपयज्ञ और पितृयज्ञ ये मनुष्यों के लिये मुख्य पांच यज्ञ हैं कदापि त्याग न करें। अब इन यज्ञों का स्वरूप विलग-विलग वर्णन किया जाता है—

१. ऋषियज्ञ—जो ब्रह्मचारी रहकर वेदों का पठन पाठन करते हैं और भिक्षा मांगकर गुरु के समीप ला उनको भोजन करा शेष भाग आप भोजन करते हैं वे ऋषियज्ञ के अवशिष्ट भाग के भोजन करने वाले कहे जाते हैं।

२. देवयज्ञ—देवताओं के निमित्त जो हविष्य इत्यादि को प्रदान करके शेष भाग के भोजन करने वाले हैं वे देवयज्ञ के अवशिष्ट भाग के भोजन करने वाले कहलाते हैं।

३. भूतयज्ञ—अन्न तैयार कर पशु, पक्षी, तथा अन्य संसार के जीवों का भाग देकर शेष भाग को जो भोजन करते हैं वे भूतयज्ञ अवशिष्ट भाग के भोजन करने वाले कहे जाते हैं।

४. नृयज्ञ—रसोई बनाने के पश्चात् जो ❀ अतिथि अपने द्वार पर आ जावे उसको बिना किसी विचार के भोजन कराकर जो भोजन करने वाले हैं वे नृयज्ञ के अवशिष्ट भाग के भोजन करने वाले कहे जाते हैं।

५. पितृयज्ञ—पिता, पितामह, प्रपितामह इत्यादि के वार्षिक श्राद्ध में ब्राह्मण, साधु तथा भाई बन्धुओं को भोजन कराकर जो शेष भाग के भोजन करने वाले हैं वे पितृयज्ञ के अवशिष्ट भाग के भोजन करने वाले कहे जाते हैं।

❀ बिना किसी विचार के अतिथि को भोजन कराना चाहिये। प्रमाण— "दूराध्वोपागतं श्रांतं वैश्वदेव उपस्थितम्। अतिथिं तं विजायान्नातिथिः। पूर्वमागतः॥ चौरो वा यदि चाण्डालः शत्रुर्वा पितृघातकः। वैश्वदेवेशु सम्प्राप्ये सोअतिथिः सर्वसंगमः॥ न पृच्छे द्रोत्रचरणे स्वाध्याये च व्रतानि च। हृदयं कल्पयेत्तस्मिन् सर्वदेवमयो हि सः॥" अर्थ— जो दूर देश से आया हुआ हो, अर्थात् जिस समय गृहस्थ के घर वैश्वदेव हो रहा हो ठीक उसी समय आया हुआ हो, तो उसी को अतिथि जानना चाहिये। उससे पहिले जो आये हुए पुरोधा, ऋत्विज इत्यादि हैं वे अतिथि नहीं कहे जा सकते। सो अतिथि चोर हो, चाण्डाल हो, शत्रु वा पिता-घातक हो, कोई क्यों न हो वैश्वदेव के समय जो आजावे वही अतिथि है। सोई सर्व-संगम है।

धर्म ।

शास्त्रों में धर्म का लक्षण यह बतलाया गया है:—

'यतोऽभ्युदय निश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

जिससे सांसारिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति हो वह 'धर्म' है।

धर्म शब्द धृ=(धारण करना) धातु से बना है। धर्म से ही प्रजा बंधी हुई है। यह निश्च किया गया है कि जिससे (सब प्रजा अर्थात् चराचर का) धारण होता है, वही धर्म है। इसी प्रका महाभारत के कर्ण पर्व में श्रीभगवान् ने कहा है:—

'धारणयद्धर्म्म मितात्हुधर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म्म इति निश्चयः ॥'

अर्थः— धारण करता है इसलिये धर्म को धर्म कहा गया है। धर्म प्रजाओं को धारण करता है, जो धारण करने की योग्यता रखता है, वही धर्म है।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शास्वतः ।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म संग्रहः ॥

अर्थात् शरीर अनित्य है, वैभव भी सदा बने रहने वाले नहीं हैं, और मृत्यु भी सदा पास है, यह समझकर धर्म करना कर्त्तव्य है।

मनुष्य का जीवन क्षणिक है, अतएव युवावस्था से ही धर्म का आचरण करने लगना चाहिये। धर्म से ही इस लोक में कीर्ति और परलोक में सुख मिलता है। मनुष्य मोहवश करने और न करने का कुछ विचार न करके स्त्री और पुत्र का पालन पोषण ही करता रहता है किन्तु बाघ सोते हुए मृग को ले भगता है वैसे ही मृत्यु उस विषयासक्त को उठा ले जा सकती है। यह काम पूरा हो गया, वह काम अधूरा पड़ा है, यह काम करना है, इसी धुन में मनुष्य मृत्यु का ग्रास हो जाता है। धन-दौलत बटोरते २ ही मनुष्य मृत्यु के मुंह में चला जाता है, उसके मनोरथ पूरे नहीं हो पाते। बलवान—निर्बल, वीर—डरपोक, पंडित—मूर्ख किसी को मृत्यु नहीं छोड़ती।

इसलिये यदि धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिये कि समाज के सारे बंधन भी टूट गये और यदि समाज के बन्धन टूटे तो आकर्षण शक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रह-मालाओं की जो दशा होती है ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है। इसलिये भगवती श्रुति कहती हैं कि:—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'

और यही सोचकर भगवान् शंकराचार्य यह कह गये हैं कि:—

'जगतः स्थिति कारणम् (धर्मः)

अब यह विचारना चाहिये कि धर्म किस प्रकार जगत् की स्थिति का कारण है? सुनिये ▶

जगदीश्वर ने जगत् को बनाकर इसे विवर्तन (भ्रमण) स्रोत में बहा दिया है, इसी कारण इसका नाम 'जगत्' (निरन्तर गमनशील) और संसार (घूमने वाला) है। विवर्तन-स्रोत में इसको इसलिये बहाया है कि यह ऋत मार्ग से घूमकर कल्पके अन्त में उसी जगन्नियंता प्रभु के चरणों में जा मिले। यही जगत् का नियम जो अनादि काल से चल रहा है। जिस नियम का अनुसरण करने से संसार की विवर्तन गति अप्रतिहत बनी रहे, अथवा जिससे जगत् के ईश्वर निर्मित नियम पूर्ण हों, उसका नाम धर्म है। जीव और जड़ इन दोनों का ही नाम जगत् है। ये दोनों ही विवर्तन-नीति (भ्रमण-कक्षा)के अधीन हैं। अतएव जिसके द्वारा जीव और जड़ के विवर्तन को सहायता पहुँचे उसी को कहते हैं धर्म और जिससे विवर्तन में व्याघात हो यही अधर्म है, इसी भाव से धर्म को जगत् की प्रतिष्ठा स्थिति का हेतु और धारक कहा गया है। यह जगत् जब विवर्तन के मार्ग को छोड़ कर कुमार्ग में चलने लगता है, जब निर्दिष्ट नियमों का पालन कर स्वेच्छाचारी बनता है अर्थात् जब यह संसार ऋतमार्ग में न जाकर अधर्म का आश्रय लेता है तभी जगत् में विघ्न बाधा एवं भांति २ की विपत्तियों के अन्धकार उठते हैं।

धर्म ही मनुष्य का जीवन प्राण और इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाला है। परलोक में तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है। स्त्री पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहां सहायता नहीं कर सकते। अतएव अपने कल्याण के लिये मनुष्य मात्र को नित्य निरन्तर धर्म का सञ्चय करना चाहिये। धर्म के तीन अंग हैं—भय, आशा और प्रेम। भय में पाप छुड़ाने की शक्ति, आशा में साधना के द्वारा पारलौकिक उन्नति करने की शक्ति और प्रेम में दुःख सहन करने की शक्ति है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि वह धारणा करने योग्य धर्म क्या वस्तु है ?

ऋषियों ने सद्गुण और सदाचार के नाम से ही धर्म की व्याख्या की है। भगवान् ने गीता अध्याय १६ में जो दैवी सम्पत्ति के नाम से तथा अध्याय १७ में तप के नाम से जो कुछ कहा है सो धर्म की ही व्याख्या है। महर्षि पातञ्जलि ने योगदर्शन के दूसरे पाद में इसी धर्म की सूत्ररूप से यम—नियम के नाम से की है। और मनुजी ने भी संक्षेप में अ० ६।९८ में धर्म के दश लक्षण बताये हैं। इन सबको देखते हुए यह सिद्ध हो जाता है कि सद्गुण और सदाचार का नाम ही धर्म है।

सद्गुण—अन्तःकरण में जो पवित्र भाव हैं उन्ही का नाम सद्गुण है।

सदाचार—जो आचरण अपने और सारे संसार के लिये हितकर हैं यानी मन, वाणी और शरीर द्वारा की हुई जो उत्तम क्रिया है वही 'सदाचार' है।

धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार को 'आचार' कहते हैं। उसके दो भेद हैं। एक सदाचार और दूसरा अनाचार है और कोई लोकधर्माऽधर्म भी कहते हैं और कोई इसको कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कहते हैं।

प्रातःकाल से लेकर रात्रि के सोने के समय तक किस २ प्रकार शारीरिक चेष्टाओं के करने से यथार्थ उन्नति और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है इन्ही का नाम सदाचार है।

सदाचार का स्वरूप यह है कि सत्य बोलना, धर्माचरण करना और विद्याभ्यास करना, ब्रह्मचर्य्य धारण करना, अन्याय से कोई प्राणी की हिंसा न करना, विषयों में लम्पट न रहना, जितेन्द्रिय रहना अर्थात्

ग्रहण योग्य ।

१. सदाचरण, २. सन्तोष, ३. सत्सङ्ग ४. सद्गुण, ५. सद्भाव, ६. सद्विचार और ७. सत्यज्ञान। इन शुद्ध कर्त्तव्यों के करने से पाप, संताप दूर होकर आनन्द मिलता है।

१. सदाचरण—जिसके सच्चरित्र होते हैं वह लोकोन्नति पाकर मुक्ति का भागी होता है, उसके अवगुण, दुर्बर्ताव स्वाभाविक छूटते जाते हैं।

२. संतोष—जब संतोष प्राप्त होता है तो संसार की दुराशाएँ नष्ट होकर निष्कामता को अङ्गीकार करके वह महानुभाव सुखों को प्राप्त होता है।

३. सत्संग—जिसको संसार में उन्नति और सद्मार्ग की तीव्र इच्छा होती है वह मनुष्य प्रतिदिन सत्संग का आश्रय करके दुःखों से तर जा सकता है। बहुत काल सत्संग करते हुए भी जहां लाभ नहीं होता, वहां सत्संग में त्रुटि होती है; पर जैसी संगति की जाती है, वैसा ही मन का भाव अवश्य होता है, अर्थात् शुभ संगति से उन्नति और कुसंग से नीचता प्राप्त होती है।

४. सद्गुण---सद्गुणों की धारणा करके बहुत मुनि ऋषि, सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। जिसको अपना कल्याण इच्छित हो वह श्रेष्ठ संगति में बैठे।

५. सद्भाव---जिसके अन्तःकरण में सद्भाव होते हैं वह उत्तम निश्चय को पाकर धारणा के द्वारा कृतकृत्य होता है।

६. सद्विचार---जब सद्विचार चित्त में प्रगट होते हैं तो मनुष्य अंतरंग साधनों को प्राप्त होकर ब्रह्मज्ञान को सहज पाता है, बहुत क्या कहा जाय सांसारिक व पारमार्थिक उन्नति शुभ विचारों से प्राप्त होती है और विचार के बिना मनुष्य पशु के समान है।

७. सत्यज्ञान---सत्यज्ञान पाने की जब तीव्र इच्छा होती है, तब अधिक प्रवृत्ति व सांसारिक सुख फीके लगते हैं। केवल आत्म-अभ्यास में तत्पर होकर वह सज्जन कृतार्थ होता है।

सत्य का लक्षण—जिसका कोई कभी निषेध नहीं कर सके वह सत्य है, स्वात्माका कोई भी निषेध नहीं कर सकता, इसलिये आत्मा ही सत्यस्वरूप है।

मनु भगवान् ने धर्म के दश लक्षण कहे हैं—

दश मानव धर्म ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीविद्या सत्यमक्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम् ॥ (मनुस्मृतिः)

१—धृतिः—अर्थात् धैर्य, सन्तोष, सहनशीलता, एवं धारणा। धैर्य से ही सभी कार्य सफल होते हैं, धैर्य बिना साधन-भजन नहीं होता, धैर्य से ही मन को वश में कर सकते हैं।

मन आदि इन्द्रियों को वश में रखना, परोपकार कर्म करना, ईश्वर में आस्था रखना अर्थात् सृष्टि कर्त्ता ईश्वर को मानना, नास्तिक न होना इत्यादि सदाचार का स्वरूप है और इससे विपरीत अनाचार रूप निंदित रूप, असत्य भाषणादि जानना ।

सदाचार के पालन से आयु तथा श्री की वृद्धि और इहलोक परलोक में मनुष्य को यशोलाभ होता है और कोई विशेष लक्षण न रहने पर भी केवल आचार और शास्त्र में श्रद्धा के बल से मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है । आत्मोन्नति कर शास्त्र के नियमित न पढ़ने से, आचारहीन होने से, आलसी होने से और खराब अन्न के खाने से मनुष्य अल्पायु हो जाता है।

अब संक्षेप से त्यागने योग्य और गृहणयोग्य वस्तुओं का विवरण करते हैं:—

त्याग ने योग्य

१. दुष्कर्म, २. दुर्वाद, ३. दुस्संग, ४. दुर्व्यसन, ५. दुर्भाव, ६. दुर्वासना, और ७. दुर्बोध। इन सातों का परिणाम बहुत बुरा है।

१. दुष्कर्म—मनुष्य जब निन्दित कर्मों को करता है तो महान् अवनति पाता है और इनके त्यागने से सुख बढ़ता तथा ईश्वर की कृपा का पात्र बन कर मोक्ष का अधिकारी होता है।

२. दुर्वाद—पर निन्दा, झूठ, व्यर्थ भाषण, पर-अपमान-इत्यादि वाणी के दोषों को त्याग देना, प्राणी को दुःख देने के समान कोई पाप नहीं और दया के तुल्य दूसरा धर्म नहीं। यदि अल्प व सत्य और प्रिय भाषण किया जावे तो पूर्ण सभ्यता को पाकर सद्गति होती है।

३. दुस्संग—खोटी संगति से मन में बुरे भाव उत्पन्न होते हैं पुनः सुधरना कठिन होता है जो अपना कल्याण चाहे वह विषयी पक्षपाती, मूर्ख भेदवादी, दम्भिक इनका सहवास त्याग कर सज्जनों के संग से लोकोन्नति तथा आत्मज्ञान को पा सकता है अर्थात् जो मनुष्य सत्संग करते हैं सद्गुणों की धारणा करके वह उच्चपद पाते हैं।

४. दुर्व्यसन—चोरी, कपट, पर स्त्री-रति, उन्माद, हिंसा, जुआ और मांस भक्षण आदि दुर्व्यसनों के होने पर बहुत हानियां होती हैं।

पहले कहे हुए दुर्व्यसन से रावण आदि बड़े २ पराक्रमी राजा भी नष्ट हुए। प्रयत्न के द्वारा दुर्व्यसनों के त्याग करने से मनुष्य महान् उन्नति पाता है।

५. दुर्भाव—दुर्भावों से सब प्रयत्न निष्फल बल्कि अनर्थकर होते हैं और सद्भावों की धारणा होने पर कल्याण पाता है (या मति सा गति)।

६. दुर्वासना—दुर्वासनाओं से जो २ कर्म किये जाते हैं वह बंधनरूप यानी लोक बड़ाई आदि वासना सहित सब क्रियाएँ निष्फल और अनर्थप्रद होती हैं।

७. दुर्बोध—जबतक दुर्बोध (अज्ञान) होता है तब तक मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता अतः हृदय से आवरण दूर करने के लिए योग्य साधनों के द्वारा जब बोध होता है तब मनुष्य सर्वथा आनन्द को पाता है।

२—क्षमा—अपना-अपकार करने वाले से—बदला लेने की पूरी सामर्थ्य होने पर भी उसको सुधारने के लिये बदला न लेकर सहन कर लेना, वह क्षमा कहलाती है। क्षमा द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिये पानी का काम करती है, इसलिये क्रोध एवं प्रति-हिंसा बदला लेने की प्रति भावना का त्याग कर क्षमा धारण करना चाहिये। वह क्षमा नहीं है। जो एक दुष्ट किसी दुर्बल को मार रहा है, या लूट रहा है, या किसी की बहिन-बेटी की लाज ले रहा है—उस समय हम कुछ न बोलें, कहें कि हम क्षमा एवं अहिंसाव्रती हैं, यह डरपोकपना है। उस समय हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर उस दुष्ट का सामना कर उसको दण्ड देकर दुर्बल की रक्षा करना क्षमा एवं अहिंसा है। यदि उस दुष्ट को दण्ड न दिया जाय तो वह वैसा ही दुष्ट रहेगा, अनेकों को सतायेगा, अतः उसे दण्ड देकर उसकी दुष्टता को हटाना और उसको सुधारना, चीर फाड़ करने वाले डाक्टर के समान उसका भला चाहना वह क्षमा का मूल स्वरूप है।

३—दम—मन का निग्रह, मन के विजय से ही मुक्ति मिलती है। मन के अति कामादि गन्दे स्वभावों के त्याग से व्यवहार की भी सिद्धि होती है, चंचल—उद्विग्न मन वाला मनुष्य किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिए मन को वश में रक्खो, शुभ विवेक विचार के अनुसार चलो।

४—अस्तेय—चोरी का त्याग। चालाकी, धूर्तता,पाखण्डता विश्वासघात, कमती देना, अधिक लेना, अच्छी वस्तु दिखाकर कुत्सित वस्तु देना इत्यादि भी चोरी है। ऐसी चोरियां दिन में बाजारों में हुआ करती हैं, जबतक इस प्रकार की चोरियों की आदतें छूट नहीं सकती, तबतक धर्म, भक्ति एवं ज्ञान से तुम हजारों कोस दूर हो ऐसा समझना चाहिये, इसलिये धूर्तता का परित्याग कर किसी के अधिकार का हरण मत करो।

५—शौच—यानी पवित्रता, शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की है। एक बाहर की एवं दूसरी अन्तर की। जल-मृत्तिका से एवं मद्य मांस आदि अभक्ष्य-तामस पदार्थों का त्याग कर सात्त्विक मिताहार से शरीर को शुद्ध एवं स्वस्थ रखना यह बाहर की शुद्धि हैं। और मैत्री, करुणा, मुदिता, एवं उपेक्षा की भावना से आन्तरिक शुद्धि प्राप्त होती है। धन विद्यादि से सम्पन्न-सुखी मनुष्यों से प्रेम करना मैत्री कहलाती है, इससे चित्त की ईर्षा, मल दूर होता है। दुःखी प्राणियों के प्रति दया करना यह करुणा है, इससे हृदय की कठोरता दूर होती है। पुण्यशील-धार्मिक मनुष्यों को देखकर हर्षित होना मुदिता है, इससे गुणों में दोषारोपण नाम का असूयामल निवृत्त हो जाता है। पापियों के प्रति उदासीन रहना उनके दोषों का चिन्तन एवं कथन न करना उपेक्षा है, इससे, दोष, निन्दा, क्रोध आदि मल दूर हो जाते हैं।

६—इन्द्रियनिग्रह—चक्षुरादि इन्द्रियों को लोक एवं परलोक बिगाड़ने वाले निन्दित विषयों में न लगा कर विहित शुभ विषयों में लगाना इन्द्रिय निग्रह है। इन्द्रियों का सेवक न बनकर उनको अपने वश में रखनी चाहिये। संयमी सदाचारी जीवन ही सदा प्रसन्न एवं यशस्वी होता है।

७—धी—यानी श्रेष्ठ सद्विचारवाली निर्मल-बुद्धि। सत्संग एवं सत्शास्त्रों का अनुशीलन, भगवद्भजन आत्मविचार आदि साधनों से श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त होती है। एकाग्रतायुक्त शुद्ध बुद्धि से ही परमात्मा के दिव्य प्रकाश एवं पूर्णानन्द का अनुभव होता है।

८—विद्या—यानी ब्रह्मविद्या । जो सकल—अनेक पदार्थों में एक ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का तथा एक अद्वैतपूर्ण ब्रह्मात्मा में अनेकात्मक द्वैत-प्रपञ्च के विलय का अनुभव कराने वाली है। इस दीनहीन जीव को ब्रह्मविद्या सदा के लिये परमानंद निधि कैवल्य धाम में पहुँचा कर शिवस्वरूप बना देती है, इसलिये इस ब्रह्मविद्या की हमें प्राप्ति करनी चाहिये ।

९—सत्य—'सत्यमे परं ब्रह्म' एक मात्र परमब्रह्म परमात्मा ही सत्य है, इससे अन्य यह नामरूपात्मक द्वैत-प्रपञ्च मायाकल्पित, मिथ्या असार है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना यह परम सत्य है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम्' प्राणियों का हित करना, यथार्थ एवं प्रिय बोलना भी सत्य है ।

१०—अक्रोध, क्रोध का त्याग करो, क्रोध अनेक पापों का मूल कारण है, क्रोध से पुण्य का नाश हो जाता है । जब किसी कारण वशात् क्रोध का प्रादुर्भाव हो जाय तब चुप हो जाना चाहिये, अथवा भगवन्नाम का जप करना चाहिये ।

आसुरी व दैवी सम्पत्ति

१. आसुरी जन—जो लोग कामनाओं के वश होकर नाना प्रकार के कर्म करते है। संसार ही में ऐश्वर्यवान् होकर नाना विषय-भोग के सुख भोगना चाहते हैं, संसार से मोक्ष पाने की इच्छा उनको नहीं होती। ये प्रवृत्ति और निवृत्ति व्यवस्था नहीं जानते, दम्भ, अभिमानादि राजस गुणों से युक्त हैं, वे आसुरी कहे जाते हैं ।

२. दैवी जन—जो संसार के सुखों में भी दुःख जान कर उनसे विरक्त हो जाते हैं, अपने धर्मानुसार कर्म करने पर भी उनका फल नहीं चाहते, दया, आर्जव क्षमादि सात्विक गुणों से युक्त हैं, ऐसे लोग मोक्ष के अधिकारी होने से दैवी कहे जाते हैं ।

आसुरी सम्पत्ति से बचो

१. किस काम को करना चाहिये, किसको छोड़ना चाहिये, इस बात का विवेक न रहना । २. बाहर और भीतर से अपवित्र रहना । ३. असदाचारी होना । ४. असत्य भाषण करना । ५. जगत् को आधार-रहित, (स्वार्थ के लिये) सर्वथा मिथ्या, ईश्वरहीन और स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न मानना । ६. जगत् केवल विषय भोगने के लिये ही है, ऐसा समझना । ७. मिथ्या ज्ञान से आत्मभाव को भूल जाना । ८. बुद्धि का मन्द होना । ९. सब का बुरा करना । १०. क्रूर कर्म करना । ११. बगुला भक्ति या दम्भ करना । १२. अपने को माननीय समझना । १३. घमंड में चूर रहना । १४. कामनाओं से घिरे रहना । १५. अनीश्वरीय सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरण करना । १६ मरणकाल तक रहने वाली अनन्त चिन्ताओं से जलते रहना । १७. 'खाओ, पीओ, आनन्द करो' में ही आनन्द की इति श्री मानना । १८. सैकड़ों प्रकार की भोग आशाओं की फांसियों में ही फंसे रहना । १९. काम-क्रोध को ही जीवन का सहारा समझना । २०. मौज-शौक के लिये अन्याय से धन इकट्ठा करना । २१. सदा इसी विचार में रहना कि आज यह उत्पन्न किया है, शेष की इच्छायें भविष्य में पूरी करूंगा । इतना धन तो मेरे पास है ही, फिर और भी

हो जायगा। २२. वैरभाव से प्रेरित होकर दूसरों की हिंसा करना और यह समझना कि अमुक शत्रु को तो मार ही डाला, शेष को भी मार डालूँगा। २३. अपने को ही सबका स्वामी समझना। २४. अपने को ही ऐश्वर्यों का भोग करने वाला मानना। २५. अपने में ही सिद्धियों को मानना। २६. शारीरिक बल से ही अपने को सुखी समझना। २८. अपने को बड़ा धनी समझना। २९. बड़े कुटुम्ब का घमण्ड करना। ३०. अपने समान किसी को न समझना। ३१. अभिमान से यह कहना कि मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा. मेरी बड़ी कीर्ति होगी, जिसको सुनकर मैं बहुत राजी (प्रसन्न) होऊँगा। ३२. चित्त का अत्यन्त चञ्चल रहना। ३३. मोहजाल से बुद्धि का ढका रहना। ३४. भोगों में अत्यन्त आसक्त रहना। ३५. अपने को ही सबसे श्रेष्ठ समझना। ३६. मुंह फुलाये रहना। ३७. धन और मान के मद में मदांध रहना। ३८. शास्त्र विधि को छोड़ कर दम्भ से केवल नाम मात्र के लिये यज्ञ करना। ३९. 'मैं' मन का अहङ्कार, शारीरिक बल, धन, मान, पुत्र, जाति, वर्ण, रूप, यौवन, देश, विद्या, आदि का घमण्ड करना। ४०. दूसरों की निन्दा करना। ४१. सब में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष करना। (इनमें मुख्य काम, क्रोध, लोभ हैं) इस सम्पत्ति का फल बन्धन, बारम्बार नीच योनि और परम नीच गति को प्राप्त होना है।)

दैवी सम्पत्ति वाले बनो

१. किसी भी अवस्था में किसी प्रकार का भय न होना। २. अन्तःकरण का भली भांति शुद्ध हो जाना। ३. परमात्मा के स्वरूप ज्ञान योग में निरन्तर स्थित रहना। ४. देश काल, पात्र देखकर सात्त्विक दान करना। ५. इन्द्रियों का दमन करना। ६. यथाधिकार अनेक प्रकार के यज्ञ करना। ७. ईश्वर और ऋषिप्रणीत आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और भगवन्नामगुण का कीर्तन करना। ८. स्वधर्म पालन के लिये कष्ट सहना। ९. शरीर, मन, और इन्द्रियों का सरल रहना। १०. मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी की हिंसा न करना। ११. सत्य-भाषण, जैसा समझा जाना हो, वैसा ही प्रिय शब्दों में कह देना। १२. अपना बुरा करने वाले पर भी क्रोध न होना। १३. कर्तापन के अभिमान का त्याग करना। १४. चित्त की चञ्चलता का मिट जाना। १५. किसी की निन्दा चुगली न करना। १६. सभी प्राणियों में अहेतुकी दया करना। १७. इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग होने पर भी विषयों में आसक्ति न रहना। १८. मन, वाणी का कोमल हो जाना। १९. ईश्वर को सर्वथा सामने समझकर उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य में न लग जाना। २०. मन, वाणी, शरीर से व्यर्थ चेष्टाएँ न करना। २१. तेज का विकास होना। २२. अपना घोर अनिष्ट करने वाले के लिये, उसका अपराध क्षमा करने के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना करना। २३. किसी भी अवस्था में धैर्य न छोड़ना। २४. बाहर भीतर से शुद्ध रहना। २५. किसी के प्रति भी शत्रु-भाव न रखना। २६. अपने में किसी प्रकार के बड़प्पन का अभिमान न होना (गीता १६ १-३)

महर्षि पातञ्जलि के पांच यम और पांच नियम।

विदित हो कि इन्हीं पांच यम और नियमों के अन्दर सब सद्गुण आ जाते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

पांच यम— (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।
पांच नियम—(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय, (५) ईश्वरप्रणिधान

पांच यम ।

१. अहिंसा— अहिंसा का अर्थ यह है कि किसी दशा में किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से कोई कष्ट नहीं पहुँचाना, मन से किसी का अनिष्ट न सोचना, वाणी से कठोर वचन न कहना और अन्त में शरीर या कर्म से उसे किसी प्रकार पीड़ा न पहुँचाना। जो अहिंसा-व्रत पालन करता है उसके लिए और प्राणी भी वैर त्याग देते हैं। उसके समीप हिंसक भी अपनी हिंसा-वृत्ति छोड़ देते हैं। पुराने ऋषियों के सामने सिंह घूमते रहते थे और उनका कुछ न बिगाड़ते थे। सिंह और बकरी एक घाट पीने की बात 'अहिंसा' व्रत से ही सम्भव है।

२. सत्य— सत्य का अर्थ वाणी और मन का एकसा होना है। जैसा देखा, सुना या जाना वैसा ही करना, उससे विपरीत न कहना, किसी दशा में किसी को भ्रम में न डालना ही सत्य है, जो 'सत्य के व्रत को पूरा कर लेता है उसी की वाणी में यह शक्ति होती है कि वह जैसा कह दे वही होता है। अर्थात् उसकी वाणी असाधारण प्रभाव वाली होती है। एक कवि ने ठीक कहा है कि:—विद्वान की वाणी अर्थ के अनुकूल होती है अर्थात् जैसा होना होता है वही वे कहते हैं। परन्तु ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ चलता है अर्थात् जो कुछ वे कहते हैं वही होता है।

३. अस्तेय— 'अस्तेय' का अर्थ 'चोरी' न करना है। अर्थात् चोरी न करना, कर्म से नहीं अपितु मन से भी किसी के पदार्थ की बिना उसकी अनुमति के ग्रहण करने की इच्छा न करना ही 'अस्तेय' है। अस्तेयव्रत के पालन करने से सारे संसार के रत्न उसे मिल जाते हैं + अर्थात् उसे उनकी आकाँक्षा न रहने से वे रत्न मिलने के ही बराबर हैं।

४. ब्रह्मचर्य— उपस्थेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करने से वीर्य-लाभ होता है। जो अब्रह्मचारी और क्षीणवीर्य हैं वे योग के मार्ग पर नहीं चल सकते। साँसारिक भोगों से मन को हटाने का सबसे बड़ा साधन ब्रह्मचर्य है, जो 'वीर्यवान नहीं' है वह आत्मा को नहीं जान सकता।

५. अपरिग्रह— अपरिग्रह का अर्थ साँसारिक वस्तुओं को बहुत इकट्ठा न करना है। आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ न रखना चाहिये क्योंकि वे वस्तुएँ भोग में प्रवृत्ति करती हैं

+ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। पा० २ सू० ३७

और मनुष्य को संसार में लिप्त कर देती हैं। अपरिग्रहव्रतपूर्ण पालन करने से मनुष्य को पहिले और अगले जन्म का ज्ञान हो जाता है क्योंकि जो मनुष्य साँसारिक वस्तुओं का सर्वथा त्याग करता चला जाता है उसका चित्त अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है।

अहिंसा सब धर्मों का मूल है। जो अहिंसाव्रत पालन करता है वह असत्य भाषण नहीं कर सकता क्योंकि असत्य किसी को कष्ट पहुँचाने के लिए बोला जाता है। वह चोरी नहीं कर सकता क्योंकि उससे दूसरे को पीड़ा पहुँचेगी, वह धारण करेगा, क्योंकि ब्रह्मचर्य के त्याग से वह जिसे भोग का साधन बनाता है उसे हानि पहुँचाता है। वह बहुत चीजों का संग्रह कर ही नहीं सकता क्योंकि वस्तुओं का संग्रह करने में दूसरों को कष्ट पहुँचाना ही पड़ता है।

बतलाया गया है कि पांचों यम सार्वभौम होने चाहिये अर्थात् वे जाति, देश, काल से सीमित न हों। × जैसे कोई देश विदेश में हिंसा न करे इसी प्रकार किसी विशेष समय, देश या जाति के विषय में, झूंठ, चोरी, आदि न करे। तो यह यमों का वास्तविक पालन करना नहीं है। उसे चाहिये कि सब देश सब जाति और सब समय में भी अहिंसा, आदि पाँचों ही यमों का पालन करे, तब ही यमों का व्रत "सार्वभौमव्रत' (सब अवस्थाओं में पालन) कहलाता है।

पाँच नियम।

१. शौच— पाँचों नियमों में प्रथम शौच है जिसका अर्थ शुद्धि है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही शुद्धिएँ शौच के अन्तर्गत हैं। शौच से अपने शरीर से घृणा हो जाती है क्योंकि यह पता चल जाता है कि यह शरीर किस प्रकार मलों का घर है और जब अपने से ही घृणा हुई तब दूसरों से तोऔर भी अधिक घृणा हो जाती है, इसलिये औरों से संसर्ग छूट जाता है। ❀

२. सन्तोष— जो वस्तु अपने पास है उससे अधिक लेने की इच्छा न करना। इस प्रकार 'सन्तोष' व्रत धारण करने से 'अनुत्तम सुख' अर्थात् जिससे बढ़कर कोई सुख नहीं वह सुख मिलता है। ± संसार में किसी को चाहे कितना ही मिल जावे परन्तु यदि उसके भीतर-असन्तोष है तो दुःख बना ही रहेगा इसलिये संतोष ही सुख का परम मूल है।

३. तप— तीसरा नियम 'तप' है। तप 'द्वन्दसहन' को कहते हैं। द्वन्दसहन का अर्थ यह है कि मनुष्य, शरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि को सह सके। तप से मल दूर हो जाता है। जिस प्रकार आग पड़ने से सुवर्ण का मल दूर हो जाता है, इसी प्रकार 'तप'

× जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। पो० प० २ सू० ३१

❀ शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः। पा०२ सू० ४०

± सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः। पा०२, सू०४२

रूपी आग में मनुष्य का मल दूर हो जाता है और शरीर तथा इन्द्रियों की अपूर्वसिद्धि उसे प्राप्त होती है। अणिमादि आठ विभूतियें शरीर-सिद्धि हैं तथा दूर से सुन सकना आदि इन्द्रिय सिद्धि हैं। †

४. स्वाध्याय— उपनिषद् आदि आत्मतत्त्वसंबंधी ग्रन्थों का पढ़ना स्वाध्याय है। योग के रास्ते पर चलने के लिए आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन किया जावे। स्वाध्याय से इष्ट देवता □ अर्थात् जिस विषय का अध्ययन किया जाता है उस का ज्ञान हो जाता है।

५. ईश्वर प्रणिधान—'ईश्वर प्रणिधान' का अर्थ ईश्वर की परमभक्ति है। ईश्वर में अपने सब कर्म और चेष्टाओं को अर्पण कर देना, अर्थात् उसकी भावना करते हुए सब काम करना। ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है इसका तात्पर्य यह नहीं है। कि ईश्वर प्रणिधान के अनन्तर ही समाधि सिद्ध हो जाती है ‖ किन्तु समाधि की योग्यया होती है।

उपर्युक्त सबको देखते हुए यही सिद्ध होता है कि सद्गुण और सदाचार का नाम ही धर्म है। अब ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ और अधिक प्रकाश डाल कर पश्चात् धर्म के प्रकार वर्णन करेंगे जिससे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में अति सुगमता होगी।

ब्रह्मचर्य।

सदाचार की आधारशिला ही ब्रह्मचर्य है। और ब्रह्मचर्य ही सदाचार का वास्तविक रूप है। ऋषियों ने सारे मनुष्य जीवन का आधार ब्रह्मचर्य को समझ कर मनुष्य जीवन के सब से बहुमूल्य सर्वोत्तम भाग शिक्षा काल को ब्रह्मचर्य नाम दिया था। ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है? यों तो शब्दार्थ यही होगा कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये आचरण-इस प्रकार का आचरण कि जिससे हम ब्रह्म तक पहुँच सकें या ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर सकें। ऋषियों ने सब से प्रथम शिक्षा काल को 'ब्रह्मचर्य' नाम दिया, इससे पता चलता है कि उनकी दृष्टि में मनुष्य जीवन का मुख्य प्रयोजन ब्रह्म की प्राप्ति थी। वे जीवन को 'ब्रह्मार्पण' करना ही उसका लक्ष्य समझते थे। यह तो हुआ ब्रह्मचर्य को लक्ष्य, उद्देश्य और गहरा आध्यात्मिक अर्थ परन्तु साधारण तथा इन्द्रियों को वश में करने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। सब प्रकार के इन्द्रियों के भोगों से निवृत्त होकर तपस्या का जीवन व्यतीत करना ब्रह्मचारी का आदर्श था, सब इन्द्रियों का विजय! यही अपने पर विजय है। परन्तु

† कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। पा० सू० ४३

□ स्वाध्यायादिष्टदेवता समस्तयोगः। पा० २ सू० ४४ देवता शब्द का अर्थ विषय है जैसे कि वेद-मंत्रों के देवताओं से उन मंत्रों का विषय है।

‖ समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। पा० २ सू० ४५

ब्रह्मचर्य का और भी अधिक प्रचलित शब्दार्थ, जिसमें इस शब्द का सबसे अधिक उपयोग किया जाता है:—उपस्थेन्द्रिय पर विजय अर्थात् काम वासना पर विजय है। सारी इन्द्रियों का दमन करना आदर्श है परन्तु मनुष्य के सारे विकारों में सारी शारीरिक प्रेरणाओं में 'कामवासना' का विकार सब से प्रबल है। मनुष्य जाति का सारा साहित्य और इतिहास इसकी साक्षी दे सकता है। इसलिए काम, क्रोध, मोह, इस चतुवर्ग में काम को पहिला स्थान दिया गया है।

'कामवासना' कामदेव का सब से प्रबल अस्त्र है। जितेन्द्रिय होने की पहली शर्त कामेन्द्रिय का दमन करना है। मनुष्य को आत्मिक जीवन प्राप्त करना आवश्यक है और उसमें सबसे प्रबल कामवासना है इसलिए उस वासना को वश में करना सब से मुख्य है। इस कामवासना के दमन को ऋषियों ने ब्रह्मचर्य ब्रह्म-प्राप्ति का जीवन कहा! क्या अपूर्व सुन्दर कल्पना है! पाश्चात्य सभ्यता ने अभी इस रहस्य को नहीं समझा। उन्हें अभी पता नहीं कि कामवासना के दमन और आध्यात्मिक जीवन में कितना गहरा सम्बन्ध है। यूरोप और अमेरिका में बहुत से लोग हैं जो 'योगाभ्यास' करते हैं और साथ ही 'भोगाभ्यास' भी करते हैं। वे समझते हैं कि काम का विषय सेवन करना हमारी आत्मप्राप्ति में क्योंकर बाधक हो सकता है? फिर हम इस आनन्द को क्यों छोड़ें? उन्हें नहीं पता कि इन्द्रियों के दमन किये बिना हमारी आत्मिक शक्ति का विकास होना असम्भव है। इसलिये पश्चिम् में आत्मिक उन्नति कुछ भी नहीं हुई और न हो सकती है। ऐसे योगी कुछ थोड़ा सा मैस्मैरिज्म का अभ्यास करके जादू के खेल दिखाकर ही संतुष्ट रहते हैं, वास्तविक योगाभ्यास के लिये सब से पहला नियम इन्द्रिय-दमन और सब से बढ़ कर कामवासना पर विजय की है। ऋषियों का यह विचार एक बड़ी गहरी सच्चाई पर निर्भर था। मनुष्य को आत्मिक जीवन के अभ्यास में शक्ति का सबसे अधिक व्यय करना पड़ता था और वह शक्ति यदि इन्द्रियों के विषयों में जाने से बाहर की ओर निकल जावे तो उसका सञ्चय किस प्रकार हो? प्रत्येक इन्द्रिय के उपयोग में हमारी भीतर की शक्ति कुछ न कुछ बाहर फेकी जाती है। जब हम कान, आँख, आदि इन्द्रियों से गान सुनना, रूप देखना आदि भोग भोगते हैं तो हमारी बहुत सी आन्तरिक शक्ति उसमें खर्च होती है। इन इन्द्रियों से यदि हम भोग न भोगें तो हम उसी शक्ति का सञ्चय अपने में कर सकते हैं। भीतरी शक्ति का सञ्चय ही आत्मिक जीवन का नियम है। सब इन्द्रियों से बढ़कर शक्ति का नाश कामेन्द्रिय के द्वारा होता है इसलिये उसको वश में करके अर्थात् उसके व्यवहार को रोक कर हम अपने भीतर अधिक से अधिक शक्ति एकत्रित करते हैं। यह शक्ति का सञ्चय आत्मिक जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का आत्मिक जीवन से गहरा सम्बन्ध है। परन्तु ब्रह्मचर्य आत्मिक उन्नति के अतिरिक्त शारीरिक, मानसिक और सदाचार सम्बन्धी तीनों उन्नतियों का कारण है, इसलिये मनुष्य जीवन का आधार है।

शारीरिक उन्नति—का आधार मनुष्य का पौष्टिक भोजन और व्यायाम आदि भी हैं परन्तु मौलिक आधार ब्रह्मचर्य है। वीर्य सब शरीर के रसों का रस है और चरम धातु है, वही हमारे शरीर में ओज और कान्ति है। यह सम्भव हो सकता है कि वीर्य-रक्षा पूर्णतया न करने वाला मनुष्य भी व्यायाम और पौष्टिक भोजन के सहारे कुछ शारीरिक उन्नति कर सके पर वह शारीरिक उन्नति वास्तवक स्वास्थ्य का चिन्ह न होगी। कसरत के अभ्यास के कारण वह एक अंग से किसी बल के काम को भले

ही करदे पर उसके सारे शरीर में वास्तविक शक्ति का सञ्चार नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ एक कुली बोझा ढोने के अभ्यास से अपनी पीठ पर अधिक बोझ लाद लेता है, उसी प्रकार एक पहलवान युद्ध में अपने अभ्यास से किसी विशेष अङ्ग के द्वारा विशेष शक्ति का काम दिखा सकता है। पर उसके शरीर में वह बल नहीं हो सकता जो कि एक ब्रह्मचारी के अन्दर होगा। एक बड़ा अन्तर यह होगा कि शारीरिक शक्ति के साथ रहने वाले अन्य मानसिक गुण शौर्य, पराक्रम आदि एक अब्रह्मचारी के भीतर कदापि नहीं आ सकते। फिर एक दूसरा बड़ा अन्तर यह है कि वह मनुष्य जिसने ब्रह्मचर्य पूर्वक कुमार जीवन व्यतीत किया है वह रोगों का आहार नहीं बन सकता क्यों कि उसे वास्तविक शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य और शारीरिक उन्नति का इतना घनिष्ठ और स्पष्ट सम्बन्ध है कि उस पर हमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, हम केवल इस बात पर दबाव देना चाहते हैं कि शरीर की वास्तविक उन्नति अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य ब्रह्मचर्य को धारण न करे।

मानसिक उन्नति—से ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध उससे भी अधिक गहरा है जितना कि शारीरिक उन्नति से है। बहुत कम लोग हैं जो इस सचाई का अनुभव करते हैं। कारण यह है कि शारीरिक उन्नति अवनति हमें स्पष्ट मालूम पड़ती है। इसलिये ब्रह्मचर्य नाश का जो प्रभाव शरीर पर पड़ता है वह सरलता से हमारी समझ में आ सकता है। परन्तु मन की उन्नति और अवनति का वैसा स्पष्ट बोध हमें नहीं होता। मनुष्य को पता नहीं चलता कि उसकी मानसिक अवनति किस प्रकार हो रही है। मानसिक शक्ति और वीर्यरक्षा का सम्बन्ध स्नायुतन्तुओं के सम्बन्ध से समझ में आ सकता है। हमारी मानसिक शक्ति मस्तिष्क की शक्ति पर निर्भर है। मस्तिष्क में आकर सारे स्नायुतन्तु (Nerves) मिलते हैं। जितने ही स्नायु-तन्तु बलवान होंगे मन की कार्य शक्ति अधिक होगी। जब मनुष्य का वीर्यनाश होता है तो सारे शरीर के स्नायुमण्डल में एक प्रकार की उत्तेजना की लहर दौड़ जाती है। इसी उत्तेजना के कारण मनुष्य को सुख का क्षणिक अनुभव होता है परन्तु यह उत्तेजना सारे स्नायुमण्डल को एक प्रकार से हिला देती है। उसे एक झटका सा मिलता है। इसलिये यह स्वाभाविक सा है उससे स्नायुओं की शक्ति क्षीण हो जायगी और उसका प्रभाव मस्तिष्क और मानसिक शक्ति तक अवश्य ही पहुँचेगा। इसलिये यह बिलकुल ठीक है कि प्रायः अनुभव किया गया है कि वीर्य नाश करने वाले की स्मरण शक्ति प्रायः मन्द पड़ जाती है। और यह भी कभी कभी देखा गया है कि लगातार वीर्यनाश करने वाले पागल तक हो जाते हैं। लगातार उत्तेजना से जब तक स्नायुमण्डल ढीला पड़ता है तब तक तो मानसिक शक्ति क्षीण ही होती दिखायी देती है। पर यदि कभी उत्तेजना के आवेग से मस्तिष्क के तन्तुमण्डल में कोई उलट पलट गड़बड़ हो जावे तो मनुष्य को बुद्धि भ्रम भी हो सकता है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि वीर्य रक्षा का मानसिक शक्ति से कितना सम्बन्ध है। यहां यह कह देना भी अप्रासङ्गिक न होगा कि उपर्युक्त प्रकार से होने वाली ज्ञानतन्तुओं की उत्तेजना से मनुष्य की शारीरिक निर्बलता भी बहुत बढ़ती है।

सदाचार शक्ति—और ब्रह्मचर्य का गहरा सम्बन्ध तो स्पष्ट है। न केवल यह कि काम विचार को जीत लेना सब से मुख्य सदाचार है प्रत्युत काम विकार पर विजय प्राप्त करने से अन्य सद्गुणों की भी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य कामी है उसके अन्दर क्रोध, लोभ मोह आदि दुर्गुण स्वयमेव आजाते

हैं। काम वासना से अन्धे मनुष्य के लिये कोई ऐसा पाप नहीं हैं जिसके करने से हिचकता हो। मनुष्य जाति का साहित्य इस बात से भरा हुआ है कि कामासक्त मनुष्यों ने कैसे घोर नृशंस नारकीय पाप किये। अहिंसा या विश्व-प्रेम जो सदाचार जीवन का एक बड़ा आदर्श है, वह ब्रह्मचर्य के बिना मनुष्य को नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि काम का आखेट हुआ कामी मनुष्य बड़े से बड़ी रोमाञ्च कारिणी भयानक हिंसा कर सकता है। जिस समाज में, जिस देश में मनुष्यों के आगे ब्रह्मचर्य का आदर्श नहीं होता, वह देश और समाज अत्यन्त पतित हो जाता है, सामाजिक जीवन का यदि कोई सबसे घृणित पाप है तो वह यही है। इसीलिये वेद में एक जगह प्रार्थना आती है।

मा शिश्न देवा अपि गुर्ऋतं नः

अर्थात् 'शिश्नदेव' जो कि उपस्थेन्द्रिय के दास हैं वे हमारे समाज रूपी यज्ञ में सम्मिलित न हों। निस्संदेह किसी समाज के लिये सब से बड़ा भय उन लोगों के द्वारा उपस्थित होता है जो कि व्यभिचारी हैं। इस युग में यदि मनुष्य जाति का कोई सब से बड़ा पाप है तो वह यही है कि वह आज इन्द्रियों के वश होकर तपस्या और ब्रह्मचर्य के आदर्श को भुला चुकी है।

अतः प्रत्येक युवक और कुमार का जो सदाचार जीवन का अभ्यास करना चाहता है, सब से प्रथम संकल्प, सब से पहला व्रत जो उसे ग्रहण करना चाहिये, ब्रह्मचर्य का है। सदाचार जीवन के अभ्यास में सब से बढ़ कर उसे कामरूपी शत्रु के साथ ही घोर संग्राम करना होगा। उसके सदाचार जीवन की मुख्य पहेली कामवासना पर विजय ही है। सदाचार के अभ्यास करने वाले युवक के हृदय पट पर हृदय के कोने कोने में और हृदय की गहराई में चमकते हुए सुवर्णाक्षरों में, "ब्रह्मचर्य" अङ्कित होना चाहिये। उसे प्रातःकाल और सायंकाल अपनी सारी संकल्प शक्ति के साथ ब्रह्मचर्य शब्द का जप करना चाहिये।

उपाय और साधन

प्रश्नों का प्रश्न यह है कि सदाचार और सद्गुणों के धारण करने के क्रियात्मक उपाय क्या हैं? अब तक जो कुछ लिखा गया है वह विशेष कर सदाचार की महिमा के विषय में है। सदाचार का महत्व और आवश्यकता जब तक किसी के हृदय पर अङ्कित न हो जावे तब तक उसे उपायों और साधनों से क्या प्रयोजन होगा?

सब से प्रथम कार्य सदाचार सम्बन्धी दृढ़ प्रतिज्ञा है। यह प्रतिज्ञा विशेष रूप से एक सद्गुण की प्राप्ति के लिये होनी चाहिये। सामान्य रूप से जो सदाचार जीवन का अभ्यास करना चाहता है वह सदाचार के सभी अङ्गों पर ध्यान रक्खेगा किन्तु फिर भी अभ्यास करने के लिये एक विशेष सद्गुण की प्राप्ति या दुर्गुण को छोड़ने की प्रतिज्ञा विशेषरूप से करनी चाहिये। उदाहरणार्थ एक मनुष्य क्रोधी है। तो उसे क्रोध न रहने की प्रतिज्ञा विशेष रूप से करनी चाहिये। परन्तु यह हम कह देना चाहते हैं कि सामान्यतया ९० प्रतिशत नवयुवकों को जिस सद्गुण को अपने सामने रखने की आवश्यकता है और जिसके लिये उन्हें विशेष रूप से प्रतिज्ञा करनी चाहिये वह है ब्रह्मचर्य अर्थात् काम वासना को रोक कर

उस पर विजय पाना। यह प्रतिज्ञा दृढ़ संकल्प के साथ होनी चाहिये। उस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करने और वैसे पुरुषों की सत्संगति कर उससे उत्पन्न हुए जोश और प्रोत्साहन के साथ प्रतिज्ञा दृढ़तापूर्वक करनी चाहिये। मनुष्य की सब से बड़ी शक्ति उसकी संकल्प शक्ति ही है। इसलिये मनुष्य को अपने हृदय में सारी संकल्प शक्ति एकत्रित करके बड़े दृढ़ शब्दों में उत्साह के साथ भगवान् को साक्षी करके उस सद्गुण को, ब्रह्मचर्य को धारण करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

सदाचार जीवन के अभ्यास में उपर्युक्त रीति से की गई दृढ़ प्रतिज्ञा के पश्चात् जिस बात की आवश्यकता है वह है आत्म-जागृति अर्थात् हर समय सावधान रहना कि कहीं हम पाप के भागी तो नहीं हो रहे हैं। दूसरे धन्धे में लगे रहने पर भी यह बात हर समय सामने रखनी चाहिये कि हमें अमुक पाप से बचना है।

परन्तु इस प्रकार सदाचार के अभ्यास करने वाले को थोड़ी देर में ही पता लगेगा कि उसका रास्ता बड़ा कण्टकमय है। उसे घोर कठिनाइयों का सामना करना होगा, उसे पाप मानो साक्षात् शरीर धारण करके ललचाने आयेगा और इतने प्रलोभन उपस्थित होंगे कि उसे अपना आसन डिगता दिखाई देगा। ऐसे अवसर पर उसे भी अपने शत्रु पर प्रहार करने के लिये तैयार होजाना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि:—

"वितर्क बोधने प्रतिपक्षभावनम्"

(योग पाद, २ सूत्र ३३)

अर्थात् जब मनुष्य को पाप ललचाने लगे तो उसे प्रतिपक्ष अर्थात् उस पाप के विरुद्ध बातों की भावना करनी चाहिये। उसे उसी क्षण सोचना चाहिये कि उस पाप के भागी बनने से उसे क्या २ हानियां होंगी और सब से बड़ी हानि तो यही है कि पापों से बचने के लिये उसने जो प्रतिज्ञारूपी दुर्ग बनाया है उसकी नींव ही गिर जायगी। पाप के विरुद्ध विचार करना यह पाप (रूपी शैतान) को मारने का पहला हथियार है जिसका उपदेश संसार के सभी महान् पुरुषों ने किया है। पाप के विरुद्ध भावना किस प्रकार की जावे इसी को कुछ विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

प्रथम ही एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। मनुष्य मन, वचन, और कर्म इन तीनों से क्रमशः एक २ पाप को किया करता है, अर्थात् पहले एक पाप को मन में सोचता है फिर उसे किसी न किसी रूप में वाणी से प्रकट करता है और फिर उसी को कार्य्य के रूप में कर डालता है। वाणी की बात चाहे सब जगत् पर लागू न हो पर यह प्रत्येक पाप के विषय में बिलकुल स्पष्ट है कि पहले हम उसे मन में सोचते हैं और फिर कर्म से करते हैं, मूल रूप से पाप पुण्य का स्थान मन ही है इसलिये जब हमने किसी पाप के करने का विचार मन में कर लिया तो चाहे बाह्यरूप में हम से वह पाप न भी हो तो भी हम उस पाप के भागी अवश्य हैं क्यों कि थोड़ा सा विचार करने से भी पता चल जाएगा कि पाप और पुण्य हमारे मन के धर्म हैं न कि केवल बाह्य कार्यों के। बाह्य चेष्टा तो एक जड़ व्यापार है। इस बात से हम एक बड़ी सच्चाई पर पहुँचते हैं कि पाप पुण्य का संग्राम हमारे मन के भीतर होना चाहिये अर्थात् ज्यों ही हमारे मन के भीतर कोई पाप की भावना आये त्यों ही उसके विरुद्ध संग्राम के लिये हमें प्रस्तुत हो जाना चाहिये।

हमें यह प्रतीक्षा भूल कर भी न करनी चाहिये कि तभी हम किसी पाप के विरुद्ध लड़ें कि जब हम बाह्य रूप से उस पाप को करने में प्रवृत्त होने लगें। यह निश्चय है कि यदि हमने मन में आते ही उस पाप से युद्ध कर उसका संहार नहीं किया तो बाह्यरूप से जब वह पाप सामने आयगा तो हमारी हार अवश्य होगी, सांसारिक लड़ाई में भी यदि हम अपने शत्रु को दूर से ही न भगा दें तो उस समय क्या कर सकते हैं जब कि वह हमारे घर में घुस आवे। लोग यह भयानक ग़लती बहुधा करते हैं कि वे घृणित पाप के भाव को उदाहरणार्थ अनुचित विषय में काम वासना को बहुधा मन में आने देते हैं। उन विचारों को बहुत फलने फूलने देते हैं और मन में वह संतोष किये बैठे रहते हैं कि पाप तो कर ही नहीं रहे। उन्हें भली भांति समझ लेना चाहिये कि मन में पाप भावना को स्थान देना न केवल बाह्यरूप से पाप करने का कारण होगा बल्कि वह स्वयं अपने आप ही एक बड़ा पाप है। एक बुद्धिमान ने पाप भावनाओं के मन में आने के विषय में एक बड़ी ही हृदयङ्गम बात कही है कि न केवल हम चोरों को अपने घर में घुसने देते हैं प्रत्युत् वहां उनका भली भांति स्वागत और सत्कार करते हैं और फिर निन्दा करते हैं कि घर में चोरी हो गई। जब हम पापमय विचारों को मन में रहने देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या कि हम पाप का आचरण करें। हैरानी यह नहीं है कि बुरे विचार हमारे मन में आते हैं, पर अफसोस तो यह है कि हम बड़ी अच्छी प्रकार स्वागत सत्कार करते हैं और स्वयं पानी लगाकर उन पाप पौधों को सींचते हैं। सदाचार के अभ्यासी को भली भांति समझ लेना चाहिये कि उसे पाप के विरुद्ध संग्राम उस समय करना है जब कि पाप की भावना मन में आवे, न कि वह उस समय ही पाप से लड़ने की प्रतीक्षा करता रहे कि जब वह बाह्यरूप से पाप करने में प्रवृत्त होगा।

ऊपर हमने कहा है कि पाप पुण्य का वास्तविक स्थान मन है और जब मन से किसी ने पाप का चिन्तन किया तो वह पाप करने के बराबर है। इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिये कि मन में किसी पाप का आ जाना और उसका बाहरी आचरण करना इन दोनों में कोई अन्तर ही नहीं? यदि एक मनुष्य मन से पाप को छोड़ कर भी उसके बाह्य आचरण से बच जावे तो यह निस्संदेह उसके लिये एक बड़े गौरव की बात होगी, निस्संदेह मन में चिन्तन भी पाप अवश्य है, परन्तु उसका बाहरी आचरण उसे और भी गहरा और स्थायी बना देता है। उदाहरणार्थ हमने किसी की हिंसा करना सोचा, यह एक पाप है परन्तु वैसा सोचकर सचमुच उसकी हिंसा कर डालना और भी गुरुतर पाप होगा। क्यों कि बाह्य आचरण की वासना केवल मन में सोचने की वासना के अपेक्षा अधिकतर गहरी और स्थाई होगी। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो मनके भीतर ही पाप से संग्राम करने का एक बड़ा लाभ यह भी होगा कि हम पाप के बाह्य आचरण से अधिकतर सुरक्षित रह सकेंगे, जो मनुष्य अपने घर से आगे बढ़कर शत्रु से लड़ता है यदि वह हार भी जाय तो उसे कम से कम यह तो श्रेय रहता है कि वह फिर घर के पास जाकर फिर नये सिरे से शत्रु का सामना करे, परन्तु जो घर के द्वार पर ही शत्रु से लड़ता है उसका पहली बार हारते ही सर्वस्व छिन जाता है। इसी प्रकार जो मन में पाप के आते ही उससे संग्राम करेगा वह यदि एक बार हार भी जाय तो भी वह केवल मानसिक पाप का भागी होगा और कम से कम पाप के बाह्य आचरण से बचा रहेगा। परन्तु जो बाह्य पाप के आचरण के अवसर आने पर ही उससे बचने की चेष्टा करता है, वह यदि पराजित हुआ तो बिलकुल ही लुट जायगा। इसलिये एक बार फिर यह दृढ़ धारणा कर लेनी चाहिये कि पाप के विरुद्ध संग्राम पाप भावना के मन में आने के साथ ही किया जाय।

हम फिर अपने पूर्व विषय पर आते हैं। ऊपर कहा गया है कि मन में पाप के आने पर उसके विरुद्ध विचार करें। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि पाप के विचार ऐसी प्रबलता के साथ उमड़ते हैं कि हमारा अन्तःकरण उनसे भर जाता है; और हमारे भीतर यत्न करने पर भी उनके विरुद्ध सद्विचार नहीं उठते या उठते हैं तो भी वे पानी के बुलबुलों के समान एक २ क्षण रह कर फिर मिटते चले जाते हैं। और पाप की भावना का अधिकार हम पर दृढ़तर होता है। ऐसे समय उच्च विचारों को उत्तेजित किस प्रकार किया जाय? इसका स्वाभाविक उत्तर वही है जो सांसारिक युद्ध के क्षेत्रों में भी देखा जाता है। हमारी अपनी शक्ति न्यून होने पर हम बाहर से सहायता प्राप्त किया करते हैं। और युद्ध में बाहिर की थोड़ी सी सहायता आने पर भी क्षेत्र से भागते हुए सिपाहियों के पैर पुनः जम जाते हैं। और उनकी अपनी उत्साह शक्ति जाग उठती है। इसी प्रकार हमको भी ऐसे समय पर बाहिर की सहायता प्राप्त करनी चाहिये। उदाहरणार्थ हमको ऐसी पुस्तक कि जिसमें उस पाप के विरुद्ध उपदेश हो, यदि हम काम वासना से युद्ध कर रहे हैं, तो जिस पुस्तक में काम-वासना की निन्दा और ब्रह्मचर्य की प्रशंसा हो पढ़ने लग जावें, या किसी साधु संत या दूसरे सत्पुरुष के पास जाकर उसके विरुद्ध उपदेश सुनने लगें, निस्संदेह इस दूसरी बात का अर्थात् उपदेश सुनने का प्रभाव हम पर पुस्तक पढ़ने के अपेक्षा भी अधिक प्रबल होगा। एक तीसरी बात यह हो सकती है कि यदि हमने ऊपर के कथनानुसार इस पवित्र व्रत में किसी निकटतम मित्र या सम्बन्धी को साक्षी बना रक्खा हो तो तत्काल उसके पास जाकर अपने ऊपर पाप के आक्रमण की बात उससे बिना संकोच कह डालें। उसकी सहायता से हमें पाप पर विजय प्राप्त होगी। यह तीसरा उपाय प्रथम दोनों उपायों की अपेक्षा अधिकतर लाभदायक और प्रभावोत्पादक होगा।

एक महाशय का कथन है कि जब कोई बुरा भाव हमारे मन में आये और रोकने से भी न रुके तो तत्काल हमें शारीरिक व्यायाम आरंभ कर देना चाहिये, व्यायाम का फल यह होगा कि वह पाप का भाव स्वयमेव नष्ट होने लगेगा। पाप वासना के आने के अवसर पर व्यायाम से क्या लाभ होता है, यह बात मुख्य अवस्थाओं में मुख्य मुख्य मनुष्यों के लिये अलग ही होगी परन्तु एक बात जो कि सर्वथा निश्चित है यह है कि नित्य प्रति नियमपूर्वक शारीरिक व्यायाम करना सदाचार जीवन में बहुत ही सहायक होता है, जो मनुष्य व्यायाम करता है वह ब्रह्मचर्य का पालन व्यायाम न करने वाले की अपेक्षा अधिक सरलता से कर सकता है। यह तो बहुत स्पष्ट ही है कि व्यायाम न करनेवालों को कब्ज आदि दोष रहने पर उत्तेजना आदि विकार अधिकतर सताते हैं, परन्तु व्यायाम से सदाचार की उन्नति पर गहरा प्रभाव इसलिये भी पड़ता है कि व्यायाम करने से जब हमारा शरीर और इन्द्रियें अधिक नियमित और संयत हो जाती हैं तब हमें इन्द्रियों के विकार बहुत कम सता सकते हैं परन्तु हमें इस विषय में बहुत से प्रमाण और सयुक्तियां देने की आवश्यकता नहीं, यह क्रियात्मक जीवन की ऐसी सच्चाई है कि प्रत्येक मनुष्य थोड़ा सा परिश्रम करके स्वयं अपने लिये अनुभव कर सकता है। हम संक्षेप में केवल इतना प्रकट कर देना चाहते हैं कि सदाचार के अभ्यासी को अन्य बातों के साथ २ यह भी एक नित्य का नियम बना लेना चाहिये कि वह प्रतिदिन नियमपूर्वक यदि दो समय नहीं तो कम से कम एक समय अवश्य शारीरिक व्यायाम किया करे।

एक और महाशय ने अपनी पुस्तक में पाप के विरुद्ध भावना करने का एक बड़ा प्रभावोत्पादक अत्यन्त सुन्दर विचार और उत्तम उपाय लिखा है जो कि नीचे दिया जाता है।

यह ठीक है कि जिस समय पाप के भाव प्रबलरूप से हमारे मन में आ रहे हों उस समय कोई उच्च विचार हमारे मन में नहीं आते, पर दूसरे समय में हमारे मन में उसी पाप के विरूद्ध तरह २ के प्रोत्साहन और उत्तेजना से भरे विचार आया करते हैं जिनके कारण हमारे भीतर सदाचार के पालन का बहुत जोश उत्पन्न होता है। एक कार्ड या उसी नाप का छोटा सा पट्टा लेकर उस पर हमें एक ओर सङ्केत के शब्दों में वे सब बुराइयां या हानियां लिखनी चाहियें जो कि उस पाप के आचरण से उत्पन्न हो सकती हैं। प्रत्येक हानि के लिये एक ऐसा शब्द लिखना चाहिये जिसके सामने आते ही उस बुराई का चित्र हमारे सामने आ जावे। इस प्रकार पांच सात मुख्य २ बुराइयों को सूचित करने वाले पांच सात शब्दों को मोटे अक्षरों में उस कार्ड पर अंकित कर लेना चाहिये। उसी के दूसरी ओर उस बुराई से बचने के लाभों को भी उसी प्रकार पांच या सात मुख्य २ शब्दों से अङ्कित कर दिया जावे। जब वह पाप मन में आवे एक साथ इस कार्ड को जो कि हर समय जेब में पड़ा रहना चाहिये, सामने करके लगातार देखना चाहिये। बार २ उसे देखने से उस पाप से होने वाली बुराइयों और बचने के लाभ हमारे सामने चित्रित हो जांयगे और हमें उस पाप के करने के पश्चात् होने वाले पश्चात्ताप का भी पहिले ही से ध्यान आ जायगा। इस प्रकार पाप के भावों के विरुद्ध जो विचार कदाचित् स्वयं न आ सकते वे इस कार्ड के द्वारा उन महत्व-पूर्ण शब्दों के उद्बोधन के कारण हमारे सामने आ सकेंगे और फिर उन शुद्ध विचारों के सहारे हम पाप का सामना कर सकते हैं। उदाहरण के रूप पर 'ब्रह्मचर्य' को विशेष रूप से अभ्यास के लिये अपने सामने रखने वाला एक मनुष्य उस कार्ड पर इन शब्दों को लिख सकता है:—

सावधान !
शारीरिक हानि !
बुद्धि की क्षीणता !
सदाचार का नाश !
पीछे होने वाला पश्चात्ताप !
प्रतिज्ञा का नाश !
वह पवित्र उपदेश !
उस २ ग्रन्थ के वे विचार।

इसी प्रकार वह कार्ड के दूसरी ओर लाभों में लिख सकता है:—

आत्मिक बल !
शारीरिक उन्नति !
मानसिक शक्ति !
स्वास्थ्य और प्रसन्नता !
संकल्प-बल शक्ति की दृढ़ता !

इत्यादि शब्द लिखे जा सकते हैं। परन्तु यह शब्द प्रत्येक को अपने हृदय से स्वयं चुनने चाहिये। क्यों कि यह आवश्यक है कि इन शब्दों के साथ जुड़ा हुआ बहुत सा भाव हो। अन्यथा इन शब्दों का मूल्य ही क्या हो सकता है? और वह भाव तभी आ सकता है जब कि ब्रह्मचर्य पालन को उत्साहित करने वाले स्वयं अपने मन में आये हुए विचारों से कुछ शब्दों को चुन कर उस कार्ड पर लिखा जावे। हमें विश्वास है कि यह उपाय बहुत से नव-युवकों को सफलता प्राप्त करावेगा।

एक इससे ही मिलता और भी उपाय है जो कि पाप के विरुद्ध भावना में सहायक हो सकता है। एक कापी को लेकर उसके एक २ पृष्ठ पर एक २ सद्गुण को मोटे २ अक्षरों में अङ्कित किया जावे और उसके नीचे उस पृष्ठ पर उसी सद्गुण के लाभों को और उसके बिना होने वाली हानियों को संक्षिप्त और सांकेतिक रूप से लिखा जावे, साथ ही कतिपय पृष्ठों पर सदाचार को उत्तेजित करने वाले महापुरुषों के हृदयङ्गम वाक्यों को लिखा जावे, इस प्रकार की कापी को तैयार करने में ऊपर कही गई इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि इसमें प्रत्येक सद्गुण के साथ उन्हीं बातों को अङ्कित किया जावे जिन्हें कि उस मनुष्य ने स्वयं अपने आप अनुभव कर लिया हो अर्थात् वे बातें किसी दूसरी जगह से केवल उतार कर न लिख दी जावें। क्यों कि अपनी भावना से लिखे गये प्रत्येक शब्द में एक अपूर्व शक्ति और जीवन होगा। इस कापी को प्रत्येक दिन सन्ध्या के समय अपने सामने रखकर उसके एक २ पृष्ठ को खोलकर उस २ सद्गुण पर विचार और मनन किया जावे। ऐसे अवसर पर जब कि हमारे भीतर पाप के भाव उठ रहे हों, यह उपाय भी बहुत सहायक हो सकता है।

ऊपर जो उपाय बतलाये गये उनके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य बहुत से उपाय स्वयं अपने लिये ढूंढ निकाल सकता है और यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वतः अपनी प्रतिभा से प्राप्त किये गये उपाय एक मनुष्य के लिये अधिकतर उपयोगी और प्रभावोत्पादक होंगे।

काम विकार का प्रतिपक्ष

ऊपर हमने मौलिक नियम यह बतलाया है कि किसी पाप के मन में आने पर प्रतिपक्ष अर्थात् उसके विरुद्ध भावना करे, इस प्रकार की भावना को उत्पन्न और उत्तेजित करने में कतिपय उपायों पर भी हमने विचार किया है। प्रत्येक पाप के विषय में उसका प्रतिपक्ष अलग २ सोचा जा सकता है। यहां हम विशेष कर काम वासना के प्रतिपक्ष पर विचार करेंगे अर्थात् बतलायेंगे कि काम विकार के मन पर आक्रमण करने की दशा में हमें प्रतिपक्ष रूप से किस २ प्रकार सोचना चाहिये, सारे पापों में मुख्य और सारे विकारों में बलवान काम वासना ही है इसलिये हम विस्तार के साथ केवल काम वासना के प्रतिपक्ष को दिखलाना चाहते हैं। अन्य पापों के प्रतिपक्षों की कल्पना पाठक स्वयमेव कर सकते हैं।

(१) काम-वासना के प्रतिपक्ष रूप से सब से प्रथम यह सोचना आवश्यक है कि काम-वासना की तृप्ति से जो सुख मिलता है वह कितना क्षणिक है, कितना अस्थायी है और एक क्षण के सुख के लिये जो हमें हानि होती है वह कितनी बड़ी है और कितना स्थायी असर रखने वाली है, हमें उस अवस्था का विचार करना चाहिये जो कि इस क्षणिक सुख के पश्चात् होगी। उस समय हमें कितना पश्चात्ताप होगा कि हमने एक क्षण सुख के लिये अपने नियम और व्रत को भङ्ग कर डाला। यदि कोई मनुष्य काम-वासना की तृप्ति

के पश्चात् होने वाली दशा का अनुभव पहिले ही कर ले तो उसे कदाचित् ही काम तृप्ति का विचार सता सके। एक कवि ने सत्य ही कहा है कि यदि मनुष्य की वह बुद्धि जो कि श्मशान में होती है और काम-वासना की तृप्ति के पश्चात् होती है सदा बनी रहे तो वह मनुष्य कोई पाप न करे। इसलिये हमें सोचना चाहिये कि इस क्षणिक सुख के अनन्तर हमें कितना पश्चात्ताप होगा और कितनी घोर तपस्या और प्राय-श्चित का अनुष्ठान हमें अपने व्रत के टूटने से करना होगा। हमें उस दण्डरूप प्रायश्चित की कल्पना पहिले ही से करनी चाहिये और यदि हम थोड़ी देर के लिये सोच लें कि हम पश्चात्ताप और प्रायश्चित न करेंगे तो हम सदाचार मार्ग से सदा के लिये भ्रष्ट हो जायंगे। मनुष्य को सोचना चाहिये कि क्या वह एक क्षणिक सुख के लिये अपना मानसिक, आत्मिक और शारीरिक ह्रास, प्रायश्चित और पश्चात्ताप, व्रत भङ्ग होने से निरुत्साह और निराशा यह सब कुछ सहन करेगा। एक ओर केवल एक क्षण के लिऐ थोड़ा सा सुख और दूसरी ओर सारे जीवन की आशाओं का सूत्र है। क्या वह काम-विकार युक्त क्षणिक सुख के लिये अपना सर्वस्व लुटा देगा? कदापि नहीं।

(२) द्वितीय बात कामवासना के प्रतिपक्ष में यह सोचनी चाहिये कि लगातार भोग भोगने से भी कामवासना की तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य भोग इसलिये भोगता है कि उसकी तृप्ति होजाय। परन्तु यह तृप्ति तो भोग से होनी दूर रही उलटी कामना की ओर बढ़ती जाती है। मानो कि एक प्यासा मनुष्य ऐसे पानी को पिये जिससे उसकी प्यासाग्नि बुझने के बदले और बढ़ती ही जावे। मनु महाराज ने इस सचाई को प्रगट करते हुए कहा है:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यतिः।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयः एवाभिवर्तते॥

अर्थात्—मनुष्य का काम उसके भोगने से कभी शान्त नहीं होता है। प्रत्युत जिस प्रकार आग में घी डालने से वह और भी अधिक प्रज्वलित होती है, इसी प्रकार मनुष्य का काम भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। यह बात मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ठीक है, क्योंकि काम भोगने से उसके द्वारा नई काम वासना बनती है वह फिर भोग प्रकृति को करती है और इससे पुनः नई वासना बनती है। यह वासना और भोग का चक्र लगातार चलता रहता है। यदि व्यवहारिक जीवन में देखें तो भी पता चलेगा कि जो लोग ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उन्हें कामवासना उतना नहीं सताती जितना कि उन लोगों को जो कि काम भोग में पड़े होते हैं। लगातार भोग जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य चाहे वैसे शरीर से सर्वथा क्षीण और शक्तिहीन भी हो जावे बराबर काम प्रेरणा अनुभव करता है। यहां तक कि बुढ़ापे से जर्जर हो जाने पर भी काम वासना उसका पिण्ड नहीं छोड़ती। परन्तु दूसरी ओर एक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने वाला मनुष्य बलवान और युवावस्था से सम्पन्न भी काम विकार से उस प्रकार नहीं सताया जाता। यहाँ तक कि एक मनुष्य स्वयं अपने ही जीवन में अनुभव कर सकता है कि यदि वह काम वासना को तृप्त करने लगता है तो यह बार २ मन में उठती है और यदि वह उससे बच जाता है तो फिर लगातार उससे बचा ही रहता है। इसी सचाई को हमारे पूर्वजों ने एक कथा द्वारा प्रगट किया है:—ययाति नामक राजा ने सारे जीवन भोग भोगे, बुढ़ापे में आकर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई तब उसने देवताओं को मना कर यह वर प्राप्त किया कि यदि उसका पुत्र उसे अपनी युवावस्था दे दे तो फिर वह भोग भोग सकेगा। उसके पितृभक्त

पुत्र पुरु ने अपनी युवावस्था प्रसन्नता पूर्वक दे दी जिससे उसने फिर हजार वर्ष तक भोग भोगे। परन्तु फिर भी तृप्ति न हुई तो उसने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा कि व्यर्थ ही मैं ने तुम्हारी युवावस्था ली, इन्द्रियों के भोगों की तृप्ति कभी नहीं हो सकती। इस प्रकार दूसरी भावना जो काम के प्रतिपक्ष में करनी चाहिये यह है कि कामवासना को भोगने से तृप्ति नहीं प्रत्युत रोकने से शान्ति होती है।

(३) **तीसरा काम का प्रतिपक्ष**—जब कि मनुष्य किसी स्त्री के सौन्दर्य पर आकर्षित होकर काम की ओर प्रवृत्त होता है, यह है कि वह उसका विश्लेषण करे। अर्थात् उस सौन्दर्य को आलोचनात्मक रीति से विचार करे कि वह सौन्दर्य वास्तव में क्या है जिस पर वह इतना मोहित हो रहा है। तो उसे पता चल जायगा कि शारीरिक सौन्दर्य एक मृगतृष्णा के समान वस्तु है जिससे मनुष्य धोके में आ जाता है। वह बादल की छाया के समान क्षणिक और अस्थिर है। वह कान्तिमणि वाले सर्प के फण के समान मन को लुभाने वाली है और उसके अन्दर जीवन नाशक विष भरा हुआ है। शारीरिक सौन्दर्य का विश्लेषण अर्थात् विभागपूर्वक विवेचना करने के लिए मनुष्य को श्मशान का दृश्य सोचना चाहिये। वही चन्द्रमुख कि जिसके लावण्य पर मनुष्य न्यौछावर हो जाता है, अन्ततः शरीर के जलने के बाद एक खोपड़ी के रूप में पड़ा हुआ है कि जिसके वीभत्स कुत्सित रूप को देखकर भय, लज्जा और घृणा मालूम होती है। यदि मनुष्य श्मशान में पहुँच कर इस प्रकार विवेचना करे तो उसे शारीरिक भोगों से घृणा हुए बिना नहीं रह सकती। बुद्ध भगवान् के विषय में यह आती है कि उन्हें जब वैराग्य उत्पन्न होने लगा तब उन्हें साँसारिक विषयों की ओर ललचाने को अनेक सुन्दर युवतियें अन्तःपुर में रक्खी गईं। एक दिन जब बुद्ध रात को उठे तो क्या दृश्य देखते हैं कि किसी का मुँह औंधा हो रहा है, किसी के मुँह से लार टपक रही है, किसी के नाक में मल है तो किसी की आँखों पर मैल लग रहा है। जब बुद्धदेव ने इस दृश्य को देखा तो उन्हें आकृष्ट होने के बदले घोर वैराग्य उत्पन्न हुआ और सोचने लगा कि "अहह दुर्गन्धित मैलों से भरे हुए शरीर पर मनुष्य को इतना मोह, यह कैसी दुर्बुद्धि है! कैसी मूर्खता है!" उसने निश्चय कर लिया कि वे इस झूंठे नश्वर सौन्दर्य को छोड़कर सच्चे-सौन्दर्य सुख की खोज करेंगे।

एक दूसरी कथा आती है जो इतनी हृदयङ्गम है कि उसके द्वारा विषयों से अन्धे हुये मनुष्य के भी ज्ञान नेत्र खुल सकते हैं। एक राजकुमारी बड़ी ही सुन्दरी और लावण्यमयी थी पर साथ ही उसे आत्मज्ञान और वैराग्य भी था। एक राजकुमार जो कि उसके सौन्दर्य पर मोहित था बार २ विवाह सम्बन्ध की चेष्टा करता था। राजकुमारी ने उसे बहुत उपदेश दिया, बहुत कुछ समझाया परन्तु वह इतना मोह में फंसा हुआ था कि उस पर कुछ भी असर नहीं हुआ। राजकुमारी ने भी अन्त में निश्चय कर लिया कि वह उस राजकुमार को जो कि उस पर न्यौछावर है उस प्रेम के बदले कोई बहुमूल्य वस्तु अवश्य उपहार में देगी। उसने राजकुमार को कहा कि "मैंने निश्चय कर लिया है कि आपके प्रेम का बदला अवश्य चुकाऊं। आप आज से सात दिन पश्चात् आइये तब में आपसे सम्बन्ध स्वीकार करूंगी"। यह सुनकर राजमार के हर्ष का पारावार न रहा। बड़ी कठिनता से एक घड़ी को एक युग मानकर उसने सात दिन व्यतीत किये। जब आठवें दिन वह राजकुमारी के भवन पर पहुँचा तो वहाँ के दृश्य को देखकर अवाक् रह गया और आश्चर्य में डूब गया। राजकुमारी का वह मुखड़ा जो वसन्त के कमल के समान खिला हुआ था, जिसमें ऊषा की छटा थी; बिलकुल सूख कर कान्तिहीन मुरझाया हुआ था। वे कपोल जिनके सौन्दर्य पर कवि कल्पना समाप्त हो जाती

है, अन्दर को घुसे हुए थे और उन्हें देखकर डर मालूम होता था। वे नेत्र जिनके कटाक्षों और हावभावों पर सारी विलास चेष्टा निर्भर है; बिलकुल मन्द और मुरझाये हुए थे। राजकुमार ने जब इस दृश्य को देखा तो उसकी सारी सौन्दर्य पर आसक्ति एक क्षण में ही दूर हो गई और वह वहाँ से भागने की तैयारी करने लगा। राजकुमारी ने उसके हृदय के भाव को समझते हुए कहा कि आज तुम्हारे मन और वाणी से वह प्रेम और अनुराग नहीं झलकता कि जिसका तुमको इतना अभिमान था और जिसकी प्रतिक्षा मैं रात दिन से कर रही थी। यह कह कर राजकुमारी राजकुमार को एक पास के कमरे में लेगई जहां बड़ी तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी और कई कूंडे, सुन्दर रेशमी रूमालों से ढके हुए थे जिनमें वह मल और खून भरा हुआ था कि जो सात दिन लगातार जुलाब लेने के कारण राजकुमारी के शरीर से निकला था। राजकुमारी ने उसे सम्बोधन करके कहा कि "देखो मैं वही हूँ जो सात दिन पूर्व थी। यदि मेरा कोई सौन्दर्य नष्ट हुआ है तो वह इन कूण्डों की भीतर रक्खा हुआ है। रूमाल उठाकर देखो तो यह वह सौन्दर्य है कि जिस पर तुम मोहित थे और जिसके निकल जाने से अब तुमको मुझसे घृणा हो रही है"। राजकुमार ने यह दृश्य देखा तो एक साथ ही उसके मोहान्धकार से हुए हृदय में विवेक और वैराग्य का प्रकाश चमक उठा और निश्चय हो गया कि भौतिक शरीर का सौन्दर्य और लावण्य वैसा ही है जैसा कि दुर्गन्धित मल से भरे किन्तु सुन्दर वेश में ढके रूमालों से कूंड़ों का। वह समझ गया कि "राजकुमारी ने इस प्रकार सात दिन घोर तपस्या करके उसके प्रेम का बदला चुकाया है और वास्तविक रूप से चुकाया है क्योंकि उसने मेरे ज्ञान नेत्र खोल दिये" उसने सन्यास ग्रहण किया। क्या ऐसा दृष्टान्त सैकड़ों विषय मोह से अन्धों को दिव्य नेत्र नहीं दे सकता।

(४) चौथी बात काम के प्रतिपक्ष में सारी स्त्री जाति में मातृरूप की भावना करना है। मनुष्य स्त्री को अनेक रूपों में देख सकता है। चाहे तो वह उसे विलास और ऐन्द्रिक सुख की सामग्री के रूप में देखे, और चाहे उत्पन्न करने वाली माता के रूप में देखे। पाश्चात्य आदर्श और प्राचीन आर्यावर्त्त के आदर्श में यह एक बड़ा अन्तर है कि जहां पश्चिम स्त्री को सामाजिक स्वतंत्रता देता हुआ भी उसके विलास में सौन्दर्य को देखता है वहां प्राचीन ऋषियों ने स्त्री जाति को जन्म देने वाली मातृत्व शक्ति के रूप में देखा था। मातृत्व की कल्पना ही उनकी सर्वोत्तम कल्पना थी। जन्म भूमि को, नदियों को और यहां तक कि जगत् की बनाने वाली शक्ति को भी उनने माता के रूप में देखा था। यह मातृत्व का भाव सारे कुत्सित काम विचारों से बचने के लिये कवच का काम देता था। प्रत्येक मनुष्य के लिये सम्भव है कि वह स्त्री जाति के प्रति यहां तक मातृत्व भावना का अभ्यास करे कि किसी भी स्त्री को देख कर उसके भीतर मातृत्व के भाव ही उत्पन्न हों न कि कुत्सित काम विचार। इसलिये प्राचीन समय में ब्रह्मचारी प्रत्येक स्त्री को 'माता' सम्बोधन करके भिक्षा मांगता था। वह शुकदेव की कहानी बहुतों ने सुनी होगी कि वे एक बार नदी के पास से निकले कि जहाँ बहुत सी युवती स्त्रियें स्नान कर रही थीं। शुकदेव पास से निकल गये पर किसी युवती ने अपने शरीर को लज्जा से ढांकने की चेष्टा भी न की। कुछ समय पश्चात् इसी स्थान से शुकदेवजी के पिता वेदान्तशास्त्र के प्रणेता महर्षि व्यास निकले। उनको देखते ही सब स्त्रियों ने अपने शरीर को ढक लिया। व्यास देव यह देख कर आश्चर्य के साथ उन युवतियों से पूछने लगे कि इसका क्या कारण है। मुझ आत्मज्ञानी वृद्ध से जिसकी इन्द्रियें शान्त हो चुकी हैं तुमने अपने शरीर को ढक लिया। किन्तु मेरा पुत्र नवयुवक ब्रह्मचारी शुकदेव पास से निकल गया तो तुम्हें कोई लज्जा नहीं मालूम हुई। युवतियों ने उत्तर दिया कि 'महर्षि! यह ठीक है कि आप आत्मज्ञानी

हैं आपने वेदान्त का उपदेश किया है, परन्तु फिर भी आप कामभोग सेवन कर चुके हैं और उसकी वासना आपके भीतर है। इसलिए आपसे लज्जा स्वाभाविक है। परन्तु शुकदेव ने पूर्ण युवावस्था होने पर आज तक स्त्री जाति को 'माता' के अतिरिक्त दूसरे रूप में देखा ही नहीं। इसलिये उससे लज्जा क्या? सचमुच वह जाति धन्य है, वह देश स्वर्ग है जिसमें एक भी ऐसा युवक विद्यमान् हो जिसमें स्त्री जाति को माता के समान दूसरे रूप में न देखा हो। क्या आधुनिक समय में दिया लेकर ढूंढने से भी ऐसा एक युवक मिल सकता है? पर फिर भी यदि हम चाहें तो इस मातृभावना का अभ्यास कर सकते हैं किसी स्त्री को भी देखकर हमारे हृदय में मातृत्व का भाव उत्पन्न हो। हमें एक स्त्री देखते ही अपनी माता का स्मरण करना चाहिये जिसने हमें जन्म दिया और गोद में पाला। कहा जाता है कि ऋषि दयानन्द एक समय निर्जन वन में जा रहे थे। उस समय एक युवती ने आकर उन्हें कुत्सित भाव से प्रेरित होकर कहा कि "साधुजी! मुझे पुत्र प्राप्ति की इच्छा है उसे पूर्ण कीजिये।" ऋषि दयानन्द तत्काल हाथ जोड़ कर बोले "माता! यदि तुम्हें पुत्र की इच्छा है तो दयानन्द को ही अपना पुत्र समझो, आज इतने वर्षों के पश्चात् तुम्हें देखकर मुझे अपनी माता की याद आगई! मेरी माता की सूरत तुम्हारी जैसी थी।" सचमुच जिस हृदय में ऐसे पवित्र दिव्य भाव हों वह प्रभु के आवास का मन्दिर और इस पृथ्वी पर साक्षात्कार स्वर्ग का रूप है।

परम वैराग्य की अवस्था में मनुष्य की स्त्री-जाति में मातृत्व की भावना इतनी बढ़ सकती है कि वह अपनी स्त्री को भी मातृत्व के रूप में ही देखे। श्री रामकृष्ण परमहंस के विषय में कहा जाता है कि एक बार उनकी स्त्री ने उनके आश्रम पर उनके समीप रहने की इच्छा प्रकट की। परमहंस ने तत्काल उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु जब रात्रि के समय उनकी स्त्री समीप में पहुंची। सो एक साथ ही कहने लगे "आओ, आओ, कोई डर नहीं, जगदम्बा माता! आज तुम स्त्री का रूप धारण करके आई हो।"

इसी प्रकार और भी बहुत से काम भावना के प्रतिपक्ष मनुष्य सोच सकता है। इस प्रकार के विचारों से मनुष्य को काम वासना के हटाने में अवश्य सफलता होगी। यहां एक विशेष बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। प्रतिपक्ष की भावना के द्वारा मनुष्य कहां तक कामवासना को दबाने में समर्थ हो सकेगा, यह बहुत अंश तक परिस्थिति पर ही निर्भर है। एक ऐसा मनुष्य जिसने काम वासना का पूर्णतया संयम नहीं किया हो, यदि ऐसी परिस्थिति में चला जावे जो सर्वथा पाप की ओर ले जाने वाली हो और जिसमें उसे पाप करने में कोई बाधा न हो, कोई संकोच न हो और कोई देर न हो, तो उसे कदाचित् प्रतिपक्ष सोचने का अवसर भी न मिलेगा, और वह पतित हो जायगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम पाप से बचने के लिये पाप की परिस्थिति से दूर २ ही भागते रहें। यदि एक मनुष कामवासना से बचने के लिये कहीं दूर जंगल में चला जाय जहां किसी स्त्री के दर्शन ही न हो सकते हं तो इस प्रकार पाप के विषय से दूर भागने से बचने का अभ्यास नहीं हो सकता। क्यों कि वीरता यही है कि पाप के विषय के सामने आने पर भी मनुष्य निश्चल रहे और उसका सामना कर सके। परन्तु हमारा प्रयोजन यह है कि मनुष्य को धीरे २ पाप की परिस्थिति के बराबरी (प्रतिपक्ष) में जाना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार तैरने का अभ्यास करनेवाला मनुष्य उतने पानी तक ही जाता है जहां तक तैर कर वह लौट सके और डूब न जाय। इसी प्रकार सदाचार या ब्रह्मचर्य के अभ्यास करने वाले को वहीं तक पाप विषयों के समीप जाना चाहिये कि जहां तक विषय पाने का उसे पूर्ण विश्वास हो और जहां तक

वह पाप का ग्रास न हो। इस प्रकार धीरे २ अभ्यास करने से एक समय आवेगा कि जब विषम से विषम पाप की परिस्थिति में भी वह अपनी रक्षा कर सकेगा। इसलिये अभ्यासी को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह उस परिस्थिति से भी कि जिसमें वह पतित हो सकता हो बचने के लिये उतना ही प्रयत्न करे जितना कि वह पाप से बचने का करता है। और यदि उस परिस्थिति आने का प्रलोभन सामने आवे तो उससे भी बचने के लिये उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपक्ष की भावना करे।

एक दूसरी विशेष बात यह है कि मनुष्य को काम-वासना को जीतने के लिये अन्य इन्द्रियों का संयम करना भी आवश्यक है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य धारण करना चाहता है यह समझ कर कि अन्य इन्द्रियों के विषय निर्दोष हैं, अनेकों प्रकार से उसका सेवन करे स्वादिष्ट भोजन खाये, सुगन्धित द्रव्यों को सूंघे, सुरीले गायनों को सुने, इसी प्रकार अन्य विषयों का सेवन करे तो निश्चय करके ब्रह्मचर्य व्रत में भी बड़ी बाधा उपस्थित होगी। मुख्य कर स्वादेन्द्रिय का संयम करना अत्यन्तावश्यक है। हमारी जिह्वा भी हमसे बहुत पाप करवाती है। प्रत्येक युवक को जिह्वा अर्थात् स्वादेन्द्रिय के संयम का ध्यान रखना चाहिये। इस विषय में कबीर जी की एक बात बड़ी ही चित्ताकर्षक है। वह कहते हैं "जिस कुतिया को चोरों से बचाने के लिये पहरे पर रक्खा; यदि वही चोरों से मिल जाय तो कैसा अनर्थ हो।" हमारी जिह्वा शरीर की पहरा देने वाली कुतिया के समान है। उसका कर्त्तव्य है कि वह देखे कि कोई हानिकारक वस्तु तो शरीर के भीतर नहीं जा रही? पर दुर्भाग्य यह है कि वह स्वयं रिश्वत लेती है, अर्थात् अपने स्वाद के लिये हानिकारक स्वादिष्ट वस्तुओं को भी भीतर जाने देती है। हमारा कर्त्तव्य है कि जिह्वा को हम इस प्रकार स्वाद का आसक्त न बनने दें।

किसी कवि ने ठीक कहा है, कि:—

कान निरन्तर गान-तान सुनिबोही चाहत।
आंखें चाहत रूप रैनि-दिन रहित सराहत॥
नासा अतर सुगंध चहित फूलन की माला।
त्वचा चहित सुख संग कोमल तन वाला॥
रसना हू चाहत रहत नित खाटे मीठे चरपरे।
इन पंचन इहि परपंच ते भूपन को भिक्षुक करे॥

सब से बढ़कर दुष्ट और बाधक इन्द्रिय है उपस्थ! उसके पश्चात् दूसरा नम्बर है जीभ का तब वाणी का, इसके अनन्तर श्रोत्र का और श्रोत्र के पश्चात् चक्षु का नम्बर है। यदि तुम रसेन्द्रिय (जीभ) का निग्रह करो तो शेष इन्द्रियों को तुम बड़ी ही सरलता से वश में कर सकते हो।

काम विकार को दूर करने वाले इन-उपायों को वर्णन करके हम एक बात और दुहराना चाहते हैं कि इसके अतिरिक्त और बहुत से उपाय स्वयं अभ्यासी के सामने आते जांयगे।

प्रसंगवश यहां यह भी लिखे देते हैं कि मनुष्य के जीवनकाल में तेरह दोष उत्पन्न होते हैं। महाभारत के शांति पर्व के १६३ अध्याय में लिखा है कि महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से पूछा कि

पितामह ! काम, क्रोध, मोह, मद, विचिकित्सा, मात्सर्य, ईर्ष्या, शोक, निन्दा, दुष्कर्म, असूया, कृपा और भय से तेरह दोष किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

भीष्म कहते हैं—धर्मराज, ये तेरह दोष मनुष्यों के भीषण शत्रु हैं। ये असावधान मनुष्यों का आश्रय लेकर उन्हें घोर कष्ट देते हैं। ये मनुष्यों को देखते ही भेड़िये की भांति उन पर धावा करते हैं। मनुष्य को समझ लेना चाहिये कि इन्हीं के कारण पाप और दुःख मिलते हैं। इनकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश का वर्णन सावधान होकर सुनोः—

"लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है। दूसरों के दोष देखने से उसकी वृद्धि होती है और क्षमा से उसका नाश होता है। मन के विकारों से काम की उत्पत्ति होती है। उसका सेवन करने से वह बढ़ता है और आसक्ति हटा देने से वह नष्ट हो जाता है। दूसरों के दोष को देखना असूया है। इसकी उत्पत्ति क्रोध और लोभ से होती है तथा दया और तत्त्वज्ञान से उसका नाश होता है। मोह की उत्पत्ति अज्ञान से और उसकी वृद्धि पाप से होती है। सज्जनों की सङ्गति करने से मोह का नाश हो जाता है। विरुद्ध शास्त्रों के देखने से विविध कामों के आरम्भ करने की इच्छा होती है, उसी का नाम विचिकित्सा है। तत्वज्ञान से उसका नाश हो सकता है। पुत्र आदि के मरने पर स्नेह की अधिकता से शोक उत्पन्न होता है, किन्तु जब नष्ट वस्तु का मिलना दुर्लभ सिद्ध हो जाता है, तब, ज्ञान के द्वारा, शोक का नाश हो जाता है। क्रोध और लोभ के वश होने पर दुष्कर्म की उत्पत्ति होती है। दया और वैराग्य से उसका नाश हो सकता है। झूंठा व्यवहार और दुष्टों की सङ्गति करने से मात्सर्य उत्पन्न होता है। सज्जनों की सङ्गति से उसका नाश होता है। अहङ्कार, ऐश्वर्य और कुलीनता के अभिमान से मद उत्पन्न होता है, किन्तु इन तीनों का यथार्थ मर्म समझ में आजाने पर मद का विनाश हो जाता है। काम और हर्ष से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और ज्ञान के द्वारा वह नष्ट की जा सकती है। लोकाचार-विरुद्ध कामों के देखने और विद्वेष-पूर्ण वचन सुनने से निन्दा की उत्पत्ति होती है। उपेक्षा कर देने से उसका नाश हो जाता है। बलवान शत्रु का प्रतीकार न कर सकने पर असूया जन्म लेती है, किन्तु करुणा आने पर वह नष्ट हो जाती है। दीन मनुष्यों की दशा देखकर दया उत्पन्न होती है और अपना कर्त्तव्य समझ लेने पर दया का काम पूरा हो जाता है। अज्ञान से प्राणियों के चित्त में भय उत्पन्न होता है और सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता का ज्ञान होने पर भय का नाश हो जाता है। हे धर्मराज ! केवल शान्ति-गुण के द्वारा इन तेरह दोषों का नाश किया जा सकता है। धृतराष्ट्र के पुत्रों में ये सब दोष थे, तुमने उन सब का नाश कर दिया।"

अब प्रश्न यह है कि ऐसे धर्म की प्राप्ति कैसे हो ? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सत्पुरुषों के संग ❀ से ही इस धर्म की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचि के अनुसार परिणाम में हितकर—यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण है। इतिहास और पुराणों में भी श्रुति-स्मृति में बतलाए हुए धर्म की ही व्याख्या है। इसलिये उनमें दी हुई शिक्षा भी धर्म है।

❀ सत्पुरुष या सत्-परमात्मा के सङ्ग को सत्सङ्ग कहते हैं। सत्-परमात्मा का सङ्ग होने के लिये हमें उसका सङ्ग करने की आवश्यकता है कि जो परमात्मा के मार्ग में तत्पर है—तत्परायण है, जो परमात्मा प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। ऐसे सिद्ध या साधकों के सङ्ग को सत्सङ्ग कहते हैं।

अतएव मनुष्य को उचित है कि प्राण भी जांय तब भी धर्म का त्याग न करे क्योंकि धर्म के लिये मरने वाला, उत्तम गति को प्राप्त होता है।

धर्म के प्रकार

चार प्रकार के धर्म लोक वेद विषय प्रसिद्ध हैं—यथा:—

(१) साधारण धर्म, (२) विशेष धर्म, (३) असाधारण धर्म और (४) आपद् धर्म।

(१) साधारण धर्म— सर्वत्र सर्व के उपयोगी। शौचादि धर्म साधारण धर्म है।

(२) विशेष धर्म— गृहस्थादि न्यारे न्यारे आश्रमों के न्यारे न्यारे धर्म विशेष धर्म कहलाते हैं।

(३) असाधारण धर्म—एक ही आश्रम विषय परस्पर भेद से भिन्न भिन्न धर्म असाधारण धर्म हैं। जो पुरुष अद्भुत शक्तिमान हैं वे ही इस धर्म का पालन कर सकते हैं। जैसे पांचों पाण्डवों का विवाह एक द्रौपदी से हुआ था।

(४) आपद् धर्म— आपद् धर्म का लक्षण यह है कि जब देश में विद्रोह या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होने से अथवा महामारी वा किसी प्रकार की आपद् की उत्पत्ति होने से प्रथम रक्षा शरीर की करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करना चाहिये।

१—साधारण धर्म

साधारण धर्म की मुख्य तीन शाखाएँ हैं अर्थात् (१) दान, (२) तप और (३) यज्ञ। ये तीन प्रधान शाखाएँ मनुष्य मात्र को पवित्र करने वाली हैं। और प्रति शाखाएँ २४ तथा त्रिगुण भेद (सत्त्व, राजस और तामस) से ७२ प्रकार की हैं यथा—दान की ३, कर्म की ६, उपासना की ९, और ज्ञान की ३, कुल २४ शाखाएँ और त्रिगुण भेद से ७२ शाखाएँ साधारण धर्म की हुई। संबंधी धर्म-वृक्ष व डाइग्राम देखिये।

साधारण धर्म की मुख्य तीन शाखा हैं अर्थात् (१) दान, (२) तप, (३) यज्ञ ये तीन प्रधान धर्म शाखाएँ मनुष्य मात्र को पवित्र करने वाली हैं और प्रति शाखायें २४ तथा त्रिगुण भेद (सत्त्व, राजस और तामस) से ७२ प्रकार की हैं।

(१) दान धर्म

दान तीन प्रकार का है:—यथा (१) अर्थ दान (२) विद्यादान और (३) अभयदान और सत्त्व, रज, और तमोगुण भेद से दान धर्म की ९ प्रति शाखाएँ हैं।

(१) अर्थदान— अन्न, धन, वस्त्र, भवन, भूमि, सोना, चांदी, गो इत्यादि अनेक प्रकार के अर्थ दान हैं।

(२) **विद्यादान**— शरीर, मन, वाणी और अर्थादि के द्वारा विद्योन्नति के लिये जो कुछ कार्य किया जाय वह सब विद्यादान है।

(३) **अभयदान**—अभयदान दो प्रकार का है।

(१) किसी प्राणी को कोई बिना अपराध मारने का भय दिखाकर मारता हो, उसे तन, मन, धन से बचा कर उसे भय से निर्भय कर देना, यह एक प्रकार का अभयदान है। तथा

(२) बारंबार जन्म मृत्यु रूपी महा भय से भयभीत मनुष्य को ज्ञानोपदेश देकर उसका जन्म मृत्यु रूपी भय मिटा कर उसे सदैव के लिए निर्भय कर देना यह सर्वोत्तम दान है अर्थात् सर्व दान उत्तरोत्तर हैं।

फल

सात्त्विक दान का फल—अन्तःकरण शुद्धि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

राजस दान का फल— इह लोक तथा परलोक में सुख और सम्पत्ति आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

तामस दान का फल— तामस दान से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् दान निष्फल।

सात्त्विक, राजस और तामस दान की परिभाषा श्री मद्भगवत्गीता के १७ वें अध्याय ‡‡ इस प्रकार लिखी है:—

सात्त्विक दान

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥(गी० अ० १७ श्लो० २०)

अर्थात् दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश†, काल‡ और पात्र के$ प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वालों के लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है।

राजस दान

यत्तु प्रत्युपकारार्थम् फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ (गी० अ० १७ श्लो० २१)

---

†–‡ जिस देश काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वही देशकाल, उस वस्तु द्वारा प्राणियों की सेवा करने के लिये योग्य समझा जाता है।

$ भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र, और औषधि एवं जिस वस्तु का जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु द्वारा सेवा करने के लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणों वाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकार के पदार्थों द्वारा सेवा करने के लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं।

अर्थात् जो दान क्लेशपूर्वक❀ तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अर्थात् बदले में अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा फल को उद्देश्य रख कर$ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

तामस दान

अदेश काले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गी० अ० १७ श्लो० २२)

और जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कार पूर्वक, अयोग्य देशकाल में, कुपात्रों के लिये अर्थात् मद्य मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं के खाने वालों एवं चोरी, जारी आदि नीच काम करने वालों के लिये दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

(२) तप धर्म

तप धर्म तीन प्रकार का है अर्थात् (१) शारीरिक (२) वाचनिक और (३) मानसिक और त्रिगुणात्मिक भेद से इसकी ९ प्रति शाखाएँ हैं।

(१) शारीरिक तप—देवता, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता, आचार्य और विद्वानों की सेवा सत्कारादि करना एवं पवित्रता रखना, सरल स्वभाव रखना, ब्रह्मचर्य पालन करना, हिंसा न करना ये सब शरीर सम्बन्धी तप के लक्षण हैं।

(२) वाचनिक तप—प्रिय हितकारक और सत्य बोलना तथा वेदादि शास्त्रों को पढ़ना, जप करना इत्यादि वाचनिक तप के लक्षण हैं।

(३) मानसिक तप—मन को प्रसन्न रखना, सौम्य स्वभाव रखना, आवश्यक से अधिक न बोलना तथा चित्त को दमन करना, अपने भावों को शुद्ध रखना ये सब मानसिक तप के लक्षण हैं।

फल

सात्त्विक-तप का फल—आयु, विद्या, यश, बल और ज्ञान की वृद्धि होती है।

राजस-तप का फल— इहलोक तथा परलोक में धन, जन, हाथी, घोड़े, राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

तामस-तप का फल— इहलोक तथा परलोक में केवल क्लेशमात्र ही फल होता है अर्थात् निष्फल है।

अतएव मनुष्यों को आत्मोन्नति के लिये सात्त्विक तप करना चाहिये।

जैसे प्रायः वर्तमान समय के चन्दे चिट्ठे आदि में धन दिया जाता है।
अर्थात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि की प्राप्ति के लिये अथवा रोगादि की निवृत्ति के लिये।

सात्त्विक, राजस और तामस तप की परिभाषा श्री मद्भगवत्गीता के १७ वें अध्याय में इस प्रकार लिखी है:—

सात्त्विक तप

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलातुकाङ्क्षिभियुक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ (गी० अ० १७ श्लो० १७)

अर्थात् फल को न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए, उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के (शारीरिक, वाचनिक और मानसिक) तप को तो सात्त्विक तप कहते हैं।

राजस तप

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ (गी०अ० १७ श्लो० १७)

और जो तप, सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित् और क्षणिक फल वाला तप, यहां राजस कहा गया है।

तामस तप

मूढ ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थम् वा तत्तापसमुदाहृतम् ॥ (गी० अ० १, श्लो० १९)

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

(३) यज्ञ—धर्म

यज्ञ-धर्म की मुख्य तीन शाखाएँ हैं यथा [१] कर्म-यज्ञ, [२] उपासना-यज्ञ और (३) ज्ञान-यज्ञ।

१—कर्म-यज्ञ

इसकी मुख्य छः शाखाएँ हैं यथा—(१) नित्य कर्म, (२) नैमित्तिक कर्म, (३) काम्य कर्म, (४) अधिभूत कर्म, (५) आधिदैविक और, (६) आध्यात्मिक कर्म। ये षट् कर्म सत्व, रज और तमोगुण के भेद से एक २ तीन २ प्रकार के होते हैं, इस रीति से कर्म-यज्ञ की १८ प्रतिशाखाएँ हैं।

(१) **नित्य-कर्म**—सदा जिसका विधान होता है ऐसे कर्म (स्नान, सन्ध्या आदिक) को नित्य कर्म कहते हैं। परमात्मा निराकार है इसलिये उनसे मिलने का सीधा उपाय उनकी शक्ति तथा उनकी विभूतियों के साथ मिलना है, इसी कारण नित्य कर्म में इसी की विधियां बतलाई गई हैं।

नित्य कर्म में पांच यज्ञ हैं अर्थात् (१) सन्ध्या अर्थात् ब्रह्म यज्ञ जो कर्मकाण्ड

से भिन्न है उसकी गणना उपासना काण्ड में होनी चाहिये। (२) देवयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) नृयज्ञ (भूतयज्ञ) और (५) अतिथियज्ञ।

१—ब्रह्मयज्ञ—वेदादि शास्त्रों का पढ़ना और पढ़ाना और सन्ध्योपासन योगाभ्यास करना। सन्ध्या शब्द का अर्थ (संध्यास्यन्ति) भली भाँति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें।

२—देवयज्ञ—विद्वानों के सङ्ग से पवित्रता और दिव्य गुण को धारणा करना और सायं प्रातःकाल में हवन करना।

३—पितृयज्ञ—इसके दो भेद हैं (१) श्राद्ध (२) तर्पण।

पितरों की अर्थात् विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध ज्ञानियों की, ऋषि, माता-पितादि पितरों की यथावत् सेवा करना श्राद्ध कहलाता है और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करके उन्हें तृप्त करना तर्पण कहलाता है। सो यह कर्म जीवितों में ही घट सकता है मृतकों में नहीं। अतएव मृतकों के उद्देश्य से जो किया जाता है वह वैदिक नहीं किन्तु पौराणिक है। इसकी कोई विधि नहीं जब उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता हो उसे पूरा करना चाहिये और अपने विनम्र आचरणों से उन्हें सदा प्रसन्न रख कर उनका आशीर्वाद लेना चाहिये।

यज्ञ में ऋत्विक

ऋग्वेद के जानने वाले ब्राह्मण को होता कहते हैं, यजुर्वेद के जानने वाले ब्राह्मण को अध्वर्यु कहते हैं, सामवेद के जानने वाले ब्राह्मण को उद्गाता कहते हैं और ऋक्, यजुष्, साम—इन तीनों वेदों के जानने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मा कहते हैं। ये चार ऋत्विक् यज्ञ के कराने वाले हैं। यज्ञ कराने वाले क्षत्रिय आदि को यजमान कहते हैं।

४—नृयज्ञ—बलिवैश्वदेव यज्ञ (भूतयज्ञ)—गृहस्थ के यहां जब पाक सिद्ध हो तो पहले उसमें लवण रहित अन्न की देवताओं को आहुति देनी चाहिये।

५.—अतिथि यज्ञ—जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो, ऐसा विद्वान परोपकारी जितेन्द्रिय सदाचारी यदि अकस्मात् अनिमंत्रित भी गृह द्वार पर आजावे तो वाणी से उसका यथोचित सत्कार कर अर्घ, पाद्य और आसन आदि देकर यथोपस्थित भोजनादि से सत्कार करे। अतिथि सत्कार करने में दीनता भी बाधक नहीं हो सकती।

विदित हो कि अग्नि-होत्र, तप, सत्य, वेदपाठ, आतिथ्य और वैश्वदेव कर्म इष्ट कहाता है। लोक हितार्थ बावड़ी, कूआ, तालाब, देव-मन्दिर, अन्नदान और बगीचे लगा देने को पूर्त्त धर्म कहते है।

गृहस्थ के घर में पांच हत्या सदा बनी रहती हैं अर्थात् (१) ओखली, (२) चक्की, (३) चूल्हा, (४) पनघड़ा और (५) बुहारी। इन वस्तुओं से जीव हिंसा होती है; इन हिंसाओं के पाप से छूटने के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन पंच-महायज्ञ करने को ऋषियों ने कहा है:—

कंडनी पेषणी चुल्ली, उदकुंभी च मार्जनी।
पंच सूना गृहस्थस्य, ताभिः स्वर्गं न विन्दति ॥
पंचसूना कृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति ॥

ओखली, चक्की, चूल्हा, पल्हैणी और झाड़ू-गृहस्थ को पाँच पाप हैं, इससे यह स्वर्ग को जा सकता नहीं, परन्तु वे पाँच प्रकार के पाप कर्म पाँच महायज्ञ द्वारा पूर्ण हो सकते हैं।

पौराणिक

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृपयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति च हापयेत् [मनुः]

मनु कहते हैं कि, ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ में मनुष्य के लिये जो मुख्य पांच यज्ञ हैं कदापि त्याग न करें। अब इन यज्ञों का स्वरूप विलग-विलग वर्णन किया जाता है—

२—ऋषियज्ञ—जो ब्रह्मचारी रहकर वेदों का पठन पाठन करते हैं और भिक्षा मांग कर गुरु के समीप ला उनको भोजन करा शेष भाग आप भोजन करते हैं।

२—देवयज्ञ—देवताओं के निमित्त जो हवि हो।

पाराशर स्मृति में दैनिक छ कर्म इस प्रकार लिखे है:—

सन्ध्यास्नानं जपश्चैव, देवतानां च पूजनम्।
वैश्वदेवं तथा ऽऽतिथ्यं, षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थः—स्नान, सन्ध्या, जप, देवता पूजन, वैश्वदेव कर्म—भोजन काल में अग्नि को आहुति आदि देना तथा अतिथि पूजन ये छै कर्म प्रतिदिन करने की आज्ञा है, न करे तो दोष लगता है। और भी कहा है:—

पंक्तिभेदी वृथापाकी नित्यं ब्राह्मण निन्दकः।
आदेशी वेद विक्रेता, पंचैते ब्रह्म घातकः ॥

अर्थः— पंक्ति में भेद करने वाला (१) अर्थात् भोजन के समय एक को अच्छी वस्तु दे और दूसरे को हलकी वस्तु दे, तथा अपने उदर के लिये भोजन बनाने वाला (२) अतिथि आदि को नहीं देने वाला, दूसरे को ठगने के लिये उपदेश देने वाला (३) तथा शुभ गुण वाले ब्राह्मण की निन्दा करने वाला (४) वेद को बेचने वाला (५) अर्थात् अपना कल्याण वेदाध्ययन को छोड़ कर भोगवश होकर विद्या को बेचने वाला— ये पांच ब्रह्म हत्यारे जैसे हैं।

सारांश यह है कि परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध बनाये रखना और कदापि उस सम्बन्ध को टूटने न देना नित्य कर्त्तव्य या नित्य कर्म है। सन्ध्या और पंच महायज्ञ को नित्य कर्म कहते हैं।

(२) नैमित्तिक कर्म—किसी निमित्त को पा करके जिसका विधान होता है ऐसा कर्म (ग्रहण, श्राद्ध आदिक) जो दश पौर्णमासादि यज्ञों के नाम से पुकारे जाते हैं। यह यज्ञ, जलवायु इत्यादि की शुद्धि के द्वारा उत्तम वर्षा इत्यादि के लिये किये जाते हैं जिनसे दूसरे आदमियों को भी लाभ पहुँचते हैं इसलिये यदि निष्काम किये जावें तो अन्तःकरण की शुद्धि का कारण होते हैं। 'षोड़श संस्कार, तथा वृद्धों के आगमन से उत्थान' नैमित्तिक कर्म में मिश्रित हैं।

"अथ षोडश संस्कारमाह"

"शार्दूल"

गर्भाधानमृतश्च पुन्सवनकं सीमंत जाताभिधे,
नामाख्यं सनिष्क्रमेण च तथान्नप्राशनं कर्म च ॥
चूडाख्यं व्रतबंधकोप्यथ चतुर्वेद व्रतानांपुरः,
केशांतः सविसर्गकः परिणयः स्यात्षोडशीकर्मणम् ॥१॥

षोडश संस्कार—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्त, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूड़ाकर्म, (९) कर्णवेध, (१०) उपनयन, (११) वेदारंभ, (१२) समावर्तन, (१३) केशान्त, (१४) विवाह, (१५) विवाहाग्नि परिग्रह और (१६) त्रेताग्नि संग्रह। ये सोलह संस्कार हैं।

[१] गर्भाधान संस्कार—विवाह संस्कार से कम से कम तीन दिन पश्चात् अथवा अधिक से अधिक सात वर्ष ब्रह्मचर्य रखने के पश्चात् गर्भाधान किया जाता है।

[२] पुंसवनः— गर्भाधान से दूसरे वा चौथे महीने में होता है।

[३] सीमन्तः— गर्भाधान से आठवें महीने में होता है।

[४] जातकर्मः— जन्म समय में नालच्छेदन से पहले किया जाता है।

[५] नामकरणः— जन्म से ग्यारहवें दिन किया जाता है।

[६] निष्क्रमणः— जन्म से चौथे महीने में सूर्य का दर्शन किया जाता है।

[७] अन्नप्राशनः— जन्म से आठवें महीने में किया जाता है।

[८] चूड़ा कर्मः— जन्म से पाँच वर्ष पश्चात् किया जाता है।

[९] उपनयनः— गर्भ वा जन्म से ब्राह्मण का आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहव वर्ष और वैश्य का

बारहवें वर्ष उपनयन करना चाहिये। १६ वर्ष तक ब्राह्मण का २२ वर्ष तक क्षत्रिय का, २४ वर्ष तक वैश्य का जनेऊ हो सकता है। इसके भीतर यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होवे तो ये लोग उपनयन संस्कार और वेद से रहित "व्रात्य" हो जाते हैं। ऐसे होने पर इनको व्रात्यस्तोम यज्ञ करना चाहिये।

[१०] वेदारम्भः— उपनयन के पश्चात् वेदारम्भ किया जाता है।
[११] समावर्तनः— २४ वर्ष की आयु में किया जाता है।
[१२] विवाहः— २५ वर्ष की आयु में करना चाहिये।
[१३] गृहस्थाश्रमः— २५ वर्ष की आयु में किया जाता है।
[१४] वानप्रस्थः— ५० वर्ष की आयु में धारण किया जाता है।
[१५] सन्यासः— ७५ वर्ष की आयु में धारण किया जाता है।
[१६] अन्त्येष्टिः— देहान्त के पश्चात् किया जाता है।

संस्कार करने का फल—वेद में कहे हुए षोड़स संस्कार रूपी कर्म करने से शरीर तथा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः संस्कार अवश्य करना चाहिये।

इति षोडश संस्कार

उत्थान रूप नैमित्तिक कर्म

अपने से जो वृद्ध पुरुष हो, उसके आगमन से मनुष्य को उत्थान [खड़ा] होकर उसका अभिवादनादि से संस्कार करना इसको उत्थान रूप नैमित्तिक कर्म कहते हैं।

सारांश यह है कि संसार में वृद्ध पुरुष सात प्रकार के होते हैं यथाः—अवस्था वृद्ध, जाति वृद्ध, धनवृद्ध, आश्रमवृद्ध, विद्यावृद्ध, धर्म वृद्ध और ज्ञानवृद्ध। ये सब पूर्व से उत्तरोत्तर उत्तम हैं इनमें ❀ सर्वोत्तम पूजनीय है। तात्पर्य—अपने से श्रेष्ठ हों उनके आने पर पुरुष को खड़ा होकर उन्हें नमस्कारादि करना चाहिये क्योंकि—युवा के सामने वृद्ध के आने पर युवा के प्राण ऊर्ध्व उत्क्रमण करते हैं, उसको प्रत्युत्थान और अभिवादन से वह पुनः प्राप्त किया करता है। जो पुरुष अभिवादन करने वाला है और नित्य वृद्धों की सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल ये चारों बढ़ते हैं ऐसा मनुस्मृति ÷ में लिखा है।

इति नैमित्तिक कर्म।

❀ धन वृद्धा वयोवृद्धा, विद्या वृद्धास्तथैव च।
ते सर्वे ज्ञान वृद्धस्य, किंकराः शिष्य किंकरा॥
[मैत्रे ३०२—श्रुति २४]

÷ ऊर्द्ध प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥
अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
[मनु० २—१२०—१२१]

[३] काम्य कर्म—कामना के लिये विधान किया कर्म [यज्ञ-यागादि] सकाम कर्म तो अविद्या और बंधन का हेतु है और निष्काम कर्म मल दोष के दूर करने का कारण है।

[४] आधिभौतिक कर्म—दीन, अनाथ, दरिद्री, रोगी आदि दुःखी प्राणियों को अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देना तथा उनके लिये अनाथालय स्थापन करना, औषधालय खोलना, गौशाला आदि बनवाना इत्यादि आधिभूत कर्म हैं।

[५] आधिदैविक कर्म—जब मनुष्य को दुष्ट कर्मों के संस्कार आकर क्लेश देते हैं तब उनको निवृत्त करने के लिये जप, होम पूजादि करना आधिदैविक कर्म हैं।

[६] आध्यात्मिक कर्म—स्वधर्म और स्वदेशोपकारक कर्म तथा ज्ञान विस्तारकारी कर्मों को आध्यात्मिक कर्म कहते हैं।

सात्विक कर्म के लक्षण

अहंकार और राग-द्वेष रहित तथा फल की इच्छा के बिना।

राजस कर्म के लक्षण

अहंकार और फल की इच्छा से एवं बहुत कष्ट उठाकर किये हुए कर्म।

तामस कर्म के लक्षण

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार करके केवल अज्ञान से किये जांय।

---

(२) उपासना-यज्ञ

अभाव की पूर्ति करने के लिये मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। जिसके पास धन नहीं है वह धन कमा कर धनाभाव की पूर्ति करना चाहता है, जिसके पास ज्ञान नहीं है वह ज्ञानी बनकर ज्ञानाभाव को मिटाना चाहता है इत्यादि। यही जब जीव का स्वभाव है, तो अल्पायु जीव चिरायु बनना अवश्य ही चाहेगा, अज्ञानी जीव ज्ञानी बनना अवश्य ही चाहेगा, शक्तिहीन जीव शक्तिमान बनना अवश्य चाहेगा और दुःखी जीव आनन्दी बनना अवश्य ही चाहेगा। जीव में इन सभी वस्तुओं का अभाव है। परमात्मा में ये सभी वस्तुयें पूर्णरूप से विद्यमान हैं। परमात्मा की आयु अनन्त है, शक्ति अनन्त है, ज्ञान अनन्त है और आनन्द अनन्त है। इस कारण परमात्मा से मिलकर, उनके पास पहुँच कर इन वस्तुओं के लाभ करने की लालसा मनुष्यों को लगती है। यह जो उनके पास पहुंचने की लालसा है, इसी को उपासना कहते हैं।

उपासना का शब्दार्थ

उपासना "उप" और "आसन" दो पदों से बना है। "उप" का अर्थ समीप और "आसन" का

अर्थ बैठना है। समीप बैठना उपासना है, अपने इष्ट के समीप बैठना अथवा मानसिक भाव से अपने इष्ट को समीप रखना उपासना है। उपासना जैसे पहले कह आये हैं नौ प्रकार की है, यथा:—

(१) आसुरी (क्षुद्र-देव) उपासना, (२) ऋषि, देवता और पितृ-उपासना, (३) अवतारोपासना, (४) पंच सगुण ब्रह्मोपासना, (५) निर्गुण ब्रह्मोपासना। ये पाँच भक्ति सम्बन्धी, (६) मंत्र योग उपासना, (७) हठ योग उपासना, (८) लययोग उपासना, और (९) राजयोग उपासना—ये ४ योग सम्बन्धी।

(१) भक्ति सम्बन्धी पाँच उपासना

१. आसुरी उपासना

क्षुद्र-देव यक्ष, राक्षस तथा प्रेतादि का आराधन करना। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति स्वभावतः भिन्न भिन्न भांति की होती है। अतः जैसी जिसकी प्रकृति है उसी के अनुसार उसका आहार व्यवहार तथा इष्ट उपासना होती है। गीता में भी लिखा है कि:—

सात्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

२. देव ऋषि और पितृगण

नित्य और नैमित्तिक भेद से दो प्रकार के हैं।

१ नित्य देवता

नित्य देवता वे हैं, जिनका पद नित्य स्थाई है यथा—अष्टवसु, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र इन्द्र और प्रजापति ये तेतीस देवता नित्य हैं।❀

२ नैमित्तिक देवता

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्त से नियत किया जाता है। और इस निमित्त के नष्ट होने पर वह पद भी नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवता तेतीस कोटि अथवा असंख्य हैं।

❀ अष्टवसु—धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, और प्रभास।

द्वादश आदित्य—भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु।

एकादश रुद्र—अजैकपाद, अहिर्बुध्न, विरुपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर।

ये ही तेतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्ड के रक्षक रूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्ण में विभक्त हैं। अर्थात् आदित्यगण क्षत्रिय देवता हैं, मरुदगण वैश्य देवता, अश्विनी गण शूद्र देवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मण देवता हैं।

द्वारा अधिष्ठित है। "जिस प्रकार साम्राज्य की सुरक्षा के लिये कई एक कार्य-विभाग और उक्त कार्य विभागों के अधिकार प्राप्त मुख्य अधिकारी रक्खे जाते हैं और वे अधिकारी वर्ग उक्त सम्राट के प्रतिनिधि होकर साम्राज्य का सब प्रबन्ध चलाया करते हैं। उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की सुरक्षा और पालनादि कार्यों के लिये ईश्वर ने मुख्यतया तीन राज्य विभाग किये हैं। उन तीन विभागों के तीन अधिकारी बनाये गये हैं। यथाः—

(१) आध्यात्मिक (ज्ञान) राज्य, (२) आधिदैविक (कर्म) राज्य और (३) अधिभूत (स्थूल) राज्य।

आध्यात्मिक राज्य—के संचालक ऋषिगण; आधिदैविक राज्य के संचालक देवतागण। और अधिभूत राज्य—विभाग के संचालक पितृगण नियत किये गये हैं। ये तीनों देवता प्राणीमात्र के कल्याण के लिये सर्वथा प्रयत्न किया करते हैं। इसलिये मनुष्य इन तीनों देवताओं का जन्म से ही ऋणी है। अतः उनकी उपासना करना उचित है। इनकी उपासना किस रीति से करना चाहिये सो नीचे लिखते हैं:—

"वेद शास्त्रादि के पाठ द्वारा, यज्ञादि साधन के द्वारा, सन्तानोत्पत्ति द्वारा और पितृ पूजादि के द्वारा तीन ऋणों को चुका देने से आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक शुद्धि से देवतागण, ऋषिगण और पितृगण संतुष्ट होते हैं।" इस विषय में मनुजी भी लिखते हैं कि—"देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण ये तीन ऋण दूर करके ब्राह्मण मोक्ष के अंगरूप सन्यास में मन लगावे, उन ऋणों के शोधन किये बिना जो सन्यास को धारण करता है, वह नरक में जाता है।"

मतलब यह है कि घर में पुत्र❀ नहीं होता वह घर श्मशान भूमि के तुल्य समझा जाता है। पितृऋण का भार ऐसे घर वाले के ऊपर रहता है और उसका उद्धार नहीं होता। वह नरक को जाता है। जब पुत्र नहीं तो पित्रों के श्राद्ध और तर्पण कौन करे और पितृलोक में उनकी गति कैसे हो।

इति देव ऋषि, पितृगण उपासना।

---

(३) अवतारोपासना।

अवतार—किसी एक स्थान पर ईश्वर के विशेष प्राकट्य को अवतार कहते हैं अर्थात् जिस केन्द्र में ईश्वर की शक्ति की नौ कलाओं से लेकर सोलह कलाओं तक का विकास हो वह ईश्वर के अवतार समझे जाते हैं।

परमेश्वर अपनी माया के संयोग से भक्तों की प्रार्थनानुसार यथावश्यक प्रख्यात् होने के लिये अनेक अवतार धारण करते हैं और सैकड़ों रूप धारण करते हैं। उनमें १० अवतार मुख्य हैं, यथाः— (१) मच्छ

❀ पुत्र। संस्कृत (पुत) नर्क जिसमें संतति रहित प्राणी ढकेले जाते हैं। और 'तर' कहते हैं तारने वाले को। जो 'पुत' नर्क से तारे वह पुत्र है।

१. नित्य ऋषि

नित्य ऋषि ७ श्रेणी के होते हैं:—यथा ब्रह्मर्षि, वसिष्ठादि, देवर्षि, कण्वादि, महर्षि, व्यासादि, परमर्षि भेलादि, काणर्षि जैमिन्यादि, श्रुतर्षि सुश्रुतादि, राजर्षि ऋतुपर्णादि।

इन्ही ऋषियों के द्वारा ही प्रथम वेदादि आर्ष ग्रन्थों के ज्ञान का विस्तार संसार में होता है।

२ नैमित्तिक ऋषि

मनुष्य लोक में उक्त ऋषियों के अंश रूप से जिन ऋषियों का जन्म होता है उनको नैमित्तिक ऋषि कहते हैं। नैमित्तिक ऋषि पांच श्रेणी के समझे जाते हैं, यथा:—

प्रथम श्रेणी—ऋषियों से साक्षात् सम्बन्ध युक्त ऋषियों के अवतार प्रथम के कहे जाते हैं।

द्वितीय श्रेणी—ऋषियों के परम्परा सम्बन्ध से युक्त ऋतम्भरा नामक योग बुद्धि को प्राप्त लेखक दूसरी श्रेणी के समझे जाते हैं।

तृतीय श्रेणी—जो वेद तथा ऋषि प्रणीत शास्त्रों के सिद्धान्तों को पूर्णरीत्या अथवा सारांश रूप से भली प्रकार समझ कर उनका विस्तार टीका, टिप्पणी, भाष्य द्वारा अथवा अन्य मीमांसा ग्रन्थ द्वारा प्रकट करते हैं, इसी श्रेणी के ग्रन्थ-कर्ता साधारणतः होते आये हैं।

चतुर्थ श्रेणी—जो आर्ष ग्रन्थों से संग्रह करके अपने समय के देश काल के लाभकारी ग्रन्थों के निर्माण द्वारा धर्म ज्ञान का प्रकाश जगत् में करते हों तथा ऐसे विद्वान् भी इसी श्रेणी के समझे जाते हैं जो कि पूर्वाचार्यों के मार्ग का आश्रय लेकर अपने समय के लाभकारी भांति भांति के ज्ञान विज्ञान के रहस्य प्रतिपादक नये ग्रन्थ निर्माण करते हों।

पंचम श्रेणी—साधारण ग्रन्थ कर्ता पंचम श्रेणी के समझे जाते हैं।

१ नित्य पितृदेव

नित्य पितरों की संख्या ३१ है यथा:—विश्व, विश्वभुक, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतकृत आदि।

२ नैमित्तिक पितर

जीवित माता पिता और पितामह अथवा मृत माता पितादि किसी निमित्त से पितृ-भाव को प्राप्त हुए हों वे भी नैमित्तिक पितर हैं।

प्रश्न यह होता है कि—जब कि एक ही ईश्वर सर्व नियन्ता सब का स्वामी सब चराचर जगत् में व्यापक है तो फिर परिच्छिन्न देव ऋषि पितरों की उपासना क्यों करना चाहिये ?

इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार गौ के सर्व शरीर में गोरस व्याप्त रहने पर भी केवल उसके स्तन द्वारा ही क्षरित होता है उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति व्यापक होने पर भी पृथ्वी पर अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप से विकासित होती है। यह त्रिविध शक्ति क्रमशः ऋषि, देवता, और पितरों

(४) पंच सगुण ब्रह्मोपासना।

जिस वस्तु का कोई निर्दिष्ट आकार नहीं होता है उसे मनुष्य अपने भावानुसार नाना आकार में देख सकता है। श्रीभगवान् निराकार हैं इसी कारण कभी शिव रूप में, कभी विष्णु रूप में या कभी अन्य रूप में भक्तों के भावानुसार दर्शन दे सकते हैं। उनकी यदि कोई निर्दिष्ट एक ही साकार मूर्ति होती तो ऐसा न हो सकता। इसी प्रकार जल का भी कोई निर्दिष्ट आकार नहीं है, इस कारण चतुष्कोण पात्र में जल चतुष्कोण ही दीखता है, गोलाकार पात्र में जल गोलाकार ही दीखता है और त्रिकोण पात्र में त्रिकोणाकार ही दीखता है इत्यादि।

विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश ये पंच सगुण ब्रह्मोपास्य हैं। इन पाँचों देवों की उपासना भी उत्तम श्रेणी की है।

इन पंच सगुण ब्रह्मरूपों की उपासना मूर्ति पूजा के द्वारा करनी चाहिये। अर्थात् इन पाँच देवों का प्रतीक ध्यान करना चाहिये। प्रतीक ध्यान इस प्रकार करना:—

"अन्य में अन्य की बुद्धि करके उपासना करना, 'प्रतीक ध्यान' कहलाता है अर्थात् अन्य वस्तु का अन्य रूप से ध्यान, जैसे शालिगराम का विष्णु रूप से ध्यान, नर्मदेश्वर का शिव रूप से इत्यादि।"

जब तक पदार्थों में ममता (राग) होता है और विचार की कमी है तब तक सगुण देव का अर्चन, कीर्त्तन, प्रार्थना और स्मरण इत्यादि कई प्रकार से उपासना की जाती है।

अपने अपने संस्कारों के अनुसार राम, कृष्ण, शंकर, गणेश, सूर्य, शक्ति इत्यादि अनेक इष्टदेव मनुष्यों को सदा सेवनीय हैं।

पञ्चदेव उपासक विवाद ॥

विष्णु-उपासक कहते हैं कि विष्णु आदि कर्त्ता हैं और सब देव उनके दास हैं शिव आदि देव की बारम्बार रक्षा की है और कैसे हैं? सतोगुण स्वरूप हैं जिनके दर्शन ही से तन मन शीतल हो जाय और मोक्ष के दाता हैं, शक्ति जिनकी स्त्री है और शिव क्या हैं जिनके दर्शन ही से क्लेश होवे, साँपों और खोपड़ियों की तो माला पहने हैं, शैव कहैं हैं कि शिव आदि कर्त्ता हैं और समदर्शी हैं उनको ही यह सामर्थ्य है जो फूलों और साँपों को समान समझे हैं और विष्णु की बारम्बार सहायता की है और कल्याण रूप हैं, बिना उनकी कृपा किसी का कल्याण नहीं हो सकता। और विष्णु तो स्त्री समान हैं, रूप बनाना स्त्रियों का काम है; शाक्त कहैं हैं कि बिना शक्ति देह अमंगल होती है सो शक्ति ने इन सब देवों को अपनी शक्ति दी है जब वह देवकार्य करने योग्य हुए। गणेश उपासक कहैं हैं कि सब से पहले गणेश जी मनाये जाते हैं। बिना उनके कोई कार्य सिद्ध नहीं होता सो गणेश आदि देव हैं। सूर्य उपासक कहते हैं कि बिना प्रकाश किसी से कोई कार्य नहीं होता सो सूर्य्य के प्रकाश से सब कार्य्य करने योग्य हुए हैं सो सूर्य्य देव सब से बड़े हैं। अब कोई इन पाँचों को उड़ा देता है वह ईश्वर को निर्गुण कहता है, तात्पर्य्य यह है कि

(२) कच्छ, (३) वाराह, (४) नरसिंह, (५) वामन, (६) परशुराम (७) बुद्ध, (८) कल्कि ये आठ अंशावतार हैं और (९) श्री रामचन्द्र तथा (१०) श्रीकृष्णचन्द ये दोनों पूर्णावतार हैं। क्योंकि इनके साथ अवतार संबंधी विज्ञानों तथा लीलाओं का संबंध शास्त्रों में विशेष रूप से पाया जाता है। अतः इनको पूर्ण ब्रह्म समझ कर उपासना करना चाहिये।

अवतारोपासना इस प्रकार करनाः—

अवतारोपासना नवधा भक्ति के द्वारा की जाती है। नवधा भक्ति के विषय में पृष्ठ देखो।

अवतारोपासना का फलः—

निष्काम भक्ति करने से ज्ञान के द्वारा कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है और सकाम भक्ति करने से यथाधिकार चतुष्टय मुक्ति की प्राप्ति होती है।

चतुष्टय मुक्ति ये हैं—

(१) सालोक्य (२) सामीप्य (३) सारूप्य और (४) सायुज्य— ये चार प्रकार की मुक्ति हैं।

(१) सालोक्य मुक्ति—

राजा के साधारण प्रजा के समान ईश्वर के बैकुंठ और स्वर्गादि लोकों में जाकर रहने का नाम सालोक्य मुक्ति है।

(२) सामीप्य मुक्ति—

राजा के किंकर के समान भगवान् के पास रहने का नाम सामीप्य मुक्ति है।

[३] सारूप्य मुक्ति—

राजा के अनुज की तरह भगवान् के समान रूप की प्राप्ति का नाम सारूप्य मुक्ति है। और

[४] सायुज्य मुक्ति—

राजा के ज्येष्ठ (युवराज) पुत्र की तरह ईश्वर के समान सत्य संकल्पादि ऐश्वर्य की प्राप्ति का नाम सायुज्य मुक्ति है।

इति अवतारोपासना समाप्त

ऐसे ऐसे संदेह और चिन्ता बहुधा मनुष्यों को सताते हैं। किन्तु सत्संग और परमार्थ से रहित कर देते हैं परन्तु ऐसे संदेह चित्त में लाके परमार्थ न करना या दूसरों की निन्दा करना अपनी अल्पज्ञता से है जो मनुष्य वाणी के भेद और अपने अधिकार से विदित हो और पीछे का पक्ष छोड़ दे तो एक संदेह पास भी न फटकै और सब अच्छे दीखैं।

अब एक मोटा और प्रसिद्ध दृष्टान्त सुनिये कि एक मनुष्य के चार लड़के हैं, चारों की अवस्था बुद्धि, रूचि, चाल, चलन और देह में परस्पर अन्तर है और पिता को अभीष्ट यह है कि चारों जीविका करें, घर संभालें, नेक चलन हों और प्रसन्न रहें और दूसरों को प्रसन्न रक्खें। अब जो पिता एक ही सी सब को सीख करता है तो काम नहीं चलता क्योंकि सब की अवस्था और बुद्धि में अन्तर है। अब उसको योग्य हुआ कि हर एक को उसकी योग्यता के सदृश पृथक् पृथक् शिक्षा करे। जो लड़का सब से बड़ा पढ़ा लिखा योग्य चतुर है उसकी अवस्था २५ वर्ष की है, आरोग्य है और विवाह आदि हो गया है, उसको अब पिता नौकरी की शिक्षा करता है और नौकरी की रीति और उसके लाभों को भी बतलाता है। जो वह लड़का सौदागरी, जिमीदारी आदि के सुखों की प्रशंसा करता है तो उसका पिता उसमें बहुत से दूषण देता है, हानि दिखलाता है और नौकरी को सब प्रकार उपकारी बतलाता है कि देखो नौकरी में प्रतिष्ठा बड़ी है। दस रुपये के कर्मचारी की प्रतिष्ठा लखपती से अधिक होती है, दो तीन पहर नौकरी की फिर छुट्टी है, प्रतिष्ठावान् लोगों का सत्संग प्राप्त होता है और बुद्धि की वृद्धि होती रहती है, शासन होता है और नाम प्रकाशित होता है और हजारों का काम निकलता है। बड़ी आवगच्छ होती रहती है और सौदागरी आदि में क्या है? निदान पेट भर लेना है, न विद्या प्राप्त होती है और न कुछ ऐसी प्रतिष्ठा है, घर २ फिरना पड़ता है आसामी डूबजाती है, दिन रात लेने देने का संदेह रहता है, मिथ्या बहुत बोलना पड़ता है जो कि लड़का पढ़ने लिखने में सदा से रहा था इससे उसको पिता की सिखावन से नौकरी ही करना अच्छा मालूम हुआ, तब खोज में चल खड़ा हुआ, नौकरी पाई, उसका प्रयोजन सिद्ध हुआ।

दूसरा लड़का जिसकी अवस्था २० वर्ष की है और कुछ थोडा बहुत पढ़ा है उसकी बुद्धि भी बहुत अच्छी नहीं है, रोगीसा भी बना रहता है, वार्त्तालाप करने में भी अभ्यास सामान्य है। उस लडके को पिता सौदागरी और दूकानदारी की शिक्षा करता है जो लड़का नौकरी करने को कहता है तो पिता नौकरीमें हजारों अवगुण दिखला कर कहता है कि नौकरी पराधीनी है, प्रति समय राज्याधिकारी का भय रहता है देश घर छूट जाता है, अन्यों के साथ काम पड़ता है, सब संदेह अपने ऊपर आते हैं, और गिनी कौड़ियां हाथ आती हैं, नौकरी में कोई सुख नहीं। कहावत है—'पराधीन स्वपनेउ सुख नाहीं' और सौदागरी में यह सब बातें प्राप्त होती हैं, घर की स्वतन्त्रता है, किसी की आज्ञा सहना नहीं पड़ता है, रोटी करी कराई मिलती है रात को घर में सोना मिलता है समय पर जोर रहता है जब चाहा काम किया जब चाहा न काम किया, कुछ बहुत सी विद्या नहीं चाहिये और देखो ऐसे काम वाले कैसे प्रसन्न हैं बड़े २ मकान तैयार कराते हैं हजारों रुपये पास होते हैं, किसी के अधीन नहीं रहते। लड़के ने अपनी दशा देखकर और पिता की शिक्षा सुनकर नौकरी से हाथ उठाया, सौदागरी करने लगा, पिता पुत्र दोनों का अभीष्ट सिद्ध हुआ।

तीसरे लड़के की अवस्था १२ वर्ष की है, उसको विद्या सीखने के वास्ते शिक्षा करता है और विद्या के लाभों को सुनाकर कहता है कि जो लिखे पढ़े है वह घोड़े पर चढ़ते हैं, मोटर में बैठते है, हवाई जहाज

(विमान) में यात्रा करते हैं और ऐश करते हैं और खेल कूद के हानि दिखा कर कहता है कि जो खेल में रहते हैं वह दुर्ज्जन हो जाते हैं, रोटी खाने को नहीं मिलती, पाठशाला जाने का अनुराग कराता है, जरूरत पर भय दिखलाकर कहता है कि निकाल दूँगा और तुझ को खाने को न दूँगा, रात भर कोठरी में बंद रक्खूँगा, जो कहने से नहीं समझता तो मारता भी है और किसी स्थान पर दम दिलासा भी देने लगता है, प्यार भी करता है और खेल भी खिलाता है, जो लड़का घर से बाहर जाने में डरता है तो उसको ढ़ाढ़स बंधाता है और कहता है कि बाहर गये बिना विद्या कैसे आवेगी और घर के रहने से लड़के बिगड़ भी जाते हैं और दूसरे लड़के तेरा नाम डरपोंकना रख देंगे और बाहर जाने में तो बड़े २ दृश्य भ्रमण में दीखने में में आते हैं और देख तुमसे भी छोटे छोटे लड़के दिन रात फिरा करते हैं, अब देख लीजिये कि इस लड़के से नौकरी और सौदागरी का कुछ हानि लाभ वर्णन नहीं करता और जिस बात से प्रयोजन है उसी की बहुत सी प्रशंसा करता है।

अब चौथा लड़का पाँच वर्ष की अवस्था का है। इस लड़के के लिये पिता खेल का सामान बनाया करता है। लाड़-प्यार से खिला पिला के उसके साथ हँसा करता है। उसकी बेअदबियों को लाड़ समझता है। और रात दिन उससे झूंठी झूंठी बातें किया करता है। और जो वस्तु वास्तव में भी नहीं है उसके होने का भी समर्थन कर देता है, जो लड़का बाहर जाने को कहता है तो उसको बाहर जाने से निषेध करता है। और कहता है कि बाहर जाना अच्छा नहीं होता, चोर पकड़ ले जायगा और जो कोई चाहेगा वह तुझे मार देगा, बाहर कभी मत जाइयो, घर से बाहर पाँव रखना बहुत बुरा है, भय के मारे लड़का बाहर नहीं जाता घर में खेलता है, लड़के को भी अच्छा और पिता जी भी प्रसन्न, इस लड़के से लिखने पढ़ने को नहीं कहता, नौकरी, सौदागरी और विद्या के लाभ नहीं सुनाता। अब किंचित् ध्यान करने का स्थान है कि पिता की पृथक् पृथक् सीख योग्य है या नहीं, प्रकट है कि बहुत ठीक है, इस निमित्त कि चारों लड़कों का काम बनता है और देखिये कि इस मनुष्य ने प्रथम नौकरी की प्रशंसा करी और दुकनदारी की निन्दा और दूसरे स्थान पर नौकरी की निन्दा और सौदागरी के लाभ, एक और स्थान पर बाहर जाने के लाभ और घर में रहने से हानि, कहो कुछ कुछ बातें सत्य कहीं और कुछ भयंकर और कितनी लालच की। किसी स्थान पर अच्छी बात को बुरी कहा और बुरी को अच्छी कहा परन्तु कोई उस मनुष्य को अपराधी और झूंठा नहीं कहता है किन्तु बुद्धिमान कहलाता है। अब जो लड़के पिता को साखी कर कर अपनी अपनी बात को सिद्ध करें और एक दूसरे को परस्पर में खण्डन करें तो उपाधि के अतिरिक्त और क्या लाभ होगा और समझने वाला इन लड़कों को अज्ञानी ही समझेगा। अब देखिये कि जिस लड़के को बाहर जाने के वास्ते निषेध किया है, अब उसको कुछ दिन बीते बाजार जाने की शिक्षा देकर घर में रहना बुरा कहेगा, अब जो लड़का लड़कपन में घर में रहेगा वह निस्संदेह प्रसन्न रहेगा और अवस्था पहुँचने पर आप बाहर जायगा। और बाहर के लाभ मालूम करेगा और जो पिता के कहने पर लड़कपन में अमल करेगा और बाहर जाने में कोई भी लाभ होगा तो अन्त को बेकार ही होगा, परन्तु जब एक बात में पक्का हो जायगा तो दूसरे में आप लग जायगा और लाभ भी प्राप्त करेगा। बाहर भी जायगा और सौदागरी नौकरी भी करेगा और लड़कपन में घर में रखने से पिता का भी यही अभिप्राय है कि अन्त को नौकरी ही करे। और देखो औरों को किस प्रकार समझना पड़ता है कि—

किसी राजा का एक लड़का था वह कुछ भी नहीं पढ़ता था और कबूतर पालने व खेलने का चाव रखता था। बहुत से अध्यापक नियत हुए परन्तु किसी से न पढा। राजा ने हार कर पढ़ाना छोड़ दिया इतने में एक मनुष्य ने आकर कहा कि मैं पढ़ाऊँगा, निदान उसको नौकर रक्खा, उस मनुष्य ने प्रथम राजा के लड़के से स्नेह उत्पन्न किया और जो सौ कबूतर थे तो सौ और मोल लेकर रखवाये और आप भी उसके साथ मिलकर कबूतर उड़ाया करे कि वह कबूतर ला, कभी २ वह और का और ले आया करे। अब अध्यापक ने कहा कि जब तक कबूतरों के नाम न रक्खे जांयगे और तुमको ठीक २ पहिचान न होगी तब तक पक्के कपोत कुशल न कहलाओगे। राजा के लड़के ने कहा सत्य है, उस्ताद ने अक्षर आ, ई, ऊ आदि कबूतरों के नाम रक्खे और उस लड़के को यह अक्षर स्मरण करवाये, परन्तु अब भी खूब पहचान नहीं है, बहुधा पहचानने में भूल जाता था। अब वह आप अध्यापक से कहने लगा कि मुझे इस प्रकार हर एक कबूतर का नाम कंठस्थ नहीं रहता। उस्ताद ने कहा कि अक्षरों का लिखना सीख लो फिर सब कबूतरों पर अक्षरों का चिन्ह कर दिया जायगा, तुम सुगमता से पहचान लिया करोगे। अब लड़के को अक्षर लिखने का प्रेम उत्पन्न हुआ, अब वह लड़का लिखता भी है और पढ़ता भी है इसी प्रकार उसको लिखना पढ़ना आने लगा, थोड़े समय में कपोत क्रीड़ा तो छोड़ दी और विद्या सम्पादन करने लगा। देखिये किस यत्न से पढ़ाया और जो लाभ दिखाया था उसकी सिद्धता से गुरु का प्रयोजन न था परन्तु उसके छुडाने में अर्थ था, इसी प्रकार जोधपुर में लेखक ने स्वयं एक मंत्री के लड़के को देखा था वह भी पढ़ता था। अनेकों अध्यापक आये परन्तु उसके ऊपर कुछ प्रभाव न हुआ अन्त में एक उस्ताद ने अपनी विशेष युक्तियों द्वारा उसे पढ़ा ही दिया और अब वह एम० ए० पास कर चुका है।

इसी प्रकार इस जगत में भी बहुत से ऐसे जीव हैं कि किसी प्रकार परमार्थ में नहीं लगते उनको इसी प्रकार जब शिक्षा हो तो परमार्थ की इच्छा उत्पन्न होती है और देखो एक ही रोग पर वैद्य दश रोगियों को पृथक् २ औषधि बताता है वह गुणकारी होती है, जो एक ही औषधि बता दे तो सबको अवगुणकारी है। जो रोगी परस्पर में लडें कि मेरी औषधि अच्छी है तेरी बुरी है तो क्या लाभ है। एक रोगी को दो पैसे का नुसखा लिखा और एक को दो रुपये का, एक को खिचड़ी खाने को बताई और दूसरे को निषेध किया, एक को रोटी बताई गई और दूसरे को दाल बताई। अब देख लीजिये कि जैसा रोगी वैसी औषधि और वैसा ही खाना और वैसा ही पथ्य। अब जो रोगी अपनी अपनी औषधि करे और वैद्य के कहने के अनुसार और औषधि खाय तो आराम संभव है। जिस रोगी को खाना निषेध किया था जब उसका रोग दूर होगा तब वैद्य आप रोटी खाने को बतावेगा किन्तु खिचड़ी खाने को अवगुण कहेगा और यह भी बात है कि जब रोगी का रोग दूर हो जायगा वह आप रोटी की इच्छा करेगा, कुछ किसी के बताने की आवश्यकता न होगी परन्तु जब तक उसके रोग बना हुआ है तब तक जो कोई रोटी खाने को कहे उसे शत्रु जानिये। खीर खाना अच्छा है परन्तु निरोग को, तलवार चलाना उसको योग्य है जिसको चलाने की युक्ति आती है और जिस मनुष्य ने कभी लकड़ी ही नहीं फेंकी जो वह तलवार चलावे तो एक दिन अपना ही गला काट मरेगा। अब जो मनुष्य इन दृष्टान्तों को अच्छे प्रकार समझ लेगा उसको कोई सन्देह परमार्थ के सिद्ध करने में न उत्पन्न होगा, समझेगा कि वेद शास्त्र महात्माओं का कहना अत्यन्त लाभकारी है। रोचक, भयानक, यथार्थ तीन प्रकार की वाणी है। देखो भागवत् में श्री कृष्ण महाराज ने आप कर्म उपासना को कितना दृढ किया है। और कहीं कहीं ज्ञान के वचन भी कहे हैं।

कृष्णोपासना, शिवोपासना, अंगन्यास, हृदयादिन्यास व ध्यान सहित नीचे लिखी जाती हैं। अन्य देवों की उपासनाओं के बीज मन्त्र व जप संख्या मंत्र योग के विषय में दिये गये हैं। वहां देख लेना।

॥ अथ श्रीकृष्णोपासना ॥

ॐ केशवाय स्वाहा। माधवाय स्वाहा। नारायणाय स्वाहा। ॐ श्री गणेशायनमः ॐ ॥

ॐ अपवित्रः पवित्रोवा सर्वावस्थां गतोऽपिवा यः स्मरेत् पुंडरीकांक्षम् सर्वाह्याऽभ्यन्तर शुचिः ॥

ॐ पृथ्वीत्वया धृता लोका देवित्वं विष्णुनाधृता त्वंच धारयमां देवीं पवित्रं कुरु चासनम् ।१॥

ॐ अस्य श्री कृष्ण मंत्रस्य नारायण ऋषिः गायत्री छन्दः। राधिका देवता। तारो बीजं। ह्रीं शक्तिः। श्री कृष्ण परमात्माराधते विनियोगः।

अथ अंगन्यासः॥ ॐ श्रीं अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ क्लीं मध्यमाभ्यां नमः। ॐ कृष्णाय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ स्वाहा कनिष्ठकाभ्यां नमः। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः। इति करन्यास॥

अथ हृदयादिन्यासः॥ ॐहृदयाय नमः। ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा। ॐ क्लीं शिखाये वषट्। ॐ कृष्णाय कवचाय हुँ। ॐ स्वाहा नेत्रत्रयाय बौषट्। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं अस्त्राय फट्। हृदयादिन्यासः॥

अथ ध्यानं ॥ ॐ वंशीविभूषितकरन्नव नीरदाभात्पीतांवरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात्पूर्णेन्दु सुन्दर मुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्व महं न जाने॥ १॥

ततो मंत्र जपेत ॥ "ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा" सहस्रमयुतं जपेत॥

(१० हजार जप)

॥ अथ शिवोपासना ॥

ॐ श्री गणेशाय नमः॥ ॐ अस्य श्री शिव पंचाक्षर महामंत्रस्य वामदेव ऋषिः। पंक्ति छन्दः। श्री सदाशिवो देवता। मं बीजम्। यं शक्तिः। नं कीलकम्। श्री साम्बसदाशिव प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः॥

ॐ वामदेव ऋषये नमः शिरसे। ॐ पंक्ति छन्दसे नमः मुखे। ॐ सदाशिव दैवतायै नमः हृदि। ॐ मं बीजायैनमः गुह्ये। ॐ यं शक्तये नमः पादयो। ॐ नं कीलकाय सर्वांगे॥ इति ऋष्यादिन्यासः॥

अथ अंगन्यासः—ॐ नं० अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ मं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ शिं मध्यमाभ्यां नमः। ॐ वां अनामिकाभ्यां नमः। ॐ यं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ नमः शिवाय करतल पृष्ठाभ्यां नमः॥

अथ हृदयादिन्यासः—ॐ नं हृदयाय नमः। ॐ मं शिरसे स्वाहा। ॐ शिं शिखायै वषट्। ॐ वां कवचाय हुम्। ॐ यं नेत्रयाय बौषट्। ॐ नमः शिवाय अस्त्राय फट्॥

अथ ध्यानं॥ ॐ ध्यायेन्नित्यं महेशं रजत गिरी निभं चारुचन्द्रावतंसं। रत्नाकल्पोज्वलाङ्गं परशु मृगवराऽभीति हस्तं प्रसन्नम्॥ पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणै व्याघ्र कृतिं वसानं। विश्वाद्यं विश्ववद्यं निखिल भय हरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥ इति ध्यानं॥

अहं शंभुर्न चान्योस्मि ना चाहं शंकरात्पृथक् ।। इति संचिन्त्य मेधावी जपेन्मंत्रं समाहितः ।।
ॐ नमः शिवाय पश्चाद्गायत्रीं जपेत । "ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमही, तन्नोरुद्रः प्रचोदयात् जपं कृत्वा प्रार्थयेत ।।

गुह्याति गुह्य गोप्ता त्वं । गृहाणा स्मत कृतं जपं सिद्धिर्भवतु मे देवत्वत प्रशादान्महेश्वरः । मनसा चिंतितं यन्मे वाचा पदभाषितं पुनः कायेन यत् कृतम् कर्म तद्धिवाय समर्पितम् ।। इति पंचाक्षर विधिः ।।

—श्री गुरुवे नमः—

जो लोग शिव का दर्शन करना चाहते हैं उन्हें पवित्रता भाव एकाग्र चित एवं अनन्य भक्ति के साथ " पंचाक्षर " और रुद्र गायत्री का लाख जप करना चाहिये । इति पंच सगुण ब्रह्मोपासना ।।

(५) निर्गुण ब्रह्मोपासना

निगुर्ण ब्रह्मोपासना ॐकार (प्रणव) की उपासना है और वह ॐकार के ध्यान द्वारा की जाती है, जिसका विवेचन मय लयचिन्तवन व ध्यान तथा ऋष्यादि करन्यास, न्यास, हृदयादि न्यास व ध्यान के आगे लिखेंगे । प्रथम गुरु भक्ति व ॐकार के सहजाभ्यास तथा उपासना के फल आदि के ऊपर कुछ प्रकाश डालते हैं ।

गुरू भक्ति

आदि काल ही से लोग यह कहते आये है कि आत्मिक लोक की यात्रा में सफलता बिना गुरुमुख हुए बिना गुरु सेवन किये नहीं उपलब्ध होती और जब तक गुरुदेव अपने अपने द्वार के दीन भक्त पर कृपा न करें, उसको मार्ग पर न चलायें, और यात्रा में आने वाले विघ्न बाधाओं से न बचायें, तब तक आत्मिक कल्याण की आशा दुराशा है । इसीलिये इस मार्ग के जिज्ञासु यात्री और प्रेमी सबसे पूर्व गुरुदेव की गवेषणा करते हैं । दूर दूर देशों में, पर्वतों पर, नदी नालों के किनारे और गिरि गुफाओं में गुरुदर्शन की अभिलाषा के लिये घूमते फिरते हैं, पर किसी भाग्य वाले ही को कादाचित् कहीं आत्मनिष्ठ महात्माओं का मिलाप होता है, नहीं तो बहुतेरे बेचारे भोले भाले भक्त व्यर्थ ही भटकते रहते हैं अथवा ढोंग वा दम्भ में फँस कर तन धन पूज कर निराश रह जाते हैं । सत्य है कि इस प्रलोभन पूर्ण पृथ्वी पर पर्यटन करने वाले प्राणियों में "आश्चर्योऽस्य वक्ता" इस परमात्मदेव का बखान करने वाला अनुभवी पुरुष आश्चर्य (दुर्लभ) है । मानुषी देहधारी गुरु का मिलाप दुर्लभ मान कर कोई मनुष्य अपने कल्याण से वंचित न रह जाय, इसलिये परम सन्त योगिराज श्रीपतंजलि ईश्वर-भक्ति से समाधि सिद्धि बताते हुए उपदेश करते हैं:—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' परमात्मदेव काल के घेरे से ऊपर होने से ब्रह्मा मनु आदि पूर्वज महात्माओं के भी गुरु हैं । इसका तात्पर्य यह है कि परम पद का प्रेमी, परमात्मदेव ही को परम गुरु माने, आराधना काल में उसी की दया और सहायता की याचना किया करे ।

न जाने किस समय गुरु सहायता की आवश्यकता आ पड़े, इसीलिये अभ्यास में गुरु की समीपता बड़ी आवश्यक होती है, सो सर्व व्यापक तथा पूर्ण स्वरूप से भक्त हृदय में विराजमान भगवान से अधिक

अन्य कौन समीप होगा ? अतएव जगद्गुरु जगदीश्वर अधिकतम पास होने से गुरुभावना के सर्वोत्तम पात्र हैं, वेद मार्ग में तो भक्तवत्सल भगवान् माता पिता बन्धु और सखा आदि सम्बन्धों से सम्बोधन किये गये हैं। भक्त को यह धारणा करनी चाहिये कि परम पुरुष परम गुरु परमात्मदेव मेरे पास है। अपने परम प्रेम के तार से मुझे अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, वह मेरे पास है, मेरी सहायता में तत्पर है। उस दयालु देव की दया से मेरे मार्ग के सकल विघ्न दूर और चूर हो रहे हैं।

भक्ति धर्म्म में गुरु चिन्तन, गुरु आराधन, और गुरुध्यानादि बताया जाता है। यहां तक गुरु-प्रेम की प्रथा इस पथ में है, कि गुरु ही को सर्वस्व जान कर भक्त लोग गुरु की उपस्थिति में उसका और अनुपस्थिति में उसकी आकृति का ध्यान करने लग जाते हैं। योग के सम्पूर्ण रहस्यों के ज्ञाता भक्ति धर्म के मर्मज्ञ महामुनि पतञ्जलि को यह बात सर्वथा ज्ञात थी कि जो गुरुदेव ने उन्होंने बताया है वह आकार रहित अकाय है, वह अनन्त है, सर्वत्र परिपूर्ण है, पांचों ज्ञानेन्द्रियां अपनी सारी दौड़ लगा कर भी उस तक नहीं पहुंच सकती। तब उस गुरुदेव का आह्वान करने उसका प्रेम अपने में सम्पादन करने, और उस भगवान् को अपना भक्ति भाजन बनाने का कौन साधन है ? इसका समाधान योगिराज पतञ्जलि ने बताया है कि "तस्य वाचकः प्रणवः" उस गुरुदेव को मन मन्दिर में आवाहन करने के लिये उसका वाचक (प्रकट करने वाला अथवा नाम) ओम् है। सनातन भक्ति धर्म में अपने गुरु में परम प्रेम और पराभक्ति उत्पन्न करने के लिये ओम् परम और चरम साधन है। इसी ओम् नाम से असंख्य भक्त जन सफल मनोरथ और सिद्ध काम होगये। इस समय भी सैकड़ों सन्तजन इसी नाम में धुन लगा निमग्न रहते हैं। इस नाम का जितना अधिक प्रभाव है, इससे जितनी शीघ्र सिद्धि और समाधि होती है, उसका अंश भी और साधनों में मिलना दुर्लभ है।

'ओम्' निराकार है

'ओम्' अक्षर की आकृति कल्पित है। वह परिवर्तित हो सकती है, और होती आई है। इस समय भी ओम् अनेक आकृतियों में लिखा जाता है। भिन्न २ भाषाओं में भी उसके भिन्न २ आकार हैं। परन्तु 'ओम्' का उच्चारण 'ओम्' की ध्वनि सब समयों में एक रही है, उसमें परिवर्तन हुआ भी नहीं और हो भी नहीं सकता। सब भाषाओं में वह एक सी है। इसलिये ध्वनि का उच्चारण ही 'ओम्' है, आकृति नहीं आकृति केवल संकेत मात्र है।

बालक को 'ओम्' का उच्चारण बताये बिना आकृति मात्र से 'ओम्' का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। परन्तु आकृति के ज्ञान से सर्वथा शून्य जन्मान्ध को ओम् का उच्चारण सुनकर 'ओम्' की ध्वनि का पूर्ण और शुद्ध ज्ञान हो जाता है। वास्तव में शब्द का प्रकाश उच्चारण में होता है, और उच्चारण अर्थात् ध्वनि निराकार है, अक्षर और शब्द दोनों हैं इसलिये सभी दार्शनिक पंडित शब्द को निराकार मानते चले आये हैं।

'ओम्' नित्य है

आकृति का ज्ञान आंखों से और शब्द का श्रोत्र से होता है, आंखों से नहीं। आकृतियों में परिवर्तन होता रहता है, वे बनती भी हैं और बिगड़ती भी। यदि शब्द भी आकारवान् होता तो बनता

'ओम्' अजन्मा है

वैयाकरणों के मत में "ओमिति अव्ययम्" ओम् अव्यय है। अव्यय उस शब्द को कहते हैं जो विभक्ति, लिङ्ग और वचनों के परिवर्तन में न आवे। स्वरूप न बदले, जैसा है वैसा ही बना रहे। 'ओम्' शब्द का वाच्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर देव भी परिवर्तन में नहीं आता, अव्यय, अजन्मा और एक रस है।

'ओम्' एक है।

'ओम्' से भिन्न परमात्मदेव के सारे नामों के एक, दो और बहुवचन होते हैं, यथा परमात्मा, दो परमात्मा और बहुत परमात्मा, इसी प्रकार ईश्वर आदि शब्दों के एक, दो और बहुवचन बनते हैं। अन्य भाषाओं में भी ईश्वर सम्बन्धी नामों में ऐसा ही परिवर्तन होता है परन्तु 'ओम्' अव्यय है, अव्यय एक रहता है, वह परिवर्तन में नहीं आता, इसलिये सब वैयाकरणों के मत में ओम् के दो और बहुवचन नहीं होते, उसका एक ही वचन रहता है, क्योंकि 'ओम्' एक ही है।

संसार ओम् रूप है।

अ—उ—और म् इन अक्षरों से ओम् बना है। ज्ञानियों की कल्पना में ओम् के तीन अक्षर ईश्वर जीव और प्रकृति—इन तीन अनादि पदार्थों के प्रतिनिधि भी हैं, 'अ' से ईश्वर 'उ' से जीवात्मा और 'म्' से माया प्रकृति का ग्रहण किया जाता है। जैसे 'अ' 'उ' और 'म्' के मिलाप से ओम् बना है, ऐसे ही ईश्वर जीव और प्रकृति से इस अनन्त विश्व की रचना हुई है। ओम् की रचना में जिस प्रकार 'अ' और 'म्' के मध्य 'उ' की स्थिति है, उसी प्रकार ईश्वर और माया के बीच विचरने वाला जीवात्मा है। अक्षरों में 'अ' 'उ' ये दोनों अक्षर स्वर हैं, परन्तु 'म्' व्यञ्जन है। स्वर स्वतन्त्र अक्षर होते हैं और व्यञ्जन अक्षर स्वरों के आधीन होकर बोले जाते हैं। जब तक व्यञ्जन अक्षर में कोई स्वर न हो; वह बोला नहीं जा सकता विश्व में भी परमेश्वर और जीवात्मा ये दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ये अपनी सत्ता और चेतनता से स्वयं प्रकाशित होते हैं, परन्तु कारणरूपा प्रकृति में यदि ईश्वरेच्छा और जीवात्मा का प्रवेश न हो, तो यह कार्य रूप में कभी भी प्रकट नहीं हो सकती।

'अ' और 'म्' इन दोनों का मध्यवर्ती 'उ' अक्षर यदि 'म्' में मिल जाय तो उसकी दशा 'मुख' मुंह आदि शब्दों के 'म्' में मिले 'उ' की सी हो जाती है। 'उ' नीचे पड़ा हुआ है और व्यञ्जन, शक्तिहीन 'म्' उसके शिर पर सवार है। विश्व रचना में भी यही समझना चाहिये कि जब स्वर अक्षरवत् स्वतन्त्र जीवात्मा, अविद्या वश, अपने आपको भूल जाता है, और परमात्मा को छोड़कर प्रकृति-माया और इस लोक ही को सब कुछ समझने लगता है तो यह माया उकार अक्षर के सिर पर 'म्' व्यञ्जन अक्षर की भांति जीवात्मा के शिर पर बैठ जाती है, इसको अपना दास बना लेती है, और जन्म जन्मान्तर के ऊंच नीच नाना नाच नचाती रहती है।

और यदि अकार और 'म्' का मध्य स्थित उकार अक्षर, आदि अक्षर 'अ' में जा मिले तो दोनों मिल कर 'ओ' बन जाते हैं। एक रूप और एक स्वर हो जाता है। 'ओ' के पास यदि व्यञ्जन 'म्' आ भी

जावे तो भी 'अ' में मिले 'उ' को छू नहीं सकता, किन्तु 'ओम्' अथवा ओ के व्यञ्जन 'म्' वा विन्दु की भांति पृथक् ही पड़ा रहेगा। ऐसे ही जीवात्मा, परमात्म देव की उपासना करके जब परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है, तब इसका स्वरूप परमात्मा के गुणों में पूर्ण होजाता है। परमानन्द में निमग्न आत्मा को माया बांध नहीं सकती, उसका स्पर्श नहीं कर सकती, किन्तु ऊपर कहे हुए 'म्' व्यञ्जन अनुस्वार की भांति शक्ति हीन 'माया', शून्यवत् माया अकिञ्चित्करा हो जाती है।

अकार अक्षर यदि 'म्' व्यञ्जन में मिल जाए तो उसका रूप 'म्' इस प्रकार का होता है। 'म्' में मिला हुआ उकार तो स्पष्ट दीख पड़ता है, परन्तु अकार दिखाई नहीं देता है। आंखों का विषय नहीं रहता, केवल मन बुद्धि ही से जाना जाता है, कि "राम" शब्द के 'म' में अकार है, ऐसे ही समझना चाहिये कि परमेश्वरदेव 'म' में के अकार की भांति प्रत्येक परमाणु, एक २ पत्ते और अखिल पदार्थों में रमे हुए हैं, परन्तु इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकते। भक्त लोग अपने ज्ञान, श्रद्धा और विश्वास ही से ईश्वर सत्ता को सर्वत्र विद्यमान जानते और मानते हैं।

परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। हमारे मन और अन्तःकरण में विद्यमान है, हमारी बुद्धि में भी उसका प्रकाश है। जिस मनो मन्दिर में हम 'ओम्' जपते हैं, जिस कण्ठ से 'ओम्' की ध्वनि गूंजती है, जिस जीभ पर 'ओम्' नाम विलास करता है, और जिन कानों में 'ओम्' की पवित्र ध्वनि पड़ती है उन सब अङ्गों में परमात्मदेव परिपूर्ण-रूप से विराजमान हैं। हमारी अस्थि, मज्जा और रोम २ में भरा हुआ है, और तो क्या कहें ओम् शब्द में ओम् ध्वनि में भी परमात्मा परिपूर्ण है।

जप काल में भक्त को यह दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है, कि ईश्वर मेरे समीपतम है, वह मेरी प्रत्येक स्फुरणा को देख रहा है। जब मैं 'ओम्' शब्द का उच्चारण करता हूँ तभी वह परम प्रेम-मय गुरु मुझे आशीर्वाद देता है, और मुझ पर परम प्रसन्न होता है। जप से चिन्तन करे और चिन्तन (ध्यान) के पश्चात् फिर जप करे, जप और ध्यान की सिद्धि से परमात्मा का प्रकाश होता है।

सहजाभ्यास।

श्वास प्रश्वास के साथ अथवा बिना सांस में वृत्ति लगाये 'ओम्' का जाप, चिन्तन और ध्यान 'सहजाभ्यास' है। इस अभ्यास का करना, आबाल, वृद्ध, सबल, निर्बल, सब नर नारियों के लिये सहज है, सुगम है। अन्य अभ्यास के मार्गों में बहुत कठिनाइयां हैं। आठ पहर दिन रात संसार के काम धंधों में फंसे हुए स्त्री पुरुषों, बुढ़ापे के ज़ोर से जर्जरी भूत जनों, दुर्बल, क्षीण, दीन हीन देह युक्त मनुष्यों, रोग के दारुण दुःख से पीड़ित प्राणियों और कुसंगत, कुसंस्कार तथा विषय वासना से सदा चलायमान चित्त वाले गृहस्थियों से कठिनता युक्त योग साधन सिद्ध होने कितने दुष्कर हैं, इसका समझना सबके लिये सुगम है। अतएव संसार समुद्र में जप योग जहाज एक ऐसा जहाज है कि जिसमें बैठकर राजा, रंक, मूर्ख, पीड़ित, लूला, लंगड़ा, गूंगा, बहरा, दुर्बल, दुखिया और बूढ़ा, बच्चा, सभी पार जा सकते हैं। इस साधन के सभी अधिकारी हैं। इस साधन के साधने से अन्य सारे साधन आप से आप सिद्ध होने लग जाते हैं। सारे गुण सम्पूर्ण कल्याण और सब सफलताएँ इसके अभ्यासी में ऐसे प्रवेश करने लग जाती हैं जैसे महासागर में नदियां।

प्रणव के उपासक को चाहिये कि प्रातःकाल नींद से जागते ही हृदय क्षेत्र में विचार मात्र उत्पन्न होने से पहले ओम् का जप करने लग जाय, तत्पश्चात् आवश्यक कार्य्यों से निवृत्त होकर संध्या समय भी प्रणव का पाठ करे। प्रतिदिन नियम पूर्वक दो घड़ी पर्यन्त प्रणव का पाठ करने वाले अभ्यासी को प्रभुप्रेम का परिणाम स्वयं प्रतीत होने लगेगा। प्रणव पाठ का सर्वोत्तम समय आधी रात, वनस्थान, और प्रातःकाल है। पर प्रेम में समय की मर्यादा और नियम नहीं रहता, इसलिये चलते, फिरते उठते जब अवसर हाथ आवे अपने मन के तीर को प्रणव के लक्ष्य में खींच २ कर लगाते रहना चाहिये। चारपाई पर पड़े २ जब नींद न आवे, ओम् का ध्यान करते रहना बड़ा उपयोगी है। एक तो इससे शीघ्र नींद आ जाती है, दूसरे स्वप्न अथवा दुस्स्वप्न कम आते हैं, और तीसरे सर्वोत्कृष्ट लाभ यह है, कि अभ्यासी जब तक सोता रहेगा तब तक प्रणव पवित्र का संस्कार उसके मस्तिष्क में, उसके अन्तःकरण में, उसके अन्तरात्मा (Subjective mind) में स्फुरित रहेगा, जिससे सारी काया भक्तिमयी हो जाती है। सम्पूर्ण खोटे संस्कार मिट जाते हैं। यहां तक कि इस साधन के सिद्ध होने पर बिना प्रयत्न किये प्रणव पाठ निरन्तर होता रहता है, और शरीर योगमय बन जाता है।

परमात्मा के प्रेमी जन जब किसी अद्भुत दृश्य को देखते हैं, जब किसी घटना का अवलोकन करते हैं, तब वे उसी समय ओम् का लम्बायमान उच्चारण करते हैं, इससे मन को एक ऐसा प्रमोद प्राप्त होता है, जो केवल अभ्यासगम्य है। जिस समय चित्त चंचल हो, अशांत हो, प्रमाद से पूर्ण हो और प्रणव पाठ से परांमुख होता जाता हो, तो उस समय भी 'ओम्' का दीर्घ उच्चारण इसे शान्त और स्थिर बना देता है। किसी एकान्त स्थान, नदी के किनारे, शून्य जंगल, अथवा वन में और जहां भी मन में संकोच उत्पन्न न हो, वहां प्रणव पवित्र का लम्बे स्वर से गायन और बार २ गायन मन की सारी मलिनता को मिटा कर उसे शुद्ध स्थिर, प्रशान्त भाव प्रदान करता है। ऊपर कहे प्रणव गायन से भक्त के देह में आनन्द की एक विचित्र लहर उठती है और सुख की एक अद्भुत धारा सी बह जाती है, जिसका वर्णन वर्णनातीत है।

प्रणव का बार २ पाठ।

जो शब्द बार बार कहे जाते हैं, वे स्मरण-शक्ति का अङ्ग बन जाते हैं। जितनी प्रबल लग्न से कोई शब्द बार २ स्मरण किया जाए, उसका उतना ही प्रबल प्रभाव स्मृति पर पड़ेगा। राग विद्या सीखने वाले लोग चलते, फिरते, कार्य्य करते सङ्गीत के सुरों को ही अलापते रहते हैं। लग्न वाले विद्यार्थी अपने पाठों को स्वप्न में भी दोहराते रहते हैं। मनुष्य की चित्तवृत्तियां कुएँ के जल की भांति हैं। कुएँ में रहते पानी का कोई आकार नहीं, वह सम है, और एक ही स्वाद वाला है, पर ज्यों ही रहँट की घडियों द्वारा खेतों की त्रिकोण, चतुष्कोण आदि क्यारियों में पड़ता है, तो तुरन्त तदाकार हो जाता है। मिर्च निम्ब, नींबू, जामन, आम, नारङ्गी और सङ्गतरा आदि पेड़ों की जड़ों में जाकर अपना स्वाद भी बदल डालता है। चित्त की वृत्तियां भी जैसे अर्थों वाले शब्दों में डोलती हैं, वैसे ही उनके आकार बन जाते हैं, और उन शब्दों के अर्थों के भावों और प्रभावों से सर्वथा प्रभावित हो जाती हैं। जिस रस रङ्ग के शब्द कोई गायगा, वही रस रङ्ग उसकी चित्त चादर पर अवश्यमेव चढ़ जायगा, इसलिये समझना चाहिये, कि जो भक्तजन पूर्ण प्रेम और प्रबल भावना से भगवान् के नाम प्रणव का स्मरण करते रहते हैं, कालान्तर में

उनकी वृत्तियां प्रणवाकार हो जाती हैं। उनकी स्मृति में न उतरने वाला प्रणव का रङ्ग और उनके मन में न फीका होने वाला प्रणव का रस बस जाता है।

"नव सुत सिमरै सुरभि ज्यों, त्यों सुमिरो भगवान। पनिहारी ज्यों कलश का, करो ओम् का ध्यान॥"
"सती विरह सन्ता पिता, सुमिरे पति मन लाय। ओम् नाम सिमरो सदा, संशय सकल मिटाय॥"
"भूखा भोजन को भजे, रङ्क भजे ज्यों दाम। सदा प्रेम से सुमरिए, ओम् ईश का नाम॥"
"मीन हीन जल से यथा, जल ही में मन दे। एक भावना से तथा, ओम् नाम भज ले॥"
"आसुर सुमिरे औषधि, ज्यों बंधुआ निस्तार। ओम् नाम त्यों सिमरिये, तीन लोक का सार॥"
"मन मन्दिर में जगमगे, ओम् नाम जब जोत। अघतम का तब नाश हो, बहे सुखों का स्रोत॥"
"रस है तीनों वेद का, ओम् नाम अभिराम। भाव भक्ति से जो भजे, होवे पूरण काम॥"

ओम् उपासना का फल।

सकल अदृश्य अमूर्त्त पदार्थों का ज्ञान शब्द द्वारा होता है, इसलिये ओम् नाम का स्मरण ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र कारण है। यह स्मरण शुभ और पवित्रता प्रदान करता है। इस ओम् जपगङ्गा में स्नान करने से मन के सारे मल उतर जाते हैं। पूर्व जीवन में कितना ही कोई पापी क्यों न रहा हो, पर ओम् के निरन्तर पाठ से पवित्र हो जायगा। ओम् ध्यान से "प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" अन्तरात्मा का ज्ञान, प्राप्ति और रोगादि विघ्नों का विनाश होगा। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में कहा है "अपनी देह (हृदय) को अरणी लकड़ी बना कर ओम् नाम को दूसरी अरणी बनावें। इन दोनों को बार बार रगड़ने (हृदय से ओम् जपने) से परमात्मदेव के दर्शन करे।" इस नाम के अभ्यासी के नेत्र पलाश के पत्ते की भांति विस्तृत और खिले हुए दिखाई देंगे। उनमें प्रेम परिपूर्ण होगा, ओम् भक्त का मुख पद्म प्रफुल्लित सौम्य और तेजोमय रहेगा। ओम् उपासक की वाणी मधु वर्षिणी और आकर्षिणी होगी। और ओम् आश्रित का हृदय प्रसन्नता से भरपूर हो जायगा।

जैसे चुम्बक से मिलकर लोहा भी चुम्बक हो जाता है, ऐसे ही ओम् की उपासना से उपासक परमात्मदेव के दिव्य गुणों को धारण करके परमानन्द को उपलब्ध कर लेता है।

यह तो हुआ 'ओम्' का साधारण जाप, चिन्तन और ध्यान अर्थात् 'सहजाभ्यास' और उसका फल। अब विशेष साधन लिखते हैं।

ओंकार का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिये:—

इन्द्रियों का अविषय जो भावग्राह्य मनोमय निर्गुण देव है, जिस ब्रह्म का ओंकार मुख्य नाम है, क्यों कि ॐकार रूप नाम से आहूत (बुलाया हुआ) वह परमेश्वर प्रसन्न होता है। इसलिये ॐकार ब्रह्म का वाचक (बोधक शब्द) है और ब्रह्म वाच्य है, वाच्य और वाचक का सदा अभेद होता है इस रीति से ॐकार ही ब्रह्म रूप है और जो कुछ नाम रूपात्मक दृश्यमान जड़ चेतन रूप जगत् है सो सब ओंकार स्वरूप है।

जिस प्रकार चित्रित कपड़े की चार अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् धुला हुआ, मांडी लगा हुआ, चिन्ह किया हुआ और रंग भरा हुआ, इसी प्रकार ॐकार ब्रह्मात्मा में भी चार अवस्थाएँ हैं, (१) चेतन, (२) अन्तर्यामी, (३) सूत्रात्मा और (४) तथा विराट्। स्वयं तो वह चेतन है, माया का ध्यान करें तो वह 'अन्तर्यामी' है, सूक्ष्म सृष्टि को देखें तो वह 'सूत्रात्मा' कहाता है, स्थूल सृष्टि पर दृष्टि डालें तो उसे विराट् कहना होगा।

यह ॐकार ब्रह्मात्मा स्वरूप चार पाद वाला है, ऐसा माण्डूक्य उपनिषद् में लिखा है। इसके चारों पाद (मात्रों) का विधिपूर्वक चिन्तन करने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

ब्रह्म आत्मा और ॐकार के चार पाद ये हैं:—

(१) विराट्
(२) हिरण्य गर्भ (अन्तर्यामी)
(३) ईश्वर (सूत्रात्मा) और
(४) ईश्वर साक्षी (चेतन)
} ये चार पाद ब्रह्म के हैं।

(१) विश्व
(२) तेजस
(३) प्राज्ञ और
(४) तुरीय
} ये चार पाद आत्मा के हैं।

(१) अकार
(२) उकार
(३) मकार और
(४) अमात्रा
} ये चार पाद ओंकार के हैं।

इसके चारों पादों का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिये। ब्रह्म के चार पाद में प्रथम विराट् है और आत्मा के चार पाद में विश्व हैं। तैसे ॐकार के चार पाद में प्रथम अकार है। इसलिये प्रथमतः तीनों में समान धर्म होने से, विराट् विश्व और अकार का अभेद चिन्तन करना चाहिये अर्थात् सात अंग और उन्नीस मुख युक्त विश्व का चिन्तन करना चाहिये।

सात अंग ये हैं:—

(१) मस्तक स्थानी स्वर्गलोक।
(२) नेत्र स्थानी सूर्य।
(३) प्राण स्थानी वायु।
(४) मध्यस्थानी आकाश।
(५) मूत्र स्थानी जल।
(६) पाद स्थानी पृथ्वी।
(७) मुख स्थानी अग्नि।

ये सात अङ्ग विराट् रूप के हैं और ५ कर्मेन्द्रिय ५ ज्ञानेन्द्रिय ५ प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के १६ मुख विश्व के समझने चाहिये।

इसी प्रकार ब्रह्म का द्वितीय पाद हिरण्यगर्भ है और आत्मा का द्वितीय पाद तेजस् है, तैसे ओंकार का द्वितीय पाद उकार है, इन तीनों को एक रूप से चिन्तन करना चाहिये।

एवं ईश्वर प्राज्ञ और मकार का अभेद चिन्तन करना चाहिये। तथा तत्पद का लक्ष्य ईश्वर साक्षी त्वंपद का लक्ष्य जीव साक्षी (तुरीय) अमात्र स्वरूप ओंकार का अभेद चिन्तन करना उचित है।

इस प्रकार ॐकार का चिन्तन करने को निर्गुण ब्रह्मोपासना कहते हैं। इसी को अहं ग्रह ध्यान भी कहते हैं।

लय चिन्तवन

विश्वरूप अकार तेजसरूप उकार में से हुआ है, जो जिसमें से हुआ होता है, उसी में उसका लय होता है, विश्वरूप अकार का तैजस रूप उकार ही रहा। इसी प्रकार तैजस रूप उकार प्राज्ञरूप मकार में से हुआ है। तैजस रूप उकार का प्राज्ञरूप मकार में लय किया तो प्राज्ञरूप मकार रहा। प्राज्ञरूप मकार तुरीयरूप अमात्र से हुआ है, प्राज्ञरूप मकार का तुरीय अमात्र में लय किया तो तुरीयरूप अमात्र ही शेष रहा। तुरीयरूप अमात्र परमार्थ स्वरूप है, उसकी सत्ता से सब प्रकाशित होते हैं, वह ही मैं हूँ, इस प्रकार चिन्तवन करे। स्थूल का लय सूक्ष्म में होता है, सूक्ष्म का लय कारण में होता है और कारण का लय तुरीय में होता है। विश्व स्थूल है, तैजस सूक्ष्म है, प्राज्ञ कारण है, तुरीय परमार्थ स्वरूप है, इस प्रकार विश्व का लय तैजस में, तैजस का लय प्राज्ञ में और प्राज्ञ का लय तुरीय में होता है। यह समष्टि व्यष्टि सब का लय है, इस प्रकार ॐकार के अमात्र रूप परमार्थ स्वरूप में सब का लय हुआ, शेष जो रहा, सो मैं हूँ, इस प्रकार शरीर के भान को हटाते हुए एकाग्र चित्त से चिन्तवन करे। इसको लय चिन्तवन कहते हैं।

ध्यान

ध्यान बैठ कर करना चाहिये। सोते सोते न करना चाहिये, सोकर लेट कर ध्यान करने वाला इष्ट का ध्यान नहीं कर सकता। निद्रा दोष--आलस्य, तंद्रा आकर सताते हैं। ध्यान करने के स्थान पर नीचे मुलायम आसन बिछाना चाहिये। आसन मुलायम न होगा तो चित्त बैठक में ही रह जायगा। बन सके तो ध्यान करने वाले को प्रथम कुशा का आसन, उसके ऊपर मृगचर्म का आसन और तीसरा वस्त्र बिछाना चाहिये। वस्त्र मुलायम हो तो और भी अच्छा है। पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख से ध्यान हो तो उत्तम है। जब ध्यान करने बैठे तो पालती मार कर बैठे अथवा पद्मासन आदि कोई आसन मालूम हो तो आसन लगा कर बैठे। आसन कोई भी हो परन्तु शरीर समान रहे, इस प्रकार बैठना चाहिये। कमर सीधी रखनी चाहिये। कमर से आगे अथवा पीछे झुकना न चाहिये। यदि कमर झुक जायगी तो आलस्य आवेगा अथवा सुषुप्ति अवस्था हो जायेगी। ये दोनों ध्यान में बाधक हैं। मेरु दण्ड (रीढ़ की हड्डी) सीधा रखना चाहिये, तन कर बैठना चाहिये। गर्दन भी सीधी रखनी चाहिये। यदि गर्दन आगे की ओर झुक जायगी तो नींद अथवा स्वप्न होगा, ध्यान नहीं होगा। यदि गर्दन पीछे की ओर झुक जायगी

तो जड़ता प्राप्त होगी, ध्यान न होगा। ध्यान करने में नेत्रों पर जोर न देना चाहिये और न ऐसे ही शरीर के किसी अंग पर विशेष जोर देना चाहिये। यदि नेत्रों पर विशेष जोर दिया जायगा तो नेत्र रोग होगा और जाग्रत के शरीर का भाव न हटेगा, ऐसा होने से ठीक ध्यान न होगा। भृकुटी में जोर दिया जायगा तो दर्द होने लगेगा।

निर्गुण प्रणव उपासना

ॐ कार (प्रणव) की निर्गुण ब्रह्मोपासना ऋष्यादिन्यास, करन्यास, हृदयादिन्यास व ध्यान सहित नीचे लिखी जाती है :—

॥ शिवसंकल्प ॥

ॐ यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवेति।

दूरंङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यद पूर्व्वं यक्षमन्तः प्रजानां, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तर मृतम्प्रजासु।

यस्मात्र ऽ ऋतेकिञ्चन कर्मक्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् मृतेन सर्व्वम्।

येन यज्ञस्तायते सप्त होता, तन्मेमनः शिवसंकल्प मस्तु ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः सामयजु ूँषि यस्मिन्प्रतिष्ठा रथनाभाविवाराः ।

यस्मिँश्चित्त ॐ सर्वं मोहं प्रजानां, तन्मेमनः शिवसंकल्प मस्तु ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिवयन्मनुष्यान्ने नीयते ऽ भीशुभिर्वाजिनऽ इव ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥

यजु० ३४ । १, २, ३, ४, ५, ६) ॥

(१)—जो सोते और जागते समय दूर दूर जाता है वह दूर दूर तक जाने वाला ज्योतिरूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो ॥

(२)—जिसके द्वारा बुद्धिमान् और धीर पुरुष नाना प्रकार के सुकर्मों का अनुष्ठान करते हैं वह सब भीतर बैठा हुआ अपूर्व शक्तिवाला मेरा मन उत्तम विचार करने वाला हो ॥

(३)—जो अज्ञान, चेतना और धारणा शक्तिवाला है, जो अन्तर्ज्योति है, जो सब प्राणियों में अविनाशी सत्तारूप से विराजमान है और जिसके बिना किंचिन्मात्र भी कोई काम नहीं हो सकता वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

(४)—जिसने अपनी अमरता से भूत, भविष्य और वर्त्तमान् को ग्रहण कर रक्खा है और जिसकी सहायता से आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि सातों कार्यकर्त्ता इस शरीर के व्यवहार को कर रहे हैं वह मेरा मन कल्याणकारी विचारवाला हो ।

(५)—जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, रथचक्र के आरों की भांति जुड़ रहे हैं और जिसमें सब प्राणियों के चित्त ओत प्रोत हैं, वह मेरा मन शुभ विचार वाला हो ।

(६)—जिस प्रकार अच्छा सारथी रथ के घोड़ों को चलाता है उसी भांति हृदय में बैठा हुआ और अपनी क्रियाबल से मनुष्यों को नियम में चलाने वाला मेरा मन शुभ-संकल्प वाला हो ।

॥ अथ प्रणव उपासना ॥

ॐ श्रीगणेशायनमः । श्री काशी विश्वेश्वरायनमः । श्री गुरुणांपादांबुजन्मने नमः ॥ ॐ ॥

॥ अथ करन्यास ध्यानादि ॥

ॐ अस्य श्रीप्रणव महामन्त्रस्य ब्रह्माऋषिर्देवी गायत्री छन्दः, श्री परमात्मा देवता अं बीजं उं शक्तिः मं कीलकं मम मोक्षार्थेजपो विनियोगः ।

अथ ऋष्यादि न्यासः। ॐ ब्रह्मा ऋषये नमः शिरसि। ॐ देवी गायत्री छन्दसे नमः मुखे। ॐ श्री परमात्मा देवतायै नमः हृदि। ॐ अं बीजायनमः गुह्ये। ॐ उं शक्तै नमः पादयोः। ॐ मं कीलकौयनमः नाभौ। ॐ मम मोक्षार्थे जपे विनियोगः सर्वांगेषु॥ इति ऋष्यादि न्यासः॥

अथ करन्यासः। ॐ अकाराय इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ उकाराय इति तर्जनीभ्यां नमः। ॐ मकाराय इति मध्यमाभ्यां नमः। ॐ अकाराय इति अनामिकाभ्यां नमः। ॐ उकाराय इति कनिष्ठकाभ्यां नमः। ॐ मकाराय इति करतलकरप्रष्ठाभ्यां नमः॥ इति करन्यासः॥

अथ हृदयादिन्यासः॥ ॐ अकाराय इति हृदयाय नमः। ॐ उकाराय इति शिरसे स्वाहा। ॐ मकाराय इति शिखायै वषट्। ॐ अकाराय इति कवचाय हुम्। ॐ उकाराय इति नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ मकाराय इति अस्त्राय फट्॥ इति हृदयादि न्यासः॥

अथ ध्यानं॥ ॐकारं निगमैकवेद्यमनिशं, वेदान्ततत्त्वास्पदं। चोत्पत्तिस्थितिनाश हेतुममलं विश्वस्य विश्वात्मकम्॥ विश्वत्राण परायणं श्रुतिशतैः संप्रोच्यमानं प्रभुं। सत्य ज्ञानमनंत मूर्तिममलं शुद्धात्मकं तं भजे॥ १ ॥ इति ध्यानम्॥

"ॐकारायविद्महे भवताराय धीमहि तन्नो प्रणवः प्रचोदयात्।" इदं प्रणव गायत्री मन्त्रं त्रिवारं जपेत्। पश्चात् घंटानादेन सूक्ष्म ध्वनिना प्रणवस्योच्चारणं यथाशक्तिर्कुर्यान्मनोगतिं प्रणवस्य ध्वनौ नियुज्ज्या दन्यश किंचैदपि चिन्तयेद्यदि चिन्तन रहितं स्थातुं न शक्नुयात्तर्हि प्रणवस्य लक्षं नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं अनन्तं आनन्दं सत्यं चिन्मात्रं अच्छेद्यं अदाह्यं अक्लेद्यं अशोष्यम् अस्थूलं अनणुं अह्रस्वं अदीर्घं अलोहितं अस्नेहं अछायं अतमं अवायुं अनाकाशं असङ्गम् अरसं अगन्धं अचक्षुष्कं अश्रोत्रं अवाचं अमानसं अतेस्कं अप्राणं अमुखं अमात्रं अनन्तरं अवाह्य अभोक्तारं अभोग्यं स्वात्मानं चिन्तयेत्॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मानसं हृदि पंकजे।
प्रणवं व्याहरेत्पश्चात्कुर्पान्नान्यस्य चिन्तनम्॥ १ ॥
सं शान्त कलना जाले कं खं सत्यं चिदात्मकम्।
यच्छिष्यते स एवाहमिति कुपात्दृढां मतीम्॥ २ ॥

इति श्री प्रणवन्यास ध्यान विधि तथा चिन्तन विधि समाप्ता। श्रीशाम्बसदाशिवार्पणमस्तु॥
॥ ॐ तत्सदों तत्सदोंतत्सत्॥

—❀—

॥ ॐकार स्तवनम्॥

ॐकारं विन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कः मदः मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोऽस्तुते॥

ॐकार से उपासक को इस प्रकार प्रार्थना करना चाहिये:—

"हे प्रणव मुझ उपासक की बुद्धि का विकास कीजिये, प्रज्ञाबल प्रदान कीजिये, मैं अमृतरूप मोक्ष के साधन भूत ज्ञान का धारण करने वाला होऊँ, मेरा शरीर रोग रहित हो, मेरी जिव्हा मधुर भाषिणी हो, कानो से मैं वेद का श्रोता होऊँ; कोई कहे कि अचेतन शब्दरूप प्रणव से प्रार्थना करना नहीं बनता तो, ऐसा नहीं है, आप ब्रह्म के कोश हैं किन्तु कोश के समान ब्रह्म की उपलब्धि के स्थान ब्रह्म दृष्टि करके आप हमारे अवलम्बन हैं लौकिक प्रज्ञा से आप ढके हुए हैं, इसलिये सामान्य बुद्धि से आप जानने में नहीं आते संस्कृत बुद्धि वाला ही आपको जान सकता है। जो कुछ मैंने श्रवण किया है उसकी आप रक्षा कीजिये, मैं उसे भूल न जाऊँ,।

विवरण:—"पक्षपात रहित अनुभव प्रकाश" में लिखा है कि प्रणव का जो उच्चारण श्रद्धापूर्वक सदा करता है, मानों चारों वेदों का पाठ नित्य-प्रति उसका होता रहता है। क्योंकि चारों वेद प्रणव रूप हैं और एक अक्षर का छन्द है। इसी से इसके उच्चारण से शुद्धि अशुद्धि नहीं होती

व्यास जी ने कहा है कि यदि १२,००० जप नित्य किया जावे तो एक वर्ष में आत्मसाक्षात्कार है।

महर्षि पातंजलि कहते हैं कि प्रणव के जपने से आत्मरूप की प्राप्ति तथा सारे विघ्नों का नाश होता है।

भगवान् शंकर ब्रह्मा-विष्णु से कहते हैं—उसे उस-उस मंत्र से वह-वह सिद्धि होती है, किन्तु प्रणव मंत्र से सब सिद्धियां प्राप्त होनी हैं। यह सकल मंत्रों का मूल है। और भोग मोक्ष दोनों का देने वाला है।

अधिकार:—जो पुरुष राग द्वेषादि दोष रहित है तथा अन्तर्मुख है उसका इस ॐकार ध्यान में अधिकार है।

निर्गुण ब्रह्मोपासना का फल।

(१) निष्काम निर्गुण उपासना से इस लोक में ही ज्ञान के द्वारा कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ब्रह्मवेत्ता जीवनमुक्त हो जाता है और उस जीवनमुक्त के समस्त सञ्चित कर्मों का विनाश और क्रियमाण-कर्मों का अलेप हो जाता है और प्रारब्ध भोग के नाश से शरीरपात होने पर वह ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है। इस पर श्रुति का ऐसा कथन है:—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति" (छां० उ० ६, १४, २)। जीवन मुक्त को उतनी ही देर लगती है, जितने दिनों में उसके प्रारब्ध का क्षय नहीं होता, तत्पश्चात् वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसी को सद्योमुक्ति कहते हैं।

सगुण ब्रह्मोपासना का फल।

(२) जिस पुरुष की परलोक के भोगों में कामना तो है परन्तु उस कामना को रोक कर गुरुमुख से ॐकार के उपदेशों को सुनकर ॐकार का ध्यान करता है, उस प्रतिबन्ध के वश से ज्ञान तो होवे नहीं किन्तु सकाम करने से देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक के उपासक को सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् उसको हिरण्यगर्भ के समान विभूति प्राप्त होती है, सत्य संकल्प होता है, बहुत क्या कहें जो कुछ संकल्प करे सोई सिद्ध होता है, जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार छोड़ के और सारी विभूति ईश्वर के समान उसको प्राप्त होती हैं, इसी का नाम सायुज्य मोक्ष है।

दूसरे शब्दों में यों समझो कि जो उच्च साधक हैं और सगुण ब्रह्म के उपासक हैं वे उपर्युक्त उत्तरमार्ग से देवयान द्वारा सूर्य मण्डल में प्राप्त होते हैं। वहाँ से क्रमशः ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं। उनको फिर इस मर्त्य-भूमि पर कल्प पर्यन्त आना नहीं पड़ता। वह स्वराज्य को प्राप्त होता है। मन का अधिपति होता है, समस्त देवता उसको भेंट चढ़ाते हैं। संकल्प मात्र से ही पितृ (पितृगण) उसके पास आ पहुँचते हैं और वह सर्वत्र अपनी इच्छा से ही जा सकता है। ब्रह्मलोक में वह इच्छा मात्र से सब कामनाओं को सिद्ध करता हुआ रमण करता है। अपनी इच्छा से काय-व्यूह निर्माण करके वह एक वा एक से अधिक रूपों में विराजमान होता है। इस ब्रह्मलोक में वह उपासक क्रमपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है और-महा प्रलय काल में जब ब्रह्मा के दिन का अवसान होता है, तब ब्रह्मा के साथ साथ वह भी परब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसी को क्रम मुक्ति कहते हैं।

मरण समय पुरुष के इन्द्रिय, अन्तःकरण सारे मूर्छित बेहोश) होते हैं इसलिये स्वयं कहीं जाने में समर्थ नहीं और यम के दूत उपासक के समीप आते नहीं किन्तु देवता लोग उसको ब्रह्म लोक में ले जाते हैं।

साधारण कर्मकाण्डी लोग दक्षिण मार्ग से धूमयान द्वारा गमन करते हैं। कर्मानुसार पाप पुण्यों को भोग कर उन लोकों से फिर पृथ्वी पर आते हैं।

(३) यदि ॐकार के ध्याता पुरुष की इस लोक के भोगों में कामना रही होवे तो इस लोक में जो शुद्ध कुल वाले धनाढ्य हैं उनके गृह में वह योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है। उस जन्म में अनेक भोगों को भोग कर वैराग्य को प्राप्त हुआ ॐकार के ध्यान में व श्रवणादिकों में प्रवृत्त होकर ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

(४) यदि ॐकार के ध्याता पुरुष की जभी इस लोक के वा परलोक के भोगों में कामना तो है नहीं। कोई प्रारब्ध कर्मरूप भावी प्रतिबन्ध है तो उस ध्याता पुरुष का द्वितीय जन्म योगी तथा ज्ञानी पुरुषों के कुल में होता है। उस द्वितीय जन्म में अभ्यास वैराग्यादि साधनों को सम्पादन करता हुआ ज्ञान प्राप्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसी योग भ्रष्ट की व्यवस्था भगवद्गीता के अनुसार लिखी है।

ब्रह्मलोक के मार्ग का क्रम इस प्रकार है:—

छांदोग्य तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में ब्रह्मलोक के मार्ग का क्रम इस प्रकार बतलाया है कि (१) उपासक के मृत्यु समय अग्नि अभिमानी देवता उसको स्थूल शरीर से निकाल कर अपने लोक में ले जाता है, (२) अग्नि लोक से दिन का अभिमानी देवता ले जाता है, (३) दिन से शुक्ल पक्ष का, (४) उससे आगे सम्वत्सर का (५) सम्वत्सर से देवलोक का, (६) देवलोक से वायु का, (७) वायु से सूर्य (८) सूर्य से चन्द्र देवता, (९) चन्द्र देवता से विद्युत् का, (१०) बिजली के लोक से उस उपासक के सामने हिरण्यगर्भ की आज्ञा से दिव्य पुरुष लेने को आता है वह पुरुष बिजली लोक से, (११) वरुण लोक, (१२) वरुण लोक से इन्द्रलोक, (१३) इन्द्रलोक से प्रजापति लोक, (१४) और प्रजापति से ब्रह्मलोक ले जाता है। इस प्रकार देवलोकों की यात्रा (हवाखोरी) करता हुआ उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। फिर ब्रह्मलोक के अधिपति हिरण्यगर्भ के साथ वहां का आनन्द भोगता है। सूक्ष्म समष्टि का अभिमानी चेतन हिरण्यगर्भ कहलाता है। उसको कार्य ब्रह्म भी कहते हैं। कार्य ब्रह्म के निवास स्थान को ब्रह्मलोक कहते हैं।

इति निर्गुण ब्रह्मोपासना।

(२) योग सम्बंधी चतुष्टय उपासना।

योग कहते हैं मिलने को। योग एक प्रकार की शक्ति है, जिस शक्ति के प्रभाव से जीवात्मा परमात्मा के साथ युक्त होता है। जीवात्मा परमात्मा की युक्तावस्था का नाम अध्यात्म योग है। अध्यात्म योग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

"मंत्रो हठो लयो राज-योगन्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धायं "महायोगो"ऽभिधीयते" ॥ (श्रुतिः)

योग सम्बन्धी उपासना अवांतर भेद से एक ही महा योग चार प्रकार का कहा गया है, यथा— १. मंत्र योग, २. हठयोग, ३. लय योग और ४. राजयोग।

(१) मंत्र योग।

'मंत्रजपान्मनोलयो मन्त्रयोग'—मन्त्र जाप से जो मन का लय करना है उसको मन्त्रयोग कहते हैं, अर्थात् चित्तवृत्ति को निरोध करके आत्मसाक्षात्कार तथा श्री भगवान् की निकटता लाभ करने के लिये अपनी अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्ति की गति के अनुसार नाममय शब्द और भावमय रूप के आश्रय से योग साधन किया जाय उसको मंत्र योग कहते हैं।

ओंकार वा प्रणव परमात्मा का वाचक है। 'तस्य वाचकः प्रणवः' योग दर्शन में सूत्र भी है। महा-प्रलय के अनन्तर जब परमात्मा 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' मैं एक से बहुत हो जाऊँ और सृष्टि करूँ इस इच्छा शक्ति को प्रकट करते हैं, तभी त्रिगुणमयी प्रकृति के तीन गुणों में क्रिया शक्ति उत्पन्न हो जाती है और तीन गुणों में कम्पन होने लगता है। जहां कम्पन होता है वहां शब्द अवश्य होता है इस तरह से गुणमयी समस्त ब्रह्मांड प्रकृति के कांप उठने से प्रथम शब्द 'ॐ' नाद प्रकट होता है। परमात्मा की इच्छा-शक्ति के साथ ही साथ इस तरह ओंकार का विकास होने के कारण ओंकार परमात्मा का वाचक कहलाता है, तदनन्तर प्रकृति के अनेक कम्पनों के साथ अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं, जो उन २ प्रकृतियों के अधिष्ठाता देवताओं के मंत्र कहलाते हैं। यही मंत्रोत्पत्ति तथा मन्त्रविज्ञान का रहस्य है।

मंत्रयोग का सिद्धान्त यह है कि यह संसार नामरूपात्मक है। नाम रूप से ही जीव अविद्या में फँस कर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमि पर गिरता है उसके आश्रय से उठ सकता है। अतः नाम और रूप के ही अवलम्बन से ही मुक्त भी हो सकता है। मंत्रयोग के ध्यान को स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पंच सगुणोपासना और अवतारोपासना के अनुसार कई प्रकार का होता है। मंत्रयोग की समाधि को महा भाव समाधि कहते हैं।

मंत्रयोग के द्वारा साधक को १० प्रकार के नाद का अनुभव होता है। उनके श्रवण से योगी को शब्द-ब्रह्म का ज्ञान होता है। और पश्चात् शरीर के भीतर की सर्व रचना प्रत्यक्ष होती है तब यह योगी भूत,

त्रिसर्ग परम शिव रूप

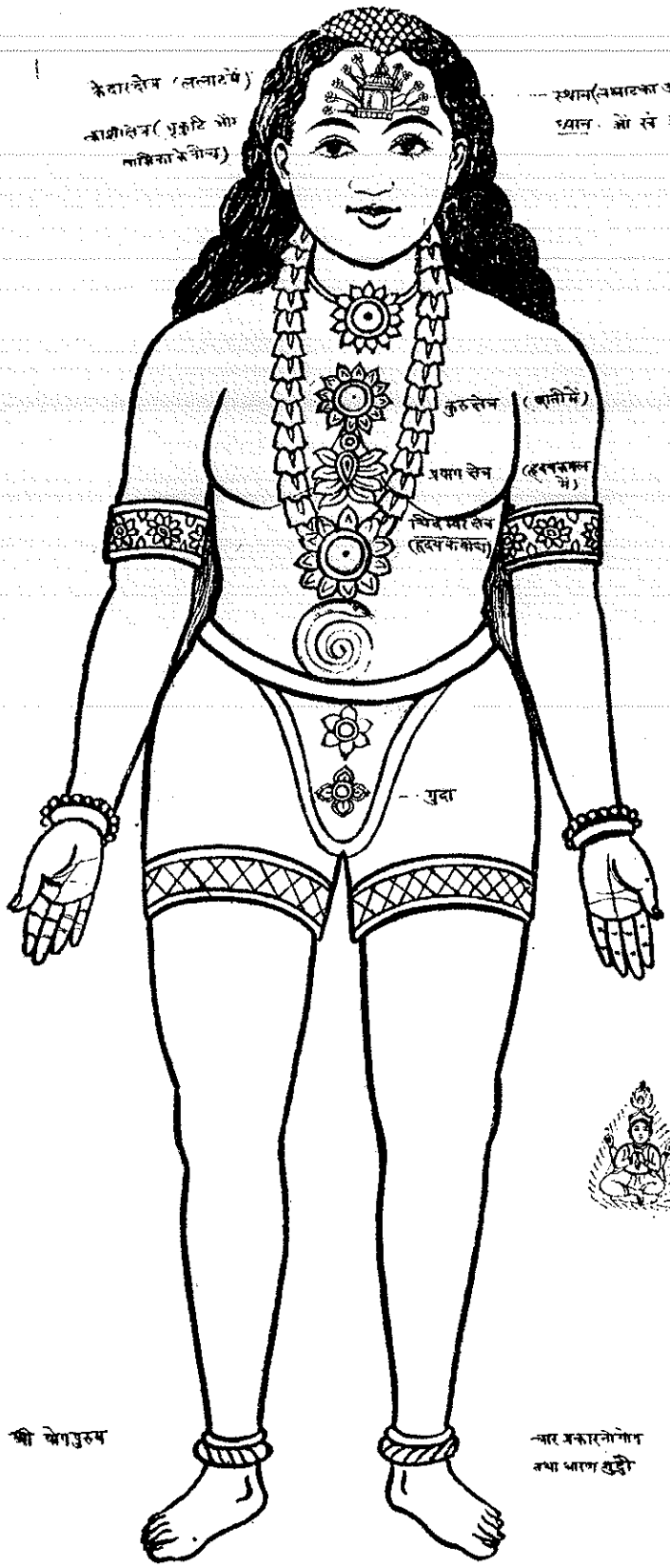

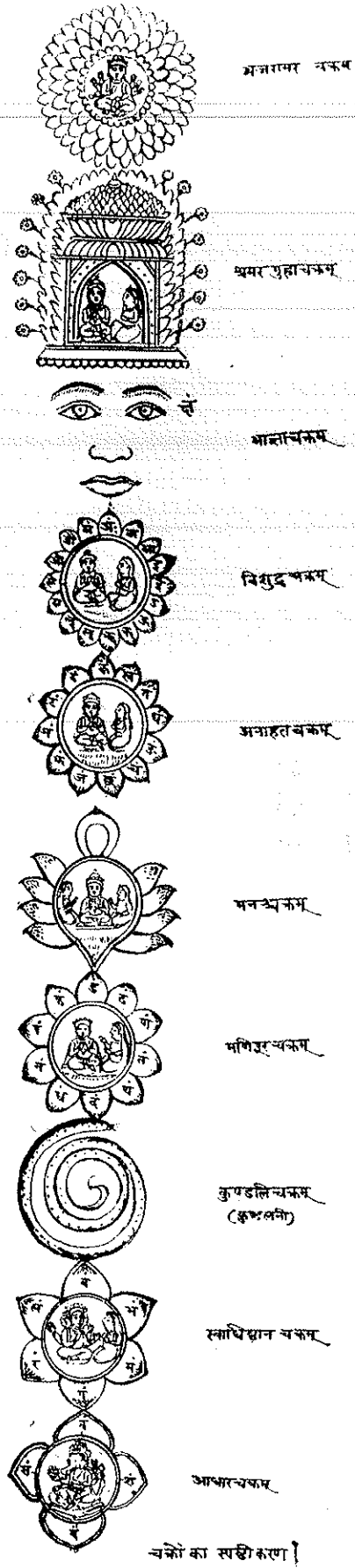

चक्रों का स्पष्टीकरण।

भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञाता होता है। दश नादों की ध्वनिः— चिणी, चिथिणी, घण्टा, शंख, वीणा, ताल, बंसी, मृदंग, भेरी और मेघ।

मंत्रयोग सोलह अंगों से पूर्ण है। यथा.—

(१) भक्ति,(२) शुद्धि, (३) आसन,(४) पञ्चाङ्ग सेवन, (५) आधार, (६) धारणा, (७) दिव्य-सेवन देश, (८) प्राणक्रिया, (९) मुद्रा, (१०) तर्पण, (११) हवन, (१२) बलि, (१३) याग, (१४) जप, (१५) ध्यान और (१६) समाधि।

(१) **भक्ति**—भक्ति के तीन भेद हैं, यथाः— वैधी, रागात्मिका, और परा। इन तीनों का रहस्य पहिले ही बताया गया है। त्रिगुण भेद से उपासक तीन प्रकार के होते हैं, यथाः— आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और चौथे ज्ञानी जो त्रिगुणातीत हैं। इनके विषय में पहिले भी सब कुछ लिखा गया है। ज्ञानी भक्त ही परा भक्ति का अधिकारी हो सकता है। ब्रह्मोपासक सबमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मबुद्धि से सगुणोपासक और ब्रह्मबुद्धि से अवतारोपासक इसी श्रेणी में हैं। सकाम बुद्धि से ऋषि, देवता, तथा पितरों की उपासना करने वाले द्वितीय श्रेणी के हैं। और क्षुद्र शक्तियों की उपासना करने वाले तृतीय श्रेणी के हैं, उप देवता, प्रेतादि की उपासना इसी श्रेणी में समझी जाती है।

(२) **शुद्धि**—इसके शरीर, मन, दिक् तथा स्थान भेद से चार भेद हैं, वे ही (१) स्थान शुद्धि, दिक् शुद्धि, वाक् शुद्धि और आभ्यान्तर शुद्धि कहे जाते हैं।

दिक् शुद्धि— पूर्वमुख अथवा उत्तर मुख बैठकर नित्य यथाविधि जप करें और रात्रि को उत्तरमुख बैठ कर देवकार्य करें। दिक् शुद्धि द्वारा साधक को साधन में सिद्धि प्राप्त होती है और साधक का मन वशीभूत होता है। अतः दिक् शुद्धि का विचार रखना चाहिए।

कायशुद्धि— साधन क्रिया के अर्थ मनुष्य को स्नान कार्य सबसे प्रथम करना चाहिये। बाह्यशुद्धि द्वारा आत्म प्रसाद तथा इष्ट देव की कृपा होती है।

स्थान शुद्धि— पञ्च शाखायुक्त स्थान अर्थात् पीपल, बड़, बेल, आमलकी, तथा अशोक यह पंच वृक्षयुक्त, पंचवटी के नीचे का स्थान सिद्धियों का देने वाला है, गोशाला, गुरुग्रह, देव मन्दिर, वन स्थान, तीर्थादि, पुण्य-क्षेत्र और नदी तीर ये स्थान सदा ही पवित्र समझे जाते हैं। स्थान शुद्धि के द्वारा पवित्रता तथा पुण्य वृद्धि होती है।

अन्तःशुद्धि— गीतोक्त आसुरी सम्पत्ति को छोड़ कर और दैवी सम्पत्ति अर्थात् अभय, सत्वसंशुद्धि, ज्ञान-योग, निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध त्याग, शान्ति, आदि उनके आश्रय द्वारा अन्तःशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध होता है जिसके द्वारा इष्ट देव का दर्शन और समाधि प्राप्त होती है।

(३) **आसन शुद्धि**—अधिक काल तक स्थिर बैठा जाय उसे आसन कहते हैं। आसन भेद, आसन शुद्धि और आसन क्रिया इन दो के द्वारा आसन सिद्धि होती है। सकाम-निष्काम विचार, उपासना

पद्धति, और कामना के तारतम्य से आसन भेद निर्णीत हुए हैं। सूती वस्त्र, कम्बल, कुशासन, सिंह-चर्म और मृगचर्म के आसन अति ही शुद्ध कहाते हैं। ये सब ही सिद्धि फल के देने वाले हैं। काम्यकर्म के अर्थ कम्बलासन श्रेष्ठ है परन्तु रक्तकम्बल निर्मित आसन ही सबसे उत्तम समझा जाता है। काले मृग के चर्म के आसन से ज्ञान की सिद्धि, कुशासन से आयु की प्राप्ति और रेशम के आसन से व्याधि का नाश हुआ करता है।

गीतोक्त आसन निर्माण करने से योग साधन में सिद्धि प्राप्त होती है। योगाभ्यासी शुद्ध स्थान पर अपना स्थिर आसन लगावे, जो न बहुत ऊंचा हो न बहुत नीचा हो, नीचे कुशा ऊपर मृगछाला और उस पर नर्म वस्त्र हो। वहां आसन पर बैठ कर काया शिर और गले को समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगा कर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित, भय रहित तथा भली भाँति शान्त अन्तःकरण वाला सावधान योगी मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोक कर आत्मा की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।

पृथ्वी को आसन बनाने से दुःख की प्राप्ति, काष्ठासन से दुर्भाग्य का उदय, वंश निर्मित आसन से जप, ध्यान और तप की हानि हुआ करती है, इस कारण ये सब आसन निषिद्ध हैं। सिंह-चर्म, व्या-घ्रचर्म, और कृष्णासार चर्म पर गुरु दीक्षा विहीन गृही को कदापि बैठना उचित नहीं है। ऐसे आसनों पर गृहस्थ-गण केवल गुरु आज्ञा पाने से ही बैठ सकते हैं। इन सब विषयों का प्रमाण योग-शास्त्र में देखना चाहिये। मंत्रयोग में प्रधानतः स्वस्तिक तथा पद्मासन ये दो आसन उपयोगी हैं।

(४) **पञ्चाङ्ग सेवनः**—गीता, सहस्त्रनाम, स्तव, कवच और हृदय पञ्चाङ्ग कहे जाते हैं। इनका पाठ करने से योगी सिद्धि को प्राप्त करता है।

[५] **आचारः**— आचारों के विषय में विस्तृत वर्णन तंत्र ग्रन्थों में देखना चाहिये। आचार्यों ने साधकों के अर्थ त्रिविध आचारों का वर्णन किया है यथाः—दिव्य, दक्षिण और वाम। साधक के अधिकार सात कहे गये हैं। यथा—दीक्षा, महा-दीक्षा, पुरश्चरण, महापुरश्चरण, अभिषेक, महा अभिषेक और तद्भाव।

[६] **धारणाः**— मंत्रयोग में धारणा परम सहायक है। धारणा दो प्रकार की होती है। यथाः—बाह्य और अन्तर्मुख। बाह्य पदार्थों में मन के योग से बहिर्धारणा का साधन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर्जगत् के विषयों में मन के योग से अन्त-र्धारणा का साधन होता है। धारणा की सिद्धि श्रद्धा और योग मूलक है।

[७] **दिव्य देश सेवनः**—पहिले कह आये हैं कि जिस प्रकार गौ के सर्व शरीर में दुग्ध व्याप्त रहने पर भी केवल स्तन द्वारा ही क्षरित होता है, उसी प्रकार परमात्मा की शक्ति सर्व-व्यापक होने पर भी उसका विकास दिव्य देशों के द्वारा ही होता है।

योग शास्त्र में १६ प्रकार के दिव्य देश (आधार) कहे गये हैं:—यथा १. दाहिने पैर का अँगूठा, २. गुल्फ; ३. गुदा, ४. लिङ्ग, ५. नाभि, २. हृदय, ७. कण्ठ कूप, ८. तालु मूल, ९. जिह्वा मूल, १०.

दन्त मूल, ११. नासिकाग्र, १२. भ्रूमध्य, १३. नेत्र मण्डल, १४. ललाट, १५. मस्तक और १६. सहस्रार। ये ही १६ दिव्य देश हैं। योग सिद्धि प्राप्त करने में ये सभी हितकर हैं।

परमात्मा में चित्त का लीन होना ही सार का सार और सर्व सिद्धान्तों का परम सिद्धान्त है और साक्षात् सदा शिवजी इसी की वांच्छा कर रहे हैं। अतः जिनको वस्तुतः साक्षात् भगवत् दर्शन प्राप्त करना हो, जिनको वस्तुतः योगी बनना हो उनको चाहिये कि जहाँ तक हो सत्त्वगुण का संयम करते रह कर दृढ़ता पूर्वक आसन और प्राणायाम पूर्वक कोई भी एक दिव्य देश में चित्त को स्थिर करके अपने इष्टदेव का ध्यान पूर्वक मंत्र जाप आरम्भ करदे। आरम्भ में ध्यान होना सहज बात नहीं है परन्तु उससे कोई घबराने की बात नहीं है। जिस दिव्य देश में जहाँ धारणा की जाती है और जहाँ ब्रह्म का आविर्भाव होता है वह स्थान साक्षात् निर्गुण ही बन जाता है, इसमें सन्देह नहीं है, अतः मन्त्र जाप पुरस्सर दिव्य देश में धारणा द्वारा ध्यान करना ही अपना परम पुरुषार्थ है। कोई भी दिव्य देश में धारणा द्वारा ध्यान के अभ्यास में यदि आरम्भ में ध्यान न बन सकता हो, तब ही अवश्य करके ही जान लेना कि इस रीति से अवश्य ही धीरे धीरे ध्यान जमने लगेगा और अभ्यास की पक्व दशा में समाधि भी अवश्य होने लगेगी और विशेष पक्व दशा प्राप्त होने पर ब्रह्म साक्षात्कार भी उसी से अवश्य फलित होगा।

पहले पहल आरम्भ में यदि विशेष न बन सके तो केवल एक ही घड़ी अर्थात् २४ ही मिनट तक दश प्राणायाम करके आसनस्थ होके, दिव्य देश में धारणा करके मन्त्र जाप आरम्भ करें, इतने स्वल्प अभ्यास से भी योगानुकूल बनने में चित्त का सामर्थ्य बढ़ता है और उस प्रभुत्व का प्रभाव न्यूनाधिक और सूक्ष्म रूप से बहुत समय तक रहा करता है। कुछ दिन इस प्रकार अभ्यास करने के बाद दो घड़ी तक अभ्यास बढावें, फिर कुछ दिन बाद तीन घड़ी अर्थात् ढाई घड़ी (एक घंटा) और आधी घड़ी (बारह मिनिट) तक उसी प्रकार मन्त्र जाप और अभ्यास करें। उसके पश्चात् एक दिन में दो बार प्रति दिन अभ्यास करें और इसी प्रकार धीरे धीरे अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते एक प्रहर (तीन घंटा) और डेढ़ घड़ी (छत्तीस मिनिट) का अखण्डित रूप से प्रति दिन मन्त्र जाप का अभ्यास होने पर साक्षात् परब्रह्म का अवश्य ही प्रकाश होता है और अपने इष्टदेव का साक्षात् अनुभव हो जाता है। यह सर्व शास्त्र सम्मत महान् योगी पुरुषों का और सिद्ध महात्माओं का परम सिद्धान्त है।

(८) **प्राण-क्रियाः**—मन, प्राण और वायु ये तीन एक सम्बन्ध से युक्त हैं। इनका विस्तारिक वर्णन हठयोग प्रदीपिका आदि योग ग्रन्थों में किया गया है, जो यथाधिकार गुरुदेव से सीखने योग्य है। साधारण उपासना में करन्यास और अंगन्यास ही उपयोगी हैं और विस्तारित उपासना में ऋष्यादिन्यास तथा मातृकान्यास अवश्य करणीय हैं।

(९) **मुद्रा**— मुद्राओं के द्वारा देवताओं का आनन्द वर्द्धन होता है और साधक के पापों का भी नाश होता है। पूजन, जप, ध्यान, आवाहन आदि कार्यों में मुद्राओं का प्रदर्शन करना उचित है। ज्ञानमुद्रा, भक्ति मुद्रा, तपोमुद्रा, कर्ममुद्रा, दान मुद्रा, इन सब मुद्राओं से ऋषीगण प्रसन्न होते हैं। वरमुद्रा और अभय मुद्रा

आदि से ऋषी, देवता और पितर तथा तीनों लोकों के निवासी प्रसन्न होते हैं।

[१०] तर्पण❀:— देवतागण तर्पण द्वारा शीघ्र तृप्त होते हैं। तर्पण मंत्रयोग का एक मुख्य अङ्ग है। विधि पूर्वक तर्पण करने से देवयज्ञ, भूतयज्ञ और पितृयज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने इष्टदेव को शीघ्र प्रसन्न करने की इच्छा यदि कोई रक्खे तो विधिपूर्वक प्रति दिन तर्पण करे। मधु से तर्पण करने से सकल अभीष्ठ पूर्ण होते हैं। मन्त्र की सिद्धि होती है और सम्पूर्ण पातक नष्ट होजाते हैं। घृत से तर्पण करने से पूर्ण आयु होती है। आरोग्य प्राप्ति के लिए दुग्ध से तर्पण करने से सब अभीष्ठों की सिद्धि होती है।

[११] हवन:— नित्य होम के द्वारा इष्टदेव प्रसन्न होते हैं, सब देवियों की तृप्ति तथा अभीष्ट सिद्धि होती है।

[१२] बलि— इष्ट उपासना में बिना विघ्नों की शान्ति के सफलता नहीं होती। विघ्नों की शांति के लिए बलिदान किया जाता है। बलि के साधन में आत्म--बलि सबसे श्रेष्ठ है। आत्मबलि द्वारा अहंकार का नाश होकर साधक कृतकृत्य होता है। बलि के साधन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि रिपुओं की बलि दूसरा स्थान है। यह सब अन्तर्याग से सम्बन्ध रखनेवाले विषय हैं। पूजा के अनन्तर बचा हुआ द्रव्य द्वारा जो बलि दी जाय तो इष्टदेव की प्रसन्नता के हेतु उत्तम फलों की बलि दी जाती है। पहले विधिपूर्वक अपने इष्टदेव को बलि समर्पण करके अन्य देवताओं को बलि देवे और भक्तियुक्त साधक तदनन्तर पितरों के तृप्यार्थ बलिदान करे। पुनः भूतों की तृप्ति के लिए कुत्ता तथा चाण्डाल को अन्न दे और पक्षियों की तृप्ति के लिए भूमि पर अन्न रक्खे। यह वैश्वदेव विधि प्रातः और संध्या के समय करना उचित है।

[१३] याग:— इसके दो भेद हैं। यथा—अन्तर्याग और बहिर्याग। अन्तर्याग की महिमा सबसे बड़ी है। मानस याग, मानस जप तथा मानस कर्म के लिए काल शुद्धि देश शुद्धि और शरीर की शुद्धि कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। वह सब समय में समान रूप से हो सकता है। सोलह दिव्य देशों में से किसी देश के आश्रय से याग का साधन करना चाहिये। याग की सिद्धि के अनन्तर जप की सिद्धि के साथ ही ध्यान की सिद्धि होती है। और ध्यान की सिद्धि से समाधि की सिद्धि होती है।

❀ तर्पण—संस्कृत "तर" (तारना, उतरना) "ण" (ऋण) पितरों के ऋण उतारने के लिये दान दिता जाता है, वह तर्पण है।

[१४] जपः— मंत्र के बार बार आवर्त्तन करने को जप कहते हैं अर्थात् जप है एक नाम को निरन्तर दोहराना। यह तीन प्रकार का है अर्थात् (१) मानस (२) उपांशु और (३) वाचिक।

१. मानसिक—जिस मंत्र को जप करने वाला भी न सुन सके वह मानस जप है अर्थात् मानस जप उसको कहते हैं जिसमें जिव्हा को न हिलाते हुए केवल मन की भावना से जिव्हा पर जप की भावना करना। इस जप का फल उपांशु से हजार गुणा अधिक होता है अर्थात् इस जप से उपांशु की अपेक्षा मन हजार गुणा अधिक स्थिर होने लगता है और उपांशु से वाचिक जप की अपेक्षा दश गुणा फल अधिक हुआ करता है।

२. उपांशु जप—उपांशु जप उसे कहते हैं जो जप करने वाले को सुनाई दे अर्थात् जिसमें जिव्हा एवं ओष्ठ तो हिला करते हैं परन्तु शब्द मुख के अंदर ही रहा करता है। इस जप का शब्द अन्य पास बैठे व्यक्ति को भी सुनाई नहीं देता है। केवल अपने ही कर्ण गुहा इसका आनन्द लिया करते हैं।

३. वाचिक जपः—उसको कहते हैं जो मंत्र वचन से उच्चारण किया जाय और दूसरों को भी सुनाई दे। इस जप के समय मन अपनी यात्रा सहज में कर सकता है। अतः इसको साधारण जप कहते हैं। जो फल साधारण जप की दश मालाओं के होता है। वही फल उपांशु की एक माला से हो जाता है और मानस जप के एक ही मंत्र से वह फल मिल जाता है।

४. एक चौथा जप—नाम कीर्त्तन भी होता है। यह जप मण्डली बनाकर बाजे गाजे से एक ध्वनित होकर किया जाता है। नाम कीर्त्तन करने से मनुष्य की तदाकार वृत्ति होजाती है। परन्तु यह हृदय के भावपूर्ण उद्गार गद्-गद् वाणी से नेत्रों में देश, समाज, राष्ट्र की परिस्थिति पर निर्भीकतापूर्वक अविरल जलधारा बहाते हुए होना चाहिये जैसे प्रहलाद ने किया था। वह जप हृदय कंठ, वाणी और नेत्रों को एक प्रवाह में बहा देने से ही पूर्ण हुआ करता है। इन्हीं चार स्थानों की एकत्र पुकार से भगवान् अवतीर्ण हुआ करते हैं।

नाम जप की विधि

नाम जप किसी प्रकार की भी छोटी बड़ी कामना के लिए न करके केवल भगवत् के विशुद्ध प्रेम के लिए ही करना चाहिये। जिस नाम का जप किया जाय, स्वरूप का चिन्तन भी उसी के अनुसार ही होना चाहिये। जिस नाम और जिस रूप में श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की अधिकता हो तथा जो अपनी आत्मा के अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम रूप के जप ध्याने से अधिक लाभ हो सकता है।

उदाहरणार्थः—

"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"—इस मन्त्र का जप करने वाले को सर्वव्यापी वासुदेव का ध्यान करना चाहिये।

"ॐ नमो नारायणाय"—इस मन्त्र का जप करने वाले को चतुर्भुज श्री विष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिये।

"ॐ नमः शिवाय"—इस मन्त्र का जप करने वाले को त्रिनेत्र भगवान् शंकर का ध्यान करना उचित है। केवल 'ॐकार' का जप करने वाले को सर्व व्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्म का चिन्तन करना उचित है।

"श्री राम"—नाम का जप करने वाले को श्री दशरथ नन्दन भगवान् रामचन्द्रजी के स्वरूप का चिन्तन करना लाभप्रद है।

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे"—इस मन्त्र का जप करने वाले के लिये श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपों का अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार ध्यान किया जा सकता है, क्योंकि यह सब नाम सभी रूपों के वाचक हो सकते हैं।

"कलिसंतरेणापमिषत्" में लिखा है कि ये सोलह नाम कलियुग में पाप को नाश करने वाले हैं। जो इन सोलह को साढ़े तीन करोड़ बार जपता है, वह ब्रह्म हत्या से छूट जाता है, वीर हत्या से छूट जाता है, सुवर्ण की चोरी करने के पाप से पवित्र होता है, पितृदेव और मनुष्यों के अपकार से पवित्र होता है। सब धर्मों के परित्याग के पाप से शीघ्र पवित्र होजाता है, शीघ्र मुक्त होता है।

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नाम जप और स्वरूप चिन्तन से स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञान से साधक को सत्वर ही परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

प्रणव—गायत्री या श्रीसद्गुरु का जो मंत्र दिया तो उसी का निरन्तर जप करते रहना चाहिये।

साधारणतया—जप से पापों का नाश होता हैं, इन्द्रियां दुर्बल हो जाती हैं, चित्त शुद्ध होजाता है और एकाग्रता की प्राप्ति होती है। मुक्ति की प्राप्ति में सत्संग बहुत ही सहायक होता है।

'राम' का अर्थ है सर्वत्र रमने वाला सच्चिदानन्दघन परमात्मा जो कण कण में व्याप्त है या योगीगण जिसमें रमते हैं।

'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ है सत्, आकर्षण करना, खींचना और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द'। जिस आनन्द का कभी अभाव नहीं होता, जो आनन्द नित्य है, अविनाशी है—वही 'कृष्ण' है। भगवान् नित्यानन्दस्वरूप हैं, इसलिये वे सबको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसीसे उनका नाम 'कृष्ण' है।

'हरि' का अर्थ है जो सब पापों को हर लेता है, जिसके उच्चारण से ही सब पाप भस्म हो जाते हैं वही 'हरि' हैं। 'हरि' नाम लेते ही सब पाप मिट जाते हैं।

जप करते समय इन अर्थों पर विशेष ध्यान देना चाहिये । विश्वास रखना चाहिये कि सर्वव्यापी परमात्मा ही इस रूप में हमारे सामने आये हैं । इससे अद्भुत शान्ति मिलती है । जप करते समय निरन्तर अपने इष्ट मूर्ति का ध्यान रखना चाहिये । उस समय चित्त ध्यान में ही डूबा रहे ।

प्रेम और आदर के साथ नाम-जप में निम्न लिखित तीन बातें आवश्यक हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है ।

(१)—गुप्त होना चाहिये ।

(२)—अर्थ सहित होना चाहिये ।

(३)—निष्काम भाव से होना चाहिये ।

परन्तु याद रहे कि तन-मन वचन से नाम जप करना चाहिये । तन-मन-वचन से एक बार भगवान् नाम स्मरण करने से इतने पापों का नाश हो जाता है कि जितने पाप मनुष्य कर ही नहीं सकता । अतएव तन-मन-वचन से सदा-सर्वदा भगवान् का नाम लेने पर मनुष्य परम पवित्र होकर पवित्रतम भगवान् के दर्शन प्राप्त करे तो इसमें सन्देह ही क्या है ।

तन-मन-वचन से नाम-जप करने का तापर्य यह है कि मुंह से भगवान् का नाम लिया जाता है और मन में विषयों का चिन्तन चल रहा है यह तो संसार का भजन है राम का नहीं । ऐसे नाम जप से पूर्ण फल नहीं मिलता । मन से सम्भवतः नाम जप होता है और हाथ विषय कार्य में लगे हैं परन्तु, उस कार्य में भगवद्भाव नहीं हैं तो ऐसे नाम जप से पूर्ण फल नहीं होता; इसी प्रकार दिन भर में विषयों का चिन्तन चलता है और (५-१० पल) भगवान् का नाम ले लिया जाता है, इससे भी पूरा फल नहीं मिलेगा । अतएव मुख से नाम जप के साथ-ही-साथ मन में नाम के जप के अर्थ का चिन्तन होना चाहिये और यदि विषय-कार्य करने हों तो वे भी भगवद्भाव से करने चाहिये; इस प्रकार दिन भर भगवद्भाव से भावित रहना चाहिये ठीक-ठीक नाम जप यही है । इसी के साथ 'नमो नमः' करना चाहिये । सदा भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिये और समय मिलते ही जितना अधिक हो सके एक मन से भगवान् का नाम जप करना चाहिये । ऐसा नाम जप ही तन-मन-वचन से किया कहलाता है । यह एक परम तप है, यही प्राणायाम है । यही ध्यान और यही योग है ।

नाम जप का फल व बाधाएँ ।

श्रीमान् स्वयंभू मनु भगवान् कहते हैं कि:—

"द्रव्यायज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुस्याच्छत गुणाः सहस्रं मानसः स्मृतः ॥"

अर्थात् घृतादिक द्रव्यों के होमात्मक यज्ञ की अपेक्षा गायत्रादि जप का दश गुण अधिक फल होता है और उपांशु जप का सौ गुणा और मानस का हजार गुणा अधिक फल होता है । इस विषय में हम पहले भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं ।

पूज्य गुरु श्रीस्वामी रामकृष्ण परमहंसजी ने अपने अनुभव की यह निम्न बातें कही हैं:—

"ईश्वर को व्याकुल होकर खोजने पर उनके दर्शन होते हैं और वैसे ही बातचीत होती हैं, जैसे मैं तुमसे बातचीत कर रहा हूँ। सत्य कहता हूँ उनके दर्शन होते हैं। यह बात मैं कहता भी किससे हूँ और विश्वास भी कौन कर सकता है ?

एक जगह पर फिर कहा है :—

'जप से ईश्वर मिलते हैं। एकान्त में उनका नाम जपते रहने से उनकी कृपा होती है। इसके पश्चात् हैं दर्शन। जैसे पानी में कांठ डुबाया हुआ है और वह लोहे की बेल से बांधा हुआ है, उस बेल को पकड़ कर जाओ तो वह लकड़ी छू सकोगे। पूजा की अपेक्षा जप बड़ा है, जप की अपेक्षा ध्यान और ध्यान से बढ़कर है भाव और भाव से बढ़कर है प्रेम। प्रेम चैतन्य को प्राप्त हुआ था। और यदि हुआ तो ईश्वर को बांधने की रस्सी मिल गई।'

प्रेम-भक्ति-सहित अनन्य स्मरण से प्रभु को विवश होकर भक्त दासों पर दया करनी ही पड़ती है। जीव माया में स्वाभाविक लिप्त रहने के कारण यदि स्मरण-कार्य करते हुए कुछ विघ्न-बाधायें आवें भी तो शीघ्र ही प्रभु श्रीरामजी, उन विघ्नों को दूर कर देते हैं। अतः चाहें जितनी विघ्न बाधाएँ आवें भी, उनकी गहरी तह में प्रभु की हम पर कोई दया और परिणाम में कोई लाभ की—संभावना ही समझो कि जिस गहरी तह में स्थित उस दया और लाभ को हमारी संकुचित बुद्धि नहीं समझ सकती। दूसरे, सुनार सोने को उसकी मौलिक परीक्षा के लिये ही तपाता है—ऐसा समझकर उन विघ्न,बाधाओं का कोई मनन न करो। इतना ध्यान रक्खो कि अपनी जान में कोई अनुचित और अयोग्य कार्य न होने पावे। अपना स्मरण-कार्य तो निरन्तर चलता रक्खो, विघ्न-बाधाओं के आने पर इस दैनिक-स्मरण कार्य में अश्रद्धा और इसको छोड़ने की सलाह भी कुतर्की मन देने लगे तो समझो कि यह खोटी सलाह हमारे पूर्व-जन्म के अशुभ कर्मों की प्रबलता के कारण ही पैदा होती है। ऐसा निश्चय कर स्मरण-कार्य को कभी न छोड़ो। कुछ ही समय में देखोगे कि तुम्हारी श्रद्धा और दृढ़ता ने बहुत अच्छा काम किया है। धीरे-धीरे सब विघ्न-बाधाएँ कम होती जायंगी। होते होते तुम्हारा जीवन पूर्ण सुख और कल्याणमय होता जायगा। बे मन से किया हुआ स्मरण-जप भी सर्व प्रकार के भय का नाश कर अवश्य फलदाई होता है। जैसे अग्नि लापरवाही से छूह जाने पर भी स्वाभाविक ही जलाने का कार्य करती ही है।

अतएव स्मर्ण कार्य चालू रखने का काम ऐसा अमोघ फलदायक है कि जहां कुछ भी नहीं था उसके स्थान में बहुत विशेष प्राप्त हो जायगा। भक्ति के वश दयालु प्रभु श्रीरामजी को विवश होकर कृपा करनी ही होगी। यह पहुँचे हुए बुद्धिमानों का किया हुआ अनुभव है। कोरी कल्पना मात्र नहीं है।

रामचरितमानस में भी कहा है:—

चौ०—'राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण साधु सुर साखी।

शुद्धचित्त, जितेन्द्रित, काम-द्वेष-हीन, राग, मोह और द्वन्द से रहित, मनुष्य न किसी विषय में आसक्त होता है और न कभी सोच करता है। ऐसे मनुष्य न तो कोई कर्म करते हैं और न उन्हें किसी

कर्म का फल भोगना पड़ता है। वे अहंकार के वश होकर किसी विषय में मन नहीं लगाते। न तो वे धन प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और न किसी का अनादर तथा अकार्य करते हैं। लगातार ध्यान में मग्न रहकर चित्त को एकाग्र करके फिर क्रमशः उसका भी त्याग कर देते हैं। जो सब वासनाओं को छोड़ कर उस अवस्था में शरीर का त्याग करता है वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यदि वह ब्रह्म में लीन होना स्वेच्छित नहीं करता तो ब्रह्मलोक को जाता है; उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह रजोगुण से हीन जरा-मरण-रहित विशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

नाम–जप में असफलता के कारण।

पर यदि तुम्हारी समझ में मनोवांछित फल पूरा नहीं मिला तो:—

(१)—यह कारण समझो कि उस कार्य के लिये आवश्यकता के अनुकूल श्रम नहीं हुआ है कोई कसर अभी रह गई, तभी विलम्ब हो रहा है। अभी नहीं तो इस प्रयत्न का फल महीने-दो-महीने, बरस दो-बरस में कभी कार्य के महत्त्व के अनुकूल समय और श्रम पूरा होने पर मिलेगा ही। यह बात कभी असत्य हो ही नहीं सकती, इस प्रकार अधिक श्रम की आवश्यकता विचार कर स्मरण कार्य किये ही जाओ।

(२)—दूसरा कारण यह कि तुम्हारी दृढ़ता की प्रेम-परीक्षा प्रभु-प्रेरणा से ली जा रही है।

(३)—तीसरा कारण यह है कि दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिनका, इसी प्रकार सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख के परिवर्तन का तांता संसार में पहिये के समान हर एक के साथ लगा ही है।

(४)—एक कारण यह भी संभव है कि (मुमकिन है कि) उस सांसारिक सुख के फल की प्राप्ति हमारे लिये दयालु प्रभु ने हानिकारक समझी हो कि जैसे वैद्य रोगी को उसकी इच्छानुसार गरिष्ठ भोजन उसके लिये कुपथ्यकारक होने से नहीं देता।

(५) पांचवां कारण सम्भवतः यह हो कि अपने पूर्व-जन्मों के अज्ञात अशुभ कर्म जिनका हानिकारक परिणाम मिलने ही वाला था जिसको हमारे इस स्मरण कार्य के श्रम ने रोक दिया और इस प्रकार वह स्मरण-कार्य का श्रम भावी हानिकारक—परिणाम को सामना कर नाश करने में व्यय हो गया। अतः ऐसा समझकर विशेष श्रम किये ही जाओ। स्मरण-कार्य में कभी भी अश्रद्धा न करो, एवं न ऐसा विचार ही आने दो। यह श्रम कभी भी व्यर्थ नहीं जाने का।

यदि कोई शारीरिक या आर्थिक हानि भी ऐसे समय हो जावे तो कुछ विचार या संदेह मत करो। वह संदेह बाहर निकलते हुए प्राणी को फिर से कुए में धक्का देने वाला समझो। वास्तव में ऐसी हानि का यही कारण समझो कि हमारा पूर्व-जन्म का लेखा संभाला गया है और अहोभाग्य समझो कि आई हुई हानि हमारे उस स्मरण के बल से थोड़े ही में उस दयालु प्रभु ने निपटा दिया। यदि वह स्मरण-प्रार्थना का कार्य न किया होता तो उस आई हुई हानि की कई गुनी हानि या दुःख हम पर आता है कि जिससे

हम चूर-चूर हो जाते। वह क्या दुःख था? हमारे अनुमान के बाहर है। उसको प्रभु ही जानते हैं, तुम्हारी बुद्धि की पहुँच जहां तक हो सके, अनुमान बांध लो। अतः कैसे भी विघ्न आने पर भी इस कल्याण-कार्य में अश्रद्धा उत्पन्न न होने दो और स्मरण-कार्य को किसी प्रकार झूंठे अविश्वास की कल्पना करके कभी मत छोड़ो। सतर्क रहो! ऐसे समय बहुत संभलने के हैं। तनिक अश्रद्धा हुई कि चूके और निकलते हुए से फिर कुएँ में धम से गिरे ही समझो। बहुधा समझदार, विचारवान् और बुद्धिमानों का भी ऐसे समय धैर्य और श्रद्धा हाथ से छूट जाती है। अतः सावधान रहो। यह समय तुमने संभाल लिया तो बस पौबारा है। निश्चय है कि तुम प्रभु के दयापात्र हो चुके और आगे का सम्पूर्ण जीवन-मार्ग निष्कण्टक और आनन्दमय हो गया। भक्त का योगक्षेम प्रभु आप निबाहते हैं।

महात्मा पुरुषों के प्रकट किये हुए अनुभवों से प्रभु के यहाँ का एक यह भी नियम होना बताया जाता है कि प्रत्येक मनुष्य के पुण्य और पाप अथवा सुकर्म और कुकर्म उन दोनों में जो थोड़े हों उसका फल प्रथम भुगताया जाता है। सुकर्म करते हुए आरंभ में हानि या दुःख पड़ा हो तो समझो कि अब उसके कुकर्म अधिक नहीं हैं बहुत थोड़े शेष रह गये हैं, जिससे उनका फल भुगतने की बारी पहले आई है फिर अन्त में सुख मिलेगा।

कुकर्म करने वाले किसी-किसी मनुष्य को यदि तुम सुखी देखते हो तो उसका कदापि यह अर्थ न समझो कि कुकर्म का फल सुखदाई है, अतः हम भी बेधड़क कुकर्म करें। नहीं; नहीं कभी भी नहीं! ऐसी कुतर्कना के समय सावधान रहो। भली भांति स्मरण रक्खो कि जिस कुकर्मी को तुम सुखी देख रहे हो उसको अपने कुकर्मों का फल तो आगे भुगतना ही है। तुम्हारी निगाह में तुम सुखी देखते हो, उसका कारण यही समझो कि उसके पूर्व-जन्म के अच्छे कार्य अधिक मात्रा में सञ्चित किये हुए अवशेष हैं, उस अवशिष्ट (धरोहर) में यह कुकर्मरूपी हिसाब भी व्यय पेटे नौंधा जा रहा है। जिसमें से पुण्य-कार्यों का अवशिष्ट धन (धरोहर) अभी शेष निकलता आ रहा है, उसी के फलस्वरूप वह पापी होते हुए भी भुगतता जा रहा है। मगर यह बात भी निश्चय समझो कि जहां वह अवशिष्ट धन (धरोहर) खाते में सञ्चय व्यय के पेटे बराबर हुआ कि कुकर्मी का फल उसके लिए भुगतना आरंभ हुआ। और जहां उसके पुण्य-कार्य का फल समाप्त हुआ, वहीं धक्के पड़ने शुरू हो जायँगे।

सारांश यह है कि जीवन के लिये आवश्यक समझ कर अपने दैनिक कार्य-क्रम में भगवान् का भक्ति-रसपूर्ण स्मरण करने का जप कार्य अवश्य जोड़ लो और इसको बिना नागा नित्य-प्रति यथावकाश किया ही करो कि जैसा बिना नागा नित्य खाना खाते हो कि जिसके बिना तुम जीते नहीं रह सकते। वैसा ही इस कार्य को भी आवश्यक समझो। आरम्भ में इस धार्मिक नित्य-नियम के लिये कम-से-कम केवल एक घण्टा ही निकालो, रात व दिन के कुल २४ घण्टों में से आरंभ में केवल एक घंटा भी प्रभु-स्मरण-जैसे आवश्यक काम के लिये नहीं निकाल सकते? बहुत सरलता से निकाल सकते हो। जल्दी में २॥ पल में (एक मिनट में) तीन सौ बार और धीरे-धीरे से दो सौ बार राममंत्रक जप संख्या का औसत बैठता है, सो धीरे धीरे जप करने पर भी बारह हजार दैनिक से आरंभ कर सकते हो। जितना भी करो, उसका नियम बांधलो। बिना नियम बांधे नियमित संख्या पूरी नहीं हो पाती। गणना रखने से यह मालूम होता रहता है कि इतनी संख्या का जप अभी शेष है जिससे शेष को पूरा करने की चिन्ता रहती है। इस नियम से नियत संख्या पूरी हो

जाती है। यथावकाश महीने-पन्दरह दिन के पश्चात् दैनिक-जप संख्या अभ्यास से पचास हजार तक और आगे जाकर एक लाख तक थोड़ी २ करके बढ़ाते जाओ।

यदि किसी दिन प्रातःकाल नियमित संख्या का जप पूरा होने का अवकाश न मिल पावे, तो शेष के लिये जिस समय भी अवसर मिले तो उस समय ही सही, पर नित्य का कार्य-क्रम तो पूरा कर ही लेने की आदत डालो। और भगवान् के जिस किसी नाम पर श्रद्धा हो उसी का जप किये जाओ।

(१५) ध्यान—प्रगाढ़ भगवच्चिन्तन को ध्यान कहते हैं अर्थात् इन्द्रिय सहित मन को एकाग्र करके आत्मचिन्तन या ईश्वर-चिन्तन का नाम ध्यान है। ध्यान करने वाले महानुभाव को यह भली प्रकार जान लेना चाहिये कि वह किसका ध्यान करना चाहते हैं क्यों कि ध्येय के ज्ञान के बिना ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता और प्रेम-पात्र का ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता। ध्यान करने के लिये यह आवश्यक है कि इन्द्रियों और मन को एकाग्र किया जावे। चंचल इन्द्रिय तथा मन वाला, ध्यान नहीं कर सकता। गोस्वामीजी कहते हैं:—

दोहा – तुलसी ऐसे ध्यान धर, जैसी व्याही गाय।
मुँह में तृण दाना भरे, चित राखे बाछाय॥

शरीर तथा आत्मा के लाभ की दृष्टि से, ध्यान का होना उतना ही आवश्यक है जितनी आवश्यक स्वास्थ्य के लिए व्यायाम मानी जाती है। व्यायाम से केवल शरीर को ही लाभ पहुँचता है लेकिन ध्यान से आत्मा और शरीर दोनों को ही लाभ पहुँचता है।

आत्म-चिन्तन का कार्य एकान्त में जितना अच्छा होता है, उतना सांसारिक मनुष्यों से भरे हुए घर में नहीं होता। क्योंकि वहाँ पर संसार-व्यवहार की ही बातें कान में पड़ रही हों, वहाँ चित्त एकाग्र नहीं रहता और बिना एकाग्र चित्त के आत्मचिन्तन नहीं हो सकता। इसीलिये ध्यान योग का साधन करने के लिये ऐसा स्थान होना चाहिये, जो स्वभाव से ही शुद्ध हो और झाड़ बुहार कर, लीप पोत कर अथवा धो पोंछ कर स्वच्छ और निर्मल बना लिया गया हो। जैसा पहिले कह आये हैं कि गङ्गा, यमुना या अन्य किसी पवित्र नदी का तीर, पर्वत की गुफा, देवालय, तीर्थस्थान, अथवा बगीचे आदि, पवित्र वायुमण्डल युक्त स्थानों में से जो सुगतमा से प्राप्त हो सकता हो और स्वच्छ, पवित्र तथा एकान्त हो—ध्यान योग के लिए साधक को ऐसा ही कोई एक स्थान चुन लेना चाहिये।

मन का स्वभाव है कि उसका जिस वस्तु में लगने का अभ्यास हो जाता है, उसमें वह तदाकार हो जाता है, उससे सहज ही हटना नहीं चाहता। उसको हटाने का उपाय है— पहले के अभ्यास से विरुद्ध नया तीव्र अभ्यास करना और कभी न ऊबनेवाली, लक्ष्य के निश्चय पर दृढ़ता से डटी रहनेवाली धीरज भरी बुद्धि के द्वारा उसे फुसलाकर, डांटकर, रोककर और समझाकर नये अभ्यास में लगाना। धीरज छोड़ देने से या जल्दी करने से काम नहीं चलता। बुद्धि दृढ़ रही और अभ्यास चालू रहा, तो कुछ ही समय में मन पहले विषय से सर्वथा हटकर नये विषय में तदाकार हो जायगा।

इस प्रकार अभ्यास करता हुआ साधक एकान्त में बैठकर ध्यान के समय मन को सर्वथा निर्विषय करके एकमात्र परमात्मा के स्वरूप में लगाने की चेष्टा करे। मन में जिस किसी वस्तु की प्रतीति हो, उसको

कल्पनामात्र जानकर तुरन्त ही त्याग दे। इस प्रकार चित्त में स्फुरित वस्तु मात्र भी त्याग करके क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को सत्ता का भी त्याग कर दे। सब का अभाव करते करते जब समस्त दृश्य पदार्थ चित्त से निकल जांयगे, तब सबके अभाव का निश्चय करने वाली एक मात्र वृत्ति रह जायगी। यह वृत्ति शुभ और शुद्ध है, परन्तु दृढ धारणा के द्वारा इसका भी बाध करना चाहिये। समस्त दृश्य-प्रपञ्च का अभाव हो जानेके पश्चात् यह अपने आप ही शान्त हो जायगी। इसके पश्चात् जो कुछ बच रहता है वही अचिन्त्य तत्व है। वह केवल है और समस्त उपाधियों से रहित अकेला ही परिपूर्ण है। उसका न कोई वर्णन कर सकता है, न चिन्तन। अतएव इस प्रकार दृश्य-प्रपंच और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार का अभाव करके अभाव करने वाली वृत्ति का भी अभाव करके अचिन्त्यतत्व में स्थित होने की चेष्टा करनी चाहिये।

ध्यान योग सिद्ध हो जाने पर ध्यानयोगी को परमानन्द और परम शान्ति के अनन्त सागर परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसके सम्पूर्ण दुःख अपने कारण सहित सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। फिर न उसे कभी भूल कर भी जन्म-मरण- रूप संसार-दुःख का सामना करना पड़ता है और न कभी उसे स्वप्न में भी चिंता, शोक, भय और उद्वेग आदि ही होते हैं। वह सर्वथा और सर्वदा आनन्द के महा-प्रशान्त सागर में निमग्न रहता है।

ध्यान दो प्रकार है। (१) साकार ध्यान और (२) निराकार ध्यान। साकार के रूप का और निराकार के स्वरूप और गुण का ध्यान किया जाता है। भगवान् के गुण, प्रभाव तत्व और रहस्य को समझकर मनुष्य अपनी रुचि, स्वभाव और अधिकार के अनुसार जिस रूप में सुगमता से मन लगा सके, वह उसी रूप का ध्यान कर सकता है क्यों कि भगवान् एक है और सभी रूप उनके हैं। आसन की विधि तो सभी के लिये आवश्यक है।

प्रसंगवश ध्यान के विषय में एक वृद्ध सन्त और स्वामी पं० केशवानन्द जी महाराज का वार्तालाप भी लिखे देते हैं:—

वृद्ध संतः— "ब्रह्मास्ति सत्यं" ब्रह्म ही सत्य है हे पंडित! आप अपना मंतव्य कहिये अर्थात् जीव ईश्वर के भेद में व अभेद में आपकी निष्ठा है, और यह भी कहो कि ध्यान किसका करना चाहिये और ज्ञेय कौन है? अर्थात् अपने उद्देश्य को प्रगट करो। अतिशय गूढ वचनों के उच्चारण करने वाले सनातन वृद्ध सन्त को देखकर साक्षात् भगवान् जान कर स्वामी जी ने प्रणाम किया।

स्वामी जीः— हे भगवन्! अभेद सत्य और भेद असत्य है, इस अभेद में ही मेरी निष्ठा है, और निर्गुण ब्रह्म ही जानने योग्य है, उसका ध्यान करना बनता नहीं और निर्गुण को ही यथार्थ होने से सगुण का भी ध्यान नहीं बनता क्योंकि रूप और गुण को लेकर ही ध्यान उपासना होती है, और परमार्थ का रूप ब्रह्म दोनों से रहित है। अतएव यही जानने योग्य है ध्यान के योग्य नहीं।

"नेदं यदिद मुपासते"

[जिसकी उपासना करते हैं सो ब्रह्म नहीं ऐसा वेद वचन है।]

सन्तः— हे विद्वन् ! परमार्थ वस्तु यद्यपि रूप गुण से रहित है तथापि निर्गुण निराकार स्वरूप से ही ध्यान भक्ति का विषय क्यों नहीं होता, अवश्यमेव ध्यान भक्ति का विषय होगा जिस उपास्य देव का जो रूप होता है उसकी उसी रूप से उपासना होती है।

स्वामी जीः— हे भगवन् ! यद्यपि सर्वार्त्मितावत् निःसर्वता का भी ध्यान बन सकता है तथापि हे महात्मन् ! भक्ति और ध्यान का प्रथक् २ करके आपको वर्णन करना चाहिये।

सन्तः— ध्यान करने से द्रवीभूत हुआ चित्त अत्यन्त निर्मल धारा प्रवाह से एक बोध रूपात्माकार उदय हुआ समग्र रूप जो है सो ही भजन भक्ति और ज्ञान नाम से भी कहने में आता है, ज्ञान और भक्ति दो पदार्थ नहीं होते क्योंकि भगवान् के स्वरूप में चित्त की एकाग्रता को भक्ति कहते हैं और अन्तःकरण की व्रत्याकार वृत्ति का नाम ज्ञान है, इस कारण निराकार की भक्ति का अभाव नहीं होता किन्तु परमेश्वर के नामोच्चारण से शुद्ध हुआ मल प्रेम की परम्परा करके भक्ति को प्रगट करता है और उसी भक्ति की परिपक्व अवस्था ही ज्ञान है, इस प्रकार के गूढ़ कथन और अलौकिक भव्य मूर्ति के देखने से परब्रह्म संतरूप समझकर स्वामीजी ने श्री चरणों में पुनः पुनः प्रणाम किया, और स्वनिर्मित स्तोत्रों से स्तुति की और प्रेम में निमग्न हो पुनः पुनः प्रणाम किया।"

(केशवलीला)

ज्ञान से संसार के बन्धन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है। बंधन टूटते ही संसार की वासनाओं का त्याग हो जाता है। इससे ज्ञान होने पर ध्यान स्वयं हो जाता है। अतः ध्यान ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है। जैसे २ मनुष्य आत्मध्यान करता है वैसे ही उसको समाधि की प्राप्ति होती है। नदी का जल जिस प्रकार समुद्र में जाने से समुद्र जल से अभिन्न होता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा ध्यान के परिणाम से तद्भावता प्राप्त करके परमात्मा से अभिन्न होजाती है।

विचार, भावना, या चिन्तन यह ध्यान की पूर्वावस्था या अपूर्ण ध्यान ही होकर वही दृढ़ एवं पूर्ण होने पर ध्यान कहलाता है।

मंत्र-ध्यान स्थूल है, चिन्तामय ध्यान सूक्ष्म है और चिन्ता रहित ध्यान परा-भक्ति है। ध्यान अधिक होने से मन की शान्ति होती है। जिस दिन ध्यान अधिक हो और जप कम हो, उस दिन कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये किन्तु यदि जप अधिक हो, ध्यान कम हो तो उसके लिए चिन्तित होना चाहिये। ध्यान शक्ति वृद्धावस्था में दुर्बल हो जाती है। जिस समय विघ्न उपस्थित हो, उस समय सरल भाव से भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिये। यदि तुम ईश्वर का सदा दृढ़ चिंतन करते रहोगे तो एक दिन तुम्हें उसकी प्राप्ति भी अवश्य हुये बिना न रहेगी। जिसके होने पर मनुष्य की सब इच्छाएं सफल होकर वह पूर्ण काम होजाता है।

ध्यान में विघ्न

ध्यान में चार प्रकार के विघ्न होते हैं, यथा—

१. लय (निद्रा)—ध्यान के आरम्भ में निद्रा तन्द्रा से ध्येय को भूल जाना ही लय। काया, शिर और गले को सीधा तथा नेत्रों को खुला रखने से आलस्य और निद्रा का आक्रमण नहीं हो सकता।

२. विक्षेप—मन का एक विषय से दूसरे विषय पर भटकते रहना अर्थात् ध्यान के समय अगली पिछली बातें याद करना विक्षेप है। नाक की नोक पर दृष्टि लगा कर इधर-उधर अन्य वस्तुओं को न देखने से बाह्य विक्षेपों की सम्भावना नहीं रहती और आसन के दृढ हो जाने से शीतोष्णादि द्वन्दों की बाधा होने का भय नहीं रहता।

३. विषय—सुख की स्मृति अर्थात् ध्यान के समय राग-द्वेष का सूक्ष्म संस्कार चित्त में रहने से शून्य हो जाना कषाय है। और

४. रसास्वाद—अर्थात् स्वल्प आनन्द में ही अपने को कृतकृत्य मान लेना। यह सविकल्प समाधि से प्राप्त सुख एक प्रकार का विघ्न ही है क्योंकि यह तुम्हें निर्विकल्प अवस्था में पहुंचने में बाधा देती है। इससे व्यर्थ की तुष्टि मिलती है जिससे तुम साधना में आगे नहीं बढ़ सकते। मन को इन सारे विघ्नों से बचाये रखना चाहिये।

लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद से मुक्त हुआ चित्त, निर्विघ्नता से, ब्रह्म में स्थिरता को प्राप्त होता है।

ध्यानावस्था में शान्ति के द्वारा शारीरिक और मानसिक कष्ट दूर हो जाते हैं। जैसे ही कष्ट दूर होते हैं मानसिक तथा शारीरिक आनन्द का उदय होता है। मन आनन्दमय हो जाता है। जब मनुष्य के इन्द्रिय रूप छिद्रों से निकलने वाली बाह्य वृत्ति और भीतर अन्तःकरणों में ठहरने वाली बुद्धिरूप वृत्ति सब उपद्रवों से रहित शान्ति स्थित होती है, किसी प्रकार अपने नियत स्वभाव से विरुद्ध नहीं होती तब जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी के लिये मुक्ति का द्वार खुल गया जानो।

(१६) समाधिः— जब मन ध्यान के एक ही लक्ष्य में पूर्णतः निमग्न हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं। मन स्वयंमेव ध्यानाकार वृत्ति के साथ तद्रूप हो जाता है। ध्याता और ध्येय, द्रष्टा और दृश्य, सेवक और सेव्य एक और तद्रूप हो जाते हैं। मन अपनापन खो देता है और ध्येय के साथ एकाकार हो जाता है। मन्त्रयोग की समाधि को महाभाव कहते हैं। जब तक त्रिपुटी (ध्याता, ध्यान ध्येय) रहती है तब तक ध्यानाधिकार रहता है, त्रिपुटी के लय हो जाने से महाभाव का उदय होता है। ध्याता, ध्यान, ध्येय, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादिक को त्रिपुटी कहते हैं। मन्त्र सिद्धि के साथ ही देवता में मन का लय होकर त्रिपुटी का लय होने पर समाधि की प्राप्ति होती है। प्रथम मन में मन्त्र और देवता का स्वतन्त्र बोध रहता है। परन्तु ये तीनों बोध एक दूसरे में लय होते हुए त्रिपुटी लय हो जाती है। इसी अवस्था में आनन्दाश्रु और रोमाञ्च आदि लक्षणों का विकास होता है। क्रमशः मन

लय होकर समाधि का उदय होता है। समाधि प्राप्ति द्वारा साधक कृत-कृत्य हो जाता है। महाभाव प्राप्ति ही मन्त्रयोग का चरम लक्ष्य है।

गायत्रादि मन्त्र, जप संख्या व अजपाजप की विधि

कई बार एक प्रश्न मन में आता है कि इस गायत्री मन्त्र में क्या जादू है? जिस मन्त्र से लाखों करोड़ों भक्तों ने अनेक बार प्रभु का आवाहन किया है, जिसकी अनंत ध्वनि लगातार इस भूमण्डल से चलती हुई भगवान् के परमपद को गुञ्जायमान कर रही है उस अद्भुत मन्त्र में क्या दिव्य रहस्य है? यदि हम गहरा विचार करें तो गायत्री मन्त्र में मनुष्य जीवन का सार आ जाता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों ज्ञान धाराओं का रस इस एक मन्त्र में है। वेद उपनिषद् का सार गीता में और गीता का सार गायत्री में है। थोड़ा सा विचार करने से यह रहस्य समझ में आजायगा:—

कर्मवाद का आदर्श निष्काम कर्म करना है। सच्चा कर्मयोगी पुरुष सांसारिक कर्म करता हुआ भी निर्लेप रहता है। सुख दुःख, हानि लाभ, जय और पराजय में उसकी समान बुद्धि रहती है, यही निष्काम भाव की उच्च अवस्था और कर्मयोग की पराकाष्ठा है। भक्ति का आदर्श अपने मनोभावों को सर्वात्मना भगवान् के अर्पण कर उनके कीर्तन भजन और चिन्तन के रस में बने रहता है। भक्त भी अपनी सारी चेष्टाओं को, अपने सारे कर्मों को, भगवान् के अर्पण करके किया करता है। उन कर्मों में उसका अपना लगाव लेप तनिक भी नहीं होता, उसे अनुभव होता है कि मैं जो कुछ करता हूं वह भगवान् की प्रेरणा से ही हो रहा है इस प्रकार मनुष्य निष्काम कर्म से समर्पण रूप भक्ति को और भक्ति से कर्म के निष्काम भाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म की गङ्गा और भक्ति की यमुना का सङ्गम होता है और साथ ही ज्ञान की धारा सरस्वती भी गुप्त रूप से यहीं मिल जाती है क्योंकि आत्मज्ञानी भी प्रकृति से अपने को अलग समझ कर अन्ततः निष्काम कर्म और समर्पण के उसी आदर्श पर आजाता है, यही आध्यात्मिक त्रिवेणी का सङ्गम है।❀ गायत्री मन्त्र में यह सब कुछ आ जाता है। कितना सुन्दर भाव है:—

'उस जगदुत्पादक देव की कमनीय कान्ति को हम धारण करें वही हमारी बुद्धि को प्रेरित करे'

यह अपने अन्दर दिव्य शक्ति की भावना है—हम में उस प्रभु का तेज हो! भक्त अपने प्रियतम के रूप में ही समाना चाहता है! और फिर दूसरे वाक्य में 'आत्म समर्पण' है सब कुछ भगवान की इच्छा से ही करें! जो मनुष्य सब कुछ भगवान् के अर्पण करता है, भगवान् के रूप में समा जाना चाहता है उसके अन्दर पापवासना कैसी? जब पाप मन में आवे गायत्री का जप संकल्प शक्ति के साथ करो। पाप का अन्धकार उड़ जावेगा, इसीलिये यह गायत्री मन्त्र ब्रह्मास्त्र है जिसके प्रयोग करते ही पाप रूपी भूत समाप्त हो जाता है।

❀ गंगा कर्म की धारा है क्योंकि आर्य जाति के बड़े गौरवपूर्ण कर्म गङ्गा के किनारे ही हुए हैं और यमुना तो भक्ति की धारा स्पष्ट ही है जहां कृष्ण की वंशी बजी थी। प्रयाग में इन दोनों का सङ्गम स्पष्ट रूप से होता है, उसी प्रकार कर्म और भक्ति का सङ्गम तो स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु 'सरस्वती' नदी के समान ज्ञानधारा भी अस्पष्ट रूप से ही इन दोनों के साथ मिलती है अर्थात् ज्ञानधारा का मेल स्पष्ट नहीं दीखता।

हमारी संध्या केवल रूढिमात्र नहीं होनी चाहिये कि हम कुछ मन्त्रों और वाक्यों का पाठ मात्र करलें। उसके साथ हमारी भावना जुड़ी हुई होनी चाहिये इसलिये निश्चित मन्त्रों या भजनों के अतिरिक्त हमें अपने हृदय के उद्गार अपनी भाषा में भी प्रभु के आगे रखने चाहियें! अपने स्वयं बनाये गीतों से चाहे उनमें कोई भी छन्द न हो—प्रभु का गान करना चाहिये। सन्ध्या के दो अङ्ग हैं, एक प्रभु भावना और द्वितीय सदाचार सम्बन्धी सङ्कल्प, प्रभु भावना के भी दो रूप हैं। जब हम अपने अन्तःकरण के भीतर चित्त को एकाग्र करके सांसारिक विषयों को भुलाते हुए तन्मय होने का यत्न करते तो उसे आन्तर सन्ध्या कहना चाहिये। परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि ध्यान नहीं लगता। ऐसे समय हम बाह्य जगत् में भी प्रभु का ध्यान कर सकते हैं। नदी, पर्वत, झील, समुद्र, स्वच्छ नील आकाश, चाँदनी, उषा और सन्ध्या समय ये सारे दृश्य जीवित रूप से प्रभु का स्मरण कराते हैं, आकाश और अनन्त समुद्र को देख कर कौन मनुष्य है जो स्वयं अनंत की परिधि में छलांग न मारने लगेगा। वह प्रभु की ओर दौड़ता है। इन दृश्यों को देखने के साथ ही भक्त का हृदय कवितामय, रसमय होता है—उसे एक क्षण के लिये अनन्त आकाश में दिव्य जगत् का सुरीला स्वर बदला हुआ सुनाई देता है। यह 'बाह्य सन्ध्या' है।

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं:—

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रस वर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते'

उपवास और तपस्या करने वाला मनुष्य इन्द्रियों के विषय को जीत लेता है। परन्तु फिर भी उन विषयों का रस, उनकी भावना उसके अन्दर बनी रहती है और यह विषय रस तब मिटता है जब वह उस 'परम रस' का आस्वादन करता है, ऋषी उस रस के एक कण को भी चख कर आवेश के साथ पुकार उठे:—

'रसो वैसः'

वह रस है! वह रस है!! निस्सन्देह यह शब्द उस हृदय से निकले हुए हैं जिसने उस रस का स्वाद अनुभव कर लिया है! जब इस अमृत रस को पी लिया तो संसार के सारे विषय नीरस हो जाते हैं। इस सुधा-समुद्र में डुबकी लगा कर वह संसार को भूल जाता है !!!

गायत्री के विषय में कहा है:—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पाप कर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च सजपेत्॥

(संवर्तस्मृति श्लो० २१८)

'गायत्री से बढ़ कर पाप कर्मों का शोधक (प्रायश्चित्) दूसरा कुछ भी नहीं है। प्रणव (ॐकार) सहित तीन महाव्याहृतियों से युक्त गायत्री-मन्त्र का जप करना चाहिये।

नास्ति गङ्गा समं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूत न भविष्यति॥

(वृह० यो० पा० १०/१०)

गङ्गा के समान तीर्थ नहीं है, श्री विष्णु भगवान् से बढ़कर देवता नहीं है, और गायत्री से बढ़कर जपने योग्य मन्त्र न हुआ न होगा।

जब जब समय मिले ओ३म् का मानसिक जप करे और निरन्तर गायत्री का जप करे तो शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो यानी आत्मसाक्षात्कार होकर फिर परमात्मा का साक्षात्कार हो।

गायत्री (गुरु) मंत्र—(सुख शान्ति का सच्चा मार्ग) यह है:—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यंम्भर्गो देवस्य धीमही।

धीयोयोनः प्रचोदयात्॥

(यजु० अ० ३६ सं० ३)

इसी मंत्र का जप या चिन्तन करना चाहिये। यदि मन चंचल हो तो अभ्यास हरि नाम का और वस्तुओं से वैराग्य करो तो मन स्थिरता को प्राप्त हो जायगा।

यह गायत्री मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में है। इसमें ॐ से निर्गुण निराकार ब्रह्म, "भू भुवः स्वः" भू (सत्), भुव (भावयतोति भुवः चित्), स्वः (सुखस्वरूपम्) अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूप' तत्सवितुर्वरेण्यम्' से सगुण साकार और 'धियोयोनः प्रचोदयात्' से व्यष्टिगत हृदय में सगुण साकार, जो हमारी बुद्धि सत्कर्म में लगाता है, ऐसा चिदात्मा का अर्थ विज्ञ-जन करते हैं। अतः कर्म, उपासना, तथा ज्ञान के अधिकारी को गायत्री मन्त्र का जप अमूल्य, आवश्यक और अमोघ साधन है।

गायत्री मन्त्र का शब्दार्थ।

ओ३म्=परमेश्वर; भूः (सत्) = प्राणप्रिय, प्राणदाता। भुवः (चित्) = दुःखत्राता। स्वः (आनन्द)=सर्वाधार, सर्वव्यापक। तत्=उस। सवितुः=विश्व-रक्षक, सर्व पिता के। वरेण्यम्=श्रेष्ठ। भर्गः=निर्गुण शुद्धस्वरूप। देवस्य = परम-ज्योतिकी। धीमहि=उपासना करते हैं। धियः=बुद्धियों को। यः=जो। नः=हमारी। प्रचोदयात्= प्रबुद्ध प्रेरित करे।

भावार्थ।

'दुःखों से बचानेवाले सर्वाधार प्राणप्रिय परमेश विश्व के रचयिता निर्गुण शुद्ध-स्वरूप परम ज्योतिः भगवान् हम आप की ही उपासना करते हैं'। 'हे परम कृपालो! हमारी बुद्धियों को प्रबुद्ध करो। अर्थात् हमारी बुद्धियों को सब बुरे कर्मों से अलग करके उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करें।'

जो नियम पूर्वक और प्रति दिन❀ सन्ध्या करते हैं वे निष्पाप होकर सनातन ब्रह्मलोक को जाते हैं। ॐकार, व्याहृति और गायत्री, ये ज्ञान, उपासना और कर्मरूप हैं वह ही ऋक्, यजु और सामरूप हैं, वही तीनों लोकरूप हैं। गायत्री कर्मों को कर्मफल और उपासक को उपासना का फल देनेवाली और ज्ञानी को ज्ञानस्वरूप है।

इस प्रकार गायत्री सब का सब हित करने वाली है और सब प्रकार के अधिकारियों को अनेक अधिकार यानी (ज्ञान क्रिया) और भाव के अनुसार अवश्य फल देती है। सारांश—परमब्रह्म का स्वरूप ही गायत्री का स्वरूप है।

गायत्री अनन्त प्रभाववाली है। इसी कारण बिना समझे भी श्रद्धा से किया हुआ गायत्री का उच्चारण भाव के अनुसार फलदाता होता है। वही गायत्री विचार सहित स्वर्ग प्राप्ति अथवा अन्तःकरण की शुद्धिरूप विशेष फल देने वाली होती है और मनन किया हुआ जप परमपद को प्राप्त करता है।

सात महा व्याहृतियां ये हैं:—भूः; भुवः; स्वः; महः; जनः; तपः; और सत्यम्।

सप्रणव गायत्री मन्त्र।

ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः। ॐ तपः।

ॐ सत्यम्॥ ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो योनः

प्रचोदयात। ॐ आपो ज्योती रसो ऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम॥

यह प्राणायाम का मंत्र है, ओं भूः इत्यादि सप्त व्याहृतियों का अर्थ सात लोक अथवा जीव लोक के

❀ "सन्ध्या" शब्द का अर्थ (सन्ध्यायन्ति) भली भांति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें वह सन्ध्या, सो रात दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये। पहले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और रागद्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने ५ अ० के १०६ श्लोक "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धि ज्ञानेन शुध्ययति॥" में लिखा है कि शरीर जल से मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है परन्तु शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिये क्योंकि वही सर्वोत्तम् और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है।

सास्थान हैं जो प्रणव के साथ मिलने से उसके लक्ष्यार्थ परब्रह्म से अभिन्न हैं—जिससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि सकल ब्रह्माण्ड तथा उसके अन्तर्वर्त्ती सब जीव परब्रह्म रूप हैं।

श्री शङ्कराचार्य महाराज ने भी यही अर्थ किया है—वह कहते हैं—भूः = सत्तामात्र। भुवः = सब को पालन तथा प्रकाश करने से चिद्रूप। स्वः = सबसे प्रार्थनीय होने से-सुखरूप। महः = सबसे पूज्य होने से सबसे बड़ा। जनः = सबको उत्पन्न करने से सब का कारण। तपः = सर्व तेजोमय। सत्यं = सर्वबाधा-रहित। ओं = ब्रह्म हैं। गायत्री मंत्र का अर्थ ऊपर लिख चुके हैं फिर भी नीचे लिखेंगे - (आपोज्योतिरसोमृतं ब्रह्म) यह शिरोमन्त्र कहलाता है-आपः = जल-ज्योति = तेजउपलक्षित आकाश वायु पृथ्वीमय प्रपंच—ब्रह्म = वेदराशी—अमृतं = सुधा अथवा मुक्ति = यह सब परमात्मा ही है—उससे भिन्न कुछ नहीं। भुवादि तीनों लोकों की पुनरुक्ति से फिर यह सूचित किया गया कि यह सब ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म = रस अर्थात् सब जगत् के आनन्द का हेतु है और आदि और अन्त में ओंकार के प्रयोग से भेद का अत्यन्त निराश किया जाता है। शङ्कराचार्य जी महाराज भी इसका अर्थ यही करते हैं कि सर्वव्यापी, सर्वप्रकाशक, सर्वोत्कृष्ट, नित्यमुक्त, सच्चिदानन्दात्मक, जो ओंकार का वाच्य है सो मैं ही हूँ।

॥ मन्त्रार्थ ॥

अ ··· ··· ··· विराट, अग्नि और विश्वादि।
उ ··· ··· ··· हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि।
म ··· ··· ··· ईश्वर, आदित्य और प्रज्ञादि।
भूः ··· ··· (भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीवन का आधार है।
भुवः ··· ··· ··· (भुवरित्ययानः) सब दुःखों से रहित और जिसके सङ्ग से सब दुःख छूट जाते हैं।
स्वः ··· ··· ··· (स्वरिति व्यानः) जो नाना विधि जगत् में व्यापक होके सब का धारण कराता है।
तत् ··· ··· ··· वह
सवितु ··· ··· सब जगत् का उत्पादक और ऐश्वर्य का दाता।
वरेण्यम् ··· ··· स्वीकार करने योग्य अति श्रेष्ठ।
भर्ग ··· शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला।
देवस्य ··· ··· जो सब दिव्य गुणयुक्त, सब सुखों का देने हारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का
धीमहि ··· ··· हम लोग ध्यान करते हैं
यः ··· ··· ··· कि जिससे वह जगदीश्वर
न धिय ··· ··· हमारी बुद्धिओं को योगचरण से
प्रचोदयात् ··· बुरे कर्मों से छुड़ाकर अच्छे कर्मों में प्रवृत्त करे।

सप्रणव गायत्री का जप तथा ध्यान अभेद ध्यान है। व्याहृतियों के साथ जप तथा ध्यान करने से अभिप्राय है कि:—पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, अग्नि, वायु, सूर्य, पाताल यह सब लोक, तथा ऋक्, यजु, साम, अथर्व, चारों वेद, प्राण, अपान, व्यान, तीनों वायु, जो शरीर को धारण करती हैं—इच्छा, क्रिया और ज्ञान-शक्ति जो सब की प्रेरक हैं—यह सब परमात्मा ही है।

यह ध्यान अन्तर तथा बाह्य कुंभक (प्राणायाम) में होने से चित्त की तत्काल शुद्धि का हेतु होता है। तीन प्राणायाम में तो इसे अवश्य करे। यही सप्रणव गायत्री मन्त्र सन्ध्या का भी मुख्य मन्त्र है। सन्ध्या शब्द का अर्थ रात्रि दिवस का मेल (सन्धि) है। "उसमें सद्द्विज को उपासना करनी उचित है। उससे सब की उपासना हो जाती है"—यह शास्त्र का कथन है। दूसरा अर्थ सन्ध्या का यह है कि "जिस पर ब्रह्म का अच्छे प्रकार से ध्यान किया जाता है उसे संध्या कहते हैं," संध्या का स्थान पवित्र व एकान्त होना चाहिये, यदि नदी तट अथवा पर्वत की गुफा अथवा शुद्ध वन हो तो भी अच्छा है। सन्ध्या का अर्थ पहिले ही संकेत चिन्ह में दिया जा चुका है। प्रातः सन्ध्या जब आकाश में तारे हों और सायं सन्ध्या सूर्यास्त के समय करनी चाहिये। पूर्व अथवा उत्तर मुख करके सन्ध्या करे। ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठ कर भगवच्चिन्तन करे, फिर शौचादि से निवृत्त हो स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण करे, कुशादि के आसन पर शान्तिपूर्वक मन और इन्द्रियों की चपलता को रोक कर स्वास्तिक अथवा सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठे, तत्पश्चात् अन्तःकुंभक (अपान वायु को आकर्षण करके जहां से प्राण उठता है वहां ही निरोध करना) और बाह्य कुंभक (प्राणवायु को निकाल कर जहां अपान उठता है, वहां ही रोकना) इनमें सप्रणव सव्याहृति सशिरोमंत्र गायत्री का तीन बार जाप करे, फिर केवल तीन व्याहृति सहित गायत्री का दश, अट्ठाईस, एक सो आठ अथवा एक सहस्र बार जाप करे।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते॥

अर्थः—एकाक्षर प्रणव ही परम ब्रह्म है और प्राणायाम ही परम तप है, गायत्री से उत्तम कोई मंत्र नहीं है और मौन से सत्य ही विशिष्टतर है। यही आर्य शास्त्र में वर्णित गायत्री की महिमा है।

श्री काशी महामण्डल द्वारा प्रकाशित मारकण्डेय पुराण की हिन्दी व्याख्या में गायत्री के विषय में निम्न प्रकार लिखा है:—

वेद और शास्त्र।

वेदों और शास्त्रों में पुस्तकें पांच तरह की कही गई हैं, यथा—ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, बिन्दु, अक्षर। इनमें से अक्षरमयी पुस्तक क्षणभंगुर है। प्रत्येक के काल-विभाग में उनका नाश होना सम्भव है और चार पुस्तकें दैवी हैं; इस कारण चिरस्थायी हैं। उन चारों में से पुनः नादमयी पुस्तक की महिमा सर्वोपरि है। नादमयी पुस्तक ही वेद है। चार प्रकार की दैवी पुस्तकों में से और तीनों तो प्रेरणा द्वारा अन्तःकरण में भावरूप से प्रकट होती हैं। परन्तु नादमयी वाणी-वेद का-प्राकट्य वैसा नहीं होता।

सृष्टि के आदि में वेद के मन्त्र ज्यों के त्यों ऋषियों के अन्तःकरणों में सुनाई देते हैं। यही वेद का सर्वोपरि महत्त्व है। ऊपर के वर्णन से भगवान् ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि की आदि अवस्था में वेद का प्राकट्य कहा गया है, उसका रहस्य यही है। प्रेत आदि से सम्बन्ध रखने वाला साधक अथवा देवताओं के उपासक व्यक्ति मात्र इसको अनुभव करते हैं कि, प्रेत की भाषा अथवा देवताओं की देववाणी केवल उसी को सुनाई देती है, जिसके साथ उक्त प्रेत या देवता का सम्बन्ध हुआ हो। यदि दश मनुष्य इकट्ठे रहें और किसी एक के शरीर से प्रेत का सम्बन्ध हो, तो उन दशों में से वही व्यक्ति प्रेत की बात सुनेगा, जिससे सम्बन्ध हुआ है और वह सुनाई देना बाहर से नहीं, भीतर से होगा। इस कारण उसको और कोई नहीं सुनेगा। इसी कारण किसी उपासक मण्डली में दैवी वाणी भी बाहर से नहीं, भीतर से सुनाई देती है। वेद के प्राकट्य के लिये यह उदाहरण यथेष्ट होगा। जिनकी थोड़ी भी अन्तर्दृष्टि है और जो थोड़ा भी दैवी-जगत् से सम्बन्ध रखते हों, वे अवश्य इस रहस्य का अनुभव कर सकेंगे।

सृष्टि के आदि काल में जब केवल ब्रह्माण्ड गोलक बना, उस समय जब सृष्टि नहीं थी, वही प्राकृतिक सृष्टि कहाती है। तदनन्तर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति महामाया उस ब्रह्माण्ड की ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी मूर्ति की जननी बनी। भगवान् विष्णु योगनिद्रा में विमोहित और सुप्त रहे। भगवान् ब्रह्मा उनके नाभि कमल से प्रकट होकर सृष्टि क्रिया के लिये जाग्रत हुए। भगवान् शिव उन दोनों के शरीरों में व्याप्त रहे। उस समय भगवान् ब्रह्मा जी ने ज्ञानमय तप किया अर्थात् बहिर्ज्ञान से प्रत्याहार करके अन्तर में एक तत्त्व से मुक्त हुए। तब भगवान् ब्रह्मा को पूर्वकल्प में क्या था, इसकी स्मृति प्राप्त हुई। यही अवस्था "यथा पूर्वमकल्पयत्" श्रुति से प्रतिपाद्य है। जब भगवान् ब्रह्मा जी के अन्तःकरण से सृष्टि का प्रवाह बाहर की ओर चला, तब साम्यावस्था की प्रकृति वैषम्यावस्था को प्राप्त हुई। त्रिगुण हिला। तीनों गुण एक साथ हिले। जहां हिलना है, वहां शब्द है। वही तीनों गुणों के बराबर हिलने का शब्द प्रणव है। शब्द आकाश तत्त्व का गुण है। आकाश तत्त्व सब तत्त्वों से सूक्ष्म है। इस कारण आदि सृष्टि में सब से पहिले शब्द का ही आगे प्रकट होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि, सृष्टि में सबसे पहिले शब्द प्रकट हुआ और यही एक अद्वितीय शब्द प्रकट हुआ है। वही प्रणव है और वही भगवान् का सच्चा और स्वाभाविक नाम है। नाम के अनन्तर रूप का प्राकट्य होता है। यह भी स्वाभाविक है। क्यों कि जहां नाम है वहां रूप का होना भी स्वाभाविक है। इस कारण ब्रह्म प्रकृति से जैसा प्रणव का सम्बन्ध है, ब्रह्मज्योति का उसी प्रकार मार्तण्ड से सम्बन्ध है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म की चिन्मयी सत्ता ने ही घनीभूत होकर ज्योतिरूप को धारण किया है। उसी ज्योति से अन्तर प्रकाशित हुआ और बहिः भी प्रकाशित हुआ। वही अन्तर्जगत् ज्ञानाधार और बहिर्जगत् सूर्यमण्डल बन गया। यही प्रकृति से प्रणव और चित्त सत्ता से आदित्य भगवान् की उत्पत्ति का रहस्य है। सृष्टि के आदि में जब जैव सृष्टि प्रारम्भ हुई और ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूपी त्रिपुटी बनी, तो उस समय सब से पहिले भगवान् ब्रह्मा

को प्रणव सुनाई दिया। उसी प्रणव से पुनः वेदोत्पत्ति हुई। वे ही वेद श्रुतियों से ऋषियों के अन्तःकरण में पहुँचे और उनके द्वारा सृष्टि बढ़ी और उसी समय त्रिपुटी के प्राकट्य के साथ ही साथ ज्योति भी प्रकट हुई। उस समय के विश्व-ज्योति ही आदित्य देव हैं। ये ही आदित्य-देव प्रणव युक्त गायत्री मन्त्र के द्वारा गायत्री देवी के रूप गायत्री उपासना में उपस्थित होते हैं। गायत्री उपासना प्रणव युक्त इसी तेजोमयी ब्रह्मसत्ता की उपासना है। गायत्री उपासना से अधिक और कोई ब्रह्मोपासना की प्रणाली हो ही नहीं सकती। यही आदि सृष्टि के शब्दरूप की उत्पत्ति का अति गूढ़ रहस्य है। यही सृष्टि की आदि अवस्था है। इसी अवस्था में उपासक का अन्तःकरण पहुँचते ही ब्रह्मसान्निध्य को पहुँचता है, इसमें सन्देह ही क्या है? मारकण्डेय पुराण में आदित्य देव की उत्पत्ति जो अदिति देवी से कही गई है, उसके विषय में शंका हो सकती है। उसका सुगम समाधान यह है कि, यहां के आदित्य-प्राकट्य का वर्णन आदित्य अध्यात्म रूप है और अदिति से जो आदित्य की उत्पत्ति कही गई है, वह उनका अधिदैवरूप है और जो देवता विशेष है।

॥ राज राजेश्वरी मन्त्र ॥

(पद्मपुराणान्तर्गत—'कपिल गीता')

"ॐ हंसः सोऽहम् श्रीराम रामायनमः"

कपिल गीता में शिव जी ने यह मन्त्र पार्वतीजी को बड़े प्रेमपूर्वक दर्शाया है अर्थात् शिव पार्वती से कहते हैं कि देह धारण करने वा सबको मोक्ष देने वाला मन्त्र तुझे कहता हूँ। प्रथम "ॐ हंसः सोऽहम्" ऐसे दो वाक्य उच्चारण करना, पश्चात् "श्रीराम रामायनमः" यह (मन्त्र) उच्चारण करना चाहिये। यही (सब) राजमन्त्र तारक व्रत्य है, ऐसा वेद, वेदान्त, श्रुति, स्मृतियों में दर्शाया है।

अतः प्रथम 'ॐ हंसः सोऽहम्' यह पंचाक्षरी मंत्र उच्चारण करके मध्य में राम पद का 'श्रीराम' ऐसा स्मरण करना फिर अन्त में 'रामाय नमः' इन पांच अक्षरों का उच्चारण करना चाहिये।

इस महामन्त्र का जाप करने वाला शिव की समता को (अर्थात् परम कल्याणरूपी परमानन्दस्वरूप पूर्णब्रह्म की ऐक्यता को) प्राप्त होता है। क्यों कि 'तत्पद' शिव (परमानन्द स्वरूप ब्रह्म) रूप होकर 'त्वंपद' जीव रूप है। और 'असि' यह पद राम संज्ञक होने से इन तीनों पदों की ऐक्यता हो जाती है। इसमें संशय नहीं।

पंचायतनादि देवताओं के मन्त्र तथा जप संख्यादि ।

नं०	नाम	मन्त्र	जप की सं०	रीति
		पंचायतन		
१	श्रीगणपति	(१) ॐ हुं, गं, वं, क्रं, दं, धं, तुं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं, लौं, डं, यं, ॐ श्री सिद्धि विनायकाय नमः ॐ	२१ करोड़	केवल जप
		(२) ॐ श्री गणेशाय नमः (३) ॐ गंगणपतये नमः	८ करोड़	लेखन और जप
२	श्रीशिव	ॐ नमः शिवाय नमः	६ करोड़	
३	श्रीविष्णु	ॐ विष्णवे नमः	८ करोड़	
४	श्रीदेवी	श्री देव्यै नमः	८ करोड़	
५	श्रीसूर्य	ॐ श्री सूर्याय नमः	६ करोड़	
		नवग्रह		लेखन और जप
१	सूर्य	ॐ सूर्याय नमः		
२	चन्द्र	ॐ श्रीं चन्द्राय नमः		
३	मंगल	ॐ भौमाय नमः		
४	बुध	ॐ श्रीसौम्याय नमः		
५	गुरु	ॐ गुरवे नमः	९ करोड़	
६	शुक्र	ॐ श्री शुक्राय नमः		
७	शनि	ॐ शन्यै नमः		
८	राहु	ॐ राहवे नमः		
९	केतु	ॐ केतवे नमः		
१	सद्गुरु	ॐ श्री सद्गुरवे नमः	६ करोड़	लेखन और जप
२	श्रीदत्तात्रय	श्री दत्तात्रेयाय नमः	८ करोड़	
३	श्रीलक्ष्मी	श्री लक्ष्म्यै नमः	१० करोड़	
४	श्रीराम	श्रीराम	९ करोड़	
५	श्रीकृष्ण	श्री कृष्णाय नमः	८ करोड़	

नोटः—लेखन—लाल स्याही से कोरे पत्र(कागज़) पर लिखना, उसकी पूजा करनी तथा जप करना। यदि और कोई मंत्र जपना हो तो बीज को छोड़ कर जो वह मंत्र ६ अक्षर से कम हो तो उस अक्षर से दुगुणा, छः से अधिक हो तो जितना अक्षर हो उतने करोड़ तथा गायत्री मंत्र होय तो २४ लाख लेखन तथा उतना ही जप करना।

(योगेश्वर श्री कृष्णात्मज महाराज। उपासना मार्ग किंवा आत्मसाक्षात्कार पद्धति से)

जप की शक्ति का एक आधुनिक दृष्टान्त

श्रीमान् पं० शिवदत्त जी शर्मा उज्जैन के कल्प-द्रुप में अगस्त सन् १५४३ ई० के अंक में लिखते हैं कि बड़ौदे के निकट मजूसर ग्राम में मुकुटरामजी नाम के एक दीन ब्राह्मण अभी हाल ही हुए हैं उन्हे केवल गायत्री जप से ऐसी सिद्धियां प्राप्त हो गई थी कि राजा लोग उनकी सेवा करने को लालायित रहा करते थे। स्वयं महाराज [सियाजीराव] बड़ोदा जो वर्तमान कालीन राजाओं में सभ्य, श्रेष्ठ और बुद्धिमान् माने जाते थे उक्त महात्माजी को सवारी भेज कर सादर बुलवाया करते थे और सत्कार और आग्रहपूर्वक अपने महलों में रखा करते और उनकी सम्मति और आज्ञानुसार सहस्त्रों रुपये के जप, हवन, दान, पुण्य किया करते थे।

इस एक मनुष्य ने अपने जीवन में लाखों मनुष्यों का उपकार किया। रोगियों के रोग निवृत्त किए। दरिद्रों को सौभाग्यशाली बनाया। जो जिस इच्छा से द्वार पर आया, कोई निराश नही लौटा। प्रातःकाल से रात के सोने के समय तक भोजन भन्डार चालू रहता था। कोई आओ। बिना भोजन किये नहीं जाना। यह महात्माजी का आदेश था। हिन्दू के सिवाय, मुसलमान, क्रिस्तान, पारसी आदि किसी अन्य जाति का द्रव्य ग्रहण नहीं किया जाता था। हिन्दू भी जिसका द्रव्य अशुचि समझ में आता, भंडार में नहीं जाने पाता। कंगलों में बांट दिया जाता था। यज्ञ, अनुष्ठान, जप, ब्राह्मण भोजन अखंड चालू रहा करते थे। चार-चार, पांच-पांच मन घृत प्लुत मिष्टान्न गौओं को भोजन कराया जाता था। इस प्रकार इस महापुरुष ने अपना जीवन दूसरों के दुःख निवारण करने में लगा दिया था।

इनका सारा ही जीवन अत्यन्त चमत्कारमय व्यतीत हुआ। यहां बैठे विलायत के हाल कह देना। महाराजा बड़ौदा कहां क्या कर रहे हैं वह कह देता? जो हजारों दूसरों का यथावत् भविष्य देखने मात्र से कह देते थे उन्हें बर्त्तमान काल का हाल बतलाना तो खेल के समान है।

यदि कोई उनसे पूछता कि आपको यह सब कैसे मालुम हो जाता है। तो कहते मालुम नहीं मेरे सन्मुख आते ही उसका भविष्य मुझे स्पष्ट दीखने लगता है। और वही मैं उसे कह देता हूँ।

कोई पूछता आपको यह सिद्धि कैसे प्राप्त हुई? तो कहते—गायत्री जप से और शिव मंत्र जप से।

मैं केवल दो किताब गुजराती पढ़ा हूँ। यदि नौकरी करने जाऊँ तो दस रुपये महीने पर भी मुझे कोई न रखे। पर मैंने इन मन्त्रों की शक्ति के विषय में जब सुना तो जप करने की इच्छा हुई। मेरे घर के लोग सब सो जाते तब मैं उठ कर शिव मन्त्र का जप बारह से चार बजे तक करता। चार बजे उठ कर स्नानादि से निपट कर आठ या नौ बजे तक गायत्री जप करता। संख्या नहीं रखता। ऐसा कई वर्षों तक करता रहा। उससे अपने आप ये सिद्धियां प्राप्त हो गईं।

मुझे सब से अधिक खेद ब्राह्मण जाति पर है। जो सबसे अधिक दुर्दशा-ग्रस्त है। तो भी जप

नहीं करते। यदि वे जप करें तो उनकी भी दशा मेरे समान हो जाय। मैंने तुमसे कहा कि मैं पराधीनता करने जाऊँ तो कोई दस रुपयों पर मुझे नहीं रखे। पर यह इसी गायत्री माता का प्रताप है कि मेरे हाथ से लाखों रुपये खर्च करा रही है। राजा लोग मेरा आदर और सेवा करने की इच्छा करते हैं।

ऐसे महापुरुष का जीवन चरित्र लिखना असंभव है। किन्तु कतिपय संस्मरण एकत्र करके, बड़ौदा निवासी पण्डित जगन्नाथ प्रभाशंकर भूतड़ी झांपा बडौदा जो उनके पट्ट शिष्य हैं उन्होंने पांच भाग में गुजराती भाषा में लिखा है। वही यदि कोई बांच जाय तो उसके विचारों में परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रिय पाठक!

कुछ सोच कर देखो अध्यात्म शक्ति सम्पन्न एक मनुष्य संसार का कितना उपकार कर सकता है। अध्यात्म शक्तिहीन मनुष्य किसी भी भाषा का कैसा ही उत्कट विद्वान हो वह अपने ही क्लेश दूर नहीं कर सकता। दूसरों का क्या करेगा?

इसलिये मित्रो!

मनुष्य जन्म में आकर उसका सबसे बड़ा लाभ उठाना चाहो तो अध्यात्म शक्ति संपादन करो। अध्यात्म शक्ति प्राप्त करने का अचूक मार्ग माला है। जिसके पास तीन माला हों, वह तीनों लोक का सम्राट् है। एक सन्ध्या पूजा के घर में। एक शयन गृह में और एक पाकेट में।

(कल्पवृक्ष से)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—❀—

स्मरण रहे कि दश दोषों से बचकर जब नाम जप किया जायेगा, तभी वह यथेष्ठ फलदायक हो सकता है। दश दोष ये हैं, यथाः—

[१] सन्निन्दा; [२] असतिनाम वैभव कथा; [३] श्रीशेशयोर्भेदधी; [४] गुरु वाक्य में अश्रद्धा; [५] शास्त्र वचन में अश्रद्धा; [६] वेदवाक्य में अश्रद्धा, [७] नाम्त्यर्थवादभ्रम, [८-९] नामास्तीति निशिद्ध वृत्ति-विहित त्यागौ और [१०] धर्मान्तरैः साम्यम्॥

[१]–सन्निन्दा—

अर्थात् सत्पुरुषों की निन्दा, सच्छास्त्रों की निन्दा; सन्मन्त्रों की निन्दा इत्यादि। इनमें से किसी की निन्दा के साथ किया हुआ नाम-जाप सदोष होने के कारण भगवत् तुष्टि जनक नहीं होता।

[२]–असतिनाम वैभव कथा–

अर्थात् असज्जनों अथवा अनधिकारी पुरुषों के सन्मुख सुनाये गये मन्त्रों के दूषित हो जाने का भय

रहता है। पामर प्राणी नाम माहात्म्य को सुनकर भी अपने हृदय के अनुरूप ही कर्म करता है। अतएव नाम की महिमा का महत्व कम हो जाता है। यही नहीं, अन्न भी पामर का स्पर्श पाकर दूषित हो जाता है।

[३]—श्रीशेशयोर्भेद धीः

विष्णु और शिव इन दोनों महादेवों में भेद-बुद्धि रखकर इनमें से चाहे किसी का नाम-जप किया जाय वह व्यर्थ जाता है। बल्कि इस तरह का नाम-जप उलटे अधोगति का कारण बन जाता है। कहा है कि—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः।
एतयोरन्तरं मत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्॥

'शिव का हृदय विष्णु है और विष्णु का हृदय शिव है। इसलिये इन दोनों में अन्तर मानने वाला प्राणी रौरव नरक का गामी होता है।

प्रश्न—१. अच्छा, शिव और राम यदि समान हैं तो फिर क्यों शिव ने राम की पूजा की, और क्यों राम ने शिव का पूजन किया?

उत्तरः— ऐसा करने में विशेष कारण है, भगवान् की दया है। एक परमब्रह्म ने शिव और राम दो स्वरूप धारण किये हैं। अतःएव जो शिव है वही राम है, और जो राम हैं वही शिव हैं। राम ही शिव सज कर आप ही अपनी पूजा करके राममय होकर राम की पूजा किस प्रकार की जाती है इस बात की जगत् को शिक्षा दे रहे हैं। इसी प्रकार शिव ही राम बन कर आप ही अपनी पूजा करके शिवमय होकर शिव की पूजा किस प्रकार करना चाहिये इस बात की शिक्षा दे रहे हैं। भगवान् स्वयं पुजारी बन कर यदि अपनी पूजा जीव को न सिखाते तो जीव क्या कभी उनकी पूजा करना सीख सकता? राम ने दुर्गा की पूजा की और दुर्गा ने राम को पूजा इसका भी यही तत्त्व है। शिव-राममय पूजा करना चाहते हो तो तुम्हें राम की भांति शिवमय बनना पड़ेगा, नहीं तो ठीक ठीक शिव पूजा नहीं होगी। इसी प्रकार यदि तुम राम की पूजा करना चाहते हो तो तुम्हें पहले शिव की भांति राममय होना पड़ेगा नहीं तो राम पूजा ठीक ठीक नहीं होगी। जीव को इस अमूल्य पूजा की शिक्षा देने के लिये ही करुणा मय भगवान् ने शिव रामादि भिन्न २ स्वरूप गृहण किये हैं। आहा! करुणामय की कितनी करुणा है? वस्तुतः जो शिव है, वही राम हैं। दोनों एक ही हैं; इनमें किसी प्रकार का भेद मत समझो।

प्रश्नः—२ शिव और राम के नाम भिन्न भिन्न हैं, और रूप भी भिन्न भिन्न हैं। इस हालत में दोनों को एक कैसे समझा जाय?

उत्तरः— मान लो, मिट्टी की एक पतीली है और एक मिट्टी का घड़ा है। पतीली और घड़े के नाम भी भिन्न हैं, और रूप भी भिन्न हैं, परन्तु इन दोनों के मूल में एक ही वस्तु है। वह वस्तु है

'मिट्टी'। पतीली और घड़ा दोनों के टूट जाने पर क्या होगा ? इनके भिन्न भिन्न नाम रूप नहीं रहेंगे, पतीली का पतीलपना और घड़े का घड़ापना नहीं रहेगा, वे दोनों ही एक मिट्टी हो जांयगे। इसी प्रकार शिव और राम के नाम रूप को हटा कर देखो तो क्या बच रहता है। तुम शायद कहोगे कि 'कुछ भी नहीं रहता'। परन्तु ऐसी बात नहीं है। कुछ रहता है; वह 'कुछ' ही 'परमात्मा' है। वही बद्ध जीव पर दया करके भिन्न भिन्न नाम रूपों को धारण कर शिव और राम नाम से अभिहित होते हैं। इस परमात्म तत्त्व को जिस दिन भली भांति जान लोगे उसी दिन तुम ठीक २ समझ सकोगे कि शिव और राम में अभेद है।

(४) गुरु वाक्य में अश्रद्धा

यह भी बड़ा दोष है। सद्गुरु वही है जो वेद वेदाङ्ग का पारंगत हो। शम, दम आदि शुभ गुणों से सम्पन्न हो और काम क्रोधादि से रहित हो। ऐसे सद्गुरु के वचन में अश्रद्धा हो जाने से उनके उपदिष्ट मन्त्र का जप लाभदायक नहीं होता है। उससे सर्वथा फल सिद्धि नहीं होती।

(५) शास्त्र वचन में अश्रद्धा

भगवान् ने गीता में कहा है कि जो पुरुष विधि का परित्याग करके अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार आचार करता है उसे न सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है और न वह परलोक को ही प्राप्त करता है, अतएव शास्त्र प्रमाणाधीन रहकर विधि सहित जो नाम-जप होता है, उसी से सफलता मिलती है।

(६) वेद वाक्य में अश्रद्धा

चारों वेद धर्म के मूल हैं। जबकि मूल स्वरूप वेदों में ही अश्रद्धा होगी तब नाम जप रूपी धर्मवृक्ष फल किस प्रकार दे सकेगा ?

(७—८) नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति विहित त्यागौ

कोई पुरुष यदि यह कहता रहे 'मुझको केवल भगवन्नाम का आधार है। मैं यदि हिंसा, असत्य भाषण, व्यभिचार आदि दुष्कर्म भी कर दूंगा तो मुझको कोई पाप नहीं लगेगा। भला भगन्नाम के आगे ये सन्ध्या-वन्ध्या आदि कोई वस्तु है ? मुझको विधि-निषेध की कोई रोक-टोक नहीं है। मैं तो केवल नाम से ही कृतार्थ हूं। और ऐसी स्थिति में नाम-जप करता रहे तो ऐसा अभिनिवेश जप करता को अधोगति पहुंचाता है। इसलिये इसको भयंकर दोष समझ कर इसका परित्याग कर देना चाहिये।

(९) धर्मान्तरैः साम्यम्

इसका तात्पर्य यह है भगवन्नाम-जप और इतर धर्म में समानता मानना। जैसे—

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

यह कलिसन्तरणोपनिषद् का महामन्त्र है। इसमें भगवान् के सोलह नाम हैं। इस महामन्त्र का साढ़े तीन करोड़ पुरश्चरण करने के लिए कहा गया है। इसके सम्बन्ध में यदि यह भावना की जाय कि, 'अजी धर्म तो सभी समान हैं। चाहे, 'हरे राम' कहा जाय या 'अल्लाह' या 'क्राइष्ट' कहा जाय, सबका फल बराबर

होता है, इसी महामन्त्र में कोई विशिष्टता नहीं है, तो ऐसी भावना करना भी नाम जप में बहुत बड़ा दोष है। क्योंकि अपने धर्म शास्त्रों में तो राम, कृष्ण, शिव, गोपाल, भवानी, सूर्य, गणपति इत्यादि जितने भी नाम है। उन सब नामों के जप का भी पृथक्-पृथक् फल बताया गया है। फिर खुदा या ईसा मसीह के नामों के फल से किस प्रकार समानता की जा सकती है? स्वधर्म या यों कहिये कि अपने इष्टदेव के नाम जप के साथ धर्मान्तर की समानता का भाव रखना सर्वथा त्याग है। अनादरणीय है। इन दश अपराधों का प्रायश्चित भी नाम-जप ही है।

'सोऽहं' का यथार्थ जप और ध्यान।

(अजपा जप)

सोऽहं का जप तो श्वांस, प्रति-श्वांस के द्वारा स्वाभाविक होता रहता है, अर्थात् जब प्राणरूप बाहर श्वांस आता है तब 'सो' और अपानरूप प्रति श्वांस अन्तर जाने से 'अहं' का उद्देश्य व उच्चारण होता रहता है। सोहं का अर्थ और उसके स्वरूप को समझ कर ऐसा ध्यान किया जाता है कि "सो" शब्द का अर्थ परमात्मा और "अहं" का अर्थ मैं (जीव) हूँ, ऐसे निश्चय कर लेना ब्रह्मज्ञान का साधक है।

इसमें श्रेष्ठ जिज्ञासुओं और परम हंसों का अधिकार है, यदि विचार से देखो तो 'ॐ' की चारों मात्राओं अर्थात् अकार, उकार, मकार और अर्द्ध मात्रा बिन्दु (ब्रह्म) में द्वैत का अवसर नहीं, भेद जो भासता है वह व्यवहार दशा में है।

विस्तार से 'सोऽहं' जप का विवरण इस प्रकार है:—

पूरक समय जो अन्तर श्वांस आता है उसको अपान' कहते हैं, रोचक समय जो बाह्य श्वांस जाता है उसको 'प्राण' कहते हैं— जब श्वांस अन्तर या बाहर अति सूक्ष्म स्थित होता है तब वह सन्धिरूप कुंभक है। रेचक पूरक तथा अन्तर बाहर कुंभक की अपेक्षा रहित जहां का तहां श्वास का रुक जाना 'केवल' कुंभक कहलाता है। 'सोऽहं हंसो' इस प्रकार का जप ज्ञाततः वा अज्ञाततः प्राणीमात्र के हृदय में स्वाभाविक ही होता रहता है और जीव को हंस कहते हैं। इसलिए इसको हंस मन्त्र कहते हैं। सकार से तत् पद समझो और हकार से त्वंपद का वाचक जानो। सकार की रेचक श्वांस के साथ यह भावना करो तत् पद की उपाधि जो माया तत्कार्य अनात्मा उसको हम अन्तर से बाहर निकालते हैं अर्थात् बाधक करके अभाव निश्चय करते हैं। उसी तत्पद के लक्ष्यरूप परमात्मा को अपान श्वांस के द्वारा अन्तर लेते हुए, अहंरूप से भावना करो मानो जीवरूप से प्रवेश है। बाह्य बाधित हुआ अनात्मा पुनः नहीं आता है और पीछे नया २ आरोप ही होता है। इसलिए वही आत्मा अहंरूप से अपान के साथ नाभि द्वारा गुदा तक स्थित होता है और प्राण ऊपर से उठकर "सो" इस भाव के साथ तत्पद उपलक्षित अनात्मा होकर बाह्य उसका अनात्मा भाव बाधित हो जाता है फिर वह नहीं आता, इस प्रकार 'सोऽहं हंसो' अर्थात् "तत् त्वं" त्वंतत्" इस अर्थवाली भावना का तार एक रस स्वाभाविक चलता रहता है, अर्थ से उपाधि रहित एक ही अखंड अद्वितीय आत्मा तत्व निश्चय होता है, इससे अन्य कल्पना अनात्मा है। उसका बाधा हुआ है इसलिये वह ही है नहीं— "सो अखण्ड परमात्मा ब्रह्माभिन्न साक्षी मैं हूँ अन्य कुछ है ही नहीं" निश्चय करके स्थित होना चाहिये सो

श्रुति कहती है— "क्षीणो प्राणो नासिकयोः श्वसीत्" अर्थात् प्राणों को अत्यन्त सूक्ष्म करके नासिका द्वारा श्वांस लेवे। कहा है—

"सकारेसा बहिर्याति हकारेणविशेत पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा ॥"

अर्थ यह है कि—सकार से श्वांस बाहर आता है और हकार से पुनः भीतर प्रवेश करता है. इस प्रकार 'हंस हंस' इस मंत्र को जीव सदा जपता है। दिन रात में २१,६०० इतनी संख्यायुत मंत्र को जीव सदा जपता है। यह अजपा नाम की गयित्री योगियों को सदा अभेद देने वाली है। सोऽहं में से सकार हकार अलग करके "ओऽम्" प्रणव रहता है और अर्थ भी एक ही है इसलिये सोऽहं प्रणव कहलाता है।

॥ फल ॥

प्रसंगवश यहाँ सोऽहं के ऊपर पराशर-ब्रह्मा सम्वाद भी लिखे देते हैं और ब्रह्मलीन श्री १०८ श्री स्वामी अवधूत शङ्करानन्दजी महाराज के वचन भी उद्धृत करते हैं।

पराशर-ब्रह्मा सम्वाद

॥ॐ॥ पराशर ने ब्रह्मा से पूछा 'मैं कौन हूँ'? ब्रह्मा ने कहा 'सो' मैं ने कहा 'सो' कौन है? ब्रह्मा ने कहा 'अहं' पुनः मैं ने पूछा 'अहं' कौन है? ब्रह्मा ने कहा 'सो' मैं ने कहा 'सो' कौन है? ब्रह्मा ने कहा, 'अहं'। मैं ने विचार किया कि, मैं ने सो को पूछा तो अहं को पूछा तो सो। इससे अब क्या पूछूँ?

जैसे (सोयं देवदत्तः) इस शब्द का अर्थ पुरुष का शरीरमात्र है, तैसे सोऽहं का अर्थ अखण्ड सच्चिदानन्द प्रत्यक् आत्मा मैं हूँ अन्य दृश्य जगत् मैं नहीं। तब ब्रह्मा ने कहा, हे पराशर! 'सो' कौन है? मैं ने कहा जिस अखण्ड सच्चिदानन्द पूर्ण से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, सो 'सो' है पुनः 'अहं' कौन है? 'अहं' मैं हूँ।

श्री १०८ श्रीस्वामी अवधूत शङ्करानन्द महाराज के वचन

'एकान्त शुचि देश में प्रथम कुशासन बिछाय उसके ऊपर व्याघ्र चर्म अथवा मृगछाला उसके ऊपर स्वच्छ सूती वस्त्र बिछाय कर पद्मासन से बैठो सुषुम्णा नाड़ी के भली प्रकार- संसार के निमित्त मेरुदण्ड सीधा रहे और शरीर शिर ग्रीवा सब सीधे रहें, दिशावलोकन त्याग अर्धोन्मीलित नेत्रों से नासिका के अग्रभाग में निश्चल चित्त से देखो।'

(मुमुक्षु इसी प्रकार बैठते हैं और वेदरूप गुरुदेव कान पर मुख धर गुह्यात् गुह्यतरं हंसः मंत्र का उपदेश करते हैं मुमुक्षु को समाधि लग जाती है।)

इसके अभ्यास से तत्त्वज्ञान मनोनाश तथा वासनाक्षय समकाल प्राप्त होकर शीघ्र कृतकृत्य होता है। सब मंत्रों में ॐ कार की महिमा सर्वोपरि है। ॐ के उच्चारण मात्र से सभी सद्सत् का ग्रहण हो जाता है।

जो योगी ॐकार का प्रतीक अक्षरस्वरूप परब्रह्म को जान कर उसका ध्यान करते हैं, वे संसार चक्र से छूट कर और बंधनत्रय से पार होकर पारब्रह्म परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। यदि उनके कर्म बन्धन का क्षय न हुआ हो तो अरिष्ट के द्वारा मृत्यु को जान कर देहान्तर के समय में सब कुछ स्मरण रख कर पुनः योगत्व को प्राप्त करते हैं। अतः चाहे सिद्धयोगी हो अथवा असिद्ध योगी हो, उसे योग के द्वारा सदा अपने अपने अरिष्टों को जान लेना चाहिये; जिससे उसे देहावसान के समय खिन्न नहीं होना पड़ता।"

अरिष्ट मार्कण्डेय पुराण, ऋग्वेदविषे कौषतिक मुनि के कथन और वसिष्ठ मुनियुक्त मृत्युचिन्ह को देख लेना चाहिये। यहाँ लिखना उचित न समझा, कारण कि अरिष्टों के पढ़ने से सामान्य पुरुषों का अनर्थ हो जाना संभव है।

सारांश यह है कि मन बहुत ही शक्तिशाली होता है। मन्त्र मन को शुद्ध करता है, वैराग्य उत्पन्न करता है, यह वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाता है, प्रत्येक मन्त्र के ऋषि हैं, जिन्होंने उसे प्रदान किया है। प्रत्येक मन्त्र की सिद्धि के उद्भावक एक देवता होते हैं, एक बीज होता है जो उसे विशेष शक्ति प्रदान करता है, मन्त्ररूपात्मिका एक शक्ति होती है, जो उसके उच्चारण से कम्पन के एक विशेष रूप को धारण करती है। मन्त्र को स्थिर करने वाला और उसे पराक्रमशील बनाने वाला कीलक होता है। कीलक एक प्रकार का ढक्कन है जो यन्त्र-चैतन्य को छिपाये रखता है। भावपूर्ण और ध्यान से मन्त्र के सतत और दीर्घ काल तक जाप करने से मन्त्र-चैतन्य होता है तब साधक को मन्त्रसिद्धि की प्राप्ति होती है। मन्त्र में एक अध्यात्मिक प्रवाह होता है। मन्त्र साधक की आत्मा को एक केन्द्र से दूसरे में पहुँचाता है, दूसरे से तीसरे में और अन्त में लक्ष्य को प्राप्त कराता है। ध्रुव जी ने नारद मुनि के बतलाये हुए द्वादश अक्षर मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय के जपने से भगवान् का दर्शन प्राप्त किया। 'नारायण' मन्त्र के जप से प्रहलाद जी को श्री महाविष्णु का दर्शन प्राप्त हुआ। वाल्मीकि जी ने 'मरा-मरा' जप कर ब्रह्मानुभव किया (क्योंकि 'मरा-मरा' बार-बार जपने से 'राम-राम' हो जाता है।) महाराष्ट्र के संत तुकाराम जी पण्ढारपुर के प्रसिद्ध भगवान् श्री कृष्ण का नाम 'विट्ठल-विट्ठल' जपा करते-करते भगवान् श्री कृष्ण में मिल गये।

इति मन्त्र योगः समाप्तः।

(२) हठ-योग ।

हठ विद्या परमगोप्या साधुना सिद्धिमिच्छिता ।
भवेत्वीर्यवती गुप्ता निर्वीया तु प्रकाशिता ॥

(हठ-योग प्रदीपिका)

अर्थात् योग सिद्ध करने वाला योगी हठ विद्या को अच्छी प्रकार गुप्त रक्खे । क्योंकि; गुप्त रखने से यह विद्या वीर्यवती और प्रकट करने से वीर्य रहित होती है।

हकार नाम सूर्य का है और ठकार नाम चन्द्रमा का है, उन दोनों का योग अर्थात् चन्द्रमा रूप इड़ा (वाम स्वर) और सूर्यरूप पिंगला (दक्षिण स्वर) का एक ही भाव है उसका नाम हठयोग है अर्थात् नाभि से उठ कर नासिका के अग्र भाग से बारह अङ्गुल पर्यन्त प्राणवायु बाहर जाता है पुनः लौट कर नाभि में प्राणवायु आता है इस प्रकार प्राणवायु की स्वाभाविक गति है । हठ योग का सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भाव में गुम्फित हैं और एक का प्रभाव दूसरे पर पूरा बना रहता है । स्थूल शरीर को अपने आधीन करते हुए योग की प्राप्ति करने को हठ योग कहते हैं । हठ योग के ध्यान को ज्योतिध्यान कहते हैं और प्राण के निरोध से होने वाली हठ-योग की समाधि महाबोध समाधि कहाती है ।

शरीर के भीतर हृदयाकाश में जहां आत्मा का दर्शन होता है वहां नाड़ियों का एक चक्र होता है । उसमें १०१ नाड़ी हैं और उसके शाखा प्रति शाखा नाड़ियाँ ७२, ७२, ००, २०१ हैं और इन शाखा नाड़ियों में व्यान वायु चक्कर खाता हुआ इस शरीर की रक्षा करता है । इन १०१ नाड़ियों में १० नाड़ी श्रेष्ठ हैं । उनमें भी ३ नाड़ियां अर्थात् इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा श्रेष्ठ हैं, उनमें भी सुषुम्णा अति श्रेष्ठ है । इसके भीतर उदान वायु चलता है और इस पर आरूढ़ होकर सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा परमात्मा के नियमानुकूल जिस प्रकार के कर्म होते हैं उसी प्रकार के शरीर को प्राप्त कर लेता है । १. इड़ा—बाईं नासिका में, २. पिंगला—दाहिनी नासिका में और, ३. सुषुम्णा—यह नाड़ी नाभि के नीचे जो कुण्डालिनी शक्ति स्थित है तिसके बीच से आकर नासिका में मध्यभाग में स्थिति हुई है और बांये भाग में इड़ा और दाहिने भाग में पिंगला को धारण कर रक्खा है; ४. हस्तिनी—दाहिने नेत्र में; ५. गांधारी—बांये नेत्र में; ६. पूषा—दहिने कर्ण में; ७. यशस्विनी बांये कर्ण में; ८. अलंबुषा—मुख में; ९. कुहुका—लिंग में और; १०. शंखिनी—गुदा में ।

सुषुम्णा नाड़ी ही सब नाड़ियों का आधार भूत है, इस कारण एक सुषुम्णा ही योगियों को मोक्ष मार्ग में द्वार भूत है । सुषुम्णा का स्थान कंद (लिंग से ऊपर और नाभि से किंचित् नीचे) के मध्यभाग में है सो

पृष्ठ भाग से मेरुदण्ड† द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पर्यंत गई है। ब्रह्म नाड़ी सुषुम्णा देह के मध्य भाग से उठ कर आधार चक्र में आती है, आधार-चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र में आती है, वहां से मणिपुर चक्र में आती है। वहां से हृदय स्थान अनहद चक्र में आती है। वहां से कण्ठ-स्थान विशुद्ध-चक्र में आती है, वहां से सुषुम्णा के पश्चिम और पूर्व दो मार्ग हैं, उसमें पश्चिम मार्ग तो ग्रीवा के पृष्ठ भाग में स्थित जो मेरुदण्ड (बंकनाल) है उसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में जाती है और पूर्वभाग भ्रूमध्य देश में जो आज्ञाचक्र है उसके द्वारा ब्रह्म-रन्ध्र को जाती है, उन दोनों में पश्चिम मार्ग उत्तम है।

जब प्राणायाम के समय योगी प्रथम इड़ा द्वार से प्राणवायु का पूरक करता है पश्चात् यथाशक्ति कुंभक करके पिंगला के द्वारा रेचक करता है फिर पिंगला से पूरक करके यथाशक्ति कुंभक करता है, तदनन्तर इड़ा द्वार से रेचक करता है। इस प्रकार प्राणायाम करने से चन्द्रमारूप इड़ा और सूर्यरूप पिंगला की ऐक्यता होने से सुषुम्णा की धारा बहती है उस सुषुम्णा के द्वारा योगी भ्रकुटी के मध्य ज्योतिलिङ्ग का सदा ध्यान तथा दर्शन करता है।

ब्रह्म-दर्शन के पहले योगी को कुछ वस्तुएँ देखने में आती हैं। कभी कुहरा, कभी धुआं और कभी कभी सूर्य, अग्नि, वायु, बिजली, खद्योत, स्फटिक, चन्द्र की तरह दृश्य देखने में आते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश-इन पञ्च-तत्त्वों के गुण योगी को प्रत्यक्ष होने लगते हैं, जिससे उसका शरीर योगाग्नि से निर्मल होकर रोग, जरा और दुःख से मुक्त हो जाता है। उस समय योगी का शरीर लघु, रोग रहित, सुन्दर वर्ण और सुगन्धयुक्त हो जाता है, ऐसा योगी निर्लोभ, सुन्दर-स्वर, स्वल्प मूत्र-पुरीष वाला होता है। यही योगी का प्रथम योग-लक्षण है। इस प्रकार श्रुतिओं में भी योग का वर्णन देखने में आता है। नादविन्दु, ध्यान-विन्दुयोग-उपनिषद्, कैवल्य-उपनिषद्, शाण्डिल्य-उपनिषद् आदि अनेक उपनिषदों में भी योग का वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य संहिता, सूत संहिता आदि आर्ष ग्रन्थों में भी योग का वर्णन मिलता है। मार्कण्डेय पुराण में भी प्रचुर वर्णन मिलता है। शिव-संहिता, ग्रहजामल, रुद्रजामल आदि तन्त्र ग्रन्थों में तथा गोरक्ष-संहिता, हठयोग प्रदीपिका आदि आधुनिक योगशास्त्रीय ग्रन्थों में भी योग-क्रियाओं का वर्णन देखने में आता है।

परन्तु इन सब ग्रन्थों के देखने पर भी इस योग विद्या की गुरु-मुख से जानने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि साधन - सम्बन्धिनी विद्या सिद्ध गुरु से ही प्राप्त हो सकती है। ग्रन्थों से उसका पूर्ण ज्ञान नहीं मिल सकता। इसलिये हठ-योग, लय-योग और राज-योग के क्रिया - सिद्धान्त का रहस्य श्रीमद् सद्गुरु से ही जानना चाहिये।

---

†शरीर के पृष्ठ देश में जो मेरु-दण्ड है, इसके भीतर मज्जा तन्तुओं की नाड़ी, स्पाइनल कौर्ड है, उसी के भीतर सुषुम्ना नामक नाड़ी है, जिसको राजपथ, ब्रह्मपथ इत्यादि नाम भी दिया गया है। उसी के मूल में आधार चक्र है, जिसमें सर्व प्रधान शक्ति कुण्डलिनी विराजती है। इस शक्ति के जाग्रत हुए बिना, योग में कुछ भी उन्नति नहीं होती है। यह शक्ति जाग्रत होकर क्रमशः सुषुम्ना पथ से आरोहन करते, करते, ब्रह्मरन्ध्र से होकर सहस्रदल पर पहुँचने पर निर्विकल्प समाधि होती है।

जीर्ण-भावयुक्त स्थूल-शरीर को हठ-योग के साधन द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल बनाया जाता है। स्थूल-शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम मात्र है इसलिये सुकौशल पूर्ण क्रियाओं के द्वारा स्थूल शरीर को वश में कर क्रमशः सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य-लाभ करके चित्त-वृत्ति का निरोध किया जा सकता है। जिन क्रियाओं से ऐसा किया जाता है उनका नाम हठ योग है। मन्त्रयोग में जिस प्रकार भाव पूर्ण स्थल ध्यान की विधि है वैसे ही हठ-योग में ज्योति-कल्पना रूप ज्योतिध्यान की विधि है। मन्त्र-योग समाधि में नाम-रूपों की सहायता से समाधि लाभ करने की साधन-प्रणाली प्रचलित है। हठ-योग में वायु निरोध द्वारा मन का निरोध करके समाधि लाभ करने की विधि है। मन्त्र योग की समाधि को महाभाव समाधि कहते हैं और हठ-योग की समाधि को महाबोध समाधि कहा जाता है। हठ योग के सात अंग हैं: –

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसयामः
ध्यानसमाधिसप्तैवाङ्गानिस्युर्हठस्य योगस्य।

१. षट्कर्म, २. आसन, ३. मुद्रा, ४ प्रत्याहार, ५. प्राणायाम, ६. ध्यान, और ७. समाधि हठ-योग के यही सात अंग हैं। षट्कर्मों से शरीर-शोधन, आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से लाघव, ध्यान से आत्मा का प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता या मुक्ति होती है। इन सब मानसिक, आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त हठयोग के प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गों के साधन से शारीरिक स्वास्थ्य-विषयक भी बहुत लाभ होता है। जो योगिराज गुरुदेव से जानने योग्य है।

हठ-योग का पहला अङ्ग—'षट्कर्म'

धौतिर्वस्तिस्तथा नेति लौलिकीत्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति षट्कर्म के यह छः साधन हैं।

(१) साधन—धौति

धौति के चार भेद हैं। यथा—१. अन्तर्धौति, २. दन्त धौति, ३. हृद्धौति और ४. मूलशोधन इन चार प्रकार की धौति के द्वारा शरीर निर्मल करना चाहिये।

(१) अन्तर्धौति—अन्तर्धौति में भी चार भेद हैं। यथा १. वातसार, २. वारिसार, ३. वह्निसार और ४. बहिष्कृतसार ये चार प्रकार की अन्तर्धौति हैं, जिनसे शरीर निर्मल होता है।

१ वातसार—वातसार का लक्षण यह है कि, ओठों को काक चञ्चु की भाँति बनाकर धीरे धीरे वायु पान करके उस वायु को उदर के भीतर चाहित करे और पीछे मुख से धीरे २ उसका रेचन करे, यह क्रिया अग्नि-वर्धक और सर्व-रोग क्षयकारक है।

२. वारिसार—वारिसार का लक्षण यह है कि, वस्त्र से जल को छान कर वह जल धीरे धीरे कंठ-पर्यन्त पी लेवे, फिर उस जल को गुदा-मार्ग से निकाल देवे। इस क्रिया से देह निर्मल होती

है। और देववत् देह की प्राप्ति होती है।

३. अग्निसार—अग्निसार का लक्षण है, नाभि-ग्रन्थि को खींच कर सौ बार मेरुदण्ड के साथ मिलाया जाय, इससे योगियों को योग सिद्धि प्रद अग्निसार क्रिया होती है।

४. बहिष्कृत धौति का लक्षण यह है कि, काकी मुद्रा के द्वारा उदर में वायु भर कर आधे पहर तक उस वायु को उदर में धारण करे, पश्चात् गुदा-मार्ग से उसे रेचन कर देवे।

(२) दन्त धौति—अन्तर्धौति के चार भेदों की भाँति दन्त धौति के भी पाँच भेद हैं। यथा-१. दन्तमूल, २. जिह्वामूल, ३. और ४. दोनों कर्ण-रन्ध्रमूल, और ५. कपालरन्ध्र, इन पाँच स्थान के शोधन से दन्त-धौति क्रिया होती है।

(३) हृद्धौति हृद्धौति तीन प्रकार की है। यथा—१. दण्डधौति, २. वमन धौति और ३. वासधौति।

(१) दण्डधौति—रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड, वेत्रदण्ड को हृदय में चालित करके धीरे धीरे निकाल लेने से दण्डधौति होती है।

२. वमनधौति—वमनधौति का लक्षण यह है कि बुद्धिमान् साधक भोजन के अन्त में आकण्ठ जल पीकर क्षण भर उर्ध्व दृष्टि रख कर उस जल को मुख से निकाल देवे। इससे कफ और पित्त का नाश होता है।

३. वासधौति—वासधौति का लक्षण यह है, कि चार अंगुल चौड़ा सूक्ष्म वस्त्र धीरे २ ग्रास करके पुनः उसे बाहर निकाल देवे। इससे गुल्म, ज्वर, कफ पित्त, लीहा, कुष्ट आदि का नाश होता है।

(४) मूल शोधन—मूलशोधन का लक्षण यह है, हरिद्रार-मूल-दण्ड और बीच की अंगुली से गुह्यस्थान को बार बार प्रक्षालित करना। इससे कोष्ठ बद्धता व आमका अजीर्ण नष्ट होता है। कान्ति, पुष्टि और जठराग्नि की वृद्धि होती है।

२. साधन वस्ति

वस्ति दो प्रकार की है। यथा—(१) जल वस्ति और (२) शुष्क वस्ति। इनमें जल वस्ति का साधन जल में और शुष्क वस्ति का साधन स्थल में हुआ करता है।

१. जल वस्ति—नाभि पर्यन्त जल में अवस्थित होकर उत्कटासन द्वारा गुह्य-देश के आकुंचन और प्रसारण द्वारा नलों की सहायता से जल वस्ति का साधन होता है।

२. शुष्क वस्ति—इसी भांति थल पर शुष्क वस्ति हुआ करती है। इससे प्रमेह, उदावर्त, क्रूर वायु का नाश होकर कामदेव के समान सुन्दर शरीर होता है।

---

३. साधन नेति

आधा हाथ परिमाण सूक्ष्म सूत को, जो अनुभवी पुरुषों द्वारा बनाया जाता है, नासिका में प्रवेश करा कर पीछे मुख से निकाल लेने से नेति का साधन होता है। इससे कफ दोष का नाश और दिव्य-नेत्र शक्ति प्राप्त होती है।

४. साधन नौलि

प्रथम उत्कटासन में स्थित होकर वायु के रेचन द्वारा पेट को पीठ से मिला कर प्रबल वेग से पेट को दोनों पार्श्वों में घुमाने से नल उखड़ कर घूमने लगते हैं जिससे नौलि की क्रिया सिद्ध होती है। इस क्रिया के होने से ही वस्ति सिद्ध हो सकती है।

५. साधन त्राटक

किसी सूक्ष्म वस्तु पर दृष्टि रख कर जब तक दोनों नेत्रों से अश्रुपात न होने लगे; तब तक निमेष-उन्मेष त्याग कर दृष्टि स्थिर रखना। इसी का नाम त्राटक है। इस मुद्रा के अभ्यासी को शाम्भवी मुद्रा में सहायता मिलती है और नेत्र रोग नाश होता है।

६. साधन कपाल भांति

कपाल भाति तीन प्रकार की होती है। यथा—(१) वात क्रम, (२) व्युत्क्रम और (३) शीतक्रम।

१. **वातक्रम**—वातक्रम कपालभाति का लक्षण यह है कि वाम नासिका द्वारा वायु पूरक करके दक्षिण नासिका द्वारा उसका रेचन किया जाय और इसी तरह दक्षिण नासिका द्वारा पूरक करके वाम नासिका से वायु रेचक किया जाय। यह वातक्रम कपाल भाति का साधन है। इसमें पूरक रेचन बलपूर्वक नहीं करना चाहिये। धीरे धीरे करना चाहिये। इससे कफ दोष नाश होता है

२. **व्युत्क्रम**—व्युत्क्रम कपाल भाति का लक्षण यह है कि दोनों नासिका छिद्रों से जल खींच कर मुख से निकाल दिया जाय फिर मुख से ग्रहण करके नासिका से निकाल दिया जाय ऐसा करने से व्युत्क्रम कपाल भाति का साधन होता है।

३. **शीतक्रम**—शीतक्रम कपाल भाति का लक्षण यह है कि मुख द्वारा शीत्कारपूर्वक वायु ग्रहण करके नासिका द्वारा निकाल देने से शीतक्रम कपाल भाति का साधन होता है। इससे सौन्दर्य-वृद्धि, देह-स्वच्छन्द, कफ-नाश और जरा नाश होता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर पर आधिपत्य जमा कर सूक्ष्म शरीर की सहायता से चित्तवृति निरोध करने की सुकौशलपूर्ण क्रियाओं का नाम ही हठ-योग है। अतःएव स्थूल शरीर को शुद्ध करने की जो क्रियाएँ हैं वे ही हठ-योग में प्रथम स्थानीय होती हैं। इसीलिये हठ-योग में षट्कर्म को सबसे पहले स्थान दिया गया है।

हठ-योग का द्वितीय अङ्ग—'आसन'

आसनों के अभ्यास से शरीर योगोपयुक्त और मन स्थिर हो जाता है। जगत् में जितनी जीव-योनियां है, उतने ही आसन हैं। श्री महादेवजी ने पुराकाल में चौरासी लक्ष योनियों का वर्णन किया था। उनमें से चौरासी आसन विशेष हैं। इनमें से भी इस मृत्युलोक में तैंतीस आसन मंगलजनक हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं:—

सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्ध-पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन वीरासन, धनुरासन, मृतासन, सुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तान कूर्मासन, उत्तान मण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुड़ासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन, और योगासन ये तैंतीस सिद्धिदायक आसन हैं।

आसन कैसे देश में करने चाहिये, इस विषय में योग-शास्त्र का उपदेश है कि सुराज्य, सुधार्मिक, सुभिक्ष और उपद्रव रहित देश में शिला, अग्नि और जल से अलग रह कर एकान्त स्थान में छोटी सी कुटिया बना कर उसके बीच में बैठ कर योग साधन करना चाहिये।

साधन-गृह का द्वार छोटा होना चाहिये, उसमें कोई गड्ढा नहीं होना चाहिये। बहुत ऊंचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये। वहां मकड़ी का जाला इत्यादि नहीं होना चाहिये। स्थान गोबर से लिपा हुआ कीड़ों से रहित होना चाहिये। इस प्रकार के स्थान में चित्त को अन्य चिन्ताओं से रहित करके सद्-गुरुदेव के उपदेशानुसार आसन बांध कर साधन करना चाहिये।

अभ्यासार्थ विशेष विशेष कुछ आसनों की विधि यहां लिखी जाती है, जिनकी हठयोगाभ्यासी को विशेष आवश्यकता है।

सिद्धासन—जितेन्द्रिय साधक बांयी ऐड़ी से गुदा को और दाहिनी ऐड़ी द्वारा लिङ्ग मूल को दबा कर मेरु दण्ड को सीधा करके सुख से बैठे, तब वह सिद्धासन होता है। यह आसन सर्वोत्तम है।

पद्मासन—क्लेश रहित होकर बैठते हुए दहिना पैर बांये उरू के ऊपर और बांया पैर दहिने उरू के ऊपर रख कर जो सुगम आसन होता है वह पद्मासन कहा जाता है।

स्वस्तिकासन—दोनों जानु और उरू के बीच में दोनों चरणतल रख ऋजुकाय होकर बैठने का नाम स्वस्तिकासन है।

बद्ध पद्मासन—दहिना पैर बांये उरू के ऊपर और बांया पैर दहिने उरू के ऊपर स्थापन करके दोनों हाथों को पीठ में घुमा कर चरणों के अंगूठे पकड़ कर और चिबुक (ठोढ़ी) को वक्षःस्थल पर स्थापन करके नासिका के अग्रभाग को देखते रहने से बद्ध पद्मासन हुआ करता है।

भद्रासनः—दोनों गुल्फ (एडियां) वृषण के नीचे विपरीत भाव से स्थापन करके पीछे से दोनों हाथ घुमा कर अंगुठा धारण करके जालन्धर बन्ध करते हुये नासिका के अग्रभाग को देखने से भद्रासन हुआ करता है।

मुक्तासनः—वाम गुल्फ (एडी) गुदा मूल में रखकर उसके उपर दक्षिण गुल्फ स्थापित करके शरीर, मस्तक और ग्रीवा समभाव में रखने से मुक्तासन होता है।

पश्चिमोत्तान आसनः—दोनों पैरों को पृथ्वी पर दंडे की भांति सीधे फैला कर दोनों हाथों से यत्नपूर्वक दोनो चरणों को पकड़ कर जङ्घाओं के बीच में शिर रखने से पश्चिमोत्तान आसन होता है।

मयूरासनः—हथेली से पृथ्वी का आश्रय करके दोनों केहुनी के उपर नाभि के दोनों पार्श्व स्थापन करके दोनों पैरों को पीछे की ओर उठा कर दंडवत् हो शून्य में अवस्थित रहने से मयूरासन हुआ करता है। इस आसन के अभ्यास से अधिक भोजन भी पच जाता है। जठराग्नि बढती है। गुल्म-ज्वर आदि अनेक व्याधियाँ नाश होती हैं। इससे विष दोष तक भी नाश हो जाता है।

सात आवश्यक आसनों की विधि लिखी गयी है। विशेष जानने वालों को दूसरे प्रकार से जानना चाहिये।

हठ-योग का तृतीय अङ्ग—मुद्रा

जिन जिन क्रियाओं के द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी साधनाङ्गों की सिद्धि में सहायता प्राप्त होती है, ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओं को मुद्रा कहते हैं। मुद्राएँ पचीस हैं जिनके नाम ये हैं:—

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान मुद्रा, जालन्धर बन्ध मुद्रा, मूलबन्ध मुद्रा, महाबन्ध मुद्रा, महावेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीत करणी मुद्रा, योनि मुद्रा, बज्रोली मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, तडागी मुद्रा, माण्डूकी मुद्रा, शांभवी मुद्रा, पञ्चधारण मुद्रा, अश्विनी मुद्रा, पार्श्विनी मुद्रा, मातङ्गी मुद्रा और भुजङ्गिनी मुद्रा। इनके साधन से योगियों को योग सिद्धि प्राप्त होती है।

इनमें से साधकों के लिए विशेष विशेष आवश्यक कुछ मुद्राओं का यहां संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

महामुद्राः---वाम गुल्फ (एडी) को गुदा मूल में लगा कर और दक्षिण पैर को दंड की भांति फैला कर दोनों हाथों से पैर की अंगुलियों को पकड़ कर कुम्भक करके कंठ संकोच करते हुये भ्रू के मध्य भाग का दर्शन करे और तदन्तर धीरे २ वायु का रेचन करे। गुरुवाक्यानुसार जानु में मस्तक रख कर दक्षिण गुल्फ और वाम पाद के द्वारा-पहिले की तरह करे और तदनन्तर दोनों पैरों को दंडवत् फैलाकर ऐसा ही करे। इस प्रकार करने से महामुद्रा का साधन होगा। यह सर्वरोग नाशक और योग में सिद्धप्रद है।

उड्डीयान-बंध-मुद्रा—उदर को पश्चिमत्तान युक्त करके नाभि को आकुंचित करने से उड्डीयान-बंध होता है। यह बंध मृत्यु रूप मातङ्ग के लिए सिंह रूप है।

जालन्धर-बन्ध-मुद्राः—कण्ठ देश को संकुचित करके हृदय पर चिबुक (ठोडी) स्थापना करने से जालन्धर बन्ध होता है। इसके द्वारा सोलह प्रकार के बन्धों में सहायता मिलती है।

मूलबन्ध मुद्राः—वाम गुल्फ को गुह्य देश में और दक्षिण गुल्फ को लिङ्ग-मूल पर दृढ़ बन्ध के साथ रख कर नाभि ग्रन्थि को संकुचित करते हुए मेरुदंड में दबा कर गुह्य व लिङ्ग मूल को आकुञ्चन करने से मूल-बन्ध मुद्रा का साधन होता है। यह मुद्रा जरा-नाशिनी, वायुसिद्धिदायिनी तथा मुक्तिदात्री है।

महाबन्ध मुद्राः—वाम गुल्फ के द्वारा गुदामूल को निरुद्ध करके दक्षिण गुल्फ के द्वारा यत्नपूर्वक वाम गुल्फ को दबाकर जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणवायु को धारण करके धीरे धीरे गुह्य देश के संचालन और लिंगमूल को आकुञ्चित करने से महाबन्ध मुद्रा का साधन होता है। यह मुद्रा जरा-मरण नाशिनी और सर्वकाम प्रदा है।

खेचरी मुद्राः—जिह्वा के नीचे की नाड़ी छेदन करके जिह्वा की चालना करना चाहिये और नवनीत के द्वारा दोहन और लौह-पत्र के द्वारा आकर्षण करना चाहिये। इस प्रकार नित्य अभ्यास करने से जिह्वा लम्बी होजायगी और फिर दोनों भ्रुओं के बीच तक चली जायगी। उस समय जिह्वा को धीरे धीरे तालु के बीच में प्रवेश करा कर वहां पर कपाल कुहर में विपरीत भाव से स्थापन करके भ्रूमध्य में दृष्टि स्थापन करने से खेचरी मुद्रा का साधन होता है।

खेचरी मुद्रा के साधन के लिए जिह्वा को नियमित करना प्रथम और प्रधान कार्य है। आवश्यक होने पर बिना छेदन के भी हो सकता है। यह कार्य जिह्वा चालन रूप तालव्य क्रिया से भी हो सकता है। तालव्य क्रिया अति गुप्त और केवल योगीराज गुरुदेव के मुख से ही सीखने योग्य है। योगशास्त्र में खेचरी मुद्रा के अपूर्व फलों का वर्णन है। खेचरी साधन से मूर्छा, आलस्य, क्षुधा, तृषा, मृत्यु, भय आदि दूर होकर योगी को दिव्य देह की प्राप्ति होती है। इस मुद्रा के साधन करने वाले को अग्नि नहीं जला सकती, वायु शुष्क नहीं कर सकता जल गला नहीं सकता, सर्प दंशन नहीं कर सकता। इस मुद्रा से देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाता है। इसकी सिद्धि से समाधि सिद्धि हुआ करती है। कपाल और मुख के सम्मेलन से जिह्वा में अद्भुत रसों की उत्पत्ति होती है, जिसको खेचरी-साधक ही अनुभव कर सकते हैं। उनकी जिह्वा में यथा क्रम से लवण, क्षार तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, मधु, द्राक्षा, और अमृत रस का आस्वादन होता है, जिससे उनकी क्षुधा नाश और अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

विपरीत करणी मुद्रा—नाभि मूल में सूर्यनाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी विद्यमान् है। सहस्त्रदल-कमल से अमृत-धारा निकलती है, उसे नाभि स्थित सूर्यनाड़ी ग्रास कर लेती है। इसलिए जीव मृत्यु-मुख में पतित होता है। यदि सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा चन्द्र नाड़ी से वह अमृतपान किया जाय तो योगी को कदापि मृत्यु का भय नहीं हो सकता। इसलिए विपरीत करणी-मुद्रा के अभ्यास से योगी को उचित है कि सूर्यनाड़ी को ऊर्ध्व में और चन्द्रनाड़ी को अधोभाग में लावे। यह मुद्रा बहुत गुप्त है। मस्तक को पृथ्वी पर स्थापन करके, करद्वय का आधार करते हुए दोनों पैरों को ऊपर की ओर उठा कर कुम्भक द्वारा वायु-निरोध करने से विपरीत-मुद्रा होती है।

शक्तिचालिनी-मुद्रा—परम देवता कुलकुण्डलिनी-शक्ति साढ़े तीन फेरा लगाकर सर्पाकार हो, मूलाधार पद्म में स्थित है। वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है, तब तक कोटि कोटि योगि-क्रिया करने से भी जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह पशुवत् अज्ञानी ही रहता है। जिस प्रकार चाभी से ताला

खोलकर, द्वार खोला जाता है उसी भांति कुलकुण्डलिनी-शक्ति के जगाने से ब्रह्मद्वार अपने आप ही खुल जाता है। इस प्रकार जीव को ज्ञान की प्राप्ति होती है। वस्त्र से नाभि-देश को वेष्टन करके गोपनीय ग्रह में आसन पर स्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास करना उचित है, वितस्ति परिमित, चार अंगुल विस्तृत, सुकोमल, धवल, सूक्ष्म वस्त्र-द्वारा नाभि को वेष्टन करके उस वस्त्र को कटि सूत्र द्वारा सम्बद्ध किया जाय। तत्पश्चात् भस्म द्वारा समस्त शरीर लेपनपूर्वक सिद्धासन में बैठकर प्राणवायु को नासिका द्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपान-वायु के साथ संयोग किया जाय जब तक वायु सुषुम्नानाड़ी के भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तब तक आश्विनी-मुद्रा द्वारा गुह्य-देश को धीरे-धीरे आकुञ्चित करना उचित है। इस तरह श्वास-रोध करके कुम्भक द्वारा वायु निरोध करने से सर्पाकार कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर ऊपर की ओर चलने लगती है और सहस्त्रदल-कमल में पहुँच कर शिव-संयोगिनी हो जाती है। इस शक्ति-चालिनी मुद्रा में पूर्ण सिद्धि नहीं होती। इस कारण पहले इस मुद्रा का अभ्यास करके तदनन्तर योनि-मुद्रा का साधन करना योग्य है। जो योगीजन इस मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करते हैं। अष्ट सिद्धियां उनके करतलगत हो जाती हैं।

आश्विनी मुद्रा—गुह्यद्वार को पुनः पुनः आकुञ्चन और प्रसारण करने से अश्विनी-मुद्रा का साधन होता है। यह शक्ति-बोधन कारिणी मुद्रा है। इससे सर्व-रोग-नाश और बल पुष्टि होती है।

विशेष आवश्यक मुद्राओं का उल्लेख किया गया। बज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि अन्यान्य मुद्राओं का लक्षण केवल योगिराज सद्गुरु के मुख से ही जानना चाहिये। मुद्राओं के साधन से योगमार्ग में अग्रसर होनेवाले साधकों को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओं के अभ्यास से प्राणायाम की सिद्धि में, प्रत्याहार में, धारणा में, बिन्दु ध्यान में अनेक प्रकार की क्रियाओं में विलक्षण सहायता प्राप्त होती है।

हठ - योग का चतुर्थ अङ्ग प्रत्याहार

षट्कर्म, आसन और मुद्रा के साधनों में सिद्धि प्राप्त करके गुरु-आज्ञानुसार साधक को प्रत्याहार का साधन करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही प्रकृति-जय और कामादि शत्रुओं का नाश हो जायगा। जहां जहां पर दृष्टि जाती है, वहां-वहां मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा वहाँ मन हटाकर आत्मा में वशीभूत करे। शीत हो या उष्ण, मन स्पर्श-योग से विषय में सम्बद्ध हो जाता है। इसलिये मन को विषय से हटाकर आत्मा में संयत करे। सुगंध हो अथवा दुर्गंध, मन घ्राणेन्द्रिय के योग से उस विषय में बद्ध होता है, इसलिये मन को विषय से हटाकर आत्मा में एकाग्र करे। मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त आदि रसों में रसनेन्द्रिय की सहायता से मन जाता रहता है, इसलिये वहां से मन को हटाकर आत्मा में स्थिर करे।

इस तरह जब योगी वहिर्जगत् की आसक्ति तोड़ कर अन्तर्जगत् में प्रवेश करने में समर्थ होने लगता है तभी प्रत्याहार की सिद्धि उत्पन्न होती है इसलिए प्रत्याहार के साधन से आध्यात्मिक धैर्य्य उत्पन्न होता है। और इसी समय से योगी को दैवी सिद्धियों के प्राप्त करने की सम्भावना रहती है।

योगियों को प्राप्त होने वाली सिद्धियां चार प्रकार की होती हैं-आध्यात्मिक-सिद्धि आधिदैव-सिद्धि

अधिभूत-सिद्धि और सहज-सिद्धि। स्थूल पदार्थों की प्राप्ति को आधिभौतिक-सिद्धि कहते हैं। दैवी शक्तियों की प्राप्ति अधिदैव-सिद्धि है। प्रज्ञा से युक्त सिद्धियाँ आध्यात्मिक हैं, यह अधिकार बहुत ऊंचा है और जीवन्मुक्त महात्माओं को जगत्कल्याण-साधन के लिये जो सिद्धियां स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, उनका नाम सहज-सिद्धि है। प्रतिभा, श्रवण, वेदना, दर्शना, आस्वादा, और वार्ता ये सिद्धियों के भेद हैं। जिसे विचार द्वारा वेद्य वस्तु का ज्ञान हो, उसे बुद्धि कहते हैं, परन्तु प्रतिभा उस बुद्धि को कहते हैं कि जिसके द्वारा बिना विचार किये दर्शनमात्र से ही वेद्य वस्तु का परिज्ञान हो जाय। सूक्ष्म, व्यवहृत, अतीत, विप्रकृष्ट, और भविष्यद् वस्तु का ज्ञान प्रतिभा से होता है।

समस्त वस्तुओं के अनायास स्पर्श-ज्ञान का नाम वेदना है। अनायास दिव्यरूपों के दर्शनों का नाम दर्शन है। बिना प्रयत्नों के जब दिव्य-रसों का आस्वाद होने लगे तब उसे आस्वादा कहते हैं और जब दिव्य गन्धों का अनुभव योगी को होने लग जाय तब उसे वार्ता कहते हैं। इस अवस्था में योगी को सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है।

संयम के द्वारा समाधि विषयिणी बुद्धि का उदय होता है। संयम-शक्ति की वृद्धि द्वारा योगी, जो चाहे सो कर सकता है। कहां कहां संयम करने से कौन कौन सी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, यह बात योगिराज गुरुदेव से जानने योग्य है।

संयम-शक्ति समाधि - भूमि में प्राप्त होती है परन्तु अन्यान्य शक्तियां पहले की भूमि में भी हो सकती हैं। हठ योगियों में तपः प्रधान शक्ति की प्रधानता है, वह प्रत्याहार - भूमि में प्राप्त हो सकती है।

सिद्धियां सर्वथा निन्दनीय हैं। ऐसा ही योगानुशासन है। क्योंकि भौतिक जगत् की सोना-चांदी आदि स्थूल सम्पत्तियों की भांति सिद्धियां भी सूक्ष्म जगत् की सम्पत्ति-विशेष हैं। इनमें फंस जाने पर विषय-बद्ध जीवों की भांति सिद्धिरूप सूक्ष्म-विषय-बद्धयोगी भी परमात्मा के राज्य में अग्रसर नहीं हो सकते। उनकी समस्त उन्नतियों का पथ रुक जाता है और उनके पतन की सम्भावना हो जाती है। इसलिये पतञ्जलि जी ने कहा है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

हठ-योग का पञ्चम अङ्ग प्राणायाम।

प्राण ही महाशक्ति है, प्राण ही जगत् के रक्षक हैं, प्राण के वशीभूत करने से सब कुछ जय हो जाता है। स्थूल-सूक्ष्म-भेद से प्राण के दो भेद हैं। प्राण जप करने वाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। मन्त्र योग में प्राण-जप क्रिया धारणा प्रधान है, लययोग में सूक्ष्म प्राणजप क्रिया मनः प्रधान है। वायु प्रधान प्राणजय क्रिया ही सर्व हितकर है।

अब प्राणायाम वर्णन किया जाता है—

प्रणायाम—साधन के लिये चार बातों की आवश्यकता है। प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित

समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ी-शुद्धि ।

हठ-योग में प्राणायाम आठ प्रकार के बतलाये गये हैं । उनमें विशेष आवश्यक विधियों का यहां वर्णन किया जाता है ।

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्ट कुम्भकाः ॥

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली, ये आठ प्राणायाम हैं ।

१—सहित प्राणायाम दो प्रकार का होता होता है, एक सगर्भ, दूसरा निगर्भ । जो प्राणायाम बीज-मन्त्रसहित किया जाय वह सगर्भ और जो बिना बीजमंत्र के किया जाय वह निगर्भ कहलाता है । सगर्भ प्राणायाम की विधि यह है कि पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके सुख कर आसन पर बैठ कर ब्रह्मा का ध्यान करे, वह रक्तवर्ण अकाररूपी रजोरूप है । तत्पश्चात् 'अ' इस बीज-मंत्र को षोड़स बार जप करते हुए वाम नासिका से वायु पूरक करे, कुम्भक करने के पहिले और पूरक करने के पीछे उड्डीयान् बन्ध-मुद्रा का आचरण करना उचित है । तदनन्तर सत्त्वगुण उकाररूपी कृष्णवर्ण विष्णु के 'उ' बीज को चौंसठ बार जप करते हुए कुम्भकद्वारा वायु को धारण करना उचित है । तत्पश्चात् तमोगुण मकाररूपी श्वेतवर्ण शिव के ध्यानपूर्वक 'मं' बीज को बत्तीस बार जप करते हुए दक्षिण – नासिक द्वारा वायु रेचन किया जाय । फिर ऊपर लिखी हुई रीति से बीज-मंत्र के जप द्वारा पुनः दक्षिण-नासिका से पूरक करके कुम्भक करके वाम-नासिका से रेचन किया जाय । इस प्रकार तीन आवृत्ति में एक प्राणायाम होता है । इसी रीति पर अनुलोम-विलोम द्वारा पुनः पुनः प्राणायाम करना चाहिए ।

जो प्राणायाम बीज मन्त्र का जप किये बिना किया जाता है वह निगर्भ है । पूरक, कुम्भक, रेचक इन तीनों अङ्गों से समन्वित सहित प्राणायाम का क्रम एक संख्या से लेकर सौ संख्या पर्यन्त किया जा सकता है । ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़े, त्यों-ही-त्यों संख्या बढ़ानी चाहिये ।

मात्रा के अनुसार प्राणायाम—साधन के तीन भेद हैं । बीस मात्रा साधन, सोलह मात्रा साधन और बारह मात्रा साधन । क्रम से उत्तम, मध्यम और अधम हैं । अधम-मात्रा की सिद्धि में शरीर में पसीना होता, मध्यम-मात्रा की सिद्धि में मेरुदण्ड-कम्पन और उत्तम-मात्रा में भूमि त्याग कर शून्य मार्ग में उत्थान होता है ।

प्राणायामः— साधन से खेचरत्व-प्राप्ति, आकाश में उत्थान, सब रोगों का नाश, शक्ति-बोधन, मनोन्मनी और चित्त में परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

२—सूर्यभेदन—नासारन्ध्र के दाहिने छिद्र से वायु को खैंच कर यथाशक्ति कुम्भक करे । फिर

छिद्र से वायु को शनै शनैः निकाल दे। इस सूर्यभेदन प्राणायाम में जब जब पूरक किया जायगा तब तब दाहिनी नाड़ी से ही किया जायगा और रेचक वाम से, यह इसका क्रम है। परन्तु धीरे धीरे वायु की वृद्धि करे कारण कि शीघ्रता करने से रोगोत्पत्ति होती है, इस प्रकार का प्राणायाम मस्तक के समस्त रोग और अस्सी प्रकार के वायु रोगों को नाश करता है उदर में जो कृमि पड़ गये हों उनको नष्ट करता है।

३—उज्जायी—मुंह बंद करके इड़ा पिंगला नाड़ी से शनैः २ इस प्रकार पवन का आकर्षण करे जिस प्रकार वह पवन कंठ से हृदय पर्यन्त शब्द करता हुआ लगे। पुनः सूर्य भेदन के समान कुम्भक करके वाम नाड़ी से रेचक धीरे २ करे। इस प्रकार के प्राणायाम में कंठ से वायु खींचना वाम से छोड़ना—बारम्बार का यही क्रम है परन्तु मुख से वायु कभी भी न छोड़े, मुख से रेचक नहीं होता। इस प्राणायाम से कण्ठ के कफ दोष नष्ट होते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर के धातु रोग सब नष्ट हो जाते हैं।

४--शीतली—ओठ के बाहर जिह्वा को निकाल कर पक्षी के चोंच सदृश करके धीरे २ वायु को आकर्षण करे, पूर्ववत् सदृश कुम्भक करके दोनों नासिका के छिद्रों से धीरे २ रेचक करे परन्तु दोनों नासिका के छिद्रों से वायु बराबर निकलै। इस प्राणायाम के करने से गुल्म, प्लीहा आदि रोग ज्वर, पित्त; क्षुधा, तृषा और सर्प का विष इन सबों को शीतली प्राणायाम नष्ट करता है। गर्म प्रकृति वाले को अत्यन्त उपयोगी है। विशेष अभ्यास करने से बिगड़ा हुआ रक्त शुद्ध हो जाता है।

कौवे की चोंच की भांति जीभ निकाल कर कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ दोनों संध्याओं (प्रातः सायं) में जो वायु पान करता है उसका क्षयरोग नाश हो जाता है। दूर का शब्द सुनाई देता है, दूर की वस्तु देख पड़ती है और सूक्ष्म दर्शन होता है।

५--भस्त्रिका—सुख पूर्वक पद्मासन लगा कर जिसमें ग्रीवा उदर बराबर हों, बुद्धिमान् पुरुष मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा पूरक रेचक को करे, पूरक रेचक इस प्रकार के वेग से शब्द सहित करे कि हृदय, कण्ठ, कपाल (ललाट-मस्तक-शिर) पर्यन्त लगे और हृदय के कमल पर्यन्त वायु का पूरक बारंबार करे। इसी प्रकार वायु को बारंबार वेग से पूरक रेचक करे जैसे लोहकार भस्त्रा (धोंकनी) को चलाता है तैसे पवन को शरीर में बुद्धि से चलावे। जब शरीर में श्रम (थकावट) हो तब सूर्य नाड़ी से पूरक करे, विधि पूर्वक कुम्भक करके वाम नाड़ी से रेचक कर पुनः वाम से पूरक, दक्षिण से रेचक करे। इसका क्रम मतान्तर से ऐसा भी है कि एक ही नासिका के छिद्र से पूरक रेचक दोनों बलपूर्वक शब्द से करे, अन्त में इसी छिद्र से पूरक कर यथेष्ट कुम्भक करके दूसरे छिद्र से रेचक करे, पुनः दूसरे छिद्र से पूरक रेचक तदनुसार करके पूरक कुम्भक रेचक करे।

दूसरा प्रकार।

एक छिद्र से पूरक करता जावे दूसरे छिद्र से रेचक, श्रम हो जाने पर पूरक, कुम्भक, रेचक तदनुसार लोम विलोम करे। इस भस्त्रिका के करने से वात, पित्त और कफ का नाश होता है, जठराग्नि की वृद्धि होती है अर्थात् क्षुधा लगती है और सर्वोपरि गुण इसमें यह है कि कुण्डलिनी जो योग की जड़

(मूल) है वह जाग्रत होती है, सुषुम्ना नाड़ी जो कफ से ढकी हुई है शुद्ध हो जाती है अर्थात् जो प्राणायाम का करने वाला भस्त्रा का अभ्यास करेगा उसको अवश्य प्राणायाम सिद्ध होगा।

श्रेष्ठ प्राणायाम चन्द्र सूर्य नाड़ी का लोम विलोम ही है; इस लोम विलोम प्राणायाम के करने से जन्म जन्मान्तर के कल्मष नाश हो जाते हैं।

६—भ्रामरी—अर्धरात्रि बीत जाने के अनन्तर जीव-जन्तुओं के शब्द से वर्जित स्थान पर योगी हाथ से कानों को बन्द कर पूरक और कुम्भक का अनुष्ठान करे। इस प्रकार कुंभक के द्वारा साधक के दक्षिण कर्ण में शरीर के भीतर से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झिल्ली-रव तदन्तर वंशी-रव, तदन्तर क्रमशः मेघ ध्वनि और भ्रमर-गुनगुन-ध्वनि सुनाई देती है। पश्चात् घण्टा, कांस्य, तुरी, भेरी, मृदङ्ग, आनक और दुंदुभि आदि शब्द श्रुति गोचर होते हैं। इस प्रकार अभ्यास करने से निश्चय ही नानाविध शब्द सुनाई देते हैं और पीछे से अनाहत शब्द की प्रतिध्वनि सुनने में आती है। तत्पश्चात् साधक ध्वनि के अन्तर्गत् ज्योति और ज्योति के अन्तर्गत परब्रह्म में मन को लय करता हुआ परमपद में लीन कर देता है। इस तरह भ्रामरी सिद्धि द्वारा समाधि लाभ होता है।

७—मूर्च्छा—पद्मासन लगा कर जालन्धरबंध (जिसमें कण्ठ संकुचित करके दृष्टि को भवरों के बीच में लगादी जाती है कायम रक्खे। पीछे दोनों हाथों के दोनों अंगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आंखों में, दोनों मध्यमा दोनों नासा छिद्रों में और दोनों अनामिका तथा कनिष्ठिका मुंह पर लगावे। फिर चन्द्रनाड़ी से पूरक करके यथा-शक्ति कुम्भक करे। और जालंधर बंध रहते हुए ही सूर्यनाड़ी से रेचक करे। इस प्राणायाम से चित्त की एकाग्रता बढ़ती है और समाधि का अभ्यास होता है।

८—केवली—भुजङ्गिनी के श्वांस से अर्थात् कुंडलिनी-शक्ति के प्रभाव से जीव सदा अजपा जप करता है। जिसमें श्वांस निकलते समय 'हं' और प्रवेश करते समय 'सः' मंत्र उच्चारण होकर अजपा जप होता है 'हंसः' अर्थात् 'सोऽहं' नामक अजपा गायत्री का जप जीव दिन रात में २१६०० बार करता रहता है। मूलाधार पद्म, हृदयपद्म, और नासापुटद्वय द्वारा यह जप हुआ करता है। यह कर्मायतन शरीर ९६ अंगुल परिमित है। देह से वहिर्गत वायु की स्वाभाविक गति १२ अंगुल है। गायन में १६ अंगुल, भोजन में २० अंगुल, रास्ता चलने में २४ अंगुल, निद्रा में ३० अंगुल और मैथुन में ३६ अंगुल श्वांस की गति होती है, व्यायाम में इससे भी अधिक होती है।

इस स्वाभाविक गति के ह्रास होने से आयु की वृद्धि और स्वाभाविक गति बढ़ जाने से आयु का ह्रास होता है। जब तक शरीर के भीतर प्राण स्थिर रहता है तब तक मृत्यु नहीं होती। जीव देह धारण करके जब तक जीवित रहता है तब तक परिमित संख्या के अनुसार अजपा जप करता रहता है। देह में प्राणवायु का धारण करना ही केवल-कुम्भक है। केवली-कुंभक-साधन जितना अधिक होता है उतना ही मन की लयावस्था हुआ करती है। नासापुट द्वारा वायु आकर्षणपूर्वक केवली-कुम्भक किया जाता है। केवली की क्रिया सहज कहाती है क्योंकि उसमें पूरक रेचक का कोई क्रम नहीं है। और न कुम्भक की कठिनता है। प्राण पर कुछ आधिपत्य हो जाने से श्रीगुरु-उपदेश द्वारा इसकी क्रिया प्राप्त होती है। प्रथम व्यवस्था

में प्राणवायु को नियमित करके प्राण की क्रिया संयमित करनी पड़ती है और इसकी उन्नत अवस्था में स्वतः ही इसका साधन होता है। इन्द्रिय-विषयों से मन को हटाकर भ्रू-युगल के बीच में मन को स्थापन करके अपान और प्राण दोनों की गति रुद्ध करने से केवली-प्राणायाम की क्रिया होती है, केवली प्राणायाम समाधि प्रद और त्रितापनाशक है) इसकी सिद्धि में योगी को कुछ भी प्रभाव नहीं रहता।

हठ-योग में प्राणायाम को सर्वोत्कृष्ठ साधन माना गया है, प्राणायाम-सिद्धि द्वारा प्राण जय होकर मनोवृत्ति का निग्रह शीघ्र हो जाता है।

हठ योग का षष्ठ अङ्ग ध्यान।

मन्त्र योगोक्त स्थूल ध्यान के भेद पञ्चोपासना के अनुसार अनेक हैं। किन्तु हठ-योग के ज्योतिध्यान की शैली एक ही है, केवल ध्यान-स्थान, साधक के अधिकार भेद से तीन हैं। दीपकलिकावत् तेजोमय ब्रह्मध्यान को ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। वह प्रकृति ध्यान भी है और ब्रह्मध्यान भी है क्योंकि मैं मेरा के सदृश ब्रह्म और महति में अभेद है। ब्रह्म के तेजोमय रूप-कल्पना द्वारा ज्योतिर्ध्यान की विधि गुरु देव से प्राप्त करने योग्य है। नाभि, हृदय और भ्रू-युगल ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यान के लिये निर्दिष्ट हैं। ज्योतिर्ध्यान की सिद्धावस्था में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।

हठ योग का सप्तम अङ्ग समाधि।

हठ-योग की समाधि को महा बोध कहते हैं। प्राणायाम-सिद्धि के द्वारा वायु जय हो जाने पर कुम्भक करने की पूर्ण शक्ति प्राप्त होने से हठ-योग की समाधि की प्राप्ति होती है। प्राणायाम-ध्यान की सिद्धि के साथ ही समाधि दशा का उदय होता है। समाधि ही योग-साधन का परम फल है। शरीर से मन को पृथक् करके उसका जप करते हुए स्वरूपोलब्धि का नाम समाधि है। समाधि दशा में मन का जय हो जाता है और मैं ही अद्वितीय ब्रह्म सच्चिदानन्द नित्य मुक्त हूँ, ऐसा अनुभव होता है। यही हठ-योग की समाधि और अन्तिम साधन है। श्री गुरुदेव की आज्ञानुसार इसे जान कर साधन करने से साधक समाधि-सिद्धि लाभ करके दुस्तर भव-सिन्धु को पार कर जाते हैं।

इति हठयोग सारांश समाप्त।

नोटः—हठ योग के वृत्तान्त मात्र को पढ़कर ही किसी को इसके अभ्यास में नहीं लग जाना चाहिये। परन्तु यह साधन सद्गुरु से जानकर गुरुदेव की सन्निधि में ही करना उचित है। उपयुक्त सद्गुरु को खोज कर उनकी आज्ञानुसार ही इसमें लगना चाहिये।

हठ–योग साधक के लिये २४ नियम।

[१]–अधिकारी—योग साधन का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जिसमें शरीर की अनुकूलता अर्थात् सर्वांग की संपूर्णता, मन की दृढ़ता अर्थात् अविचलित चित्तता, और बुद्धि की निर्मलता पाई जावे। उनमें भी सर्वोत्तम अधिकारी वह ही हो सकेगा जो निःसंकोच रूप से योग-साधन के लिये आत्म-समर्पण कर सकता है।

(२)—जो साधक अपने को प्रथम नियम के अनुसार अधिकारी परीक्षा में उत्तीर्ण जान लेवे तभी उसे योग साधन में प्रवृत्त होना चाहिये।

(३)—नित्य स्नान आदि शौचावलम्बन पूर्वक पवित्र वस्त्र परिधान और आसन के लिये कम्बल का व्यवहार रखना होगा।

(४)—अहिंसा, सत्य और अस्तेय धर्मप्रतिपालन अर्थात् काय मनो वाक् [शरीर, मन, वाणी] द्वारा कभी किसी प्रकार के हिंसा, मिथ्या व चौर्याचरण नहीं करना होगा।

(५)—खान, पान व्यवहार के आदि अन्त में श्वासोच्छ्वास द्वारा एक बार 'ओ३म्' का मानसिक जप कर लेने का अभ्यास रखना होगा।

(६)—दिन में केवल एक बार और रात्रि में केवल १ बार भोजन करना होगा।

(७)—स्त्री पुत्रादि एवं परिजन के लिये अपने को केवल प्रबन्धकर्त्ता समझना होगा।

(८)—अपरिग्रही होकर अर्थात् केवल मात्र आवश्यकीय द्रव्यादि का संग्रह रखना होगा।

(९)—परमात्मा में भक्ति और सांसारिक भोगों में वैराग्य रखना होगा।

(१०)—आलस्य और संशय को दूर भगाना होगा, अधिकंतु साधन के अतिरिक्त अन्य कर्म वा अन्यों से संभाषण, अन्य स्थानों में परिभ्रमण में गौणरूप से केवल निर्वाहमात्र व्यवहार में लाना होगा।

(११)—साधक को कर्मयोगी होने के निमित्त प्रत्येक साधन कार्य निष्फल करना होगा।

(१२)—साधक अपने आपको सदैव अ—दीन समझे।

(१३)—साधक प्रतिदिन निद्रा आने के समय की अवस्था का विचार करता रहे।

(१४)—साधक मृत्यु को ऐसा ही समझे जैसे पुराने कपड़े उतार कर नये पहिनना होता है।

(१५)—साधक सदैव नाक से श्वांस लेने का निश्चय रखे।

(१६)—गृहस्थी में होते हुए भी साधन काल तक ब्रह्मचर्य रखना आवश्यक होगा।

(१७)—प्रातः निद्रा से मुक्त होने के पश्चात् बिस्तरे पर ही सर्वांगासन और सायंकाल शीर्षासन १५ मिनट तक करना स्वास्थ्य के लिये हितकर होगा।

(१८)—साधक को मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर बंध अर्थात् गुदा, पेट और कंठ का संकोचन करने का अभ्यास सदैव रखना होगा।

(१९)—साधक को नित्य रात्रि-समय निद्रा से पूर्व शिथिल होने का अभ्यास शवासन की भांति करना होगा।

(२०)—समय विभाग के अनुसार साधक को रात्रि दिवस का प्रत्येक कार्य सम्पादन करना चाहिये। यथा:—

२४ घंटे का समय चक्र।

४ बजे प्रातः से १० बजे दिन तक—शौच, स्नान, सन्ध्या, स्वाध्याय, यौगिक-व्यायाम, भोजन ३२ ग्रास, तक। १० बजे दिन से सायंकाल तक जीविका निमित्त करने योग्य कार्य। ४ बजे सांय से १० बजे रात्रि तक—उपयुक्त समय निकाल कर योग साधन में प्रवृत्त होना। भोजन १६ ग्रास तक करना। १० बजे रात्रि से ४ बजे प्रातःकाल तक शयन।

(२१)—साधक अपने आपको सदैव प्रकृति से प्रथक् समझने का ज्ञान दृढ़ चित्त से (अटल) अपने मन में धारण करें।

(२२) साधक को एकान्त कुटिया में योग साधन का प्रबन्ध करना चाहिये जहां किसी भी अवस्था में कोई न आ सके।

(२३)—साधक को सदैव चमकीले पदार्थ में कभी नहीं फँसना चाहिये।

(२४)—साधक अपने मन में (दृढ़, अटल) विश्वास रखे कि परमात्मा में मैं हूँ महान् परमेश्वर में मैं अल्प हूं।

यहां तक तो हुआ हठयोग का संक्षेप से विवरण। अब हम 'सर्वशिरोमणि सिद्धान्तसार' (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) के अनुसार श्री १०८ अनाम महाराज (अजवर) के प्रवचन, पाखंडी गुरु और उनके लक्षण व मुद्रा वाले योगिओं की व्याख्या व उनके बनावटी तप का वर्णन व मुख्य मूल तपों का मुख्य तप वर्णन और षट् कर्मों के विचार उद्धृत करते हैं। पाठक अपने अधिकार के अनुसार स्वयं अथवा सद्गुरु द्वारा सहजाभ्यास का निश्चय कर लें। क्योंकि षट् कर्म यद्यपि शरीर की शुद्धि के लिये अत्योपयोगी हैं तो भी जिनका अन्तःकरण यम नियम के अभ्यास द्वारा शुद्ध है और शरीर भी युक्ताहार विहार द्वारा स्वस्थ है, उनको फिर षट् कर्म से क्या प्रयोजन है। अर्थात् कुछ भी नहीं। वे तो हठयोग के दूसरे अङ्ग अर्थात् आसनादि का अभ्यास कर सकते हैं।

पाखण्डी गुरू और उनके लक्षण

[सर्व शिरोमणि सिद्धान्तसार से]

जगत् में दो प्रकार की सब रहस्य वस्तु होती हैं। एक वास्तविक, दूसरी बनावटी और सृष्टि भी दो प्रकार की है। आसुरी, दैवी। जब धर्म का उदय हुआ चाहता है तब पहिले धर्म त्याग आता है। जैसे रामचन्द्र से पहिले रावण, कृष्ण से कंस प्रकट भये। ऐसे ही जो झूंठे योगी समाधिस्थ बन रहे है, तिनके लक्षण सुनो—

साधु, सन्यासी, बैरागी, जोगी, जंगम, गुसाईं, परमहंस, उदासी, निरमले, गिरी, पुरी, भार्थी, सरस्वती, जती, महोंबन्धे, दिगम्बरी, फ़कीरादि अनेक भेषधारी, अनेक नाम धर २ के झुंडन के झुंड फिरते हैं सो इनका क्या वैराग्य है। किसी के तो सब घरके मर जाते हैं, किसी को स्त्री मर जाती है, किसी का विवाह नहीं होता, कोई रोग से, कोई दरिद्रता के मारे, कोई को कमा कर नहीं खाया जाता। आलसी, कई सैलानी, बैरागीन के बहकाये उनके साथ हो लेते हैं। कई घर वालों से लड़ाई करके निकल जाते हैं। कई चटोकड़े, कई हिंसक, कई चोर, कई रोगी पेटार्थी, ऐसे अनेक प्रकार करके किशोर या तरुणवस्था में घर छोड़ देते हैं। और कोई शाही भेष को धारण कर लेते हैं। ऐसे मनमुखी मन की चंचलता से बहुत से फिरते हैं। कोई दो तीन, कोई अकेले इनकी क्या कथा कही जाय। कुम्भ के मेले में इनका हाल देखो। इस बनावटी समूह में कोई कोई सच्चे पहुंचवान भी हैं। वे दीनाऽवस्था में निर्पेक्ष छिपे रहते हैं। जो शरीर करके देखोगे तो पहुंचवान बनावटी एक से ही हैं। जैसे श्वेत कंकर और कपूर, परन्तु कंकर कंकर ही रहता है, कपूर निराकार होकर शून्य में समाता है और झूंठे मोती में बाहिर की दमक अधिक होती है, इस हेतु से जगत उनका बहुत आदर करता है। सच्चे में भीतर की है उनको कोई उत्तम संस्कारी ही जान सकता है। ऐसे साधु असाधु का भेद है जो जाने सोई जानैं। और इनमें कोई कोई सात्त्विक पुरुष भी हैं और पाखण्डी बहुत हैं। वे पूजन के निमित्त अनेक पाखण्ड दिखाते हैं।

अथ मुद्रा वाले जोगीन का व्याख्यान वर्णन।

जो मदिरा मांस खाने वाले हैं वे योगियों के भेष में शामिल होते हैं। सो कैसे योगी हैं, बहुत से जटा रखके राख रमाते हैं। सुलफ़ा गांजे का ऐब सीख कर औरों को सिखाते हैं। और वैराग्य को धारण करके मांस खाते हैं, ये बड़ा अनुचित कर्म करते हैं। और कान चिराके काठ, काच की मुद्रा पहिनते हैं। महादेव का स्वरूप बनाते हैं। परन्तु इनको यह मालूम नहीं है कि, महादेव योगी कौन सी मुद्रा पहिनते हैं। मुद्रा नाम योग-वृत्तियों का है। योगी अपनी योग-वृत्तियों में शरीररूप ब्रह्माण्ड में रमता है सो कर्णमुद्रा नाम कानों में योगयुक्ति से अनहद शब्द की घोर ध्वनि होती है। उसमें योगी अपनी श्रुति को लगा जगत् से उदास होके सिमट जाता है। उसको उन्मनी मुद्रा कहते हैं। कभी योगी योग युक्ति से भूमि का भ्रमण करता है। उसको भूचरी मुद्रा कहते हैं। कभी योगी महापुरुष अपने नेत्रों को बन्द करके भीतर से भ्रुव के बीच में जोड़ के चित्त को लय करता है उसको चाचरी मुद्रा कहते हैं। कभी योगी गगन जो खं ब्रह्म है उसमें बिचरता है उसको खेचरी मुद्रा कहते हैं। और कभी योगी महात्मा योगाभ्यास से अगम में शयन करता है उसको अगोचरी मुद्रा कहते हैं। योगी परम सन्तों की अनन्त मुद्रा हैं। उनमें ये पाँच मुख्य हैं। ऐसी मुद्रा महापुरुष योगी धारण करते हैं। ये असली मुद्रा हैं। कोई बिरले महापुरुष शिवस्वरूप धारण करते हैं। और जो कानों की त्वचा को चीर के कई महिना वृथा क्लेष का नरक भोग के काच काठ की मुद्रा नाम धरके पहिरते हैं सो बनावटी हैं।

महादेव स्वरूप योगी के जटा कहां हैं, सो सुनो। ये जो रोम २ में फैली हुई प्राणवायु हैं उसको प्राणायाम के अभ्यास से सुषुम्णा मार्ग होके उर्द्ध कर ब्रह्मरंध्र के पार सब वायु को समेट कर शिर में धारण करता है उसका नाम जटा हैं और अहन्ता ममता को धारण करने वाला जो अहंकार-

रूप बकरा है उसको महायोगी ज्ञानखड्ग से मार के प्रकाशरूप जो तुरीया ज्योति है। जिसको ये जोगी धारा कहते हैं वा महाशक्ति को बलिदान चढ़ाता है। बलि जो अहंकार है उसका चढ़ाना क्या प्रकाश पर ठहराना उसी बलिदान का योगी मांस खाता है अर्थात् इस साधन में शरीर का मांस सूख जाता है, वह ही मांस खाना है। और तुरीया स्वरूप का जो आनन्द है उसके बोध में महा-पुरुष योगी मग्न रहता है, वह ही मदिरा पान है।

महापुरुष योगी धूनी अधर अखाड़े तप लोक में तपता है। 'धू' कहते हैं स्थिर को, 'नी' कहते हैं निरन्तर को, निरन्तर स्थिर रहना सोई धूनी है। इस धूनी में रज तम की मलिन कल्पना सोई काठ ब्रह्माग्नि में होमा जाता है। उसकी विभूति शान्त आनन्दरूपी सूक्ष्म-अंग में लिपटी रहती है। और ये जो बनावटी पँच धूनी तपते हैं, जोगी बैरागी बाहिर की अग्नि से शरीर की त्वचा जलाते हैं, इस कर्म करने से बहुत अपराधी होते हैं। और उस अपराध से इनका तामसी स्वभाव हो जाता है। लकड़ी जलाने में बे प्रयोजन बहुत से जीवों का नाश होता है। और चतुर्मास में तो महापाप के भागी हो जाते हैं। ऐसी धूनी तपने से विशेष कलंकी होते हैं और पाखंड, झूंठ, अहंकार के बल से अनेक कामना करके, इस शरीर को दुःख देते हैं। उसमें जीवात्मा परमात्मा का अंश दुःख पाता है। सो ये आसुररूप कर्म करते हैं। गीता में भगवान् ने कथन किया है:—

श्लोक

अशास्त्र विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भा हंकार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुर निश्चयान् ॥६॥ [गीता अ० १७]

(अर्थः—) दम्भाहंकार से युक्त, काम तथा आसक्ति के बल से बली जो अविवेकीगण देह के भूतों को तथा देह मध्यवर्त्ती मुझको कष्ट देते हुए शास्त्रगर्हित अपने तथा दूसरे के भी दुःखदायक तप का अनुष्ठान करते हैं उन्हें आसुरी निष्ठासम्पन्न जानो।

ये दम्भी अनेक घोर तप करके जीवात्मा को दुःख देते हैं। कई तो जाड़ों में जल में पड़ते हैं। कोई ऊपर को पांव बांध के लटकते हैं। कोई हाथ ऊपर को रखके सुखाते हैं। कोई वृक्ष के नीचे सब ऋतुओं में बैठे रहते हैं। कई खड़े रहते हैं। उनके पांव स्तंभ से भारी हो जाते हैं। कई कीलों पर सोते हैं। कई मौनी बनके दूधाधारी होते हैं। बहुत से रात्रि में जागते हैं और दिन में सोते हैं। चान्द्रायण आदि उपवास करके भूखे मरते हैं, दिगम्बर रहते हैं। कई महामलीन मल मूत्र खाते हैं। ऐसे अनेक कर्म करके जीवात्मा को दुःख देते हैं। सो असुर दंभी अहंकारी आत्मघाती हैं। ये परमात्मा का झूंठा स्वांग बनाके माया के रस भोगना चाहते हैं, सो ये अपने कर्मों से आप नरक भोगते हैं। जैसे मुंडचिरे मूंड चीरके बनियों से पैसे लेते हैं। ऐसे ये शरीर को दुःख देके जगत् से भोग चाहते हैं। अनेक प्रकार के रस खाते हैं। और धमका के आधिपत्य जताते हैं और बहुत से अज्ञानी इनकी

सेवा करते हैं सो तो सेवा का फल पाते हैं।

यहां तक तो वर्णन हुआ बनावटी पाखंडियों के तप का, अब सच्चे सब तपों में मुख्य तप का वर्णन सुनियेः—

मूल सब तपों में मुख्य तप।

तप अनेक प्रकार के हैं। स्थूल सूक्ष्म शरीर करके होते हैं वे तप योग मार्ग की सिद्धता में आते हैं। और पूरे योगी की ऐसी रहस्य होती है कि, न तो वह किसी से डरता है। हर्ष, शोक, भय, उद्वेग से रहित समदृष्टि होता है। गीता में ऐसा ही कहा है—

श्लोक

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगै मुक्तो यः च स मे प्रियः॥" (अ० १२ श्लो० १५)

और स्थूल सूक्ष्म संबन्धी तप करने योग्य गीता में कहे हैं सो श्रवण करो। मन, वचन, काय, तप करने योग्य हैं।

अथ कायकतप वर्णनम्।

श्लोक

देवद्विजगुरु प्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते॥ (अ० १७ श्लो० १४)

(अर्थः)—देव कहिये उत्तम वृत्तियां वाले और द्विज कहिये श्रेष्ठ संस्कारी और गुरु कहिये बड़े, प्राज्ञ कहिये भक्त, पण्डित शास्त्र पुराणों के वेत्ता इनका पूजन करना शौच कहा। शरीर, वस्त्र, स्थान पवित्र रखना आर्जवता कहा। नरमाई कोमलता से सब का आदर करना। ब्रह्मचर्य में रहना अर्थात् अपनी स्त्री को रजोधर्म के चार दिन के पश्चात् कुछ दिनों का अन्तर दे दे के तीन चार दिन तक वीर्य दान देना। पीछे पीछे ब्रह्मचर्य में रहना और शरीर से जान बूझ के कोई जीवधारियों को न सताना यह शारीरिक तप है।

अथ वचन तप वर्णनम्

श्लोक

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायायसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (अ० १७ श्लोक १५)

(अर्थः)—अनुद्वेग कहिये जल्दी से वचन न बोलना, मन्दगत धीर्यता से बोलना और सत्य वचन कहना, सत्य भी होवै और प्रिय भी लगै ऐसा बोलना, प्रिय भी होवै और हितकारी होवै अर्थात् कल्याण का करने वाला होवै और स्वाध्याय कहिये आत्मज्ञान का वचन कहना, तथा वेदशास्त्र—महात्माओं के कहे हुए ग्रन्थों को पढ़ना, सो बचनों के तप हैं।

(अथ मानसतप वर्णनम् ।)

श्लोक

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः ।
भाव सं शुद्धिरित्ये तत्पो मानस उच्यते ॥ अ० १२ श्लो० १६

अर्थः—मन सदा प्रसन्न रखना, सौम्य कहा सीधा सरल स्वभाव रखना, डरावना न होवै। और मौन कहिये हरि सम्बन्धी कथन करना, वृथा विशेष न बोलना, और अन्तःकरण इन्द्रियों का निग्रह करना, अर्थात् सिमटे हुए रखना और अपने मनके स्वभाव को सदा शुद्ध रखना, ये मानस तप हैं। ऐसे तपों से क्लेश दूर होते हैं। आपको और पर को सुखदायक हैं। और इन तपों से परमात्मा की पराभक्ति प्राप्त होती है। और जो ये पाखंडी तप करते हैं उनसे दुःख उपजते हैं। और दुःख पाना ही इनका फल है।

प्रश्न—बहुत से जोगी बैरागी ब्रह्मचारी भेषधारी योग क्रिया के षट्कर्म साधते हैं। कोई तो कपड़े की लीर बीस तीस हाथ की प्रातःकाल मुख में निगल के बाहिर निकालते हैं। फिर धो धो के खाते हैं, इसको धौती कर्म कहते हैं। और सूत की डोर को मोम लगाके नाक में चढ़ाके मुख में निकालते हैं, इसको नेति कर्म कहते हैं। कई कोकर को या और वृक्ष की नरम सी डाली लाकर उसका वोड चिगद के मुख में होके कंठ के भीतर चलाते हैं। कई सूत की हाथ भर की बना लेते हैं, उसको दांतन कर्म कहते है। कई पोले बांस की पगेली गुदा के द्वार में रख के जल को अपान वायु से खैंचना साधते हैं, उसको बस्ती कर्म कहते हैं। कई रांग की या शीशे की सलाई बनाके शिश्न के छेद में चलाते हैं, और उसको गज कर्म कहते हैं। कई बहुत सा पानी पी के निकालते हैं उसको उदरशुद्धि कर्म कहते हैं। कई खड़े हो के गोड़ों पर दोनों हाथ रख के नलों को हिलाते हैं, उसको नल बिलोवन (न्यौली) कर्म कहते हैं। और कहते हैं कि, इन कर्मों के किये बिना योग सिद्ध नहीं होता। शरीर के कफ, वात, पित्त इन्हीं कर्मों से शुद्ध होते हैं। और कोई खेचरी मुद्रा सिद्ध करने के अर्थ जीभ के नीचे जो त्वचा है उसको काटते हैं कि, इस त्वचा के काटने से जिह्वा लम्बी हो जाती है। जब नासिका के द्वार को उलट के रोक लेती है तब समाधि लगती है। कई जीभ के मोड़ने के अर्थ जीभ के नीचे साबत सुपारी रखते हैं और जीभ के बढ़ाने के अर्थ उसको अंगुलियों से पकड़ कर खींच खींच के साधन करते हैं। पश्चात् झारी के गरम जल से बहुत सा कुल्ला करते हैं। इन कर्मों का कथन हठयोग प्रदीपिका ग्रन्थ और शिव संहिता में लिखे हैं और इनकी देखादेख चरणदास जी के ग्रन्थ में भी किसी ने कथन कर दिया है और लिखा है कि, इन क्रियाओं से योगी आकाश में उड़ते हैं। आसन अधर हो जाता है। एक स्थान पर बैठे सब जगत् का ज्ञान दर्शित होजाता है। अदृश्य हो जाता है। सो इन सबों का तात्पर्य कृपा करके वर्णन करो।

उत्तरः—योग में तो अनन्त सिद्धि हैं। योगी को सब सिद्धियां प्राप्त होती हैं। परन्तु महा-योगी किसी सिद्धि की कांक्षा नहीं करता। निर्वासना होकर परमेश्वर में लय रहता है। ये जो हठप्रदीपिका ग्रन्थ और झूंठा शिव का नाम लेकर शिवसंहिता नाम धर के ग्रन्थ हैं सो किसी संस्कृत पढ़ने वालों ने बनाके अपनी न्यारी दूकान रची है। राजसी लोगों के गुरु बनने के वास्ते अयोग्य दंभी

ग्रंथ रच लिये हैं। ये दंभी ग्रंथ कैसे हैं? ऐसे हैं कि ऊपर कही हुई क्रिया किसी प्राचीन ग्रंथों में नहीं वर्णन की और हाल के महापुरुषों ने भी अपने ग्रन्थों में वर्णन नहीं की। कबीर, नानक, दादू, रज्जब, गरीबदास, राधास्वामी आदि ले के किसी ने इनका कथन नहीं किया और विचार करके भी देखो कि, इन कर्मों के करने से कफ, वात, पित्त नाश होते हैं तो बिना इनके शरीर कैसे आरोग्य रहेगा। देखो धौति कर्म करने से लार निकलती है। उससे उदर की तरी का नाश होता है। जो यों कहो कि कफ जो अधिक बढ़ जाता है सो निकलता है। सो तो कहना ठीक नहीं। कफ तो अन्न जल के खाने पीने से उत्पन्न होता है। क्या ये कर्म करके और जो अन्न जल ग्रहण नहीं करोगे। तुम अन्न जल इतना क्यों नहीं खाते जिसको जठराग्नि भली प्रकार पचा दे और विकार न बढ़े। अयोग्य कफ तो अजीर्ण से उत्पन्न होता है, जो विशेष खाते हैं। जो जन युक्ति करके खाता पीता है उसके कफ, पित्त के विकार कदाचित् नहीं बढ़ेंगे, सो क्यों तो अयोग्य भोजन करना और क्यों नित्य कफ निकलना, यह तो बिलकुल मूढ़ता है, ऐसी ही 'नेती' कर्म को जानो। क्या नासिका मल से नित्य बन्द हो जाती है? जिसको डोरी से खुलासा करता है। जो यों कहें कि नेत्रों के रोग नाश होते हैं सो तो इनका कहना झूँठा है। वही अयोग्य भोजन करने से सब विकार बढ़ते हैं और नासिका में त्वचा अति कोमल है। जो उसमें रगड़ लग जावे तो नया रोग पैदा हो जावे। और बस्ती कर्म करके कहते हैं, कि, गुदा का मल शुद्ध करते हैं, सो भी दंभी कहना है। गुदा में तीन कुण्डलिनी होती हैं, सो दो का तो मल गिर जाता है। तीसरी में कच्चा मल सदा बना रहता है, उससे ही शरीर में बल है। कदाचित् वह गिर जाय तो शरीर निर्बल हो जायगा। अच्छी प्रकार रस पाचन हो जाय तो मल दोनों कुण्डलनियों का शुद्ध हो जाता है। कुछ बांस चला के पानी चढ़ाने की आवश्यकता नहीं और शिश्न में जो गज चलाते हैं क्या वह रुक जाती है अथवा छेद चौड़ा करते हैं। और कहते हैं कि, शिश्न के द्वारा तेल ऊपर चढ़ा लेते हैं, सो इसमें क्या सिद्धाई है। थोड़ी देर के पश्चात् निकल आवेगा। जैसे मूत्र के त्यागने के समय बांई वायु से रोक लेते हैं। तो क्या वह नहीं गिरेगा। ये झूंठे पाखंडी झूंठे कर्म करके सिद्ध बनते हैं। परमेश्वर ने मनुष्य शरीररूप अपने मिलने का मन्दिर ऐसा बनाया है कि जिसमें कोई द्वार सुधारने की आवश्यकता नहीं। पवन, अग्नि सब कार्य कर रहे हैं। योगी भी इन्हीं के युक्त संयम से सब कार्य सिद्ध करता है। युक्ताहार से कफ पित्त अयोग्य नहीं बढ़ने देता और नासिका गुदादि सब द्वार-जठराग्नि के शुद्ध रखने से और प्राणायाम से सहज ही शुद्ध रहते हैं। ये जो पाखंडी सूगले मलीन कर्म करते हैं सो पुजने के लिये करते हैं। प्रति समय ही मल थूक में मलीन रहते हैं। जो परमेश्वर की भक्ति से हीन होके सिद्धियों की इच्छा करते हैं, वे मनुष्य ऐसे ही मलीन कर्मों में फँसते हैं और जन्म भर रोगी रहते हैं। जीवते ही नरक भोगते हैं। और जो जीभ के नीचे की त्वचा काट कर कहते हैं कि, जीभ को उलटा कर नासिका के द्वार रोक कर खेचरी मुद्रा सिद्ध करेंगे। वे पाखण्डी कई मनुष्यों को दुःख देते हैं। जिसकी जिह्वा की त्वचा काटते हैं उसको बहुत दिनों तक भोजन नहीं किया जाता। श्वांस के बल से लपटा पीता है। जीभ के हिलने से बड़ी पीड़ा होती है। जीभ की जड़ के ऊपर भीतर को हलक में एक छोटी जीभ और है, वह प्राणायाम के अभ्यास से ऊपर लग जाती है। नासिका के द्वारों को रोक लेती है। वह अब भी पवन को रोकती है। और टलके से भोजन को भीतर करती है। इस जीभ की त्वचा काटने से कुछ प्रयोजन नहीं। ये जीभ तो मुख दांतों के बीच में रहती है। और बहुत से मनुष्य कानों के बन्द करने के अर्थ रेशमी कपड़े की ठींटी लगाते हैं। और बहुत से लकड़ी की बनाके दुनियां दिखाने को कानों में लटकाते हैं कि, लोग ये

जानेंगे ये योगी हैं। अनहद का बाजा सुनते हैं। अनहद ठींटी लगाने से नहीं सुना जावेगा। ये तो कानों के बन्द करने से सन्नाटा मालूम होता है। जो योगी महा पुरुष अनहद सुनते हैं वह तो प्राणायाम के बल से सुना जायगा। जिसकी न्यारी न्यारी ध्वनि स्थान २ पर अलग अलग होती हैं। वह बजता ही रहता है। कुछ अँगुली ठींटी लगाने की आवश्यकता नहीं। ठींटी अँगुली लगाके जो सुनते हैं वे पाखंडी हैं। पहिले बनावटी सुनते २ सद्गुरु की कृपा से असली भी सुनने लग जावेगा।

[३] लय योग।

स्थिर आसन से बैठ कर शाम्भवी मुद्रा के अभ्यासपूर्वक मन को किसी विन्दु, अनहद शब्द, दिव्य प्रकाश या मूर्ति विशेष में लय करने का नाम लय योग है।

शाम्भवी मुद्रा—

चित्तवृत्ति के लक्ष्य को शरीर के भीतर करके अर्द्ध खुले हुए नेत्रों को नाक के अग्रभाग में अथवा अन्य किसी वस्तु पर एकाकार करके स्थित होना उसका नाम शाम्भवी मुद्रा है।

लय-योग का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति मानव पिण्ड है, ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति का विकास जैसा ब्रह्माण्ड है वैसा मानव पिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदि के पीठ मानव पिण्ड में भी हैं। पंच-कोशों का आवरण शिथिल होने पर पिण्ड जहां चाहे उसी लोक में अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है; इसी विज्ञान के अनुसार मनुष्य पिण्ड के आधार पद्म में कुल कुण्डलिनी नाम ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रह कर अविद्या के प्रभाव से सृष्टि किया करती है। रजोवीर्य-जनित वैजीसृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्य शरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तक में स्थित सहस्रदल-कमल में जिस योग द्वारा कुलकुण्डलिनी शक्ति को ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिव के साथ मिला दिया जाता है, उस शिव में शक्ति का लय कर मुक्ति प्राप्त करने के साधन का नाम लय योग है। लय योग के ध्यान को विन्दुध्यान और लय योग की समाधि को महालय समाधि कहते हैं।

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(हठयोग प्र० ४/२६)

अर्थः—'इन्द्रियों का नाथ (स्वामी) मन है और मन का स्वामी प्राण है, प्राण का नाथ मन का लय है, मन का लय नाद के श्रवण से होता है।' अर्थात् षण्मुखी मुद्रा में (अपने दो अंगूठों से कान, दो तर्जनियों से दो आंख, दो मध्यमाओं से नाक, बाकी अंगुलियों से मुख बन्द करके आधी रात्रि के पश्चात् आन्तर शब्द में मन को लगाना) मन का लय करे।

हठयोग प्रदीपिका व योगवासिष्ठ में लय योग का विस्तार से वर्णन है।

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योग तारावली' ग्रन्थ में, नीचे के श्लोकों में बताया है:—

सदा शिवोक्तानि सपाद लक्ष, लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं, मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं, त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम् ।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं, विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य, सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो, योग साम्राज्यमिच्छता ॥

'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाये हैं; उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान ! आपको नमस्कार है, आप परम पद में स्थित कराते हैं। आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जांयगे। योग साम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्याग कर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।' शुक योगेन्द्र के शिष्य श्रीचरणदासजी ने भी अनहद नादों की महिमा नीचे के शब्दों में गायी है:—

अनहद के सम और ना फल वरन्यो नहिं जाय ।
पटतर कछु न दे सकूं सब कुछ है वा मांय ॥
पांच थके आनँद बढे अरु मन ही बस होय ।
शुकदेव कही चरणदास से आप अपन जाय खोय ॥
नाड़िन में सुषुम्ना बड़ी सो अनहद की मात ।
कुंभक में केवल बड़ा वह वाही का तात ॥
मुद्रा बड़ी जो खेचरी वाकी बहिनी जान ॥
अनहद–सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान ॥
सेवक से स्वामी होवे सुने जो अनहद नाद ।
जीव ब्रह्म हो जाय है पावे अपनी आद ॥
खिड़की खोली नाद की मिला ब्रह्म में जाय ।
दसों नाद के लाभ की महिमा कही न जाय ॥

शिवसंहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे:—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम् ।
न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥

'सिद्धासन के तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भक के तुल्य कोई बल नहीं, खेचरी मुद्रा की बराबरी करने वाली और मुद्रा नहीं, मन को लय करने वाले साधनों में, अनहद नाद की तुलना करने वाला और कोई साधन नहीं।' मन को लय करने के अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहद नाद के प्रकट करने का गुप्त साधन।

हर एक मनुष्य की देह में लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि परमात्मा के नाम का जप सद्गुरुमार्ग से कर लेता है तब अनहद नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायु की प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाड़ियां जल्दी शुद्ध होने से सवा कोटि जप सद्गुरु मार्ग से करने से ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दश प्रकार का है (चिणी, चिचिणी, घण्टा, शंख, वीणा, ताल, बंसी, मृदंग, भेरी, मेघ का क्रम से नाद होना कहा है—हंसोपनिषद) अभ्यास करते-करते जब दसवां नाद जो बादल की गर्जना के तुल्य है प्रकट हो तब नौ नादों को छोड़ कर दसवां नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवें नाद की पक्व अवस्था में प्राणवायु और मन ये दोनों ही लय हो जांयगे।

शब्द की पहचान।

पहिला शब्द सुने तो सब देह के रोमाञ्च उठ खड़े हों, दूसरे शब्द से देह में आलस्य आये, दीसरे में प्रेम की अधिकता हो, चौथे के सुनने से ब्रह्माण्ड में से सुगन्ध आवे, पांचवें के सुनने से अमृत उतरने लगे, छठा सुने तो गले से नीचे अमृत आवे, सातवां सुने तो अन्तर्यामी हो जाय, आठवां सुने तो सम्पूर्ण भीतर बाहर के नाद सुन पड़ें, नवां सुने तो गुप्त होने की सामर्थ्य हो जाय, दसवां सुने तो सब वासना क्षय होकर परब्रह्म हो जाय, उसका नाम ॐकार है और अपने को ॐकार जानना ही परम मुक्त हो जाना है।

मन-पवन का लय होने पर शेष में ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाड़ी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः-शनैः अनहद को सुरत के बल से दक्षिण कान से सुनते जाना चाहिये।❀ अभ्यास की पक्व अवस्था में फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देगी। अन्त में कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्म में लय हो जायगी। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जाग कर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को भेद करके अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत नहीं होती, तब तक मनुष्यों का ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभव रहित शास्त्रीय ज्ञान नकशे की बम्बई के तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरण के पश्चात् का अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे किसी ने आठ महीने घूम-घूम कर बम्बई की गली देखी

❀ क्योंकि नाभि के नीचे दाहिनी ओर कुण्डलिनी का स्थान है, इससे दाहिने कान की ओर लक्ष्य रखने से कुण्डलिनी शीघ्र ही जाग्रत होकर सुषुम्ना में प्रवेश होती है। अतः दाहिने कान की ओर अनाहत पर लक्ष्य रखने का मुख्य कारण यह भी है।

हो। इसी कारण से चतुर साधकों को चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरु की शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत करें, इसके जागने पर ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान करामलकवत् होकर मुक्ति प्राप्त होगी। दृश्यरूपी भ्रम, दृश्य के देखते रहने पर भी दुःखदायी न रहेगा।

आन्तरनाद का शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार नित्य-नियमित रूप से अनुसन्धान करते रहने से वासना क्षय और मनोवृत्ति का लय हो जाता है। मन का लय कराने के सम्बन्ध में शास्त्र में अधिकारी, रुचि और देशकाल के भेद से अनेक साधन बतलाये हैं। परन्तु उन सबमें आन्तरनाद को ही मुख्य माना गया है:—

'नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसन्धेः परा पूजा नहिं तृप्तेः परं सुखम्॥

(योगशिखोपनिषत्)

'न नादसदृशो लयः।'

(हठ योग प्रदीपिका)

इन सबका तात्पर्य यह है कि नाद से परे कोई मन्त्र नहीं है। अनाहत नाद के आन्तर में विराजमान आत्मा से परे कोई देव नहीं है। इसके अनुसन्धान से परे कोई पूजा नहीं है और उससे जो सुख मिलता है, उससे परे कोई आनन्द नहीं है। नादानुसंधान के समान मन का लय कराने के लिये अन्य कोई प्रबल साधन है ही नहीं।

जैसे पथ को छोड़ कर मन मानी राह पर चलने वाले उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने के लिये अंकुश की सहायता लेनी पड़ती है, वैसे ही पारमार्थिक कल्याण को छोड़कर विषयों के पीछे भटकने वाले मनरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र को वश में लाने के लिये आन्तर नाद रूपी अंकुश की सहायता ली जाती है। अथवा जिस तरह किसी वृक्ष की शाखा में डोरी बांध कर, यदि डोरी का दूसरा शिरा किसी पक्षी के पैर में बांध दिया जाय तो पक्षी बार-बार उड़ने का प्रयत्न करने पर भी अन्त में परवश होकर उसी शाखा पर विश्रान्ति लेता है, उसी भांति यदि परब्रह्म रूपी अचल आधार से सम्बन्ध रखने वाले नादरूपी डोरी का शिरा मनरूपी पक्षी के वृत्तिरूपी पैर में बांध दिया जाय तो मन विषयों के वन में चाहे जितना दौड़ने का प्रयत्न करे, अन्त में थक कर वह उसी चिदाकाशरूप आधार की शरण ग्रहण करता है।

इस आन्तर नाद के अनुसंधान अभ्यास करने के लिये अधिकारी बनने की और नियम पालन करने की बड़ी आवश्यकता है। पुरुष, स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, ग्रहस्थ; वानप्रस्थ, सन्यासी इन सब में से जिन्होंने प्रणायाम, मुद्रा, आसन, त्राटकादि षट्कर्म, अजपा, (श्वासोच्छ्वास पर लक्ष्य रखना,) मंत्र, ध्यान, देव सेवा, औषधि-कल्प-सेवन आदि शास्त्र वर्णित साधनों में से किसी एक या अधिक साधनों द्वारा अपनी नाड़ियों के सञ्जित मल का शोधन किया है, उन्हीं को नादानुसंधान का अधिकारी माना गया है। इन अधिकारियों में से भी जो नित्य नियमित समय पर केवल एक बार सात्त्विक पथ्य (लघु भोजन) ग्रहण करता है, जो ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, सदाचार, क्षमा, अद्रोह, इन्द्रिय दमन, विषय-सेवन में उदासीनता, अस्तेय, एकान्त वास, ईश्वर-परायणता, पवित्रता आदि

नियमों का पालन करता हुआ अभ्यास के लिये श्रद्धा तथा उत्साहपूर्वक प्रयत्न, ब्राह्ममुहूर्तादि शान्त वातारण के समय पर सप्रेम अभ्यास एवं व्यावहारिक और शारीरिक अधिक प्रवृत्तियों का संकोच करता है; उसके शरीर में रक्ताभिसरण-क्रिया से उत्पन्न नाद के पश्चात् क्रमशः अनुभव में आते जाते हैं। किन्तु जिन व्यक्तियों ने नाड़िस्थ मल दोष का शोधन न किया हो और जो आहार-विहारादि उपर्युक्त नियमों का पालन न करते हों, उन्हें इस योग-मार्ग में प्रवेश ही नहीं करना चाहिये।

नादानुसन्धान का अभ्यास सूर्योदय से पूर्व, पवित्र, एकान्त, निर्जन स्थान में बैठ कर ही करना चाहिये। क्योंकि प्रातःकाल में वायु मण्डल शीतल होने के कारण नाद का भाव स्पष्टरूप से होता है, उस समय वृत्ति अधिक काल तक नाद में स्थिर रह सकती है, शरीर और मन में थकावट या उपरामता नहीं आती, बाहर से विघ्न उपस्थित होने की सम्भावता कम रहती है और व्यावहारिक वासना का उद्भव भी प्रायः नहीं होता है। दिन के उष्ण वातावरण में इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति रहती है। वायु मण्डल अनेक प्रकार की ध्वनियों से क्षुब्ध रहता है। उष्णता के कारण रक्ताभिसरण क्रिया मन्द पड़ जाती है। नाद का श्रवण तैलधारावत् अविच्छिन्न नहीं होता। मन में भिन्न भिन्न सांसारिक वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वृत्तियां चञ्चल हो उठती हैं। तन और मन दोनों अल्पकाल में ही थक जाते हैं। बाहर से विघ्नों की भी कमी नहीं रहती। इन बातों के अतिरिक्त पेट में अपक्व आहार-रस रहने के कारण नाद मन्द पड़ जाता है और आलस्य भी आने लगता है। अतः किसी भी अशान्त काल में तथा भोजन पच जाने के पूर्व साधकों को नादानुसन्धान का अभ्यास नहीं करना चाहिये।

ऋतुओं में भी ग्रीष्मादि उष्ण ऋतुओं की अपेक्षा शिशिरादि शीतल ऋतुओं में नाद अधिक वेग के साथ उठता है और नाड़ियों के मल का शोधन भी अन्य ऋतुओं की अपेक्षा बसन्त और शरत् काल में ही अधिक सरलता से तथा जल्दी होता है, लेकिन वसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आ जाती है और शरद के बाद हेमन्त तथा शिशिर—ये शीतल ऋतुएँ आती हैं। अतः नादानुसन्धान में प्रवेश की इच्छा रखने वालों को शरत् ऋतु से मल शोधन की क्रिया का आरम्भ करना विशेष लाभदायक है।

यद्यपि किसी उष्ण-उत्तेजक औषधि का सेवन करने से रक्ताभिसरण-क्रिया अधिक बलवती बनती है और उसके कारण नाद जोर से उठता है परन्तु उष्णता का शमन होने पर अथवा हृदय-यन्त्र और नाड़ियों के थक जाने पर पुनः स्वल्पकाल में ही नाद अति शिथिल हो जाता है एवं नाड़ियों में कफ-मल की उत्पत्ति भी अधिक मात्रा में होने लगती है, इसलिये नाद उठाने के लिये किसी उत्तेजक औषधि की सहायता लेना, लाभ की अपेक्षा बहुत हानिकारक है।

प्राणिमात्र के आत्यन्तिक कल्याण की भावना करने वाले जो सन्तजन नादनुसन्धान के अभ्यासी होते हैं, उनका शरीर यदि कहीं वृद्धावस्था अथवा दुष्ट प्रारब्धजनित दोष के प्रकोप से व्याधिग्रस्त हो जाता है, तो भी उन्हें नादानुसन्धान सहज स्वभावसिद्ध हो जाने के कारण क्लेश नहीं होता - वे आदन्दित ही बने रहते हैं। यदि कहीं ज्वरदोष से शरीर में उष्णता की वृद्धि हो जाती है तो उनकी रक्ताभिसरण-क्रिया नैसर्गिक नियमानुसार वेगपूर्वक होने लगती है, जिससे नाड़ियों का संगृहित मल जलने लगता है। फिर नाद जोर से उठता है। ऐसी पीड़ा के प्रसंग में भी सन्तमहात्माओं की वृत्ति आन्तर नाद में एकाग्र या लयभाव को

सत्वर प्राप्त हो जाती है। उन्हें शारीरिक कष्ट सर्वथा भूल जाता है परन्तु अन्य सांसारिक लोग जो नादानुसन्धान का अभ्यास नहीं रखते ऐसी व्यथा के समय वेदना से बेचैन होकर 'हाय – हाय' मचाने लगते हैं। यहां तक कि उनकी सेवा-सुश्रूषा करने वाले सम्बन्धी सहायकों का भी उनके मारे नाकों दम हो जाता है। ऐसे ही व्याधिकाल में सन्त और संसार-लोलुप अज्ञानीजनों के धैर्य में भेद विदित होता है।

नादानुसन्धान के अभ्यासियों को अभ्यास के प्रारम्भ तथा अन्त में प्राचीन परम्परा के अनुसार नित्य प्रति निम्नलिखित श्लोक ध्यान और भावना के साथ बोल कर अन्तर्यामी को प्रणाम करना चाहिये।

गमागमस्थं गमनादिशून्यं, चिद्रूपदीपं तिमिरान्धनाशम्।
पश्यामि तं सर्वजनान्तरस्थं, नमामि हंसं परमात्मरूपम्॥

इसके पश्चात् अपनी सम्पूर्ण मानसिक चिन्ताओं को छोड़ कर तथा पूरी सावधानी के साथ लक्ष्य रख कर अभ्यास करना चाहिये।

जैसे नटी सिर पर जल के घड़ों को एक साथ रख कर नाच-गान करती रहती है, उसके नृत्य की मर्यादा, स्वर, राग, भाव, ताल, इत्यादि दर्शकों को आनन्दित करते रहते हैं और साथ-ही-साथ वह अपने जलपात्रों को भी सम्हालती रहती है, वैसे ही योग-साम्राज्य की इच्छावाले नादानुसन्धान के अभ्यासी को सांसारिक कार्य करते हुए भी अपनी वृत्तियां नाद में लगाते रहना चाहिये तथा नाद में ब्रह्म भावना करते रहना चाहिये। बिना ऐसी भावना किये शास्त्र कथिक फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। आसन लगाकर अभ्यास करने के समय जप, नेत्रवृत्ति द्वारा ध्यान, इधर-उधर देखना-सुनना, संकल्प, स्मरण, विचारादि सब प्रकार की मानसिक चेष्टाओं, क्रियाओं का परित्याग करके सावधान चित्त से केवल नादरूप ब्रह्म का अनुसंधान करते रहना चाहिये।

नादानुसन्धान का अभ्यास सिद्धासन से बैठकर और शाम्भवी मुद्रा का आश्रय लेकर करने से सत्वर फलदायी होता है। नादविन्दूपनिषत् में कहा है—

सिद्धासने स्थितो योगी, मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥

योगी को सिद्धासन से वैष्णवी और शाम्भवी मुद्राओं का अनुसन्धान करके अर्थात् बाह्यवृत्ति को आन्तर में प्रवेश कराके सुषुम्णा के आन्तर प्रदेश से उठने वाले नाद को दक्षिण कर्ण में सर्वदा सुनते रहना चाहिये।

सर्वदा नादानुसन्धान का अभ्यास करते रहने से वासना का क्षय हो जाता है, जिससे मन की बाह्य विषयों में भटकने की इच्छा स्वयमेव कम हो जाती है। और मन शीघ्र ही प्राण के साथ मिल कर परब्रह्म में विलीन हो जाता है।

नादानुसन्धान के प्रारम्भिक अभ्यास काल में साधकों की कर्ण नाली में मल-संचय होता रहता है। उससे नाद का श्रवण सम्यक्रूप से नहीं होने पाता। इसके लिये निम्नलिखित ओषधियों की कर्णमुद्रा बना

कर दोनों कानों में धारण करनी चाहिये। यह रिवाज वृद्ध परम्परानुगत है:—

कस्तूरी १ रत्ती, जायफल, २ रत्ती, जावित्री ३ रत्ती और लौंग ६ रत्ती।

इन ओषधियों के प्रमाण में साधक चाहे तो देशकालानुसार कमी-वेशी भी कर सकता है। इन ओषधियों को मिलाकर खरल में इनका बारीक चूर्ण बना देना चाहिये। फिर १ रत्ती तक के चूर्ण को नवीन लाल सूती या रेशमी वस्त्र के टुकड़े डाल कर अंगूर अथवा जामुन की आकृति के सदृश छोटी सी गुण्डी बना लेना चाहिये और उसे एक डोरे से दृढ़ता के साथ बांध देना चाहिये। गुण्डी पर डोरा बांधने के स्थान से वस्त्र का भाग लगभग चौथाई इञ्च के बराबर शेष लम्बा रहने देना चाहिये, जिससे मुद्रा उस भाग को पकड़ कर इच्छानुसार कान में धारण कर सके और जब चाहे बाहर निकाल सके।

मुद्रा कान के छिद्रानुरूप छोटी-बड़ी बनाई जाती है। प्रारम्भ में छोटी ही बनानी चाहिये ताकि वह सरलतापूर्वक कान में जा सके तथा उसे निरन्तर धारण करने पर भी दुःख का भाव न हो। इस प्रकार स्नानकाल के अतिरिक्त शेष सब समयों में यदि मुद्रा धारण की जाय तो थोड़े दिनों में कान का मैल दूर हो जाता है और नाद श्रवण स्पष्ट होने लगता है।

कर्णमुद्रा को धारण करने के पश्चात् कर्णनाड़ी में से मल निकल बराबर मुद्रा में लगा रहता है। इसलिये कर्णमुद्रा को दिन में दो चार या अधिक बार निकाल कर पोंछ लेना चाहिये और फिर उसे तुरन्त ही धारण कर लेना चाहिये। ऐसा करने से थोड़े ही दिनों में कर्णनाड़ी शुद्ध हो जाती है तथा स्पष्ट रूप से नाद का श्रवण होने लगता है। यदि अभ्यास के प्रारम्भ काल में कर्णमुद्रा कुछ बड़ी होने के कारण कान को पीड़ा पहुंचाने लगे तो उसे दो-चार दिन के लिये बिलकुल निकाल देना चाहिये। फिर जब वेदना शान्त हो जाय तब पहले की अपेक्षा छोटी मुद्रा बना कर थोड़े-थोड़े समय तक धारण करना चाहिये और धीरे-धीरे समय बढाते रहना चाहिये। इस प्रकार जब कानों को पूरी प्रकार अभ्यास हो जाय तब फिर बड़ी मुद्रा बनाकर धारण करना चाहिये।

कर्णमुद्रा धारण करने से कान का मैल तो निकलता है इसके अलावा मनोवृत्ति को बारम्बार नाद में लगाने की स्मृति भी हो जाती है। और बाह्य ध्वनियों में जो वृत्ति कम दौड़ती है सो तो है ही। इन लाभों की दृष्टि से कर्णमुद्रा बनाकर वर्षों तक धारण किया जाय तो उससे वृत्ति को लय करने में सहायता ही मिलती है। हानि कदापि नहीं होती। कतिपय योगाभ्यासी जन उपर्युक्त मुद्रा के स्थान में तुलसी की शाखा या अकरकरा के मूल को घिस कर और उसकी मुद्रा बना कर धारण करते हैं, किन्तु इससे उतना लाभ नहीं होता। और नाजुक प्रकृतिवालों से यह सहन भी नहीं होता। कुछ सन्त महात्मा मोम, सरसों का तेल और रूई को मिलाकर एक कटोरी में डाल उसे अग्नि पर पिघलाते हैं। तत्पश्चात् उसमें थोड़ी सी कस्तूरी मिलाकर उसकी मुद्रा बना लेते हैं। यह मुद्रा मुलायम रहती है और इसको केवल अभ्यास करने के समय धारण करते हैं। यह मुद्रा कानों में शीशी पर ढाट की भांति सुदृढ़ लग जाती और उससे बाहर के शब्द बिलकुल सुनायी नहीं देते। परन्तु इस मुद्रा का उपयोग अभ्यास रहित काल में नहीं हो सकता, क्योंकि यह नरम रहती है तथा इसके द्वारा अन्तरस्थ मल का आकर्षण नहीं होता।

साधकों को समझाने के लिये हंसोपनिषत् में नाड़ियों के शोधन भेदन से आन्तरनाद के दस भेद किये गये हैं। किसी ग्रन्थकार ने भ्रमर, वेणु, घण्ट और समुद्रनाद—ये चार भेद तथा किसी ग्रन्थकार ने आठ भेद भी किये हैं। किन्तु हंसोपनिषत् कथित दश भेद ही साधकों को उनकी मानसिक प्रगति बतलाने के लिये विशेष हित कर हैं, ऐसा मानकर यहां उन्हीं भेदों का उल्लेख किया जाता है:—

चिणीति प्रथमः। चिञ्चणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः।

इन नादों में से प्रथम नाद का अनुभव अन्य नादों की अपेक्षा पहले होता है। सन्ध्या के समय छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं द्वारा की हुई 'चीं-चीं' की आवाज को पहला नाद कहा जाता है। इस नाद के श्रवण के पश्चात् ही क्रमशः द्वितीय-तृतीय नादों का अनुभव होता है। ऐसा भी होता है कि कहीं-कहीं किसी साधक को चतुर्थ, पञ्चम या सप्तमादि नादों में से किसी एक या अधिक का अनुभव नहीं होता और जल्दी ही नाड़ी का अधिकांश में शोधन होकर पञ्चम,षष्ठ या अष्मादि नादों का अनुभव हो जाता है। जैसे किसी साधक को पञ्चम तन्त्रीनाद का अनुभव तो नहीं होता किन्तु आगे का तालनाद या वेणुनाद खुल जाता है। इसी प्रकार किसी किसी कनिष्ठ अधिकारी को पञ्चमादि नादों का अनुभव हो जाने के बाद भी प्रारब्ध दोष से या भूल-प्रमाद वश नाड़ियों में मल सञ्चित हो जाने के कारण पुनः उनका लोप हो जाता है। और उलटे चतुर्थ तृतीय या प्रथम नाद श्रवण होने लगता है।

इससे यह विदित हुआ की साधकों को आग्रहपूर्वक नाड़ी—शुद्धि पर ध्यान रखना चाहिये। प्राणायाम साधनों के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे अधिकाधिक नाड़ी-शुद्धि होती जायगी, वैसे-वैसे ही प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि नाद भी क्रमशः खुलते जांयगे। और जब नाड़ियों की शुद्धि पूर्णांश में हो जायगी, तब दशम मेघनाद या समुद्रध्वनि के सदृश नाद का प्रत्यक्ष हो जायेगा। इस दसवें नाद की उत्पत्ति हो जाने पर वृत्ति का लय शीघ्र ही होने लगता है। दशम नाद के श्रवण के पश्चात् भी प्रायः नित्य-प्रति थोड़े-थोड़े समय तक अन्य नादों का श्रवण होता रहता है। किन्तु उनके बाद दशम नाद तो अभ्यास की समाप्ति तक या वृत्ति लय होने तक श्रवणगोचर होता रहता है।

जो साधक प्राणायाम का अभ्यास न करते हुए सोऽहं (अजपा गायत्री) प्रणव या अपान तत्त्व को शीघ्र ऊपर उठाने वाले अन्य मन्त्रों का जप करके नादानुसंधानों में प्रवेश करते हैं, उनको प्रथमादि नाद जैसे-जैसे श्रवणगत होते जाते हैं, वैसे-वैसे शरीर तथा मन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव होते जाते हैं। यह बात हंसोपनिषत् में अत्यन्त स्पष्टरूप में लिखी गयी है —

प्रथमे चिञ्चिणी गात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः॥
पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृत निषेवणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे॥

अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥

अर्थात् पहला नाद खुलने पर सारे शरीर में खाज आने लगती है और ऐसा मालूम होता है, मानो शरीर पर चींटियाँ चल रही हों। द्वितीय नाद का श्रवण होने पर हाथ-पैर फड़कते हैं तथा उनकी नाड़ियां खिचने लगती हैं। तृतीय नाद का प्रकाश होने पर सिर में भारीपन आ जाता है, जिससे दुःख का भान होता है। चतुर्थ शङ्खनाद के प्रारम्भकाल में सिर कांपने लगता है। पंचम नाद का अनुभव होने के समय मस्तिष्क में से स्वाद रहित रस निकल कर तालु द्वारा मुँह में आता रहता है। षष्ठ नाद तालनाद की उत्पत्ति होने पर मस्तिष्क में से टपकने वाला रस स्वादु बन जाता है। और उस रस का पान करते रहने से शरीर को अमृत के समान पोषण मिलता रहता है। सप्तम नाद में वृत्ति लगने पर मन एकाग्र भाव को प्राप्त हो जाता है, जिससे आन्तर विज्ञान का प्रकाश होने लगता है। अष्टम मृदङ्ग नाद में एकाग्रता अधिक काल तक रह कर परा वाचा का ज्ञान होता है, उससे सूक्ष्म संस्कार तथा अन्य व्यक्ति के हृद्गत विचारों का अनुभव हो सकता है। नवम नाद का परिचय होने पर नाड़ियों का मलदोष शमन होता है, वृत्ति निरुद्ध होने लगती है तथा दिव्य चक्षु की प्राप्ति हो जाती है। फलतः दूर देश और दूर काल की क्रिया तथा वस्तु तक का साक्षात्कार हो सकता है। इस नवम नादके श्रवण से शरीर का भान नहीं रह जाता है। इन नवों नादों के अन्त में, जब मस्तिष्क देश में चक्कर-सा आकर अन्तिम दशम नाद का प्रादुर्भाव हो जाता है तब थोड़े ही समय में वृत्ति का विलय होने लगता है। उस समय द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, धाता-ध्यान ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय इत्यादि त्रिपुटियाँ विलीन हो जाती हैं और जीव शिवभाव को प्राप्त हो जाता है।

किन्तु जो साधक त्राटक् षट्चक्रभेदन और प्रणायामादि साधनों का अभ्यास करके अपान तत्त्व को प्राणतत्त्व में मिला कर उसको अधिक वेगपूर्वक ऊर्ध्वमार्ग में चढ़ाता है, उसको सप्तम नाद सुनने पश्चात् भ्रू में (कहीं-कहीं हृदय में) ज्योति-दर्शन प्राणापान तत्त्व का दर्शन होता रहता है। यह प्रकाश कभी-कभी तो जल्दी ही विलीन हो जाता है और कभी-कभी दीर्घ काल तक स्थिर रहता है। जब प्रकाश की उत्पत्ति होती है, तब नेत्रवृत्ति सहज ही उस ओर आकर्षिक हो जाती है। और जो श्रवणवृत्ति नाद में लगी थी, उसमें थोड़ा विक्षेप हो जाता है। अनेक साधकों की वृत्ति समानभाव से दोनों में लग जाती है और अनेक की नहीं। वृत्ति केवल नाद में रहे या स्थिर प्रकाश होने पर केवल प्रकाश में रहे; इस बात में कोई आग्रह नहीं है। हाँ, यदि वह नाद में से हट कर केवल ज्योति में लगी रहेगी तो निरुद्धावस्था की प्राप्ति में थोड़ी देर हो जायगी। फिर भी साधकों को ऐसे समय पर संकल्प-विकल्प या बलात्कार नहीं करना चाहिये। वृत्ति थोड़े समय के पश्चात् स्वयमेव नाद में लग कर निरुद्ध होने लगेगी। साधकों को चाहिये कि वे चित्तों को साक्षी भाव से स्थिर रक्खें। ऐसा करने से थोड़े ही समय में मन प्राण सहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

जैसे दूध और जल का मिश्रण होने पर एक ही रूप बन जाता है, वैसे ही नाद और मन एकीभूत होकर चिदाकाश में लय हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार भ्रमर पुष्प के मकरन्द का पान करते समय उनके

सुगन्ध की अपेक्षा नहीं करता उसी-प्रकार मनरूपी भ्रमर नाद रूपी पुष्प में स्थित रहने वाले स्वस्वरूपानन्दरूपी मकरन्द का पान करते समय विषयानन्द की आकांक्षा नहीं रखता है। अथवा जिस तरह एक मणिधर सर्प की वृत्ति मनोहर ललित स्वर में लग जाने पर वह अचञ्चल होकर मूर्तिवत् स्थिर हो जाता है, उसी तरह मनरूपी अन्तरङ्ग भुजंगेन्द्रि की वृत्ति दिव्य आन्तर नाद में मिल जाने के कारण अपनी चपलता खोकर लयभाव को प्राप्त हो जाता है।

दशम नाद की प्राप्ति के पश्चात् सर्वदा नादानुसंधान का अभ्यास करते रहने से वृत्ति-लय दृढ़ हो जाता है तथा अवसर पड़ने पर शारीरिक वेदना से अथवा सिंह, व्याघ्र या दुन्दुभि आदि की चिंघाड़ से भी वृत्ति भङ्ग नहीं होती। वृत्ति लय हो जाने पर शरीर काष्ठ के समान निश्चेष्ट बन जाता है। और उन्मनी अवस्था तुर्यावस्था की प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् शीतोष्णादिजनित सुख-दुःख या मानापमानादि का असर मन पर होता ही नहीं। इस रीति से नादानुसंधान द्वारा संत जन जाग्रतादि अवस्थात्रय से मुक्त होकर स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं। ऐसे संत जनों की स्थिति नाद बिन्दूपनिषत् के अन्तिम मन्त्र में इस प्रकार गायी गयी है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं, वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चितं स्थिरं यस्य विनावलम्बं, स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥

किसी ने कहा है:—

नासा ध्यान दृष्टि भ्रकुटी में, सुरत प्राण के मांहिं।
निश्चय ईश्वर मिलत है, या में संशय नांहिं ॥

अन्तः करण का लय-चिन्तन—मन महत् या बुद्धि में लीन हो जाता है। बुद्धि (व्यष्टि) समष्टि बुद्धि में लीन होती है। समष्टि बुद्धि अव्यक्त में लीन होती है। अव्यक्त ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही अन्तः करण का लय चिन्तन है।

परलोक-तत्व

(१) **नैसर्गिक चिन्ताः**—मुझे मरने के बाद कहां जाना होगा ? यह प्रश्न प्रत्येक पुरुष और स्त्री, सुखी और दुःखी, विद्वान् और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, सब ही प्रकार के मनुष्यों के हृदय में स्वयं उठा करता है। प्रबल इन्द्रियों के आधीन होकर जिन्होंने विषय-सुख-प्राप्ति और उसका सेवन ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय बना लिया है, प्रकृति के स्वाभाविक नियम के अनुसार किसी समय उनके अन्तःकरण में भी यह स्वाभाविक प्रश्न उठता ही है। तब उन्हें यह चिन्ता होती है कि, "क्या मेरा सदा ऐसा ही सुख-शान्ति से समय कटेगा या किसी समय इन सब सुख के साधनों तथा प्रियजनों का परित्याग करके किसी अज्ञात अपरिचित-स्थान में जाना होगा ?" दुःखी मनुष्यों के दुःखमय जीवन के प्रत्येक घात - प्रतिघात में परलोक की चिन्ता आती रहती है और वे सोचा करते हैं कि, न जाने इसके पहिले के जन्मों में कौन-कौन से पाप किये थे ; जिसके प्रति-फलरूप ये नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ रहे हैं ; अब आगे शरीरान्त के बाद क्या होगा, कहां जाना होगा ? विद्वान् व्यक्तिगण शरीरान्त के अनन्तर आत्मा के लोकान्तर गमन की सब अवस्थायें तथा आत्मा का नित्य सिद्ध, जीवन-मरण से रहित शुद्ध स्वभाव को जानते हुए सर्व साधारण के कल्याण के लिये परलोक सम्बन्धी विषयों को अवश्य विवेचनीय समझते हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि, प्रायः सब श्रेणी के मनुष्यों में ही परलोक एक विचित्र आलोच्य विषय है। यही कारण है कि हमारे शास्त्रों में तथा उपनिषदों में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है एवं नाना प्रकार से इस विषय को जनसाधारण के बुद्धिगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे धर्म मतों में जिनमें परलोक अनादि सिद्ध शृङ्खला नहीं मानी गयी है, उनमें भी मृत्यु के अनन्तर किसी अदृश्य लोक में गमन तथा वहां अत्यन्त सुख-भोग या अत्यन्त दुःख-भोग की अवस्था मानी गयी है। कुछ ऐसे अल्पदर्शी लोग भी होते हैं, जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य एकमात्र स्थूल प्रत्यक्ष और उसी के आधार पर अनुमान को स्वीकार करते हैं, दूसरे प्रमाण को नहीं मानते हैं। ऐसे अत्यन्त प्रमादी, इन्द्रिय-परायण और इस संसार को ही सब कुछ समझने वाले अज्ञानी व्यक्ति ही पुनर्जन्म या परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हमारे शास्त्रों में 'नास्तिक' कहा गया है। इन व्यक्तियों के विषय में भगवान् यम, धर्मराज ने कठोपनिषद् में कहा है:—

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" ॥

अर्थात् जो प्रमादी, धन के मोह में विमूढ़, अविवेकी और ज्ञानराज्य में बालक हैं, ऐसे व्यक्ति को परलोक में विश्वास नहीं होता है। वह समझता है कि केवल यही लोक है, परलोक नहीं है। ऐसा समझने वाला व्यक्ति बार-बार मेरे वश में आता है। भगवान् यम की इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि; जो नास्तिक हैं, जिनकी बुद्धि इस लोक के विषयों में इतनी विमोहित हो गई है कि, इस लोक के सिवाय परलोक या जन्मान्तर का सिद्धान्त उनके समझ में नहीं आता, ऐसे मनुष्यों को बार-बार जन्म-मरण के कष्ट के अतिरिक्त यमदण्ड भी भोगना पड़ता है। कारण यह है, कि ऐसे व्यक्तियों के कर्म भी ऐसे ही उच्छृङ्खल होते हैं। अस्तु, दूसरे धर्म मतों में परलोक में शुभ कर्म के पुरस्कार के रूप में उत्तम सुख भोग और पाप या अशुभ कर्म के फल में शासनरूप दुःख भोग का वर्णन यद्यपि मिलता है, तो भी आर्यशास्त्रों के अतिरिक्त किसी भी शास्त्र में परलोक का विषय इतना स्पष्ट तथा पूर्णरूप से निर्णीत (निर्णय) नहीं हुआ है। प्राचीन ग्रीक और इजिप्शियन धर्मग्रन्थों तथा उनके दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन करने से पूर्व जन्म का कुछ आभास यद्यपि मिलता है, परन्तु थोड़ा ही विचार करने से ज्ञात होता है कि, यह उन्हीं सिद्धान्तों का विकृत रूप है, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रों में है। 'The Unseen Universe' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मृत्यु के अनन्तर किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व मानना मनुष्यों का स्वाभाविक संस्कार है तथा सभ्यता के अनुकूल सिद्धान्त है, तथापि पुनर्जन्म का शास्त्रीय स्वरूप अब तक इन लोगों के समझ में नहीं आया है। आर्यशास्त्रों के अनुसार परलोक रहस्य दुर्ज्ञेय होने पर भी जानने योग्य अवश्य है। यद्यपि लौकिक प्रत्यक्ष और उसी के आधार पर अवलम्बित अनुमान-प्रमाण द्वारा परलोक का विषय निःसन्देह रूप से नहीं जाना जा सकता है तो भी अलौकिक प्रत्यक्ष एवं आप्त प्रमाण या आप्त उपदेश द्वारा उसे जाना जा सकता है, कार्य के कारण का अन्वेषण और परलोक तत्वान्वेषण दोनों वस्तुतः एक ही बात हैं। यदि जगत् के कारण का अनुसन्धान करना हो तो ईश्वर, जीव, आत्मा, कर्म, शक्ति, परमाणु आदि तत्त्वों का अनुसन्धान करना ही होगा। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मान कर कोई भी व्यक्ति दार्शनिक नहीं कहा सकता, क्योंकि मनुष्य की स्थूल इन्द्रियां स्वभावतः असम्पूर्ण हैं एवं उनकी पहुँच भी बहुत ही थोड़ी दूर तक है। अतः केवल स्थूल इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने और जानने योग्य लौकिक प्रत्यक्ष से किसी सूक्ष्म पदार्थ तत्वनिर्णय कभी हो नहीं सकता। इस कारण परलोक सम्बन्धीय विषयों के जानने के लिये तो अलौकिक प्रत्यक्ष, जो योगशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, उसी की शरण लेनी होगी एवं अलौकिक प्रत्यक्ष, जिन्होंने किया है ऐसे आप्त-पुरुषों के उपदेश को स्वीकार करना होगा।

जगत् की सृष्टि किस प्रकार से हुई है? चेतन एवं जड़ पदार्थों का स्वरूप क्या है? जीवों की उत्पत्ति किस तरह से होती है? मृत्यु के बाद जीव का अस्तित्व रहता है कि नहीं? संसार में कोई जन्मते ही बहुत सुखी, कोई चिर दुःखी देखा जाता है, कोई जन्मांध, कोई सुन्दर आँखों वाला, कोई अत्यन्त

परिश्रम करके भी अपने तथा अपने परिवार का पेट नहीं भर पाता, कोई साधारण प्रयत्न से अनायास ही धन-कुबेर बन जाता है, कोई चिर रोगी, कोई अङ्गहीन या विकलाङ्ग होता है, तो कोई सुन्दर स्वस्थ शरीरवान् होता है, इत्यादि जो संसार में विषमता देखी जाती है, इसका क्या कारण है ? सब का समान रूप से शुभ चाहने वाले जगत्पिता परमेश्वर के राज्य में ऐसा घोर अन्याय या पक्षपात क्यों है ? केवल स्थूल प्रत्यक्ष के आश्रय से इन प्रश्नों का समाधान कदापि भी संभव नहीं है। क्रमविकास (Evolution Theory) के सिद्धान्तों में भी इन शंकाओं के संतोषजनक समाधान का कोई उपाय नहीं देखने में आता है। संसार के नाना दुःखों से जर्जरित हृदय में शांति-सुधा का संचार करने की शक्ति स्थूल प्रत्यक्षवाद में कदापि भी नहीं है। परमाणुओं के परस्पर मिलने से जीवों की उत्पत्ति होती है। पंचभूतों का सम्मिश्रण ही जीवत्व का कारण है। पुनः उनका विलग होना ही मृत्यु है। ऐसी बातों से किसी भी विचारशील व्यक्ति को संतोष नहीं हो सकता। प्रबल युक्ति से निरुत्तर हो जाने पर भी अन्तःकरण इस बात को मान कर तृप्त नहीं हो सकता, जब तक कि विवेक और विचार शक्ति को तिलाञ्जलि न दे दी जाय। छोटे से छोटे प्राणी से लेकर मनुष्य तक सभी में अपने अस्तित्व रक्षा की प्रबल इच्छा तथा चेष्टा देखी जाती है। मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा, इतना पुरुषार्थ, इतना प्रयत्न, पुण्य के लिये कठिन तपस्या, संगम इत्यादि सभी शरीर नाश होने के साथ ही साथ सदा के लिये नष्ट हो जायंगे, इस प्रकार के प्रगल्भ विश्वास को कौन विचारवान् धीर व्यक्ति अपने मस्तिष्क में स्थान दे सकता है ? अपने जिस अस्तित्व के लिये प्रत्येक जीव को इतनी आसक्ति तथा ममता है, उसका एक बार ही विनाश हो जायगा, ऐसी भावना जीव मात्र के लिये अस्वाभाविक है, मरने के अनन्तर किसी न किसी रूप में मेरा अस्तित्व रहेगा, अधिकांश मनुष्यों का यही विश्वास रहता है। ईसाई तथा मुसलमान धर्म के प्रवर्त्तकगण यद्यपि ठीक-ठीक परलोकवाद स्वीकार नहीं करते, तो भी मृत्यु के बाद जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। स्पष्ट या अस्पष्ट भाव से जैसे हो आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करना ही मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। मनुष्यों की इस नैसर्गिक इच्छा के अनुसार ही हमारे आप्त पुरुष परमपूज्य चरण महर्षियों ने अलौकिक प्रत्यक्ष के साधन रूपी परलोक रहस्य को योग दृष्टि से प्रत्यक्ष देखा था और जगत् कल्याण के लिये शास्त्रों में उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया था। अन्यान्य दूसरी जातियों में लौकिक बुद्धि की चरम सूक्ष्मता देखी जाने पर भी योग द्वारा उपलब्ध अतीतेन्द्रिय दृष्टि जिसके द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष देखा जा सकता है या जिसको योगशास्त्रों में ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा जाता है, वह नहीं देखी जाती है। इसी कारण परलोक एवं जन्मान्तर के विषय में अन्यान्य मनुष्य जातियों के विद्वान् अभी तक किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं, न उनके संदेह का अब तक निराकरण हो सका है। हमारे परमपूज्यचरण महर्षियों ने अलौकिक प्रत्यक्ष से इस विषय को केवल स्वयं ही नहीं देखा बल्कि दूसरे साधकों के देख सकने का मार्ग भी बतला दिया है। हमारे पूज्यपाद महर्षि भगवान् पतञ्जलि गम्भीर स्वर से यह घोषणा करते हैं:—

"संस्कारसाक्षात् करणात् पूर्वजातिज्ञानम्"

(योगदर्शन वि० पा० सूत्र १८)

अर्थात् हे साधक ! संस्कार के ऊपर संयम करो। ऐसा करने से तुम पूर्व जन्म में कौन थे ? कहां थे ? इत्यादि सभी बातें अलौकिक योगबल से तुम्हारे सामने दिखाई पड़ेंगी। इससे पहले योग दर्शन के दूसरे पाद में भगवान् कहते हैं कि।

"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः ।
सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥"

(योगदर्शन द्वितीय पाद)।

अर्थात् जीव का प्राक्तन कर्म ही सब दुःखों का मूल है। इस जन्म या पर-जन्म में इसका भोग हुआ करता है। इसी के द्वारा भिन्न-भिन्न जाति में जन्म, जीवित अवस्था में नाना प्रकार के सुख तथा दुःख का भोग एवं कम या अधिक आयु की प्राप्ति जीवों को हुआ करती है। अतएव जीवों का जन्म जन्मान्तर नाना विधि कर्म समूहों के द्वारा होता है या नहीं, इस विषय पर वाद-विवाद या वितण्डा करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है; केवल साधन के द्वारा योग-दृष्टि प्राप्त करने से ही जन्मान्तरतत्त्व साधक के सामने प्रतिभात या प्रत्यक्ष हो जाता है। महाभारत के अश्वमेध पर्व के १७ वें अध्याय में लिखा है:—

यथांधकारे खद्योतं लीयमानं इतस्ततः।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जी[illegible] दिव्येन चक्षुषा।
च्यवन्तं जायमानं च योनि[illegible]नु प्रवेशितम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार आँख वाले व्यक्ति अँधेरी रात्रि में खद्योत् (जुगुनू) की तरह इधर-उधर उड़ते तथा वृक्षों पर बैठते हुए देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-दृष्टि सम्पन्न सिद्ध महापुरुषगण दिव्यचक्षु के द्वारा जीवों को पहला शरीर त्याग करते, उत्पन्न होते हुए एवं दूसरी योनि में प्रवेश करते हुए देखते हैं। परम योगेश्वर श्री भगवान् कृष्ण ने गीता के १५ वें अध्याय में कहा है:—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि, भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

तात्पर्य यह है कि विषय-भोग करते समय गुणों के परिणाम में आन्दोलित जीव को देह में रहते समय या देह से निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय अज्ञानी पुरुषगण नहीं देख पाते हैं; किन्तु ज्ञानीगण अपनी ज्ञान दृष्टि से देखते हैं। अतः इन सब प्रमाणों से निश्चयरूप से ज्ञात होता है कि, अलौकिक योग-दृष्टि के द्वारा ही परलोक रहस्य जाना जा सकता है। भगवान् सद्गुरु की कृपा से जिनका ज्ञान नेत्र खुल गया है, वहां भाग्यवान् साधक जीवों के जन्म-जन्मान्तर का रहस्य वर्णन कर सकता है। विषय जितना

कठिन है उतना ही कौतुकजनक भी है। विशेषतः जगत् के अनन्त वैचित्र्यमय जीवों की वैचित्रतापूर्ण गहन गति देख कर प्रायः सभी के मन में परलोक के विषय में जानने की प्रबल उत्कण्ठा होती है। अतः आगे के अध्यायों में इस विषय पर क्रमबद्ध विचार किया जाएगा।

(२) सृष्टि की उत्पत्ति का कारण—पर लोक के विषय में विचार करने के लिये प्रथम जन्म के विषय में विचार करना होगा। सृष्टि क्यों हुई? यह सृष्टि किसने उत्पन्न की? अनेक सुख-दुःख, अनन्त वैचित्र्यमय इस जगत् के उत्पन्न होने का कारण ही क्या था? यदि परमात्मा ही इसके रचयिता हैं तो वृथा असंख्य जीवों को जन्म-मरण के चक्र में डाल कर असीम सुख दुःख में घुमाने एवं अपनी शान्तिमय सत्ता को चिर् अशान्तिमय बनाने की उन्हें क्या आवश्यक्ता पड़ी? परमात्मा को शास्त्रों में अनन्त शान्तिमय कहा गया है, तब क्यों उन्होंने इस जगत् को बनाया? इसके द्वारा उनका कौनसा उद्देश्य सिद्ध हुआ? आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करने की चेष्टा करने वाले प्रत्येक साधक के अन्तःकरण में इस प्रकार के प्रश्न स्वतः उठते हैं। इस कारण सर्व प्रथम सृष्टि के कारण का निर्णय आवश्यक है। प्रवाहरूप से यद्यपि अध्यात्मिक सृष्टि अनादि अनन्त है, तो भी ब्रह्माण्ड एवं पिण्डसृष्टि सादि अन्त सहित है। शास्त्रों में लिखा है:—

'अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति।"

(महानारायणोपनिषद्)

अर्थात् इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भासमान हो रहे हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में ज्योति देने वाले भगवान् सूर्य हैं। अनेक ग्रह इन सूर्यदेव की प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हमारे इस ब्रह्माण्ड में अब तक २४८ ग्रह एवं २० उपग्रहों का पता चला है। प्रत्येक ग्रह तथा उपग्रहों को सूर्य से ही ज्योति मिलती है। इस प्रकार २६८ ग्रह-उपग्रहों तथा मध्यवर्त्ती सूर्य को लेकर हमारा यह एक सौर जगत है, एवं यही हमारा ब्रह्माण्ड है। इस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड इस अनन्त शून्य आकाश में आकर्षण विकर्षण शक्ति द्वारा अवस्थित हैं। देवी भागवत में कहा है:—

"संख्या चेद्रजसामस्ति विश्वेषां न कदाचन।"

अर्थात् धूलिकणों की भले ही संख्या हो सकती है किन्तु अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की संख्या नहीं हो सकती है। लिङ्ग पुराण में भी ऐसा वर्णन है:—

कोटि कोटयुतानीशं चाण्डानि कथितानि वै।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्राणो हरयो भवाः॥
ह्यसंख्याताश्च रुद्राख्या ह्यसंख्याता पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

कोटि कोटि ब्रह्माण्ड विराट् के शरीर में सन्निहित हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ही चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु, एवं रुद्र हैं। इस तरह अनन्त ब्रह्माण्ड में असंख्य ब्रह्मा, अगणित विष्णु एवं असंख्य रुद्र विराजते हैं।

केवल ईश्वर एक है। वे ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड में चेतन-सत्तारूप से परिव्याप्त होकर उनका ईक्षण करते हैं। इन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में अनंत कोटि जीव समूह हैं। इतने ब्रह्माण्ड क्यों हुए, इतने जीव ही उनमें कहां से आगये ? इन प्रश्नों के उत्तर में माण्डूक्य कारिका में गौड़पादाचार्य्य ने विस्तारित वर्णन किया है, यथा:—

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टि चिन्तकाः ।
स्वप्नमाया स्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥
इच्छामात्रे प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्त कामस्य का स्पृहा ॥

अर्थात् सृष्टि के कारण के निर्णय के सम्बंध में कोई कहते हैं कि परमात्मा ने अपना वैभव प्रकट करने के लिये सृष्टि की रचना की है। कोई कहते हैं कि, जिस तरह बिना विचारे स्वप्न आते हैं, उसी तरह अकस्मात् सृष्टि हो जाती है। किसी के मत में जगत् माया का विलास मात्र है, कोई परमात्मा की इच्छा शक्ति को सृष्टि का कारण कहते हैं। कोई कहते हैं कि, काल ही जीवों की उत्पत्ति का हेतु है। किसी के मत में परमात्मा के आनन्द-विलास के लिये सृष्टि उत्पन्न हुई है, एवं किसी की सम्मति में सृष्टि भगवान् की क्रीड़ा के लिये हुई है। परन्तु इनमें से कोई भी युक्ति संतोषजनक नहीं है क्योंकि आप्त काम भगवान् में इच्छा का होना सम्भव नहीं है, सृष्टि भगवान् से स्वतः उत्पन्न हुआ करती है, उसका कोई मौलिक कारण नहीं है। सृष्टि स्वाभाविक है, इस विषय का वेद में भी स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

"जिस प्रकार मकड़ी स्वभावतः जाल फैलाती और समेटती रहती है, जिस तरह पृथ्वी पर स्वभाव से ही औषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित मनुष्य के शरीर में केश-लोम अपने आप उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परम पुरुष से अपने आप जगत् उत्पन्न होता है। भगवान् की सत्ता सर्वत्र ही विराजमान है। भगवान् की चेतन-सत्ता के सामने रहने से महाप्रकृति में त्रिगुण का हिल्लोल, परिणाम या स्पन्दन स्वतः होता है, क्योंकि प्रकृति का स्वभाव ही परम पुरुष के सामने क्रियाशील रहने का है। इस कारण परम पुरुष परमात्मा के निकटवर्ती रहने से महाप्रकृति में नित्य त्रिगुण का स्पन्दन हुआ करता है। इस त्रिगुण के स्वाभाविक नित्य स्पन्दन द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं उनमें अनन्त कोटि जीवों की उत्पत्ति भी स्वभाव से ही हुआ करती है। सृष्टि के कारण-निर्णय सम्बन्ध से शास्त्रकारों ने अब तक जो कुछ विचार किया है, उनमें यह विचार बहुत स्वाभाविक और बुद्धि ग्राह्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जगत् की उत्पत्ति का और क्या कारण कहा जा सकता है ? इसको और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये महासमुद्रका उदाहरण दिया जा सकता है। एक ओर समुद्र इतना गम्भीर एवं शान्त है जिसके उदाहरण में भगवान् कहते हैं:—

आपूर्य्यमानमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (गीता अ० श्लो०)

समुद्र के विशेषण को देखिये, ऊपर तक लबालब भरा हुआ है, परन्तु अचल स्थिर एवं इतना गम्भीर है कि सब नदियाँ उसमें समा कर शान्त हो जाती हैं एवं अपनी चंचलता को भूल जाती हैं, नदियों के जल से समुद्र न तो बढ़ता है, न उसके स्थैर्य्य एवं गांभीर्य्य में ही कोई प्रकार का अन्तर आता है। दूसरी ओर जल का धर्म तरङ्गायित होना भी है, इस धर्म के अनुसार उसमें बड़ी-बड़ी अनन्त तरङ्गमालायें भी उठा करती हैं, एवं उन प्रत्येक तरङ्गों में अलग-अलग सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। इसी तरह परम पुरुष परमात्मा की एक अनादि अनन्त चित्सत्ता सर्वत्र विद्यमान् तथा सदा एक रस है, जिसमें पहुँच कर प्रकृति माता शान्त हो जाती है तथा अपने सारे क्रिया-कलाप तथा स्वाभाविक चाञ्चल्य को भूल जाती है। इसी प्रकार परमात्मा की दूसरी सत्ता है और उसकी शक्तिरूपिणी प्रकृति उससे पृथक् है, वह उसे ईक्षण करता है (देखता है)। उसके देखने से ही प्रकृति माता क्रियाशील होती है और तब उसके त्रिगुण की समता में विषमता उत्पन्न होती है, एवं महा-प्रकृति के अनन्त तरङ्गों में भगवान् की चित्सत्ता के प्रतिबिम्बरूपी अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं। यह प्रकृति का स्वभाव कहा जा सकता है, या परम पुरुष का भी स्वभाव कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकृति उसी की है। इस विषय पर जितना ही विचार किया जाय, यही सिद्ध होता है कि, सृष्टि का कारण प्रकृति का स्वभाव ही है।

अनन्त अगणित ब्रह्माण्डमयी यह सृष्टि कब से होती आ रही है, एवं कहां कब इसका अन्त होगा, इसका कुछ पता नहीं है। एक ब्रह्माण्ड या एक पिण्ड नाश होता है, परन्तु अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा अनन्त पिण्ड विद्यमान् रहते हैं। इस कारण वेद के उपासना काण्ड के मीमांसा शास्त्र ने अध्यात्मसृष्टि को प्रवाहरूप से अनादि अनन्त कहा है, और अधिदैवरूप ब्रह्माण्ड सृष्टि तथा अधिभूतरूपी पिण्ड सृष्टि को सादि-सान्त कहा है। जैसा हम देखते हैं कि प्रत्येक शरीर का नाश होता है, वैसे ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड का भी नाश होता है। जैसे पिण्डरूपी मनुष्य शरीर की आयु, परिमित और निश्चित है, वैसे ही प्रत्येक ब्रह्माण्ड की आयु भी परिमित और निश्चित है। जैसे एक ब्रह्माण्ड का नाश होने पर भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड महाकाश में विद्यमान रहते हैं, इसी प्रकार एक मनुष्य की मृत्यु होने पर असंख्य मनुष्य पिण्ड मनुष्यलोक में जीवित रहते हैं। सृष्टि के इसी अनादि अनन्त प्रवाह को लक्ष्य करके देवी भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण के नित्य धामरूपी गोलोक की कल्पना एवं राधाकृष्ण के नित्य लीला का वर्णन किया गया है। दैवी मीमांसा दर्शन शास्त्र में निष्क्रिय निर्गुण ब्रह्म से द्वैत प्रपञ्चरूप जगत् का आविर्भाव क्यों होता है, इस पर भी प्रकाश डालने का अच्छा प्रयत्न किया गया है। ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् एवं आनन्दमय है। यह तीन भावमय अद्वैत सत्ता ही निर्गुण ब्रह्म शब्द वाच्य है। परन्तु इन्हीं तीनों भावों के अलग-अलग व्यक्त होने पर सगुणभाव का प्राकट्य होता है। पर ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावों में से सत्सत्ता का अनुभव "अस्ति" रूप से एवं चित् सत्ता का अनुभव "भाति" रूप से स्वतन्त्र रूप से होता है, परन्तु आनन्द सत्ता का अनुभव बिना सत् एवं चित् इन दोनों के आश्रय से नहीं होता है। इसी आनन्द सत्ता के विकास के लिये ब्रह्म से सृष्टि का आविर्भाव हुआ करता है।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि सृष्टि स्वाभाविक ही सिद्ध हुई तो उसके मूल में ईश्वर के अस्तित्व का ही प्रयोजन क्यों है ? एवं "एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय" मैं एक से बहुत होऊं तथा प्रजा की सृष्टि करूं। ऐसे वचन वेदों में क्यों मिलते हैं, जिससे सृष्टि के मूल में परमात्मा की इच्छा शक्ति होना प्रमाणित होता है ? देवी भागवत् में इसका उत्तर इस प्रकार है:—

जड़ाऽहं तस्य सान्निध्यात् प्रभवामि सचेतना।
अयस्कांतस्य सान्निध्यात्यसश्चेतना यथा ॥
निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्ग कर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्य शक्तयः ॥

तात्पर्य यह है कि, प्रकृति जड़ है। जड़ वस्तु में स्वतः क्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती है। इस कारण जिस तरह लोहे में क्रिया उत्पन्न करने के लिये चुम्बक का सामने होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जड़ प्रकृति में क्रिया उत्पन्न होने के लिये चेतन ईश्वर का निकट होना अनिवार्य है। चेतन ईश्वर का महा प्रकृति के सामने न होने से महाप्रकृति में त्रिगुण का स्पन्दन नहीं हो सकता। इस प्रकार सृष्टि के मूल में परमात्मा निमित्त कारण अवश्य ही है। जड़ प्रकृति ईश्वर की चेतनसत्ता प्राप्त कर पहले चेतन होती है, और उसके बाद परिणामिनी होकर सृष्टि उत्पन्न करती है। इसमें ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध कुछ भी नहीं है। वेदों में जो भगवान् की इच्छाशक्ति को सृष्टि का कारण कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि महाप्रलय के पश्चात् प्रलय के गर्भ में विलीन समष्टि जीवों के कर्म बीजरूपी संस्कार समूह जब पुनः अंकुरोत्पत्ति के योग्य हो जाते हैं, तब उन्हीं समष्टि जीवों के प्राक्तन कर्मों के अनुसार ईश्वर में जीव-सृष्टि की प्रेरणा स्वतः हुआ करती है। इसी प्रेरणा को वेदों ने एक से बहु होने की इच्छा कह कर वर्णन किया है। अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली साधारण प्राकृतिक इच्छा अनिच्छारूप स्वाभाविक होने में इच्छा मात्र है। इसके द्वारा सृष्टिक्रिया में परमात्मा की निर्लिप्तता एवं निमित्त कारणता में कोई बाधा नहीं होती। वेद-शास्त्रों में सृष्टि कार्य में ईश्वर का किस प्रकार प्रयोजन है; इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे भी आवेगा।

३. पिण्ड-ब्रह्माण्ड विवेचन——

केवल अन्न द्वारा परिपुष्ट एवं पालित स्थूल शरीर से जीवात्मा निकलने के अनन्तर जहां जाकर रहता है, उसे परलोक कहते हैं। जिस प्रकार पुराने जीर्ण वस्त्र को परित्याग कर हम नूतन वस्त्र धारण करते हैं, ठीक इसी प्रकार जीव एक जन्म के लिये निश्चित् प्रारब्ध कर्मों के भोग शेष हो जाने पर अपने इस जीर्ण स्थूल शरीर को त्याग करके सूक्ष्म एवं कारण शरीर के साथ परलोक में जाता है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय ये पाँच कोष हैं, जिनके द्वारा जीवात्मा ढका रहता है। अन्नमय कोष से बना हुआ हमारा यह स्थूल शरीर है। प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय इन तीनों कोषों का दूसरा नाम सूक्ष्म शरीर है। तीसरे इन सबसे सूक्ष्म एवं जीवत्व का मूल कारण आनन्दमय कोष को कारण शरीर कहते हैं। मृत्यु के समय जीव इन पांच कोषों में से केवल एक अन्नमय कोष को यहां इस लोक में) परित्याग करके बाकी चार कोषों के साथ लोकान्तर को जाता है। अथवा यों कह सकते

हैं कि तीन शरीरों में से केवल स्थूल शरीर को यहां परित्याग करके सूक्ष्म एवं कारण शरीर सहित जीव परलोक में गमन करता है। अन्यान्य कोषों को लेकर प्राणमय कोष निकल जाता है। इस कारण किसी की मृत्यु होने पर जन साधारण में कहा जाता है कि, "उसका प्राण निकल गया।"

जीवात्मा इस लोक को परित्याग करके परलोक में जाने के समय देवताओं की सहायता से 'अतिवाहिक' शरीर नामक एक सामयिक शरीर प्राप्त करता है। जिस प्रकार लिफ़ाफे में रख कर पत्र भेजा जाता है। उसी प्रकार देवतागण अतिवाहिक शरीर में जीवात्मा को रख कर लोकान्तर में ले जाते हैं। जीव को इस रीति से लोकान्तर में ले जाने के लिये नाना श्रेणी के देवता हैं; जैसे प्रेतलोक एवं नरकलोक में ले जाने के लिये यमदूतगण, स्वर्ग में ले जाने के लिए देवदूतगण एवं असुरलोक में ले जाने के लिये असुरदूतगण हैं। अपने उच्च पदाधिकारियों की आज्ञा पाकर ये दूतगण उन-उन लोकों में जीवों को ले जाते हैं जिनके वे योग्य होते हैं। जिस लोक में जीव ले जाया जाता है, वहां पहुँचते ही वह उसी लोक का शरीर प्राप्त करता है। जैसे मृत्यु के बाद कोई जीव प्रेतलोक में जाय तो वहां उसे प्रेत शरीर मिलता है। प्रेत-शरीर उसके पहिले के शरीर के सदृश ही होता है, किन्तु उसमें वायुतत्व की प्रधानता होती है, इस कारण वह शरीर सूक्ष्म होता है। अतः इस स्थूल दृष्टि से साधारणतः वह नहीं देखा जाता। इसी प्रकार यदि नरक में जाना हो तो जीव को वृद्ध जीर्ण नारकीय शरीर मिलता है, क्योंकि वहां पापों के फल स्वरूप दुःख भोगाया जाता है, एवं स्वर्ग में जाने पर जीव को सुख भोग के उपयोगी युवा शरीर प्राप्त होता है।

उपरोक्तानुसार पञ्चकोषमय जीव शरीर को 'पिण्ड' कहते हैं। इस पिण्ड की लोकान्तर में किस प्रकार गति होती है, सो संक्षेप में ऊपर कहा गया है। इस मृत्यु लोक का स्थूल पिण्ड पृथ्वी तत्व प्रधान है। अन्याय सूक्ष्म लोकों में उन-उन लोकों के उपयोगी तत्वों का प्राधान्यमूलक शरीर होता है। इस कारण हम इन पार्थिव नेत्रों से देव शरीर नहीं देख सकते। सूक्ष्म दिव्य दृष्टि प्राप्त करके देख सकते हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक होने से उसका गुण शब्द भी सर्वव्यापक है, परन्तु सब स्थानों में हम शब्द नहीं सुन पाते, वही शब्द रेडियो यन्त्र की सहायता से कितने ही दूर का सुनाई पड़ता है, इसी प्रकार दैवी-शक्ति प्राप्त करने पर देवपिण्ड इसी स्थूल दृष्टि से देखा जा सकता है, एवं योगबल से हम दूर के शब्दों के श्रवण की शक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं, जिसका वर्णन योगदर्शन में किया गया है।

भू, भुवः, स्व, मह, जन, तप और सत्य— ये सात ऊपर के लोक हैं, जो ऊर्ध्वलोक कहलाते हैं। ऐसे ही इनके नीचे भी सात लोक हैं, जिनको अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नाम से अभिहित करते हैं। ऐसे ये १४ लोक हैं, इन्हीं को फ़ारसी में १४ तबक कहते हैं और जैन धर्मी १४ गुनष्ठान के नाम से पुकारते हैं। इनमें उपरोक्त प्रथम लोक भूलोक के अनेक अन्तर्विभाग होने पर भी उसके प्रधानतः चार भाग हैं-मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। प्रेतलोक हमारे इस पृथ्वी लोक के आस-पास है। शरीर एवं संसार के बन्धु बान्धवों के प्रति विशेष आसक्ति रहने से शरीरान्त के बाद प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है। यह एक प्रकार की अज्ञान-जनित मूर्छा की अवस्था है। सांसारिक विषयों में विशेष आकर्षण प्रायः सभी स्त्री-पुरुषों को रहता ही है। इस कारण कम या अधिक समय के लिये प्रेतयोनि की प्राप्ति प्रायः सभी को होती है। किसी बिरले पुण्यात्मा व्यक्ति को जिसने इस

मृत्युलोक के विषयों से अपने मन को मृत्यु के समय हटा लिया हो, नहीं भी होती है। इसी कारण आर्य-शास्त्रों में एक वर्ष तक मृतात्मा के निमित्त प्रेत श्राद्ध की विधि पाई जाती है। श्राद्ध के द्वारा प्रेतत्व का नाश होता है। ऊपर के सात लोकों में से भूलोक का एक छोटा अंश मृत्युलोक है जिसमें मनुष्य वास करते हैं, उसके अतिरिक्त सभी में देवपिण्ड धारी नाना श्रेणी के देवता वास करते हैं। नीचे के सप्त लोकों में असुरगण वास करते हैं।

देवता और असुर दोनों ही देवपिण्डधारी जीव हैं। असुरगण नीचे के लोकों में देवताओं की अपेक्षा अधिक इन्द्रिय भोग जनित सुख प्राप्त करते हैं। देवतागण आध्यात्मिक उन्नति मूलक सुख भोग करते हैं। इस आध्यात्मिक उन्नतिमूलक सुख की तुलना में घोर इन्द्रिय सुखमूलक उस आसुरी सुख को देवतागण हेय एवं घृणित समझते हैं। जीवगण पुण्यफल से दैवी या आसुरी सुख की इच्छा के अनुसार इन आसुरी या दैवी लोकों में जाते हैं। दैव एवं आसुरी प्रवृत्तियों का वर्णन श्रीभगवान् ने गीता में अच्छी तरह से किया है।

पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में बहुत समानता है। मनुष्य शरीर के नाभि से कन्धे तक के अङ्ग अधिक कार्यकारी हैं; उसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भू, भुव एवं स्व ये तीन लोक विशेष कार्यकारी हैं। इन्हीं तीन लोकों में से भू लोक के अन्तर्गत जैसा कि पहिले कहा गया है, हमारा यह मृत्युलोक, पितृलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और सप्त-दीपों के अन्यान्य अनेक देवलोक विद्यमान हैं। भुवर्लोक में नाना ग्रह नक्षत्र-पूर्ण अनेक देवलोक विद्यमान हैं। ध्रुवलोक इसकी अन्तिम सीमा है। इसके बाद स्वर्गलोक है, इसमें देवराज इन्द्र की राजधानी है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर के कन्धे के ऊपर का भाग शिर ज्ञान का आधार है, उसी प्रकार तीसरे लोक में ऊपर मह, जन आदि चार लोक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक ज्ञान के आधार हैं। इनमें आध्यात्मिक उन्नतिशील देवतागण वास करते हैं।

जैसे मनुष्य समाज में देखा जाता है कि नीचे के अधिकार के मनुष्य मद्यपान कर उन्मत्त हो नाचते गाते हैं, तो शिक्षित मनुष्य समाज उन्हें उपेक्षा-की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार देवतागण भी आसुरी इन्द्रिय सुख को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। इस कारण सात्विक प्रवृत्ति वाले देवगण असुरों के अधिकार में प्रवेश करने की कभी इच्छा नहीं करते। किन्तु ठीक इसके विपरीत असुरगण देवताओं का अधिकार छीनने के लिये सदा यत्नवान रहते हैं। मनुष्य शरीर में नाभि से लेकर शिर तक जो-जो स्थान एवं अधिकार हैं, ब्रह्माण्ड के सातों ऊपर लोकों में वे ही स्थान एवं अधिकार हैं एवं पिण्ड-रूपी मनुष्य शरीर के नाभि के नीचे के भागों के जो अधिकार हैं, ब्रह्माण्ड के नीचे के सात लोकों के भी वैसे ही अधिकार हैं। इस कारण पिंड एवं ब्रह्माण्ड की समानता निर्धारित हुई है।

भूः भुवः एवं स्वः इन तीन लोकों में सात्त्विक इन्द्रिय सुखभोग की प्रधानता है, इस कारण सात्त्विक इन्द्रिय सुख के अभिलाषी जीवगण इन तीन लोकों में अपने अपने अधिकार के अनुसार वास करते हैं। इन्द्रियों के ऊपर अधिकार करने में समर्थ निवृत्ति परायण योगी एवं साधुगण चौथे लोक में वास करने का अधिकार पाते हैं। इसी कारण सन्यासाश्रम में भूः भुवः स्वः इन तीन लोकों के त्याग के संकल्प की मर्यादा देखी जाती है। जिन्होंने इन्द्रिय एवं मन दोनों को अपने आधीन करने की शक्ति प्राप्त

की है, ऐसे महात्मा पंचम लोक में वास करते हैं। जिन्होंने बुद्धि के ऊपर भी आधिपत्य प्राप्त कर लिया है, वे महापुरुष छठे लोक में वास करते हैं और जिन परम योगियों ने प्रकृति को भी अपने वश में कर लिया है, वे सप्तम ऊर्द्ध लोक सत्यलोक में निवास करने का अधिकार प्राप्त करते हैं। यह चारों लोक उत्तरोत्तर उन्नत हैं और साधारण विचार से अतीत हैं।

शास्त्रों में भूर्लोक के अन्तर्गत सात द्वीपों और उन सात द्वीपों में और अनेक लोक तथा उन सब में का वर्णन मिलता है, हमारे इस मृत्युलोक भारतवर्ष के अतिरिक्त शेष सब देवलोक हैं। एवं इन सात द्वीपों के चारों ओर जो सात समुद्रों का शास्त्रों में वर्णन है, वे समुद्र इस पृथ्वी के समुद्र की तरह जलमय नहीं हैं, किन्तु विभिन्न उपादानों से बने हुये विभिन्न तरह के वायु के आवरण की तरह हैं। इन सब स्थानों में रहने वाले जीव देव पिण्डधारी हैं। इनकी आयु हमारी आयु से बहुत अधिक है। सप्तद्वीपों में से बीच के द्वीप का नाम जम्बुद्वीप है। इसी में धर्मराज यम की राजधानी है। इसी में पितृलोक भी है। इस स्थूल लोक में जैसे दुष्टों को दण्ड देने के लिये कारागार अर्थात् जेल हैं, वैसे ही परलोक में, उनको नरक लोक कहते हैं। नरक लोक अनेक प्रकार के हैं।

मानव पिण्ड में मेरुदण्ड जिस प्रकार इस स्थूल शरीर को धारण किये रहता है, ठीक इसी प्रकार दैवपर्वत सुमेरु अलौकिक शक्ति-पुञ्जधारी विशाल दण्ड की तरह इस बृहत् ब्रह्माण्ड को लिये हुए है। शास्त्रों में वर्णन है कि, हमारे ब्रह्माण्ड के सूर्य नक्षत्रादि इसी सुमेरु पर्वत के चारों ओर अपने-अपने स्थानों में घूमते रहते हैं और उस सुमेरु की अलौकिक शक्ति से बंधे रहने के कारण वे अपने स्थान से गिर नहीं पड़ते। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त से हमारे शास्त्रों के इस वर्णन को मिलाकर विचार कर सकते हैं कि, सूर्य अपने ग्रह-उपग्रहों के साथ किसी अदृश्य शक्ति के बल से किसी अनिर्दिष्ट मार्ग पर वेग से घूम रहे हैं। मालूम होता है कि, ये सूर्य तथा नक्षत्रगण अपने समष्टि मध्याकर्षण के केन्द्र स्थान के चारों ओर अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान में भ्रमण करते हैं। सुमेरु पर्वत और समष्टि मध्याकर्षण को यदि एक वस्तु मान लिया जाय तो हमारे शास्त्रों के वर्णन एवं वर्त्तमान वैज्ञानिक मतवाद में कोई विरोध ही शेष नहीं रहता है।

इस सुमेरु पर्वत द्वारा सुरक्षित देव, दनुज, दानव, मानव, आदि के द्वारा निषेवित सात ऊर्ध्वलोक एवं सात अधोलोक में विभक्त, विराट् मूर्तिमान नाना जीवों के वास के उपयोगी स्थान को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं। हमारा यह ब्रह्माण्ड जैसे प्रकृति माता की एक विशाल लीलाभूमि है। ऐसे ही सर्व शक्तिमान् भगवान् की प्रकृति से उत्पन्न अनन्त ब्रह्माण्ड समूह अनन्त आकाश में घूम रहे हैं। मनुष्य शरीररूपी मानव पिण्ड की तरह इन सब ब्रह्माण्डों की भी उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश हुआ करता है, श्री भगवान् के कृपापात्र भावुक भक्त प्रकृति माता की इस अनादि अनन्त मधुर लीला को देख आनन्द से गद्गद् होते हैं, कोई भाव विह्वल हो गाने लगते हैं:—

श्लोक

"सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं, सर्वेपि कल्पद्रुमा,
गाङ्गं वारि समस्त वारि निवहाः, पुण्याः समस्ता क्रिया।

वाचः प्राकृत संस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी,
सर्वाव स्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे पर ब्रह्मणि ॥

जिस संत ने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये सारा जगत् नन्दन बन है, सब वृक्ष कल्प वृक्ष हैं, जल गङ्गा जल हैं, उसकी सारी क्रियाएँ पवित्र हैं, उसकी वाणी चाहे प्राकृत हो या संस्कृत वह वेद का सार है, उसके लिये सारी पृथ्वी काशी है और उसकी सारी चेष्टायें परमात्ममयी हैं।

अन्यथा —

परलोक-ज्ञान के बढ़ाने के लिये सबसे पहिले दैवीजगत् का स्वरूप जानना उचित है। हिन्दू-धर्म के वेद और पुराणादि शास्त्रों के अनुसार हमारा यह ब्रह्माण्ड चौदह बड़े-बड़े हिस्सों में बटा हुआ माना गया है। वे चौदह लोक कहाते हैं। उन चौदह लोकों के अन्तर्गत और भी अनेक छोटे-छोटे लोक हैं। शास्त्रों में ऐसा वर्णन है कि मनुष्य पिण्ड के ढँग पर ही ब्रह्माण्ड-पिण्ड की भी बनावट है। मनुष्य जैसे पैरों के ऊपर खड़ा रहता है वैसे ही ब्रह्माण्ड भी पाद पर्वत के ऊपर खड़ा रहता है। पाद पर्वत वैद्युतिक शक्ति के ढंग के किसी दैवी शक्तिपुञ्ज का पर्वत है। दो हाथ रूप में उसी प्रकार लोकालोक पर्वत ब्रह्माण्ड को इधर-उधर हिलने से बचाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के बीच में एक वैद्युतिक ढंग की शक्ति का बना हुआ सुमेरु पर्वत है। जैसे मनुष्य के शरीर में मेरुदण्डरूपी (बैकबोन) हड्डी है वैसे ही ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला यह सुमेरु पर्वत भी है। इसके चारों ओर चौदह लोकों के सब लोक जकड़े हुए रहते हैं। नीचे के अतल, बितल, सुतल आदि सात लोकों में नाना श्रेणी के असुरों का निवास है। उनकी राजधानी भी है तथा उनके राजा भी अलग हैं। ऊपर के भूलोक; भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक आदि सात लोकों में नाना श्रेणी के देवता वास करते हैं। देव लोकों की राजधानी ऊपर के तीसरे लोक अर्थात् स्वर्लोक में है। नीचे के सात लोकों में आसुरी इन्द्रिय सुख मिलता है। ऊपर के तीन लोकों में अर्थात् भू भुवः स्वः में दैवी इन्द्रिय-सुख मिलता है। उसके ऊपर के चौथे लोक में इन्द्रिय-सुख त्याग करने वाले और इन्द्रियों पर आधिपत्य करने वाले देवता वास करते हैं। इसी प्रकार पांचवें लोक में इन्द्रिय और मन दोनों पर आधिपत्य करने वाले रहते हैं और छटे लोक में इन्द्रिय-मन और बुद्धि पर आधिपत्य करने वाले रहते हैं। सबसे ऊपर के सातवें लोक में इन्द्रिय मन बुद्धि और प्रकृति सब पर आधिपत्य करने वाले रहते हैं। वहां से पुनरावृत्ति नहीं होती है।

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते"—इसे ही सत्यलोक कहते हैं।

उत्तर दिशा में देव लोक है। उत्तर का ध्रुव लोक अर्थात् ध्रुवतारा जो रात को उत्तर में स्थिर दिखाई देता है, वह भुवर्लोक और स्वर्लोक के बीच में स्थित है। उसके बाद और उत्तर में, शेष पाँच ऊर्ध्व लोक हैं। भुवर्लोक में और भूर्लोक में सूर्य के आस-पास सब ग्रह-उपग्रह आदि विद्यमान हैं। भू-लोक में हमारे पृथ्वीलोक के दक्षिण दिशा में यमराज की राजधानी है, पितृ लोक जो साधारणतः स्वर्ग लोक है सो भी स्थित है और नरकलोक जो बंदियों के कारागार के समान दुःख भोग का एक लोक है वह भी विद्यमान है जो हमारे मृत्युलोक के आस-पास ही स्थित है। भगवान् यम धर्मराज का अधिकार

साक्षात् रूप से प्रेतलोक, पितृलोक व नरकलोक पर है, पर परोक्षरूप से उनका अधिकार हमारे विश्व पर भी है। भगवान् यम धर्मराज के दो रूप माने गये हैं। जीव जब मृत्यु के पश्चात् उस लोक में जाते हैं तब पापियों को तो वे यमरूप से और पुण्यात्माओं को धर्मराजरूप से दिखाई पड़ते हैं। उनके दो प्रधान मंत्री हैं। एक का नाम चित्रगुप्त और दूसरे का नाम विचित्रगुप्त है। चित्रगुप्त जीवों के पुण्यकर्मों के संस्कार का हिसाब रखते हैं और विचित्रगुप्त पाप कर्मों के संस्कार का हिसाब रखते हैं। जीवों के कर्म के बीजरूपी संस्कार उनके चित्ताकाश और चिदाकाशरूपी आकाश में अङ्कित रहते हैं। उन्हीं संस्कारों से ये दोनों मन्त्री अपने अपने हिसाब का खाता बना लेते हैं। तदनुसार चित्रगुप्त पुण्यलोकरूपी नाना स्वर्गलोकों में और विचित्रगुप्त जीवों के पापकर्मरूपी संस्कारों के आधार पर पाप भोग करने योग्य नाना नरक लोकों में अथवा प्रेतलोक में जीव को भेजने के लिये भगवान् यम धर्मराज की आज्ञा ग्रहण करते हैं। भगवान् यम धर्मराज ही हिन्दू शास्त्रों के अनुसार जीव के पुण्य और पाप का हिसाब देख कर जीवों को परलोक की नाना श्रेणी के भोगों को प्राप्त करने की व्यवस्था करते हैं। अर्थात् वे पापियों को दण्ड देने का प्रबन्ध करते हैं और पुण्यात्माओं को पुण्य भोग के लोकों में भेज देते हैं। जब जीव स्वर्गलोक में पुण्य भोग करके अथवा प्रेतलोक और नरकलोक में दुःख भोग करके अथवा दोनों श्रेणी के कर्मों का फल भोग करके इस मृत्युलोक में पुनः वापस होने को होता है, तो देवतागण उसे माता के गर्भ में पहुँचा देते हैं और अर्यमा आदि पितृगण (जो एक प्रकार के देवता हैं) जिस जीव का जैसा कर्म होता है, गर्भ में वैसा ही सुन्दर, कुरूप, विकलाङ्ग या पूर्णाङ्ग उत्तम वा अधम स्थूल शरीर बनने में सहायता करते हैं। ये सब बातें दैवी सहायता से ही होती हैं। इस संसार में जो दैवी कार्य और आसुरी कार्य होते रहते हैं वे सब देवलोक और असुरलोक के पदाधिकारियों की श्रेणी से ही होते हैं। इस मृत्युलोक की सभी सुव्यवस्था में दैवी राज्य के संचालकों का हाथ रहता है। यहाँ तक कि मुख्य-मुख्य विशेष मनुष्य जाति जाति में और मुख्य-मुख्य देश में वहाँ के जीवों के समष्टि शुभ कर्म के अनुसार जो सुवृष्टि या सुकाल आदि होता है और वहाँ के जीवों के समष्टि कुकर्मों के अनुसार जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मारी, भय और भूकम्प आदि उपद्रव होते हैं, वे सब देवताओं की ही व्यवस्था से होते हैं, ऐसा हिन्दुओं का विश्वास है। कर्म जड़ होने से उसके संचालन में चेतन दैवी शक्ति का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है, हिन्दू शास्त्र का यह मत है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड में तीन प्रधान देवता होते हैं। सृष्टि कार्य के लिए भगवान् ब्रह्मा, स्थिति कार्य के लिये भगवान् विष्णु और लय कार्य के लिये भगवान् शिव। देवलोक में दैवी व्यवस्था बांधने के लिए भी तीन श्रेणी के देवतागण कर्म के संचालक होते हैं, महर्षिगण ज्ञान के संचालक होते हैं और नित्य पितृगण स्थूल भूत समूह के व्यवस्थापक होते हैं। ये ही तीनों देव-संघ, ऋषि-संघ और पितृ-संघ कहाते हैं। शंकर आदि एकादश रुद्र, पावक आदि आठ वसु, विष्णु आदि द्वादश आदित्य, वासव अर्थात् देवराज इन्द्र, मनु, यम, धर्मराज,

स्कन्द आदि सब बड़े-बड़े देव पदधारियों के उदाहरण हैं। भृगु, नारद, व्यास और सप्त ऋषि आदि महर्षि पदधारियों के उदाहरण हैं और अर्य्यमा आदि नित्य पितरों के उदाहरण हैं। ये सब नाम वेदों के साररूप सर्वमान्य भगवद्गीता शास्त्र में भी यथास्थान पाये जाते हैं। वेद और शास्त्रों के सदृश दैवी जगत् की और परलोक की इतनी बड़ी व्यवस्था और किसी अन्य धर्म के शास्त्रों में नहीं मिलती है, परन्तु हमारे मृत्युलोक से देवलोक अलग हैं और उसमें देवतागण और असुरगण वास करते हैं, देवलोक में सुख भोग के स्वर्ग आदि लोक और दुःख भोग के नरक आदि लोक विद्यमान हैं। इस सत्य को पृथ्वी के सब बड़े-बड़े धर्म मार्ग एक वाक्य होकर स्वीकार करते हैं। ईसाई धर्म के धर्म ग्रन्थों के अनुसार स्वर्गलोक और नरकलोक का अलग अलग होना, देवतारूपी शैतानों का होना देवता की सहायता से महात्मा ईसामसीह का मातेश्वरी अविवाहिता कुमारी मेरी के गर्भ से जन्म लेना, स्वर्ग की कुँजी अपने प्रधान शिष्यों को महात्मा ईसामसीह के द्वारा सौंपना, मृत्यु के अनन्तर धार्मिक ईसाइयों को स्वर्ग में महात्मा ईसा मसीह के साथ सालोक्य और सामीप्य मुक्ति प्राप्त होना, प्रलय के पहले नीचे के स्वर्ग लोकों में शान्ति से रहना और प्रलय के बाद स्वर्ग में उच्च गति प्राप्त करना, दूसरी ओर पापियों को नरक भोग करा कर पीछे स्वर्ग में भिजवाना, दैवी जगत् से महात्माओं को दैवी प्रेरणा और दैवी वाणी आदि का मिलना इत्यादि जो ईसाई धर्म के सिद्धान्त हैं वह सब ही ऊपर लिखित वेद और शास्त्रों के सिद्धान्तों के पोषक हैं इसमें संदेह नहीं। इसी प्रकार हजरत मुहम्मद साहब के जीवन का अनुभव समूह और मुसलमान धर्म के परलोक के सिद्धान्त (समूह) ऊपर लिखित दैवी जगत् रहस्य के पोषक हैं। यह भी मानना पड़ेगा कि कुरान-शरीफ़ और मुसलमान धर्म के अन्यान्य शास्त्रीय ग्रन्थों से यह सिद्ध है कि हजरत साहब इस मृत्युलोक में रहते ही एक बार स्वर्गलोक को गये थे और वहां भगवान् के उनको दर्शन हुए थे। जिबराईल नामक देवता को भी प्रायः उनके दर्शन हुए थे और उनके द्वारा कुरान-शरीफ़ का बहुत सा हिस्सा उनको प्राप्त हुआ था। मुसलमान धर्म के अनुयायी स्वर्गलोक और असुरलोक तथा फ़रिश्ते और शैतानरूपी देवता और असुरों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मुसलमान धर्म में सुख भोग के स्वर्गलोक और दुःख भोग के नरकलोकों का तथा जिन्नाद आदि प्रेतलोकों का जिक्र आया ही करता है। ये सब मुसलमान धर्म के सिद्धान्त वेद और शास्त्र के समागत दैवी जगत् के सिद्धान्तों के अनुरूप ही हैं। संसार में जितने वैदिक मतानुयायी धर्म समुदाय हैं, वे सभी ऊपर लिखित दैवी जगत् को मानेंगे ही, क्योंकि दैवी जगत् का संक्षिप्त रहस्य और जीव का ऊर्ध्व और अधो-लोकों में जाना तथा उनको कृष्ण-शुक्ल गति का सहारा मिलना और स्वर्ग तथा नरक का अस्तित्व, देवपदधारियों का अस्तित्व सब ही उपनिषद्साररूप सर्वमान्य श्रीमद्भगवद्गीता में मिलता है। बुद्ध-धर्म और जैन धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों में तो स्वर्ग और नरकलोकों का विस्तार और कर्मों की गति का वर्णन

तथा देवलोकों के नाना शुभाशुभ भोगों का बहुत विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वे सर्व वर्णन प्रायः हिन्दू धर्म के वर्णनों से मिलते-(जुलते) ही पाये जाते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्मों में सृष्टि की स्थिति और लय कार्य में कर्म का ही विशेष सम्बन्ध माना गया है। पारसी धर्म में असुरों को देवा और देवताओं को अहुर कहते हैं। अहुर की बहुत श्रेणियां हैं। जैसे हिन्दूधर्म में स्वेदज, अण्डज, जरायुज आदि जीव श्रेणी के साथ तथा ग्रह, नक्षत्र, मास, तिथि आदि के साथ अधिदैव सम्बंध माना गया है, उसी प्रकार उसमें मास और यास के दिनों के साथ तथा अग्नि और जल आदि तत्वों के साथ अधिदैव सम्बंध माना गया है और स्वर्ग-नरक के भोगादि का सिद्धान्त तो माना ही गया है। निष्कर्ष यह है कि पृथ्वी भर के सब श्रेणी के धार्मिक सम्प्रदाय दैवी-जगत् के महत्व और उसके अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। तथा सभी धर्म मार्ग के सब व्यक्तियों के साथ और उनकी आध्यात्मिक उन्नति तथा पारलौकिक उन्नति के साथ किसी न किसी प्रकार से दैवी जगत् का सम्बंध माना ही गया है। दूसरी ओर धर्मसाधन के लोकातीत भविष्यत् फल के साथ परलोकरूपी देवलोक से बहुत कुछ घनिष्ट सम्बंध पृथ्वी के सब धर्म मार्गों में स्वीकार किया गया है। इस कारण पृथ्वी के सब वैदिक और अवैदिक धर्माचार्यों की इस विषय पर एक वाक्यता है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है। अतः पृथवी के सब धर्म-मार्गों के विचारशील व्यक्तियों को परलोक की ओर दृष्टि रख कर दैवी जगत् क सदा सम्मान करना चाहिये। जैसे राजभक्त प्रजा स्वभाव से ही अपने राजा पर सम्मान बुद्धि रखती है और साथ ही राजाज्ञा, राजचिन्ह, राज्य प्रतिनिधि और राज्य कर्मचारियों तक सब का आदर और सम्मान करके कल्याण को प्राप्त करती है; ठीक इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विस्तृत धर्मराज्य में सब विचारशील और धर्मबुद्धि सम्पन्न व्यक्तियों का कर्तव्य होना चाहिये कि पृथक्-पृथक् धर्म मार्ग पर चलते हुए भी भगवद्भक्ति के साथ ही साथ श्री भगवान् के दैवी जगत् पर तथा परलोक पर विश्वास रक्खें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के हेतु दत्तचित्त होवें।

(४) ईश्वर–तत्व विवेचन––

संसार की प्राकृतिक सब वस्तुओं में कार्यकारिणी शक्ति विद्यमान् है ऐसा देखा जाता है, तब भी एक स्वतन्त्र ईश्वर की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता पड़ती है? नदियां स्वतः प्रवाहित हो सकती हैं, अग्नि जला सकती है, वायु चल सकती है, इसमें ईश्वरत्व की क्या आवश्यकता है? अन्तःकरण को थोड़ा अन्तर्मुख करके विचार करने से इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। प्राकृतिक सब वस्तुओं में कार्यकारिणी शक्ति होने पर भी वह जड़ शक्ति है, चेतन शक्ति नहीं है, क्योंकि सब की कारणा भूता महाप्रकृति स्वयं जड़ है, जैसा कि देवी भागवत् के प्रमाण द्वारा पहले सिद्ध हुआ है। जड़ शक्ति बिना किसी चेतन

नियामक के संचालित और नियमित नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ समझ सकते हैं कि, एक रेलवे इञ्जन में सम्पूर्ण गाड़ी के खींचने की पूर्णशक्ति विद्यमान् है, परन्तु वह अन्ध एवं जड़ शक्ति होने से स्वयं नहीं चल सकती। एवं केवल चल पड़ने से भी उसे वाञ्छनीय कार्य नहीं होगा। अतः उसको चलाने तथा उसकी चाल को नियमित करने के लिये एक चालक की आवश्यकता पड़ती है। कितना वाष्प इञ्जिन में होने से गाड़ी चल सकती है, अधिक वाष्प उत्पन्न होकर इञ्जिन फट तो नहीं जायगा, किस तरह किन स्टेशनों पर कितनी देर गाड़ी ठहरेगी, फिर उसका चलाना, स्थान के अनुसार उसके वेग को कम-ज्यादा करना इत्यादि कार्य इञ्जिन स्वयं नहीं कर सकता, क्योंकि शक्ति होते हुए भी वह स्वयं जड़ है। यह तो उसको चलाने वाला चेतन शक्ति विशिष्ट व्यक्ति ही कर सकता है। अतः जब देखा गया कि संसार का एक साधारण कार्य भी चेतन शक्ति के बिना सञ्चालित एवं नियन्त्रित नहीं हो सकता, तो महाप्रकृति का इतना बड़ा अचिन्तनीय विशाल जड़ राज्य बिना किसी चेतन शक्ति की सहायता के ही संचालित एवं नियन्त्रित हो रहा है, ऐसा समझना उन्मत्त कल्पना मात्र है। दूसरा उदाहरण और लिया जाय, जैसे पृथ्वी है, उसमें शस्य उत्पन्न करने की शक्ति भी है, परन्तु किस देश की किस भूमि में और किस काल में कौनसा शस्य उत्पन्न होना चाहिये, पृथ्वी इसका निश्चय स्वयं नहीं कर सकती, इसका संयमन करने वाली सब स्थान में व्यापक भगवच्चेतनात्मक सत्ता ही कर सकती है। मेघ में जल वर्षण की शक्ति है, किन्तु किस देश में किस ऋतु में कितना जल होना चाहिये, इसका नियमन स्वयं मेघ नहीं कर सकता। इसका नियमन तो कोई उसके अन्तर्निहित चित् शक्ति ही कर सकती है। वायु में प्रवाहित होने की शक्ति अवश्य है, परन्तु बसन्त में मधुर मलय पवन का दक्षिण से संचार, ग्रीष्मऋतु में पश्चिम का दिग्दाहकारी प्रचण्ड वायु का प्रवाह, वर्षा ऋतु में मेघमाला को संचरित करने वाली पूर्व की वायु, इसी प्रकार शीतकाल में हिम के समान ठंडी उत्तर की वायु का संचार तथा व्यवस्थित रूप से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दिशाओं से वायु का नियमानुसार संचार बिना किसी चेतन सत्ता के नियन्त्रण के कदापि नहीं हो सकता। औक्सिजन(Oxygen) एवं हाईड्रोजन(Hydrogen) दोनों गैसों के बीच से विद्युत्शक्ति को प्रवाहित करने से जल बनता है, परन्तु विद्युत् स्वयं प्रवाहित नहीं हो सकती; उसको चलाने के लिये किसी चेतन शक्ति की अपेक्षा है। इसी प्रकार रात्रि के बाद दिन, अमावस्या के बाद पूर्णिमा, शीत ऋतु आदि ऋतुओं का ठीक नियम से विकास, भगवान भास्कर एवं सुधांशु चन्द्रमा का ठीक समय से उदय अस्त, चन्द्रमा की कलाओं में नियम-बद्ध ह्रास एवं वृद्धि, भगवान् सूर्य का नियमित रूप से राशिचक्र प्रवर्त्तन, शरीर पर नियमित समय से यौवन एवं जरा का आक्रमण, इत्यादि विषयों पर जितना ही विचारा जाय, यही प्रत्यक्ष होता है कि इस जड़ जगत् में नियम के विरुद्ध वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं हिलता। अतः इन सबके भीतर इनके नियामकरूप से श्रीभगवान् विद्यमान हैं, यह स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है।

तब भी उसको तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। श्रद्धा एवं भक्तिपूर्ण शुद्ध सच्चे हृदय से उनके शरण जाने से वे स्वयं अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

परमात्मा की प्राप्ति प्रवचन, मेधा या बहुत शास्त्र श्रवण से नहीं हो सकती। वे स्वयं जिसको चाहते हैं, उसके सामने अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं। परमात्मा निर्गुण अवस्था में ब्रह्म एवं सगुण अवस्था में ईश्वर कहाते हैं, जैसा कि पहले भी कहा गया है। वे ही पुनः प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि कर्त्ता भगवान् ब्रह्मा, पालन कर्त्ता भगवान् विष्णु एवं लय कर्त्ता भगवान् शिव के नाम से नाना शास्त्रों में अभिहित होते हैं। उन्हीं के अखण्ड (नीय) नियम के अधीन कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड अनंत ग्रह-उपग्रह सूर्य और नक्षत्रों के साथ महान् अन्धकारमय प्रलय के गर्भ से निकल कर प्रकट होते हैं, सहस्र-सहस्र युग व्यापी स्थिति के काल में उन्हीं की महामहिमा को प्रकाशित करते हैं एवं उन्ही के उलंघनीय नियम के अनुसार पुनः समय पूर्ण होने पर प्रलय के काल से महाप्रकृति के उन्नत शान्तिमय कोड़ में विश्राम लाभ करते हैं। यदि इन क्रियाओं का कोई चेतन नियामक न होता तो नियम सृष्टि, स्थिति एवं नियत समय पर लय किस प्रकार हो सकता था? अतएव इस महान् विश्व की प्रत्येक क्रिया का कोई संयमन करने वाला है इसमें कोई भी सन्देह का अवसर नहीं है। इतना सब होने पर भी शास्त्रों में उन्हें स्वयं इच्छा-रहित सृष्टि क्रिया में निर्लिप्त ही कहा है। क्योंकि वे माया के वश में नहीं हैं, किन्तु माया उनके आधीन है। श्रुति भी कहती है:—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्धि मायिनन्तु महेश्वरम्'

अतः वे बद्ध जीव के समान स्वयं सृष्टि करने में क्यों प्रवृत्त होंगे? उनकी स्वयं की कुछ भी इच्छा नहीं है। इसलिये उनका स्वयं का कुछ कर्त्तव्य भी नहीं है। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि, प्रकृति के स्वाभाविक गुण-परिणाम जनित स्पन्दन से सृष्टि स्वतः उत्पन्न होती है, केवल प्रकृति के जड़ होने के कारण चेतन ईश्वर के प्रतिष्ठान के बिना वह स्पन्दित नहीं हो सकती, इस कारण चेतन परमात्मा के अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। इसी सिद्धान्त को स्मृति शास्त्र कहते हैं:—

निरिच्छते संस्थिते रत्ने यथा लौहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्त्तृत्वमकर्त्तृत्वञ्च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्तासौ कर्त्ता सन्निधि मात्रतः॥

जिस तरह इच्छारहित अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के निकट रहने से ही लोहे में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार परमपुरुष परमात्मा के नैकट्यमात्र से ही प्रकृति सृष्टि, स्थिति एवं लय कार्य किया

करती है। इस विचार से परमात्मा का कर्त्तत्व अकर्त्तत्व दोनों ही कहा जा सकता है क्योंकि वे प्रकृति पर अधिष्ठान करते है, इस कारण कर्त्ता तथा स्वयं इच्छारहित होने से अकर्त्ता है। सांख्य शास्त्र के प्रणेता महर्षि कपिल ने भी यही कहा है:—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।"

अयस्कान्त मणि (चुम्बक) की तरह उनके निकट रहने से ही उनका अधिष्ठान होता है, एवं सृष्टि लीला का विस्तार प्रकृति करती है। अन्तिम दर्शन वेदान्त ने भी "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि सूत्रों द्वारा सृष्टिकार्य में ईश्वर को निमित्त कारण माना है।

वैदिक दर्शन समूह सात भागों में विभक्त है। उनमें न्याय, एवं वैशेषिक पदार्थ-वाद से सम्बन्ध रखते हैं। योग एवं सांख्य सांख्य-प्रवचन सम्बन्धनीय दर्शन हैं। वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी तीन मीमांसा दर्शन हैं। पूज्यपाद-महर्षियों की सम्मति में जिसके द्वारा प्रकृति राज्य की नक़ल की जाय, उसको शिल्प-शास्त्र (Art) कहते हैं। जिसके द्वारा स्थूल प्रकृति राज्य पर आधिपत्य किया जाय, उसको विज्ञान (Science) कहते हैं एवं जिसके द्वारा सूक्ष्म प्रकृति राज्य का स्वरूप जाना जाय और जो शास्त्र ज्ञान-पिपासु जिज्ञासु को बुद्धि की सहायता से प्रकृति-राज्य के पार (अतीत) पहुँचा देता है, उसको दर्शन शास्त्र (Philosophy) कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये दर्शन-शास्त्र सात होने पर भी उनको पुनः तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम न्याय एवं वैशेषिक पदार्थवाद के दर्शन भगवान् को सृष्टि का निमित्त कारण या कर्ता मानते हैं। इनमें जगत् को देख कर जगत् के कर्त्ता ईश्वर का अनुमान करते हैं। दूसरी श्रेणी के सांख्य प्रवचन दर्शन में प्रकृति को सृष्टि करने वाली एवं पुरुष को उसका द्रष्टारूप से प्रतिपादन किया गया है, एवं अलौकिक प्रत्यक्ष से ईश्वर को प्रत्यक्ष किया जाता है, यह भी सिद्ध किया गया है। तृतीय श्रेणी के दर्शन मीमांसा दर्शनों में जगत् को ब्रह्म-प्रकृति महामाया का लीला-विलास किया गया है। एवं माया को अनादि परन्तु अन्त सहित बताया है। उनमें ईश्वर तत्व का भी बहुत विशद्रूप से वर्णन किया गया है। जिन्होंने इन वैदिक सप्त दर्शनों को पारदर्शी गुरु की कृपा से अच्छी तरह पढ़ा है, उनके हृदय में ईश्वरतत्त्व विषयक सम्बन्धी कोई शंका ही नहीं रह सकती।

ईश्वरतत्त्व समझने के लिये अपने शास्त्रों का अधिदैव विज्ञान भी समझने की बड़ी आवश्यकता है। वेद-शास्त्रों में अधिदैव तत्त्वों का सम्यक् वर्णन मिलता है। देवलोकों के सब उच्चपदधारी अपने-अपने अधिकार के अनुसार अपने-अपने स्थान पर ईश्वर कहाते हैं। जैसे पितृलोक के राजा यम धर्मराज यमपुर नामक अपनी राजधानी में विराजमान रहकर कर्म-राज्य की सुव्यवस्था करते हैं एवं जीवों के कर्म के अनुसार पापियों के लिये दण्ड विधान करके किसी को प्रेतलोक में, किसी को नरकलोक में भेजते हैं। इसी तरह वे पुण्यात्मा जीवों को स्वर्ग-सुख भोग के लिये नाना दिव्य लोकों में भेजने की सुव्यवस्था करते हैं। पुण्यात्माओं को वे धर्मराज-रूप से एवं पापी जीवों को यमराजरूप से दर्शन देते हैं। जो गूढ़ ईश्वरतत्व को ठीक-ठीक हृदयङ्गम नहीं कर सकते हैं, वे हमारे इन यम धर्मराज को ही ईश्वर मानते हैं। जिन धर्म मतों में केवल शब्दों के द्वारा निर्गुण उपासना उद्घोषित की गई है, और व्यक्तिगत ईश्वर की भी कल्पना की गई है, उन

धर्म मतों का ईश्वरतत्व भगवान् यम धर्मराज तक ही पहुँच सका है, ऐसा समझना चाहिये। आर्य-शास्त्र के अनुसार देवताओं के राजा को इन्द्र कहते हैं। ये देवराज इन्द्र सब देव-देवियों को उनके-उनके पद मर्यादा के कार्यों में लगाते एवं उनका निरीक्षण करते हैं। ये भी ईश्वर कहाते हैं, क्योंकि एक ब्रह्माण्ड की सब दैवी व्यवस्था इन देवराज इन्द्र द्वारा ही सञ्चालित सुरक्षित, एवं नियन्त्रित होती है। अग्निदेव; वायुदेव, आदि सब बड़े-बड़े देवपदधारीगण इन्ही के आज्ञाधीन रहकर अपना-अपना कार्य-सम्पादन करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि क्रिया की व्यवस्था भगवान् ब्रह्मा द्वारा, स्थिति कार्य का संचालन भगवान् विष्णु द्वारा एवं लयरूप संहार कार्य की सुव्यवस्था भगवान् शिव द्वारा होती है। ये तीनों अपने-अपने ब्रह्माण्ड में ईश्वर कहाते हैं। जो अपनी चित्कला के प्रभाव से ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के द्रष्टा एवं नियन्ता है, वे महेश्वर परमात्मा इन सब देवपदधारियों के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था कराते हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के शास्ता एवं नियन्ता होने से ये सब ईश्वरों के भी परम ईश्वर हैं।

ब्रह्माण्ड सृष्टि की भांति ही पिण्ड सृष्टि में भी परमेश्वर का नियन्तृत्व वेदादिशास्त्रों में स्वीकृत हुआ है। एवं अन्तर्मुख व्यक्तिगण प्रत्येक कार्य में इस सत्य का अनुभव भी किया करते हैं। कर्म स्वभाव से ही जड़ है, इस कारण मनुष्य अहंकार वश जो कर्म करता है, उसका फल उत्पन्न नहीं कर सकता। जड़ कर्म समूह चेतन भगवान् की प्रेरणा से ही यथासमय यथावत् फलोत्पादन करते हैं और अपने कर्मों के अनुसार जीव पाप-पुण्य का भोग नरक एवं स्वर्ग में किया करता है। न्याय-दर्शन के चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में इसी विषय का निम्नलिखित सूत्र है:—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्

जीव कर्मों के करने में अवश्य स्वाधीन है। परन्तु उसका फल भोगने में कदापि स्वाधीन नहीं है। क्यों कि कर्म जड़ होने से वह स्वयं फल नहीं दे सकते। नियन्ता चिन्मय ईश्वर की प्रेरणा से ही कर्म फल उत्पन्न होता है। और इसी से कर्मानुसार जीव ऊंच नीच गतियों को प्राप्त करता है। इससे कर्मों के फलोत्पत्ति में भी ईश्वर की निमित्त कारण होना प्रमाणित होता है। इस प्रसंग में कुछ ऐसी शंकायें लोग करते हैं, कि ऐसे प्राक्तन कर्म मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर इससे पहले भी दिया गया है। प्राक्तन पुण्य-पापमय कर्म यदि स्वीकार न किया जाय तो अनन्त वैचित्र्यपूर्ण इस जगत् में भोग-वैचित्र्य रूपी समस्या का कोई भी दूसरा संतोषजनक निर्णय नहीं हो सकता। क्यों कोई मनुष्य जन्म से ही लंगड़ा-लूला पैदा होता है? क्यों कोई जन्म से ही स्वास्थ्य सुख, सौन्दर्य एवं श्री सहित उत्पन्न होता है? पुनः कोई जन्म से ही इन वस्तुओं से चिर वञ्चित ही क्यों होता है? कोई-कोई जन्म से ही योगी-त्यागी क्यों होता है? किसी को एक साधारण निमित्त मात्र से ही चिरकाल के लिये तीव्र वैराग्य एवं संसार से विरक्ति क्यों उत्पन्न हो जाती है? किसी को लाख उद्योग करने पर एवं संसार के नाना प्रकार के धक्के बार-बार लगने पर भी विषय विरक्ति क्यों नहीं उत्पन्न होती? किसी की प्रतिभा स्वाभाविकरूप से ही बड़ी तीव्र होती है, किसी को जीवन भर परिश्रम करने पर भी वही प्रतिभा क्यों नहीं प्राप्त होती? प्राक्तन कर्म का अस्तित्व यदि नहीं स्वीकार किया जाय, तो इन प्रश्नों का समाधान होना सम्भव ही नहीं है, इस कारण इस विषमता का कारण पूर्व जन्मोपार्जित कर्म मानना ही होगा। भगवान् पतञ्जलि ने इसी कारण प्राक्तन कर्म

सिद्ध किया है। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि, संसार की इस विचित्रता का कारण ईश्वर का लीला-विलास एवं विभूति-विकास ही क्यों न मान लिया जाय, इसमें प्राक्तन कर्म मानने की क्यों आवश्यकता पड़ती है? ईश्वर अपनी अद्भुत लीला एवं अलौकिक शक्ति को दिखाने के लिये ही जगत् में विचित्रता बनाते हैं। इसी से वे किसी को राजा किसी को रङ्क, किसी को जन्मान्ध, किसी को सुन्दर नेत्रवान्, किसी को असाधारण प्रतिभाशाली, किसी को महामूर्ख बनाया करते हैं। कोई भावुक भक्त भले ही केवल भावनापूर्ण इस विज्ञान को मानकर आनन्दित होले, या संतोष करले, परन्तु बुद्धि राज्य में इस सिद्धान्त को स्थान नहीं मिल सकता है। भगवान् को परम करुणामय, परम प्रेममय परम वात्सल्यमय ज्ञान का आधार, न्याय का आगार, एवं प्राणीमात्र के प्रियतमरूप से मानकर ही हम उनकी शरण जाते एवं अपने त्रिताप जर्जरित प्राणों को शीतल करते हैं। भगवान् के इस परम शान्तिप्रद एवं मधुर भावों के कारण यदि हम उन्हें अहेतुक केवल- अपनी इच्छापूर्तिरूप लीला विलास के लिये मनमाना कार्य करने वाले महानिष्ठुर एवं स्वार्थपूर्ण मान लें, तभी यह युक्ति आश्रय पा सकती है। अन्यथा केवल अपनी लीला के लिये स्वयं इच्छारहित, पक्षपातशून्य सर्वोपरि उदार ईश्वर इस जगत् को ऐसा विषमतापूर्ण बनाकर, किसी को दुःखी किसी को सुखी करके इस प्रकार अनन्य प्राणियों को अनन्त दुःख सागर में क्यों गोता लगवायेंगे? क्योंकि वे किसी को अनन्त सुख-सम्पत्ति एवं वैभव का अधिकारी, किसी को आजन्म महादरिद्री बनावेंगे, ईश्वर के लिए ऐसी उन्मत्त असम्बद्ध लीला कैसे मानी जा सक्ती है? किसी उन्मत्त का पागलपन अवश्य माना जा सकता है। परन्तु माया के नियामक स्वयं माया के प्रभा से अतीत, निरन्तर ज्ञानमय, "समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः" की घोषणा से पक्षपात राहित्य का परिचय देने वाले परमेश्वर के लिए ऐसी कल्पना भी महापाप है। भगवान् कृष्ण ने इस विषय को इस प्रकार से गीता में स्पष्ट किया है:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः॥

क्या ही सुन्दर समाधान है। परमात्मा किसी के पाप या पुण्य के लिये उत्तरदायी नहीं है। वे मनुष्यों के कर्तत्व, कर्म या कर्म फल भोग आदि कुछ भी नहीं बनाते। अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इस कारण जीव मोहित हो रहे हैं और इस कारण जीव अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करते हैं, एवं उसका फल भी भोगते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा अवैज्ञानिक महान् भ्रम-पूर्ण विचार करना अनुचित ही नहीं बल्कि पाप भी है। कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा से उसमें फलोत्पत्ति होती है। इसी कारण वेदान्त दर्शन ने जैवकर्मों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध निम्नलिखित रूप से दिखाया है:—

"फलमतः उपपतेः।"

"कृतप्रयत्ना पेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्ध वैरर्थ्यादिभ्यः ।"

"वैषम्य निर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ।"

ईश्वर कर्मफल के दाता हैं, परन्तु कर्मों के वैचित्र्य के अनुसार ही वे जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार का फल प्रदान करते हैं। यदि ऐसा न हो तो शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। जीवों के कर्मानुसार ही ईश्वर विभिन्न प्रकार की सृष्टि-रचना किया करते हैं। जिसका प्राक्तन पुण्य है, उसको सुख-समृद्धिशाली एवं जिसका प्राक्तन पाप है, उसे हीन-प्रारब्ध एवं दुःखी बनाते हैं। वे जगदीश्वर प्रत्येक ब्रह्माण्ड में देवता, ऋषि, अर्यमा आदि नित्य पितर तथा अन्यान्य देवपदधारियों के द्वारा ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड दोनों की कर्म शृङ्खला की सुव्यवस्था कराते हैं। इसी तरह सूक्ष्म दैवजगत् द्वारा भौतिक स्थूल जगत् की सुरक्षा एवं सुसुव्यवस्था होती है। भाष्यकार श्रीभगवान् शंकराचार्य्य उपरोक्त सूत्र के भाष्य में ईश्वर विषय में लिखते हैं:—

ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथाहि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादि वैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधरणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरो देवमनुष्यादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्ये-वासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरः सापेक्षात्वान्न वैषम्यनिर्घृण्याभ्यां दुश्यति।"

सृजन कार्य में ईश्वर को मेघ की तरह समझना चाहिये। जैसे मेघ, व्रीहि, यव, धान्य आदि की उत्पत्ति के विषय में साधारण कारण होता है, परन्तु व्रीहियवादि की उत्पत्ति जो विभिन्न प्रकार की होती है। उसका कारण मेघ नहीं है, किन्तु उन-उन वस्तुओं के बीजगत असाधारण पृथक्-पृथक् शक्ति ही उसकी कारण होती है, ठीक उसी प्रकार देवमनुष्यादि सृष्टि में ईश्वर साधारण हैं। इसमें पृथक्-पृथक् जीवों के पृथक्-पृथक् असाधारण सुख-दुःख के कारण उनके पृथक्-पृथक् असाधारण कर्म ही होते हैं। एक ही मेघ रसाल में अमृत के समान मीठा रस उत्पन्न करता है, नीम के वृक्ष में तिक्तरस एवं हरीतकी में काषाय रस उत्पन्न करता है। परन्तु उन-उन वृक्षों के पृथक्-पृथक् बीज के अनुसार पृथक्-पृथक् रस के फल उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जड़ कर्म के चलाने में ईश्वर साधारण कारण है। वैचित्र्यपूर्ण फलोत्पत्ति का कारण भिन्न-भिन्न कर्म ही हैं, इसमें ईश्वर कारण नहीं है। इस विषय में श्रुतियां भी कहती हैं:—

"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन"

पुण्यमय कर्मों के द्वारा जीव सुखमय पुण्यलोक एवं पाप कर्मों के द्वारा दुःख पूर्ण परलोकों को प्राप्त करता है। और भी:—

"तद् य इह रमणीयचरणा अभ्यासो ह यत्ते रमणियां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा थ च इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल योनिं वा"।

पुण्य कर्मों के द्वारा मनुष्य पुण्यमय ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिय योनि, या वैश्ययोनि लाभ करता है, एवं पापमय अशुभ कर्मों द्वारा पापयोनि रूपी कुत्ते की योनि, शूकर-योनि या चाण्डालयोनि भी प्राप्त करता है। जीवों के पूर्व प्राक्तन पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार ही कर्म के नियामक उनका शुभाशुभ फल प्रदान किया करते हैं। ईश्वर की अपनी इच्छा इसमें कुछ भी नहीं है, क्योंकि वे गुणधर्मरूपी इच्छा से परे हैं। इस प्रसंग में अवश्य यह शंका हो सकती है कि, ईश्वर यदि केवल जीवों के कर्म के अनुसार ही फल दिया करते हैं, तब उनकी सर्वशक्तिमत्व एवं ऐश्वर्य्य शक्ति ही क्या रही? इसका समाधान यह है कि ईश्वर जो शुभाशुभ कर्मों का यथायोग्य फल प्रदान करते हैं, वही उनके सर्वशक्तिमान एवम् ऐश्वर्य्य शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि अग्नि में दाहक शक्ति न हो, तो वह दाह्य वस्तु को किस प्रकार जला सकती है? जहां दाह्य वस्तु ही नहीं है, वहां अग्नि में दाहिका शक्ति ही नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है? दाह्य वस्तु को एकमात्र अग्नि ही जला सकती है, जल या वायु पृथ्वी उसे नहीं जला सकती, क्योंकि इसमें अग्नि की भांति वह दाहिक शक्ति नहीं है। जैसे राजा में दण्ड देने की शक्ति है, इसी से वह दुष्टों को दण्ड दे सकता है और सज्जनों को सम्मान देता है। राजा के अतिरिक्त उसमें यह शक्ति न होने से दूसरा कोई इस कार्य को नहीं कर सकता है। इसी तरह ईश्वर अनन्त शक्तिशाली एवम् अनन्त ऐश्वर्य्यवान् हैं, इसी कारण वे जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें शुभाशुभ फल प्रदान कर सकते हैं। यदि उनमें शक्ति ही नहीं होती तो जीवों के कर्म करने पर भी फल उनको कदापि नहीं दे सकते थे। इससे ईश्वर के सर्वशक्तिमत्व में कोई भी बाधा नहीं आती। कर्मों के यथायोग्य फलप्रदान से परमेश्वर के स्वतन्त्र भाव में भी कोई बाधा नहीं हो सकती। शुभाशुभ कर्मों का पुरस्कार तथा तिरस्काररूप शुभाशुभ फलप्राप्ति के उलङ्घनीय नियम से ब्रह्माण्ड की समता की रक्षा होती रहती है। इससे सर्वतन्त्र स्वतंत्र सर्वशक्तिशाली शास्ता परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवं स्वतंत्रता और भी पुष्ट होती है। अतएव विचार तथा शास्त्रीय प्रमाणों से यही सिद्ध हुआ कि भगवान् की इच्छा से अतीत एवं माया राज्य से परे होने पर भी समष्टि-व्यष्टि दोनों ही सृष्टि क्रिया में उनके नियन्तृत्व की अपेक्षा है। इन्हीं की अलौकिक नियामिका शक्ति के आधीन कोटि ग्रह-उपग्रहों सहित ब्रह्माण्ड (भाण्ड) अनन्त शून्य में घूम रहा है। ऋषि, देव, पितृ, यक्ष, राक्षस, मनुष्य तथा मनुष्येतर सभी प्राणीमात्र यन्त्रारूढ़ की तरह अन्तर्निहित उन्हीं देव की प्रेरणावश अनादि काल से घूम रहे हैं— भगवान् कहते भी हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

ईश्वर सब प्राणियों के हृदय कमल में विराजमान रहकर अपनी माया द्वारा सर्व भूतों को यन्त्रारूढ़ की तरह घुमाते रहते हैं। एक भक्त ने भी अपनी इस उक्ति द्वारा इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है:—

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषिकेश! हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

मैं धर्म को जानता हूं, परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म को भी जानता हूं परन्तु उससे निवृत्ति नहीं होती। हे भगवान्! तुम हृदय में विराजमान रहकर जैसा कराते हो, वैसा मैं करता हूं।

निष्कर्ष यह है कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना इस विश्व ब्रह्माण्ड में एक पत्ता भी नहीं हिलता, इस भांति वह ईश्वर सब का प्रेरक, नियामक, शासक और रक्षक होते हुए भी सबसे अतीत प्रकृति से परे एवं सबसे निर्लिप्त है।

(५) जीव भावोत्पत्ति——

परम पुरुष एवं महा प्रकृति के अनादि अनन्त सर्व व्यापक सत्ता में देश-काल परिच्छिन्न जीव सत्ता की उत्पत्ति कैसे होगई? इस प्रश्न का उत्तर इतना कठिन, गहन एवं सूक्ष्म है कि शास्त्रों में प्रायः इसकी मीमांसा नहीं की गई है। कई दर्शनों में जीव को प्रवाहरूप से अनादि कह कर ही इस विषय को छोड़ दिया गया है। परन्तु शास्त्रों में इस विषय के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि जीव उत्पन्न होने के बाद मनुष्य से नीचे की चौरासी लक्ष योनियों में घूम कर तब इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है। जब उद्भिज से आरंभ करके इन योनियों की संख्या निर्धारित की गई है तो किसी न किसी समय उस अनन्त विराट्-सत्ता से जीवसत्ता अवश्य अलग उत्पन्न हुई थी, तभी इन चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके वह मनुष्य योनि में आई है, यह स्वतः सिद्ध है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि, जीवभाव उत्पन्न होने की एक कोई अवस्था है। वह अवस्था कैसी और कब होती है, इस अध्याय में यही विचार्य्य विषय है। महा-प्रलय अथवा खण्डप्रलय के बाद जो जीव-सृष्टि होती है, वह नई जीव-सृष्टि नहीं है। उसके विषय में भगवान् ने यह भी कहा है, "यथापूर्वमकल्पयत्" यह सृष्टि तो यथा पूर्व होती है अर्थात् महाप्रलय या खण्डलप्रय के समय के पहिले इस विश्व में जो जीव थे और महाप्रलय के गर्भ में विलीन हुए थे, वे ही जीव-गण देश-काल-युग के अनुसार फिर से क्रमशः उत्पन्न होते हैं। संसार चक्र में घूमने वाले जीवगण जब से उत्पन्न हुए हैं एवं जब तक मुक्त नहीं होंगे; पता नहीं वे कितनी ही बार ऐसे महाप्रलय एवं खण्डप्रलय के गर्भ में विलीन होते एवं उत्पन्न होते आये हैं और होते रहेंगे, परन्तु इन जीवों की प्रथम उत्पत्ति कैसे हुई, जिसके बाद से उद्भिज, स्वेदजादि क्रम से लाखों योनियों में जीव ने भ्रमण किया, यहाँ इसी विषय पर विचार करना है।

शास्त्रों में चित् एवं जड़ की ग्रन्थि 'गांठ' को जीव कहा है, एवं इसी चिज्जड़ ग्रन्थि के खुल जाने को मोक्ष कहा है। यथाः—"चिज्जड़ ग्रन्थि जीवः"।

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे॥

तात्पर्य यह कि चित् एवं जड़ की ग्रन्थि को जीव कहते हैं। परमात्मा के दर्शन होने पर यह चिज्जड़ ग्रन्थिरूपी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है। सब संशय छिन्न हो जाते हैं और सब शुभाशुभ कार्य (कर्म) नाश को प्राप्त हो जाते हैं। यह चिज्जड़ ग्रन्थि कैसे बंधती है, यह देखना है। पहिले भी यह कहा गया

है कि सर्व व्यापक चिन्मय भगवान् की चित् सत्ता चेतनता प्राप्त कर महाप्रकृति में स्पन्दन होती है एवं अनंत सृष्टि का विस्तार किया करती है। सृष्टि विस्तार में महा प्रकृति की दो प्रकार की गति स्वभावतः होती हैं। एक जड़ से चेतन की ओर, दूसरी चेतन से जड़ की ओर। अर्थात् तम से सत्व की ओर और पुनः सत्व से तम की ओर। महा प्रकृति में यह स्पंदन या परिणाम होने में यह नियम है, ऐसे ही व्यष्टि सृष्टि में भी यही स्वाभाविक नियम देखा जाता है। उदाहरणरूप से एक मनुष्य को ले सकते हैं। चेतन एवं जड़ दोनों के मिश्रणरूप एक मनुष्य की जब मृत्यु हो जाती है, तब उसके उपादान भूत जड़ अंश और चेतन अंश की गति कैसी होती है? शरीर में से चिदस्वरूप चेतन सत्ता के निकलते ही उस शरीर के उपादान जड़ पञ्चभूतों में तमोगुण का परिणाम होना आरम्भ हो जाता है और वह दुर्गंधित होने लगती है। इस तरह वह तमोगुण की ओर आगे बढ़ने लगता है, एवं अन्त में वह रक्त, मांस, अस्थियुक्त शरीर मृत्ति का मय मिट्टी बन जाता है, एवं पूर्ण जड़ता को प्राप्त हो जाता है। यह पूर्ण जड़ता की अवस्था तमोगुण के परिणाम की पूर्णता है। दूसरी गति उस शरीर के चेतन सत्तारूपी जीव की होती है। वह उस शरीर से निकल कर कर्मानुसार क्रमशः उन्नत से उन्नत अवस्था को प्राप्त करता हुआ सत्त्वगुण के पूर्ण परिणाम में इस जड़ प्रकृतिराज्य को अतिक्रमण करके चिद्रूप श्री भगवान् के चरणों में पहुंच कर मुक्त हो जाता है। इस तरह देखा जाता है कि, प्रकृति-राज्य में ये द्विविध परिणाम या गति एक जड़ से चेतन की ओर, दूसरी चेतन से जड़ की ओर हुआ करती है। इस स्वाभाविक नियम से जब महा प्रकृति तमोगुण से सत्वगुण की ओर या जड़ से चेतन की ओर परिणाम प्राप्त करती हुई अग्रसर होती है, तो पूर्ण तमोगुण से तमरज में, तमरज से पूर्ण रजोगुण में पुनः रज से रज सत्व में, रज सत्व से पूर्ण सत्व में, पूर्ण सत्व से परे ब्रह्म में जाकर लय हो जाती है। प्रकृति का दूसरा परिणाम जो सत्वगुण या चेतन से तमोगुण या जड़ की ओर प्रवाहित होता है, वह ऊपर लिखित क्रम से धीरे-धीरे पूर्ण जड़तारूप तमोगुण की सीमा में पहुँच जाता है; वहां ऐसा कोई आधार नहीं है, जिसमें प्रकृति लय हो सके, जैसा कि सत्वगुण के परे पार में स्थित ब्रह्म है, अतः वहां महा प्रकृति लय नही हो सकती। वहां लय होने का कोई आश्रय न पा कर, जैसे समुद्र की तरङ्ग अपनी सीमाभूमि से टकरा कर फिर समुद्र की ओर ही लौट जाती है। ठीक इसी प्रकार महा प्रकृति भी तमोगुण की अन्तिम सीमा से टकरा कर फिर सत्वगुण की ओर ही पलटती है। इस प्रकार जब वह पूर्ण तमोगुण से किञ्चित् रजोगुण में पहुंचती है, उस समय सर्वव्यापक भगवान् की चेतन सत्ता का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है। इस तमोगुण की ओर से रजोगुण के सर्व प्रथम परिणाम में जड़ता एवं तमोगुण का ही आधिक्य होने से चित्सत्ता का प्रतिबिम्ब पड़ते ही जल की तरङ्ग में सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह असंख्य चिज्जड़ ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी का नाम चित् एवं जड़ की ग्रन्थि है। सर्वगत, सर्व व्यापक ब्रह्मसत्ता से जीवसत्ता यहीं इसी अवस्था में अलग हुई और तब से वह उस अनन्त से भिन्न अपना अस्तित्व अनुभव करने लगती है एवं उस पृथक् अस्तित्व के अनुभव का पोषण करने लगती है। यही जीवसत्ता का प्रथम विकास है। ऐसे अनन्त जीव प्रकृति के ऊपर लिखित स्वभाविक परिणाम में उत्पन्न होते आये हैं, होते रहते हैं और होते रहेंगे, इस विषय का वर्णन भगवान् वशिष्ठ ने इस प्रकार किया है:—

एवं जीवाश्रिता भावा भवभावन मोहिताः।
ब्रह्मणः कल्पिता कायाल्लक्षसोऽप्यथ कोटिशः॥

असंख्याताः पुरा जाता जायन्ते चापि सद्यभीः ।
उत्पत्तिष्ठन्ति चैवाम्बु कर्णोघा इव निर्झरात् ॥
स्ववासना दशा वेशादाशा विवशतां गताः ।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगड़िताशयाः ॥
अनारतं मतिदिशं देशे देशे जले स्थले ।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि ॥
केचित् प्रथम जन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ।
केचिद्वाजन्मसंख्याकाः केचिद्द्वित्रि भवान्तराः ॥
भविष्यज्जातयः केचित् केचित् भूतभवोद्भवाः ।
वर्तमान भवाः केचित् केचित्त्वभवतां गताः ॥
केचित् कल्प सहस्त्राणि जायमानाः पुनः पुनः ।
ऐकामेवास्थिता योनिं केचित् योन्मन्तरं श्रिताः ॥
केचिन्महादुःखसहा केचिदल्पोदयाः स्थिताः ।
केचिदत्यन्तमुदिताः केचिदर्कादिवोदिताः ॥
केचित् किन्नरगन्धर्व विद्याधरमथोरगाः ।
केचिदर्केन्द्रवरुणा स्त्रयक्षाधोक्षजपद्मजाः ॥
केचित् कुष्माण्ड वेताल पक्ष रक्षः पिशाचकाः ।
केचिद् ब्राह्मण भूपाला वैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥
केचिच्छ्वपचश्वाण्डालकिरातावेश पुक्कसाः ।
केचित्तृणौषधि केचित् फलमूलपतङ्गकाः ॥
केचिद् भुजङ्गगोनासकृमि कीट पिपीलिका ।
केचिन्मृगेन्द्र महिष मृगाजचमरैण काः ॥
आशापाश शतैर्बद्ध्वा वासनाभाव धारिणः ।
कायात् कायमुपाजन्ति वृक्षात् वृक्षमिवाण्डजाः ॥
तावद्भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्त्तराशयः ।
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमविन्दितम् ॥

दृष्टात्मानमसत् त्यक्त्वा सत्यमासाद्य संविदम् ।
कालेन पदमागत्य जायन्ते देह नेह ते पुनः ॥"

अर्थात् लक्ष-लक्ष कोटि-कोटि चिदंश जीव संसार भाव से मोहित होकर ब्रह्म से उत्पन्न जीवभाव को प्राप्त हो रहे हैं। असंख्य पहले ही उत्पन्न हुए थे, असंख्य अब भी उत्पन्न हो रहे हैं, एवं निर्झरिणी से उत्पन्न जल कणों की तरह असंख्य भविष्यत् में भी उत्पन्न होंगे। जीव अपनी वासनाओं व आशाओं से विवश होकर बड़े ही विचित्र तरह से बन्धन को प्राप्त हो रहे हैं, समुद्र में जल बुद्बुद् की तरह जल में स्थल में हर समय प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहे हैं और कालकवलित हो रहे हैं। किसी का एक ही जन्म हुआ है, किसी को सैकड़ों जन्म हो चुके हैं, कोई कई कल्पों से जन्म धारण करता आ रहा है, कोई अभी जन्म लेगा, एवं कोई ले रहा है। कोई महादुःखी है, कोई कम दुखी है और कोई सुखसागर में निमग्न हो रहा है। किसी को किन्नर-गंधर्वादि की योनि प्राप्त हो रही है, किसी को कर्मफल से सूर्य्य-चन्द्र-वरुण या ब्रह्मा-विष्णु-महेष-पद की प्राप्ति हो रही है। कोई बेताल, यक्ष, राक्षस पिशाचादि की योनि प्राप्त कर रहा है, तो किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि मनुष्य योनि प्राप्त हो रही है, कोई श्वपच, चाण्डालादि हीन नीच योनि को प्राप्त कर रहा है एवं कोई तृण औषधि आदि उद्भिजयोनि, कृमि-कीटादि स्वेदजयोनि, सिंह महिषादि पशुयोनि और सारस, हंसादि अण्डजयोनि प्राप्त कर रहा है। अविद्या एवं अज्ञान से विमोहित होकर वासनाजनित सैकड़ों आशाओं से आबद्ध हो जीव, जैसे पक्षी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर बैठता है, उसी तरह एक शरीर से दूसरे को प्राप्त करता है। जब तक ज्ञानस्वरूप परमात्मा के दर्शन न हों तब तक जीव जल में भंवर की तरह संसार चक्र में घूमते रहते हैं। कोटि कोटि जन्मों के बाद काल पाकर जब जीव को ज्ञान प्राप्त होता है, तब अपने ज्ञानस्वरूप की उपलब्धि करके इस जन्म मरण के चक्र से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। भगवान् वशिष्ठ के इस वर्णन में प्रथम से लेकर शेष तक जीव किस प्रकार उत्पन्न होता एवं क्रमशः किस प्रकार आगे बढ़ कर अन्त में मुक्त होता है। पूर्ण तमोगुणमयी प्रकृति जब तमोगुण से रजोगुण की ओर परिणामिनी होती है; तब पूर्ण तमोगुण से कुछ रजोगुण में आने के साथ-साथ उसमें सर्व व्यापक परमात्मा का प्रतिबिम्ब या अंश प्रतिफलित होता है, इसी प्रतिबिम्ब द्वारा चेतन एवं जड़ की ग्रन्थि बँधती है। जड़ प्रकृति में प्रतिबिम्बित इस प्रतिबिम्ब का नाम ही जीवात्मा है। प्रकृति के जिस अंश में यह प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे ही कारण शरीर कहते हैं।

इसी प्रकार से सर्वव्यापक अनादि अनन्त परम पुरुष एवं महाप्रकृति की सत्ता में देश-काल परिच्छिन्न संकीर्ण अहंभावमय सत्ता का विकास हुआ करता है, कारण शरीर में यह चिज्जड़ ग्रन्थि बंधती है, उसके साथ ही इस पर सूक्ष्म और स्थूल शरीर का आवरण और चढ़ जाता है। शरीर त्रय विशिष्ट यही जीव नाना स्थूल शरीर से मुक्त होकर नाना योनिओं में भ्रमण करने लगता है। आत्मा चेतन स्वरूप है। इसलिये जड़ प्रकृति में प्रतिफलित उक्त प्रतिबिम्बरूपी जीवात्मा भी चेतन स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु जैसे अग्नि में जलाने की पूरी शक्ति विद्यमान रहने पर भी भस्म में ढकी रहने पर वह अग्नि जलाने में समर्थ नहीं हो सकती, इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानमय, चेतनमय और सदा मुक्त होने पर भी प्राकृतिक

तमोगुण से आच्छादित रहने के कारण उसमें उसकी वास्तविक शक्ति का विकास नहीं हो सकता। इसी से अविद्याग्रस्त उक्त आत्मा को बद्ध करते हैं। यह उसका बंधन वास्तविक नहीं है, औपचारिकमात्र है। जैसे स्फटिक मणि के सामने लाल यवाकुसुम रखने से स्वच्छ स्फटिक लाल दिखाई देता है। वस्तुतः स्फटिक लाल रङ्ग का नहीं है, उसी तरह अंधकारयुक्त जड़ अविद्या के संयोग से आत्मा बद्धवत् प्रतीत होता हैं, नित्यमुक्त स्वभाव आत्मा का वास्तविक बंधन नहीं है। बंधन की यह कल्पना भी अन्तः करण की ओर से होती है, आत्मा की ओर से नहीं होती। अन्तःकरण ही भ्रान्तिवश आत्मा को बद्ध समझता है। आत्मा कदापि बद्ध नहीं होती है। इसी कारण चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग द्वारा जब अन्तःकरण को लय कर दिया जाता है, उस समय आत्मा पर ऐसी भ्रान्ति का आरोप करने वाली कोई वस्तु नहीं रह जाती। अतः तब आत्मा 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा जान कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह आत्मा में बंधन का आरोप किया जाता है। आत्मा का यह बंधन तात्विक नहीं औपचारिक है। सांख्य, योग तथा वेदान्तादि दर्शनों ने यही सिद्धान्त निश्चित किया है।

जड़ के साथ चेतन के इस स्वाभाविक सम्बन्ध के विषय में शास्त्रों में दो मत पाये जाते हैं। एक का नाम अविच्छिन्नवाद, और दूसरे का नाम प्रतिबिम्बवाद है। अविच्छिन्नवादीगण जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहते हैं। प्रतिबिम्बवादीगण अंश नहीं कह कर प्रतिबिम्ब कहते हैं। जैसा वेदान्त-दर्शन में:—'अंशो नाना व्यपदेशात्'। 'आभास एव च'। इन दोनों मतवादों के मूल में कोई भेद नहीं है। यह नाम भेद केवल अवस्था भेद के अनुसार है। मौलिक भेद नहीं है। जीवत्वभाव उत्पन्न होने पर पहली अवस्था में जाड्य एवं तमोगुण के अत्यन्त अधिकार से आत्मा की चिन्मयज्योति आच्छादित रहती है, उस अवस्था में क्षीण ज्योति प्रतिबिम्ब ही बोध होता है, इससे प्रतिबिम्बवादीगण इस अवस्था को प्रतिबिम्ब कहते हैं। अविच्छिन्नवाद उसके बाद की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। जड़ प्रकृति जितनी-जितनी तमोगुण से सत्वगुण की ओर क्रमशः आगे बढ़ती है, उतना ही उतना आत्मा का स्वरूप भस्मरहित अग्नि की तरह प्रकट होता जाता है, तब परमात्मा का स्वरूप जीवात्मा में स्पष्ट उपलब्ध होने लगता है, इस उन्नत अवस्था को देखकर अविच्छिन्नवादियों ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है। इससे अब यह स्पष्ट ही है कि, इन दोनों मतवादों में मौलिक कोई मतभेद नहीं है।

पहले ही कहा गया है कि, प्रकृति के जिस विच्छिन्न सूक्ष्म जडांश पर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको कारण शरीर कहते हैं। वेदान्त ने उसी को अविद्या भी कहा है। जीवभाव प्राप्ति का यही प्रथम कारण होने से एवं स्थूल-सूक्ष्म शरीर के प्राप्ति का भी कारण होने से इसका नाम कारण-शरीर पड़ा है। यथा वेदान्तशास्त्र में:—

अनिर्वाच्याऽनाद्यविद्यारूपा स्थूलसूक्ष्म शरीर कारणमात्रं स्वस्वरुपाज्ञानं यदस्ति तत् कारण शरीरम्।'

अनिर्वचनीया अनादि अविद्यास्वरूप, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारणमात्र अपने ही स्वरूप की अज्ञानमयी जो सत्ता है उसको कारण शरीर कहते हैं। इस कारण शरीर के उत्पन्न होते ही

जीव में अहम्भाव का भी सूक्ष्म विकास होता है, एवं इस कारण जीव के भीतर भोगादि की प्रेरणा होती है। इसी प्रेरणा से भोग के निमित्त कारण शरीर के ऊपर सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। यथा श्रीभागवत् में:—

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः मनो बलं जले ततः प्राणो महानणुः॥
प्राणेनाक्षिपता क्षुत्ऽन्तरा जायते णिभोः।
पिपासितो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यते॥
मुखतस्तालु निर्भिन्न जिह्वा तत्रौपजायते।
ततो नाना रसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते॥
विवेक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निवार्गं व्याहृतम् तयो।
जले चैतस्य रुचिरं निरोधः समजायत॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणों नसि जिघ्रिक्षतः॥

तात्पर्य यह है कि आत्मा प्रेरणा से अनन्त आकाश में क्रिया का स्फुरण होता है, उसी से इन्द्रिय, मन, बल, एवं सूक्ष्म प्राणों का विकास होता है। प्राण के स्पन्दन से क्षुधा-पिपासा का विकास होते ही उसके निवारण के लिये मुख उत्पन्न होता है एवं मुख में तालु, रस ग्रहण के लिये रसनेन्द्रिय का विकास होता है। अनन्तर बात करने की इच्छा होने से वागिन्द्रिय एवं अग्निदेव का विकास होता है। प्राणवायु के अत्यन्त संचार एवं गन्धग्रहण की इच्छा उत्पन्न होने के साथ ही घ्राणेन्द्रिय का विकास होता है। इस प्रकार से अविशोपहित चैतन्य में अहम्भाव की उत्पत्ति से उसी की प्रेरणा एवं इच्छा से सूक्ष्म शरीर आकृष्ट हुआ करता है। यह सूक्ष्म या लिंग शरीर सत्रह सूक्ष्म उपादानों से बना हुआ है यथा पदञ्चशी में: बुद्धि-कर्मेन्द्रिय प्राणपञ्चकैर्मन सरिधया। शरीरं सप्त दशभिः सूक्ष्मं तल्लिगमुच्यते॥" पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन एवं बुद्धि (इसमें चित्त एवं अहंकार भी सम्मिलित हैं) इन १७ वस्तुओं से सूक्ष्म शरीर बनता है। नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वक्, इन पांचों को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। नाक, प्राणि, पाद, मुख, एवं उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पांच प्राण हैं। ये सभी सूक्ष्म वस्तुएँ हैं। चक्षु से चक्षु गोलक नहीं समझना चाहिये, बल्कि जिस सूक्ष्म शरीर के द्वारा इस स्थूल चक्षु में देखने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसको दर्शनेन्द्रिय कहते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषय में समझना उचित है। पंच प्राण भी सूक्ष्म शक्ति है। जिसके द्वारा स्थूल पंच वायु कार्य करते हैं। इस कारण इनको भी सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत माना गया है। मन का स्वभाव संकल्प-विकल्प करना है, एवं बुद्धि का काम विचार निश्चय करना है। चित्त, मन एवं बुद्धि द्वारा उपार्जित सब संस्कारों का आधार है। अहंकार बुद्धि के मूल में रह कर जीवात्मा में कर्त्तत्व का भ्रम आरोपित करता है। इस प्रकार से सूक्ष्म शरीर

उत्पन्न होने के बाद उसके वेग से यह पंचभौतिक स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। क्योंकि सूक्ष्म इन्द्रियों के भोग के यन्त्ररूप स्थूल इन्द्रियों के बिना भोग सम्पादन नहीं हो सकता, इस कारण सूक्ष्म मन के साथ दशों इन्द्रियों में भोग के निमित्त प्रेरणा उत्पन्न होने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचीकृत पंचभूतों से स्थूल शरीर उत्पन्न होकर सूक्ष्म शरीर को आच्छादित करके रहता है, इस प्रकार सर्वव्यापक प्रकृति-पुरुष के अनन्त राज्य में प्रकृति के स्वाभाविक स्पन्दन द्वारा जीवभाव की उत्पत्ति एवं उसके साथ कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का सम्बन्ध हुआ करता है। इन तीनों शरीरों को वेदान्त शास्त्र में पंचकोष भी कहते हैं। पंच भौतिक स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहते हैं। पंच कर्मेंद्रिय एवं पंचप्राणों की शक्ति मिल कर प्राणमय कोष, पंच कर्मेन्द्रिय एवं मन मिल कर मनोमय कोष और पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि मिल कर विज्ञानमय कोष कहलाते हैं। अनादि अविद्यामूलक कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। इस प्रकार इन तीनों शरीरों या पंचकोषों से आवृत्त चेतन सत्ता को जीव कहते हैं। यही जीव अनादि अविद्या के प्रभाव से लाखों योनियों में भ्रमण करके अन्त में मनुष्य-योनि में आता है। मनुष्य-योनि में आकर जीव अपने कर्मों के अनुसार कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी प्रेत, कभी मनुष्य, एवं कभी पशु आदि योनियों में भटकता रहता है।

(६)—जीव की नैसर्गिक गति

अनादि अनन्त व्यापक आत्मसत्ता में चिज्जड़-ग्रन्थि उत्पन्न होकर किस प्रकार जीवभाव का आविर्भाव होता है। वह इसके पूर्व अध्याय में बताया गया है। उस अनंत से अपने को पृथक् समझने वाला वह जीव अब आगे किस तरह बढ़ता है, एवं उसकी कैसी गति होती है, इस अध्याय में इसी विषय पर विचार किया जायगा।

बिना संस्कार के क्रिया हो नहीं सकती और बिना क्रिया के जीव प्रकृति के उन्नतिशील प्रवाह में अग्रसर नहीं हो सकता, इस कारण चिज्जड़-ग्रन्थि द्वारा जीवभाव के विकास के अनन्तर जीव को प्रकृति प्रवाह में अग्रसर होने के लिये क्रिया की आवश्यकता है, इस क्रिया के लिये संस्कार कहां से आवेगा? कर्म-मीमांसा दर्शन शास्त्र कहता है कि प्राकृतिक स्पन्दन ही क्रिया है। अर्थात् जीव उत्पन्न मरने वाले तमोगुण की ओर से रजोगुण की ओर जो प्रकृति की गति है, वह गतिजन्य स्पन्दन ही प्राकृतिक क्रिया है। इसी क्रिया के संस्कार को आश्रय करके सब उद्भिज योनि से लेकर मनुष्य-योनि पाने तक अग्रसर हुआ करते हैं। आर्यशास्त्रों में जीवभाव के विकास के पश्चात् पहिली योनि को उद्भिज योनि कहते हैं। इस योनि से लेकर मनुष्य योनि में पहुँचने तक चौरासी लक्ष योनियों में प्रत्येक जीव को भ्रमण करना पड़ता है, ऐसा सिद्धान्त निश्चय किया गया है। यथा वृहत् विष्णुपुराण में:—

"स्थावरे लक्ष विंशत्यो जलजं नवलक्षकम्। कृमिजं रुद्रलक्ष्च पक्षिजं दश लक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चातुर्लक्षञ्च बानरे। ततो हि मानुषा जाताः कुत्सितदिर्विलक्षकम्॥"

मनुष्य योनि लाभ के पहले जीव को बीस लाख बार स्थावर अर्थात् उद्भिज योनि में जन्म लेना पड़ता है, उसके बाद ग्यारह लाख बार स्वेद-स्वेदज योनि में जन्म लेना पड़ता है। उसके बाद उन्नीस लाख बार अण्डज योनि प्राप्त करनी पड़ती है एवं तदनंतर चौतीस लाख बार पशु आदि योनियों में घूमने के बाद

जीव अन्त में मनुष्य योनि में आता है। मनुष्य योनि में आने के पहले का अन्तिम जन्म जीव का किस योनि में होता है, इस विषय में शास्त्रों में कहा है कि, त्रिगुण के भेद से मनुष्य के पहले का यह अन्तिम शरीर भी तीन प्रकार का हुआ करता है। यथा तमोगुण के प्राधान्य से अन्तिम शरीर बन्दर का होता है। एवं सत्त्वगुण के प्राधान्य से अन्तिम जन्म गो जाति में होता है।

चतुरशीति लक्षान्ते तत्परं नरः

चौरासी लक्ष योनियों के बाद मनुष्य का जन्म होता है। बंदर के जन्म का प्रमाण ऊपर आ ही चुका है। रजोगुण के प्राधान्य से अन्तिम जन्म सिंह का होता है। इस विषय के भी प्रमाण मिलते हैं। इन योनियों की प्राप्ति के विषय में वेद में भी प्रमाण मिलता है। यथा ऐतरेयोपनिषद् में: —

"एष चेतराणि चाण्डजानि च स्वेदजानि चोभिज्जानि च।"

मनुष्येतर योनियों में उद्भिज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज इन चार योनियों को जीव प्राप्त होता है। यह योनि लाभ केवल स्थूल शरीर के परिवर्तन से ही होता है। सूक्ष्म या कारण शरीर में कोई भी परिवर्तन नहीं होता। यथा छान्दग्योपनिषद् में:—

"जीवायतं वांव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।"

जीवात्मा के प्रथक् होने पर केवल शरीर का ही उसका नाश होता है, जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। इसी को भगवान् ने गीता में भी स्पष्ट किया है। यथा:—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥"

जैसे मनुष्य अपने पुराने वस्त्र का परित्याग करके दूसरा नवीन वस्त्र धारण करता है, ऐसे ही देही जीवात्मा अपने पुराने जीर्ण शरीर का परित्याग करके दूसरे नवीन शरीर को ग्रहण करता है। जीवात्मा के इस स्थूल शरीर परित्याग को ही मृत्यु कहते हैं। उद्भिज (Vegetable Kingdom) भी प्रथम योनि से लेकर अन्तिम उद्भिज योनि तक सूक्ष्म एवं कारण शरीर से युक्त जीवात्मा बीस लाख बार इसी प्रकार एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा क्रमोन्नत उद्भिज योनि का शरीर ग्रहण करके इस योनि को समाप्त करता है। तदनन्तर वह स्वेदजयोनि (जर्म किङ्गडम) में प्रवेश करता है, और ग्यारह लक्ष बार क्रमोन्नत स्वेदज-योनि के कीटादि का शरीर प्राप्त करता है। उसके बाद जीवात्मा अण्डज योनि (एग्बोर्न किङ्गडम) में आता है। उसमें उसको १९ लक्ष बार क्रमोन्नत अण्डज शरीर प्राप्त करना पड़ता है। उसमें भी जीव को जल में उत्पन्न होने वाली मछली अथवा मकरादि की नव लाख योनि एवं दश लाख स्थल में उत्पन्न होने वाली पक्षी की योनि प्राप्त होती हैं। इस तरह अण्डज योनि को समाप्त करके जीव जरायुज (शेलबोर्न किङ्गडम) पशुयोनि में आता है। वहाँ चौतीस लक्ष बार क्रमोन्नत पशुयोनि में जन्म धारण करके अन्त में इन चौरासी लक्ष योनियों को समाप्त करके तब जीव मनुष्य योनि में आता है। मनुष्येतर योनियों की संख्या जैसी शास्त्रों में निर्धारित पाई जाती है, वैसी मनुष्य योनि की निर्धारित संख्या नहीं पाई जाती। इसका कारण

यह है कि मनुष्येतर योनियों में बुद्धि एवं अहंकार का विकास न होने से जीव भला-बुरा या पाप-पुण्य कोई भी कर्म स्वयं नहीं कर सकता। नदी-प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की तरह वह तमोगुण से सत्त्वगुण में जाने वाली महा-प्रकृति के क्रमोर्द्ध प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ ऊपर की ओर चला आता है। महाप्रकृति परिणामिनी होती हुई क्रमशः तमोगुण से सत्त्वगुण की ओर अर्थात् ऊपर की ओर आती है। प्रकृति के इस ऊर्ध्वगामी स्रोत में बहता हुआ जीव क्रमशः ऊपर की ओर ही अग्रसर होता रहता है और उसको प्रकृति के नियमानुसार एक से दूसरा उन्नत शरीर तथा एक से दूसरी उन्नति योनि स्वतः मिलती जाती है। मनुष्य से नीचे की योनियों में कभी जीव का पतन नहीं हो सकता। उद्भिज से प्रारम्भ करके अन्तिम पशुयोनि तक उसकी उन्नति की गति अबाध्य रहती है। नीचे की उद्भिज से लेकर मनुष्य योनि के पहले पशुयोनि तक जीवन की क्रमोन्नति की गति अबाध्य होने के कारण ही हमारे पूज्यपाद महर्षियों ने जीवों की इस स्वाभाविक गति पर योगशक्ति से संयम करके इन योनियों की चौरासी लक्ष संख्या निर्देशत की है। यदि इसमें कोई क्रमोन्नति का नियम ही होता हो तो इस प्रकार संख्या कदापि निश्चित नहीं हो सकती थी। मनुष्य योनि में पहुंचने से जीव में बुद्धि एवं अहंकार का विशेष विकास हो जाता है। इस कारण जीव अपने शरीर एवं इन्द्रियों के ऊपर आधिपत्य करके नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता है और उन शुभाशुभ कर्मों के द्वारा कभी स्वर्ग में, कभी नरक में कितने बार कितनी योनियों में भटकता है, इसकी गिनती नहीं हो सकती। मनुष्य योनि में आकर जब जीव स्वतंत्र हो जाता है, तब उसके कर्म संस्कार भी स्वतंत्र होते हैं, एवं उन कर्मों के अनुसार उच्च-नीच गति भी निश्चित होती है। अतएव इस मनुष्य योनि में कितने बार जन्म-ग्रहण के बाद मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है, यह भी निश्चय नहीं हो सकता एवं इसकी संख्या भी निर्धारित नहीं हो सकती।

मनुष्येतर योनियों में ब्रह्माण्ड प्रकृति के स्पन्दन जनित प्राकृतिक संस्कार का आश्रय लेकर के प्रवाह पतित रूप से अग्रसर होता है। इस कारण उन सब योनियों में सब जीवों की चेष्टा उस क्रमोन्नति शील प्रवाह के अनुकूल ही होती है। वह चेष्टा क्रमोन्नति के अनुसार अलग-अलग होने पर भी जितने जीव क्रमोन्नति के एक प्रवाह में प्रवाहित होते हैं, उन सब जीवों की चेष्टा समान होती है, उसमें कोई भिन्नता नहीं होती है। इसी कारण मनुष्येतर योनियों में एक श्रेणी के जीवों में एक सी ही चेष्टा देखी जाती है। जैसे सिंह या व्याघ्र कभी घास खाते नहीं देखे गये। ये प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार मांस ही खाते हैं। ऐसे ही गाय कभी मांस नहीं खाती, वह घास ही खाती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्पन्दन जनित भिन्न-भिन्न संस्कार एवं स्वभाव प्राप्त होकर जीव नाना योनियों के भीतर से क्रमशः अग्रसर होता रहता है। किन्तु ये सब संस्कार ब्रह्माण्ड प्रकृति से प्राप्त होते हैं, इस कारण इनके साथ जीवों का स्वामित्व-संबन्ध स्थापित नहीं होता एवं यही कारण है कि, मनुष्येतर योनियों में पहिले जन्म का संस्कार दूसरे जन्म का कारण नहीं होता। पहले जन्म के समाप्त होने पर उस जन्म को देने वाला प्राकृतिक संस्कार ब्रह्माण्ड प्रकृति में ही रह जाता है, एवं जीव प्रकृति द्वारा संचालित होकर आगामी जन्म का नया संस्कार या नई योनि प्राकृतिक स्पन्दन से ही प्राप्त करता है, एवं उसके नये जन्म की चेष्टा भी उसी के अनुकूल होती है। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि यदि कोई जीव प्राकृतिक संस्कार के अनुसार सिंह की योनि प्राप्त करे तो उसका आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि स्वाभाविक क्रियाएँ सिंह योनि सुलभ ही होंगी। किन्तु सिंहयोनि समाप्त करके यदि वह उसके बाद गौ की योनि पावेगा, तो सिंह योनि का संस्कार उसके

अन्तःकरण को कदापि भी आश्रय नहीं करेगा और वह हिंसा करना एवं मांस खाना भूलकर घास खाना प्रारम्भ करेगा। पहली योनि के संस्कार के अनुसार उसको मांस खाना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होगा।

अतः निष्कर्ष यह हुआ कि, मनुष्येतर योनियों में जीव की गति केवल प्राकृति संस्कार की सहायता से प्राकृतिक नियमानुसार ही होती है। इस कारण उसमें पूर्व कर्म के साथ परवर्ती कर्म का कोई भी सम्पर्क नहीं रहता। और न प्रारब्ध, संचित या क्रियमाण आदि किसी प्रकार का कर्म संस्कार ही संग्रह होता है। मनुष्य योनि में पहुंचने के पश्चात् इस क्रम का एक बार ही परिवर्त्तन हो जाता है। यहां पहुंचने पर पंच कोषों के पूर्ण विकास हो जाने के कारण जीव अपनी इन्द्रिय शरीर एवं मन का स्वामी बन कर महाप्रकृति की उस स्वाभाविक संस्कार धारा का परित्याग कर देता है, और स्वतन्त्र कर्म के द्वारा स्वतन्त्र संस्कार संग्रह करता है। इस कारण मनुष्य योनि में आने के पश्चात् अन्त में स्वतंत्ररूप से संग्रह किये हुए उन कर्मों के अनुसार जीव का आगामी जन्म होता है एवं उन उन्नत या अवनत प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जीव का उन्नत या अवनत जन्म भी हुआ करता है। इसी कारण मनुष्य-योनि में आने के पश्चात् जीव जितने कर्म उपार्जन करता है, उन कर्मों की तीन श्रेणियां बनती हैं जिनको योगशास्त्र में संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण नाम से अभिहित किया है।

मनुष्येतर योनियों में जीव ब्रह्माण्ड प्रकृति के अधीन रहने से एवं अपने इन्द्रिय-मन आदि के ऊपर उसके आधिपत्य का प्रभाव होने से उसकी सब क्रियायें एवं चेष्टायें नियमित होती हैं। उसके द्वारा प्रकृति के विरुद्ध कोई काम नहीं होता, न उन योनियों के जीव किसी काम में अप्राकृतिक बल प्रयोग ही कर सकते हैं। इसी कारण पशु-पक्षी आदि जीवों में अनियमित काम चेष्टा आदि कदापि नहीं देखी जाती। ऋतुकाल उपस्थित होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार सृष्टि कार्य के लिये ही उनमें कामेच्छा उत्पन्न होती है एवं सृष्टि क्रिया हो जाने के बाद वह इच्छा एक बार ही लुप्त हो जाती है। उसके बाद स्त्री-पुरुष एक साथ रहने पर भी उनमें कामवासना उत्पन्न नहीं होती। परन्तु मनुष्य योनि में आने के बाद जीव अपनी प्रबल इन्द्रियों के अधीन होकर ब्रह्माण्ड प्रकृति के इस स्वाभाविक नियम का अतिक्रम करके अनियमित रूप से यथेच्छ इन्द्रिय सेवा परायण होकर ब्रह्माण्ड प्रकृति के उस क्रमोन्नतिशील प्रवाह से अलग हो जाता है। इस कारण मनुष्य योनि के पहले जीव की आहार, निद्रा आदि सभी क्रियायें नियमित होने पर भी मनुष्य योनि में आते ही वे सब क्रियायें अनियन्त्रित हो जाती हैं। ब्रह्माण्ड प्रकृति की गति क्रमशः तमोगुण की ओर से सत्वगुण की ओर क्रमोन्नति प्राप्त करती है, इस कारण इस गति के साथ बहने वाले मनुष्येतर योनियों के जीव जितने उन्नत होते हैं, उतने ही उनमें पंचकोषों का विकास होता जाता है; फलतः उनके शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विविध वृत्तियों में भी स्फूर्त्ति साथ ही साथ आती जाती है। सब ही योनियों के भीतर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर या पंच कोष विद्यमान् रहते हैं। भेद इतना ही रहता है कि, मनुष्येतर योनियों में सब कोषों का ठीक-ठीक विकास नहीं होता। जीव की क्रमोन्नति के साथ-साथ उसके पंच-कोषों का भी क्रम विकास हुआ करता है। यथा उद्भिज योनियों (एकेन्द्रिय) में अन्नमय कोष का ही विकास होता है। स्वेदज योनि (द्विइन्द्रिय) में अन्नमय एवं प्राणमय इन दो कोषों का विकास होता है। अण्ड-जयोनि (त्रिइन्द्रिय) में अन्नमय, प्राणमय एवं मनोमय इन तीनों कोशों का विकास हो जाता है। जरायुज पशुयोनि (चतुइन्द्रिय) में अन्नमय, प्राणमय एवं विज्ञानमय इन चार कोषों का विकास देखा जाता है।

उद्भिज में प्राणमय कोष का विकास न होने के कारण उस योनि के जीव प्राणक्रिया द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में जा-आ नहीं सकते। स्वेदज में प्राणमय कोष का विकास हो जाने के कारण स्वेदजयोनि के कीटादि इच्छानुसार इधर-उधर जाते आते हैं एवं अपनी प्राण शक्ति द्वारा महामारी आदि उत्पन्न करने तथा दूसरे प्राणियों के प्राणनाश के कारण बनाते हैं। अण्डज योनि में मनोमय कोष का विकास हो जाता है, इसी कारण पक्षियों में अपूर्व दाम्पत्यप्रेम तथा वात्सल्य प्रेम देखा जाता है। जरायुज पशुयोनि में विज्ञानमय कोष का भी विकास हो जाने के कारण उनमें मनोवृत्ति के अतिरिक्त बुद्धिवृत्ति का भी परिचय मिलता है। कुत्ता अपने स्वामी की सम्पत्ति की रक्षा करता है, और समय पर उसके लिये अपने प्राणों की भी बलि देता है। हाथी तथा घोड़े में बुद्धि वृत्ति के अनेक कार्य देखे जाते हैं।

इस तरह मनुष्येतर योनियों के जीवों में चार कोशों के क्रम-विकास के साथ-साथ क्रमोन्नत वृत्तियों का विकास देखा जाता है, तो भी इन नीचे की योनियों में आनन्दमय कोश का विकास नहीं होता, एवं इन योनियों के जीवों की बुद्धि-वृत्ति भी इतनी विकसित नहीं होती कि वे अपने शरीर तथा मन पर आधिपत्य कर सकें। आनन्दमय कोश का विकास न होने के कारण ही मनुष्येतर योनियों के जीव हंस नहीं सकते। मनुष्य ही हृदय के आनन्द का परिचय हंस कर दिया करते हैं; क्योंकि मनुष्यों में आनन्दमय कोश का विकास सम्पूर्णरूप से होता है। इस कारण मनुष्यों में अहंकार तथा आनन्द अनुभव की शक्ति बढ़ जाती है, अतः वह आनन्द प्राप्ति के लिये अधिक लालायित भी हो जाता है। इस तरह आनन्द प्राप्ति की प्रबल वासना से प्रेरित होकर अपनी सारी बुद्धि वृत्ति का उपयोग इन्द्रिय सुख की प्राप्ति के लिये करता है। मनुष्येतर योनियों में इन्द्रिय संभोग की शक्ति रहने पर भी बुद्धि वृत्ति एवं अहंकार के पूरा विकास न होने से उन जीवों को अपनी उन शक्तियों का ज्ञान नहीं रहता। इस कारण उनकी भोग लालसा मनुष्यों की तरह इतनी प्रबल नहीं हो पाती एवं वे महाप्रकृति के इङ्गित के अनुसार ही चलते हैं। मनुष्यों में शरीर के ऊपर अहंकार इन्द्रियों की शक्ति एवं ज्ञान सभी का सम्यक् विकास हो जाता है। इस कारण मनुष्य अनियमित इन्द्रिय-सेवा द्वारा प्रकृति के क्रमोन्नतिशील प्रवाह से अलग हो जाता है। एवं उसकी उन्नति की अबाध्य गति का क्रम रुक कर अधोगति का अवसर उपस्थित हो जाता है। श्रीभगवान् की जो शक्ति मनुष्य को इस अधोगति से बचा कर क्रमोन्नति का अवसर देती हुई पुनः पूर्णत्व की ओर अग्रसर करती है, उसी का नाम धर्म है।

मनुष्यों की प्रकृति (प्रकृति) के भेद के अनुसार धर्म के भी अनेक साङ्गोपाङ्ग एवं उनकी विधियां वेदशास्त्रों में वर्णित हैं, जिनके विषय में हम पूर्व सविस्तार वर्णन कर आये हैं (यथा स्थान देखो)। मनुष्य से नीचे की योनियों में बुद्धि वृत्ति का विकास ठीक-ठीक न होने के कारण उन योनियों के जीवों में शास्त्रोक्त इन धर्म विधियों के आश्रय से अग्रसर होने की शक्ति नहीं होती। इस कारण प्रकृति माता ही इन जीवों को अशक्य छोटे बच्चे की तरह अपनी गोद में लालन-पालन करती एवम् उन्नत करती हुई मनुष्य योनि तक पहुंचा देती है। इन जीवों के शुभाशुभ कर्म प्रकृति माता का ही आश्रय करते हैं, इन्हें नहीं स्पर्श करते। व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक जन्तु ब्रह्महत्या करके भी पाप के भागी नहीं होते। गोमाता सब को दूध रूपी अमृत पान करा कर भी पुण्य की भागिनी नहीं होती। कारण यह है कि, इन योनियों के जीवों के अन्तःकरण में इन शुभाशुभ कर्मों का शुभाशुभ संस्कार संग्रह नहीं होता। मनुष्य योनि में

अपने कर्म का अभिमान उत्पन्न हो जाता है वह समझता है कि, "मैंने यह कार्य किया है"। ऐसा समझने से उसके अन्तःकरण में उसके किये शुभाशुभ कर्मों का संस्कार संग्रह होता है। एवं उनके साथ मनुष्य का अभिन्न सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। इसी कारण मनुष्य योनि में जीव अपने किये हुये भले-बुरे कर्मों का उत्तरदायी बन जाता है। अतएव मनुष्य यदि शास्त्र-सम्मत धर्म कार्यों का अनुष्ठान करे तभी वह अधोगति से बच कर क्रमशः उन्नत होते हुये अन्त में उन्नति की चरम सीमा निःश्रेयस पद को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा वह उच्छृङ्खल इन्द्रियों की सेवा से नीचे की योनियों में भी पतित होता है।

अतः यही निश्चय हुआ कि, मनुष्येतर योनियों में कर्म करने की स्वतन्त्रता न रहने से (ब्रह्माण्ड) प्रकृति की सहायता से जीव क्रमोन्नति प्राप्त करता हुआ मनुष्ययोनि में पहुंच जाता है। मनुष्योनि में आकर बुद्धि एवं अहंकार के पूर्ण विकसित हो जाने से मनमाना स्वतंत्र कर्म करके महाप्रकृति के क्रमोन्नति धारा से अलग होकर अपना व्यक्तित्व लाभ करता एवं पाप पुण्य का अधिकारी होकर जन्म-मरण के चक्र में अनवरत घूमने लगता है।

(७) कृष्ण एवं शुक्ल गति

पशुयोनि से मनुष्ययोनि में आने पर भी प्रथम अवस्था में जीव का आचरण तथा व्यवहार प्रायः पशु के समान ही रहता है। क्योंकि प्रारम्भिक मनुष्य योनि होने से वह पशुओं की योनि से मिलती-जुलती होती है। अब भी पृथ्वी के अनेक जंगलों में पशु प्रायः जंगली मनुष्य देखे जाते हैं। महाप्रकृति के स्पन्दन-जनित कर्म संस्कार द्वारा जीव पशुयोनि से मनुष्ययोनि में आता है। वहां आकर क्रमशः बुद्धि विकास होने से उस प्राकृतिक कर्म संस्कार के साथ अपना अभिमान उत्पन्न कर लेता है, एवं वह अपना व्यक्तिगत कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार मनुष्य जितने कर्म संग्रह करता है, उनकी तीन श्रेणियां हैं; उनको संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कहते हैं, यह पहले ही कहा गया है। अनेक जन्मों से मनुष्य जो कर्मराशि का संग्रह करता आ रहा है, उन सब कर्मों का भोग न होकर उनमें से कुछ कर्म जो प्रबल होते हैं, उन्हीं का भोग होता है; बाक़ी जितने कर्म एकत्रित होते हैं, उनका भोग नहीं हो पाता, उस कर्म राशि को संचित कर्म कहते हैं। ये संचित कर्म चित्त के गंभीर स्तर चिदाकाश में संचित रहते हैं, एवं धीरे धीरे अवसर पाकर इनका फल भोग होता है। इन कर्मों में से जो शक्तिशाली कर्म ऊपर चित्ताकाश में आकर भोगायतनरूप अगले जन्म का शरीर प्रदान करते हैं, वे प्रारब्ध कहाते हैं। प्रत्येक जन्म में नई वासना के अनुसार जीव जो नवीन-नवीन कर्म करता है, उन कर्मों को क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्मों में जो कर्म बलशाली होते हैं, वे प्रारब्ध बन कर आगे जन्म का शरीर, जाति, आयु एवम् भोग उत्पन्न करने के कारण बन जाते हैं। शेष संचित कर्मों में विलीन हो जाते हैं। उदाहरणरूप से समझ सकते हैं कि, कोई मनुष्य एक जन्म में ऐसे कर्म करे, जिसमें कुछ स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले कुछ नरक योनि के साधनीभूत एवम् कुछ उन्नत मनुष्य योनि को प्राप्त कराने वाले हैं; इन सब श्रेणी के कर्मों की व्यवस्था इस प्रकार होगी कि, इन कर्मों में जो सबसे उग्र एवं बलशाली होंगे, वे ही उस मनुष्य के मृत्यु के समय चित्ताकाश में स्वतः आ जायंगे और प्रारब्ध बन कर उस मनुष्य का भावी जन्म प्रदान करने के कारण बनेंगे। यदि उसके वे प्रबल कर्म मनुष्य योनि के

उपयुक्त होंगे तो प्रथमतः मनुष्य योनि प्राप्त होगी; बाकी स्वर्ग एवं नरक देने वाले कर्म चिदाकाश में संचित रहेंगे। मनुष्य योनि में कर्म करने की स्वतंत्रता है। अतः यदि मनुष्य जन्म पाकर वह जीव ऐसा प्रबल शुभ कर्मों का संग्रह करे, जो नरक योनि या स्वर्ग प्राप्ति कराने वाले दोनों कर्मों से भी शक्तिशाली एवं प्रबल हों तो भावी जन्म उसका उन्हीं कर्मों के अनुसार होगा, दूसरे जन्म में भी उसको स्वर्ग या नरक योनि की प्राप्ति नहीं होगी और यदि ऐसा ही हो कि वह क्रमशः उन्नत से कर्म करता हुआ अन्त में मुक्त हो जाय तो उसको नरक योनि की प्राप्ति होगी ही नहीं। उसके वह कर्म प्रकृति के महाकाश में विलीन हो जायंगे, एवं यदि ऐसा न हो दूसरे जन्म में या कालान्तर में उसको नरकादि योनि अवश्य प्राप्त होगी। तात्पर्य यह है कि, मनुष्य योनि में कर्म करने की स्वतंत्रता रहने से मनुष्य यदि चाहे तो अशुभ कर्म संस्कार के वेग को नष्ट करके शुभ उत्तम कर्म संस्कार उत्पन्न कर सकता है। इसी कारण सब योनियों में मनुष्य योनि श्रेष्ठ कही गयी है, और देवतागण भी मनुष्य योनि पाने की इच्छा करते हैं। मनुष्य को किसी भी अवस्था में निराश होने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पहले जीवन में चाहे वह कितना ही पापी क्यों न हो, यदि वह समझ जाय तो पुरुषार्थ करके भावी जीवन को अवश्य ही पवित्र एवं उन्नत बना सकता है। परन्तु ऊपर लिखित त्रिविध कर्मों में से यदि मनुष्य योनि प्राप्त करने वाले कर्मों की अपेक्षा पशु या स्वर्गीय योनि प्राप्त करने वाले कर्म अधिक प्रबल हों तो प्रथम पशु योनि या स्वर्ग-योनि की प्राप्ति उस जीव को होगी। ये दोनों ही योनियां भोग योनियां हैं। अतः इनमें कर्म स्वातंत्र्य नहीं है। इस कारण इन योनियों में जीव भला-बुरा कुछ नहीं कर सकता। उसको इन योनियों का भोग समाप्त करके पुनः नये कर्म संग्रह के लिये मनुष्य योनि में ही आना होगा। इसी तरह संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध, इन त्रिविध कर्मों के अधीन होकर जीव संसार के आवागमन चक्र में घूमता रहता है। वह कभी स्वर्ग कभी नरक कभी प्रेत, कभी मनुष्य, एवं कभी पक्षी की योनियों में आता जाता-(गमा-गम) किया करता है। इस तरह भटकते हुए जीव की साधारणतः जो-जो गतियां होती हैं, उनकी शास्त्रों में दो श्रेणियां हैं, जिनको कृष्ण एवं शुक्लगति या धूमयान एवं देवयान गति भी कहते हैं। यथा श्रीभगवान् गीता में कहते हैं:—

"यत्रकाले त्वनावृत्ति मावृत्ति चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भारतर्षभ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायणम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥

शुक्लकृष्णे गति ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः॥"

जिस काल में शरीरान्त होने से अनावृत्ति एवं जिस काल में पुनरावृत्ति होती है, वह कहते हैं। दिन, शुक्लपक्ष एवं उत्तरायण के छः मास में शरीरान्त होने से अग्नि अभिमानी देवता, ज्योति अभिमानी देवता, शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता एवं उत्तरायण के अधिष्ठाता देवता इन सब देवताओं की सहायता मिलती है। इनकी सहायता से ऊर्ध्वगति होती है। उसको शुक्लगति कहते हैं। इस गति के प्राप्त होने पर जीव को पुनः इस संस्कार चक्र में लौट कर नहीं आना पड़ता है। वह क्रमशः ज्ञान प्राप्त करता हुआ सप्तम लोक में पहुँच कर पूर्ण ज्ञान लाभ करके ब्रह्म को जान कर मुक्त हो जाता है। रात्रि, कृष्णपक्ष एवं दक्षिणायन में शरीरान्त होने से धूमाभिमानी देवता, रात्र्याभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता एवं दक्षिणायन के अभिमानी देवतागण की सहायता से चन्द्रलोक में जीव पहुँचता है। इसको कृष्णगति भी कहते हैं। भोग समाप्ति के बाद वहां से उसको फिर मृत्युलोक में लौट आना पड़ता है। अनावृत्ति एवं आवृत्तिपद ये ही दो शुक्ल एवं कृष्ण गतियां जगत् में चिरकाल से प्रसिद्ध हैं। शुक्लगति के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में निम्न लिखित वर्णन है:—

"अथ य मे ग्राम ईष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रि रात्रेर परपक्षमपरपक्षाद्यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकम् पितृलोकादाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते।"

ईष्टा पूर्त्तादि यज्ञ का अनुष्ठान करके उसके फल से मनुष्य मृत्यु के अनन्तर धूमयान या पितृयान गति को प्राप्त करता है। इस गति में क्रमशः धूमाभिमानी देवता, रात्रि अभिमानी देवता, कृष्णपक्ष के देवता, मास के देवता एवं दक्षिणायन के देवता, इन सब देवताओं की सहायता प्राप्त करते हुए जीव संवत्सराभिमानी देवताओं की सहायता प्राप्त करता है। इस प्रकार पितृलोक एवं आकाश में होकर जीव चन्द्र देव के लोक को प्राप्त होता है। वहां का राजा चन्द्र है। वहां का शरीर प्राप्त कर जीव वहां के देवताओं का भोग अर्थात् आनन्द की वस्तु बन जाता है। वह उन देवताओं के साथ नाना प्रकार के आनन्द का उपभोग करता है। पुण्य कर्म के क्षय होने तक इस तरह चन्द्रलोक में सुख भोग करके अन्त में जिस मार्ग से यह ऊर्ध्वगति हुई थी, उसी मार्ग से पुनः संसार में लौट आता है। अस्तु, शास्त्रों में जो स्वर्गादि का वर्णन है, वह इसी कृष्णगति के अंतर्गत है। इस कारण श्रुति कहती है:— "नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतोऽनुभूत्वा इयं लोकं हीनतर वा विशन्ति।"—स्वर्ग में पुण्यफल भोग करने के बाद पुनः नरकलोक या इससे भी हीनलोक में जन्म होता है। श्री भगवान् ने भी गीता में कहा है:—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्यसुरेन्द्रलोक—मश्नन्ति दिव्यानि दिवि देव भोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥"

वैदिक कर्मकाण्डीगण सकाम यज्ञों के द्वारा यज्ञेश्वर भगवान् की पूजा कर यज्ञ शेष सोमपान से निष्पाप होकर स्वर्ग जाते हैं, एवं स्वर्ग में देवभोग्य नाना भोगों को भोगते हैं। इस तरह विशाल स्वर्गलोक में नाना विध भोगों को भोग कर पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः वे इसी मृत्युलोक में आते हैं। यही धूमयान या कृष्णगति है। इसके द्वारा भूलोक से केवल स्वर्ग लोक में ही गति नहीं होती, परन्तु पितृलोक में भूलोक के अन्य उन्नत लोक भुवर्लोक एवं स्वर्गलोक तथा इनके अन्तरङ्ग लोकों में भी जीव की गति हो सकती है। इन लोकों में अपने पुण्य के फलरूप विविधि भोग भोगने के अनन्तर पुण्य क्षय के पश्चात् पुनः इसी मृत्युलोक में जीव को आना पड़ता है। ये सब लोक क्या हैं, इस विषय में शास्त्रों में अनेक वर्णन मिलते हैं। पहले भी कहा गया है कि, एक ब्रह्माण्ड में चौदह लोक हैं। इसमें केन्द्रशक्ति स्वरूप एक सूर्य एवं सूर्य के चारों ओर अनेक ग्रह उपग्रह हैं; जो सूर्य से ही प्रकाश पाते हैं एवं सूर्य के मध्याकर्षण से ही उसके चारों ओर घूमते रहते हैं। इन सब को लेकर एक सौर जगत् या ब्रह्माण्ड कहा जाता है। इसी स्थूल-सूक्ष्म लोकमय ब्रह्माण्ड को चतुर्दश भाग में विभक्त होने के कारण चतुर्दश भुवन भी कहते हैं। जीव अपने कर्मों के तारतम्य के अनुसार इन सभी लोकों में जाया करता है। सात्त्विक कर्मों के द्वारा सूक्ष्म ऊर्ध्व लोकों में एवं राजसिक कर्मों के द्वारा सूक्ष्म निम्न लोकों में जीव की गति हुआ करती है। सूक्ष्म लोक समूह पांच भौतिक होने से प्रत्येक लोक में किसी एक तत्त्व की प्रधानता रहती है; जैसे चन्द्रलोक में जलतत्व का प्रधान्य है, स्वर्गलोक में तेजतत्व का प्राधान्य है, इत्यादि, इस कारण जीव जिस लोक में जाता है, उसका स्थूल शरीर उसी तत्व का बन जाता है। देवयान या शुक्लगति के द्वारा छठे या सातवें लोक में गति होती है। वहां से पुनः प्रावर्तन नहीं होता है। पुराणादि शास्त्रों में जो स्वर्गादि लोकों का वर्णन पाया जाता है, उससे ये ही सब लोक समझना उचित है। इन लोकों में इन लोकों के उपयोगी स्थूल शरीर द्वारा ही भोग होता है। वस्तुतः हमारे इस मृत्युलोक को छोड़ कर प्रेतलोक, पितृलोक, नरकलोक, तथा भुवः स्वः आदि ऊपर के छः लोक तथा अतल, वितल आदि नीचे के सात लोक सभी देवलोक ही हैं। इन लोकों का भोग भी विचित्र है। स्वर्ग सुख के विषय में महाभारत में ऐसा वर्णन मिलता है:—

'सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमोनास्ति न जरा न च पातकम्॥'

'उपरिष्टाच्च स्वर्लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्द्ध्वगः सत्पथः शश्वद्देवयानचरो मुने॥'

'ना तप्त तपसः पुंसो नामहायज्ञ याजिनः।
नानृता नास्तिकाश्चैव तत्र गच्छन्ति मुद्गल॥'

'धर्मात्मानो जितात्मानः शान्ता दान्ता विमत्सरा।
दान धर्म रता मर्त्याः शूराश्चाहव लक्षणाः॥'

'तत्र गच्छन्ति धर्माग्र्यं कृत्वा शमदयात्मकम्।
लोकान् पुण्यकृतां ब्रह्मन्! सद्भिराचरितान् नृभिः॥'

'देवाः साध्यास्तथा विश्वे तथैवच महर्षयः।
यामा धामाश्च मौद्गल्य गन्धर्वा पायसस्तथा॥'

'एषां देव निकायानां पृथक् पृथगनेकशः।

भास्वतः कामसम्पन्ना लोकास्तेजोमया शुभा ॥'
'त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि योजनानि हिरण्मयः ।
मेरु पर्व्वतराड् यत्र देवोद्यानानि मुद्गल ॥'
'नन्दनादीनि पुण्यानि विहाराः पुण्यकर्मणाम् ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णे भयं तथा ॥'
'बीभत्समशुभं वापि तत्र किञ्चन् न विद्यते ।
मनोज्ञाः सर्वतो गन्धाः सुखस्पर्शश्च सर्वतः ॥
'शब्दाः श्रुतिमनोग्राह्याः सर्वतस्तत्र वै मुने !
न शोको न जरा तत्र नायास परिदेवना ॥'
'ईदृशः स मुने ! लोकः स्वकर्मफल हेतुकः ।
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्म कर्मभिः ॥'
'तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य ! न मातृ-पितृ जान्युत ॥'
'न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मुत्रमेव ता ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुनेः ॥'
'न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ।
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मान्नेवं विधैश्च ते ॥'
'ईर्षा शोकक्लमापेता महिमात्सर्य्य वर्ज्जिताः ।
सुख स्वर्ग जितस्तत्र नर्त्तयन्ते महामुने ! ॥'
'तेषां तथा विधानांतु लोकानां मुनिपुंगव !
उपर्य्युपरि लोकस्य लोका दिव्य गुणान्विताः ॥'
'पुरस्ताद् ब्राह्मणास्तत्र लोकास्तेजोमया शुभाः ।
यत्र यान्त्यषयो ब्रह्मन् ! पूता स्वैः कर्मभिः शुभै ॥'
'ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः ।
तेषां लोकात् परवरे यान् यजन्तीह देवताः ॥'
'स्वयम्प्रभावस्ते भास्वन्तो लोकाः कामदुहाः परे ।
न तेषां स्वीकृतस्तापो न लोकैश्वर्य्यमत्सरः ॥'
'नवर्त्तयन्त्याहुतिभिस्ते नाप्यमृत भोजनाः ।
तथा दिव्यशरीरास्ते न च विग्रह मूर्त्तयः ॥'
'न सुखे सुखकामास्ते देव देवाः सनातनाः ।
न कल्प परिवर्त्तेषु परिवर्त्तन्ति ते तथा ॥'
'जरामृत्युः कुतस्तेषां हर्षः प्रीतिः सुखं न च ।
न दुःखं न सुखं चापि रागद्वेषौ कुतो मुने ॥'
'देवानाञ्च मौद्गल्य ! कांक्षिता सा गतिः परा ।
दुष्प्राप्या परमा सिद्धि रगम्या काम गोचरैः॥'

'त्रयस्त्रिंशदिमे देवा येषां लोको मनीषिभिः।
गम्यन्ते नियमैः श्रेष्ठैर्दानैर्वा विधिपूर्वकैः ॥'

स्वर्ग में शीतल स्निग्ध वायु चलती है, सुगन्ध से सब ओर आमोदित रहता है। वहां भूख-प्यास का कष्ट नहीं होता, रोग एवं जरा भी नहीं सताती। वह स्वर्गलोक के ऊपरभाग में अवस्थित है। वहां निरन्तर देवयान आते-जाते रहते हैं। तपोबल से हीन, यज्ञानुष्ठानरहित, मिथ्यारत, नास्तिक मनुष्यगण वहां नहीं जा सकते। जो धर्मात्मा जीव शान्त, दान्त मत्सररहित, दानादि धर्म में अनुरक्त हैं, एवं जो समर प्रिय महावीर हैं, वे ही शम-दममूलक अनुपम धर्मानुष्ठानपूर्वक सत्पुरुषों द्वारा सेवित इन पवित्र लोकों को प्राप्त करते हैं। देवता, साध्य, विश्व, महर्षि, याम, धाम, गन्धर्व एवं अप्सरा, इनके कामफलप्रद अनेक लोक दैदीप्यमान हैं। तेंतीस हजार योजन विस्तृत हिरण्यमय पर्वतराज मेरु के ऊपर नन्दन वन आदि अनेक पवित्र परम रमणीय देवोद्यान सुशोभित हैं। वे सब स्थान पुण्यवान् व्यक्तियों की विहार भूमि हैं। वहां क्षुधा, पिपासा, ग्लानि ,भय, वीभत्स या किसी भी प्रकार का अशुभ अनुभव नहीं होता। सर्वदा ही परम रमणीय, सुस्पर्श, सुगन्धित, पवन मन्द-मन्द गति से बहता है। श्रुति-सुखद शब्द श्रवण एवं मन को मोहित करता रहता है। वहां शोक, ताप, श्रम एवं बुढ़ापा लेश मात्र नहीं है। इस लोक में उपार्जित पुण्यकर्म से मनुष्य ऐसे सर्व-सुखद स्थान को प्राप्त करता है। वहां जाने पर कर्मज तेजस शरीर प्राप्त होता है? पिता-माता से जन्म नहीं होता। वहां स्वेद, पुरीष, मूत्र या दुर्गन्ध नहीं है, धूलि से वस्त्र भी मलिन नहीं होता। वहां वास करने वालों की दिव्यगंन्धयुक्त मनोहर माला नहीं मुर्झाती। वे लोग सदा विमानों द्वारा आते-जाते रहते हैं। वे लोग ईर्षा, शोक एवं श्रमजनित कुछ भी क्लेश नहीं अनुभव करते, निर्मत्सर एवं मोह रहित होकर बड़े सुख से समय बिताते हैं। ऐसे लोकों की अपेक्षा और भी उत्तम अनेक लोक हैं। इस प्रकार अनेक गुण सम्पन्न अनेक दिव्यलोक एक के ऊपर एक अवस्थित हैं। पूर्व दिशा में शुभास्पद परम तेजोमय ब्रह्मलोक विराजमान है। वहां पवित्र स्वभाव ऋषीगण अपने शुभ कर्मों द्वारा गमन करते हैं। वहां ऋभु नाम के देवतागण भी हैं। उनके लोक सर्वोत्कृष्ट हैं। देवतागण भी उनके लिए यज्ञ करते हैं। वे प्रभाससम्पन्न, सबको अभीष्ट फल देने वाले हैं। उनको स्त्री जनित ताप नहीं होता, ऐश्वर्य जनित ईर्षा नहीं होती। वे आहुति के द्वारा जीविका निर्वाह भी नहीं करते, न अमृत भोजन ही करते हैं। उनके शरीर दिव्य हैं। उनकी आकृति विग्रह की नहीं है। वे देव-देव सनातन हैं। उनको सुख की कामना भी नहीं है। कल्प के परिवर्तन होने पर भी उनका परिवर्त्तन नहीं होता, सदा एक रस ही रहते हैं। उन लोगों को जरा, मृत्यु, हर्ष शोक, दुःख एवं राग द्वेष नहीं होता। यह दुष्प्राप्य परमगति देवताओं के लिये भी प्रार्थनीय है। विषय-वासना निरत व्यक्ति वहां नहीं जा सकते। मनीषिगण विविध नियमानुष्ठान एवं विधिपूर्वक दानादि द्वारा इस त्रयस्त्रिंशत देवलोक को प्राप्त करते हैं। अस्तु, इस वर्णन के नीचे के भाग में जो ब्रह्मलोक का वर्णन है, वहां से फिर आना नहीं होता। वह देवयान या शुक्लगति का विषय है। स्वर्ग के जिन लोकों से लौटना होता है, उनमें दुःख का भी अनुभव होता है, वहां सुख के साथ ताप-दुःख मिला रहता है। सुख भोग के समय अपने से अधिक सुख भोगी को देखकर ईर्षाजनित जो दुःख उत्पन्न होता है, उसको ताप-दुःख कहते हैं। पृथक् पृथक् पुण्य कर्मों के द्वारा भिन्न-भिन्न भोग प्राप्त होता है, इस कारण प्रत्येक स्वर्गवासी का भोग एकसा नहीं है, उसमें तारतम्य है। अतः अधिक सुख प्राप्त स्वर्गवासी को देखकर

उससे कम सुख प्राप्त स्वर्गवासी के हृदय में ईर्षा की ज्वाला प्रज्वलित होती है, जैसा कि इस मृत्युलोक में भी देखा जाता है। भेद इतना है कि, वहां सुख भोग होने से यह ताप-दुःख भी कम होता है, स्वर्गवासियों का सुख भोग बहुत अधिक है, इस कारण उनके हृदय में ताप-दुःख की मर्म व्यथा भी बड़ी तीव्र एवं कष्टप्रद होती है। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के दुःख इस स्वर्ग सुख के साथ अनिवार्यरूप से मिले रहते हैं, यथा गरुड़पुराण में:—

स्वर्गेऽपिदुःखमतुलं यदारोहणकालतः। प्रभृत्याहं पतिष्यामि इत्येतद्हृदि वर्तते॥
नारकाश्चैव सप्रेक्ष्य महद्दुःखमवाप्यते। एवं गतिमहं गन्तेत्यहर्निशमनिवृतः॥

स्वर्ग सुख में भी असीम दुःख मिला हुआ है। स्वर्गारोहण के बाद से ही स्वर्गीय जीवों के हृदय में पतन की चिन्ता दिन रात लगी रहती है। नारकीय जीवों को स्वर्ग से देख कर भी स्वर्गगामियों को महान् दुःख होता है। वे सोचते हैं कि स्वर्ग भोगने के पश्चात् कहीं हमारी भी यही गति न हो। ऐसी चिन्ता सदा उनके हृदय को उद्विग्न करती रहती है। जो जितना सुखी होता है, उतना ही उसको दुःख का अनुभव तीव्र होता है, इस कारण स्वर्ग सुख भोग के अन्त में पतन की चिन्ता तथा नरक यातना की आशङ्का स्वर्गवासी जीवों के हृदय में शूल की भांति चुभा करती है। इस प्रकार स्वर्गसुखभोगरूपी अमृत में तीव्र विष मिल जाता है। और भी महाभारत में:—

"कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि।
न चान्यत् क्रियते कर्म मूलच्छेदेन भुज्यते॥
सोऽत्र दोषो मम मतस्तस्यान्ते पतनं च यत्।
सुखव्याप्त मनस्काना पतनं यच्य मुद्गल॥
असंतोषः परितापो दृष्ट्वा दीप्ततया श्रियः।
यद् भवत्यधरे स्थाने स्थितानां तत् सुदुष्करम्॥
संज्ञा मोहश्च पततां रजसाच प्रधर्षणम्।
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम्॥"

स्वर्ग प्राप्त करके जीव अपने पूर्व किये कर्मों का फल भोग करता है, वहां किसी तरह का नवीन कर्म नहीं कर सकता, अतः पुण्य का अन्त होने पर पुनः उसका अधःपतन होता है। स्वर्ग सुख में यह दोष है। बहुत दिन तक सुखपूर्वक समय बिताने के बाद पुनः दुःख की प्राप्ति अत्यन्त कष्टप्रद हुआ करती है। स्वर्ग के अन्य व्यक्ति जो अधिक पुण्य बल से अधिक उत्तम भोग भोगते हैं, उनके ऐश्वर्य्य को देख कर दूसरे स्वर्ग वासियों को असंतोष एवं परिताप उत्पन्न होता है, यह भी महान् कष्ट है। स्वर्गस्थ जीवों के गले की माला जब मुर्झाने लगती है, पतन निकट देख उनके हृदय में भय उत्पन्न होता है एवं पतन के समय रजोगुणक्रान्त होकर उनकी बुद्धि विमोहित हो जाती है। स्वर्ग के इन दोषों को विचार कर ही धीर ज्ञानी व्यक्तियों ने स्वर्ग सुख का परिणाम दुःख देने वाला ही समझ उसको तुच्छ एवं

हेय कह कर वर्णन किया है। इसी प्रकार पूर्व वर्णन के अनुसार जो जीव चन्द्रलोक में जाता है, वहां सुख भोग करने के पश्चात् पुण्य के क्षीण हो जाने पर उसका चन्द्रलोकगत जलमय शरीर तत्क्षण गल जाता है। तब वह क्षणमात्र भी उस लोक में नहीं रह सकता। उस समय जिस मार्ग से चन्द्रलोक में गया था, पुनः उसी मार्ग से वहां से लौट आता है। एवं इस मृत्युलोक में जन्म लेने के लिये उसका स्थूल शरीर व्रीही, यव, औषधि आदि से उपादान प्राप्त करके पिता के शुक्र में प्रवेश करता है, तथा सूक्ष्म शरीर कर्मानुसार यथा समय उसी शुक्र के अवलम्बन से माता के गर्भ में प्रवेश करता है। इस प्रकार धूमयान या कृष्णगति समाप्त होने पर पुनः कर्म करने के लिये जीव का इस पृथ्वी पर जन्म होता है। जीवों को मृत्युलोक में आने पर, स्थूल शरीर पितरों की सहायता से प्राप्त होता है और सूक्ष्म शरीर देवताओं की सहायता से गर्भ में प्रवेश करता है। कृष्णगति या धूमयानगति का यही संक्षिप्त वर्णन है। जिन-जिन लोकों से भोग के अन्त में जीव को पुनः लौट कर इस मृत्युलोक में आना पड़ता है उन सब गतियों को इसी कृष्णगति के अन्तर्गत समझना चाहिये।

देवयानगति या शुक्लगति उत्तरायण से होती है। इसके द्वारा जीव क्रमशः सर्वोन्नत लोक में चला जाता है, जहां जाने से लौटना नहीं होता। अन्त में सप्तम ब्रह्मलोक में पहुंचकर जीव मुक्ति प्राप्त कर लेता इस विषय में छांदोग्योपनिषद् में ऐसा वर्णन मिलता है:—

"ये च मेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाण-पक्षमापूर्य्यमाण पक्षाद्यान षड्दङ्डेति मासास्तान्। मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्च द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनां ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पंथा इति।"

निवृत्ति परायण जो मुनिगण अरण्य में निवास करते हुये श्रद्धा के साथ तप उपासना आदि का अनुष्ठान करते हैं, शरीरान्त के बाद उनकी गति सूर्य्यद्वार पथ से होती है। वे अर्चि अभिमानी देवता के लोक, दिन के अभिमानी देवता का लोक, आपूर्य्यमानपक्ष देवता के लोक, षण्मास देवता के लोक, सम्वत्सर देवता के लोक, आदित्य देवता के लोक, एवं चन्द्रमा के देवता के लोक, इन सब लोकों का अतिक्रम करके जब विद्युत् देवता के लोक में पहुंचते हैं, तब एक अलौकिक पुरुष आकर उन लोगों को ब्रह्म-लोक में ले जाते हैं। यही देवयान पथ है। इस सप्तम लोक ब्रह्मलोक से उपासकगण पुनः इस संसार में लौट कर नहीं आते हैं। वे ही ज्ञानद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार करके निर्वाण प्राप्त करते हैं। जो सगुण पञ्चोपासना में से किसी एक को इष्ट मानकर उस इष्ट की आराधना करते हुए इष्टमूर्त्ति के ध्यान से सविकल्प समाधि प्राप्त करते हैं एवं उस सगुण भाव में ही तन्मय होकर अन्त में शरीर त्याग करते हैं। उनको अपने-अपने इष्ट देवताओं के लोक में सालोक्य, सामीप्य आदि मुक्ति प्राप्त होती है। इन सब इष्ट देवताओं के लोक षष्ठ लोक के अन्तर्गत ही हैं। अर्थात् शिवलोक, विष्णुलोक, शक्तिलोक आदि सभी उपासना लोक छठे लोक में ही विद्यमान् हैं। शिव भक्त भगवान् शिव में तन्मय होकर शिवलोक प्राप्त करते हैं, विष्णुभक्त भगवान् विष्णु में तन्मय होकर विष्णुलोक में जाते हैं, देवी के उपासक देवी में तन्मय होकर मणिद्वीप में जाते हैं। इन सब लोकों का विचित्र वर्णन विष्णुपुराण, शिवपुराण, देवीभाग-वत आदि उपासना सम्बंधीय पुराणों में द्रष्टव्य है। इन सब लोगों में भक्तगण सारूप्य, सामीप्य आदि

मुक्ति प्राप्त करके महाप्रलय काल तक निवास करते हैं और महाप्रलय के समय जब विष्णु, शिव आदि परब्रह्म में लीन होते हैं, उस समय भक्त भी परम ज्ञान लाभ करके अपने इष्टदेव के साथ परब्रह्म में विलीन होकर निर्वाण पद या मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। यथा देवी भागवत में:—

'भक्तौ कृतायां यस्यापि प्रारब्धवशतो नग।
न जायते मम ज्ञानं मणिद्वीपं स गच्छति ॥'
'तत्र गत्वा ऽखिलान् भोगाननिच्छन्नपि चार्च्छति।
तदन्ते मम चिद्रूपज्ञानं सम्यग् भवेन्नग ॥'

इस लोक में भक्तिपूर्वक आराधना करने पर भी प्रारब्धवश पर-ज्ञान न हो तो वह भक्त मृत्यु के अनन्तर देवीलोक मणिद्वीप में जाता है। वहां इच्छा न रहने पर नाना प्रकार के भोगों को प्राप्त करता है एवं समय पर भगवान् के चिद्रूप का ज्ञान लाभ करके मुक्त हो जाता है। इसी विषय में श्रुति कहती है यथा:—

ब्रह्मणा सहतें सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

उन्नत लोक प्राप्त भक्तगण प्रलयकाल तक अपने इष्ट देव के साथ उस लोक में वास करके महाप्रलय के समय परब्रह्म का साक्षात्कार करके इष्टदेव के साथ ही परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। देवयान या शुक्ल गति के अन्त में मोक्षलाभ है। इस विषय में मुण्डक श्रुति भी कहती है:—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्तरण्ये शान्तो
विद्वान्सो भैक्षचर्य्यां चरंतः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयांति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः
सन्यास योगाद् यतयः शुद्धसत्वा।
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले
परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥

अर्थात् भिक्षाचर्य्या अवलम्बन पूर्वक जो शान्त विद्वान् पुरुष अरण्य में निवास करते हैं। एवं श्रद्धा के साथ तपस्यादि का अनुष्ठान करते हैं, वे शरीर त्याग करने के अनन्तर सूर्य्यद्वार से अर्थात् देवयान गति से अव्यय अमृत पुरुष के लोक को जाते हैं। यही ब्रह्मलोक है। वेदान्त ज्ञान से तत्त्व लब्ध

सन्यासयोग द्वारा शुद्ध तत्त्व यति गण इस ब्रह्मलोक में बहुत दिन वास करके महाप्रलय के समय ब्रह्म के लय के साथ ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

यहां शुक्ल एवं कृष्णगति का सविस्तार वर्णन किया गया है। इन दोनों पथ में जीव को आगे बढ़ते हुये अनेक प्रकार के देवताओं की सहायता मिलती है। जिसका वर्णन ऊपर अलग अलग आया है। शुक्लगति से षष्ठ या सप्तम लोक में पहुँचने से मुक्ति हो जाती है। दूसरी कृष्णगति में आवागमन चक्र का पुनः प्रत्यावर्त्तन बना ही रहता है। पाप-पुण्य इन दोनों मिश्रित कर्मों से ही कृष्णगति की प्राप्ति होती है, इस कारण जिन सब लोकों से लौटना होता है जैसे पितृलोक, प्रेतलोक, नरकलोक, असुरलोक, स्वर्गलोक, आदि इन सब की गति कृष्णगति के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये।

इन दोनों गतियों के अतिरिक्त मुक्ति देने वाली दो गतियां और भी हैं, जिनको सहजगति एवं ऐश-गति कहते हैं। इन असाधारण गतियों का वर्णन आगे किया जायगा।

(८) सहज गति या जीवन्मुक्ति

इससे पहले अध्याय में जिन कृष्ण एवं शुक्ल दो गतियों का वर्णन किया गया है, उनसे विलक्षण ऐशगति जिसका वर्णन आगे किया जायगा उससे भी भिन्न एक चौथी गति है, जिसको जीवन्मुक्ति या सहजगति भी कहते हैं। यहां इसी गति का विषय विचारणीय है।

जैसा कि पहले कहा गया है, मनुष्य योनि में आने के पूर्व जीव चौरासी लाख योनियों में घूमने के उपरान्त अन्त में मनुष्य योनि में आता है। मनुष्य योनि में आने के पश्चात् पंचकोषों के पूर्ण विकास हो जाने के कारण जीव प्रकृति माता के स्वाभाविक क्रमोन्नति के नियमों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचार करना प्रारम्भ कर देता है। इस कारण उसकी उन्नति का स्वाभाविक क्रम बन्द हो जाता है। तब वह अपने किये नाना प्रकार के शुभा-शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये आवागमन चक्र में भटकने लगता है। उसके गहन कर्म उसकी गति को भी गहन बना देते हैं। इस कारण वह कभी नरक, कभी स्वर्ग, कभी प्रेत कभी असुर एवं कभी मनुष्य योनि में, कभी नीचे, कभी ऊपर अपने कर्मवश जाता-आता रहता है, एवं नाना प्रकार के सुख-दुःख की दशाओं को प्राप्त करता रहता है। उसके किये कर्म इन सब सुख-दुःख भोगों के कारण बनते हैं। श्रीभगवान पतंजलि योगदर्शन में कहते हैं:—

"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष एवं अभिनिवेश-ये जो पाँच क्लेश हैं, इनका मूल कारण कर्माशय है, जिनका भोग दृष्ट जन्म अर्थात् इस वर्त्तमान् जन्म में एवं अदृष्ट जन्म अर्थात् भावी जन्म में हुआ करता है। इनका फल जाति, आयु एवं भोग है। किस जाति में जन्म होगा, आर्य्य, अनार्य्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, कितने दिनकी आयु होगी, एवं किस प्रकार का भोग प्राप्त होगा, ये सभी प्राक्तन कर्म पर निर्भर करता है। परन्तु यह भी योगशास्त्र के अनुसार निश्चित है कि मनुष्य अलौकिक पुरुषार्थ द्वारा अपनी

जाति को बदल सकता है, आयु को कम या अधिक कर सकता है, एवं भोगों में भी तारतम्य कर सकता है, मनुष्य यौगिक पुरुषार्थ के बल से दृष्टकर्म संस्कार को अदृष्ट एवं अदृष्टि को दृष्टि में भी परिणत कर सकता है। इस प्रकार से एक ही जन्म में बहुत उन्नत हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के यौगिक पुरुषार्थ की असाधारण शक्ति की प्राप्ति एवं सुयोग किसी बिरले व्यक्ति को हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये यह सम्भव नहीं है। यहां तो ऐसा कोई उपाय होना चाहिये, जिसके द्वारा प्रत्येक अवस्था का मनुष्य अपने अधिकार के अनुसार अपनी क्रमोन्नति के क्रम को बनाये रख कर आगे बढ़ता जाय, एवं उसका अधःपतन जो मनुष्य योनि में आकर प्रारम्भ हुआ है, न हो, और क्रमोन्नति प्राप्त करता हुआ अन्त में अपने परम प्रियतम प्रभु के चरणों में पहुँच जाय, जहां से वह आया है। मनुष्य योनि में आकर अधःपतन के गर्त्त में गिरते हुए जीवों की इस अवस्था को देखकर ही पूज्यपाद महर्षियों ने अनेक अङ्गोपाङ्ग से युक्त मानव धर्म की सृष्टि की। इस मानव धर्म के भी चार भाग हैं, जिनके विषय में इस ग्रन्थ में पहिले विस्तृत वर्णन कर आये हैं, यथाः—साधारण धर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म एवं आपद्धर्म, पुनः साधारण धर्म के भक्ति, सत्य, क्षमा, दया, आदि अनेक अङ्ग हैं, जिनके द्वारा मानव जाति का प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से लाभ उठा सकता है। विशेष-विशेष अधिकारियों के लिये विशेष धर्म हैं। जैसे नारि जाति के लिये नारी धर्म, पुरुष के लिये पुरुष धर्म, चारों वर्णों के धर्म तथा चारों आश्रमों के धर्म आदि इसी प्रकार नाना अवैदिक धर्म भी समझना उचित है। असाधारण धर्म तो केवल असाधारण शक्ति प्राप्त किसी विशेष अधिकारी के लिये ही हैं। आपद्धर्म आपत्ति के समय अपनी रक्षा करने के लिये है। इस कारण आपत्ति काल का आचार जो उस समय धर्म कहाता है, दूसरे समय उसी का बर्त्तना अधर्म हो जाता है। इसी मानवधर्म के एक अङ्ग विशेष धर्म का प्रधान अङ्ग वर्ण एवं आश्रम धर्म है। जाति विशेष या मनुष्य श्रेणी विशेष की प्रकृति प्रवृत्ति, स्वभाव आदि के अनुसार केवल उसी मनुष्य श्रेणी विशेष के कल्याण के लिये विशेष धर्म की सृष्टि है, वह उसके अतिरिक्त दूसरे के लिये हितकारी नहीं है, किन्तु अहितकारी है, इसी कारण श्रीभगवान् ने गीता में कहा हैः—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनिष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह ॥

अपना धर्म सदोष होने पर भी दूसरे के सम्यक् अनुष्ठित धर्म से श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना भी अच्छा है, दूसरे का धर्म भयावह है। अस्तु, पृथ्वी में जितने प्रकार के धर्म मत प्रचलित हैं, वे सभी इस मानव धर्म के अन्तर्गत साधारण धर्म के अङ्गोपाङ्ग कहे जा सकते हैं। वर्णाश्रमधर्मरूपी विशेष धर्म की व्यवस्था केवल आर्य जाति में ही अनादि काल से प्रचलित है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी प्रबल उच्छृङ्खल विषय-वासना को प्रवृत्तियों को धीरे धीरे नियमित एवं संयमित करके मुक्तिपथ की ओर क्रमशः अवैधरूप से आगे बढ़ता जाता है। इस कारण शास्त्रों में वर्ण धर्म को प्रवृत्तिरोधक एवं आश्रम-धर्म को निवृत्तिपोषक कहा है। त्रिगुणमयी प्रकृति के तमोराज्य में जीव भाव का विकास होने पर क्रमशः तमोभूमि, रजस्तमोभूमि, रजः सत्त्वभूमि, एवं सत्त्वभूमि क्रमशः इन चारों भूमियों में होता हुआ अन्त में जीव निर्मल तथा कल्मषरहित होकर पूर्णता प्राप्त करता है। इन चारों भूमियों में जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म प्रकृति के अनुसार जिन क्रमोन्नतिप्रद धर्माचारों का पालन करना पड़ता है, वे ही वर्ण धर्म हैं। प्रथम भूमि शूद्र

की है। इसमें स्वभावतः तमोगुण का ही आधिक्य रहता है। तमोगुण के आधिक्य से बुद्धि भी तामसिक होती है। तामसिक बुद्धि का लक्षण श्रीभगवान् ने गीता में कहा है, यथाः—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धि सा पार्थ! तामसि॥

अर्थात् जो अधर्म को धर्म समझे, ऐसे ही सभी विषयों को विपरीत समझे, वह बुद्धि तामसी है। इस कारण इस भूमि में अपनी बुद्धि द्वारा काम करने से उसमें भ्रम प्रमादवश जीव के पद-पद पर पतन की सम्भावना है। अतः आर्य्यशास्त्रों में शूद्र को अपनी बुद्धि से अपनी इच्छानुसार काम न करके द्विजों की आज्ञानुसार काम करने तथा सेवाधर्म का उपदेश है। इसका यह तात्पर्य कदापि भी नहीं है कि, शूद्रों का अपमान किया जाय। यह तो उनके अधिकार के अनुसार उनकी उन्नति के लिए सरल मार्ग का निर्देश है। इसी प्रकार काम करने से शूद्र वर्ण में रहने के समय मनुष्य अपनी उच्छृङ्खल तामसिक प्रवृत्तियों की गति को संयमित करने में अवश्य सफलता प्राप्त करेगा और उस भूमि से उन्नत होकर वैश्ययोनि में आवेगा। इस भूमि में उसमें स्वभावतः तम रज की प्रधानता होगी। इस कारण कर्म की एवं धनोपार्जन की प्रवृत्तिः स्वतः होगी। इस प्रवृत्ति को यदि किसी नियम से संयमित न किया जाय तो विषयाभिमुखी होकर फिर जीव का पतन होगा। इस कारण वैश्ययोनि की उन्नति के लिये शास्त्रों में आदेश है कि वैश्य वाणिज्यादि के द्वारा धनोपार्जन अवश्य करे, किन्तु वह धन गौरक्षा, दरिद्रों की सेवा तथा अन्य वर्णों के प्रतिपालन में व्यय किया जाय। इस नियम के पालने से वैश्य योनि का मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुकूल कर्म करके भी विषयी नहीं बनता, किन्तु विषय प्रवृत्ति का निरोध करके इस अधिकार से वह आगे बढ़ जाता है। तदनन्तर क्षत्रियोनि में आकर रजः सत्त्वगुण का स्वभावतः उदय होता है। यहां रजोगुण का प्राधान्य एवं सत्वगुण गौण रहता है। इस कारण इस भूमि में आने पर युद्धादि की प्रवृत्ति, शासन की प्रवृत्ति स्वतः होती है। यही प्रवृत्ति प्रबल होकर परपीड़न में परिणित हो पतन का कारण न बने, इसीलिये हमारे शास्त्रों में 'क्षत्रिय' के लिये प्रजा की रक्षा के लिये धर्मयुद्ध, धर्म के अनुकूल प्रजा-शासन आदिका निर्देश है। अपनी ही प्रकृति प्रवृत्ति के अनुसार कर्म को इस शास्त्रोक्त रीति से करके क्रमशः उस प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है। इस प्रकार क्रमोन्नत होकर वह जीव ब्राह्मणयोनि में आवेगा। वहां सत्त्वगुण की प्रधानता से स्वतः उसमें तमोगुण एवं रजोगुण निर्बल होजायेंगे। ऐसा होने से उसमें स्वभाव से ही प्रवृत्ति के त्याग एवं निवृत्ति के ग्रहण की इच्छा होगी। रजोगुण सम्भूत धन की लालसा को त्याग कर वह तप को ही धन समझेगा। इन्द्रियों का दमन करके वह संयमी बनेगा, इस लोक के सुख को क्षणस्थायी समझ कर परलोक के आनन्द के लिये तप स्वाध्याय निरत होगा, क्षणस्थायी विषयों के प्रति वैराग्यवान होकर आत्मा के अनुसन्धान में दत्तचित्त होगा। एक पूर्ण ब्राह्मण इस प्रकार अपनी जीवनसरिता की गति को अन्तर्वाहिनी बना कर उसको ब्रह्ममहासागर की ओर प्रवाहित करेगा। ब्राह्मणयोनि का एकमात्र यही उद्देश्य है एवं शास्त्रविहित कर्त्तव्य है। ब्राह्मणयोनि में जन्म प्राप्त जो व्यक्ति इस कर्त्तव्य से विमुख है, उसका ब्राह्मणयोनि में जन्म लेना ही वृथा है। वह केवल जाति से ब्राह्मण मात्र है। पूर्ण ब्राह्मण नहीं है। ऐसा ब्राह्मण जन्मान्तर में पुनः ब्राह्मणयोनि को नहीं प्राप्त होकर कर्मानुसार नीची योनि को प्राप्त होता है। परन्तु इस योनि

में आकर शास्त्रोक्त धर्म एवं मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करने से क्रमशः सत्त्वगुण की पूर्णता में पूर्णरूप से प्रवृत्ति का निरोध हो जाने से अपवर्ग प्राप्त हो जाता है। यही वर्ण धर्म के द्वारा क्रमशः प्रवृत्ति निरोध का मार्ग है। इसी प्रकार आश्रमधर्म के पालन के द्वारा निवृत्ति का पोषण होता है। ब्रह्मचर्य्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास इन चार आश्रमों में से ब्रह्मचर्य्याश्रम में अपने आचार्य्य के अधीन रह कर यह सीखना पड़ता है कि, ग्रहस्थाश्रम में किस प्रकार धर्ममूलक प्रवृत्ति होती है, जिससे प्रवृत्ति की वासना नष्ट होकर अन्तःकरण निवृत्ति की ओर आगे बढ़े। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम में धर्ममूलक प्रवृत्ति की शिक्षा मिलती है और ग्रहस्थाश्रम में उस प्रवृति की चरितार्थता होती है। इसमें प्रवृत्ति भावशुद्धिपूर्वक एवं धर्म के नियमों से आबद्ध होने से वासना के दृढ़ बन्धन शिथिल होते जाते हैं, इस कारण स्वतः ही विषयाशक्ति घटती जाती है। इस प्रकार क्रमशः वासना के संकोच द्वारा प्रवृति का निरोध होने पर वानप्रस्थाश्रम का प्रारम्भ होता है। इस तपोमूलक पवित्र आश्रम में तपस्यारूपी अग्नि में शरीर, मन एवं बुद्धि को तपा कर पवित्र किया जाता है। जिस तपस्या एवं त्याग की शिक्षा गृहस्थाश्रम में होती है, उसका इस तृतीय आश्रम में अभ्यास या साधन किया जाता है। इस प्रकार तप से पवित्र क्षीणकल्मष वानप्रस्थी यथा समय चतुर्थ आश्रम सन्यास में प्रवेश करता है एवं राजयोग का अधिकार प्राप्त करके ज्ञानदृष्टि से आत्मा का दर्शन कर निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जिस निवृत्तिरूपी वृक्ष का बीज ब्रह्मचर्य्याश्रम में बोया जाता है, वह ग्रहस्थाश्रम में अंकुरित होता है, वानप्रस्थाश्रम में वही पुष्पित एवं पल्लवित होता है और सन्यास आश्रम में त्यागरूपी जल, साधनरूपी मलयपवन एवं ज्ञानरूपी सूर्य्य के संयोग से पूर्ण परिपुष्ट होकर नित्यानन्दमय निःश्रेयसरूपी अमृतफल उत्पन्न करता है। यही वर्ण एवं आश्रम धर्म की सहायता से क्रमशः प्रवृत्ति का निरोध, निवृत्ति का पोषण एवं अन्त में उसकी पूर्णता का मधुर रहस्य है।

धर्म के नाम से पृथ्वी पर जितने मत मतान्तर, पन्थ आदि प्रचलित हैं, सब का उद्देश्य यही है कि मनुष्य उच्छृङ्खलतापूर्वक इन्द्रियों की सेवा करके अपना अधः पतन न करे, एवं अपने जीवन का लक्ष्य एक-मात्र इन्द्रिय सेवा एवम् स्वार्थ को न बनावे; किन्तु उसको उचित है कि अपनी क्रमोन्नति करते हुए अन्त में श्रीभगवान् के त्रितापहारी चरणों में पहुंच कर चिर शान्ति प्राप्त करे। इस कारण सभी धर्म-मत अपने अपने स्थान पर आवश्यक एवं उपयोगी हैं। जो व्यक्ति जिस धर्म में उत्पन्न हुआ है उसे जानना चाहिये कि, उसका शरीर, उसकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति उससे अनुकूल है। इसी कारण हमारे महर्षियों ने घोषणा की है:—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव॥

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा देवे, वह धर्म नहीं, कुधर्म है। जो धर्म सब धर्मों का अविरोधी है, वही धर्म है।

पृथ्वी की दूसरी जातियों में और आर्य जाति में यही प्रधान भेद है कि आर्य जाति अध्यात्म लक्ष्य प्रधान है। आज इस गिरी हुई दशा में भी इस जाति की यह विशेषता दृष्टिगोचर होती है।

इसका एकमात्र कारण यही है कि, हमारे पूज्य-पाद महर्षियों ने पदार्थवाद आदि पर विशेष ध्यान न देकर इसी विषय पर विशेष ध्यान दिया है; एवं चौरासी लक्ष योनियों में भटकने के पश्चात् पशु से मनुष्य योनि प्राप्त कर यह मनुष्य पारार्थिक वासनाओं का उच्छृङ्खलतापूर्वक भोग करके पुनः पशुयोनि में चला जाय, इसलिए उसके जीवन की प्रत्येक दिन चर्या के साथ धर्म का दृढ़ सम्बन्ध बांध दिया है। इस प्रकार धर्मानुकूल सदाचार सर्व वर्णाश्रम की विधि से चलते हुए मनुष्य क्रमशः कृष्णगति से आगे बढ़ कर शुक्लगति को प्राप्त करके षष्ठ या सप्तम लोक में जाकर ज्ञान की पूर्णता से इस संसार चक्र से मुक्त हो जाता है। और ऐसा भी हो सकता है, कि, इसी मनुष्य देह में ज्ञान की पूर्णता से निर्वाणपद प्राप्त करे। इस अध्याय का यही विचारणीय विषय है। सहजगति का साक्षात् सम्बन्ध ज्ञान से ही है।

सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत ब्रह्मभाव में अज्ञान के कारण किस प्रकार चिज्जड़ग्रन्थिरूप जीवभाव की उत्पत्ति होती है, सो पहले भलीभांति समझाया गया है। यह चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीव भाव अज्ञान से ही उत्पन्न होता है, अज्ञान से ही पुष्ट होता है, एवं अज्ञान के द्वारा ही अपना अस्तित्व बनाये रखता है। जब तत्वज्ञान तथा अन्वय-व्यतिरेक आदि साधनों के द्वारा सत् और असत्, प्रकृति और पुरुष, शरीर एवं शरीरी, जगत् एवं जगदात्मा के स्वरूप को ठीक-ठीक जान लिया जाता है, तो वह ग्रन्थि शिथिल होती जाती है, एवं अन्त में स्वरूपज्ञान प्राप्त करके जीवात्मा एक हो जाता है। इस प्रसङ्ग में साधन के क्रम के विषय में थोड़ा विचार करके पुनः प्रकृत पुरुष को समझाया जायगा।

जो कारण में है, वही कार्य में होता है। जो कारण में नहीं है, वह कभी कार्य में नहीं हो सकता है। जगत् कारण ब्रह्म है, सत् चित् एवं आनन्दरूप त्रिभावमय हैं, इस कारण इस कार्य्यरूप जगत् में भी वही त्रिभाव ओत-प्रोतरूप (से व्याप्त) है। उनके अद्वैत सद्भाव में ही इस द्वैत प्रपञ्चमय विश्व का विलास है। उसी का चिद्भाव चेतनरूप से प्रत्येक अणु परमाणुओं में परिव्याप्त है। उसी की आनन्दसत्ता नानारूप से जगत् में परिव्याप्त हो रही है। इन तीनों भावों की उपलब्धि के लिये कर्म, उपासना एवं ज्ञान ये त्रिविध साधन अनादिकाल से प्रचलित हैं। इसी कारण वेद के भी तीन भाग हैं, यथा ब्राह्मण भाग, उपनिषद्भाग एवं संहिता भाग। इन में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मणभाग है, ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला उपनिषद् भाग है और उपासनाकाण्ड का प्रतिपादक संहिता भाग है। कर्म, उपासना एवं ज्ञानरूपी तीनों साधनों की सहायता से मुमुक्षु अनायास एवं निर्विघ्नरूप से इन तीनों भावों की उपलब्धि करने में समर्थ होता है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा ब्रह्म के सद्भाव की उपलब्धि होती है, उपासना योग के द्वारा उनको आनन्दभाव की उपलब्धि होती है, एवं ज्ञानयोग के द्वारा उनके चिद्भाव की उपलब्धि होकर साधक कृतकृत्य होजाता है। ऐसा न करके यदि केवल कर्म या केवल ज्ञान की सहायता से भी मुमुक्षु आगे बढ़े तो भी लक्ष्य स्थल पर पहुँच सकता है, परन्तु शेष दो के साथ न रखने से लक्ष्य स्थल पर पहुँचने में पद-पद पर पतन की सम्भावना बनी रहती है। यद्यपि इनमें से एक का सम्यक् अनुष्ठान करने पर अन्त में शेष दोनों का फल भी मिलता है जैसा कि श्रीभगवान् ने भी गीता में अपने श्रीमुख से कहा है यथाः—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

यत् सांख्ये प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगश्च यः पयशति स पश्यति ॥
सन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥

यहां सांख्य का तात्पर्य्य ज्ञानयोग से है, एवं योग का तात्पर्य्य निष्काम कर्मयोग से है। निष्कर्ष यह है कि, सांख्य एवं योग को जो अलग-अलग समझते हैं, वे ज्ञानराज्य में बालक हैं। पंडित ऐसा नहीं समझते हैं। इन में से एक का यथोचित अनुष्ठान करने से दोनों का फल मिलता है। सांख्य के द्वारा जिस स्थान की प्राप्ति होती है, योग के द्वारा भी उसी स्थान की प्राप्ति होती है। अतः सांख्य एवं योग को जो एक देखता है वही यथार्थ देखता है। परन्तु जो निष्काम कर्मयोगी नहीं है, उसके लिये सन्यास की प्राप्ति बड़ी कष्ट साध्य है। और जो योगी है, वह बहुत शीघ्र ही उसको प्राप्त कर लेता है। अतः यह निश्चय है कि, निष्काम कर्म-योग उपासनायोग एवं ज्ञानयोग तीनों को साथ-साथ रखने से मुमुक्षु साधक निस्संदेह अपने लक्ष्य पर पहुँच जायगा। बीच में बाधा विघ्न आदि उसको कोई हानि नहीं पहुँचा सकेंगे। ऐसा न होने से साधक की उन्नति की गति वैसी सरल एवं सुगम नहीं रहेगी, उसमें प्रतिपद पर विपथगामी होजाने का भय बना रहता है। इस कारण कर्मयोग उपासनायोग एवं ज्ञानयोग का बराबर साथ-साथ अभ्यास रखना मुमुक्ष साधक का आवश्यक कर्त्तव्य है। निष्काम कर्म के द्वारा उसके शरीर के मल का नाश होगा, कल्मश का नाश होगा, वासना का नाश होगा और आत्मशुद्धि होगी। इसी कारण भगवान् कहते हैं:—

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।"

योगीगण कर्म की आसक्ति एवं उसके फल की इच्छा का त्याग कर केवल आत्मशुद्धि के लिये कर्म करते हैं। उपासनायोग द्वारा मन का विक्षेप (चंचलता) दूर होगी, वह एक तत्व को प्राप्त करने में समर्थ होगा एवं अन्त में मन का नाश हो जायगा। इसके सिवाय उपासना के द्वारा मुमुक्ष को दैवी सहायता भी मिलती है, आत्मा की उपलब्धि के लिये भगवत् कृपा भी अपेक्षित है यथा श्रुति कहती है: —

अणोरणीयान् महतोमहीयान्,
आत्माऽस्य जंतोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीत शोको,
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

अणु से भी सूक्ष्म एवं महान् से भी महान् आत्मा प्रत्येक जीव के हृदय गुहा में ही निहित है, राग एवं शोक रहित व्यक्ति भगवान् की कृपा से उसकी महिमा को देखता है। मोक्ष मार्ग में उपासना की यही उपयोगिता है। ज्ञानयोग के द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त करके प्राकृतिक तीनों शरीरों से आत्मा को अलग समझा जाता है। इस ज्ञानयोग के साधन को श्रुति इस प्रकार समझती है:—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनानांहृदये सन्निविष्टः ।

"तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकाम् धैर्य्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥"

अर्थात् अंगुष्ठ परिमाण पुरुष अन्तरात्मारूप से जीवों के हृदय में विराजमान है। जिस तरह मूँज से सिर की (उसके भीतर की लकड़ी) निकालते हैं, उसी तरह धैर्य्य के साथ अपने शरीर को अलग करे इत्यादि। इस प्रकार कर्मयोग द्वारा कल्मष नाश होकर आत्मशुद्धि हो जाती है। उपासनायोग द्वारा मनो-नाश हो जाता है, एवं ज्ञानयोग से बुद्धि का आवरण दूर हो जाने से वह बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर जीव एवं ब्रह्म के अभेदत्व को देख लेती है। उससे अज्ञानजनित ग्रन्थि खुल जाती है, साथ ही जीवत्व का नाश हो जाता है एवं नित्य-शुद्ध-मुक्त स्वभाव शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है। उस समय समुद्र में आकाश पतित वारि-बिन्दु की तरह आत्मा एवं परमात्मा का एकत्व हो जाता है, यथा श्रुति कहती है:—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमः ॥

अर्थात् शुद्ध जल जिस प्रकार शुद्ध जल में डालने पर तद्रूप ही हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानी मुनि की आत्मा भी ब्रह्म में मिल कर ब्रह्ममय ही हो जाती है।

इस अवस्था की प्राप्ति के बाद जितने दिन शरीर रहता है, उस स्वरूपस्थित महापुरुष को जीवनमुक्त कहते हैं। उसका क्रियमाण संस्कार वासना नाश हो जाने के कारण उसके लिये नाश को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं करता। इसी अवस्था में भगवान् ने गीता में कहा है, यथा:—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्ग्रहणन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥

अर्थात् जो तत्त्ववित् एवं मुक्त हैं, वे देखते हुए, सुनते हुए, स्पर्श करते हुए, खाते हुए, चलते हुए, सोते हुए, श्वाँस लेते हुए, बात करते हुए, त्याग एवं ग्रहण करते हुए तथा, उनमेष-निमेष की क्रिया करते हुए समझते हैं कि, इन्द्रियां इन्द्रियों के विषय में बर्त्तती हैं, मैं कुछ नहीं करता हूं। अस्तु ऐसी धारणा होने के कारण क्रियमाण संस्कार का समूल नाश हो जाता है। ऐसे महापुरुष के सञ्चित कर्म विराट प्रकृति का आश्रय करते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म जिसका भोग प्रारम्भ हो गया है, अर्थात् जिसके द्वारा उनका अन्तिम शरीर प्राप्त हुआ था, उसको भोग कर ही शेष करना पड़ता है। उसी के वेग से कार्य करते हैं, परन्तु वासना-बीज नष्ट हो जाने से उन कर्मों के द्वारा नवीन संस्कार उत्पन्न नहीं होते। नये संस्कार उत्पन्न करनेमें असमर्थ होने के कारण ही ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष के प्रारब्ध संस्कार को भुर्जित बीज की

तरह कहा है, अर्थात् भुने हुए चने आदि के बीज से जैसे चने के नये वृक्ष नहीं जम सकते ऐसे ही जीवन्मुक्त के प्रारब्ध संस्कार नये संस्कार नहीं उत्पन्न कर सकते। भोग के द्वारा ऐसे महापुरुष के जब सब प्रारब्ध कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, तब उनकी विदेह-मुक्ति हो जाती है। तब उनकी आत्मा सर्वव्यापक परमात्मा में सदा के लिये विलीन होकर आनन्दमय हो जाती है। उनका स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर महाप्रकृति के उन-उन, उपादानों में लय हो जाते हैं, जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई थी। उनकी आत्मा को कहीं जाना नहीं पड़ता। इस कारण श्रुति कहती है:—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते"

उसके प्राण ऊपर की ओर नहीं उठते, यहीं इस संसार में विलीन हो जाते हैं। और भी:—

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा, परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥

जिस प्रकार नदियां बहती-बहती समुद्र में जाकर लय को प्राप्त हो जाती हैं, तब उनका अलग नाम या रूप कुछ भी नहीं रहता; इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार के उपरान्त महा पुरुष नाम रूप से अतीत होकर परस्पर परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। उनकी दशों इन्द्रियां एवं पंचप्राण महा प्रकृति में लय हो जाते हैं। संचित क्रियमाणादि कर्म महाकाश में विलीन हो जाते हैं। एवं उनकी जीवात्मा परमात्मा में चिरकाल के लिये विलीन हो जाती है। इस प्रकार से आवागमन एवं जन्म-मरण का केन्द्र जीवत्व का अस्तित्व ही मिट जाने से आवागमन चक्र में घूमने के लिये कोई वस्तु ही अवशिष्ट नहीं रहती। यही सब साधनों का अन्तिम फल, ज्ञान योग की चरमसिद्धि और उपासना योग की अन्तिम शान्ति है। इसी को कहीं सहजगति, कहीं विदेह-मुक्ति, कहीं जीवमुक्ति और किसी ने ब्रह्मनिर्वाण प्राप्ति कहा है। ये सभी इसी अवस्था के नाम हैं।

(६) प्रेतत्व प्राप्ति एवं श्राद्ध—

मनुष्य के आवागमन चक्र एवं अवस्था प्राप्ति में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः परलोक के प्रसङ्ग में इस पर भी समुचित प्रकाश डालना बड़ा आवश्यक प्रतीत होता है। जो मनुष्य पुण्योपार्जन नहीं करते, एवं विषय विलास में पापमय जीवन बिताते हैं, उन लोगों को मृत्यु के अनन्तर प्रेत योनि की या नरक की प्राप्ति हुआ करती है। यह कैसे होता है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। आजीवन निरन्तर विषय भोग के फल से विषय वासित चित्त वाला मनुष्य मृत्यु के समय भी विषय चिन्ता का परित्याग नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि जिस विषय की चिन्ता का अभ्यास हो जाता है, मृत्यु के समय भी चिर अभ्यस्त चिन्ता सामने आती है, दूसरा कारण यह भी है कि मृत्यु रूपी भीषण तथा अभूत पूर्व परिवर्त्तन का समय उपस्थित होने पर मनुष्य का चित्त स्वभावतः दुर्बल तथा विमूढ हो जाता है, ऐसे समय में आजीवन के अभ्यस्त संस्कार स्वतः ही प्रबल होकर सामने आते हैं। दुर्बल चित्त में स्वभावतः उदित ऐसे बलवान संस्कार के अनुसार ही जीव की भावी गति हुआ करती है। ऐसा कहते हैं:—

"प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा सङ्कल्पितं लोकं नयति ।"

सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर एवं जीवात्मा चित्त में निहित संकल्प के अनुसार परलोक में शुभाशुभ गति को प्राप्त किया करता है। श्री भगवान् ने भी गीता में कहा है:—

यंयं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भाव भावितः ॥

जिस-जिस भाव को स्मरण करते हुए जीव शरीर छोडता है, मृत्यु के अनन्तर उसी के अनुसार उसकी गति हुआ करती है। श्री भगवान् के चरण-कमलों का स्मरण करता हुआ जो भक्त या साधक शरीर त्याग करता है, उसकी अवश्य ऊर्ध्वगति होती है। किन्तु जिस मनुष्य ने आजीवन विषय चिन्ता तथा विषय सेवन ही किया हो, मृत्यु के समय उसको यह सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकता है? ऐसे व्यक्तियों को मृत्यु के समय कई प्रकार की दारुण यन्त्रणायें होती हैं। जिनमें एक का नाम अभिनिवेश है। इसके सम्बन्ध में योग दर्शन में एक सूत्र है, यथा:—

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।"

अर्थात् जिसका सम्बन्ध पूर्व जन्मों से लगा है, एवं जिसका कष्ट विद्वान् अविद्वान् सब को समान रूप से होता है, मृत्यु भय उत्पन्नकारी उसी क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं। विचार का विषय है कि, आबाल-वृद्ध-वनिता सभी मृत्यु के नाम से इतना डरते क्यों हैं? एक बालक जो मृत्यु के विषय में नहीं जानता है, वह भी मरण के नाम से क्यों कांप उठता है। इसका मौलिक कारण अन्वेषण करने से योगदर्शन कथित प्राक्तन संस्कार ही प्रतीत होता है। यह पहले भी कहा चुका है कि मृत्यु स्थूल शरीर की ही हुआ करती है, जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। इस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु के समय जब जीवात्मा कारण शरीर एवं सूक्ष्म शरीर के साथ अपने स्थूल शरीर से बाहर निकलता है, उस समय जीव को भीषण यंत्रणा होती है, उसी का सूक्ष्म संकार उसके सूक्ष्म शरीर में रह जाता है। मृत्यु की बात सुनते ही जीव के सूक्ष्म शरीर में यह संस्कार जागृत हो उठता है। इसी कारण मनुष्यभाव मृत्यु के भय से स्वाभाविक रूप से ही इतना भयभीत होता है। यह मृत्यु भय रूपी क्लेश इतना दारुण है कि, भगवान् पतंजलिजी ने पाँच क्लेशों में से एक क्लेश कह कर वर्णन किया है। यथा:—

"अविद्या अस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।"

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। संसारी जीवों को ये ही पाँचों क्लेश भोगने पड़ते हैं। मृत्यु के समय अभिनिवेश के कारण जीव को किस प्रकार का क्लेश होता है, यहां यही वर्णन किया जाता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर के साथ, कारण शरीर एवं जीवात्मा का विच्छेद होता है। जिसके साथ बहुत दिनों का अन्तरङ्ग अभेद सम्बन्ध होता है, उसका विच्छेद बड़ा ही कष्ट-जनक होगा, इसमें सन्देह नहीं। उदाहरण रूप से समझ सकते हैं कि, काग़ज के दो टुकड़ों को यदि गोंद के द्वारा चिपका दिया जाय, उससे कुछ देर के बाद गोंद के सूख जाने पर पुनः दोनों को पृथक्

करना अत्यन्त ही कष्टजनक होगा। ठीक इसी प्रकार पँच कर्मेन्द्रिय, पँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं जीवात्मा का जब विषय वासनारूप गोंद द्वारा स्थूल शरीर के साथ बहुत वर्षों का घनिष्ट सम्बन्ध था, एवं वह वासनाजनित आसक्ति मृत्यु काल तक बढ़ती ही गई, उपरति नहीं हुई, ऐसी दशा में दैववशात् अकस्मात् यदि उस परम प्रिय स्थूल शरीर को छोड़ना पड़े तो, उस समय जीव को दारुण दुःख होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? इसी गूढ़ आन्तरिक दुःख को मृत्यु यातना कहते हैं। इसी का संस्कार अनेक जन्मों से अन्तःकरण में संचित है, इस कारण मृत्यु के नाममात्र से वह सम्बोधित होकर मनुष्य को भयभीत करता है। मृत्यु के समय का यही पहला क्लेश है, जो धीर योगी या भगवद्भक्त के सिवाय विद्वान्, मूर्ख सब ही को भोगना पड़ता है। योगी या भक्त का अन्तःकरण विषय वासना द्वारा स्थूल शरीर में आसक्त न होकर वह योग या भक्ति द्वारा श्रीभगवान् के चरण कमलों में संलग्न रहता है। इस कारण भगवान् के कृपा पात्र ऐसे व्यक्ति मृत्युरूप सन्धि के उपस्थित होने पर असाधारण धैर्य्य के द्वारा अपने मन मधुप को भगवच्चरणारविन्द के मधुर मकरन्द के पान में लगा कर इस स्थूल शरीर का परित्याग कर देते हैं; अतः मृत्यु के बाद उनको शुक्ल गति की प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है। विषयी मनुष्यों को मृत्यु के समय दूसरा क्लेश मोह जनित होता है। मृत्यु शय्या पर पड़े मुमुर्षु व्यक्ति के चारों ओर बैठ कर जब उसके प्रिय जन करुण स्वर से विलाप करने लगते हैं, उसके मानसिक वेदना का पार नहीं रहता। "हाय ! अपने प्राणप्रिय इन बालकों को कैसे परित्याग करूंगा, हमारे अभाव में इनका भरण पोषण कौन करेगा ? मेरी प्राणप्यारी पत्नी अनाथिनी होकर किस कष्ट से जीवन बितायेगी। इतने कष्ट से संचित किया हुआ धनादि सुख साधन कुछ भी भोग न कर पाया" इत्यादि मोहजनित करुणा एवं दुःख से मुमुर्षु व्यक्ति का हृदय विदीर्ण होता रहता है। मृत्युकालीन यह दूसरा दुःख है।

मरणासन्न व्यक्ति को मृत्यु समय तीसरा दुःख अनुताप जनित भी उत्पन्न होता है। उस समय वह सोचता है कि, हाय ! सब जान बूझ कर भी मैंने धर्मानुष्ठान नहीं किया, विषय तथा स्त्री-पुत्र में आसक्त होकर, उन्हीं को सुखी करने के लिये कितना ही झूंठ, चोरी, मिथ्याचार, कपट व्यौहार, पर-वञ्चना आदि किया है, जिनके लिये ये सब पाप किये उनमें से कोई भी हमारे इन पापों के भोग में भाग नहीं लेगा, न कोई हमारे साथ ही जायगा, केवल मुझे ही एकाकी भयानक नरक में जाकर इन पापों का फल भोगना पड़ेगा। हाय ! यौवन के उन्माद में उन्मत्त होकर अहंकारवश स्वर्ग नरकादि विषय के शास्त्रीय सिद्धान्तों को मिथ्या समझ, उपहास में करके उड़ा देता था एवं शास्त्रनिन्दित कदाचार करने में जरा भी कुण्ठित नहीं होता था, किन्तु इस मृत्यु के समय उन सब परोक्ष लोकों की छाया मेरे हृदय पर पड़ रही है, एवं ऋषियों का वाक्य सत्य जान पड़ता है। न जाने, उन महापापों के फल से मुझे किस रौरव या कुम्भीपाक नरक में गिरना पड़ेगा। इत्यादि इत्यादि अपने पूर्वकृत दुष्कृति जनित अनुताप तथा पश्चाताप मुमुर्षु व्यक्ति को विह्वल करता है। यही मरणकालीन तीसरा दुःख है।

मृत्यु के समय का चौथा दुःख कुछ अलौकिक एवं विचित्र है। वह यह है कि ठीक मृत्यु के पहले मनुष्य की प्रकृति मृत्यु के बाद अपने कर्म के अनुसार उसको जिस लोक में जाना होगा, उस लोक की प्रकृति के साथ समभावापन्न हो जाती है, यही कारण है कि, मृत्यु के समय जीव परलोक के अनेक दृश्य देखने लगता है। जो स्वर्ग में जायगा, वह स्वर्गीय देव-देवी को देखता है, जो यमलोक में दण्ड पाने जायगा वह भयानक यमदूतों को देखता है। यथा मुण्डकोपनिषद् में:—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति, प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चन्त्यः एषा वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ।

यज्ञ के फल से जो दिव्यलोक के अधिकारी होते हैं, ऐसे पुण्यात्मा पुरुष के मृत्यु के समय ज्योतिष्मति आहुतियां "आवो-आवो" कह कर बुलाती हैं एवं सूर्य्य रश्मियों की सहायता से दिव्य लोकों में ले जाती हैं, उनको मधुर बचनों से सम्बोधित एवं अर्चना करती हैं। ऐसे पुण्यात्मा व्यक्तियों की दिव्यलोक में गति होती है। पुराणों में भी स्वर्ग से विमान आना एवं उसमें बैठ कर पुण्यात्मा व्यक्तियों के स्वर्ग में जाने के अनेक वर्णन मिलते हैं। पुण्यात्मा गण मृत्यु के समय ऐसे विमान तथा देवताओं को देख कर प्रसन्न होते हैं। किन्तु पापियों को यह दिव्य दर्शन कैसे सम्भव हो सकता है? वे तो मृत्यु के बाद यमलोक में जाते हैं, इस कारण मृत्यु के समय भीषणाकार यमदूतों को ही देखते हैं। यथा भागवत् में: –

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥

पापी की मृत्यु के समय लाल-लाल आंखों वाले भयानक दो यमदूत सामने आते हैं, उनको देख कर मुमुर्षु व्यक्ति भय से मल-मूत्र त्याग कर डालता है। इसी प्रकार यमलोकवासी जीवगण भी विकराल मूर्त्ति धारण करके पापी जीव के निकट आते हैं, नरक के वीभत्स भयानक दृश्य भी उसको दिखाते हैं, काल्पनिक नरकाग्नि उत्पन्न करके पापी जीव को उसमें झोंक रहे हैं, ऐसा भय दिखलाते हैं, एवं जबरदस्ती उसको पकड़ कर कृमि-कीट से परिपूर्ण विष्ठाकुण्ड में निक्षेप कर रहे हैं, इत्यादि भयंकर अमानुषिक दृश्य देख कर पापी का हृदय भयान्वित हो उठता है, और वह चिल्लाकर मूर्छित हो जाता है। यह सब विषयी मनुष्यों का मृत्युकालीन चौथा दुःख है। यह सभी जानते हैं, कि कोई दारुण दुःख से चित्त को अभिभूत होने पर प्रायः मूर्छा आ जाया करती है। इसी नियम के अनुसार इन चारों दुःखों से अभिभूत अन्तःकरण होकर विषयी मनुष्य को मृत्यु के समयः प्रायः मूर्च्छा आ जाया करती है और इस मूर्च्छा की अवस्था में ही उसका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकल जाता है। मृत्युकालीन इस मूर्च्छा के कारण जीव को जिस लोक की प्राप्ति होती है, उसी को प्रेत लोक कहते हैं। परन्तु यह मूर्च्छा ठीक साधारण मूर्च्छा जैसी नहीं है, जिसमें मनुष्य संज्ञाहीन हो जाता है; इसमें सूक्ष्म शरीर संज्ञाहीन हो जाता है, इसमें सूक्ष्म शरीर संज्ञाहीन नहीं होता; किन्तु प्रबल दुःख तथा मोह में अज्ञानवश एक प्रकार की उन्माद की दशा प्राप्ति होती है। शास्त्रों में कहीं-कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है कि पहला शरीर छुटते ही जीव को दूसरा शरीर मिल जाता है। परन्तु इस प्रकार स्थूल शरीर त्याग के पश्चात् ही शरीर प्राप्त हो जाना या दूसरा जन्म होना उसके लिये संभव है, जिसको प्रेतावस्था की प्राप्ति न हो, अथवा उसके नरक या स्वर्गलोक में भोग योग्य कर्म न हों। अन्यथा जब तक प्रेतयोनि से मुक्ति न हो, या स्वर्ग या नरक का भोग समाप्त न हो, तब-तक जीव का इस मृत्युलोक में जन्म नहीं हो सकता है।

प्रेतत्त्व प्राप्ति का कारण जो ऊपर कहा गया है, उसके अतिरिक्त और भी कई कारणों से प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है। जैसे किसी कृपण की धन में विशेष आसक्ति होती है तो ऐसे मनुष्य का चित्त

धन में ही लगा रहता है, इसी अवस्था में मृत्यु हो जाने से उसको मृत्यु के बाद प्रेतत्व की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार किसी स्त्री में, किसी का पुत्र में, किसी का घर में मृत्यु के समय विशेषरूप से चित्त आसक्त रहने से शरीरान्त के बाद प्रेतयोनि उसको प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अकस्मात् अपघात मृत्यु होने से भी प्रेतत्व की प्राप्ति होती है। जैसे मार्ग चलते के शिर पर वज्रपात हो जाय, या किसी घर की भींत टूट पड़े, या अकस्मात् किसी ने गोली मार दी, ऐसी दशा में अकस्मात् शरीर त्याग हो जाने से उस मनुष्य को प्रेतयोनि प्राप्त होती है। क्योंकि ऐसी दशा में सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से स्वाभाविक रूप से न निकल कर अकस्मात् आघात् प्राप्त होकर वेग से निकल पड़ता है। इस आकस्मिक आघात से सूक्ष्म शरीर मूर्च्छित् हो जाता है, इस कारण प्रेतत्व प्राप्त होता है। इसी तरह आत्म हत्या करने पर भी अवश्य प्रेतत्व प्राप्त होता है। जल में डूब कर मरने से, विष खाकर मरने से, या अन्य किसी आत्म-घात करने से प्रेतत्व की प्राप्ति अनिवार्य्यरूप से होती है। इन सभी कारणों से मृत्यु के समय मनुष्य को मूर्च्छा आ जाती है, वही प्रेतत्त्व का कारण होती है। सन्मुख युद्ध में जो वीर की तरह प्राण त्याग करता है, उसको प्रेतयोनि की यातना नहीं भोगनी पड़ती। किन्तु जो भीरु की तरह हाय-हाय करते हुए अनिच्छा से प्राण त्याग करता है, वह तो प्रेत होता ही है। इसी तरह नाना प्रकार से प्रेतयोनि की प्राप्ति मनुष्यों को हुआ करती है। इन सब कारणों के अतिरिक्त किसी से शत्रुता करके उसको मार डालने के दृढ़ संकल्प से प्राण त्याग करके भी मनुष्य प्रेतयोनि को प्राप्त होता है। जो ऐसा प्रेत होता है, वह जिसके नाश करने के संकल्प से प्राण छोड़ता है, उसके वंश को ही निर्मूल कर देता है। कर्मभ्रष्ट होने से भी मनुष्य प्रेतयोनि प्राप्त करता है, जैसा कि मनुसंहिता में प्रमाण है, यथाः—

वान्ताशत्यल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकाच्युतः।
अमेध्य कुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्म्मात्-स्वकाच्युतः॥

ब्राह्मण कर्त्तव्य भ्रष्ट होने से दर्दिभक्षक ज्वालामुख प्रेत होता है। क्षत्रिय ऐसा होने से शव एवं विष्ठाभक्षक कटपूतन नामक प्रेत होता है। वैश्य कर्म भ्रष्ट होने से पूयक्षक मैत्राक्ष ज्योतिक नामक प्रेत होता है एवं शूद्र ऐसा होने से चैलाशक नामक प्रेत होता है। इस प्रकार से प्रेतयोनि प्राप्ति के अनेक कारण हैं। इस कारण जितने मनुष्य मरते हैं, उनमें प्रतिशत एकोंनशत् को प्रेत की प्राप्ति अवश्य ही होती है। क्योंकि ऊपर लिखित प्रेतत्व-प्राप्ति के कारणों में से कोई न कोई कारण प्रायः रहता ही है। प्रतिशत में से एक जो बचते हैं, वे भक्त, विरक्त या और कोई विशेष अधिकारी होते हैं, जो मृत्यु के समय सावधान होकर अपने मन को ऊर्ध्व रख शरीर छोड़ते हैं, और इस पाप योनि से बच कर आगे बढ़ जाते हैं।

यह पहले ही कहा गया है कि इस मृत्युलोकरूपी पृथ्वी के निकट तीन सूक्ष्मलोक और हैं, उनके नाम प्रेतलोक, नरकलोक एवं पितृलोक हैं। इस मृत्युलोक के साथ मिला हुआ जो पुण्यमय लोक है,

उसका नाम पितृलोक है और पापभोगप्रद लोकों के नाम नरकलोक एवं प्रेतलोक हैं। यह स्थूल शरीर त्यागने पर जीव आतिवाहिक देह प्राप्त कर अपने कर्मों के अनुसार इन लोकों में जाता है एवं सुख-दुःख भोग करता है। प्रेत लोक का शरीर वायुतत्त्व प्रधान होता है। किन्तु वासना की तीव्रता के अनुसार शक्तिशाली प्रेत अपनी इच्छा के अनुरूप थोड़े समय के लिए नाना प्रकार का स्थूल शरीर धारण कर सकता है। यह कैसे संभव होता है, सो विचारणीय है। इस विषय में शास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि, सूक्ष्म शरीर के वेग से ही स्थूल शरीर की प्राप्ति हुआ करती है। सूक्ष्म शरीर में इतनी शक्ति है कि, वह वासना के वेग से प्रकृति से स्थूल शरीर का उपादान एकत्र करके जब चाहे तब स्थूल शरीर बना सकता है। साधारण मनुष्य सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों के साथ विशेष आसक्ति एवं उसके कारण बद्ध रहने से मनुष्य इच्छानुसार स्थूल शरीर धारण नहीं कर सकता। योनियों का सूक्ष्म शरीर वासना द्वारा ऐसा आबद्ध नहीं होने से वे अपनी इच्छानुसार नाना शरीर धारण कर सकते हैं। प्रेतों के स्थूल शरीर होता ही नहीं, केवल सूक्ष्म शरीर होता है। सूक्ष्म शरीर में असीम बल है, इस कारण प्रेत वासना के वेग को प्रबल बना कर आवश्यकतानुसार स्थूल शरीर धारण कर सकता है। किन्तु योगी के स्थूल शरीर धारण एवं प्रेत के स्थूल शरीर धारण में अनेक अन्तर हैं। योगी का अन्तःकरण वासना रहित होने से वह योगसिद्धि की सहायता से अपनी इच्छानुकूल नाना प्रकार का शरीर धारण कर सकता है। प्रेत ऐसा नहीं कर सकता, वह केवल अपनी किसी तीव्र वासना के अनुसार थोड़े समय के लिये स्थूल शरीर बना सकता है। उदाहरणार्थ समझ सकते हैं कि, यदि किसी माता का चित्त अपने पुत्र में आसक्त हो, वह उसी का ध्यान करते हुए शरीर त्याग करे एवं इसी कारण उसको प्रेतयोनि की प्राप्ति हो, वह उस वासना के तीव्र वेग से अपने पूर्व स्थूल शरीर के अनुरूप ही स्थूल शरीर बना कर पुत्र के निकट आ सकती है। ऐसे ही स्त्री पति के निकट या पति स्त्री के निकट आ सकता है।

प्रेतों का शरीर सब समय एक जैसा नहीं होता, सूक्ष्म पञ्च तत्वों पर आधिपत्य होने से प्रेत आवश्यकता के अनुसार किसी न किसी तत्व का आकर्षण करके उसी के अनुसार शरीर धारण कर सकता है, यदि वह शक्ति-शाली प्रेत हो। वायुतत्व का आकर्षण करके वह प्रबल आंधी का रूप धारण कर किसी को भयभीत कर सकता है। किसी समय अग्नितत्व की सहायता से भयानक आग्नेयरूप धारण करके मनुष्य के सामने आ सकता है एवं बातचीत भी कर सकता है। प्रेतों के छाया शरीर की ये बातें कान से नहीं सुनी जा सकतीं। प्रेत जिससे अपनी बात कहना चाहता है, उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा उत्पन्न करता है, जिससे मनुष्य अपने मन में प्रेत की बात सुन सकता है, एवं उसके साथ वार्त्तालाप भी कर सकता है। कुछ प्राणियों को ऐसी स्वाभाविक दृष्टि भी होती है कि वे प्रेत देख सकते हैं। कुछ मनुष्यों में भी प्रेत देखने की स्वाभाविक दृष्टि (Psychic Sight) होती है। ऐसे मनुष्य प्रेत की छाया, प्रेत की मूर्त्ति या प्रेत ने यदि किसी व्यक्ति पर आवेश किया हो तो उस व्यक्ति के अन्दर प्रेत को देख सकते हैं।

अपने प्राक्तन कर्म एवं स्वभाव के अनुसार प्रेत भी अच्छे-बुरे नाना प्रकार के हुआ करते हैं। सच्चरित्र, निरीह व्यक्ति मोहादि के कारण प्रेतयोनि प्राप्त करके भी किसी का अनिष्ट अथवा हानि नहीं करते हैं, किन्तु जो मनुष्य स्त्री या पुरुष जीवित अवस्था में ही दुष्ट प्रकृति के होते हैं, वे मृत्यु के अनन्तर प्रेतयोनि प्राप्त करने पर अपनी दुष्टता को नहीं छोड़ते हैं। इसी श्रेणी के प्रेत मनुष्यों को भय दिखाते हैं, अत्याचार करते हैं, दूसरों पर आक्रमण करते हैं और नाना प्रकार के उपद्रव करते हैं। परन्तु प्रेतों के यह सब उपद्रव

दुर्बल हृदय मनुष्यों के ऊपर ही फलीभूत हुआ करते हैं, जो आत्मबल से बलवान् हैं, जिनका मन उन्नत है, जो सदाचारी एवं पवित्र हैं, ऐसे स्त्री-पुरुषों को प्रेत कुछ भी हानि नहीं पहुंचा सकता है। यही कारण है कि, प्रायः स्त्री या बालक पर ही प्रेतों का आक्रमण देखा-सुना जाता है। क्योंकि इन दोनों में मानसिक भावनाओं की स्वभावतः प्रधानता हुआ करती है ज्ञान की प्रधानता नहीं रहती। नीच प्रकृति के दुष्ट प्रेत जिस पर आक्रमण करते हैं, उसकी आत्महत्या कर डालने के लिये प्रेरणा करते हैं, जिससे वह मरने के बाद उन्हीं की योनि में आ जाय। आत्महत्या करके प्राण त्याग करने वाले प्रेतों में आत्महत्या करने की अन्तिम प्रवृत्ति प्रबलरूप में रहती है, इस कारण वह दूसरों को भी उसी के लिये प्रेरणा करता है तथा आत्म-हत्या करने में प्रवृत्त कराता है।

शास्त्रों में प्रेतों के बुलाने की अनेक प्रकार की क्रियाओं का वर्णन मिलता है। प्रेतलोक हमारे इस मृत्युलोक से निरंतर मिला-जुला है, दूसरी बात यह है कि, वासना से आबद्ध रहने के कारण प्रेतों की दृष्टि सदा संसार की ओर रहती है, वे मनुष्यों से मिलने तथा बात करने के स्वयं ही उत्सुक रहते हैं, इस कारण साधारण चेष्टा से प्रेत को बुलाया जा सकता है। प्रेत बुलाने की साधारण प्रक्रिया को स्थूल यान्त्रिक पीठ (Table Tapping) कहते हैं। इस पीठ की उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से हुआ करती है। एक किसी तीन पाये के टेबुल पर, दो, तीन, पाँच या इससे भी अधिक व्यक्ति यदि परस्पर हाथ मिला कर बैठें एवं सब मिल कर किसी एक ही मृत व्यक्ति के रूप की चिन्ता करें, तो कुछ ही क्षणों के बाद उन लोगों के हाथ के सम्मिलन स्थान में एक वैद्युतिक चक्र हो जाता है, इसी चक्रावर्त्त (Circle) में उस मृत व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर प्रवेश करता है, वह अपने सूक्ष्म शरीर के वेग से उस टेबुल को हिलाना प्रारम्भ करता है। उस समय उससे प्रश्न करने पर टेबुल हिलाकर इङ्गित द्वारा प्रश्न का उत्तर देता है। परन्तु प्रेतभाव प्राप्त जीवों की दशा प्रायः पागल उन्मत्त मनुष्यों की तरह रहती है, इस कारण प्रश्न का उत्तर प्रायः ठीक-ठीक नहीं मिलता, एवं पीठासन की क्रिया सफल नहीं होती। इस कारण प्रेत न बुलाकर दिग्बन्धन आदि की विधि करके यदि किसी उन्नत आत्मा को बुलाया जाय तो उसे ठीक उत्तर मिलता है, एवं बहुत से गूढ़ तत्वों का पता भी चलता है। प्रेत बुलाने की दूसरी प्रक्रिया को प्राण विनियम विधि—(Mesmerism) कहते हैं। इसमें अपनी प्राण शक्ति के बल से किसी स्त्री या पुरुष को अभिभूत करना पड़ता है, वह अभिभूत होकर मूर्च्छित या निद्रा में हो जाता है, तब किसी प्रेत की चिन्ता करके उसी के शरीर में बुलाया जाता है। जब उस शरीर में प्रेत प्रवेश कर जाता है, तब वह आविष्ट व्यक्ति बात करने लगता है, एवं प्रश्नों का उत्तर देता है। ऐसी अवस्था में कहीं हुई बातें उस प्रेत की होती हैं। प्रेत उस शरीर को अपना यन्त्र बना कर उसके द्वारा बात करता है। तान्त्रिक चक्र-साधना में भी इसी प्रकार मध्यम चक्रवर्त्ती किसी स्त्री या पुरुष को पात्र रूप में परिणत करके उसमें प्रेत का आवेश कराया जाता है। इसके सिवाय तान्त्रिक शव साधना में भी प्रेत बुलाने की विधि है, यथा भावचूड़ामणि में :—

शून्यागारे नदी तीरे पर्व्वते निर्जनेऽपि वा।
विल्वमूले श्मशाने वा तत्समीपे वनस्थले॥
अष्टम्याञ्च चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि।
भौमवारे तमिश्रायां साधयेत् सिद्धिमुत्तमाम्॥

भाव भक्तश्च वल्यर्थं धूप दीपादिकं तथा ।
तिलाः कुशाः सर्षपाश्च स्थापनीया प्रयत्नतः ॥
यष्टिविद्धं शूलविद्धं खड्गविद्धं जले मृतम् ।
वज्रविद्धं सर्पदष्टं चाण्डालंच्याभिभूतकम् ॥
तरुणं सुन्दरं शूरं रणे नष्टं समुज्वलम् ।
पलायन विशून्यतु सम्मुखे रणवर्तिनाम् ॥
धूपेन धूपितं कृत्वा गन्धादिना विलिप्य च ।
कुश शय्यां परिष्कृत्य तत्र संस्थापयेच्छवम् ॥
चलच्छवाद्भयं नास्ति भयेजाते वदेत्ततः ।
यत् प्रार्थय बलित्वेन दातव्यं कुञ्जरादिकम् ॥
दिनान्तरे च दास्यामि स्वनाम कथयस्व मे ।
इत्युक्त्वा संस्कृते नैव निर्भयश्च पुनर्जपेत् ॥

शून्य घर में, नदी के किनारे, पर्वत पर, निर्जन स्थान में, बिल्व वृक्ष के मूल में, श्मशान या उसके निकट बन-प्रदेश में शव साधन करना उचित है। कृष्ण या शुक्ल-पक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी तिथी मङ्गलवार रात्रि के समय शव-साधन करने से सिद्धि होती है। बलि के लिये मांस और चावल तथा पूजा के लिये धूप, दीप, तिल, कुशा और सर्षप (सरसों) रखना चाहिये। लाठी की चोट से, त्रिशूल से या खड्ग के आघात से जिसकी मृत्यु हुई हो, जल में डूब कर, बज्रपात से या सर्प के काटने से जिसके प्राण निकले हों, ऐसे चाण्डाल का शव इस साधन के लिये विशेष प्रशंसनीय है। शव तरुण अवस्था का और सुन्दर होना चाहिये। सन्मुख संग्राम से न भाग कर जिसने प्राण त्याग किया हो, ऐसे व्यक्ति का शव साधना के लिये विशेष उपयुक्त है। शव को धूप गन्धादि द्वारा सुगन्धित करके कुशासन पर पूर्वाभिमुख स्थापित करना चाहिये। शव यदि हिलने लगे तो डरना नहीं चाहिए। यदि भय उत्पन्न हो तो कहना चाहिये कि, "दिनान्तर में 'बलि दूंगा' अभी अपना नाम बोलो।" ऐसा कह कर निर्भय चित्त से जप करना चाहिये। इस प्रकार शव साधन द्वारा प्रेत की उपासना होती है। ऐसी शव साधना में कभी-कभी शक्तिशाली प्रेत उक्त शव का आश्रय करके शव साधक को अनेक प्रकार का लाभ पहुंचाता है। मन्त्र शक्ति के द्वारा प्रेत को अपने अधीन करके कोई-कोई व्यक्ति धनादि भी प्राप्त करते हैं। परन्तु ऐसी निकृष्ट साधना सदा भय जनक है। ऐसे प्रेत की साधना करने वाले व्यक्ति प्रेत के द्वारा ही मारे जाते हैं। अपनी इच्छा के प्रतिकूल केवल मन्त्र शक्ति के बल से वशीभूत हुआ प्रेत सर्वदा इस सुयोग की खोज में रहता है, कि अवसर मिलते ही उस उपासक को मार डालें और अवसर पाते ही मार भी डालता है। प्रेत बुलाने की जो-जो प्रक्रिया ऊपर कही गई, उन सबके द्वारा उच्च श्रेणी की आत्मायें एवं छोटे-मोटे देवता भी बुलाये जा सकते हैं एवं उनके साथ इस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित होने पर साधक को नाना प्रकार का लाभ होता है। पीठ उत्पन्न करने की अनेक प्रकार की विधि शास्त्रों में वर्णित है। उनमें से उपर स्थूलयान्त्रिक पीठ के विषय में कहा

गया है। इसके सिवाय और भी नाना प्रकार के दैवी पीठ स्थापन करने की विधि शास्त्रों में पायी जाती है। कुमारी पूजा, बटुक पूजा, स्त्री जाति की पूजा, तीर्थ, देवमूर्त्ति आदि में पीठ करने की विधि शास्त्रों में वर्णित है। ये सब देव यान्त्रिक पीठ के अन्तर्गत हैं। स्थूल यान्त्रिक पीठ के द्वारा प्रेत, बैताल या छोटी श्रेणी का देवता आह्वान किया जा सकता है।

प्रेतों का जीवन बड़ा ही दुःखमय होता है। क्योंकि जिन वासनाओं के कारण प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है, प्रेतयोनि में उनकी कमी नहीं होती, किन्तु वे और भी प्रबल हो उठती हैं। अतः प्रेत अपनी उन वासनाओं की आधार वस्तुओं को पाने एवं भोग करने के लिये सदा लालायित रहता है। परन्तु उस योनि में उन वस्तुओं का वह यथेच्छ भोग नहीं कर सकता, इस कारण निराशा की अग्नि में वह दिन-रात जला करता है। स्त्री-पुत्रादि के मोह से मुग्ध-चित्त प्रेत सदा उनके साथ मिलकर जीवित अवस्था की तरह भोग विलास करना चाहता है, यह सुविधा न मिलने से वह बड़ी यन्त्रणा भोगा करता है। कभी-कभी प्रेत अपने प्रियपात्र उन व्यक्तियों को मार कर अपनी योनि में लाना चाहता है, एवं इसके लिए चेष्टा करता है। उस चेष्टा में कृतकार्य्य न होने से भी वह हताश होकर दुःख पाता है। कभी कोई पुरुष अपनी प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह करता है, ऐसी दशा में यदि उसकी प्रथम पत्नी को प्रेतत्त्व हुआ हो तो, एवं उस मृत स्त्री की आसक्ति अपने जीवित पति पर हो जैसा होना स्वभाविक हो, तो वह अपनी सपत्नी की ईर्षा में दिन रात जला करती है। वह अपने पति के पास स्वयं आना चाहती एवं सौत के साथ पति का विच्छेद कराने की यथासाध्य चेष्टा भी करती है। जिस घर में वे दम्पती रहते हैं, उसी में वह प्रेतयोनि प्राप्त स्त्री भी रहने की चेष्टा करती है। इसी प्रकार आजीवन धन सञ्चय करके जो कृपण धन के मोह से प्रेत होते हैं, वे भी घर के जिस स्थान में धन रहता है, वहीं सदा रहने की चेष्टा करते हैं, वह धन ले जाने का भी प्रयत्न करते हैं एवं उस प्रयत्न में कृतकार्य्य न होने पर हताश होकर बड़ी वेदना भोगते हैं। ऐसे ही व्यभिचारी पुरुष प्रेतयोनि में जाकर अपनी व्यभिचार वासना को परित्याग नहीं कर सकते, इस कारण ऐसे प्रेत पर स्त्री या ऐसी प्रेतिनी पर पुरुष के साथ अपनी नीच वासना चरितार्थ करने की चेष्टा करती है। प्रेतों की इस प्रकार की कामशक्ति के अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण सुने गये हैं। प्रेत जिस पुरुष या स्त्री पर कामासक्त होता है, बहुत समय उसे मार डालने का भी प्रयत्न करता है। और प्रेतनिवारक मन्त्र औषधि आदि के द्वारा परास्त एवं निराश होकर दुःख से मोहित होता है। प्रेतयोनि अज्ञानमय होने के कारण बहुत समय यह प्रेत यह समझ भी नहीं पाता कि उसके अन्तःकरण में क्यों इतना दुःख का दावा तुषानल जल रहा है। और क्यों उसका दुःख शान्त नहीं होता। अज्ञान से विमोहित चित्त प्रेत यों ही दुःख से व्याकुल होकर उन्मत्त की भांति इधर उधर दौड़ता रहता है। हृदय क्या चाहता है, यह भी वह नहीं समझ पाता, अन्तःकरण में इतनी अशान्ति क्यों है, यह भी वह निर्णय नहीं कर सकता, फिर भी दिन-रात उसका हृदय दुःख-दावानल से भस्मीभूत हुआ करता है। इस प्रकार प्रेतों की दशा बड़ी ही दुःखमय होती है। वह कभी दुःख से विह्वल होकर रोता है, अपना शरीर क्षत-विक्षत कर लेता है, कभी श्मशान में उन्मत्त की तरह चिल्ला-चिल्लाकर रोता हुआ इधर से उधर दौड़ता है। इस प्रकार प्रेतयोनि प्राप्त जीव नाना-प्रकार से असह्य वेदना भोगता है। कभी ऐसा होता है कि किसी को मरने के समय जल नहीं मिला, प्यास की अवस्था में ही शरीर छुट जाने से प्रेत-योनि को प्राप्त हुआ है, ऐसे व्यक्ति की पिपासा प्रेतयोनि में निवृत्त नहीं होती, उसका प्यास से गला सूखा ही रहता है, वह जल

के बिना कातर होकर रोता है। यदि कोई उसके नाम से जलदान करे, तभी उसकी प्यास बुझती है। इसी तरह दुर्भिक्ष के कारण क्षुधातुर होकर जिन स्त्री-पुरुषों के प्राण जाते हैं, वे भूख - की भीषण ज्वाला से अधीर इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। कहां जाँय क्या खाँय, सब समय उनकी यही चेष्टा रहती है, तथापि स्थूल खाद्य वस्तुओं को अपनी इच्छा से खा सकने की शक्ति न होने से दिन-रात उनका 'हा अन्न-हा अन्न' करके ही कटता है। जितने दिन तक उसके निमित्त किसी योग्य पात्र को या उसी को अन्न दान न किया जाय उतने दिन तक उसकी क्षुधा-निवृत्ति नहीं होती, मूर्च्छाभङ्ग होकर प्रेतभाव की निवृत्ति न होने तक प्रेतयोनि प्राप्त जीव को ऐसे ही नाना प्रकार की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। प्रेत-योनि की यह मूर्छा-भङ्ग करने के लिये शास्त्रों में जिन उपायों का वर्णन है, उसी को प्रेत श्राद्ध कहते हैं। किसी मनुष्य के मूर्च्छित होने पर जैसे औषधि के प्रयोग से उसकी मूर्च्छा भङ्ग की जाती है, उसी प्रकार हमारे पूज्यपाद महर्षियों ने प्रेतश्राद्ध में जिन क्रियाओं के अनुष्ठान की आज्ञा दी है, उसके द्वारा मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं द्रव्यशक्ति, इन तीनों की सहायता से प्रेत की मूर्च्छा भङ्ग की जाती है। मन की शक्ति अपार है, इसमें सन्देह नहीं। संयम के द्वारा मन की यह शक्ति बढ़ती है, इसी कारण अशौच की अवस्था में नाना प्रकार के संयम की विधि आर्य्य शास्त्रों में वर्णित है। मृत व्यक्ति का पुत्र या कोई निकट सम्बन्धी, ऐसे संयत मन से यदि श्राद्ध करे और परलोकगत मृतात्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे, तो श्राद्धकर्त्ता की मानसिक शक्ति एवं आत्म-शक्ति की सहायता पाकर प्रेतत्त्व भाव प्राप्त आत्मा की मूर्च्छा अवश्य भङ्ग होती है। श्राद्ध में मनः शक्ति प्रधान है, इसी कारण ज्येष्ठ पुत्र का श्राद्ध में प्रथम अधिकार है। इस विषय को और भी स्पष्टरूप समझने के लिये दृष्टान्त ले सकते हैं कि, यदि एक घर में पांच सितार एक ही स्वर में बांध कर रख दिये जाँय, तो उनमें से किसी को बजाने से बाकी तार उसके घात-प्रघात से स्वतः बज उठेंगे। क्योंकि एक ही स्वर में बंधे रहने के कारण एक यन्त्र के आघात से उत्पन्न वायु का कम्पन दूसरे यन्त्रों में प्रतिघात उत्पन्न करता है, इस तरह बाकी चारों भी बजने लगते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि, "आत्मा वै जायते पुत्रः" अपनी आत्मा ही पुत्र रूप से उत्पन्न होती है। वेद कहते हैं:—

अंगादंगात् सम्भवसि हृदयादधि जायते।
आत्मासि पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

पुत्र पिता के अङ्ग से अङ्ग लेकर, हृदय से हृदय को लेकर एवं आत्मा से आत्मा को लेकर उत्पन्न होता है, इस कारण पिता-माता की आत्मा के साथ पुत्र के आत्मा का स्वर स्वभावतः एक स्वर में बंधा रहने के कारण श्राद्ध के समय पुत्र के द्वारा प्रयोग की गई मनः शक्ति प्रेतयोनि प्राप्त पिता का प्रेत-भावत्त्व अवश्य नाश करने में समर्थ होती है, इसमें सन्देह नहीं। श्राद्ध के समय जिन सब मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, उनके साथ परलोकगत आत्मा के आह्वान, उसकी मूर्च्छा भङ्ग एवं प्रेतभाव नाश आदि क्रियाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कारण श्राद्धकर्त्ता यदि संयत मन से उन मन्त्रों का उच्चारण-पूर्वक श्राद्ध कर्म का अनुष्ठान करे, तो मन्त्र शक्ति एवं मनः- शक्ति दोनों के समन्वय से प्रेतत्व का अवश्य नाश होता है। शास्त्रविहित कुश, दही, मधु, तिल, चाँवल आदि जिन द्रव्यों द्वारा श्राद्ध किया जाता है, इन द्रव्यों में भी ऐसी शक्ति निहित है, जिसके द्वारा प्रेतात्मा आकृष्ट होता है, तृप्ति लाभ करता है और प्रेतयोनि से मुक्त भी हो जाता है।

ऊसी कारण प्रेतात्मा के बुलाने के उद्देश्य से उसकी जीवित दशा में खाद्य पदार्थ प्रिय थे। उन पदार्थों को भी श्राद्ध के समय अर्पण करने की विधि है। ऐसा करने से प्रेतात्मा श्राद्ध के स्थान में शीघ्र खिंच आता है और वहां आकर मन्त्र शक्ति एवं मन, शक्ति के प्रभाव से प्रेतयोनि से छूट जाता है। श्राद्ध में जो ब्राह्मण भोजन की विधि है, उसके मूल में भी ऐसा ही वैज्ञानिक शक्ति प्रयोग का तत्त्व निहित है। मनुस्मृति में लिखा है कि, श्राद्ध में बहुत विचार कर ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये, एक हजार निकृष्ट ब्राह्मण भोजन कराने की अपेक्षा एक ही तपस्वी तथा शक्तिशाली ब्राह्मण को भोजन कराने की महिमा अधिक है। इसका कारण यही है, एक तपस्वी ब्राह्मण भोजन से तृप्त होकर अपनी तपःशक्ति से प्रेतात्मा को सहायता पहुँचाता है। निकृष्ट ब्राह्मणों में इस प्रकार की तपःशक्ति का अभाव होने से उनको भोजन कराने से इस प्रकार का फल नहीं होता, दूसरी ओर ऐसे श्राद्धान्न भोजन से उन शक्तिहीन ब्राह्मणों का अधःपतन भी होता है, क्योंकि ब्राह्मण भोजन के समय परलोकगत आत्मा खाद्य अन्न पर अपनी दृष्टि डालती है, उसका मन भी उन खाद्य पदार्थों में लगा रहता है, इस कारण भोजन करने वालों पर भी उसका प्रभाव पड़ता ही है। अतः शक्तिशाली तपस्वी ब्राह्मण ही अपनी तपःशक्ति के बल से श्राद्धान्न भोजन करके अपने को स्थिर रखते हुए प्रेतात्मा को भी लाभ पहुँचा सकता है। साधारण ब्राह्मण श्राद्धान्न को ग्रहण करके पतित होता है।

इस प्रकार श्राद्ध क्रिया के यथाविधि अनुष्ठान के द्वारा परलोक गत आत्मा प्रेतभाव से मुक्त होकर अपने कर्म के अनुसार अन्य लोक में गमन करती है, अथवा उसका जन्म इसी मृत्यु लोक में हो जाता है। यदि कोई श्राद्ध न करे, अथवा अविधि पूर्वक श्राद्ध करे, तो प्रेतत्व छुटने में विलम्ब होता है। जिस प्रकार किसी मूर्छित व्यक्ति की मूर्छा औषधि एवं उपचार से शीघ्र भंग होती है, किन्तु यदि औषधि का प्रयोग न भी किया जाय तो भी प्रकृति अपने नियम के अनुसार समय पर स्वयं मूर्छा भंग कर देती है, इसी प्रकार प्रेत को श्राद्ध क्रिया की सहायता मिलती है, तो उसकी मूर्छा शीघ्र भंग हो जाती है और वह पूर्वकथित असह्य दुःखों से बच दूसरे शरीर में चला जाता है, यदि ऐसा न हो तो भी महाप्रकृति की सहायता से समय पर स्वतः प्रेतत्व से मुक्त होकर अपने कर्मानुसार वह आत्मा स्वर्ग या नरक में अपने पुण्य या पाप भोगने के लिये चली जाती है, अथवा इसी मृत्यु लोक में पुनः जन्म लेती है। ऊपर कथित वर्णन से प्रेतत्व प्राप्ति का रहस्य और (प्रेतता) विमुक्ति का रहस्य बहुत कुछ प्रकट हुआ है। मृतात्माओं से अधिक संख्या में प्रेत होना सम्भव है, इस कारण प्रेतलोक प्राप्ति का वर्णन अधिक किया गया है, श्राद्धरूपी शास्त्रीय अनुष्ठान द्वारा प्रेतत्व की मुक्ति तो होती ही है, अधिकंतु मृतात्मा यदि नरक लोक में जाय तो उसको शान्ति मिलती है और स्वर्गादि लोक में जाय तो उसको तृप्ति प्राप्त होती है। इसी कारण प्राचीन शास्त्रों में श्राद्ध की इतनी महिमा कही गई है। श्राद्ध का प्रथम अङ्ग श्रद्धा है, इसी कारण इसको श्राद्ध कहते हैं। मनः शक्ति से युक्त मंत्रशक्ति, क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति एवं श्रद्धाशक्ति इन चारों के द्वारा श्राद्ध-क्रिया परलोक गामी आत्मा का कल्याण करती है। यदि मृतात्मा प्रेतयोनि में न जाकर किसी और योनि या लोक में गया हो तो भी रेडियो या बेतार यंत्र की तरह श्राद्ध-कर्त्ता की मनःशक्ति एवं मंत्रशक्ति के द्वारा उसी लोक में परलोक गामी आत्मा की तृप्ति हुआ करती है। मृतात्मा जिस लोक में गया हो, श्राद्ध में किया हुआ खाद्य पदार्थ मंत्रशक्ति एवं मनःशक्ति के प्रभाव से उसी लोक का खाद्य बन कर उस लोक में पहुँचता है एवं उस मृतात्मा को तृप्ति तथा आनन्द प्रदान

करता है । श्राद्ध की यही अपूर्व महिमा है ।

(१०) नरक भोग

इससे पहिले स्वर्ग भोग का वर्णन संक्षिप्त रूप से आ चुका है । प्रेतत्व भोग तथा उसकी यातना का विवरण भी विशद्रूप से किया गया है । नरकलोक तथा उसके भोग से भी मनुष्यों का घनिष्ट सम्बन्ध है । अतः प्रसङ्ग में इस विषय पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है ।

मृत्यु के पश्चात् पापी जीवों को उनके पापकर्मभोग के लिये जो देह प्राप्त होता है, उसको शास्त्रों में यातना देह कहा गया है । यथा मनुसंहिता में:—

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥

पाप का फल भोगने के लिये पंच भूतों के सूक्ष्मांश से परलोक में एक यातना देह प्राप्त होता है । शास्त्रों में जैसा स्वर्गीय सुख-दुःख के विषय में वर्णन है, ऐसे ही नरक लोक में भोगने योग्य दुःखों का भी यथेष्ट वर्णन है । श्रुति कहती है:—

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः ॥

इस जगत् में आकर जो मनुष्य आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु इसके विपरीत आचरण करते हैं, वे आत्मघाती हैं । मृत्यु के होने पर वे घोर अंधकारमय नरक में गमन करते हैं । मनुसंहिता के बारहवें अध्याय में नरक के सम्बन्ध में बहुत कुछ वर्णन है यथा:—

"यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥
"तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्प बुद्धयः ।
साम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विहु योनिषु ॥
तामिस्त्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धन च्छेदनानि च ॥
"विवधाश्चैव सम्पीड़ाः काकोलुकैश्च भक्षणम् ।
करम्भबालुका तापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥
बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिन स्त्विमान् ॥

विषयभोग में विमोहित मनुष्य जितन-जितना विषयों का सेवन करता है, उतना ही उतना उसमें निपुण बन जाता है। इन पाप कर्मों के फल से उसे तामिस्त्र, असिपत्रवन, बन्धनच्छेदन आदि नरकों में भयानक यंत्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकार की पीड़ा जैसे काक, उलूक आदि के द्वारा भक्षण, तपी हुई बालुका पर गमन, कुम्भीपाक के दारुण दुःख भोग आदि भीषण क्लेष पापी जीवों को नरक लोक में भोगना पड़ता है। इसी प्रकार बहुत वर्ष तक अनेक कष्ट भोगने के बाद पाप क्षीण हो जाने पर पुनः इस संसार में उस जीव का जन्म होता है।

मृत्यु के अनन्तर यमलोक जाने के समय जीव को किस प्रकार का क्लेश सहना पड़ता है, इस विषय में श्रीमद्भागवत् में वर्णन है। यथाः—

"यातनादैमावृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा॥"
"तयोर्निर्भिन्न हृदयस्तर्ज्जनै र्जात वेपथुः।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्त्तोऽधः स्व मनुस्मरन्॥"
"क्षुद्वृट्परीतोऽर्क दावानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कषया च ताड़ित श्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रयोदके॥"
"तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः।
यथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम्॥
"योजनानां सहस्राणि नवति नव चाध्वनः।
त्रिभिर्मुहूर्त्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः॥

जिस प्रकार राज कर्मचारीगण दण्डनीय अपराधी मनुष्य को कष्ट देते हुए ले जाते हैं, उसी प्रकार यमदूतगण गले में रस्सी बांध कर जीव को नाना प्रकार कष्ट देते हुए दूरवर्त्ती यमलोक को बलात् ले जाते हैं। दुःख से कातर हृदय एवं यमदूतों के तर्जन से कांपते हुए पापी जीव उस समय अपने किये पापों का स्मरण करते हुए यमलोक को जाते हैं। भूख प्यास से विह्वल, उग्र सूर्य्य के उत्ताप, अग्नि एवं वायु से व्यथित, तपे हुए बालू के उपर चलने से संतप्त; पीठ पर कषाघात से और भी दुःखित, बहुत दूर चल सकने में अशक्य होने पर भी पापी को बलपूर्वक (खींचे जाकर) जाना पड़ता है। अत्यन्त कष्ट तथा श्रम से उसको मूर्छा आ जाया करती है, तब भी मूर्छा भंग होते ही पुनः यमदूतगण उसे घसीट ले जाते हैं। इस प्रकार हजारों योजन का मार्ग दो-तीन मुहूर्त्त में समाप्त करना पड़ता है, इस कारण पापी जीव को बड़ी ही वेदना तथा क्लेश भोगना पड़ता है। इस प्रकार से यमलोक में पहुँच कर अपने उपार्जित कर्म के अनुसार पापी को यातना-देह से कैसे कैसे दुःखों को भोगना पड़ता है, इसका वर्णन श्री मद्भागवत् में इस प्रकार है:—

"आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसोदनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपिवा ॥"
"जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारं श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यै र्दंशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥"
"कृन्तनञ्चावयवसो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृंगेभ्यो रोधश्चाम्बु गर्तयोः ॥"
"यास्तामिस्राध्वतामिस्र रौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिश्रः सङ्घै र्व निर्म्मिताः ॥"
"अधस्तात्रल्लोकस्य पावतीर्यातनास्तु ताः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुरस्त्राव्रजेच्छुचिः ॥"

अर्थात् पापी का शरीर अग्नि शिखा के बीच में रख कर जलाया जाता है। वह कभी अपना मांस आप ही काट कर खाता है, कभी दूसरा उसका मांस काट कर उसको खिलाता है। उसके शरीर की अंतड़ियां कुत्ते तथा गिद्ध द्वारा बाहर निकाल डाली जाती हैं। सांप, बिच्छू आदि विषाक्त जीवों से उसको कटाया जाता है। बहुत ऊँचे पर्वत के शिखरों से गिराया जाता है। जल से पूर्ण गड्ढे में डुबाया जाता है। इत्यादि नाना प्रकार के क्लेश तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि नरकों में पापी स्त्री-पुरुष दोनों को ही भोगना पड़ता है। इस प्रकार से दक्षिण दिशा में मनुष्य लोक के स्थित लोकों में जितने प्रकार की यातनायें हैं उनको क्रमशः भोग कर पवित्र हो अन्त में वह जीव पुनः इस मृत्यु लोक में जन्म लेता है। गरुड़ पुराण में भी नरक यातना के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनेक वर्णन हैं। यथाः—

तत्राग्निना सुतीव्रेण तापितङ्गार भूमिना ।
तन्मध्ये पाप कर्माणं विमुञ्चयन्ति यमानुगाः ॥
स दह्यमानस्तीव्रेण वह्निना परिधावति ।
पदे पदे च पादोऽस्य जायते शीर्य्यते पुनः ॥
घटियन्त्रेण बद्धा ये बद्धास्तोयघटी यथा ।
भ्राम्यन्ते मानवा रक्तमुद्गिरन्तः पुनः पुनः ॥
हा माताभ्रातस्तातेति क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
दह्यमानाङ्घ्रियुगला धरणिस्थेन वह्निना ॥

मया न दत्तं न हुतं हुताशने,
तपो न तप्तं त्रिदशा न पूजिताः ।
न तीर्थ सेवा विहिता विधानतो,
देहिन ! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥

न पूजिता विप्रगणाः सुरापगा,
न चाश्रिताः सत्पुरुषा न सेविताः ।
परोपकारा न कृताः कदाचन,
देहिन ! क्वचिन्निस्तर यत् त्वया कृतम् ॥

जलाशयो नैव कृतो ही निर्जले,
मनुष्य हेतोः पशुपक्षि हेतवे ।
गोविप्रकृत्यर्थमकारि नान्वपि,
देहिन ! क्वचिन्निस्तर यत् त्वया कृतम् ॥

भर्तुर्मया नैव कृतं हितं वचः,
पतिव्रतं नैव कदापि पालितम् ।
न गौरवं वापि कृतं गुरोचितं,
देहिन ! क्वचिन्निस्तर यत् त्वया कृतम् ॥

न धर्म बुद्ध्या पतिदेव सेवितो,
वन्हि प्रवेशो न कृतो मृते पतौ ।
वैधव्यमासाद्य तपो न सेवितं,
देहिन ! क्वचिन्निस्तर यत् त्वया कृतम् ॥

नरक में कहीं तीव्र अग्नि जलती है, यमदूतगण पापी को उसमें फेंक देते हैं। उसमें उसका शरीर जल जाता है, वेदना से इधर उधर दौड़ता है। प्रत्येक पद में उसके दोनों पांव जलते रहते हैं। कहीं घटीयन्त्र में बंधे घोड़ों की तरह पापियों को एक साथ बांध कर घुमाया जाता है, इसमें उन्हें रक्त का वमन होता रहता है। कष्ट से अधीर होकर पापी जीव 'हा मातः, हा पितः, हा भाई' इत्यादि करुण स्वर से हाहाकार करते रहते हैं। जमीन पर की अग्नि से उनके पांव दग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार कहीं वे जलाये जाते हैं, कहीं काट कर खण्ड खण्ड किये जाते हैं, कहीं जल में डुबोये जाते हैं एवं कुम्भीपाक

रौरवादि नरकों में नाना प्रकार की यन्त्रणायें भोगते हैं। ऐसे ही वैतरणी नदी पार होते समय पापीगण जिस प्रकार विलाप करते हैं उनको जान कर किसका हृदय नहीं कांप उठेगा? पापी जीव अनुतप्त होकर वैतरणी नदी के किनारे अपनी आत्मा को सम्बोधन करके कहता है कि हे देहिन! मैंने दान, हवन, यज्ञ, तप आदि कुछ भी नहीं किया, देवपूजा तीर्थ सेवन भी विधिवत् नहीं किया, इसलिये जो कुछ तुम्हारा भोग्य है, उसको शान्ति से भोगो, मैंने ब्राह्मणों की पूजा नहीं की, स्वर्गवाहिनी गंगा की शरण नहीं ली, साधुओं की सेवा नहीं की, इस कारण अपने कर्म के अनुसार जो भोग्य है, उसे भोगो। मैंने जल से रहित स्थान में मनुष्य, पशु, पक्षि आदि जीवों की प्यास निवृत्ति के लिये जलाशय नहीं बनवाया, गौ-ब्राह्मणों के पालन के लिये धन नहीं दान किया, अतः हे देहिन! अपने कर्मों का फल अब शान्त होकर भोग करो। पापिनी स्त्री भी इसी प्रकार अनुतप्त होकर विलाप करती है कि, मैंने पतिदेव को हितकारी प्रिय वाक्य नहीं कहा, पातिव्रत्य धर्म का भी कभी पालन नहीं किया, उनको गुरु के समान गौरव नहीं प्रदान किया, इस कारण हे देहिन! अपने कर्मों का फल किसी प्रकार भोग कर छुट्टी पावो। मैंने धर्म बुद्धि से पति सेवा नहीं की, मृत पति के साथ जलती चिता में प्रवेश नहीं किया, वैधव्य दशा में तपो धर्म का भी पालन नहीं किया, इस कारण हे देहिन! अब अपने कर्मों का फल भोग करो। इस प्रकार से अपने अशुभ कर्मों के फल से पापी स्त्री-पुरुष दोनों ही मृत्यु के अनन्तर ऊपर कथित रूप से नाना प्रकार की यन्त्रणायें पाते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। यही नरक भोग का संक्षिप्त स्वरूप है।

जैसे स्वर्ग सुखभोग के पितृलोक और नाना श्रेणी के स्वर्गलोक हैं, जैसे आसुरी सुख भोग के नाना असुर लोक हैं, वैसे ही दुःखभोग के लिए नाना प्रकार के नरक लोक भी हैं। वे सब लोक भगवान् यम-धर्मराज की राजधानी के पास ही बन्दी गृह की भांति स्थित हैं। नरक लोक और प्रेतलोक की व्यवस्था और उसका अनुशासन भगवान् यम-धर्मराज के हाथ में रहता है। स्वर्ग का सुख और नरक का दुःखभोग करने के अनन्तर जीव को पुनः इस मृत्युलोक में आकर जन्म लेना पड़ता है। इस मृत्युलोक में भी शेष रहे हुए सुख भोग और बाकी रहे हुए दुःखभोग रूपान्तर से प्राप्त होते हैं। क्योंकि मृत्युलोक में सुखी व दुःखी दोनों प्रकार के जीव रहते हैं। मृत्युलोक की विशेषता यह है कि यहां सुख और दुःख भोग के साथ ही साथ नये पुरुषार्थ करने का उसको अवसर मिलता है। इस अवसर को पाकर जीव भविष्यत् के लिये शुभ कर्म का संग्रह करके पुण्यात्मा बन सकता है और अशुभ कर्मों का संग्रह करके परमात्मा भी बन सकता है। यही मृत्यु लोक की विशेषता है। इसी कारण मृत्यु लोक को कर्म-भूमि भी कहते हैं।

(११)—ऐशगति और उपसंहार—

जिन मार्गों से जीव को अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्त होता है, उन सबको शास्त्रकारों ने चार भागों में विभक्त किया है, जिनके नाम ये हैं। शुक्ल गति, कृष्ण गति, सहज गति एवं ऐश गति। इनमें तीन गतियों का वर्णन पहले के अध्यायों में आ चुका है। केवल ऐशगति के सम्बन्ध में यहां दिग्दर्शन कराना है।

इस मृत्युलोक के साथ ऐशगति का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि जितने ऊर्ध्व लोक हैं, उन

सब में जो जाते हैं, वे इस मृत्युलोक में सञ्चय किये हुये पुण्य के बल से ही जाते हैं, परन्तु तीसरे स्वर्गलोक से जो ऊपर चले जाते हैं, वे उत्तरोत्तर ऊपर ही चले जाते हैं पुनः इस मृत्युलोक में प्रायः नहीं आते। इसी क्रम से जो अपने प्रबल पुण्य के बल से आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य आदि बड़े-बड़े देव पदों को प्राप्त करते रहते हैं या प्रत्येक मनुन्वन्तर में इन्द्रपद, मनुपद प्राप्त करते हैं या प्रत्येक मन्वन्तर के देवसंघ, ऋषिसंघ और पितृसंघ के पदों को प्राप्त करके ब्रह्माण्ड की दैवी शृङ्खला को ठीक रखने में सहायक बनते हैं और इस प्रकार से ईश्वरी शक्ति से युक्त शासक का पद प्राप्त करते हैं, वे यदि अपने कार्य में दक्षता एवं योग्यता दिखाते हैं, तथा अपनी आध्यात्मिक स्थिति को भी उन्नत करते हैं, तो उसके फल से अन्त में वे ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश के पद को प्राप्त कर लेते हैं। गुणों के अनुसार त्रिमूर्ति के किसी भी पद पर पहुंच जाने से वे देवकोटि से ऊपर पहुंच कर ईश्वरत्व प्राप्त कर लेते हैं और जिन कर्मों के वेग से ब्रह्माण्ड की सृष्टि स्थिति एवं लय के अधिनायक बने हैं, उनका अवसान हो जाने पर ब्रह्मभाव में विलीन हो जाते हैं। इस कारण शास्त्रों में त्रिमूर्ति को जीव नहीं कहा है क्योंकि वे एक ब्रह्माण्ड के अधिनायक सगुण ईश्वर ही हैं। देवतागण जिस गति से क्रमोन्नत होकर अन्त में इस त्रिमूर्ति को प्राप्त करते हैं, उसी को ऐशगति कहते हैं। ब्रह्माण्ड में शासन सम्बंधीय क्षमता का यही सर्वोत्तम पद है। ज्ञान की पूर्णता तो शुक्ल गति से सप्तम लोक में पहुंचने वाले महात्माओं में भी होती है, परन्तु इस गति से सर्वोन्नत पद प्राप्त करने वाले महामहिम आत्माओं में स्वरूप ज्ञान एवं शासन शक्ति दोनों की एक साथ पूर्णता होती है। यही इस गति की विशेषता है।

ऊर्ध्वलोकवासी जीवगण को देवता कहते हैं। ये अमानुषिक शक्ति सम्पन्न होने से मनुष्य मात्र के वन्दनीय हैं। देवताओं की तीन श्रेणियां हैं। वे ऋषि, देव एवं पितर हैं। सब श्रेणी के ज्ञानराज्य के संचालक ऋषिगण हैं, कर्मराज्य के चलाने वाले देवतागण और स्थूल राज्य के संचालक पितृगण हैं। हमारा यह मृत्युलोक इन्हीं तीन श्रेणी के देवताओं द्वारा सुरक्षित और परिचालित होता है। असुरगण भी एक प्रकार के देवता हैं। जैसे देवताओं के राजा इन्द्र हैं, वैसे ही असुरों के भी राजा हैं, ऐसे ही पितृलोक के राजा हैं। पितृगण का वास केवल पितृलोक में ही है। असुर गण का वास नीचे के सप्त लोक में है। देवतागण ऊपर के सात लोकों में यथायोग्य वास करते हैं। एवं ऋषिगणों का वास चतुर्दश भुवनों में सर्वत्र ही है। कभी-कभी असुरगण प्रबल होकर देवताओं का राज्य छीनने के लिये चढ़ाई करते हैं, और देवता असुर का संग्राम छिड़ जाता है। इस तरह देवासुर-संग्राम प्रायः चला ही करता है। इस अधिदैव देवासुर-संग्राम का अध्यात्मरूप प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में है, जिसको कुमति और सुमति का युद्ध भी कहते हैं। एक वृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अन्याय करने पर आरूढ़ होता है, साथ ही दूसरी वृत्ति आकर उसको वैसा करने से रोकती है। दोनों में जो अधिक बल शालिनी होती है, उसकी विजय होती है।

पूर्व कथितरूप से जीव अपने शुभा-शुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग, नरक या प्रेतयोनि भोग कर पुनः नवीन कर्म संग्रह के लिये इसी मृत्युलोक में आता है। पिता के शुक्र को आश्रय करके नियमित काल में माता के गर्भ में प्रवेश करता है। यथा भागवत में:—

"कर्मणा दैव नेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः।"

अर्थात् जीव देवताओं द्वारा चालित होकर अपने कर्म के अनुसार नवीन देह प्राप्ति के निमित्त पुरुष के रेतःकण के आश्रय से स्त्री के गर्भ में प्रवेश करता है। जैसे कोई मनुष्य वृक्ष पर चढ़ता है, उस समय उसका ज्ञान बना रहने पर भी यदि वह वृक्ष पर से गिर पड़े, तो गिरने के समय उसका वह ज्ञान जाता रहता है, पृथ्वी अपने मध्याकर्षण शक्ति से उसको खींच लेती है, ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से स्वर्ग नरकादि भोग के समय जीव को अपने-अपने कर्मों का यथोचित् ज्ञान रहने पर भी माता के गर्भ में आकृष्ट होने के समय वह चेतना-रहित मनुष्य की भाँति विवश होकर ही आकृष्ट होता है। गर्भ में जब तक उसके शरीर के सब अवयव बन कर परिपुष्ट नहीं हो जाते, तब तक वह इसी अचेतन दशा में ही पड़ा रहता है। छः मास तक ऐसा ही रहने के बाद सातवें मास में गर्भस्थ जीव का शरीर पूर्णावयव हो जाने के बाद उसको चेतना आती है एवं अतीत तथा भविष्यत् की सब घटनायें उसको स्मरण हो आती हैं। गर्भ में अङ्ग-प्रत्यङ्ग किस प्रकार धीरे-धीरे बनते हैं, इस विषय में भागवत् तथा गर्भोपनिषद् में ऐसा वर्णन मिलता है:—

"कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
दशाहेन तु कर्कन्धुः येश्यण्डं वा ततः परम्॥"

"मासेन तु शिरोद्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः।
नख लोमास्थि चर्माणि लिंगच्छिद्रोद वस्त्रिभिः॥"

चतुर्भिर्धातव सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृदुद्भवः।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥"

"मातुर्जग्धान्न पानाद्यैरे धद्धातुरसम्मते।
शेतेविन्मूत्रयोर्गर्त्ते स जन्तुर्जन्तु सम्भवे॥"

"कृमिभिः क्षय सर्वाङ्गः सौकुमार्य्यात् प्रतिक्षणम्।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्त्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः॥"

"कटुतीक्ष्णोष्णलवण क्षाराम्लादिभिरुल्वणैः।
मातृ भुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थित वेदनः॥"

"उल्वेण संवृतस्तस्मिन्नमन्त्रैश्च वीहरावृतः।
अस्ति कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठ शिरोधरः॥"

"अकल्पः स्वांगचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम्।"

"स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म कि नाम विन्दते।
आरभ्य सप्तमान्मासांल्लब्धबोधोऽपि वेपितः॥"

नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सौदरः॥"

अर्थात् एक रात्रि में शुक्र एवं शोणित मिश्रित होता है, पांच रात्रि में मिश्रित रजोवीर्य्य वर्त्तुल के आकार का हो जाता है। दश दिन में वह वर्त्तुल बेर की तरह कठिन हो जाता है। तदनन्तर मांसपिण्ड के समान हो जाता है। एक मास में शिर, हाथ, पैर, का पृथक्-पृथक् आकार बनता है। तीन मास में नख, केश, हड्डी, चर्म-लिंग एवं लिंगच्छिद्र का विकास होता है। चौथे मास में सप्त धातु एवं पांचवें मास में भूख प्यास का अनुभव होता है। छठे मास में जरायु से आवृत्त गर्भस्थ बालक माता के दक्षिण कुक्ष में घूमने लगता है। माता के भोजन-पानादि से उसका धातु पुष्ट होता है। विष्ठा मूत्र से परिपूर्ण जीव का उत्पत्ति स्थान गर्भरूप गर्त्त में इच्छा न रहने पर भी जीव को पड़ा रहना पड़ता है। वहां उसके कोमल शरीर को कृमि-कीट काटते रहते हैं, इससे गर्भस्थ बालक कष्ट न सह सकने के कारण बार बार अचेत होता रहता है। माता के भोजन किये हुए कटु तीक्ष्ण, उष्ण, लवण, अम्ल आदि रसयुक्त पदार्थों के शरीर में लगने से उसके सर्वाङ्ग में वेदना उत्पन्न होती है। गर्भस्थ जीव गर्भ, चर्म तथा अन्त्रि-समूह के द्वारा चारों ओर से वेष्टित हो कुक्षि में शिर रख कर अति कष्ट से पिन्जराबद्ध पक्षी की भाँति गर्भ में वास करता है। गर्भाशय के अति संकुचित स्थान में वह स्वेच्छा से हाथ-पैर भी नहीं हिला सकता। इसी समय दैववशात् पूर्व कर्मों की स्मृति उसके हृदय में जाग उठती है। तब वह अपने अनेक जन्मों के अशुभ कर्मों को स्मरण करके व्यथित हो जाता है। सातवें मास में ज्ञान हो जाने पर भी गर्भस्थ जीव कृमि की भाँति प्रसव वायु के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में चालित होता रहता है। इस प्रकार भीषण यन्त्रणा में रहकर जीव-को पूर्व जन्म की बातों का स्मरण हो आता है। यथा गर्भोपनिषद् में:—

पूर्वजाति स्मरति, शुभाशुभं कर्म विन्दति।

पूर्व जन्म में कहां था, किन-किन शुभाशुभ कर्मों से किस प्रकार के गर्भ में जन्म हुआ है, एवं भविष्यत् में किस प्रकार के सुख-दुःखादि का भोग करना होगा, इन सब विषयों की स्मृति जीव के अन्तः करण में जागृत हो आती है। इस दशा में विषयी जीवों को अपने अशुभ कर्मों का स्मरण करके बड़ा ही अनुताप होता है। वह सोचता है कि, हाय! यौवनमद में उन्मत्त होकर शास्त्र बचनों की अवहेलना करते हुए मैंने कितना ही प्रमाद किया है। लाखों-लाखों रुपया अपने पास होते हुए भी सत्पात्र में एवं सत्कार्य्य में व्यय नहीं किया, क्षुधातुर को अन्नदान नहीं दिया, तृषार्त्त को जल नहीं दिया, दीन दरिद्रों का करुण- क्रन्दन मेरे पाषाण हृदय को पिघलाने में समर्थ नहीं हुआ। अपनी सब सम्पत्ति मैं ने व्यसन मद्यपानादि में नष्ट-भ्रष्ट की, इन कुकर्मों के कारण मुझे भिखारी के घर में जन्म लेकर हा अन्न! हा अन्न! करके दुर्भिक्ष में प्राण गँवाना होगा। मैं अपनी सती साध्वी स्त्री का अपमान करके पर स्त्री रत हुआ, इस पाप के फल से मुझे दाम्पत्य-प्रेम से वञ्चित होकर नाना प्रकार का कष्ट भोगना होगा। शरीर रहते समय मुझे इन बातों का ज्ञान नहीं था, अब मुझे सब घटनाएँ सामने दिखाई दे रही हैं। गर्भस्त जीव इस प्रकार अपने कर्मों को एवं उसके भावी फलों का स्मरण करके पश्चत्ताप करता है एवं असहाय और निरुपाय होकर दीन शरण भगवान के चरण कमलों में बद्धाञ्जलि होकर, प्रार्थना करता है, यथा भागवत् में:—

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलि।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥

अर्थात् गर्भ-दुःख से दुःखित, पुनः गर्भवास के भय से भीत सप्तधातुरूप सप्त बन्धन से बद्ध जीव कृताञ्जलि होकर जिन्होंने गर्भवास दुःख दिया है, उन भगवान् के चरणों में प्रार्थना करता है। यथा गर्भोपनिषद् में :—

"पूर्वयोनि सहस्राणि दृष्ट्वाचैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ॥"

"जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभा शुभं ॥"

"एकाकी तेन दह्येऽहंगतास्ते फलभोगिनः।
अहो दुःखदग्धौ मग्न न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥"

"यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तं प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षय कर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम् ॥"

"यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तं प्रपद्ये नारायणम्।
अशुभक्षय कर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम् ॥"

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत् सांख्ययोगमभ्यसे ॥
अशुभक्षय कर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम् ॥

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्मसनातम् ॥

इससे पहले मेरे हजारों जन्म हुये हैं, कितने प्रकार का भोजन तथा कितनी ही माताओं का स्तन पिया है, कितने बार मरा और जन्मा हूँ! जिन आत्मीयजनों के लिये शुभाशुभ सभी कर्मों का अनुष्ठान किया, वे कोई भी मेरे साथ नहीं आये, सब कर्मों के फल भोगने का भार मेरे ऊपर ही पड़ा है, मैं एकाकी ही उन कर्मों के फल से दग्ध हो रहा हूँ। अहो! मेरे दुःखों का अन्त नहीं दिखाई देता। उद्धार का कोई उपाय नहीं है। हे महेश्वर! इस बार इस गर्भ से निकलने के बाद अब तुम्हें नहीं भूलूंगा। तुम्हारे ही चरणों की शरण लेकर मोक्ष के लिये यत्न करूंगा। इस बार गर्भ मुक्त होने पर अवश्य ही ज्ञान योग का आश्रय लेकर ब्रह्म ध्यान करूंगा, इत्यादि। श्रीमद्भागवत् में गर्भस्थ जीव के दुःख एवं प्रार्थना का वर्णन है। यथाः—

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्तं,
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे।

येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥
देह्यन्य देहविवरे जठराग्निना सृग् ।
विण्मूत्रकूप पतितो भृशतप्त देहः ॥
इच्छन्नितो विवसितुम् गणयन् स्वमासान् ।
निर्वास्यते कृपण धीर्भगवन् कदानु ॥
तस्मादहं विगतक्लिव उद्धरिष्ये ।
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ॥
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रम् ।
मा मे भविष्यदुपसादित विष्णुपाद ॥

हे भगवन् ! निराश्रय जगज्जन्नों के प्रति कृपा करके उनका उद्धार करने के लिये तुम प्रति युग में अवतीर्ण होते हो। में अपने कर्मों के फल से इस गर्भ वास के दुःख में निमग्न होकर तुम्हारे अभय चरणों की शरण लेता हूं मेरा उद्धार करो। रक्त, विष्ठा, मूत्र से परिपूर्ण गर्भ रूप में पड़ कर कब इस दुःख से निस्तार होगा, इस आशा से दिन गिनता हूँ। इस बार इस कारागार से विमुक्त होने पर पुनः संसार जाल में बद्ध नहीं होऊँगा, अवश्य आत्मा के द्वारा आत्मोद्धार करूंगा एवं ब्रह्मपद प्राप्त करके सदा के लिये जन्म-मरण चक्र से विस्तार प्राप्त करूँगा, इत्यादि। इसी प्रकार प्रार्थना करते हुए जब दश मास पूर्ण हो जाता है, तब जीव गर्भ में से बाहर आ जाता है। यथा भागवत में:—

"एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्य वाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥"
"तेनावस्टष्टः सहसा कृत्वा वाक् शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥"
"पतितो भुव्यसृङ् मिश्रो निवभुरिव चेष्टते ।
रोरुयति गते ज्ञाने विपरीतां गति गतः ॥"

इस प्रकार प्रसव से पहले तक गर्भ में रह कर श्री भगवान् से प्रार्थना करते हुए अकस्मात् एक दिन प्रसव वायु प्रबल होकर गर्भस्थ बालक को चालित करके शिर नीचे और पैर ऊपर की ओर करके गर्भ से बाहर निकाल देता है। उस ममय संकुचित द्वार से अत्यन्त कष्ट से भीषण क्लेश के साथ उसको बाहर निकलना पड़ता है। इस क्लेश के कारण उसकी सब स्मृति जाती रहती है तथा एकाएक उल्वण से अलग होकर स्वच्छ आकाश में आने से क्लेश द्वारा तथा अवस्थान्तर के द्वारा गर्भ से निकला हुआ जीव

पूर्व स्मृति को भूल जाता है। इस स्मृति का भूलना जीव के लिये कल्याणकारी होता है। पूर्व स्मृति के भूल जाने से ही जीव नवीन कर्म करने में समर्थ होता है। यह श्री भगवान् की कृपा का ही फल है। नहीं तो यदि पूर्व स्मृति रहती और सहस्रों संयोग वियोग का धक्का लगता रहता तो जीव धर्म वेदना से उन्मत्त हो जाता। जीव गर्भ से बाहर आ जाने पर पूर्व स्मृति भूल कर अज्ञान से अभिभूत हो जाता है। और रक्ताक्त शरीर जीव जमीन पर पड़ा हुआ विष्ठा के कीट की तरह हिलता रहता है। इसी प्रकार विपरीत गति उसको प्राप्त होती है। प्रसव समय की भीषण यन्त्रणा आदि इस विस्मृति का एक साधारण कारण है परन्तु प्रधान कारण तो भगवान् की मोहिनी वैष्णवी माया है। जिसने अखिल चराचर विश्व को विमोहित कर रखा है। उसी के तपोमय आवरण का पर्दा गर्भ से बाहर निकलते ही जीव के अन्तःकरण पड़ जाता है, जिससे वह अपने सब ज्ञान विज्ञान को भूल कर साधारण चेष्टा करने लगता है और बड़ा होने पर समझता है। प्रसव काल से पहले जीव का ब्रह्माण्ड खुला रहता है और नाक के नथुने बंद रहते हैं। ज्योंही प्रसव काल का समय आता है तुरन्त ही ब्रह्माण्ड बंद हो जाता है और नाक के नथुने अकस्मात् ही खुल जाते हैं। तब स्वांस-प्रस्वांस की घबराहट के कारण जीव बाहर निकल आता है। सभी उसके लिये नई वस्तु है, सभी उसी के भोग के लिये सजाया गया है, अज्ञान और मोहवश ऐसा समझ कर ही वह पुनः नवीन अनुराग से चित्त रंजित करता एवं विषय भोग में पुनः उन्मत्त होकर विषय विष सेवन करने लगता है। यही महामाया की विचित्र महिमा एवं गहन लीला है, जिसके लिये कहा है:—

"मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहिमेष्यन्ति चापरे"

अज्ञानतमाच्छन्न जीव अविद्या के प्रभाव से इसी प्रकार अनन्त दुःखमय जनम-मरणरूपी चक्र में सदा घूमता रहता है, उसको विराम नहीं मिलता है। कभी स्वर्ग में, कभी नरक में, कभी प्रेतलोक में, कभी असुर लोक में अपने किये शुभाशुभ कर्मों को भोगने के लिए जाता है, और उन कर्मों के भोग का अवसान होने पर नये कर्म संग्रह के लिये पुनः मृत्युलोक में आकर मातृगर्भ में प्रवेश करता है, फिर गर्भ-वास की बड़ी असह्य वेदना पाकर इस मृत्युलोक में जन्म लेता है। इसी प्रकार बार-बार नाना प्रकार के अनन्त क्लेश पाने पर भी उसकी मोह निद्रा भंग नहीं होती। वह कभी यौवन धन एवं ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर श्रीभगवान् की भी उपेक्षा करता है, छद्मवेशी भगवान् यम धर्मराज के प्रश्न के उत्तर में इसी को आश्चर्य्य कहा है, जिसका वर्णन महाभारत में विशदरूप से है। यथाः—

अहन्यहनि भूतानि गच्छति यम मन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्य्यं मतः परम्॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे, सूर्य्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वी परिघटनेन, भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

अर्थात् नित्य प्रति सैकड़ों मनुष्य मरते देखे जाते हैं, तब भी बाक़ी मनुष्य जीने की इच्छा करते हैं इससे और आश्चर्य क्या होगा। महा मोहमय इस ब्रह्माण्डरूपी कटाह में सब जीवों को डाल कर काल उनको पकाता है, इसमें सूर्य अग्निरूप है, दिन और रात ईंधनरूप हैं एवं मास तथा ऋतु कर्छी है।

महामहिमामयी महामाया के इस अनादि चक्र में जीव घटियन्त्र की तरह अनादि काल से घूम रहे हैं, इसी प्रकार लाखों बार जन्म, मरण, प्रेतभाव, देव(त्व) असुर(त्व) और कभी राक्षसत्व प्राप्त होता आ रहा है। इस यात्रा में विराम नहीं, शान्ति नहीं, निवृत्ति तो कहां सम्भव, इसी प्रकार जीवों की गति अनन्तकाल से चली आ रही है। इसका अन्त कैसे हो, शान्ति कहां मिले, इसका यथार्थ मार्ग-प्रदर्शन कराने के लिये ही श्री भगवान् ने कहा है:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते॥

मेरी त्रिगुणमयी दैवी माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है, केवल जो मेरी शरण ही लेता है। वही इस माया का अतिक्रम कर सकता है।

वस्तुतः यह दृश्यमान् जगत् लीलामयी उस महानटी का रङ्गमँच है, और सभी प्राणी उसके अभिनेता हैं। वह जब जिससे जो अभिनय कराना चाहती है, कराया करती है। इसी भाव के अधीन होकर किसी भावुक भक्त ने यह कहा है:—

अनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका।
० ० ० ० ० ० ४ ८
व्योमाकाश खंखाम्बराब्धि वसवस्त्वत् प्रीतये ऽद्यावधि॥
प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन्! यद्वाञ्छितं देहि मे।
नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्॥

हे भगवन्! नट जिस प्रकार दर्शकों को प्रसन्न करने के लिये नाना यत्न से नाना प्रकार का दृश्य दिखाता है, उसी प्रकार मैं ने भी संसार मञ्च पर तुम्हारे सामने चौरासी लक्ष योनियों में कितना ही दृश्य दिखाया, यदि उन सब को देख कर तुम प्रसन्न हुये हो तो तुमको हमारा वाञ्छित देना चाहिए, और नहीं प्रसन्न हुये तो आज्ञा दो कि अब तुम्हारे निकट ऐसे दृश्य फिर न दिखाने पड़ें। भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होने पर वांछित वर तो मुक्ति है ही, यदि प्रसन्न नहीं अप्रसन्न ही हों तो अप्रसन्नता से ही यह नाटक बन्द हो जाय, तब भी मुक्ति हुई। इस प्रकार दोनों दशा में ही भक्तवत्सल भगवान् के चरण कमलों में मुक्ति की प्रार्थना करता है।

आवो मुमुक्षुगण! हम भी उसी कल्याण कल्पतरु सर्वकरुणामय अशरण-शरण श्री भगवान् के अभय चरणों की शरण लेवें, जिनकी ईषत् करुणा कटाक्ष से जन्म-मरण का अनन्त चक्र निवारित होगा, त्रिताप का दुःख दावानल सदा के लिये शान्त होगा, प्रिय मिलन की अनन्त अतृप्त कामना सदा के लिये तृप्त होगी एवं जीव शिव में मिलकर शिव हो जायगा"

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(श्रीमती विद्यादेवी—काशी)

ॐ

प्रार्थना ।

सभी मनुष्य यह सदा चाहते हैं कि कोई सुगम उपाय मिले तो उसके द्वारा अपना उद्धार और लोक उन्नति भी करें । कलि-काल में ईश्वर की प्रार्थना करने पर विशेष परिश्रम आदि किये बिना सहज में मुक्ति पा सकते हैं, पहिले युगों में भी अनेक सज्जन व भक्त केवल विनीत भाव से कृतार्थ हुए हैं यथा:—

(१) दुर्वासा ऋषि के शाप से त्रस्त अम्बरीष राजा को श्रीहरी ने छुड़ाया और उसके यहाँ जन्म लिया । उपमन्यु को क्षीर सागर ही दे दिया ।

(२) पाँच साल के छोटे-से ध्रुव बालक पर कृपा की भीख माँगते ही नारायण स्वयं उपस्थित हो गये और उसको नक्षत्र-पुञ्ज में अचल पद दिया ।

(३) महान् संकट में फँसे हुए गजेन्द्र के पुकारते ही आर्त होकर श्रीहरी दौड़ कर आये और डुबकी लगा कर उसको छुड़ाया ।

(४) पापी अजामिल के अन्त समय नारायण-नाम लेते ही परमेश्वर ने उसको मुक्ति दी ।

(५) ब्रह्मा के कारण मत्स्यावतार लिया । कूर्मरूप धारण कर मेरु पर्वत को अपनी पीठ पर उठाया । लोक का रक्षण करने के लिये वाराह अवतार लिया ।

(६) अपने महाभक्त प्रहलाद के बहुत सताये जाने पर भगवान् ने नृसिंहरूप धारण किया । मुख से विशाल ज्वाला निकलने के कारण उसके पास कोई भी नहीं आता था ।

(७) इन्द्र के कृपा की भीख मांगने पर ईश्वर ने वामन अवतार लिया, ब्राह्मणों के रक्षणार्थ परशुराम अवतार लिया ।

(८) बन में जाते समय अहल्या का उद्धार किया और जिन्होंने रावण के हाथ से सब देवताओं को छुड़ाया ।

(९) वस्त्र हरण के समय द्रौपदी के स्मरण करते ही जो अपने सब काम छोड़ कर दौड़ पड़े और कलियुग में बौद्धरूपी मौनी हुए ।

(१०) अनाथ और दीन जनों के उद्धारार्थ जो भविष्य में कल्किरूप से अवतीर्ण होंगे और जिनका वर्णन करते करते वेद भी थक गये, भक्ताभिमानी परमेश्वर अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते ।

प्रार्थना – अभिलाषा का प्रबल हो जाना ही सच्ची प्रार्थना है ।

उपासना—प्रबल अभिलाषा को, अर्थात् की हुई प्रार्थना को समर्पण कर देना ही उपासना है ।

स्तुति – उपासना पूर्ण होने पर जो अनुभव में आवे उसका बुद्धि आदि से गान करना ही स्तुति है ।

प्रबल अभिलाषा एक हो सकती है, अनेक नहीं । एक ही अभिलाषा की पूर्त्ति के लिए अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं । एक-एक इच्छा की पूर्ति के लिए अनेक संकल्प उठते हैं, अतः एक ही अभिलाषा का सारा विकास होता है ।

वेद शास्त्रों के सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि प्रभु के गुणानुवाद (प्रार्थना) करना उन्नति व मुक्ति प्रद है ।

श्लोक

प्रमाण वेदः— पूजात्कोटि गुणं स्तोत्रं, स्तोत्रात्कोटि गुणो जपः ।
जपात्कोटि गुणं गानं गानात्परतरं न हि ॥

पूजा आदि करने से कोटि गुण श्रेष्ठ स्तोत्रों का (पुण्य) पाठ है पुण्य पाठ से गायत्री आदि का जप कोटि गुणा उत्तम है और जप से कोटि गुणा श्रेष्ठ प्रार्थना (ईश्वर के गुण गाना) है इससे परे और कुछ नहीं है ।

प्रार्थना के विषय में एक महाशय कैसा सुन्दर विवरण करते हैं:—

"संसार का प्राणीमात्र किसी न किसी रूप में उस परम पिता को मानता ही है । उसी पतित-पावन परम पिता के सम्मुख अपने हृदय के सरल भावों को रखना, आर्तत्रास-परायण भगवान् के सम्मुख दुःखों के बोझ से नत होकर, श्रद्धा भक्ति और अटल विश्वास के साथ प्रेमरस रञ्जित करुण क्रन्दन करना ही प्रार्थना कहलाती है ।

प्रार्थना, संसार के प्रत्येक धर्म का एक आवश्यकीय अङ्ग है । प्रार्थना मनुष्य-जीवन का सर्वोत्कृष्ट साधन है । असहाय-अवस्था में तो प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय रह ही नहीं जाता । दुःख सागर में डूबते हुए मनुष्य के लिये प्रार्थना से बढ़ कर सुखद, मनोहर, शान्तमय, संतोष एवं तृप्ति देने वाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है । प्रार्थना मनुष्य-जीवन का प्रधान तत्व है, इससे वंचित रह कर मनुष्य-जीवन सार रहित हो जाता है । प्रार्थना से विमुख मनुष्य को संसार सागर की साधारण हिलोरें अपने निश्चित् मार्ग से विचलित कर देती हैं पुनः उठना प्रायः असम्भव हो जाता है ।

प्रार्थना की शक्ति अनन्त है, संसार का ऐसा कोई कार्य नहीं जो प्रार्थना की सहायता से न किया जा सकता हो । Prayer can move mountain प्रार्थना द्वारा अप्राप्य प्राप्य हो जाता है, असम्भव सम्भव बन जाता है । दुःख टल जाते हैं, टल क्या जाते हैं समूल ही नष्ट हो जाते हैं ।

जब प्रेमपूर्ण सच्ची प्रार्थना उस निराकार को साकार तक बना देती है, उस जगत्-नायक को नंगे पाँवों दौड़ा सकती है तब फिर वह और क्या नहीं कर सकती ?

किन्तु यह अनन्त शक्ति और प्रभाव उसी सच्ची प्रार्थना में होता है जो केवल मुख से नहीं वरन् हृदय से की जाती है । जहाँ शब्दों की गुञ्जार के साथ हृदय तन्त्री के कोमल तारों की मधुर झङ्कार भी मिश्रित रहती है । जिस प्रार्थना में हृदय मुख को आता है, हृदय के मंजुल भाव उस अपने प्यारे के चारु चरणों पर लोटने के लिए आतुर हो जाते हैं, वही प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है और उसी प्रार्थना में असीम शक्ति का समावेश रहता है ।

प्रार्थना केवल शब्दों द्वारा नहीं की जाती है। मौन रहकर भी प्रार्थना की जा सकती है। शब्द विहीन होते हुए भी हृदय से निकली हुई प्रेमपूर्ण कातर प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है और हृदय-विहीन, किन्तु शब्दाडम्बर तथा संगीत युक्त प्रार्थना तो कृत्रिम प्रार्थना है। दम्भ और आडम्बर युक्त प्रार्थना, प्रार्थना नहीं धोखेबाजी है। संसार चाहे धोखा खा जाय किन्तु वह रोम-रोम में रमा राम क्यों धोखा खायेगा।

प्रार्थना तभी सार्थक समझनी चाहिये जब उससे शान्ति और आनन्द प्राप्त होने लगे। जिस प्रकार एक भूखे मनुष्य को भोजन मिलने पर आनन्द मिलता है उसी प्रकार जब आत्मा को भी प्रार्थना से आनन्द और शान्ति प्राप्त होने लगे, तभी जानना चाहिये कि वह सच्ची प्रार्थना है।

प्रार्थना के लिये समय का निश्चित होना आवश्यक है। हिन्दुओं की नित्य त्रिकाल-संध्या का यही तत्व है। कोई सतत प्रार्थना कर सके, उसका तो कहना ही क्या? किन्तु हम संसारी जीव हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह से ग्रसित पामर जीव हैं इसलिए सतत प्रार्थना करने में असमर्थ हैं। अतः प्रार्थना के लिये एक समय निश्चित करना ही उचित और श्रेयस्कर है। उस निश्चित समय पर मन को यथाशक्ति एकाग्र करके, श्रद्धा और अटल विश्वास के साथ प्रेमपूर्ण प्रार्थना करना चाहिये। और इस प्रकार नित्य प्रति अपने शरीर और मन में प्रार्थना द्वारा एक शक्ति का संचार करना चाहिए जिससे उसका प्रभाव हमारे हृदय पर दिन-रात बना रहे।

प्रार्थना के लिये निश्चित समय पर शुद्ध होकर, यथा साध्य एकान्त, शान्त, पवित्र स्थान में शान्त होकर बैठना चाहिए और मन में यह भावना करनी चाहिए कि भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं और मेरी प्रत्येक बात को सुन रहे हैं, सुन ही नहीं रहे हैं वरन् हृदय की आन्तरिक गति को भी देख रहे हैं। इस प्रकार आसन पर बैठ कर अपने प्यारे आराध्यदेव के सम्मुख हीन भाव से दिनभर के पापों का स्मरण करके उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए अतिभाव से क्षमा माँग कर केवल उस भाषा में सच्चे हृदय से विनय करनी चाहिये। अथवा इसी आश्रय के पद तथा भजन गाने चाहियें पर ध्यान रहे कि यह गान केवल मुख से न हो, हृदय से हो।

मन की चंचलता प्रसिद्ध है। उसको शान्त करने के उपाय तो केवल दो ही कहे जाते हैं एक तो प्रभु की पावन कृपा और दूसरा सतत अनथक अभ्यास। प्रभु की दया पर अपना कुछ अधिकार नहीं, इस, लिये अनथक अभ्यास द्वारा ही चंचल मन को प्रभु के चरणों में लगाना चाहिये। चंचल मन प्रयत्न करने पर भी अपने विषय की वस्तुओं की तरफ दौड़ेगा। इससे घबराओ नहीं, बार-बार उसे वहां से लौटा-लौटाकर उन्हीं पावन चरणों में लगाते रहो। इसी प्रकार अनथक प्रयास करते रहो। जब मन अपना व्यापार नहीं छोड़ता तब उसको एकाग्र करने का उद्योग क्यों बन्द किया जाय? इस सतत् परिश्रम का यही फल होगा कि अन्त में मन पर पूर्ण अधिकार हो जायगा। इतना होने पर प्रार्थना में वही आनन्द आवेगा जो एक भूखे को भोजन में और प्यासे को शीतल जल में प्राप्त होता है। फिर तो उस प्रार्थना में वह आनन्द मिलता है, वह अलौकिक तृप्ति होती है, वह अनुपम शान्ति मिलती है जो वर्णन का विषय नहीं है। अनिर्वचनीय है।

यह तो हुआ मन को शान्त और एकाग्र करने का आन्तरिक प्रयास, यद्यपि आन्तरिक प्रयास का मूल्य अधिक है किन्तु बाह्य प्रयास भी सर्व सहायक होता है। प्रार्थना के समय अपने आराध्य देव का कोई मनमोहक चित्र सामने रख लो, ताकि नेत्र के सम्मुख का नेत्र का भोजन हो। नेत्र बन्द रहने पर उसी प्रभु की मनोहर मूर्ति को अपने मन-मन्दिर में देखते रहो और जब नेत्र खुलें तो बाहर प्रभु का वही कमनीय चित्र देखो। उसी के सन्मुख प्रभु का स्मरण, उसके पावन नाम का जप, कीर्तन अथवा कोई सुन्दर करुणा पूर्ण पद गाकर प्रार्थना करो। परन्तु यह सारी क्रिया एकान्त में ही करनी चाहिये।

यहां एक बात और जान लेनी चाहिये कि संसारी प्राणी होने के कारण हम लोग भिन्न-भिन्न इच्छायें लालसाएँ और कामनाएँ रखते हैं। हम में से कोई परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहता है, कोई पुत्र लाभ की कामना रखता है। कोई व्यापार में लाभ की आशा रखता है, कोई मान-सम्मान चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम एक नहीं अनेक कामनाएँ रखते हैं, यद्यपि प्रार्थना से ये सारी इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं परन्तु इनकी पूर्ति के लिये प्रार्थना का प्रयोग न करके अपने पुरुषार्थ या प्रारब्ध पर ही विश्वास रखना चाहिये। स्वार्थमय सकाम प्रार्थना परमार्थ-मार्ग के साधक के लिये तो कदापि उचित नहीं है।

सच्चा साधक तो अपने आराध्यदेव के सन्मुख हृदय से यही कहेगा:—

तन मन धन अपने कियो 'मोहन' तुम पर आज।
मन भावे सोई करो हाथ तुम्हारे लाज॥

जिस प्रार्थना द्वारा 'प्रभु-प्रेम' रूपी अमूल्य रत्न पाया जा सकता है, उसे यदि क्षणिक सुखरूपी काँच लिया जाय तो इस दशा में उस प्रार्थना का दुरुपयोग ही होगा।

अवश्य ही सकाम प्रार्थना करना बुरा नहीं। पर अच्छा भी नहीं है। यदि कभी अपनी ओर से प्रेम की कमी होने पर या भगवान् की दिव्यदृष्टि में हमारी कामना सिद्ध होने में हमारी हानि होने के कारण वह कामना पूर्ण न हुई तो प्रायः चिरसञ्चित विश्वास पर भी धक्का लग जाता है। इसलिये प्रार्थना सदैव निष्काम भाव से ही करनी चाहिये। प्रार्थना केवल इसलिये ही की जाय कि उसके बिना किये रहा ही नहीं जाता हो। और यदि कोई कामना ही रखना चाहे तो 'उसी' के प्रेम को उससे पाने की कामना हो। उसके मिल जाने पर क्या नहीं मिल जाता।

प्रार्थना के सम्बंध में यह अन्तिम बात और जान लेनी चाहिये कि 'प्रार्थना' में हमें भूत की तरह चिपटे रहना चाहिये। प्रार्थना क्यों करनी चाहिये? प्रार्थना न करने से कौन-सी हानि है। प्रार्थना से क्या लाभ होगा? प्रार्थना में जीवन का अमूल्य समय क्यों नष्ट किया जाय? आदि सम्बंधी प्रश्न विचार में भी न आने देने चाहिये। सम्भव है इन प्रश्नों के बिना उत्तर पाये प्रार्थना करने वाले मनुष्य को कुछ लोग मूर्ख ठहरावें परन्तु अपने को प्रण पर दृढ़ रहना चाहिये और अपने पावन-पथ से कभी विचलित न होना चाहिये।

यदि प्रार्थना द्वारा अपना सर्वस्व उस प्राण प्यारे के ऊपर वारने के लिये प्रस्तुत रहोगे, यदि अपने करुणा क्रन्दन द्वारा उस करुणा-निधि की करुणा को अपनी ओर आकर्षित करने का अनथक प्रयास करते रहोगे, यदि तुम उस परम प्यारे मनमोहन के चरण-कमलों को अपने प्रेमाश्रुओं से धोने की कामना को हृदय में विहार करने दोगे, उसके विषम वियोग से क्लान्त होकर निशिवासर अपने आँसुओं से उसके प्रतीक्षा-पथ को सींचते रहोगे, यदि तुम्हारे प्राण आतुर और अधीर उसी के लिये छटपटाते रहेंगे तो वह 'गज की पुकार पर पैदल दौड़ने वाला प्रभु' कभी शान्त होकर न बैठेगा। वह आयेगा और आयेगा, उस त्रिभुज मोहिनी कमनीय छवि को लेकर, जिसके प्रकाश में करोड़ों सूर्यों का सम्पूर्ण प्रकाश फीका पड़ जायगा, असंख्य सुधाकरों की ज्योत्सनामयी सारी कलाएँ लज्जित हो जांयगी। संसार का सारा सौन्दर्य्य, सुमनों का सारा उल्लासयुक्त विकास अपना मुख छिपा लेगा।

सम्भव है कि उस समय ये तुम्हारे बाह्य नेत्र उसे न देखने पावें। इसकी चिन्ता न करना। उन्हें अपने हृदयासन पर बैठा लेना। फिर भी ध्यान रहे कि प्रार्थना का प्रवाह, जिसके द्वारा तुम्हारा प्यारा तुम्हें मिला है, बन्द न हो जाय। जिस प्राण प्यारे प्रभु के लिये तुम इतनी प्रतीक्षा करते रहे, उसके पाने पर भी प्रार्थना का सतत प्रवाह प्रवाहित ही रहने देना। कभी उस पावन प्रवाह में तुम स्वयं गोते लगाना और कभी उस अपने प्यारे को निमग्न करना। बस, यही प्रेम क्रीड़ा अनन्त तक बनी रहे।

(पं० श्रीरमेशजी द्विवेदी)

देखिये प्रार्थना के विषय में माननीय महोदय ब्रन्टन साहिब अपनी "A Search in Secret India" नाम की पुस्तक में पृष्ठ २७२ में क्या लिखते हैं:—

"The destiny of each race of people must be realized, just as the destiny of every person must be fulfilled. The Lord is omnipotent. Men and nations cannot escape from their self earned fate, but they may be protected through their troubles and even saved from great dangers."

"And how does one obtain such protection ?

"By prayers, by keeping a child-like nature, when one turns towards the Amighty, and by remembering Him not on one's lips, but in one's heart especially before one begins any action. In happy days, try to enjoy them as a blessing of God, and in troubles, try to think that it is very much like a medicine to heal your inner diseasé. Fear Him not as He is all merciful."

ईश्वर प्रार्थना से असाध्य रोगों का इलाज ।

"अमरीका के कनसास सिटी में 'यूनिटी स्कूल औफ़ क्रिस्चिनिटी नाम की एक संस्था है। इसके संस्थापक मिस्टर 'फिलमोर' नाम के महाशय हैं। यह जन्म से ही 'लूले लंगड़े' थे। और इनके बच्चे व स्त्री सब 'क्षय-रोग' से पीड़ित थे। ये सब तरह से दवा दारू करके निराश तथा कंगाल हो गये, पास में एक पाई भी न रही। ऐसी दशा में उनकी स्त्री के अन्तरआत्मा की प्रेरणा हुई कि ईश्वर प्रार्थना से सब आधि व्याधियां दूर हो सकती हैं। तब सब घर के प्रार्थना करने लगे। ईश्वर कृपा से थोड़े ही दिनों में प्रार्थना के अद्भुत चमत्कार तथा प्रभाव से सब स्त्री बच्चे और मिस्टर फ़िलमोर निरोग हो गये।"

महात्मा गांधी जी "प्रार्थना के विषय में लिखते हैं कि— "प्रार्थना मेरे जीवन का ध्रुवतारा है। एक बार मैं भोजन करना छोड़ सकता हूँ, किन्तु प्रार्थना नहीं। आत्मा को परमात्मा में लीन करने का एक-मात्र साधन प्रार्थना ही है।

हमारे मित्र महाशय पृथीनाथ जी कक्कड़ एक बड़ा ही सुन्दर लेख अंग्रेज़ी में इस प्रकार लिखते हैं:—

"HEAVEN-WARDS"

"Prayer ascends and mercy descends."

In the dark hour

"His ears are open to the softest cry,
His grace descends to meet the softest eye,
He reads the language of a silent tear,
And sighs are incense from a heart sincere."

When difficulties multiply—when everything seems to go wrong—when dark clouds roll in myriads before our vision, when our best attempts fail and the world looks ableak—Let us find our stay in the Greater Life. Take refuge in its mightiness. Hold—wait—watch and listen. Soon the

Real life enters with its abounding bliss. The hand of God leads us unto Himself. There we recover strength. Every-thing becomes calm. Cares swallowed up. Troubles cease. Angel's grace and a thousand helping hands appear.

"If friendliness in a vale of tears I stray,
Where briars wound and thorns perplex my way,
Still let my steady soul Thy Goodness see,
And with strong confidence lay hold on Thee."

स्वामि ब्रह्मानन्द कृत कल्याण-प्रद प्रार्थना ।

इन प्रार्थनाओं में अधिक सिद्धान्त भरा है, इसके पढ़ने व विचार करने में विशेष परिश्रम आदि नहीं करने पड़ते तथा बालक, बालिकाओं व स्त्री जनों और सरल पुरुषों के लिये अति सुगम व लाभप्रद हैं, प्रार्थना का अधिकार व कर्त्तव्य सर्व मनुष्यों को है, अतः सूर्य के उदय व अस्त ठीक २ दोनों समयों में आलस्य व प्रवृत्ति को त्याग, प्रेम, नम्रता सहित नित्य प्रार्थना करने पर ईश्वर उनको स्वीकार कर सर्वानन्द प्रदान करेंगे। जो प्राणी इन सब प्रार्थनाओं को नियम से सही पढ़ेंगे उनका तो कहना ही क्या।

जिन २ सज्जनों को सामर्थ्य व सभ्यता ईश्वर ने दे रखी है, वह स्वयं इन प्रार्थनाओं का अभ्यास करते हुए औरों में विशेष प्रचार कराने पर लोक उन्नति व मुक्ति सहज में पा सकते हैं। किमधिकम्।

बृहस्पतिवार को प्रातः समय की प्रार्थना ।

हे दीन बन्धो सुखनिधे, जय जय चराचर नायकं ।
आनन्द दाता जय विभो, जन मुक्ति पदवी दायकं ॥
नर देह दुर्लभ दान की, अब यह अनुग्रह कीजिये ।
सब विघ्न पातक दूर हों, निज प्रेम अतिशय दीजिये ॥
जप यज्ञ तप बनते नहीं, कलि-काल कीर्तन हम करें ।
यह जनों पर कीजे कृपा, दुष्कर्म को प्रतिदिन हरें ॥
बहु पायँ निर्मल बुद्धि को, दुर्व्यसन सब जाते रहें ।
अभिमान स्वारथ कपटता, तव ईश गुण गाते रहें ॥
अभिमान स्वारथ कपटता, हैं द्वेष तृष्णा राग जो ।
यह दोष तरने के लिये, दृढ़ नाव निज अनुराग दो ॥
अब कृपा ऐसी कीजिये, सुख सम्पती भरपूर हों ।
चौरासि योनी कष्ट सब, दुःख नरक के भी दूर हों ॥
हम लोभ माया जाल फँस, भूले सनातन रूप को ।
मद मोह ममता त्याग कर, आतम लखें सद्रूप को ॥
सुन दया सागर प्रार्थना, अज्ञान सब ही नष्ट कर ।
लें शरण ब्रह्मानन्द पद, शुभ धारणा सम द्रष्टि कर ॥

बृहस्पतिवार को सायंकाल की प्रार्थना

हे सृष्टि करता न्यायवर, सब जनों की रक्षा करो।
इस मोह माया से छुटें, उर वास कर शिक्षा भरो॥
पर द्रव्य त्यागें धूलिसम, संतोष को चित धार के।
पद पंकजों में लीन हों, मन की चपलता मार के॥
दुर्भाव नाशें चित्त के, कर्त्तव्य पालन सब करें।
नित संग सज्जन बैठ के, हम प्रेम अतिशय तब धरें॥
सुख शान्ति पावें जन सभी, मन दुर्गुणों से मोड़ दो।
हे दुःख भंजन जगतपति, निज ध्यान में वृत्ति जोड़ दो॥
नित नीच भोगों से बचें, हो संग नहिं दुर्जनों का।
जन श्रेष्ठ के गुण ग्रहण कर, नहिं मान हो निज गुणों का॥
दुर्वासना सब दूर हों, हम पाप चेष्टा परिहरें।
निज धाम में विश्राम दो, आनन्द मंगल उर धरें॥
सद् युक्ति से विज्ञान हो, निज दास पर करुणा करो।
यह प्रार्थना है आप से, सब दीन की भ्रमणा हरो॥
पितु मातु सुत परिवार सब, संगी नहीं दुःख फन्द में।
भ्रम जाल को नित त्याग कर, हों मग्न ब्रह्मानन्द में॥

टिप्पणी (१)—कलियुग में मन की एकाग्रता व अश्वमेध आदि यज्ञ और तप नहीं बनते, अतः सप्रेम प्रार्थना (कीर्तन) करना कल्याण प्रद है।

टिप्पणी (२)—विचार द्वारा जीव चेत होकर सद्गुणों को धारण करता हुआ ईश्वर की विनती करके यह सब कष्टों से मुक्त हो परम गति पाता है।

शुक्रवार को प्रातः समय की प्रार्थना।

सर्वेश हे करुणायतन, निज शरण में प्रभु लीजिये।
मम चित्त में नित ध्यान हो, अब कृपा दृष्टी कीजिये॥
तुम पतित पावन बहु किये, मुझ अधम को भी तारिये।
पद पंकजों में प्रेम दो, जग जाल से निस्तारिये॥
हों नीति के व्यवहार सब, दुर्वासना को जार के।
निष्काम जन का संग दो, शान्ती लहें मन मार के॥
विनती यही है प्राणपति, सब दीनता आपति हरो।
आनन्द पावें जन तभी, दो धारणा शुभ वृति करो॥
बल आतमिक दीजे प्रभो, छल दम्भ मेरे दूर कर।
हे दुःख भंजन दास के, मद मोह संशय चूर कर॥
सुन प्रार्थना अब दीन की, कर दया ऐसी युक्ति दो।
नहिं काल को भूलें कभी, अज्ञान नाशे मुक्ति हो॥
मतिमन्द आया शरण तव, शुभ बुद्धि कीजे दास की।
सब प्राणियों से प्रेम हो, इच्छा न हो जन त्रास की॥
शुभ युक्ति पावें योग की, संयम करें मन प्राण का।
दो बोध ब्रह्मानन्द अब सुख होय पद निर्वाण का॥

(३) अज्ञान द्वारा मनुष्यों को महान् २ दुःख सहन करने पड़ते हैं और विचार पूर्वक ज्ञान होने पर सब कष्ट दूर हो नित्य आनंद प्राप्त होता है।

शुक्रवार को सायंकाल की प्रार्थना ।

जगदीश सुन यह प्रार्थना, हों सत्यधारी जन सभी ।
दुर्भावना सब दूर कर, नहिं होय व्याकुल मन कभी ॥
परनारी परधन त्याग दें, दुःख दोषकारी जानकर ।
दिन रैन सेवें पद युगल, सम दृष्टि पावें ज्ञान कर ॥
व्यवहार अनुचित नहिं करें, दुष्कर्म से बेमुख रहें ।
नित गर्व त्यागें लोभ भी, निष्काम होकर सुख लहें ॥
सब राग नाशें द्वेष भी, निर्दोष हों सब भाँति जन ।
शुभ भावना बढ़ती रहे, सत्संग हो पुनि शान्ति मन ॥
दो युक्ति ऐसी हे प्रभो, मन इन्द्रियों को जीत लें।
भ्रम जाल से छूटें तभी (४) निज ज्ञान में जब प्रीति दें ॥
हम याद रक्खें मृत्यु को, नहि भोग में आसक्त रहि ।
दृढ़ प्रेम ध्यावें आपको, उर शान्ति अन्तिम मुक्ति लहि ॥
जगदीश ऐसी कर कृपा, दुर्वासना सब नाश हों ।
आनन्द बढ़ता ही रहे, मम हृदय शुभ गुण राश हों ॥
उर नम्रता अरु शीलता, सद् प्रेम की धारा बहे ।
हो ध्यान ब्रह्मानन्द चिद, नित ज्ञान उजियारा रहे ॥

टिप्पणी—आनन्द प्राप्ति के लिये अपकर्मों को त्याग परोपकार व परमार्थ के कार्यों में लगे रहने से शान्ति प्राप्त होती है, इसमें भूल करना हानिप्रद है ।

शनिवार की प्रातःकाल की प्रार्थना

आनन्द दाता हे प्रभो, सुन टेर आरत जनन की ।
करके दया निज दास पर, पीड़ा हरो दुर्दिनन की ॥
भय कष्ट सारे दूर हों, नित ध्यान होवे प्रेम से ।
यह प्रार्थना है दीन की, कर्त्तव्य पालें नेम से ॥
अभिमान होवे नष्ट सब, मन भाव निर्मल कीजिये ।
दुर्वासना सब नाश कर, शुभ बुद्धि हमको दीजिये ॥
निज जनों को निस्तारिये, हो दास के रक्षक सदा ।
गम्भीरता शान्ति बढ़ै, आनन्द पावें सर्वदा ॥
निष्पक्ष कारज नित करें, नहिं पाप भागी हम बनें ।
भ्रम भेद दृष्टी त्याग कर, सब रङ्क राजा सम गिनें ॥
एकान्त में तुझको भजें, जग वासना बिसराय के ।
अज्ञान मन का दूर हो, निज रूप आतम पाय के ॥
यह प्रार्थना है आप से, कीजै दया जन दीन पर ।
लख योनि चौरासी छुटें, (५) सब नरक पीड़ा छीन कर ॥
हम तजें इच्छा भोग की, मन प्रेम केवल सार हो ।
है चाह ब्रह्मानन्द पद, वर ज्ञान का संचार हो ॥

टिप्पणी (५)—नरकों व चौरासी लाख योनि में अपार कष्ट होते हैं, मित्र, बान्धव, सहायक नहीं होते, अतः कष्ट तरने के लिये नित्य प्रार्थना कीजियेगा ।

शनिवार को सायंकाल की प्रार्थना ।

हे पापहारी कर दया, निज दास के सब दुःख हरो ।
भय काल का भी नष्ट कर, दे ज्ञान अतिशय सुख करो ॥
उद्धार कीजे वेग प्रभु, मम नाव भवसागर परी ।
ऋषि-नारि तारी दयानिधि, सब पाप दुर्गति परिहरी ॥
हे दीन बन्धो शरण तव, अवगुण सभी हर लीजिये ।
होवें मनोरथ सफल, आनन्द सब विधि कीजिये ॥
जग राग तज विश्वास हो, अनुराग तुम में अति घना ।
शुभ भाव हों धीरज सदा, सद्गुण धरें हम प्रति दिना ॥
एकाग्र होवे चित्त वृत्ति, दुर्वासना बिसरायँ हम ।
नित सात्विकी भोजन करें, अरु अल्प सादा खायँ हम ॥
विषयी जनों को त्याग दें, आचार अतिशय श्रेष्ठ हो ।
सब प्राणियों से प्रेम रह, अरु धारणा शुभ दृष्टि हो ॥
सद धर्म पालें नेम से, दुर्मति कुसंगति त्याग कर ।
शुभ युक्ति पावें परम पद, विज्ञान में नित जाग कर ॥
सब शोक चिन्ता त्याग दें, यह कृपा दृष्टि धारिये ।
जन पायँ ब्रह्मानन्द को, झूंठी अविद्या टारिये ॥

टिप्पणी (६) सांसारिक पदार्थों की तृष्णा करना दुःखदायक है और संतोषी होकर ईश्वर से विनती करने पर अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त होती है ।

श्री मानव सेवा समिति द्वारा संचालित

नेशनल पब्लिक स्कूल

शिवाजी पार्क, अलवर

नं० 5099

दिनांक 9-7-90

श्री Satnam Sharma अभिभावक छात्र

कक्षा VI से रु० 75/- अंकेन Birthday सहायतार्थ

एवं चन्दा X माह July 90 के सधन्यवाद

प्राप्त किए ।

रु० 35/-

ह० प्राप्तकर्ता

आदित्यवार को प्रातः समय की प्रार्थना।

हे सृष्टि नायक दयानिधि, यह प्रार्थना है आप से।
सद मार्ग में आरूढ़ हों बचते रहें बहु पाप से॥
सात्विक हमारे भाव हों, लवलीनता तुम में सदा।
कर्त्तव्य पालें धर्म युत, संतुष्ट रहवें सर्वदा॥
उत्साह मन में हों बहुत, शुभ बुद्धि आस्तिक धार कर।
सदभाव होवें दास के, नित काम क्रोधहि मार कर॥
हो त्याग मादक वस्तु का, सद्गुणों का नित बल रहे।
लखि एक रूप अनुप विभु, उर प्रेम धारा जल बहे॥
अज्ञान होवे दूर सब, आगम निगम विश्वास हो।
उपकार में श्रद्धा बढ़े, दुर्भाव त्यागें दास हो॥
करुणा निधे विनती यही, निज कृपा द्रष्टी धारिये।
मैं किये अत्याचार बहु, सम गज अजामिल तारिये॥
ममता अहंता नष्ट कर, सब ही दुराशा दाग दो।
हो नष्ट इच्छा भोग की, निज रूप में अनुराग दो॥
आनन्द पावें हम सभी, विभु आत्मा का ध्यान हो।
लहि पूर्ण ब्रह्मानन्द तब, जब एक चैतन ज्ञान हो॥

टिप्पणी (७) वेद, शास्त्रों व सर्वज्ञों के वाक्यों को सत्य जानने पर शीघ्र कल्याण होता है, उसको आस्तिक वृत्ति कहते हैं अन्यथा संशय दूर नहीं होते।

आदित्यवार की सायंकाल की प्रार्थना

हे ज्ञानदाता विश्वपति, अज्ञान सब हर लीजिये।
हो नम्रता का भाव दृढ़, हिय मध्य शान्ती दीजिये॥
नहिं दुःख देवें और को, सब के हितैषी हम रहें।
भय दूर हों संशय सभी, श्रद्धा निगम आगम लहें॥
संतोष राखें चित्त में, अरु भजें प्रतिदिन नाम को।
जग दुःख सब ही दूर हों, ध्रुव तुल्य दो-निज धाम को।
तुम पतित पावन हो सदा, मुझ अधम को भी तारिये॥
मैं दीन होकर शरण ली, प्रभु कृपा दृष्टी धारिये॥
नित दम्भ त्यागे क्रूरता, भयदोष संकट दूर हों।
गुरु सीख को उर धार के, आनन्द से भरपूर हों॥
हे भक्त वत्सल दया कर, सद् भक्ति में दृढ़ प्रीति दो।
सब नीच संगीत त्याग के (८), सत्संगती शुभ नीति दो॥
हम शान्ति पावैं रैन दिन, संसार से मन मोड़ के।
है याचना जन की यही, दो मुक्ति बंधन तोड़ के॥
बहु श्रेष्ठ साधन पुष्टकर, नित एक आतम ध्यांय हम।
अब मिले ब्रह्मानन्द गति, निर्वाण शान्ती पांय हम॥

टिप्पणी—(८)—सत्संग के प्रभाव को सब, वेद, शास्त्र अपार लिखते हैं। इसलिये कुसङ्गति को त्याग कर नित्य-प्रति सत्पुरुषों का सङ्ग करना श्रेयस्कर है।

सोमवार को प्रातः समय की प्रार्थना

सब दुःख हरता दास के, प्रभु दया हम पर धारिये।
स्वाध्याय हो नित नेम से, जग जाल से निस्तारिये॥
दुगुणों को हम त्याग दें, सद्वृत्ति को उर धार के।
उपकार करहिं दीन पर, दुर्वासना को मार के॥
गुण शील धारण हम करें, पितु मातु सेवा प्रीति सों।
पुनि त्याग अत्याचार सब, राखें कपट नहिं मीत सों॥
सत्कार आतिथ दीजिये, बल वैश्व होवे सदगत
दुस्संग त्यागें शीघ्र प्रभु, दो संग सज्जन शुभमती॥
जगदीश ऐसी कर कृपा, (९) हम हवन में संलग्न हों।
सद्भाव होवें चित्त में, कर्त्तव्य पालन मग्न हों॥
दुर्भोग्य इच्छा नष्ट कर, निज ध्यान अविचल दीजिये।
सब शक्ति पूरण ईश हो, सम दृष्टि मेरी कीजिये॥
हे भक्त रक्षक कर दया, परमार्थ की अभिलाष हो।
बहु नींद आलस त्याग कर, नित परम सुख की आश हो॥
विध्वंस हो माया पटल, दुर्बोध सब ही दूर कर।
जन पाय ब्रह्मानन्द को, उर शान्ति से भर पूर कर॥

टिप्पणी (९)—हवन व अतिथि सत्कार करने पर सब देवता प्रसन्न हो समय पर वर्षा व उपद्रवों से रक्षा करते हैं इसलिये हवन आदि अवश्य कीजियेगा।

सोमवार को सायंकाल की प्रार्थना ।

जगदीश अच्युत प्राणपति, सब दीन जन को तारिये ।
हों दूर सब संताप अब, निज कृपा दृष्टि धारिये ॥
दुर्व्यसन त्यागें यत्न से, सत्पात्र हो दानी बनें ।
रहे नम्रता अरु शीलता, दें मान नहिं मानी बनें ॥
माता-पिता की भक्ति से, मन होइ कोमल सर्वदा ।
निज धर्म को दृढ़ धार कर, सद तीर्थ को सेवें सदा ॥
निन्दा पराई त्याग दें, निर्वैर होवें प्रति दिना ।
भोजन कमाई का करें, मन शुद्ध होता अति घना ॥
शुभ भाव निश्चय दीजिये, (१०) शान्ती दया भरपूर हो ।
संतोष धीरज नम्रता, सद् प्रेम में मन चूर हो ॥
बन जांय दोनों लोक तब, सम आत्मा जग जान कर ।
सब इन्द्रियों को जीत कर, शुभ धारणा हो ध्यान वर ॥
मन ताप सब ही नष्ट हों, तव शरण ले सुख पांय हम ।
बैकुण्ठ में ही बास दो, इस लोक में नहिं आँय हम ॥
निष्काम ध्यावें आपको, एकान्त वासा दीजिये ।
हो बोध ब्रह्मानन्द का, संसार दुःख हर लीजिये ॥

टिप्पणी (१०)—वेद, शास्त्रों के द्वारा सर्वज्ञों ने दया, प्रेम, नम्रता, संतोष, शान्ति, क्षमा, धीरज यह सात रत्न निकाले हैं, इनकी धारणा करना मुक्तिप्रद है ।

मंगलवार को प्रातः समय की प्रार्थना

सद न्यायकारी हे प्रभो, लखि दीन रक्षा कीजिये ।
हो शुद्ध मन की भावना, वर युक्ति सोई दीजिये ॥
सुग्रीव अंगद भक्तवर, ली ओट तव भूपति किये ।
प्रहलाद ध्रुव को भक्ति दी, अरु सृष्टि के अधिपति किये ॥
दीजे वही शुभगति प्रभो, नहिं दुःख पावें जगत् में ।
हर लीजिये अज्ञान सब, हो ज्ञान निर्मल शक्ति में ॥
सेवा समिति के वीर हों, (११) दो प्रेम सेवा सर्व की ।
कर्त्तव्य को भूलें नहीं, जड़ नष्ट होवे गर्व की ॥
शुभ सीख धारण हम करें, अप-कर्म त्यागें जानकर ।
उर नम्रता का भाव हो, संतोष में सुख मान कर ॥
वर युक्ति साधन पायँ हम, उपदेश लें गुरु शरण हो ।
सब दास के बंधन कटें, पुनि जन्म अरु नहिं मरण हो ॥
मन शोक संकट दूर हों, सद ओम् के अभ्यास से ।
शुभ धारण सम दृष्टि कर, जन मुक्त हों भव त्रास से ॥
संसार सागर गहन है, नर बहे गहरी धार में ।
निज ज्ञान ब्रह्मानन्द दो, रह लीन जगदाधार में ॥

टिप्पणी—(११) सर्वेश्वर के अङ्गरूप जीवों की सेवा व प्रेम करना आनन्दप्रद है, और गर्व, स्वार्थ से किसी भी जीव को सताना सब अनर्थों का कारण है ।

मंगलवार को सायंकाल की प्रार्थना ।

हे विश्वनायक दयानिधि, दुःख दोष सब हर लीजिये ।
ली शरण केवल आपकी, मम बुद्धि अविचल कीजिये ॥
अपराध जन के भूलकर, निज कृपा दृष्टि धारिये ।
सन्मार्ग का प्रभु दान दो, दुर्बुद्धि अवगुण टारिये ॥
सब कष्ट हरिये वेग ही, यह प्रार्थना स्वीकार हो ।
शुभ संगती दो जनन को, सेवा समिति सत्कार हो ॥
दो नम्रता और शीलता, सद् धारणा समता बढ़ें ।
संसार त्यागें वासना, तब प्रेम की नवका चढ़ें ॥
करुणानिधे यह वीनती, सुन दीन का मन शान्त हो ।
नित योग संयग ध्यान पुनि, सद् युक्तिवर वेदान्त दो ॥
हित विश्व का चाहें सदा, नहिं कपट राखें मीत से ।
निज आत्मा को लक्ष्य कर, नित ध्यान जोड़ें प्रीति से ॥
यम नियम सब ही पुष्ट हों, चिन्तन ब्रह्म अतिशय करें ।
वैराग्य और अभ्यास दो, (१२) मम चित्त का संशय हरें ॥
सब पाप आपति दूर कर, अरु नाश हो भव कूप का ।
है एक ब्रह्मानन्द पद, दो ज्ञान अविचल रूप का ॥

टिप्पणी (१२)—अभ्यास का फल अनन्त है विचार द्वारा सब संशय नष्ट होते हैं परमार्थ चाहने वालों को अपने २ अभीष्ट का सदा अभ्यास करना चाहिये ।

बुधवार को प्रातः समय की प्रार्थना

सब दुःख हरता कृपानिधि, भव कष्ट से जन पार हों।
वृत ब्रह्मचर्या धार के, स्वाध्याययुत सुविचार हों॥
आजीविका हो धर्म की, अपकर्म से मन मोड़ दो।
संकल्प चित के नष्ट कर, सत्संग में जन जोड़ दो॥
व्यवहार की हो शुद्धता, दृढ सत्य पालन सार हो।
संतोष राखें नित्य प्रति, प्रभु नाम का आधार हो॥
तज चपलता धीरज गहें, विश्वास दे नहिं हटें हम।
अरु बांट कर भोजन करें, परब्रह्म को नित रटें हम॥
पुनि त्याग मादक वस्तु सब, (१३) सद्भाव प्रतिदिन धारके।
होवें मनोरथ सफल नित, दुष्कर्म दुर्मति टार के॥
सत्कार सज्जन का करें, दिन रात सुमिरें इष्ट को।
सद शान्ति पावें धीरता, अभ्यास से सम दृष्टि हो॥
आहार थोड़ा शयन कम, परमार्थ का दृढ ज्ञान दो।
संतोष पर उपकार का, स्वामी हमें शुभ दान दो॥
हे दया सागर जनों को, साधन चतुष्टय दीजिये।
हो बोध ब्रह्मानन्द का, कैवल्य मुक्ति कीजिये॥

टिप्पणी (१३)—मादक पदार्थों का सेवन करना व्यवहार व परमार्थ दोनों का विरोधी है अतः सब का त्याग करना आनन्ददायक है।

बुधवार को सायंकाल की प्रार्थना ।

दुःख भंजन विश्वपति,अब द्रवो अति । न
कर्त्तव्य शुभ बनते नहीं, कीजे दया आधीन पर ॥
हों ब्रह्मचारी हम पढ़ें, विभुदेव का उर ध्यान हो ।
पर नारि पर धन त्याग दें, दुर्वासना की हानि हो ॥
तज दुष्ट संगति दोषयुत, व्रत सत्य को अपनांय हम ।
पर हास निन्दा त्याग के, गोविन्द के गुण गायँ हम ॥
मन शुद्ध रह बोलें मधुर, सत्कार सब का हम करें ।
शुभ भाव धारें चित्त में, हित सभी का हर दम करें ॥
ऐश्वर्य पाकर तजें मद, (१४) नित दया शान्ति दीजिये ।
दृढ़ प्रेम संयुत होय मन, आनन्द सब विधि कीजिये ॥
संसार प्रीती त्याग कर, संतोष गति निष्काम हों ।
वरदान हमको दीजिये तव धाम में विश्राम हों ॥
अद्वैत अक्षर शान्त अज, सद्ज्ञान सुख आधार तुम ।
निस्संग चिदनिर्गुण अचल, दो बोध आतमसार तुम ॥
वैराग्य होवे धारणा, दो युक्ति उत्तम मनन की ।
निर्वाण ब्रह्मानन्द पद, गति वही की जनन की ॥

टिप्पणी—(१४) जिसने गर्व किया है वह अधोगति को प्राप्त हुआ, गर्व प्रहारी भगवान प्रसिद्ध हैं, अतः नम्रता से कर्म भक्ति और ज्ञान सब सफल होते हैं ।

कष्ट पड़ने पर दीन जनों की प्रार्थना।

कल्याण करता देव तुम, यह प्रार्थना सुन लीजिये।
केवल सहारा आपका, संकट निवारण कीजिये॥
बहु पतित पावन तुम करे, मुझ अधम को भी तारिये।
सब शक्ति व्यापक आप हो, बहु व्याधि जन की टारिये॥
अपराध करिये सब क्षमा, है विनती मेरी यही।
मन मोह संशय दूर कर, स्वामी शरण तेरी गही॥
यह टेर जन की वेग सुन, (१५) भय दोष दुर्गति दूर कर।
सब शोक मन के नष्ट हों, सुख सम्पदा भरपूर कर॥
शबरी उबारी भीलनी, सब भांति से रक्षा करी।
यश नाथ गाऊँ कहां तक, जन दीन की विपता हरी॥
भव सिंधु में डूबत विभो, गण राज सम निस्तारिये।
सम द्रोपदी निज दास के, सब दुःख चिन्ता टारिये॥
दुर्भाव छूटें चित्त से, शुभ शक्ति बल प्रभु दीजिये।
पीड़ा हृदय की नष्ट हो, मन शान्त मेरा कीजिये॥
दो प्रेम भक्ती नम्रता, सुख होइगा प्रति-दिन तभी।
हो ज्ञान ब्रह्मानन्द का, कल्याण पावें जन सभी॥

टिप्पणी—ईश्वर का कीर्तन करके सब तरते हैं, प्रेम नम्रता सहित प्रार्थना करने पर अवश्य कल्याण होता है अतः सदा प्रभु की विनती करना उचित है।

सब का सार (संक्षेप) रूप प्रार्थना

हे भक्त वत्सल ज्ञान मय, वर बुद्धि विद्या दान दो।
सत्संग और शुभ भावना, पद पंकजों का ध्यान दो॥
पितु मातु सेवा शीलता, गुरुदेव की अभिवन्दना।
श्रद्धा सहित जगदीश से, है विनती बहु बन्दना॥
दुःख दोष नाशें चित्त के, मद मोह संशय दूर हों।
बहु पाय के धन सम्पति, आनन्द से भर पूर हों॥
संतान इतनी योग्य हो, सद्वृत्ति धारे ज्ञान कर।
भय दोष तज कर हों सुखी, प्रभु चरण पंकज ध्यान धर॥
अपकर्म त्यागें गर्व भी(१६), हो दया सब पर प्रेम से।
संतोष धारें धर्म युत, हम रहें संयम नेम से॥
सद न्याय का बर्त्ताव हो, मन चेत राखेंगे तभी।
अपराध करके सब क्षमा, प्रभु दया धारोगे जभी॥
कर श्रेष्ट साधन हम रखें, विश्वास आगम निगम का।
बल आतमिक हो सिद्धवर, दो ज्ञान चैतन अगम का॥
दृढ़ होइ समता धारणा, शुभ ओम् के वर जाप से।
सब एक ब्रह्मानन्द लखि, हो मुक्ति भव संताप से॥

टिप्पणी (१६)— वेद, शास्त्रों का सिद्धान्त यह है कि अपनी आत्मा के तुल्य जीवों पर दया करना, सब धर्मों का मूल है और अत्याचार करना अधर्म है।

उच्च श्रेणी ओ३म् की उपासना व धारणा ।

लखि ओम् उत्तम धारणा, आगम निगम का सार यह ।
सब सृष्टि का है मूल पुनि, कल्याण का भण्डार यह ॥
पहिली अकार उकार द्वी, अरू तीसरी सुभकार है ।
वर विन्द चौथी मात्रा, यह अर्ध चन्द्राकार है ॥
हो रूप तुर्य्या ब्रह्मचिद, वह प्राज्ञ वपु ईश्वर परे ।
सूत्रातमा तैजस बनित, विराट विश्व तन वर धरे ॥
सत शास्त्र का यह भाव है, अश्वत्थ बरु गीता भने ।
है मूल ऊंची पीड़ मधि, संसार तरु नीचा बने ॥
यह अर्थ अद्भुत जान कर, लहि ज्ञान ओम् प्रकार का ।
जन पाप उन्नति लोक दो, हो नाश भय संसार का ॥
रवि के उदय और अस्त में, दो काल संध्योपासना ।
जपिये निरन्तर ध्यान युत, सब दूर हों दुर्वासना ॥
जो कामना युत जप करें, वह सत्य पूरण काम हो ।
निष्कामता से मुक्ति लहि, निर्वाण पद विश्राम हो ॥
कर प्रार्थना नित ईश की, जन छुटें भव-भय ताप से ।
अरु मिले ब्रह्मानन्द पद, इस ओम् के नित जाप से ॥

टिप्पणी—(१७) विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, ब्रह्म, इन चारों मात्राओं से सब सृष्टि का विस्तार हुआ है और सब वेद, वेदान्त आदि शास्त्रों का ओ३म् मंत्र शास्त्र है ।

सच्चे महात्मा की प्रार्थना

साधारण मनुष्यों की प्रार्थना कह कर अब सच्चे सच्चे महात्माओं की प्रार्थना पर कुछ प्रकाश डालते हैं:—

जो सच्चे महात्मा हैं वे प्रथम से ही अपने आश्रमों में स्त्रियों की छाया भी पड़ने नहीं देते, और ब्रह्मध्यान के प्रभाव से जहाँ उनकी मान्यता बढ़ने लगी कि ये उनको माया का छल समझ कर लोगों से सर्वदा दूर रहने का ही प्रयत्न करते हैं ❀ । और परमात्मा से ऐसी प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु ! ब्रह्मानन्द के लेश मात्र के आनन्द से कोटि २ अंश के बराबर भी हम आनन्दी नहीं हुए हैं, तो भी हे पूर्ण ब्रह्म श्री रामचन्द्र जी केवल आपके ध्यानमात्र से लोग हमें साक्षात् ईश्वर या ब्रह्मरूप ही समझते हैं, वैसे हम कब होवेंगे ? हे परमात्मन् ! कब कृपा करोगे ? पतित पावन करुणा निधान ! भोले लोग तो हमारी भीतरी भली या बुरी वृत्ति को नहीं जान सकते, पर हे रघुनन्दन ! आप तो पूर्ण अन्तर्यामी हैं इससे लोग जैसा हमें समझते हैं वैसा हमें सर्व सामर्थ्यमय पूर्ण ब्रह्मरूप करने की शीघ्र ही कृपा कीजिये। ऐसा परमात्मा का स्तवन किया करते हैं, और ब्रह्मध्यान में लवलीन रहते हुए भी विषय विलास रहित दीन चित्त से रहते हैं। क्योंकि वे यह भली भांति समझते हैं कि जिस पूर्ण ब्रह्म की एक लेश मात्र सत्ता से ब्रह्मादि देवताओं में अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है तो फिर वह ब्रह्म हमारे समान शक्ति रहित या शववत् अथवा जड़ रूप कैसे हो सकता है ? चाहे कितने ही निर्विकल्प रूप से ब्रह्म की आराधना की जावे ब्रह्म का अलौकिक सामर्थ्य रूपी गुण तो प्राप्त होता ही है। "यदि कोई भोजन करने पर भी हमारी क्षुधा निवृत्त नहीं होवे" "अथवा भोजन करने से क्षुधा निवृत्त हो जाती है" ऐसा (पागल आदि) नहीं जाने और भोजन करे तो उसके निर्विकल्प होने पर भी तृप्तिरूपी फल अवश्य ही प्राप्त होता है। अथवा सर्व प्राणीमात्र रात्रि को निद्रा में भी सर्वदा ब्रह्म में ही लीन होते हैं, इस तत्त्व को वे नहीं जानते तो भी उन्हें उस पूर्ण ब्रह्म की शक्ति से दूसरे दिन व्यवहार आदि कार्य करने की शक्ति ज्यों की त्यों ही प्राप्त हो जाती है, तो फिर जो जान-बूझ कर पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करते रहते हैं उनमें इस पूर्ण ब्रह्म की सर्व सामर्थ्यमय अलौकिक शक्ति क्यों नहीं प्राप्त हो सकेगी ? अवश्य ही होती है। वेदान्त ग्रन्थों में ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, ऐसा कथन किया है उसका तत्व यही है कि उस ब्रह्मनिष्ठ को सविकल्प (सकाम) कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि उसको ब्रह्मानन्द के अलौकिक सुख और सर्व सामर्थ्यमय हो जाने के कारण तृणवत् विषय विलास के सुख की कदापि इच्छा ही नहीं हो सकती। क्योंकि जहाँ उसकी पंचीकरण के तत्व और श्री सद्गुरु के इँगित द्वारा भक्तिमय ध्यान योग से दृढ़ ब्रह्म स्थिति हुई कि फिर उसको अनेक प्रकार के साधन करके व्यर्थ परिश्रम करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि वह पंचीकरण के विचार से प्रथम तो विरक्त हो जाता है, फिर श्री सद्गुरू के संकेत द्वारा भक्तिमय ध्यान योग से किञ्चित काल में ही सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् होकर साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही बन जाता है। जैसे कि टीन या मिट्टी आदि का पात्र तेल और बत्ती, यह साधन एकत्र कर, दियासलाई

❀ क्योंकि—व्यास बड़ाई जगत की, कुत्ते की पहिचान। प्यार किये मुँह चाटई, वैर किये तन हान ॥

लगाई कि उस दीपक में दाहकता उष्णता (जलाने की शक्ति तक और प्रकाश) आप ही आप प्रकट होकर वह दीपक आप भी अंधकारादि को दूर करने आदि में सामर्थ्यवान् होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है। ऐसे ही मुमुक्षु प्रथम पंचीकरणादि के द्वारा स्थूल, सूक्ष्मादि देहों से पृथक् रहने का प्रकार और जीवेश्वर की ऐक्यता का तत्व पूर्णरूप से समझा कि श्री सद्गुरू के इंगित पूर्वक भक्तिमय ध्यान योग से वह सच्चिदानन्द रूप पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ ही हो जाने से सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ही हो जाता है। क्योंकि जीव और ईश्वर वास्तव में एक ही स्वरूप हैं परन्तु अविवेकियों को अविद्या के कारण उनमें भेद प्रतीत होता है। पर श्री सद्गुरू के दर्शाए हुए मार्ग द्वारा भक्तिमय ध्यान योग का साधन करने से अविद्या नष्ट हो जावे तो दोनों (जीव और ईश्वर) एक रूप ही हो जाते हैं। क्योंकि साक्षी स्वरूप में प्रतिबिम्ब रूप आभास हुआ कि द्वैत अभिमान से जीव रूप भासता है, पर अहंकार का जब अद्वैत पद में लय हो जाता है तब जीव स्वरूप आप ही आप ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाता है।

नास्तिक मत खण्डन।

राजा रामसिंह और स्वामी पं० केशवानन्द जी महाराज का संवाद।

राजा— हे भगवान्! वेद को प्रमाण मानने में क्या प्रमाण है। यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मानोगे तो वादियों का परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये। और हेतु के न होने से अनुमान प्रमाण भी नहीं है। यदि उपमान प्रमाण मानोगे तो सापेक्ष प्रमाणता माननी होगी। और शब्द प्रमाण को भी नहीं कह सकते। क्यों कि कौन शब्द यहां प्रमाण मानोगे सो कहिये। (तस्मादजायत) ईश्वर से वेद प्रकट हुए इत्यादि वेद मन्त्रों को ही प्रमाण मानोगे तो बनेगा नहीं। क्योंकि अपने में अपने को प्रमाण मानने से आत्माश्रय दोष आता है। और स्मृतियों को परतः प्रमाण होने से प्रमाण नहीं हो सकता, बस या तो इसका आप समाधान करें या आप भी अवैदिक मत ग्रहण करें।

स्वामी जी—राजन्! अपनी शंका का समाधान श्रवण करो, जैसे घटादिक पदार्थों का सूर्यादि के प्रकाश द्वारा प्रकाश होता है इससे सो पदार्थ परतः प्रकाश्य कहे जाते हैं। और सूर्यादि के प्रकाशार्थ अन्य प्रकाश की अपेक्षा न होने से सूर्यादि स्वतः प्रकाश कहे जाते हैं। इस प्रकार सूर्यादि तेजरूप सर्व पदार्थ विचारने से प्रकाशरूप ही सिद्ध होते हैं। इस कारण जैसे सूर्यादि को स्वप्रकाश होने से स्वतः प्रमाण है। वेद भी स्वतः प्रमाण है। और सर्वज्ञता के अभाव से जीव वेद के कर्त्ता हो भी नहीं सकते। सर्वज्ञ ईश्वर के सिवाय न कोई हुआ और न होगा। किंच जीव को सर्वज्ञता ईश्वर की उपासना ही से मानी जाती है। इस कारण वेद का कर्त्ता ईश्वर ही आपको मानना चाहिये। यज्ञदानादि-साधन स्वर्गमोक्षादि फल-देव, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष

राक्षसादि गण जो जो पदार्थ पुरुषों ने कभी देखे भी नहीं सो २ पदार्थ वेदों में कहा है। हे राजन्! जीवों के ज्ञान के अगोचर जो पदार्थ हैं सो भी वेद में कहे हैं। इस प्रकार वेद का कर्त्ता ईश्वर ही सिद्ध होता है, अनेक शाखाओं के भेद स्वर्गादि के भेद से अनंत वेदों का ईश्वर ने ही निर्माण किया है। और मनु व्यासादि महर्षियों ने वेदों के व्याख्यान किये। और वेदार्थ का स्वयं भी अनुष्ठान किया है। आपको भी वेदों की प्रमाणता में संदेह न करना चाहिये। इस प्रकार विद्या दिवाकर के अज्ञानान्धकारनाशक वचनों को श्रवण करके राजा ने आस्तिक और नम्र होकर सत्यप्रिय वचन बोले।

राजा— हे स्वामीजी! देखो यह मेरा अज्ञान है जो मैंने २५ वर्ष बाद अज्ञान और अहंकार में खोये, गुरु बिना अज्ञान की निवृत्ति और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति नहीं होती और गुरु द्वारा वेदों के विचार बिना नास्तिकता की गंध भी दूर नहीं होती। आज मेरे पुण्यों के उदय होने से श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु का यहां समागम हुआ। विद्या के लाभ द्वारा सीधा मार्ग मिल गया है। (तत्त्वमसि) आदि महावाक्यों का यथार्थ अर्थ भी मेरी दृष्टि के सामने घूमने लगा है। जिसको मैं पहले कपोल कल्पित समझा करता था। आज मेरी अयोध्याजी की यात्रा भी सफल हुई। इस प्रकार कह कर राजा ने श्रीस्वामीजी को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर विधिवत् अनेक प्रकार की सामग्री से पूजन किया। इसको देख उनके साथी बौद्ध मतावलम्बी पंडितों को बड़ी ईर्ष्या हुई। और इन्होंने श्री स्वामीजी के सम्मुख अनेक प्रकार के प्रश्न किये। परन्तु योग्य उत्तरों को सुनते ही शान्त हो गये। वे भी हठ त्याग कर वैदिक हो श्री स्वामी जी के शिष्य हो गए।

(केशव लीला)

कलकत्ता—पं० गोविन्द शास्त्री और स्वामी पं० केशवानन्द महाराज का संवाद

गोविन्द शास्त्री—हे स्वामिन्! परमेश्वर की सिद्धि में कौन प्रमाण प्रवृत्त होता है? ईश्वर को इन्द्रियों का विषय न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण तो बनता ही नहीं, अनुमानादि प्रमाणों को हम मानते ही नहीं, जो प्रत्यक्ष प्रमाण से दीखे उसी को मानते हैं, अन्य को नहीं। धूमरूप व्याप्त और अग्नि रूप व्यापक के सम्बन्ध व्याप्ति को बिना जाने ही, गौ चराने वाला धूम को देख कर अग्नि को शीघ्र ही जान लेता है। इस प्रकार अनुमान को हम प्रमाण ही नहीं मानते और उपमेय का साक्षात् प्रत्यक्ष ही होता है, इसके लिये उपमान प्रमाण भी आवश्यक नहीं। और पूर्व उत्तर वाक्यों का परस्पर विरोध होने से वेद भी व्याकुल है, इसलिये उसको भी प्रमाण नहीं है अर्थात् वेद से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। वेद को प्रमाण न होने से स्वर्ग, मोक्ष, देवता और दैत्य भी कोई नहीं है, इस कारण जो प्रत्यक्ष है वही वस्तु है

दूसरी है ही नहीं। शरीर से भिन्न जीव कोई है ही नहीं और ईश्वर सर्वथा नहीं है। इस प्रकार गोविन्द शास्त्री ने नास्तिकों का शिरोमणि बन कर उनके मत को स्थापन किया। तत्पश्चात् श्री गौतम के समान श्री स्वामी जी ने सिंह गर्जना करते हुए कहा।

श्री स्वामीजी— हे ब्राह्मण! सुनो, ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण है, उत्पत्तिमान होने से सर्व कार्यों का कर्त्ता मानना आवश्यक है, सर्वज्ञतादि गुणों के अभाव से जीव जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता, इस कारण कार्य मात्र का कर्त्ता ईश्वर ही है। यदि आप कहें कि हम प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जा सकते वे अनुमान प्रमाण से जाने जाते हैं, अन्य पुरुष में भ्रम, संदेह, ज्ञान और अज्ञान का प्रत्यक्ष से कैसे ज्ञान हो सकता है, वहां केवल अनुमान ही प्रमाण मानना चाहिये। और यदि पुरुषान्तर के भ्रमादि को अन्य जानते हों तो अपनी सर्वज्ञता दिखलायें, यदि आप अपने को सर्वज्ञ मानते हों तो बतलाओ इस समय हमारे मन में क्या है? दूर देश के पदार्थों और सूक्ष्म पदार्थों का क्या स्वरूप है सो वर्णन करो। जिससे कि सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें स्थित है और जिसमें लीन हो जाता है, सोई ब्रह्म जगत् का कर्त्ता-भर्त्ता और हर्त्ता है, ऐसा समझो।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"

जिससे यह सब उत्पन्न होते हैं इत्यादि वेद वाक्य भी जगत् का कर्त्ता ईश्वर को ही बोधन करता है और वेद में पूर्व, उत्तर विरोध का लेश भी नहीं है सो भी दिखाते हैं सुनो—यज्ञ में सोमवल्ली के पीने से अमर हुए ऐसा वेद के कर्म काण्ड में कहा है। और जैसे कर्म से उत्पादन किये खेत आदि नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कर्मों के फल भी स्वर्ग भोग के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। ऐसा वेद के ज्ञान काण्ड (वेदान्त) में निरूपण किया है। इस प्रकार वेद में विरोध दीखता है, ऐसा मत कहो, क्योंकि चिरकाल भोग को अविनाशी कहा है, जैसे मनुष्यों के समान शीघ्र न मरने से देवता भी अमर कहाते हैं। किञ्च शब्द को जो आप प्रमाण न मानेंगे तो अर्थ का भी बोध न होगा, तो शब्द प्रमाण रूप आपके ग्रन्थों को सार्थकता कैसे होगी? उपमान प्रमाण को प्रथक् मानो, जगत् का कर्त्ता ईश्वर तो सिद्ध हो ही गया है। तो भी विद्वानों के विनोदार्थ "खण्डन खण्ड खाद्य" युक्ति को आश्रयण करते हैं। किसी न किसी प्रकार मक्कार नास्तिकों का तिरस्कार तो होना ही चाहिए। (१) कुत्सित (२) प्रतिक्षेप (३) प्रश्न (४) वितर्क, इन चार अर्थों में किं शब्द प्रवृत्त होता है। ईश्वर में क्या प्रमाण है इस वाक्य में किं शब्द का कौन अर्थ है सो कहो, मैं सब प्रकारों का खण्डन करता हूं। कुत्सित अर्थ के ग्रहण करने से कुत्सित प्रमाण है, ऐसा अर्थ होगा, तब हेतु कहना चाहिए। प्रतिज्ञा मात्र से साध्य सिद्धि की नहीं होती। साध्य का असाधक होने से दूसरे पक्ष के देने से निन्दा अर्थ नहीं घटता, जो साध्य का साधक प्रमाण होगा तो उसकी निन्दा करनी नहीं बनती, साध्य का असाधक होने से इस पक्ष का आश्रय करोगे तो साध्य का असाधक है और फिर प्रमाण है, ऐसा कहने से व्याघात दोष प्रवृत्त होता है। आक्षेप अर्थ लेने से ईश्वर में प्रमाण नहीं ऐसा प्रश्न वाक्य का अर्थ प्राप्त होने से न्यूनता दोष प्राप्त होगा। प्रतिज्ञा मात्र के कहने पर भी हेतु की उक्ति न होने से न्यूनता दोष इस पक्ष में और प्रथम पक्ष में भी लगेगा और वितर्क अर्थ में भी न्यूनता दोष लगेगा सो स्पष्ट कहते हैं। सुनो, ईश्वर में यह प्रमाण है अथवा अन्य प्रमाण हैं, ऐसा वाक्यार्थ

प्राप्त होगा, इसमें आपने कोई प्रमाण नहीं कहा इस कारण आप का न्यूनता दोष से छुटकारा कभी नहीं होगा। और प्रश्न अर्थ ग्रहण करने से जिज्ञासा प्रतीत होती है और ईश्वर की सिद्धि के प्रमाण की जिज्ञासा प्रमाण ज्ञान पूर्वक होती है। सो आपका प्रमाण ज्ञान यथार्थ है व अयथार्थ। प्रथम पक्ष में प्रमा ज्ञान प्रमाण को स्वतः सिद्ध करेगा सो प्रमाण ईश्वर की सिद्धि में निर्विघ्नता से प्रवृत्त होगा इस प्रकार बिना प्रयत्न ईश्वर की सिद्धि होने से अपका प्रश्न व्यर्थ है तो आप उसकी निवृत्ति में यत्न करो जिस प्रकार भ्रम की निवृत्ति और प्रमा की उत्पत्ति हो। इस कारण आप नास्तिक मत को त्याग कर वेद मार्ग को ग्रहण करो, आस्तिक पुरुष को ऐसा प्रश्न करना ही नहीं बनता। इस प्रकार विद्वानों की सभा में समाधान को श्रवण कर गोविन्द शास्त्री प्रमाण कर करने लगे।

पं० गोविन्द शास्त्री—हे भगवन्! आप ही साक्षात् ईश्वर हैं जिनकी ऐसी सामर्थ्य और प्रगल्भता है, धन्य है श्री स्वामी जी आपको, आपने माध्यमिकादि नास्तिकों का मत हमारे पाण्डित्याभिमान के साथ ही खण्डन कर दिया है तत्पश्चात् सब सभासद कहने लगे कि आज हमने श्रीराम रावण के युद्ध के समान यह शास्त्रार्थ देखा है इस प्रकार नास्तिक मत खण्ड रूप लीला करते हुए श्री स्वामी जी कलकत्ते से मकर संक्रान्ति पर्व पर श्री गंगा सागर संगम पर स्नानार्थ पधारे।

(केशवलीला से)

"अलौकिक उन्नति की भावना"

हम परमात्मा की महान् विभूति को नहीं समझ सकते और व्यर्थ में अपनी उन्नति का प्रलाप किया करते हैं। मैं समझ गया हूँ कि लौकिक उन्नति में कुछ सार नहीं है। अलौकिक वस्तु ही वास्तव में अनुभव करने की वस्तु है। मैं जान गया हूँ कि संसार कि उन्नति परमात्मा से हटाकर विनाश की ओर ले जाने वाली है। आज से मैं परमेश्वर-हीन उन्नति से विमुख होकर, अलौकिक उन्नति की ओर अभिमुख हो रहा हूँ। परमात्मा इस दुःखी दुनियाँ पर दया और अनुग्रह की निरन्तर वर्षा कर रहे हैं। परमात्मा के अनन्त उपकारों का स्मरण और चिन्तन कर मेरा हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है। अब मेरी उद्विग्नता और चित्त की चञ्चलता दूर हो गई है क्योंकि मैं अलौकिक उन्नति के मार्ग में स्थिर हो गया हूँ। मैं तो अब भयंकर से भयंकर भय उपस्थित होने पर और प्रलोभन आ जाने पर भी इस मार्ग से कभी भी नहीं हटूँगा। मैं संसार के यश, कीर्त्ति, ख्याति, धन,मान को पाने के लिये बहुत भटकता रहा और अन्त में इनकी निस्सारता का अनुभव हुआ कि ये अनात्म वस्तुएँ हैं। इनसे कुछ भी नहीं मिल सकता, इसलिये अब तो मुझे अन्तर्यामी-प्रभु के दर्शन किये बिना एक क्षण भी चैन नही मिलता। सोते, जागते, उठते, बैठते मेरा मन अब अन्तर्यामी व्यापक प्रभु पर ही केन्द्रित हो रहा है, उसके दर्शन करने पर ही मैं सब बन्धनों और महा-क्लेशों से मुक्त हो जाऊँगा। मुझे निश्चय है कि सच्ची उन्नति का इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

नोटः—प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा सायंकाल, शान्तचित्त होकर एकान्त स्थान में नेत्र मूंद बैठ जाओ, शरीर और मन को शिथिल कर लो। सब ओर से विचारों को हटा कर "अलौकिक उन्नति की भावना" पर दस मिनट चित्त को एकाग्र करो। दृढ़ता से उपर्युक्त भावना पर मन को लगाओ और तुम में "अलौकिक उन्नति की भावना" का दृढ़ संचार होगा।

ईश्वर पूजा की सफलता वा सिद्धि।

ईश्वर पूजा की सफलता वा सिद्धि बिना शरीर, मन, वाणी, बुद्धि और दृष्टि की स्थिरता के कदापि प्राप्त नहीं हो सकती अतएव इन पाँचों प्रकार की स्थिरता का कुछ विवरण यहां किया जाता है। पाठक! ध्यान देकर पढ़िये और इस परमार्थ साधन की कुञ्जी का लाभ उठाइयेः—

(१) शारीरिक स्थिरता—

परमार्थ साधन के लिये शरीर की स्थिरता भी अत्यावश्यक है क्योंकि इसके बिना भी चित्त परमार्थ साधन में नहीं लगता। शरीर के जिस अंग में कोई पीड़ा हो रही हो, चित्तवृत्ति वहीं टँगी रहती है, वहाँ से हिलती नहीं और चित्त के वहां से न हटने से किसी प्रकार का साधन नहीं हो सकता। इसलिए शरीर की स्थिरता भी परमार्थ साधन में अत्युपयोगी है। जो जो कारण शरीर की अस्थिरता के हों उन सब को दूर कर देना आवश्यक है, ताकि साधन के समय शरीर विघ्नकारक न हो।

शरीर की अस्थिरता प्रायः किसी व्याधि करके वा तमोगुण रजोगुण के अधिक प्रवेश करने से होती है। व्याधि को औषधि द्वारा शमन कर और तमोगुण रजोगुण के स्थान सतोगुण बढ़ाने से शरीर की स्थिरता स्थापन करनी चाहिए। यह शरीर अन्न जल का पुतला है, इसे इतना जल देना चाहिये जिससे यह अस्थिरता को प्राप्त न हो सके। और वह अन्न जल शुद्ध होना चाहिये। अन्न तो सदैव शुद्ध आजीविका द्वारा उपार्जित किया हुआ खाना चाहिये। युक्त निद्रा और युक्त कर्म चेष्टा भी शरीर की स्थिरता में सहकारी है। जिस पुरुष की निद्रा खंडित रहती हो और कर्म में प्रवृत्ति बहुत हो अर्थात् जो संसारी धंधों में रात-दिन मारा मारा फिरता हो कि रात्रि को भी पूरा आराम न कर सकता हो उसका शरीर प्रायः निष्क्रिय हो जाता है और अस्वस्थ सा रहता है इसलिये साधन के योग्य नहीं रहता, मस्तिष्क भी संसारी चिन्ताओं से भरा रहने से परमार्थ चिन्तन नहीं कर सकता। अतएव जो पुरुष चाहता है कि परमार्थ में सिद्धि प्राप्त करे उसे चाहिये कि प्रथम शरीर के निश्चल रहने का उपाय करे, जो-जो कारण अस्थिरता को उत्पन्न करने वाले हों उन सर्व को मूल से उखाड़ डाले और सदैव ऐसा यत्न करता रहे जिससे शरीर समभाव में बर्ते, प्रत्येक अङ्ग समता से व्यवहार करे, बाहर की मल कभी उसमें प्रवेश न करने पावे।

यह शरीर मंदिर है, इसे शुद्ध रक्खे। जैसे शुद्ध स्थान में चित्तवृत्ति अपने आप बिना प्रयास शान्त और एकाग्र होती है वैसे ही यदि शरीर को भी शुद्ध रक्खे तो इसमें बैठने वाला भी शान्त और

समाहित रहेगा। परमार्थ सिद्धि को मुख्य रखने से इस शरीर का ध्यान रखना चाहिये। कोई मलीन अन्न न खाया जावे, अशुद्ध जल न पीया जावे, अपवित्र कर्म कभी भी न हो, अयुक्त निद्रा का कभी सेवन न करे। इस प्रकार शरीर की स्थिरता सम्पादन करता रहे जिससे परमार्थ में कोई विघ्न न पड़े।

(२) वाणी की स्थिरता—

जिसकी वाणी सदैव चंचल रहती है वह भी परमार्थ साधन नहीं कर सकता। यह वाणी यदि स्थिर न हो तो विघ्न डालती है क्योंकि जब मनुष्य साधन करने बैठता है तो अनेक प्रकार की वाणी अन्तर फुरती रहती है जो एकाग्रता नहीं होने देती। जो-जो मिथ्या, क्रूर, कठोर और अनृत वाक्य दिन भर की बुरी भली सकल कथा अन्तर में (मन ही मन में) होने लगती है, मनुष्य कितना ही उस समय चाहे कि चुप हो जाय, परन्तु कुछ नहीं बनता क्योंकि वह वाणी तो अभ्यास से अन्तर में विकृत हो गई है, वह कैसे रुक सकती है? उसका रोकना तो जागृत अवस्था में दिन भर के प्रति व्यवहार में चाहिए। जो वाक्य बोलें वह अर्थवाला हो, जिससे दूसरे का वा अपना कल्याण हो, जो वाक्य कहें वह नम्रता युक्त हो, कोई क्रूर वाक्य उच्चारण न करें जिससे दूसरे का हृदय विदीर्ण हो जाय; सदैव मधुर वाक्य बोलें। कोई कठोर वाक्य न भाषण करें जिसे सुनकर दूसरा पुरुष उद्वेग को प्राप्त न हो और नित्य सत्य भाषण करें, कोई अनृत वाक्य न कहें जिससे अपना और पराया मन मलीन हो जाय, पाप का मल अन्तर (चित्त स्थान में) फैल जाय और ज्ञान के दीपक को बुझा देवे। यदि हम ऐसा प्रयत्न करें कि व्यवहार में जो बात मुख से निकले वह नम्र, मधुर, सार्थक और सत्य हो तो देखोगे कि कुछ काल पाकर अभ्यास से वाणी वश में आजयागी। जिस समय चाहेंगे, बोलेंगे, जिस समय न चाहेंगे न बोलेंगे। वाणी की ऐसी वशीकारता परमार्थ साधन के लिए अतिशय उपयोगी है। यह वशीकारता अभ्यास से प्राप्त हो सकती है। उचित है कि जब किसी से बोलने का अवसर न पड़े तो प्रेम से नाम जप करते रहें, चलते फिरते, वा जब कार्य से निवृत्त हों ईश्वर के नाम का जप जिह्वा से वा मन से करते रहें, कोई समय व्यर्थ बकने का न देवें। इस प्रकार अभ्यास करते करते वाणी स्थिर हो जायेगी और वश में आ जावेगी जिससे ऐसी योग्यता प्राप्त होगी कि स्वभावतः शुद्ध और कल्याणकारी निकलेगी और आत्मवश होने से साधन में सहकारी होगी। इसलिए वाणी को स्थिर करना बहुत ही आवश्यक है।

३ मानसिक स्थिरता—

मन की स्थिरता तो सर्व से मुख्य है। यह तो जीव का आन्तरीयकरण है, इसलिये इसे अन्तःकरण भी कहते हैं। इस द्वारा ही जीव संसार का सारा कार्य करता है। यदि यह हिलाता रहे तो कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, मन का आन्तरमुखी होकर जीव के वश में रहना ही मन की स्थिरता है। जब संसार के बाह्य विषयों को अपने चिन्तन से निकाल निर्विषय हो जावे और जीव के आधीन होकर रहे तो उस समय मन को स्थिर कहा जाता है। यह एकाग्रता बहुत ही आवश्यक है क्योंकि यदि मन बाह्य विषयों के चित्रों को ले लेकर सदैव चित्रकारी करता रहा तो जिस कार्य के लिये जीव संसार में आया है उसको खो बैठेगा और खाली हाथ यहां से पधारेगा। जिस कारीगर का हथियार ही निकम्मा है तो वह

वह कार्य क्या करेगा ? हथियार का उत्तम और तीक्ष्ण होना जरूरी है। इसी प्रकार जीवरूप कारीगर का मनरूप हथियार है। यदि वह शुद्ध और स्थिर न हो तो जीव कुछ कार्य नहीं कर सकता। यह मन दुष्ट अश्व की भांति बहुत कठिन ताप से वश में आने वाला है। शनैः २ विषयों में वैराग्य और ईश्वर में प्रेम कर अभ्यास करने से यह वश में आ सकता है। यह मन अपना आनन्दस्वरूप वास्तविक स्वरूप भूला हुआ विषयों में स्थान-स्थान पर ढूंढता फिरता है जिससे कहीं उसका पता लगे, यही कारण है कि यह किसी विषय को पाकर तृप्त नहीं होता, कुछ काल ठहर भी जाता है, फिर भाग निकलता है, जब तक यह अपने मूल तत्व की ओर नहीं चलता और चल कर उसे प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक डोलता ही रहता है कभी स्थिर नहीं होता। विषय चाहे कितने ही एकत्र कर देवें कभी स्थिर नहीं होगा, अवश्य उसमें कुछ त्रुटि देख कर भाग निकलेगा और अन्य विषय को चाहेगा, वह भी यदि प्राप्त हो जाय तो उसे लेकर भी कुछ काल ठहर फिर अस्थिर हो जायगा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मन किसी ऐसी वस्तु को चाहता है जो नित्य आनन्दस्वरूप है और वह एक ईश्वर ही है।

जब भटकता-भटकता दैवयोग से सत्पुरुषों, प्रेमी जनों का सङ्ग लाभ करता है और अपने सच्चे प्रेमास्पद की कथा वार्त्ता सुनता है तब मन बाह्य विषयों में तृष्णा को छोड़ उस प्रिय स्वरूप की ओर दौड़ता है और उससे मिलना चाहता है। इस प्रेम की अवस्था में आकर वह स्थिर हो जाता है और व्याकुल हुआ अपने परम को प्राप्त करना चाहता है। तब संत जनों के सतसंग द्वारा अपने ग्रह का मार्ग जान कर उस पर चलना आरम्भ कर देता है और समय पाकर अपने परम धाम में पहुँच जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि मन को स्थिर करने का मुख्य उपाय एक प्रेम ही है। प्रेममय आनन्दस्वरूप परमात्मा के गुणों की कथा-श्रवण,उनका चिन्तन, कीर्तन, स्मरण और ध्यान यह प्रेम के अन्तरीय साधन हैं। महात्मा कबीर साहिब कथन करते हैं:—

कबीर मन पंछी तब लग उड़े, विषय वासना मांहि ।
प्रेम बाज़ की झपट में, जब तक आयो नाहिं ॥

यह मनरूप पक्षी तब ही तक विषय वासना रूप चुग्गे की ओर दौड़ता है जब तक प्रेम रूप बाज़ (पक्षी) की झपट में नहीं आवे। जब इससे ईश्वर का प्रेम रस बहने लगा, प्रेम रस को यह पान करने लगा तब विषय वासना को इस प्रकार त्याग देता है जैसे कोई रत्न को पाकर कौड़ी छोड़ देता है। इसलिए मन की स्थिरता, विषयों से उपरामता और ईश्वर - प्रेम प्रेम द्वारा ही हो सकती है। अन्य कोई उपाय इसके स्थिर करने का नहीं दीखता। हठयोग, मुद्रा आदि से साधन काल तक मन स्थिर रह सकता है साधन छोड़ दो फिर रबर की भांति उठ खड़ा होता है। इसलिए मन की स्थिरता में एक प्रेम ही मुख्य साधन है। प्रेम अभ्यास से जब मन स्थिर होजावे, कोई संकल्प विकल्प न उठे तब परमार्थ साधन बहुत शीघ्र और उत्तम रीति से बन सकता है।

शंका— यह कैसे प्रतीत हो कि मन उन्नति अवस्था में जा रहा है वा अवनति अवस्था में ?

समाधान—इस का उत्तर यह है कि मन की उन्नति की तीन प्रकार से परीक्षा की जा सकती है यथा:—

(१) प्रथम ध्यान के समय मन की परीक्षा हो सकती है। यदि मन ध्यान करते हुए शान्त और समाहित होकर स्थिर रहे, एक घंटा के स्थान में दो घंटा बैठना चाहे, तो जानना चाहिये कि मन उन्नत एकाग्र अवस्था को प्राप्त हुआ है और यदि ध्यान के समय मन चञ्चल, अशान्त और क्षोभ करने वाला रहे और बैठते ही उठने को चाहता रहे तो निश्चय करना चाहिये कि मन (अवनत अवस्था में) पतित हुआ है।

(२) द्वितीय परीक्षा मन की स्वप्न द्वारा हो सकती है। स्वप्न मन की अवस्था को भली प्रकार से प्रकट करता है। जैसी अवस्था मन की जागृति में रहती है उसका पूरा चित्र स्वप्न में खिंच जाता है। यदि स्वप्न में मन सत् चिन्ता करता हुआ साधुओं, महात्माओं के के निकट बैठता हुआ भगवद्गुण श्रवण-कीर्तन करता हुआ, परोपकार के किसी काम में लगा हुआ वा किसी गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों को विचार करता हुआ इत्यादि दीख पड़े तो जानना कि मन चचंचल अवस्था में पड़ा है। परन्तु स्वप्न की लीला प्रायः मूर्तियों और दृष्टान्तों द्वारा होती है जिसका पूरा पूरा समझना बहुत कठिन है। स्वप्न को जागते ही तत्काल विचार लेने से कुछ पता लग जाता है।

(३) तृतीय परीक्षा मन की बाह्य पदार्थों की वितृष्णा से हो सकती है। यदि मन अनेक प्रकार के भोग ऐश्वर्य को इस लोक के वा परलोक के न पाकर भी उनसे तृप्त रहता है, उनसे वितृष्णा और निरपेक्ष रहता है, कभी कोई सूक्ष्म स्फुरणा भी नहीं होती कि अमुक पदार्थ किसी प्रकार प्राप्त हो जाय, तो जानना चाहिये कि मन की उत्तम दशा है। यदि इसके विपरीत मन प्रतिक्षण बाह्य पदार्थों की लालसा में डूबा रहता है, छोटी-छोटी बात के लिये मरता रहता है, चिन्तनीय वस्तु को न पाकर चिन्तातुर रहता है, तब प्रमाण करना चाहिये कि वो निम्न अवस्था में है।

इन तीन परीक्षाओं द्वारा जिज्ञासु अपने मन की अवस्था को पूर्ण प्रकार से जान सकता है और यह तीन परीक्षा प्रति दिवस हो सकती हैं।

प्रथम परीक्षा ध्यान के समय हो सकती है। द्वितीय परीक्षा—सोकर उठते ही विचारने से हो सकती है। और तृतीय परीक्षा—सोने से पूर्व कुछ काल चिन्ता करने से हो सकती है कि मन में सारा दिन किस प्रकार के चिन्तन चित्त बता रहा है। इन परीक्षाओं में सफलता लाभ करने के लिये जिज्ञासु को क्या करना चाहिये? अभ्यास ही सफलता की कुञ्जी है। प्रयत्न करने से बहुत कुछ सिद्धि प्राप्त हो सकती है। तीन परीक्षाओं के लिये तीन प्रकार का प्रयत्न करना उचित है। प्रथम ध्यान की परीक्षा को सफल बनाने के लिये—जिज्ञासु को चाहिये कि शब्द, अर्थ, ज्ञान में मन को क्रमपूर्वक नियुक्त करे। जैसे 'ॐ' शब्द का सूक्ष्म जप करते हुए प्रथम उस शब्द में ही वृत्ति को जोड़े-यहां तक कि मन शब्द को छोड़ कर कहीं न जा सके। जब यह अभ्यास परिपक्व हो जावे तब उसके अर्थ सत् चित् आनन्द में मन को लगावे, वहाँ ही जब सम्यक् दृढ़ हो जावे कि उस रूप को त्याग अन्यत्र न जा सके तब केवल ज्ञान में लगाया करे जिस में जप ध्यान सर्व विस्मरण होकर एक आत्मसत्ता परिपूर्ण प्रकाशमान भासने लगे। तब जानना चाहिये कि ध्यान की परीक्षा सिद्ध हुई।

द्वितीय स्वप्न परीक्षा में सफलता लाभ करने के लिये—जिज्ञासु को योग्य है कि वह सोने से कुछ काल पूर्व अपने इष्टदेव का इस प्रकार ध्यान करे कि उनके चरणों में बैठा हुआ जप करता है। ध्यान पूरा जम जाने से वह देखेगा कि स्वप्न उत्तम उत्तम आने लगेंगे, कुसंस्कार जन्य स्वप्न कभी न आवेंगे।

तृतीय परीक्षा बाह्य विषय भोग की तृष्णा से मुक्त होने के लिये—यह विचार करना चाहिये कि, यह संसार अस्थाई, क्षणभंगुर और और अनित्य है। इनके ग्रहण, इनके भोग में सुख नहीं, सुख को केवल अपने स्वरूप को (आनन्दरूप के आनन्दरूप का) आभास पदार्थों में पड़ने से वह भी सुखरूप प्रतीत होते हैं। सुख का स्रोतस् आत्मा है, संसार के पदार्थ नहीं। यही कारण है कि अनेक महाराजाओं ने संसार के अनेक और विविध पदार्थ प्राप्त करके भी उनसे सुख नहीं पाया और राजपाट को छोड़ त्यागी हो गये, उन्होंने केवल आत्माभ्यास में तत्पर आनन्द हो परम आनन्द का लाभ किया। इस प्रकार संसार को आनन्द का हेतु न जान आनन्दरूप आत्मा के जानने और उसमें स्थित होने का अभ्यास करने से तीसरी परीक्षा सिद्ध हो सकती है।

(४) चतुर्थ बुद्धि की स्थिरता—

बुद्धि की समता भी परमार्थ साधन में अत्यावश्यक है क्यों कि जिसकी बुद्धि चंचल है वह भी साधन नहीं कर सकता। संशय और अहंकार इस की अस्थिरता के दो मुख्य हेतु हैं। जब सत्पुरुषों के सङ्ग, सत्शास्त्रों के अभ्यास, और अपने सत्य चिन्तन द्वारा संशय निवृत्त हो जायँगे और स्वच्छ ज्ञान प्रकट होगा, तब बुद्धि भी स्थिर हो जायगी। बुद्धि के स्थिर होने से ज्ञान का निर्मल प्रकाश आवर्ण रहित प्रकाशित होगा। इससे मिथ्या अहंकार भी दूर हो जायगा। इसलिए बुद्धि का स्थिर करना भी परमार्थ साधन में अत्युपयोगी है। बुद्धि की स्थिरता तब जानिये जब कि जिस पारमार्थिक विषय चिन्तन में उसे लगाया जावे उसी में स्थिर हुई निरन्तर लगी रहे, अन्य चिन्तन को कभी ग्रहण न करे।

(५) पञ्चम दृष्टि की स्थिरता—

साधन काल में जब कोई उच्च वस्तु दृष्टि पड़े तब चाहिये कि दृष्टि स्थिर कर देखता रहे, वहाँ से दृष्टि को हिलाये नहीं। परन्तु ऐसी दृढ़ता स्थिर नहीं रहती, प्रायः दृष्टि नीचे आ पड़ती है। क्षण भर देख कर तुरन्त फिसल जाती है, अस्थिर हो नीचे स्थूल अवस्था में आ गिरती है। इससे परमार्थ हानि होती है, उच्च गति में विघ्न पड़ता है। इसलिये साधन के समय दृष्टि को ध्येय वस्तु में लगा कर रक्खे; कभी हिलने न देवे, उसके अन्तर ही अन्तर देखती हुई घुसती हुई चली जाय, कभी पीछे पाँव न मोड़े। यह दृष्टि अभ्यास से ब्रह्म दृष्टि हो जाती है। प्रथम चर्म दृष्टि को छोड़ आत्म दृष्टि में उलटती है, आत्मदृष्टि से ब्रह्म दृष्टि में परिणित होती है। चर्मदृष्टि ही साधारण दृष्टि है जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियां ही कार्य करती हैं, उनसे तो नाना रूप ही दिखाई देते हैं, उन रूपों के भीतर जो एक चेतन सत्ता है वह प्रतीत नहीं होती। जब यह उलट कर आत्मदृष्टि में लय होती है तब सर्व रूपों में पृथक्-पृथक् चेतन सत्ता सर्व को चेतन करती हुई अनुभव होती है, इससे भी सूक्ष्म जब ब्रह्म में पहुँचती है तब ब्रह्म दृष्टि होकर एक ही परम सत्ता को देखती है, रूपों का भान नितान्त निवृत्त हो जाता है, पृथक् २ चेतनाओं का ज्ञान नहीं रहता। सर्व चेतनाओं का चेतन एक परम ब्रह्म ही दृष्टि पड़ता है। इसलिये साधन में दृष्टि को स्थिर कर रखना भी अतिशय उपकारी है।

उपरोक्त पाँच प्रकार की स्थिरता को महात्मा कबीर साहिब अपने एकी ही श्लोक में इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

तन थिर मन थिर बचन थिर, सुरत निरत थिर होइ।
कहे कबीर या पलक को, कल्प न पावे कोइ॥

अर्थात् जब तन (शरीर) स्थिर हो, मन स्थिर हो, वाणी स्थिर हो, सुरत (बुद्धि स्थिर हो,निरत (दृष्टि) स्थिर हो, कबीर साहिब कहते हैं ऐसे एक पल की स्थिरता को कोई कल्प❀ (ब्रह्मा का एक दिन) नहीं पहुँचता।

कल्प भर की आयु प्राप्त कर लेने से जितना लाभ होता है, वह इस पाँच प्रकार की स्थिरता के समान नहीं होता, इसका फल उससे बहुत अधिक है, क्योंकि यह कल्प की प्राप्ति तो नाशवान् अस्थायी है किन्तु वह स्थिरता साधक को उस ब्रह्मपद में पहुँचा देती है जहाँ काल की गम्य नहीं, मृत्यु का भय नहीं वह नित्यानन्द निर्भयपद है। इसलिये कल्प से एक पल की स्थिरता श्रेष्ठतर है। अब प्रश्न यह है कि इस स्थिरता का प्रयोग कहाँ करना चाहिये? इसका प्रयोग ईश्वर पूजा करने के समय करना चाहिये! जब पूजा में बैठे तब प्रथम शरीर को स्थिर करें अर्थात् उसे सम भाव में रक्खे, फिर वाणी को स्थिर कर रक्खें, फिर मन को संकल्प विकल्प से रोक कर स्थिर करें, तदन्तर बुद्धि को व्यर्थ वा दुष्ट चिन्तन से निवृत्त करें, अन्त में, अन्तर दृष्टि को दृढ़ स्तम्भवत् स्थिर करें। भाव यह है कि अतिशय शान्त समाहित होकर पूजा करने बैठें। यह आत्मा ही परमात्मा की पूजा का अधिकारी है क्योंकि यह ही उसका अनुरूप चेतन है, अन्य सब जड़ और माया के कार्य्य हैं। सर्व को स्थिर कर स्वयं जागरित हो निज स्वरूप को ग्रहण करता हुआ अकेला ही परमात्म पूजा में नियुक्त हो। यदि किसी प्रकार की माया मल इस के संग रह गई तो यह परमात्म दर्शन नहीं कर सकता। वह परमात्मा ऐसा सूक्ष्म सुनिर्मल महान पुरुष है कि उसको कोई स्थूल बुद्धि मलीन—आत्मा कभी नहीं देख सकता। जैसा कि उपनिषद् में कथन किया है कि:—

हिरण्यमये परे कोशे बिरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति स्तद्यदात्मविदोविदुः॥ (मु०उ० २/२/९)।

हिरण्यमय (स्वर्णमय प्रकाशमान) परम (आनंदमय) कोश में बिरज (कमल) निष्कल (कला-रहित-अखंड) ब्रह्म विराजमान है, उस शुभ्र (स्वच्छ-सुन्दर) ज्योतियों की ज्योतिः को आत्मविद् ही जानते हैं।

इसलिये देह के गुणों, बुद्धि के गुणों से परे एक आत्मा ही परमात्मा का दर्शन कर सकता है और यही निकटता लाभ कर परमात्म-पूजा, परमात्म-सेवा का अधिकारी है।

महात्मा दादू साहिब कहते हैं:—

दादू तन मन के गुण छांड कर, जब होय न्यारा।
तब अपने नैनों देखिये, परगट पिव प्यारा॥

जब शरीर और मन के गुणों को त्याग कर यह आत्मा अलग हो जावे तब अपने नयनों (अपने स्वरूप उपलब्धि) द्वारा प्रकट (प्रत्यक्ष) पी प्यारे पीव परमात्मा को देखता है। इसलिये शरीर, मन, वाणी, बुद्धि और दृष्टि की समता को सम्पादन कर ईश्वर पूजा में बैठना चाहिये। बिना इनके स्थिर किये ईश्वर पूजा की सफलता नहीं हो सकती।

ॐ तत्सत्!

❀ चार लाख बत्तीस करोड़ (४,३२,००,००,०००) वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन होता है जिसे कल्प कहते हैं।

अधिकारी होता तो जप में अवश्य मन लग जाता और सफलता भी हो जाती। किन्तु अधिकार-युक्त साधन न होने के कारण साधन में सद्भाव तथा साधन में प्रवृत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति न होने के कारण साधन की प्रतिकूलता है। दोषों का त्याग करते ही गुणों का उदय अपने आप हो जाता है। यदि किसी की अशुभ प्रवृत्ति है तो उसको प्रथम उसका त्याग करना होगा। उसका त्याग करते ही शुभ प्रवृत्ति स्वयं हो जावेगी। अशुभ प्रवृत्ति वाला उपासना का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उपासना करने के लिये पूर्ण आस्तिकता होनी चाहिये। पूर्ण आस्तिकता का उदय तब होता है जब शुभ कर्म भी कर्त्ता को शान्ति नहीं दे पाते।

विचारमार्ग का अनुकरण करने का वह अधिकारी है जो किसी प्रकार की मानी हुई सत्ता की स्वीकृति नहीं करता, अर्थात् सभी मानी हुई सत्ताओं का त्याग करता है तथा जिसको कोई भी परिस्थिति रस नहीं दे पाती, अर्थात् जिसकी विषय-निवृत्ति स्वाभाविक है तथा जो वर्त्तमान में ही सत्य का अनुभव करने को समर्थ है, अर्थात् जिसको भविष्य की आशा नहीं है, यहां तक कि जिसे अपने विचारों में भी आसक्ति का लेश मात्र नहीं है बल्कि यथार्थ निर्णय करने का भाव है। जिसके राग-द्वेष का नितान्त अन्त हो गया है क्योंकि यथार्थ निर्णय करने के लिये राग-द्वेष-रहित बुद्धि चाहिये। राग, दोष नहीं देखने देता, तथा द्वेष गुण नहीं देखने देता। अतः जो सत्य में प्रवृत्ति और असत्य की निवृत्ति में सर्वदा उद्यत है वह विचार मार्ग का अधिकारी है।

अनुकूल साधन मिलने पर भी यदि प्रमाद-वश साधक साधन को जीवन का स्वरूप नहीं बनाता और साधन में सद्भाव नहीं करता तथा अपने को बचाता है, अर्थात् पूरी शक्ति नहीं लगाता अथवा अदृश्य की मलिनता के कारण किसी एक विक्षेप होने के कारण साधन का त्याग कर देता है तो भी सफलता नहीं पाता। अतः साधक को प्रमाद से तथा विक्षेप के भय से 'साधन का त्याग नहीं' करना चाहिये।

एक ही प्रकार का साधन करना परिवर्तन करना भी साधक की कमी है, जैसे एक मंत्र को छोड़कर दूसरे मंत्र का जप करना आदि।

साधन की खोज करने के लिये साधक के हृदय में सच्ची व्याकुलता होनी चाहिये, क्योंकि व्याकुलता की वाणी सद्गुरु के हृदय को विवश कर देती है। अधिकारी का अधिकार उसी प्रकार प्रतीक्षा करता है जिस प्रकार अधिकारी अधिकार की करता है। सच्चे साधक को अनुकूल साधन अवश्य ही प्राप्त होते हैं। अतः साधक को कभी निराश नहीं होना चाहिये, बल्कि व्याकुलता बढ़ाते रहना चाहिये।

ज्ञान-योग का साधन

प्रश्न—ज्ञान-योग का साधन क्या है ?

प्रार्थना में असफलता

प्रश्न—प्रार्थना में सफलता क्यों नहीं होती ?

उत्तर—गहराई से देखो, कि क्या प्रार्थना कर्त्ता महानुभाव प्रार्थना तब करते हैं जब करना चाहिये ? यदि प्रार्थना सफल नहीं हुई तो उसका कारण यही है कि प्रार्थना कर्त्ता अनधिकार-चेष्टा करते हैं। प्रार्थना करने का अधिकार तब होता है जब कर्त्ता अपनी सारी शक्ति समाप्त कर देवे, क्योंकि शक्ति रहते हुए सच्ची प्रार्थना होती नहीं। प्रार्थना वास्तव में दुःखी हृदय की वाणी है। दुःखी की पुकार सुन कर दुःखाहारी अवश्य दुःख हर लेते हैं, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। किन्तु वाणी से तो प्रार्थना करते हैं और हृदय में सन्देह रखते हैं, (अर्थात् जब सफल हो जायगी तब दुःखाहारी की सत्ता स्वीकार करेंगे, अथवा यों कहो कि उनकी सर्व समर्थता पर सद्भाव नहीं) ऐसे प्रार्थी प्रार्थना कर नहीं पाते। यदि उनकी समर्थता पर सद्भाव होता तो क्या प्रार्थना वाणी तथा मस्तिष्क से करनी पड़ती ? क्या उनको प्रार्थी की रुचि का ज्ञान नहीं है ? यदि है तो प्रार्थी को वाणी से कहने से क्या लाभ ? अथवा चिन्तन करने से क्या लाभ ? प्रार्थी के बार बार चिन्तन का अर्थ यही हो जाता है कि या तो प्रार्थी अपने को बचा कर प्रार्थना करता है अथवा अपने इष्टदेव की सर्व सामर्थ्य पर श्रद्धा नहीं करता। जो प्रार्थी अपनी सारी शक्ति समाप्त कर सर्व समर्थ इष्टदेव से प्रार्थना करता है उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना की नहीं जाती बल्कि होती है, क्योंकि जो अभिलाषा मिटायी जाती नहीं और जिसके पूर्ण करने की शक्ति नहीं है, तब जो वाणी हृदय से उत्पन्न होती है वही प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना एक बार उदय हो इष्ठ में विलीन हो जाती है, अर्थात् प्रार्थना प्रार्थी का स्वरूप हो जाती है। अथवा यों कहो कि प्रार्थी सर्व समर्थ इष्ट में विलीन हो जाता है। यही प्रार्थना का वास्तविक स्वरूप है, जो होने पर सफल अवश्य होती है।

साधन में असफलता

प्रश्न—साधन में सफलता क्यों नहीं प्राप्त होती ?

उत्तर—गहराई से देखो, जिस प्रकार तृषा-युक्त प्राणी को पानी मिलने पर प्यास की शान्ति स्वाभाविक हो जाती है और वह प्राणी पानी भी पी लेता है, क्योंकि आवश्यकतानुसार मिला था, उसी प्रकार जब साधन साधन-कर्त्ता के अनुकूल मिल जाता है तब साधन जीवन का स्वरूप भी हो जाता है और सफलता भी हो जाती है। साधन में सफलता न होने का कारण यही है कि कर्त्ता साधन करने से प्रथम अपना निरीक्षण नहीं करता, अर्थात् अपनी आवश्यकता को नहीं जान पाता। यदि जान भी लेता है तो उसको स्थायी नहीं कर पाता। यदि स्थायी भी कर लेता है तो अनुकूल साधन की खोज नहीं करता। इन सब कारणों से ही साधन में सफलता नहीं होती।

कल्पना करो कि नाम तथा मंत्र आदि के जप में मन नहीं लगता। इसका कारण क्या है ? या तो वह साधक उससे ऊपर के साधन का अधिकारी है, या उससे नीचे का अधिकारी है। यदि जप का

उत्तर—(१) जिन वस्तुओं में अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटा लो, और जिन चीजों को अपने में रख लिया है, उनको अपने में से निकाल दो, ऐसा करने से ज्ञान योग अपने आप हो जायगा।

माया के स्वरूप

माया के दो स्वरूप हैं—(१) गुणमयी माया। (२) योगमाया। गुणमयी माया से बन्धन होता है, और योगमाया से बन्धन से छूट जाता है।

राग-द्वेष, सुख-दुःख गुणमयी माया से होते हैं। त्याग, प्रेम तथा आनन्द योग माया से होते हैं।

उस प्रकार की इच्छा शक्ति कि जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक इच्छा उत्पन्न होने पर योग माया का प्रादुर्भाव होता है। वास्तव में तो योग माया व इच्छा शक्ति दोनों का स्वरूप एक है। गुणमयी माया से वासनाओं की उत्पत्ति होती है, और योग माया से वासनाओं की निवृत्ति होती है।

गुणमयी माया = अविद्या, योग माया = विद्या। जीव-भाव होने पर गुणमयी माया, ईश्वर-भाव होने पर योगमाया, और ब्रह्म-भाव होने पर माया का प्रभाव हो जाता है।

आत्मा का निर्णय और उसके दर्शन का उपाय

हृदय के स्थान में आठ दल लम्बा कमल है, उसके मध्य में रेखाओं का अवलम्बन (BASIS) करके उसमें जीवात्मा जोतिस्वरूप अणुमात्ररूप से वर्तता है। उसमें सब टिका हुआ होता है। सब जानता है, सब करता है। इन सब चरित्रों का मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता, सुखी, दुःखी, काना, कंजा, दुबला और मोटा हूँ। इस प्रकार स्वतंत्रता से वर्तता है।

पूर्वदल— श्वेत वर्ण वाला है (मनचक्र का कोष्टक देखो), पूर्व दल में उसका विश्राम होने से भक्तियुक्त धर्म में बुद्धि होती है।

आग्नेय-दल— रक्त-वर्ण वाला है, जब आग्नेय दल में विश्राम होता है तब निद्रा और आलस्य में बुद्धि होती है।

दक्षिण दल— कृष्णवर्ण वाला है, जब दक्षिण में विश्राम होता है तब द्वेश और क्रोध की बुद्धि होती है।

नैर्ऋत्य-दल— नील वर्णवाला है, जब नैर्ऋत्यदल में विश्राम होता है तब पाप कर्म हिंसा में बुद्धि होती है।

पश्चिम-दल— स्फटिक के रंग का है, जब पश्चिम-दल में विश्राम होता है तब क्रीड़ा और विनोद में बुद्धि होती है।

वायव्य-दल— मणिका के रंग का है, जब वायव्य दल में विश्राम होता है, तब जाने, चलने और वैराग्य में बुद्धि होती है।

उत्तर-दल— पीले रंग का है, जब उत्तर दल में विश्रा होता है तब सुख और शृंगार में बुद्धि होती है।

ईशान-दल— वैडूर्य मणि (गौर) रंग वाला है, जब ईशान में विश्राम होता है तब दान आदि कृपा की बुद्धि होती है।

"जब संधिओं की संधिओं में बुद्धि होती है तब वात, पित्त, कफ महाव्याधियों का कोप होता है। जब मध्य में स्थिति होती है तब सब जानती है, गाती है, नाचती है, पढ़ती है और आनन्द करती है। जब नेत्र को श्रम होता है तो श्रम दूर करने को प्रथम रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है, तब निद्रावस्था होती है, प्रथम रेखा बधूकपुष्प (दोपहरीया) के रंग वाली है। निद्रावस्था के मध्य में स्वप्नावस्था है। स्वप्नावस्था में देखी सुनी अनुमान से होने वाली वार्त्ता इत्यादि कल्पना करती है, जब श्रम होता है। तब दूर करने को दूसरी बीर बहूटी के रंग वाली रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है, तब सुषुप्ति अवस्था होती है, सुषुप्ति में बुद्धि केवल ईश्वर के सम्बन्ध वाली नित्य बोध स्वरूप होती है पीछे परमेश्वर की प्राप्ति होती है। तीसरी रेखा पद्मराग के रंग की है, जब तीसरी रेखा के मध्य में डुबकी लगाता है तब तुरीया-अवस्था होती है। तुरीया में बुद्धि केवल परमात्मा के सम्बन्ध वाली होती है, नित्य बोधस्वरूप वाली होती है। तब शनैः २ उपराम को प्राप्त होकर, धैर्य ग्रहण करने वाली बुद्धि से मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तवन न करे। तब प्राण अपान को एक करके सब विश्व को आत्मस्वरूप के लक्ष्य से धारण करता है। जब तुरीयातीत अवस्था होती है तब सब आनन्दस्वरूप होता है, द्वन्द से अतीत होता है। जब तक देह का प्रारब्ध रहता है, तब तक ठहरता है, पश्चात् परमात्म तत्व की प्राप्ति होती है, इस प्रकार से मोक्ष होता है, ये आत्म-दर्शन के उपाय हैं"

(ध्यानबन्धु उपनिषद)

मन चक्र

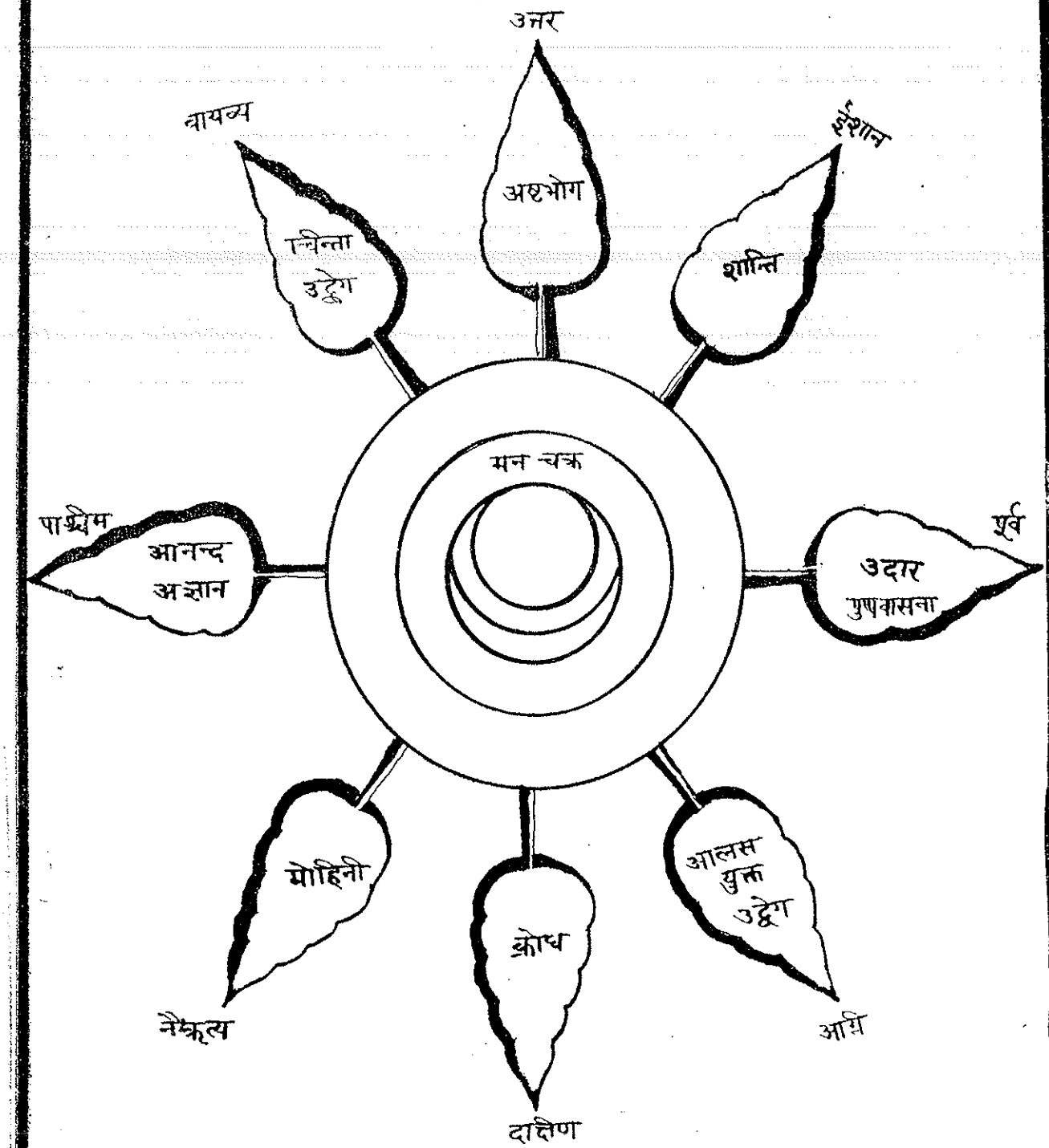
उत्तर
अष्टभोग
वायव्य
चिन्ता
उद्वेग
ईशान
शान्ति
मन चक्र
पश्चिम
आनन्द
अज्ञान
पूर्व
उदार
गुणवासना
मोहिनी
नैऋत्य
क्रोध
दक्षिण
आलस
युक्त
उद्वेग
अग्नि

मनोबोध

[श्री समर्थ रामदास स्वामी कृत]

(चुने हुए उपदेश)

(१) जो शिवगणों के अधिपति, परा, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि गुणों के स्वामी और निर्गुण परब्रह्म के मूल हैं उनको, तथा परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी—इन चार वाणियों की आदि जननी श्री शारदा देवी को नमस्कार करके आत्माराम श्री रामचन्द्र जी के अनादि और अनन्त भक्ति-मार्ग का सेवन कर।

(२) हे सत् मन ! भक्ति-मार्ग का सेवन कर, करेगा तो तुझे सहज ही ईश्वर प्राप्ति होगी, साधु पुरुष जिन बातों का निषेध करते हैं उन सब बातों को छोड़ कर वे जिन बातों का समर्थन करते हैं उन्हें अङ्गीकार कर।

(३) प्रभात समय श्री रामचन्द्र का चिन्तन कर, फिर हर-एक काम करते समय राम-नाम ले। सदाचार का महत्व विशेष है, उसको कभी मत छोड़। जगत् में सदाचार ही धन्य कहलाता है।

(४) दुष्कर्म में प्रवृत्ति करने वाली वासना तथा पाप बुद्धि को पास भी मत आने दे। सर्वदा नीति मार्ग पर चल। इसी प्रकार अन्तःकरण में सार बातें कौन-सी हैं, इस पर सदा विचार कर।

(५) हे मन ! पापी सङ्कल्पों को त्याग, और सत्य सङ्कल्पों का ग्रहण कर। विषय-सुखों की कल्पना ही छोड़ दे क्योंकि उन से जगत् में धिक्कार मिलता है।

(६) खिन्नता को उत्पन्न करने वाले क्रोध, तथा नाना विकारों को पैदा करने वाली कामना को छोड़ दे। मत्सर, दम्भ और लोभ को स्वीकार मत कर।

(७) हे मन ! श्रेष्ठ धैर्य को धारण कर। प्रसंग वश सुने जाने वाले अपमान कारक वचनों को सहन कर। स्वयं नम्रता से बोल और सब लोगों को संतोष प्रदान कर।

(८) हे मन ! पर द्रव्य-हरण करने की अभिलाषा छोड़ दे। अति स्वार्थपरता से पाप-संचय होता है, बुरे कर्म पाप संचय कराते हैं और फिर उसका कुपरिणाम भोगना पड़ता है। मन के अनुसार बातें न हुई तो बहुत दुःख होता है।

(९) श्री रामचन्द्र जी में अखण्ड प्रेम रख और दुःख को स्वयं ही छोड़ दे। शारीरिक कष्ट में, जो प्रारब्ध कर्मानुसार होते हैं, सुख मान, और विवेक से सदा सत्स्वरूप में लीन रह।

(१०) हे मन ! तू ही विचार करके देख कि क्या जगत् में कोई भी सब दृष्टियों से सुखी है ? पूर्व संचय किया होगा, वैसा ही फल आज तुझे भोगना पड़ेगा।

(११) हे मन ! अन्तःकरण में दुख न कर। शोक और चिन्ता का त्याग कर दे। विवेक से देह बुद्धि छोड़ और विदेहावस्था के मुक्ति-सुख का अनुभव कर

(१२) हे मन ! बतला, रावण को ऐसा क्या हो गया कि जिससे अकस्मात् उसका राज्य जाता रहा ? दुर्वासना। इस लिए अन्दर से बुरी वासनाओं को निकाल दे। काल मानव के पीछे पड़ा हुआ है।

(१३) कर्म-गति से जगत् में जन्म हुआ है। पर अन्त में काल के मुख में प्रवेश करना है। असंख्य लोगों ने जन्म लिया और मर गये। छोटे बड़े सभी ने इसी मार्ग का अनुसरण किया।

(१४) हे मन ! देख, यह सचमुच मृत्यु भूमि है। किन्तु जीवन काल में सब लोग 'मैं', 'मैं' कहते हैं और अपने को अमर मानते हैं पर अकस्मात् यहाँ से चल बसते हैं।

(१५) एक मरता है, दूसरा उसका शोक मनाता है, फिर वह भी उसी मार्ग जाता है। लोभ का इस जगत् में अन्त नहीं है। उसी से प्रक्षुब्ध हो कर मनुष्य जगत् में फिर जन्म लेता है।

(१६) मनुष्य व्यर्थ चिन्ता करता है, क्योंकि होने वाली बातें तो अकस्मात् हो जाती हैं। कर्मानुसार सब भोगना पड़ता है, पर मूढात्मा वियोग से खेद मानते हैं।

(१७) हे मन ! श्री रामचन्द्र के अतिरिक्त और किसी से आशा मत कर, मानवों की कीर्ति न गा। जिसका वर्णन वेद, शास्त्र और पुराण करते हैं, उसी की कीर्ति गाने वाला बन। इससे सब कुछ मिल जाता है।

(१८) हे मन ! सत्य का त्याग और असत्य का समर्थन कभी न कर, जो सत्य हो वही वाणी से बोल और असत्य को छोड़ दे।

(१९) माता के पेट में गर्भवास के समय बालक को बहुत यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। नीचे मुख रहता है, सभी ओर से जकड़े हुए बालक को गर्भ की उष्णता आदि दुःखों को सहना पड़ता है।

(२०) वासना से उत्पन्न होने वाली जन्म-मरण की पुनरावृत्ति से मन को निवृत्त कर। कामिनी और कांचन की अभिलाषा छोड़ दे। गर्भवास की यातना बड़ी कड़ी है। हे मन ! श्री रामचन्द्र जी से भेंट करवा दे।

(२१) श्रीराम—गुणानुवाद के अतिरिक्त और कोई भी चर्चा न कर। इसी में सुख है और बातें करने में नहीं। काल क्षण-क्षण में आयु को हर रहा है। देहान्त के समय तुझे कौन छुड़ाने आवेगा ?

(२२) देहकी रक्षा के लिये कितना परिश्रम किया जाता है, फिर भी काल मनुष्य को ले ही जाता है। श्री रामचन्द्र जी की भक्ति कर, फिर और किसी बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

(२३) हे मन ! संसार-भय से ऐसा क्या डरता है ? डर छोड़ दे और धैर्य्य धारण कर। श्री रघुनाथ जी के समान हमारे रक्षक स्वामी हैं। यमराज चाहे जितना क्रोध क्यों न करे, श्रीरामजी कभी उपेक्षा नही करेंगे।

(२४) जिन्होंने देवताओं को महा सङ्कट से मुक्त किया, जो अतुल प्रतापी और सर्वगुणसम्पन्न हैं, जिनका ध्यान श्री शङ्कर-पार्वती करते हैं, वे भक्ताभिमानी श्री रामचन्द्र कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते।

(२५) जिनके चरण स्पर्शमात्र से शिलारूपी अहल्या मुक्त होकर दिव्यरूप धारण कर चली गई। जिनका वर्णन करते-करते वेदवाणी थक गई, वे भक्ताभिमानी श्री रामचन्द्र कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते।

(२६) श्री रामचन्द्र जी में तो उपेक्षा के लिए जगत् ही नहीं है, किन्तु मनुष्यों को विश्वास नहीं होता। 'भक्तों के योग क्षेम का सारा भार मैं उठाऊँगा', पुराणों में ऐसा कहने वाले भक्ताभिमानी श्री रामचन्द्र कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते।

(२७) जिसके अन्तःकरण में जो भावना होती है, उसी को वे पूरी करते हैं। अनन्य भक्तों की रक्षा धनुर्धारी श्री रामचन्द्र करते हैं, वे कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते।

(२८) परमेश्वर सदा हमारे अत्यन्त निकट हैं। वे कृपालुतावश कुछ परीक्षा किया करते हैं। वे सुखानन्दस्वरूप और मुक्तिदाता हैं। ऐसे भक्ताभिमानी श्री रामचन्द्र कभी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते।

(२९) हे ! मन तुझ से एक प्रार्थना है, श्री रघुराज के गुणानुवाद से आश्चर्य चकित हो उन्हीं का ध्यान कर। और किसी प्रकार मेरी प्रार्थना की अवहेलना न कर। तू श्री रामचन्द्र जी में ही लीन हो जा।

(३०) वेद, शास्त्र और पुराण जिसका वर्णन करते हैं, जिसके मिलने से परम सन्तोष की प्राप्ति होती है, अपनी सब चञ्चलता उसी के अर्पण कर तथा उसी में अखण्ड रूप से लीन हो जा।

(३१) व्यर्थ भटकने से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। व्यर्थ श्रममात्र होगा। विचारपूर्वक अन्तःकरण को समझा कर श्रीराम-स्मरण में ही लीन रह।

(३२) बहुत बातों में भी कुछ सार नहीं है। श्रीराम जी को ही अपना। श्रीराम जी का दीनानाथ होने का व्रत है, उन्हीं के स्मरण में रत हो जा।

(३३) हे मन! मैं तुझे एक अपनी हित की बात कहता हूं, उसे भली प्रकार से ध्यान में रख। श्रीराम नाम को छोड़ कर व्यर्थ एक भी शब्द का उच्चारण न कर और मन में सर्वदा उसी का ध्यान रख।

(३४) जो सब ओर रामस्वरूप ही देखता है, भक्त, ज्ञानी होकर भक्त का सा आचरण करता है, भगवान् के गुण-कीर्त्तन में उत्कट प्रेम रखता है साधन-मार्ग पर स्थिर रहता है, ऐसा परमेश्वर का भक्त जगत् में धन्य है।

(३५) जिसकी देह सदा भगवान् के कार्य में क्षीण होती है, जिसकी वाणी सर्वदा श्रीरामनामोच्चारण करती है, जो स्व-धर्म-पालने में सर्वदा दक्ष रहता है, ऐसा भक्त जगत् में धन्य है।

(३६) जैसी कथनी वैसी ही करनी। अनेकों देव-देवताओं में एक ही आत्मभाव देखना, संदेह रहित होकर सगुणोपासन करना, इन रीति से चलने वाला परमेश्वर का भक्त धन्य है।

(३७) जिसके मन में नाना विकारी काम नहीं, जो ब्रह्मचारी, तपस्वी और उदासीन वृत्ति वाला है, तमोगुण का नाश होने से जिसका चित्त शान्त है ऐसा परमेश्वर का भक्त धन्य है।

(३८) जिसने मद, मत्सर और स्वार्थ-बुद्धि छोड़ दी है, जिसने प्रपञ्च नहीं किया, जो सर्वदा नम्र और मधुर वाणी बोलता है, वह सर्वोत्तम भक्त धन्य है।

(३९) जो अपना समय श्रुति वाक्यों के चिन्तन और कीर्तन में व्यतीत करता है, दाम्भिक वाद-विवाद से अलिप्त रहता है, ब्रह्म विषयक हितकारी संवाद ही करता है, वह सर्वोत्तम दास धन्य है।

(४०) जो सदा सरल है और लोगों को प्रिय है, विवेकी और सत्य-भाषी है, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता, वह सर्वोत्तम भक्त जगत् में धन्य है।

(४१) जो जवानी में ही अरण्य सेवन करता है, विषयों की कल्पनाओं में नहीं फंसता, अपने निश्चय से कभी डिगता नहीं वह सर्वोत्तम भक्त जगत् में धन्य है।

(४२) जिसके मन से दुष्ट आशा नष्ट हो गई है, जिसको भगवत् प्रेम की प्यास लगी रहती है, परमेश्वर जिसका ऋणी है, ऐसा भक्त धन्य है।

(४३) दीनों पर दया करने वाले, अति कोमल मन वाले, स्नेह करने वाले, कृपालु और भक्त रक्षक—ऐसे रामजी के भक्त के मन में कहाँ क्रोध और कहाँ संताप? जगत् में ऐसा सर्वोत्तम भक्त धन्य है।

फुटकर उपदेश।

(४४) निष्काम कर्म, भक्ति, उपासना, नित्य-नियम और राम नाम का जप करके जगत् में धन्य हो जा। उदासीनता ही सब का सार है। इससे वृत्ति सर्वदा अलिप्त रहती है।

(४५) पूर्व जन्म कर्मानुरूप उत्पन्न हुई विषय वासना मनुष्यों को पदार्थों में लिप्त करती है, उसे छोड़ दे। निष्काम वृत्ति से सदा श्रीराम जी का चिन्तन कर। मन में लेशमात्र भी कल्पना मत रहने दे।

(४६) कल्पना असंख्य कोटि हैं। इनके रहते कभी राम दर्शन नहीं होगा। जिसके मन में विषय कामना है और उसके प्रति आदर है, उसकी प्रीति श्रीराम चरणों में कभी नहीं हो सकती।

(४७) निदिध्यास छूटने से अन्तःकरण में शोक और संताप आ घुसता है। भेद बुद्धि से आनन्द का नाश होता है और खिन्नता से निश्चय टल जाता है।

(४८) हरि-बोध को छोड़ कर विवाद करता है उसकी दशा उसी पुरुष की—जैसी है जो अपने घर में कामधेनु रहते हुए भी पराये घर छाछ मांगने जाता है या हाथ में चिन्तामणि होते हुए भी काँच के टुकड़े ले लेता है।

(४९) मतिमन्द मानव दृढ़-निश्चयी नहीं होता और विषय वासना में मग्न रहता हुआ चित्त में रामचिन्तन नहीं कर सकता। अति लोभी को दुःख अवश्य होगा और अति ही विषयासक्त मनुष्य सर्वदा दीन रहेगा।

(५०) जिनके नाम से बड़े से बड़े दोष दूर हो जाते हैं, उत्तम गति मिलती है, पुण्य का पुञ्ज हाथ लगता है, उन रामजी का प्रभात-काल में चिन्तन कर।

(५१) नाम स्मरण ही सब साधनों का सार है। न समझा हो तो विचारपूर्वक खोज कर। संशय का छेदन करके प्रातःकाल श्रीराम नाम का स्मरण कर।

(५२) श्रीरामचन्द्र-सम्बन्धी इच्छा सब कर्मों को निष्काम बना देती है। सब भूतों में श्रीराम रूप प्रतीत होने लगता है। हरि-कीर्त्तन में विशेष तथा विश्वासयुक्त बुद्धि से भगवान् का गुणानुवर्णन किया जाय तो उससे द्वन्दातीत होता है।

(५३) शङ्कर-हृदय-निवासी लक्ष्मी पति श्रीराम को अन्तःकरण में स्थापन करके दुस्तर सागर से पार हो जा। कभी तृप्ति न पाने वाले इस पेट की चिन्ता छोड़ और दुष्ट मत्सर का नाश कर डाल।

(५४) दूसरे अनेकों मन्त्रों की राम मन्त्र से तुलना नही हो सकती, यह बात अभागे मनुष्य की समझ में नहीं आती। शङ्कर भगवान् ने हलाहल विशपान करके इसी औषधि का सेवन किया था, फिर दूसरे पामर जीवों की तो बात ही क्या ?

(५५) भोजन के समय उच्च स्वर से आग्रह के साथ श्री रामचन्द्रजी के नाम की घोषणा कर और नाम-स्मरण करते हुए ही अन्न सेवन कर। इससे सहज ही श्री हरि की प्राप्ति हो जायगी।

(५६) जगत् में सब प्राणियों का योगक्षेम चलाने की चिन्ता तो तत्वतः परमेश्वर ही कर रहा है; फिर हे मन ! केवल मुख से उसका नाम लेने में तेरा क्या व्यय होता है।

(५७) जो अपने कोप से त्रिभुवन को जलाने में समर्थ हैं, ऐसे श्री शङ्कर जी को भी राम-नाम में ही शान्ति मिली। जगन्माता पार्वती जी भी रामनाम का ही जप करती हैं। तू भी वही राम-नाम ले।

शान्ति

(५८) नित्य विधि पूर्वक एक निष्ठा से स्नान संध्यादि कर। आत्म-स्वरूप से भ्रष्ट करने वाले संकल्प-विकल्पों का निग्रह कर। जो मनुष्य सब मनुष्यों से प्रेम करता है और दया से व्यवहार करता है उसी को शान्ति मिलती है।

(५९) हे मन! क्रोध की उत्पत्ति मत होने दे। सत्संग में बुद्धि को सदा लगाये रख। पतन के कारण दुष्ट सङ्ग को छोड़ दे, और मुक्ति का अधिकारी बन जा।

(६०) हे मन! संतों की सङ्गति में रह। उससे आचरण शुद्ध होकर भक्ति-भावना को उत्तेजना मिलती है। बिना कुछ किये केवल लम्बी-चौड़ी बातें करना व्यर्थ है। जिससे कुछ हित हो वही वाद वाद सार्थक है।

(६१) तत्त्वबोध कराने वाला वाद उचित सम्वाद है। अहङ्कार से मनुष्य मिथ्यावाद करते हैं। अतः विवेक द्वारा अहङ्कार को हटाकर जो हितकारी हो, वही वाद करना चाहिए।

(६२) हे मन! तेरे हित के लिये यह सच्ची सुनानी पड़ती है। सच है या नहीं विचार कर देख। अपने हित के लिये ही मिथ्यावाद छोड़ और जो परिणाम में हितकर और सुखप्रद हो, वही वाद कर।

(६३) कहने और सुनने वाले मनुष्य जगत् में बहुत हो गये, किन्तु मिथ्यावाद अभी वैसा ही है! दम्भ से किया हुआ वाद-विवाद संशय उत्पन्न करता है, अतएव हितकारी वाद-विवाद ही कर।

(६४) बड़े-बड़े पंडितों ने स्वयं अपना अहित किया है इससे उनमें से कोई तो ब्रह्मराक्षस हो गये। परमेश्वर से अधिक विद्वान् कौन है? हे। मन तू ही विचार कर देख।

(६५) ब्रह्म-ज्ञान की कोरी बातें करने में क्या है? अन्तःकरण में तो गर्व बढ़ रहा है। बिना आचरण ब्रह्मज्ञान की बातें व्यर्थ हैं। हे मन! तू ही विचार कर देख।

(६६) जहां मिथ्यावाद न हो, वहीं संवाद कर। विवेक से अहङ्कार को दबा दे। दिनों दिन विशुद्ध आचरण रख कर भक्ति-मार्ग का सेवन कर।

(६७) विचार करके बोल और विवेक से चल। ऐसे आचरण से क्रोधी भी शान्त हो जाते हैं। अच्छी तरह से सोच-विचार कर बोलना चाहिये। जगत् में आचरण शुद्ध और युक्त रखना चाहिये।

(६८) जिस विरक्त और विज्ञान राशि हरिभक्त आत्मस्वरूप ने का निश्चयात्मक अनुभव किया हो उसका दर्शन अत्यन्त पुण्यप्रद है और उनके वाक्यों से सन्देह नष्ट हो जाते हैं।

(६९) गर्वरहित, विरक्त, क्षमाशील, दयावान्, निर्लोभी, क्षोभशून्य, दैन्यरहित और शान्त इन लक्षणों से योगी पहचाने जाते हैं।

(७०) जगत् में सत्य क्या है इसकी आदर पूर्वक खोज कर, ऐसे करते-करते भगवान् के दर्शन हो जाँयगे। फिर अज्ञानादि भ्रमों का नाश हो जायगा।

(७१) हे मन ! आँखों को दीखने वाला तथा अदृश्य जगत् कोटि कल्प तक रहने वाला नहीं। जिसका आकार है वह सभी काल वश होगा। भविष्य में कुछ भी रहने वाला नहीं है। अतएव जो अनन्त और शाश्वत है, उसी की खोज कर।

(७२) जो फूटता नहीं, टूटता नहीं, चलता नहीं, हिलता नहीं, जो सब ओर भरा हुआ है पर समझ में नहीं आता, और जो अद्वितीय है उस एकरूप ब्रह्म को ढूँढ़ और उसका दर्शन प्राप्त कर।

(७३) हे मन ! जो निराकार है, ब्रह्मादि का आधार है, जिसका वर्णन करते-करते वेद भी थक गये, उसको ढूँढ कर उसके साथ विवेक से तद्रूप हो जा।

(७४) हे मन ! जो चर्मचक्षु से नहीं दीखता, जहाँ ज्ञान-चक्षु भी काम नहीं देते, देखते ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन एक हो जाता है उस अनन्त और शाश्वत की खोज कर।

(७५) जो पीला, सफेद, श्याम या नीला नहीं है, जो न व्यक्त है, न अव्यक्त है किन्तु जिस पर विश्वास रखने से मानव मुक्ति पाता है उस अनन्त शाश्वत परम ब्रह्म की खोज कर।

ज्ञान प्राप्ति

(७६) प्रेम पूर्वक साधु-सन्तों की शरण लेने से, सर्वदा निश्चयपूर्वक सत्य की खोज करने से और मन को बोध करने से ज्ञान - प्राप्ति होती है।

(७७) हे मन ! कोरे शब्द ज्ञान तथा कौशल से काम नहीं चलता। अन्तर में उसका निश्चय होना चाहिये। सब में व्याप्त रहने वाले सार का संकलन कर।

(७८) शरीर-ज्ञान, तत्त्वज्ञान, गायनवादनादि - ज्ञान, अष्टाङ्ग-योगसाधन, यज्ञ-याग, भोगों का त्याग आदि साधनों से सच्चा समाधान नहीं होता। वह तो सन्त-समागम में ही होता है।

(७९) सन्त समागम करके सन्तों के मुख से महावाक्य, तत्त्व-ज्ञान, सृष्टि ज्ञान आदि का श्रवण करना चाहिये। द्वितीया का चन्द्रमा न दिखता हो तो उसको कुछ सङ्केत से ही बतलाया जाता है।

(८०) जगत् में दिखाई नहीं देता उसी को ढूँढ़ कर देख। भली-भाँति देखने पर वह गुह्य-तत्त्व व्यक्त

हो जाता है। हाथ से पकड़ने जाँय तो नहीं मिलता और जगत् में व्याप्त होता हुआ भी ध्यान में नहीं आता।

(८१) 'उसको मैं जानता हूँ' ऐसा कहने वाले को मूर्ख समझो। जो तर्क से परे है उसको तर्क से कोई कैसे जान सकता है? देखने से अहङ्कार के कारण वह दिखायी नहीं देता। उसको दर्शन के अनन्तर मनुष्य उससे भिन्न नहीं रह सकता।

(८२) खोज के निमित्त शास्त्र बहुत-से हैं किन्तु उनमें एक्यता नहीं पाई जाती। परस्पर विरोधी शास्त्र ज्ञान से मताभिमानी लोग झगड़ते हैं किन्तु सच्चे ज्ञान का अनुभव होते ही मन की गति कुण्ठित हो जाती है।

(८३) जिसने अहङ्कार की मक्षिका भक्षण कर ली है, उसको भोजन की रुचि कहाँ से हो? जब तक चित्त का अहंभाव नष्ट नहीं होता, तब तक ज्ञान अन्तःकरण में स्थिर नहीं हो सकता।

(८४) अहङ्कार से ज्ञानी भी नीति-भ्रष्ट हो जाते हैं। अनीति से अपकीर्ति होती है, ज्ञान के कारण वह मनमें खूब समझता है कि अपना व्यवहार अप्रमाणिक है।

(८५) देह-पुत्रादि के चिन्तन से मन में लोभ दृढ़तर होता है। हरि-चिन्तन से मुक्तिरूपी स्त्री का पाणिग्रहण कर। सर्वदा सन्त-समागम कर।

सच्चा सन्त

(८६) अपनी मनोवृत्ति को जो सत्वस्वरूप में स्थिर करता है, तथा आशापाश से मुक्त होने के कारण जो दीन नहीं है। वही सच्चा सन्त है। उपाधि देहात्म-बुद्धि को बढ़ाती है किन्तु वह सज्जनों को कैसे बाधा पहुँचाएगी?

(८७) अनन्त शुद्धस्वरूप ब्रह्म का ज्ञान सन्तों से ले। अहङ्कार के प्रापञ्चिक विस्तार का निराकरण कर। देहात्म-बुद्धि न रखते हुए निर्गुण परब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये।

साधन

(८८) देह-बुद्धि का ज्ञान से त्याग कर। विवेक से परब्रह्म की प्राप्ति कर। वृत्ति सदा तदाकार नहीं रहती अतएव उसी का चिन्तन करता रह।

(८९) चर्म-चक्षु से दिखाई नहीं देता। काल संसार का भक्षक है उससे इसकी रक्षा कदापि नहीं हो सकती, जो अक्षय है वह शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति करता है। दयाशील भगवान् स्वयं सहायता करता है।

(९०) जिससे त्रिलोकी की उत्पत्ति हुई उसको कोई नहीं जानता। सर्व-श्रेष्ठ भगवान अदृश्य है, वह बिना गुरु-कृपा के नहीं दीखता।

(९१) बड़े शक्तिशाली और मन्त्र देने वाले बहुश्रुत गुरु चाहिये। जितने मिलेंगे, मन में द्रव्य का लोभ

रख कर बहुत से मन्त्र-तन्त्र बतलाने वाले ही मिलेंगे, इनमें से कोई भी मुक्ति-मार्ग बतलाने वाला नहीं होता।

(९२) मन्त्र जानने वाले, फँसाने वाला, द्रव्याभिलाषी, निन्दा और मत्सर करनेवाला, भक्तिहीन, उन्मत्त, व्यसनी और जिसकी सङ्गति से अहित होता है ये सब झूँठे हैं। जो सच्चा ज्ञानी है वही साधु है।

(९३) वृथा बात करनेवाला, मन में इच्छा करने वाला, कर्महीन, वाचाल, वास्तविक गुरु नहीं है। जैसा कहता है वैसा ही आचरण करनेवाला साधु सच्चा है। हे मन ! इसे विचार कर देख।

(९४) भक्ति-ज्ञान-वैराग्ययुक्त, दयाशील, जितेन्द्रिय, क्षमावन्त, योगी सर्व श्रेष्ठ, दक्ष, कुशल गुरु के सान्निध्य से समाधान को प्राप्त होता है।

(९५) स्रष्टा उत्पन्न करने वाले परमेश्वर को जान ले। उसके दर्शनमात्र से मुक्ति प्राप्त होती है। उसी परब्रह्मरूप को सगुणरूप में देख और सर्वसङ्ग-रहित स्थिति में रह।

(९६) जिसकी देह-बुद्धि नहीं छूटती उसको कल्प के अन्त तक भी ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। अहङ्कार से परब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और मन में भरा हुआ अज्ञान नष्ट नहीं होता।

(९७) ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् उसका अनुभव होता है। वहाँ सर्वसाक्षी जो तुर्यावस्था है, उसका लय होता है। इतना ही नहीं, उन्मनी अवस्था का भी वहाँ लय होता है और जगत् राममय दिखाई देने लगता है।

(९८) सत्स्वरूप के अनुभव के अनन्तर द्वैत नहीं रहता। चिरकाल के पश्चात् आपकी भेट हुई है, इससे विदेहावस्था प्राप्त होकर मन सहित सर्व शरीर शीतल होता है।

(९९) हे मन ! तुझे परमेश्वर का अनुभव होगया है किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन और सत्सङ्गति से उसको दृढ़ करने के लिये तुझे प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करने से जगत् में तू धन्य-कहलायेगा।

(१००) हे मन ! यह सत्संग प्रापञ्चिक संग से मुक्त करने वाला तथा मोक्ष देने वाला है। भव-सागर से साधकों को छुड़ाने वाला और द्वैत भावना का समूल नाश करने वाला है।

(१०१) इस 'मनबोध' को श्रद्धायुक्त सुनने से दोष नष्ट हो जाएँगे। मूढ़ जीव साधना के योग्य होंगे, ज्ञान, वैराग्य और सामर्थ्य की वृद्धि होगी एवं सब मोक्ष-सुख का अनुभव करेंगे।

॥ उपयोगी बातें ॥

(१) **अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण**—कोई सिर काटने आवे तो खेद नहीं, चला जाय तो मोद नहीं।

(२) भोजन की शुद्धि से मन की शुद्धि होती है।

(३) आज्ञा चक्र में ध्यान तथा धारणा के द्वारा सहज ही मन वश में किया जा सकता है।

(४) मन, प्राण और वीर्य ये तीनों एक ही सूत्र में ग्रथित हैं। इनमें से यदि किसी एक का संयमन हो जाय तो शेष दो अपने आप अनायास संयमित हो जाते हैं।

(५) वासना के क्षय से मनोनाश हो जाता है। मनोनाश दो प्रकार का होता है। स्वरूप मनोनाश, मन के स्वरूप का नाश होना जैसा— जीवन्मुक्त पुरुषों की दशा में होता है। अरूप मनोनाश — मन के अस्तित्व—का ही नाश हो जाना जैसा विदेह मुक्त पुरुषों की दशा में देखा जाता है। जब वे अपने भौतिक शरीर का त्याग कर देते हैं।

(६) मन को मुक्ति के लिए उपयोगी बनाना चाहिये, इसको ऐसा बनाना चाहिए कि जिससे अधिष्ठान परम पिता परब्रह्म की प्राप्ति हो सके। एतदर्थ उपासना, वेदान्त के ग्रन्थों का स्वाध्याय, वेदान्तानुकूल साधना, ॐ कार का ध्यान तथा निष्काम कर्म के द्वारा मल, विक्षेप और आवरण-रूप मन के तीनों दोषों को दूर करो। ध्यान-शक्ति के द्वारा ही मन अपने सारे क्रिया-कलापों को सम्पादित करता है। ध्यान इच्छा शक्ति का आधार है। इसलिए ध्यान-शक्ति का उत्कर्ष करो। ध्यान-शक्ति वृद्धावस्था में दुर्बल हो जाती है।

(७) दान, जप, निष्काम-कर्म, यज्ञ, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य, सन्ध्या, तीर्थयात्रा, दम, शम, यम, नियम, स्वाध्याय, तप, व्रत, साधु-सेवा-ये सब चित्त-शुद्धि के लिए हैं।

(८) अन्नमय मन है, जलमय प्राण है और तेजोमयी वाणी है।

(९) यदि वास्तविक सत्वगुण से मन को शुद्ध रक्खा जाय तो सारे शरीर में अनायास प्राण-सञ्चालन होगा। भोजन का ठीक-ठीक परिपाक होगा और कोई भी रोग न उत्पन्न होगा।

(१०) मन के सात्त्विक होने पर ही आत्म-विचार हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(११) ध्यान में वासनायें बाधक होती हैं, अतः बड़े ही प्रयत्न, विचार, आत्मानात्म-विवेक और 'शिवोऽहं' भावना के द्वारा इनको निर्मूल कर डालना चाहिये। इनके अतिरिक्त उन लोगों का सहवास छोड़ना चाहिये जो बाधक जान पड़ें। व्यर्थ तर्क और विवाद न करो। बुद्धिहीन और मूढ़मति पुरुष को समझने की चेष्टा मत करो। मितभाषी बनो, मौन साधन करो और एकान्त सेवन करो। तुम सब प्रकार की उत्तेजनाओं से बच सकते हो। सदा सत्सङ्ग करो। योगवाशिष्ठ और उपनिषदादि सत्शास्त्रों का स्वाध्याय करो। सारे कुविचार स्वयं नष्ट हो जायेंगे।

(१२) आँख और कान वृत्तिजनक ज्ञान के द्वार हैं। आँखों को मूँद लो। और कानों को रूई के फोए से या मोम मिले हुए फोए से अथवा योनि-मुद्रा बनाते हुए दोनों अंगूठे से मूंद लो। ऐसा करने से जगत् के पाँच भागों में से दो को नष्ट कर देते हो। इन दोनों द्वारों से किसी प्रकार के वृत्तिज्ञान को मन में न घुसने दो। वाणी के द्वारा मन की किसी बात को बाहर न आने दो। मौन धारण करो। इससे तुम्हें साधना में सहायता मिलेगी। इस प्रकार तुम विघ्नों के तीन रास्तों को बन्द कर दोगे और इससे तुम्हें शान्ति-सुख मिलेगा। फिर ब्रह्म में यत्नपूर्वक ध्यान लगाओ।

(१३) जब तुम्हें अत्यन्त क्रोध हो तो तुरन्त आधे घण्टे के लिये अपने स्थान को छोड़ दो और दूर तक टहलने चले जाओ। 'ॐ शान्तिः' इस मन्त्र को १०८ बार जपो। तुम्हारा क्रोध दूर हो जायगा, मैं एक दूसरी सहज रीति तुम्हें बतलाता हूँ। जब तुम्हें क्रोध होने लगे तो (भगवन्नाम के साथ) एक से तीस तक गिन जाओ, क्रोध शान्त हो जायगा।

(१४) इस असार संसार के भाँति-भाँति के दुःखों का बारम्बार स्मरण करो। गीता अध्याय १३ श्लोक ८ को बार बार दुहराओ— 'जन्म,मृत्यु,जरा,व्याधि,दुःखदोषानुदर्शनम्' अर्थात् जन्म-मृत्यु बुढ़ापा और रोग के दोष और दुःख का अन्तःकरण में विवेचन करो। मोह नाश हो जायगा। सदा मन को समझाते रहो कि जगत् में केवल दुःख-ही दुःख है। साधना के अभिलाषी के लिये यह पहली साधना है। इससे वैराग्य बढ़ेगा। मन विषयों से मुख मोड़ लेगा और इन्द्रियों के विषयों का आकर्षण जाता रहेगा।

(१५)—(ज्ञानी—अज्ञानी)—ज्ञानी अपने को सर्वव्यापी ब्रह्म के साथ अभेदरूप से देखता है और अपने मन एवं शरीर को केवल व्यवहार का साधन समझता है। अज्ञानी अपने शरीर के साथ तद्रूप समझता है।

(१६)— ध्यान के समय सुगमता से सुखपूर्वक पद्म, सिद्ध, सुख या स्वस्तिक आसन से बैठो। सिर, गर्दन और शरीर को एक सीध में रक्खो। पुट्ठों, नस-नाड़ियों और मस्तिष्क को ढीला छोड़ दो। वासनात्मक मन को शान्त कर दो। मन के साथ भिड़ो मत। इसको शान्त और ढीला कर दो। केवल एक निरन्तर सौम्य-भाव से प्रवाहित होने वाली ब्रह्म भावना का उसमें प्रवेश होने दो। धीरे-धीरे दूसरी बाह्य सांसारिक भावनाओं को बाहर निकालो। बार-बार 'ॐ' या 'अहं ब्रह्मास्मि' का मानसिक जप करते हुए ब्रह्माकार-वृत्ति को सतत बनाये रखने की चेष्टा करो। अनन्त की भावना, प्रकाश के सिन्धु की भावना, पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द की भावना 'ॐ' के मानसिक जप के साथ-साथ होनी चाहिये। यदि मन भटके तो साढ़े तीन मात्रा के दीर्घ प्रणव का छः बार जप कर जाओ। यह क्रिया विक्षेप और दूसरे विघ्नों को दूर हटायगी।

(१७)—मन की कामना ही इस शरीर की रचना करती है। जिस प्रकार का संस्कार होता है, कामना भी मन में वैसी ही उठती है। यदि संस्कार अच्छे और धार्मिक हैं तो कामनाएँ भी अच्छी उठेंगी।

और यदि कामनायें अच्छी हैं तो संस्कार भी अच्छे ही पड़ेंगे। बुद्धि भी कर्मानुसार बनती है पुनीत धर्मशास्त्रों के उपदेशानुसार विचारने और कर्म में प्रवृत्त होने के, बार-बार प्रयत्न करके, इसे विशेषरूप से बनाने की आवश्यकता है। कामनाओं से विचार उत्पन्न होते हैं और विचार कार्यरूप में परिणत हो जाते हैं। एक बुरी कामना बुरे विचार और—

बुरे कर्म को उपस्थित करती है। सदा धार्मिक कर्म, दान, तप, जप, दम, ध्यान, धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करो। शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध कर्मों को छोड़ो। सदा सत्सङ्ग करो। यह अत्यन्त ही उपयोगी है। मन से बुरे संस्कारों के बदलने का यह एक ही उपाय है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प करो। इससे सम्पूर्ण सांसारिक कामनाएँ नष्ट हो जांयगी।

(१८) —सांसारिक कामनाओं में पड़ा हुआ मनुष्य वासनात्मक विचार तथा ईर्षा-द्वेष और घृणा के विचारों का ही आखेट बनता है। भौतिक सम्पत्ति और विश्व-विद्यालयों के मिथ्या ज्ञान के होते हुए भी उसकी अवस्था अत्यन्त शोकजनित रहती है। उसका सारा ज्ञान खोखला होता है। उसमें सन्तों, शास्त्रों और भगवान् में श्रद्धा नहीं होती। वह अपनी संकल्प-शक्ति की हीनता के कारण बुरी कामनाओं, प्रवृत्तियों और प्रलोभनों के हटाने में असमर्थ होता है। इस सांसारिक मद, सांसारिक टोने और सांसारिक माया जाल के दूर करने की एकमात्र औषधि है, सदा सत्सङ्ग करना सच्चे, साधु, सन्यासी और महात्माओं के साथ रहना।

(१९) —वह मनुष्य ही वास्तव में अधिपति और महाराजा है जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया है। वही मनुष्य सब से बड़ा धनी है जिसने कामनाओं, वासनाओं और अपने मन को जित लिया है।

(२०) —हे सांसारिक मूढ़ पुरुषो! तुम सुख को बाह्य जगत् के कामिनी और काञ्चन में क्या ढूँढते हो? तुम्हें वहां सुख कभी नहीं मिलेगा। तुम्हें पूर्णतया भ्रान्ति हो गई है। तुम एक दम माया जाल में फँस गये हो। अपने हृदय में, अपनी आत्मा को खोजो, जो सारे सुखों का मूल स्रोत हैं। अपने भीतर शक्ति भर, जी-जान से खोज करो। मन और इन्द्रियों पर विश्वास मत करो, वे तुम्हारे शत्रु हैं। कामिनी और काञ्चन तुम्हारे शत्रु हैं। यह दो प्रकार के दोष हैं।

(२१) —मन में राग-द्वेष का होना ही यथार्थ में कर्म है। यही मौलिक कर्म है। अविद्या से अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से अहङ्कार और अभिमान होते हैं, अभिमान से राग-द्वेश उत्पन्न होता है, और राग-द्वेष से कर्म, कर्म से शरीर मिलता है और शरीर से दुःख प्राप्त होता है। यही सात कड़ियों के द्वारा बंधन की शृङ्खला है। यही दुःख की शृङ्खला है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा इनके मूल अविद्या को ही नष्ट कर दो, सारी गृन्थियां छिन्न-भिन्न हो जांयगी। मुक्ति ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होती है।

(२२) —यदि तुम दुःख से प्रथक् रहना चाहते हो तो शरीर को मत धारण करो। यदि तुम्हें शरीर की आवश्यकता नहीं तो कर्म मत करो। यदि तुम कर्म करना नहीं चाहते तो राग-द्वेष को त्याग

दो। यदि राग-द्वेष को छोड़ना चाहते हो तो अभिमान को दूर करो। अभिमान को छोड़ने के लिये अविवेक को दूर करना आवश्यक है। अविवेक भी तभी दूर हट सकता है जब अविद्या दूर होती है। अतः अविद्या से पिण्ड छुड़ाने के लिये, ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करो।

(२३) —'मैं' 'तू' 'वह' आदि नाना भावों को तथा द्वैत भाव को छोड़ो। इनके स्थान में ब्रह्मभावना को ग्रहण करो। मन के सङ्कल्प-विकल्प को नष्ट करो। इसको ब्रह्मनिष्ठा या अद्वैत-निष्ठा कहते हैं।

(२४) —अहंकार नाश के चार उपाय हैं, दो अद्वैत की अन्वय एवं व्यतिरेक-विधियां; तीसरा भक्तों का आत्मसमर्पण और चौथा निष्काम-कर्म योगी का सम्पूर्ण आत्म-त्याग। वेदान्त की व्यतिरेक-विधि आत्म-निरोध है। 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'मैं मन नहीं हूँ'। ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या,' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म ही केवल सत्य है, जगत् मिथ्या है। [वस्तुतः] जीव ब्रह्म का अभेद है। इस भावना का ध्यान करो। अहंभाव का लोप हो जायगा। वेदान्त की अन्वय-विधि के अनुसार सब कुछ आत्मा ही है — 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं।

(२५)— मैत्री, करुणा, दया, विश्व-प्रेम, क्षमा, धृति, तितिक्षा और सहिष्णुता मन के सात्विक गुण हैं। मानव-जीवन को ये आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं। इनका पूर्ण विकास करना चाहिये।

(२६) —उस काम को करो जिसको मन नहीं करना चाहता। मन जिसको चाहता है उस काम को मत करो, यह मन के वश में करने और इच्छा शक्ति बढ़ाने का एक मार्ग है।

(२७) —मन, प्राण और वीर्य, ये तीनों एक ही शृङ्खला की तीन ग्रन्थियां हैं। ये सभी एक ही सम्बन्ध के अन्तर्गत हैं। ये जीवात्मा के महल के तीन स्तम्भ हैं। प्राण, मन या वीर्य इनमें से किसी एक स्तम्भ को नष्ट कर दो। सारा महल चूर-चूर धराशायी हो जायगा। तुम्हारा मिथ्या व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। यदि तुम अखण्ड ब्रह्मचर्य्य बारह वर्ष तक पालन करो तो तुम बिना प्रयास यों ही निर्विकल्प-समाधि में प्रवेश करोगे। मन अपने आप वश में हो जायगा। वीर्य शक्ति ही सर्व प्रधान शक्ति है, वीर्य ही स्वयं ब्रह्म है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी जो बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य्य का पालन कर लेता है, वह 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश सुनते ही निर्विकल्प-समाधि में स्थित हो जाता है। उसका मन अत्यन्त पवित्र दृढ़ और एकाग्र होता है। उसे श्रवण,-मनन के अभ्यास की आवश्यकता ही नहीं रहती। चालीस बूंद रक्त से एक बूंद वीर्य बनता है। एक बार के स्त्री-सहवास से जितनी शक्ति क्षीण होती है, वह चौबीस घंटे के मानसिक परिश्रम द्वारा मानसिक शक्ति की क्षीणता अथवा तीन दिन के शारीरिक श्रम के द्वारा शारीरिक शक्ति की क्षीणता के तुल्य है। देखो, वीर्य कैसी बहुमूल्य और महंगी वस्तु है। इस शक्ति को व्यर्थ नष्ट न करो।

(२८) —प्राणायाम, जप, विचार और भक्ति के द्वारा रज और तम को दूर करो, जो मन के सत्त्व को ढके रहते हैं। तब मन ध्यान के योग्य बन जाता है। जिस समय कि तुम सदा प्रसन्न रहते हो, जब तुम्हारा मन स्थिर और एकाग्र रहता है तब तुम समझ लो कि तुम योग में आगे बढ़ रहे हो और तुम्हारे सत्त्वगुण में अभिवृद्धि हो रही है।

(२९)— स्मरण रखो कि सङ्कल्प ही संसार है, इसका नाम ही मोक्ष है।

(३०)— —ध्यान के विषय में—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डक० २/४)

प्रणव [ओ३म्] धनुष है, मन बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। वह उसी के द्वारा बेधा जा सकता है जिसका चित्त एकाग्र है और तब [बेधने पर] वह ब्रह्ममय [तन्मय] हो जाता है, जैसे तीर अपने लक्ष्य में बिंध कर तन्मय हो जाता है।

मन को एकाग्र करने का अभ्यास करो। मन को एक विषय, एक भावना पर स्थित करो। लक्ष्य से जब मन भागे तो उसे बार-बार लौटाओ और उसी पर ही लगाओ। मन को अनेकों विचारमूर्त्ति निर्माण करने से रोको। मन का सावधानी से अन्तःप्रेक्षण [भीतर से देखना] करो और इसकी देख-भाल करते रहो। एकान्त बास करो। सङ्ग का त्याग करो। मिलना-जुलना छोड़ो। यही आवश्यक है। मन की शक्ति को व्यर्थ की कल्पनाओं, व्यर्थ के भय और आशङ्काओं में मत क्षीण होने दो। सतत अभ्यास से आधे घन्टे तक सवा घड़ी इस एक विचार के रूप में रोके रखो। मन को एक रूप धारणा करने दो और उसी में उसे निरन्तर पृथक् अभ्यास के द्वारा लगाये रखो। चिन्ता रहित होना ही उच्चतम ध्यान का प्राप्त करना है। इच्छा विहीन हो जाना ही परम पद का प्राप्त करना है।

क्रोध का प्रभाव

(३१)—मन में जब क्रोध प्रकट होता है तो प्राण अति शीघ्रतापूर्वक प्र-कम्पित होने लगता है। तुम उत्तेजित और क्षुभित होते हो। रक्त में बहुत से विषैले द्रव्य बन जाते है। ऐसी बहुत सी घटनाएँ पायी गयी हैं। जिनमें बच्चे अपनी क्रोधाभिभूत माता का दूध पीते ही मर गये। रक्त के क्षुभित होने पर उसका वीर्य पर प्रभाव पड़ता है और वह पतला हो जाता है।

[स्वामी श्री युगलानन्यशरणजी के द्वारा]

(३२) —चार पदार्थ हैं, [१] सदा घटती है आयु। [२] सदा बढ़ती है तृष्णा। [३] कभी घटे कभी बढ़े संकल्प-विकल्प और [४] कभी घटे न बढ़े प्रारब्ध-कर्म।

बुद्धि, नारी, मन, पुत्र—जिसके वश है, सो जीवन्मुक्त।

(३३)— इन छः जगह में जो संसारी वार्त्ता तथा प्रमाद करते हैं, तिनके तीन वर्ष के सकल सुकृत नाश हो जाते हैं। [१] प्रभु-मन्दिर में अन्य वार्त्ता, [२] श्मशान में, [३] मृतक समीप [४] गत रात्रि में, [५] सन्तों के समीप और [६] सुमिरण समय।

(३४) —निरन्तर भगवच्चिन्तन करो, तुम बहुत ही आसानी से मन को वश में कर सकोगे। भक्तियोग सरल और सहज है। कोई भी मनुष्य भगवान् का नाम-जप कर सकता है। कोई भी पुरुष उसका गुण गान कर सकता है। बिना माता के पुत्र की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार अनन्य भक्ति के बिना ज्ञान भी नहीं होता। जब भक्ति का पूर्ण परिपाक होता है, तब ब्रह्म-ज्ञान का बिना प्रयास ही उदय हो जाता है।

(३५) —निदिध्यासन में चिन्तन बन्द हो जाता है। केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना रह जाती है। जब यह भावना भी छोड़ दी जाती है तब निर्विकल्प समाधि अथवा सहज अद्वैत निष्ठा उत्पन्न हो जाती है। मन को अपने आप में लय करना ही मुक्ति हैं।

(३६)— उपवास इन्द्रियों को दुर्बल बनाता है। इससे ऐन्द्रिय-उत्तेजना नष्ट होती है। वासनारत युवक युवतियों को एकादशी का व्रत करना चाहिये। यह बहुत ही लाभदायक होता है। एकादशी भगवान् का दिन है। इससे भगवान् अत्यन्त सन्तुष्ट होंगे।

—वासनाओं पर अधिकार—

(३७) —काल्पनिक उपन्यास मत पढ़ो। विषय-वासना-सम्बन्धी बातचीत भी मत करो। ऐसे मनुष्यों का सङ्ग मत करो जो विषय वासना में डूबे हुए हैं। अपने मन और नेत्रों को सदा ही उन बाह्य विषयों से दूर रखने की चेष्टा करो जिनसे विषय-वासना की इच्छा उत्पन्न होती है। साधु सन्यासियों का सङ्ग करो। गीता, उपनिषद् और योगवशिष्ठ जैसे सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करो, जप और प्राणायाम करो। दूध फल आदि का लघु सात्त्विक भोजन करो। तुम वासनाओं पर अधिकार प्राप्त करोगे।

—ध्यान के लिए आवश्यक बातें—

(३८) —ध्यान के लिये प्रत्येक वस्तु सात्त्विक होनी चाहिये, ध्यान का स्थान सात्त्विक होना चाहिये, आहार सात्त्विक होना चाहिये, वस्त्र सात्त्विक होना चाहिये, संग सात्त्विक होना चाहिये, वार्त्तालाप सात्त्विक होना चाहिये, ध्वनि (शब्द) जो तुम सुनो वह भी सात्त्विक हो, विचार सात्त्विक हो और अध्ययन सात्त्विक हो। उपरोक्त सम्पूर्ण बातें सात्त्विकता में परिणित हो जानी चाहिये। सभी केवल, विशेष कर नये अभ्यासी के लिये अच्छी उन्नति सम्भव है।

सत्त्वगुण होने पर ही ध्यान लगना सम्भव है। पेट को कस कर ऊपर तक नहीं भरना

चाहिये। मन और पेट में एक घनिष्ट सम्बन्ध है। रात में भारी आहार करने से निद्रा आती है। ग्यारह बजे दिन में पूरा भोजन लो, और रात में आध सेर दूध लो रात्रि का भोजन उनके लिये हलका (लघु) होना चाहिये जो ध्यान करते हैं।

साधक को सरसों का तेल, मिर्च, नमक, इमली, खट्टे पदार्थ, प्याज, लहसुन, मांस, मछली, शराब, चाय, और हरा शाक त्याग देना चाहिये। दूध, फल, बादाम, ईख, घी, रात भर जल में भिगोया हुआ चना और रोटी ध्यान के लिये सुखावह हैं। थेड़, जो एक प्रकार का कन्द है और ब्रह्मपुरी, वशिष्ठ गुहा और हिमालय के दूसरे भागों में अधिकता से पाया जाता है, बहुत ही सात्त्विक होता है। इससे ध्यान में सहायता मिलती है। और चाय भी छोड़ देनी चाहिये इससे वीर्य नाश होता है। चीनी भी सामान्य ही मात्रा में लेनी चाहिये। इसका त्याग कर देना तो और भी अच्छा है। सोंठ का सेवन साधन के लिये बहुत अच्छा है। इसे दूध के साथ लेना चाहिये। यह वात को दूर करता है और पाचन में सहायक होता है। योगी बहुधा इसका सेवन करते हैं। योगी त्रिफला भी सेवन करते हैं। यह मलावरोध दूर करता है और आमाशय को शीतल करता है तथा स्वप्नों को रोकता है। योग के साधकों को हरीत की (हर्रे) का भी कभी कभी सेवन करना चाहिये, यह वीर्य प्रद होता है और पतन को रोकता है। बिना नमक के उबला हुआ या आग में पकाया हुआ आलू बहुत अच्छा है।

योग सम्बन्धी त्रैत

ध्यानावस्था में इन्हें मन में जपो:—

(१) मन की शुद्धि (२) मन की एकाग्रता (३) मन की तल्लीनता। यह त्रैत है, इसे याद रक्खो। मन को शुद्ध करो, काम-क्रोधादि मल को दूर करो। निःस्वार्थ और निष्काम करो। इससे मन शुद्ध होगा। उपासना, प्राणायाम, त्राटक और राजयोग का 'चित्तवृत्तिनिरोध' करो। इससे एकाग्रता में सहायता मिलेगी, तब निरन्तर और गम्भीर ध्यान करो। अन्त में मन तल्लीन हो जायगा।

ज्ञान सम्बन्धी त्रैत

साधन करते समय इन्हें मन में रखो। ये वस्तुतः तुम्हें अत्यन्त सहायक होंगे:—

(१) चिन्तन, (२) मनन और (३) निदिध्यासन। यह एक दूसरा त्रैत है, इसे याद रखो। आत्म-चिन्तन करो। मन को आत्मा से पूर्ण करो, तब मन भ्रमरकीट के समान ब्रह्माकार (तदाकार, तद्रूप, तनमय, (तल्लीन) हो जायगा। जैसा तुम चिन्तन करते हो वैसा ही बनते रहो। अपने को ब्रह्म चिन्तन करो, तुम ब्रह्म हो जाओगे।

आनन्द के अभाव के कारण मन में इच्छायें उत्पन्न होती हैं। परन्तु यह बात कभी न भूलो कि सच्चिदानन्द (ब्रह्म) स्वयं ही इस जगत् में और तुम्हारे हृदय की गुहा में छिपा हुआ है। वह प्रवासी अधिराजा है। तुम्हें शुद्ध मन से ध्यान और धारणा के द्वारा उसे खोजना पड़ेगा। यही आँख मिचौनी वास्तविक खेल है।

बन्धन वासना के कारण ही होता है। वासना के दूर होते ही बन्धन छूट जाता है। ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा सारी वासनाएँ जो भोगमूलक होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। सारी वासनाओं के निकलने के साथ ही अक्षुब्ध चित्त निर्वात दीपक की भांति शान्त-अवस्था को प्राप्त होता है।

(३९) एक आध्यात्मिक गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति अपने शिष्य को प्रदान करता है। उस गुरु के कुछ आध्यात्मिक कम्पन शिष्य के मन में उपस्थित होते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति अपने शिष्य विवेकानन्द को प्रदान की थी। महात्मा ईसा ने यही काम अपने शिष्यों के प्रति किया। यह प्रभु का आन्तरिक आध्यात्मिक सम्पर्क है। समर्थ गुरु रामदास के एक शिष्य ने अपनी शक्ति उस नर्तकी को प्रदान की थी, जो उसकी ओर (वासनात्मक) करुण-दृष्टि से देख रही थी। उस शिष्य ने उसकी ओर देखा और उसे समाधिस्थ कर दिया। उसकी वासना नष्ट हो गई, वह बहुत ही धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन बिताने लगी। मुकुन्दराय नामक एक महाराष्ट्र सन्त ने बहादुरशाह को समाधिस्थ कर दिया था।

(४०) आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय में जिनकी रुचि है, वे तत्काल ही फल-प्राप्ति की कामना नहीं करते, वरं क्रमशः नियमपूर्वक उन पर चिन्तन करते हैं। इससे मन धीरे-धीरे परिपक्व होता जाता है और अन्त में विभुस्वरूप आत्मा की प्राप्ति हो जाती है।

(४१) विचार साधारणतः विषयों की ओर सहज ही प्रभावित होते हैं। मन को विषयों से हटा कर भगवान् में लगाना वैसा ही कठिन है जैसे गंगाजी की धारा को गंगासागर की ओर से बद्रीनारायण की ओर प्रवाहित करना। तथापि तुम्हें यह करना होगा, यदि तुम जन्म मृत्यु का, अन्य सारे सांसारिक झंझटों से छुटकारा पाना चाहते हो। इससे बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

जब वैराग्य और उपरति के द्वारा मन विषयों से खींच लिया जाता है, तब इसे स्वप्न या मनोराज्य की ओर नहीं जाने देना चाहिये। ध्यान में यह दो विघ्न हैं। इसे एकाग्र करो और स्वरूप में स्थिर होने दो, तभी ब्रह्माकार वृत्ति का उदय होगा। यही ब्रह्मज्ञान साथ रहने वाली अविद्या का नाशक है। ब्रह्माकार वृत्ति को तैलधारावत् निरन्तर प्रभावित होने दो, तब निरतिशय आनन्द फूट पड़ेगा। ऐसी अवस्था में सर्व जगत् केवल सत्, चित्, आनन्दरूप जान पड़ेगा। यह विचार भी नष्ट हो जायगा और तुम सहजानन्दावस्था अर्थात् अद्वैत-अवस्थारूप समाधि में प्रविष्ट होगे।

(४२) साधक के मन में स्त्री के स्मरण या दर्शन से अशुभ भावनाएँ उत्तेजित होती हैं, इससे वह पुरुष जिसने इस जगत् को त्याग कर आध्यात्मिक साधन में अपने को लगा दिया है, तप के फल से वञ्चित रह जाता है। साधनाकाल में स्त्री-सहवास को सर्वथा त्याग करो। ग्रहस्थ के साथ मत रहो। आध्यात्मिक चिन्तन में मन को पूरा-पूरा लगाये रक्खो।

(४३) जब तुम्हारे संकल्प जो तितर बितर हो रहे हैं, एकत्रित किये जांयगे और तुम शान्त अवस्था में आओगे तो शाश्वत आनन्दमय आत्मा चमक उठेगा, जैसे सूर्य स्वच्छ जल के ऊपर चमकता

दीख पड़ता है। शान्ति, धन, दारा या भोग में नहीं रहती। जब मन संकल्पहीन और कामनाहीन हो जाता है तो आत्मा चमक उठता है और शाश्वत आनन्द और शान्ति की वर्षा करता है। फिर तुम बाहरी विषयों में व्यर्थ ही सुख के लिए क्यों भटकते हो? अन्दर खोजो, अपने आनन्द के लिए अपने भीतर सत्-चित्-आनन्द में अमृत ढूँढो।

बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न सुख क्षणिक, परिवर्त्तनशील और निःसार है, वह केवल तन्तुओं को उत्तेजित करने वाला और मानसिक भ्रम है। शरीर शोक और रोग का निवास स्थान है। धन की प्राप्ति और उसकी रक्षा में भाँति-भाँति की विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। प्रत्येक सम्पर्क से दुःख उद्भव होता है। स्त्री दुःख का एक नियत कारण है। शोक है कि मनुष्य इस प्रकार के कष्टों को उस कष्ट की अपेक्षा जो आत्मिक सुख प्रदान करता है विशेष रूप से ग्रहण करते हैं। आत्मज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों का अवलोकन करो। सदा सत्सङ्ग करो। भावपूर्ण होकर 'ॐ' का प्रतिदिन २१६०० जाप करो इसमें बहुत थोड़ा समय लगेगा। आत्मा या श्रीकृष्ण का ध्यान धरो। ब्रह्मानुभव करो। केवल इसी से तुम्हें सारे सांसारिक दुःखों से छुटकारा मिलेगा और तुम्हें शाश्वत शान्ति, ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होगी।

ज्ञान

(४४) ज्ञान के चार स्रोत हैं, १. स्वाभाविक ज्ञान, २. तार्किक ज्ञान, ३. अन्तर्ज्ञान और ४. ब्रह्म-ज्ञान।

(१)—स्वाभाविक ज्ञान पशु-पक्षियों में पाया जाता है। पक्षियों में अहंकार स्वतंत्र दैवी प्रवाह तथा दैवीक्रीड़ा में बाधक नहीं होता अतः स्वभावतः जो काम पक्षियों द्वारा होता है वह मानव-जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण होता है। क्या तुम अद्भुत घोंसले की रचना में पक्षियों के कौशल का नमूना नहीं पाते हो?

(२)—तार्किक ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान से श्रेष्ठ है। और वह मनुष्यों में पाया जाता है। यह तथ्य सङ्कलन करता है, उसका विशदीकरण करता है, कारण कार्य और कार्य से कारण की तर्कना करता है। अनुयामक वाक्यों से परिणाम निकलता है और साध्य से प्रमाण की ओर अग्रसर होता है। यह परिणाम निकालता है, निर्णय करता है और परामर्श प्रदान करता है। यह तुम्हें सावधानी से अन्तःकरण के समीप पहुँचाता है

(३)—अन्तर्ज्ञान में तर्क की आवश्यकता नहीं होती। वहाँ तो वस्तु का प्रत्यक्ष होना है। एक चमक में तुम्हें वस्तु ज्ञान हो जाता है। अन्तर्ज्ञान तर्क से बढ़कर है परन्तु उसकी उपेक्षा नहीं करता। कारण-शरीर की क्रियाओं के द्वारा जो ज्ञान होता है वह अन्तर्ज्ञान है।

(४)—आत्म-ज्ञान अन्तर्ज्ञान के परे है। यह कारण-शरीर का अतिक्रमण करता है। यह ज्ञान की परमावस्था है। यही केवल सत्य है।

(४५) ज्ञान के सात क्षेत्र हैं—१. प्रभाव, २. प्रत्यक्ष, ३. अन्तर्दृष्टि ४. अन्तर्ज्ञान, ५. तप, ६. दिव्यज्ञान और ७. परमानन्द-अवस्था।

काम-वासना

(४६) बीज में सारा वृक्ष अपनी शाखाओं, पत्तियों और फलों के साथ सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है। इनके प्रकट होने में समय लगता है। इसी प्रकार कामवासना बचपन से ही मन में लुका-छिपी करती रहती है, अठारह वर्ष की उम्र में प्रकट होती है, पचीस वर्ष की अवस्था में सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है, पचीस से पतालीस वर्ष की अवस्था तक बनी रहती है और तब गिरने लगती है। इस बीच में भांति २ के दुष्कर्म और पाप मनुष्य-जीवन में होते हैं। लड़के और लड़की के आचार में कोई विशेष भेद नहीं पाया जाता, जब तक वे यौवन में रहते हैं। युवावस्था को प्राप्त होने पर वे अपने आचारानुकूल कर्मों को करने लगते हैं।

तृष्णा नाश

(४७) तृष्णा ही जन्म लेने का प्रधान कारण है, इसी तृष्णा से संकल्प और कर्म होते हैं। तृष्णा के द्वारा ही संसार-चक्र गतिशील रक्खा जाता है, प्रारम्भ में ही उसे नष्ट कर दो तभी तुम्हारा कुशल है, तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी। ब्रह्मभावना, ब्रह्मचिन्तन, ॐ का ध्यान और भक्ति तृष्णा की जमी हुई जड़ को उखाड़ फेकेंगे। तुम्हें उनको जड़-मूल से उखाड़ कर दग्ध कर देना होगा जिससे उनका पुनर्जन्म न हो सके। तभी तुम्हें अपने प्रयत्न से निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होगी।

सन्तोष और शान्ति

(४८) भोग के द्वारा सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। विचारना ही भूल है। भोग इच्छा को जीवित करता है और उसे पुष्ट बनाता है, वैराग्य और त्याग से ही मन को संतोष और शान्ति मिलती है।

(४९) भोजन केवल शक्ति की राशि है, जल से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, वायु भी शक्ति प्रदान करती है। तुम भोजन के बिना बहुत दिनों तक जी सकते हो, परन्तु हवा के बिना चन्द मिनट भी नहीं जी सकते। प्राण प्रद वायु (Oxygen) बहुत ही आवश्यक वस्तु है। शरीर की रक्षा के लिये केवल शक्ति की आवश्यकता है। यदि तुम किसी दूसरे उपाय से शक्ति प्राप्त कर सको तो तुम भोजन बिलकुल ही छोड़ सकते हो। योगी लोग अमृत पान करके बिना भोजन किये भी शरीर को बनाये रखते हैं। वह अमृत तालु के एक रन्ध्र में प्रवाहित होता है। ज्ञानी अपने शुद्ध और अजेय संकल्प से शक्ति प्राप्त कर सकता है। यदि तुम सौर शक्ति या द्यु-शक्ति से शक्ति के आकर्षण की विधि को जान लो तो तुम केवल इसी शक्ति से वर्षों तक

शरीर का पालन कर सकते हो और तब तुम भोजन को भी त्याग सकते हो।

(५०) शाम्भवी मुद्रा, भृकुटी - दृष्टि, नासिकाग्र दृष्टि, नादानुसन्धान यह सब लय योग में होते हैं। इन अभ्यासों के द्वारा मन शीघ्र ही लय अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उन्मनी अवस्था बहुत ही शीघ्र आ उपस्थित होती है। लय-योगियों की उन्मनी अवस्था भक्तों की भाव-समाधि के तुल्य है। शाम्भवी मुद्रा में आँख तो खुली रहती है परन्तु मन लक्ष्य में लगा रहता है। आँखें बाह्य विषयों को नहीं देखती।

(५१) संन्यासी को संसार की हित कामना से सीढ़ी पर उतरना ही आवश्यक नहीं, वह अपने शुद्ध पराक्रमी विचार-कम्पन के द्वारा तब भी संसार का हित करता है जब वह एक गुहा में रहता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। उसका जीवन ही उपदेशमय है। ब्रह्मानुभव के लिये एक जीता-जागता प्रमाण है। एक संन्यासी या योगी किसी संस्था का सभापति या किसी सामाजिक या राज्यनैतिक-आन्दोलन का नेता नहीं हो सकता। संन्यासी का धर्म शङ्कर के अद्वैत-वेदान्त का प्रचार करना है और अध्यात्मज्ञान का विस्तार करना है।

(५२) जप, प्राणायाम, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, दान, यज्ञ, तप और निःस्वार्थ सेवा के द्वारा मन को शुद्ध करो, तब इसको भगवान में लगाओ। मन के प्रवाह को आध्यात्मिक प्रवाह के साथ मिला दो। तब समाधि स्वयमेव प्राप्त हो जायगी।

तुरीय पद

(५३) तुरीय एक आध्यात्मिक दशा है, जब मन की क्रीड़ा नहीं होती है, जब ब्रह्म में मन निमग्न हो जाता है, यह चतुर्थ परिमाण है जिसमें अनन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। यह आलस्य, विस्मृति या विनाश की अवस्था नहीं है, यह तो पूर्ण चैतन्य-दशा है जिसका वर्णन हो ही नहीं सकता। यह सबका चरम लक्ष्य है, इसे मुक्ति कहते हैं, यही मोक्ष है।

(५४) भाषायें विभिन्न होती हैं, पर विचार एक होता है। सब मनुष्यों में मानसिक आकृति एक ही सी होती है। वाणी (ध्वनि) के चार रूप या भाव होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी साधरण बात-चीत (भाषा) को कहते हैं। यह विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की होती है, परन्तु परा, पश्यन्ती और मध्यमा (सर्वत्र) एक और समानरूप से रहती हैं। परा अभेद वाणी (ध्वनि) है जो ब्रह्म में सुप्त रहती है। देवताओं की भाषा, मानसिक भूमि की भाषा एक होती है, उसे ही मध्यमा कहते हैं। कारण-शरीर का चक्राकार कम्पन पश्यन्ती कहलाती है, वही तुम्हारा यथार्थ नाम है। जब तुम अपने कारण-शरीर के द्वारा क्रियाशील होते हो, जब तुम अन्तर्दृष्टा कारण-शरीर के नेत्रों से अथवा दिव्य-दृष्टि से देखते हो तब तुम पश्यन्ती ध्वनि (वाणी) को जो तुम्हारा वास्तविक नाम है, सुन सकते हो।

मन का वश करना

(५५) राजयोगी त्रिकुटी (अग्निचक्र में दोनों भौं ओं के बीच) में मन को जमाता है जो जाग्रदवस्था में मन के रहने का स्थान है। यदि तुम मन को इस देश में एकाग्र करो तो तुम मन को सुगमता से वश में कर सकते हो। अभ्यास करते समय बहुत ही शीघ्र यहाँ तक कि एक दिन के अभ्यास में ही कुछ मनुष्यों को इस देश में प्रकाश दीख पड़ता है। जो विराट् का ध्यान करना चाहते हैं तथा जो संसार की सहायता करना चाहते हैं उन्हें मन की एकाग्रता के लिये इस देश को चुनना चाहिये। भक्त या साधक को भावना तथा अनुभव के आधार भूत स्थान हृदय में मन को जमाना चाहिए। जो हृदय में मन को केन्द्रीभूत करता है उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। जो स्वयमेव कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं उन्हें हृदय में ही मन को एकाग्र करना चाहिये।

निर्गुण ध्यान में, या तो त्रिकुटि अथवा सहस्त्र-पद्म में तुम्हें मन को केन्द्रीभूत करना चाहिए। वेदान्ती भी हृदय में ही मन को एकाग्र करते हैं।

(५६) जितने व्यक्तिगत मन हैं उतने प्रकार की अध्यात्मिक साधनायें भी हैं। जो एक मन के उपयुक्त हैं वह दूसरे मन के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती। एक मनुष्य के मन के लिये राजयोग बहुत सुगम हो सकता है, तो दूसरे मनुष्य के मन के लिये ज्ञान योग सरल होगा। एक प्रकार का तप एक मन के लिये अनुकूल है तो दूसरा तप दूसरे मन के अनुकूल होगा।

(५७) मन का वास्तविक दोष कामना है। काम-वासना-भोग के लिये आकर्षण, सबसे बड़ा दोष है, यह बन्धन का कारण होता है। ब्रह्म चिन्तन सारी कामनाओं को नष्ट कर देता है; ब्रह्म में कामना नहीं होती। ब्रह्म शुद्ध स्वरूप है। 'ॐ' का जप करो—इस मन्त्र का जप करो कि—'शुद्धोऽस्मि'; सारी कामनायें अदृश्य हो जाँयगी।

मन की निर्बलता

(५८) क्षुब्ध हो उठना मन की दुर्बलता है, यदि तुम सुगमता से क्षुब्ध हो उठते हो तो तुमसे अनेकों का बुरा हो सकता है। धैर्य, तितिक्षा, सहनशीलता, करुणा, दया, प्रेम, ब्रह्मभाव, नारायणभाव आदि के द्वारा इस महान् त्रुटि को हटाओ।

(ii) तन्द्रा, वासना, मन की अस्त-व्यस्त दशा तथा मनोरथ—यह ब्रह्म में मन को लगाने में प्रधान बाधक हैं। इन विघ्नों को लघु सात्विक भोजन और विचार ही दूर कर सकते हैं।

(५९) आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए मन इसकी शुद्धता और इसे वश में कर सकती है और इसकी चंचलता को रोक सकती है।

जब एक बार आत्मनिष्ठा और आत्मानुभूति हो जाती है तो वह फिर कभी विस्मृत नहीं होती, आत्मनिष्ठा का संस्कार जब एक बार पड़ जाता है तो वह फिर मन से मिटाया नहीं जा सकता। वह सदा मन से लगा रहता है।

(६०) तुम अष्ट-सिद्धियों की क्यों चिन्ता करते हो वे बिलकुल ही व्यर्थ हैं। यदि वह प्रकट होना चाहें तो भी उन्हें कठोरता पूर्वक दूर हटाओ। वे तुम्हें भ्रम में डाल देंगी जिससे तुम्हारा पतन हो जायगा। हे साधक! सावधान् हो जाओ। भगवान् बुद्ध ने मार को (प्रलोभन और सिद्धि को) दूर हटाया था। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करो। तब तुम्हें सब कुछ मिल जायगा। सारी आध्यात्मिक सिद्धियां हाथ फैला कर तुम्हारा स्वागत करेंगी। तब तुम्हारा पतन न होगा।

राजयोगी को उपदेश--

(६१) राजयोगी को, जो मन को वश में करना चाहता है, उसे वासना और तामसिक तप की दोनों सीमाओं से बचना होगा। अधिक उपवास से दुर्बलता आ जाती है और तुम कोई साधना नहीं कर सकते, तुम चिन्तन नहीं कर सकते और तुम मनन नहीं कर सकते। अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन लो, इसके विषय में विशेष आडम्बर मत बढ़ाओ। कोई भी हिंसा और अपवित्रता से रहित आहार जो आसानी से प्राप्त हो जाता है तथा तुम्हारे मन और शरीर के अनुकूल है, सात्त्विक है।

प्राणायाम अर्थात् श्वांस-क्रिया को वश में करने से रजोगुण और तमोगुण के परदे जो सत्यगुण के प्रभाव को छिपाये रखते हैं, हट जाते हैं, इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं। इससे मन दृढ़ और स्थिर हो जाता है और एकाग्रता के योग्य बन जाता है। मन का कूड़ा प्राणायाम के द्वारा शुद्ध होता है, जैसे स्वर्ण की मैल उसके गलाने से छूटती है।

दैनिक कार्य्य-क्रम

पहले-पहल रात दिन भगवान् में मन को लगाना कठिन होता है। जैसे ही ध्यान से उपराम मिली, मन घूमने लगता है और अपने स्वभाव को प्राप्त करने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न करता है। तुम इसके बुरे अभ्यासों को रोकने का कौनसा अभ्यास करोगे? तुम्हें अवश्य ही दूसरा सात्विक विषय ग्रहण करने के लिये उपस्थित करना चाहिये। यह विभिन्नता इच्छानुसार करना है। कुछ समय तक दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ो और समाप्त होते ही, जो कुछ तुमने अध्ययन किया है, उसे नोट करलो। इस दशा में तुम कुछ समय लगा सकते हो। इससे मन कुछ ढीला हो जायगा। इससे एक मन बहलाव भी हो जायगा। अपनी योग्यता के अनुसार तुम अपना कुछ समय दीन और रोगियों की सेवा में लगा सकते हो। मैं तुम्हारे दैनिक कार्य-क्रम का एक ढाँचा बना कर नीचे देता हूँ:—

१—ध्यान	८ घण्टे	२० घड़ी
२—अध्ययन	४ ,,	१० ,,
३—लिखना	२ ,,	५ ,,
४—सेवा	२ ,,	५ ,,
५—भोजन-स्नानादि	२ ,,	५ ,,
६—सोना (निद्रा)	६ ,,	१५ ,,

(६२) यदि दर्पण मैला है तो तुम अपने मुँह को स्पष्ट नहीं देख सकते, इसी प्रकार यदि मन मैला है तो तुम आत्मा को नहीं देख सकते। काम, क्रोध, लोभ आदि ही मल हैं, इन्हें निरन्तर निष्काम कर्मयोग के द्वारा दूर करो।

(६३) एक मनुष्य मन की एकाग्रता के द्वारा गुप्त सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। पर उसमें मानसिक पवित्रता की कमी हो सकती है। आत्मानुभव के लिये मानसिक पवित्रता प्रथम आवश्यकीय वस्तु है।

श्री राम और कृष्ण—

(६४) श्रीराम और श्रीकृष्ण सदा, यहाँ तक कि जब राज्य करते थे तब भी ब्रह्म में स्थित रहते (स्वरूप-स्थित) थे। मनुष्य के रूप में रहने पर भी वे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप में विराजमान थे। जब वे भांति-भांति के कामों में लगे रहते थे तो अपने शरीर और मन को अपने करता के समान काम में लाते थे। बहुतेरे दृढ़ मायावादी वेदान्ती समझते हैं कि ज्ञानी एक अशक्य मनुष्य होता है। ऐसा कदापि नहीं है। राजयोगी अपने यौगिक संयम द्वारा जो कुछ करता है ज्ञानी भी अपने सत्संकल्प से वही करता है। सामान्यतः उसे भी इच्छायें होती हैं। वह चाहता है तत्काल तैयार पाता है।

जीवन्मुक्त—राजा जनक

राजा जनक ने ज्ञान प्राप्त कर अपने मन और शरीर को मानव जाति के हित-साधन में लगाया था। जीवन्मुक्त पुरुष को यद्यपि असीम शक्ति प्राप्त होती है तथापि वह अविच्छन्न मन के द्वारा अपनी समस्त सिद्धियों का प्रकाश नहीं कर पाता।

सत्य

(६५) यदि तुम बारह वर्ष तक सत्य का अभ्यास करो तो तुम्हें वाक्सिद्धि प्राप्त हो जायगी। जो तुम कहोगे वही हो जायगा, चिन्ता दूर हो जायँगी। सत्य-भाषण के द्वारा बहुतेरे दोषों से बच जाओगे।

साधन स्थान

(६६) गंगा तथा नर्मदा का तट, हिमालय के सुरम्य दृश्य, सुन्दर पुष्पों की वाटिकाएँ, पवित्र मन्दिर—ये ऐसे स्थान हैं जो मन को ध्यान तथा एकाग्रता के लिये उठाते हैं। उनके ही शरणापन्न हो ओ। एकान्त स्थान, उत्तर काशी, ऋषिकेश, बद्रीनारायण—जैसे आध्यात्मिक भावों को उत्तेजना देने वाले स्थान, शीत प्रदेश और अनुकूल जलवायु ये अवस्थाएँ मन को एकाग्र करने के लिये अत्यन्त ही आवश्यक हैं।

वासनाक्षय, मनोनाश तथा तत्वज्ञान

(६७) वासना-क्षय मनोनाश तथा तत्वज्ञान का जब दीर्घकाल तक अभ्यास होता है तभी वह फलीभूत होते हैं। इनका क्रमशः अभ्यास होना चाहिये। इन तीनों का जब तक बारम्बार अभ्यास नहीं होता तब

तक सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी परम तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ तक कि इनमें से एक का ही बहुत समय तक अभ्यास किया जाय तो उसे फलीभूत होने की आशा नहीं रहती चिर-कालतक इन तीनों के अभ्यास से निस्सन्देह कमल-दण्ड के युग्म खण्ड के जोड़ने वाले तन्तु के टूटने के समान हृदय की दृढ़ ग्रन्थि कट जाती है।

दोष (दूसरों का)

(६८) भौतिक शरीर और वाणी का पहले संयम करो। तब धीरे-धीरे विचारों को वश में करने के लिये आगे बढ़ो। दूसरे का दोष मत देखो। वागिन्द्रिय का संयम पहले करो। धीरे-धीरे मन दूसरों में दोष-दृष्टि छोड़ने लगेगा। मन स्वयमेव कहेगा—'जब वाणी प्रकट करने के लिये तैयार नहीं है तो मैं ही क्यों दूसरे के दोषों का चिन्तन करूँ?' आचार शुद्ध होने ही से कर्मों पर तुम्हारा अधिकार हो सकेगा। जब तुम किसी मनुष्य के दोषों को प्रकट करते हो तो कितने मनुष्यों के मन को तुम विषाक्त कर देते हो। दूसरों का दोष दिखलाना बड़ा ही घृणित कर्म है। परन्तु यथा समय निष्पक्ष आलोचना की जा सकती है।

ज्ञान

(६९) ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रवण, मनन, और निदिध्यासन तीन वेदान्त की क्रियाएँ होती हैं। यदि तुम श्रुति का श्रवण करते हो तो दश बार उसका मनन करो और सौ बार निदिध्यासन करो तभी श्रवण का यथार्थ फल मिलेगा। और भी –

सिद्धासन अथवा पद्मासन में बैठो, आँखों को मूँद लो। त्रिपुटी की ओर एक टकटकी से देखो और पाँच मिनट तक पंद्रह (पल) उच्च स्वर से जोर से प्रणव का जप करो। इससे मन का विक्षेप दूर हो जायगा, फिर ध्यान लगेगा। अब ब्रह्म भावना के साथ भीतर ही भीतर मन से ॐ का उच्चारण करो। जैसे मन शान्त हो, ॐ का मानसिक जप करो। सगुण ध्यान में भी वही क्रिया ग्रहण की जा सकती है। फिर कहते हैं।

ध्यान करते समय आँखें क्यों मूँद लेते हो? आँखें खोल कर ध्यान करो। शहर के शोर-गुल में रहने पर भी तुम्हें मन को समाहित रखना होगा। तभी तुम पूर्ण होते हो। प्रारम्भ में जब तुम नवीन अभ्यासी रहते हो उस समय मन की चञ्चलता को दूर करने लिए तुम आँखें मूँद सकते हो क्योंकि जब तुम बहुत ही दुर्बल रहते हो। परन्तु पीछे तुम्हें आँखें खोल कर, यहाँ तक कि चलते-चलते भी ध्यान करना चाहिये। खूब दृढ़तापूर्वक चिन्तन करो कि जगत् है ही नहीं केवल आत्मा ही है। तब तुम आँखों के खुले रहते हुए भी आत्मा का ध्यान कर सकोगे तभी तुम बलवान् बनोगे। ज्ञानी जगत् में बिलकुल ही प्रवेश नहीं करते, परन्तु हम सदा देखते हैं कि वे लोकसंग्रह के लिए संसार में आते हैं।

(७०) मन माया है। जब मन सरगर्मी से विषयों की ओर दौड़ता है तब माया मनुष्य के ऊपर अपना अधिकार जमाती है। माया मन के द्वारा ही विकास करती है। जीव संकल्पों का आखेट बन

जाता है इच्छाओं, संकल्पों और विषयों का त्याग करो। वैराग्यशील बनो। इस तुच्छ 'अहँ' को त्याग दो। समस्त संकल्प इसी 'अहँ' को घेरे और लिपटे रहते हैं वे इसी 'अहँ' से उत्पन्न होते हैं। शरीर का विशेष ध्यान न रक्खो। जहाँ तक कम हो सके, शरीर और इसकी आवश्यकताओं का विचार करो। गुरु के पास जाओ, उपनिषद्, गीता, विवेकचूड़ामणि, आत्मबोध, पञ्चदशी आदि का और अन्त में योगवाशिष्ठ का अध्ययन करो। बारम्बार चिन्तन करो। ब्रह्मभावना को संग्रहित कर उस में अभ्यस्त कर उसमें लीन हो जाओ। मन की अन्तर्मुखी वृत्ति हो जायगी और अन्त में तुम्हें कैवल्य निष्ठा प्राप्त होगी।

(७१) तुम केवल अपने अथक परिश्रम और निर्भय शक्ति के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकते हो। गुरु और शास्त्र तुम्हें मार्ग दिखा सकते हैं और तुम्हारे संशयों का निवारण कर सकते हैं। अपरोक्ष अनुभव तो तुम्हें अपनी चेष्टा से ही होगा। मूर्ख मनुष्य को स्वतः ही भोजन करना पड़ता है। जिसे खुजली हुई होती है उसे ही शरीर खुजलाना पड़ता है।

(७२) संकल्प न करो। चञ्चल मन स्वयमेव नष्ट हो जायगा, वह ब्रह्म में मिल जायगा और तब तुम्हें साक्षात्कार की प्राप्ति होगी। जब मन का नाश होता है 'मैं', 'तू', 'यह', 'समय', 'देश', 'जीव', 'जगत्' सब का अभाव हो जाता है। भीतर और बाहर की भावना जाती रहती है। केवल एक अखंड चिदाकाश का अनुभव रह जाता है। जो परिपूर्ण है। हृदय में ज्ञान होने से समस्त संशय और भ्रम निवृत्त हो जाते हैं।

ईश्वर अनुभव की सप्त भूमिका।

१ – प्रथम भूमिका में सर्व भूतों की अस्तित्व के अन्तर छिपी हुई एक अन्य सत्ता को प्रतीत किया जाता है जो कभी विकृत भाव को प्राप्त नहीं होती, जो भूतों की प्रत्येक अवस्था में बनी रहती है। यह प्रतीति इस प्रकार होती है जब कि मनुष्य सर्व भूतों को विकृत होते, एक अवस्था से दूसरी में बदलते देखता है जैसे वृक्ष उगता, बढता, पत्र, पुष्प और फल लाता और फिर सर्व पत्रों, पुष्पों, फलों को देख कर कुछ समय के लिये शुष्क हो जाता है, मानो शुष्क काष्ट खड़ा है, समय व्यतीत होने पर फिर पूर्ववत् हरा भरा और मोहित करने वाला प्रकट होता है, वृक्ष की इस गति को बार बार देख कर यह प्रतीत होता है कि ऐसी सत्ता अवश्य है जो इसको विविध अवस्था में डाल कर भी उसके अस्तित्व को बनाये रखती है। अनेक वृक्ष ऐसे मिलते हैं जिनको मनुष्य ने कभी नहीं बोया न कभी पानी दिया वह भी अनेक अवस्थाओं में गुज़रते हुए स्थित रहते हैं। पृथ्वी से ऐसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते, रूप दिखाते और समाते रहते हैं। इन सब पदार्थों के भीतर कोई ऐसी अद्भुत शक्ति है जो इन सर्व को अपने बल से प्रकट करती, रूप दिखाती और फिर गुप्त कर लेती है। जैसा वृक्षादि में देखा जाता है वैसे ही पशुओं में देखा जाता है। अनेक प्रकार के पशु अपनी २ योनि से प्रकट होते, कुछ काल तक स्थित रहते और फिर मर जाते हैं। कौन इनके भीतर रह कर उनको परस्पर मिलाता, उत्पत्ति करता और फिर स्थित रख कर लोप कर देता है। इसी

प्रकार मनुष्यों में, मनुष्य को गर्भ में डाल वहां शरीर बना कर बाहर निकालता, जगत् में प्रकट कर कुछ काल स्थित रखता और फिर अप्रकट कर देता है। वृक्ष, पशु, मनुष्य की भांति अनेक देवताओं को प्रकट करता, स्थित रखता और अदृष्ट करता रहता है। इनके अतिरिक्त अनेकानेक असंख्य तारागणों, नक्षत्रों ग्रहों, उपग्रहों को प्रकट करता, उनसे कार्य कराता और फिर अव्यक्त कर देता है। यह विचित्र जगत् जो असंख्य उच्च नीच लोकों से पूरित प्रतीत होता है अवश्य किसी महान् सत्ता वा ईश के आश्रय है जो उनके भीतर छिपे रह कर उनके ज्ञान से परे होकर कार्य्य करता है। जो सब पदार्थों को अपनी सत्ता से सत्तावान् करता हुआ उनके भीतर सदैव छिपा रहता है। यद्यपि वह उन सर्व को अपनी सत्ता देकर प्रकट करता और स्थित रखता है तथापि वह सृजत पदार्थ अपने सृष्टा को नहीं जानते। वह ऐसे गूढ़तम देश में छिपा हुआ है कि उनकी गम्यता वहां तक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रथम भूमिका में साधक को यह प्रतीत है कि कोई महान् सत्ता है जो सर्व भूतों को प्रकट करती, रूपवान करती, स्थित रखती और अदृष्ट करती है। वास्तव में यह ही एक सत्ता है जो सर्व के भीतर होकर उन द्वारा अपने सौन्दर्य्य को दिखाकर मोहित करती है। पदार्थों में शोभा, कान्ति, पवित्रता, और सुन्दरता उसी एक महान् सत्ता से आती है, उसी के अन्तर वास करने और कार्य्य करने से सर्व पदार्थ कार्य्य करते दिखाई देते हैं। यह प्रथम भूमिका साधन की है। जिसमें ईश्वर सर्व पदार्थों में छिपा हुआ एक महान् सत्तारूप प्रतीत होता है।

इसका प्रमाण महात्माओं के लेखों में बहुत स्थानों में पाया जाता है, जैसे श्वेताश्वतर उपनिषत् में लिखा है कि:—

तिलेषु तैलं दधिनीवसर्पिरापः स्रोतः स्वरणिषुचाग्नि ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसायोऽनु पश्यति ॥

अर्थ—जैसे तिलों में तेल (छिपा हुआ है) दधि में घी, स्रोतों में जल, और लकड़ियों में अग्नि, वैसे ही वह आत्मा आत्मा में (छिपा हुआ है) लब्ध उसे होता है जो इसको सत्य से और तप से देखता है।

कठोपनिषत् में कथन किया है:—

तन्दुदर्शङ्गठमनु प्रविष्टं, गुहा हितङ्गह्वरेष्ठम्पुराणम् ।
अध्यात्योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौजहाति ॥

अर्थ—उस दुर्दर्श (दुःख से देखने योग्य), छिपे हुए, सर्व के पीछे होकर प्रवेश किये हुए, गुफा (अन्तःकरण) के अत्यन्त गहरे स्थान में स्थित, सनातन देव को अध्यात्मयोग की प्राप्ति द्वारा जान कर धीर (पुरुष) हर्ष शोक को त्याग देता है।

श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब में गुरु अर्जुन देवजी कथन करते हैं:—

राग सोरठ महल्ला (५)

सकल बिनस्पति में बैसन्तर सकल दूध में घीआ ।
ऊँच नीच में ज्योति समानी घट घट माधो जीआ ॥ १ ॥
सन्तहु घट घट रहिया समाहिओ
पूर्ण पूर रहियो सर्व में जल थल रमिआ आहियो ॥ १ ॥

। रहाउ ।

गुण निधान नानक यश गावे सतगुरु भरम चुकाइयो
सर्व निवासी सदा अलेपा सब में रहिया समाइयो ॥ २ ॥

अनेक अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं परन्तु यहां इतने ही पर्याप्त हैं। प्रयोजन यह है कि प्रथम भूमिका में ईश्वर महान् सत्तारूप में सर्व भूतों में छिपा हुआ प्रतीत होता है।

२—द्वितीय भूमिका में साधक ईश्वर की एवं चराचर सूक्ष्म और स्थल पदार्थों के अन्तर और बाहिर व्यापक प्रतीत होता है। जैसे प्राण सब के भीतर और बाहर सर्व को आवृत किये हुए स्थित है वैसे ही ईश्वर भी अति सूक्ष्मरूप से प्राण प्राण का प्राण होकर सर्व व्यापक है। यह सिद्धान्त है कि जितनी वस्तु सूक्ष्म होगी उतनी ही दूसरी स्थूल वस्तुओं को अपने अन्तर लेकर स्थित होगी जैसे आकाश जो सर्व तत्त्वों से अति सूक्ष्म है इस कारण सर्व को व्याप्त कर स्थित है, वैसे ही ईश्वर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से सर्व को अपने में लेकर स्थित है। जैसे यह स्थूल शरीर पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होते, उन्हीं द्वारा स्थित रहते और उन्हीं में लय हो जाते हैं, मानों यह शरीर पञ्च-महाभूतों में ही सदैव वास करते हैं, उन्हीं से सदा आवृत्त हैं, वैसे ही सकल चराचर जगत् महान् ईश्वर से उत्पन्न होते, उसी की सत्ता द्वारा स्थित रहते और उसी में लय होते हैं, माना एक ईश्वर ही सर्व का निवास स्थान है, उसी में सारे रहते हैं। जैसे मातृगर्भ में बालक पड़ा हुआ होता है, उसी में उसको यथोचित भोजन मिलता है, वहीं उसकी पोषणा होती है, वैसे ही यह सकल जीव बालक की भाँति ईश्वर रूप महान् माता के गर्भ में स्थित हैं, उसी से उनकी धारणा पोषणा और वृद्धि के लिए यथोचित पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह परम महान् माता सर्व को अपनी सत्तारूप गर्भ में लिए हुए उनसे अतीत स्थित है यद्यपि सब को आवृत कर स्थित है तथापि अपने स्वरूप में सदैव सर्वातीत है। जैसे कहा है:—

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्निखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्नि प्रतप्ताय सपिण्डवत् ॥

अर्थ—जैसे अग्नि तपते हुये लोहे के गोले के भीतर और बाहिर व्याप्त रहकर उसे भी प्रकाश करती

है और आप भी प्रकाशित रहती है, वैसे ही ब्रह्म सारे पदार्थों के भीतर और बाहिर व्याप्त रह कर सम्पूर्ण जगत् को भी प्रकाशित करता है और आप भी प्रकाशित होता है।

ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त चेतन पदार्थों और पृथ्वी से लेकर प्रकृति पर्यन्त जड़ पदार्थों को यदि एक साथ जोड़ा जावे और उन सर्व में छिपी हुई महान् सत्ता को अनुभव किया जावे तो ईश्वर की सर्व व्यापकता स्वतः प्रकट होगी। यह सर्व व्यापकता देश, काल और अवस्था की बाधा से परे है। वह सर्व देश, सर्व-काल और सर्व अवस्था में निरन्तर विद्यमान रहती है। जैसे समुद्र मीन के सर्व देशों अर्थात् उसके शरीर के प्रत्येक स्थान वा अंग में व्याप्त होता है, सदैव उसके संग रहता है और जन्म से मरण पर्यन्त प्रत्येक अवस्था में उसको धारण करता हुआ उसको आवृत किए हुए रहता है, वैसे ही महान् समुद्ररूप ईश्वर मीनरूप सर्व जीवों के अन्तर और बाहर सर्व समय और सर्व अवस्था में उनको धारण किए हुए स्थित है। जिस कारण ईश्वर सर्व के भीतर और बाहर सर्वकाल और सर्व अवस्था में सर्व को व्याप्त कर स्थिर है इस कारण उपनिषत् में कथन किया है कि:—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच ॐ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः।

वह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी का वाणी, वही प्राण का प्राण और चक्षुः का चक्षुः है।

इसका भाव यह है कि ईश्वर सर्व व्यापक सर्व का आधारभूत हुआ सर्व को जीवन दे रहा है, सर्व का अस्तित्व उसी के अस्तित्व के आश्रय है। यह श्रोत्र उसके श्रवण इन्द्रिय का काम नहीं देता, प्रत्युत उसकी शक्ति को पाकर ही यह श्रवण इन्द्रिय बनता है। यह मन के उस चिन्तन का काम नहीं देता, प्रत्युत यह मन उसकी शक्ति को पाकर ही चिन्तन करने के योग्य होता है, यह वाणी उसके बोलने का काम नहीं देती, प्रत्युत उसकी सत्ता को पाकर बोलने के योग्य बनती है, यह प्राण उसको क्रियाशक्ति का काम नहीं देता, प्रत्युत उसके बल को पाकर प्राणरूप वा क्रिया शक्ति बनता है, इसी प्रकार यह चक्षुः उसके देखने का काम नहीं देती, प्रस्तुत उसकी सामर्थ्य को प्राप्त कर देखने के योग्य होती है।

जैसे सूर्य्य देव सकल चराचर जगत् (सौर्य्य जगत्) अपने प्रकाश, अपने तेज अपने बल को सर्व ओर विस्तारित कर रहा है, जगत् में कोई ऐसी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु नहीं जो उसके प्रकाश, तेज और बल से व्याप्त न हो, क्या जड़ क्या चेतन सम्पूर्ण भूतों में एक सूर्यदेव की शक्ति कार्य कर रही है इसलिए उसको जगत् का जीवन दाता कहा है। वैसे ही ईश्वर ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः होने से सूर्य का भी सूर्य होकर सकल चराचर जगत् को अपनी सर्व व्यापक सत्ता से आवृत कर रहा है। सूर्य देव तो उस परमज्योतिः का प्रतिबिम्ब है, वास्तविक सर्व भूतों का जीवन शक्ति दान एक ईश्वर है जो सर्व को सर्वतः अपनी परम सत्ता से घेर रहा है। यह ईश्वर अनुभव की दूसरी भूमिका है जिससे उसकी सर्व व्यापकता का ज्ञान होता है।

३ – तृतीय भूमिका में ईश्वर ब्राह्मण्ड में वा ब्रह्माण्डों में एक महान् स्वानुभव चेतन केन्द्र प्रतीत होता है जिसकी विविध और अनेक शक्तियां सकल ब्रह्माण्ड में सर्वतः विस्तृत हो रही हैं। ब्रह्माण्ड में सर्व भूतों का वह अन्तरात्मा है, उसी से निःसृत होकर सारे जगत् को जीवन दे रहा है यह ब्रह्माण्ड मानों उसका शरीर है और इसका मूल केन्द्र, नियन्ता और अधिपति है। जितने चेतन वरिष्ठ पदार्थ जगत् में पाये जाते

हैं। सकल उसकी चैतन्यता को पाकर ही चैतन्य हो रहे हैं, मानो वह उस परम ज्योतिः की चिनगारियाँ हैं, जैसे रथ में धुरी उसका आधारभूत होती है, वैसे ही इस महान रथरूप जगत् की धुरी रूप एक ईश्वर हैं, सर्व के मूलाधार सर्व के केन्द्र स्थान वही हैं। द्वितीय भूमिका में तो ईश्वर की सर्व व्यापकता अनुभव होती थी परन्तु इसमें ईश्वर को एक महान केन्द्र महान् पुरुष में देखा जाता है। सर्व व्यापकता में तो केवल उसकी सत्ता का प्रकाश चारों ओर सर्वत्र विस्तृत हुआ देखा जाता था, परन्तु इस तृतीय भूमिका में स्वयं उस महान् पुरुष को, उस परम ज्योतिः का अनुभव किया जाता है जिसका प्रकाश सर्वत्र फैल रहा था। जैसे जीवात्मा का प्रकाश सारे शरीर में फैल रहा है, इसी कारण शरीर भी चेतनवत् दीखता है, परन्तु वह जीवात्मा उस शरीर से विभिन्न अपने चेतन स्वानुभव रूप में इसका केन्द्र स्थानी होकर भी स्थित है, उसके रहने से ही यह शरीर जीवित है, उसी से चलता फिरता हैं; वैसे ही ईश्वर यद्यपि अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशयुक्त कर रहा है तथापि सर्व से विभिन्न होकर सकल के मूल में स्थित सर्व का केन्द्र है। इसी कारण भगवत्गीता में कथन किया है कि:—

मया तत मिदं सर्वं जवदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ (अ० ६ श्लोक ४)

अर्थ—मुझ अव्यक्त मूर्त्ति (स्वरूप) करके यह सारा जगत् व्याप्त है, सर्व भूत मुझ में निवास करते हैं (अर्थात् मेरे आधार स्थित हैं) परन्तु मैं उनमें स्थिति नहीं करता। (अर्थात् मैं उनके आधार स्थित नहीं)।

इसका भाव यही प्रतीत होता है कि ईश्वर यद्यपि अपनी सर्वव्यापक सत्ता करके सर्व व्याप्त है तथापि सर्व से विभिन्न भी अपने स्वानुभवरूप में सब का आधार भूत होकर स्थित है। उपनिषद् में भी कथन किया है:—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयोन ज्यायोस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थ—जिससे परे और उरे कुछ नहीं है, जिससे छोटा और बड़ा कोई नहीं है। वह पुरुष अपने दिव्यरूप में वृक्ष की भाँति स्तब्ध भाव से अकेला स्थित है, यह सारा (जगत्) उससे भरपूर है।

इसका भाव यही है कि वह ईश्वर (पुरुष) अपने दिव्यरूप में अकेला स्थित है। यद्यपि अपने प्रकाश से सर्व में पूर्ण है, तथापि अपने स्वरूप से सर्व से भिन्न, विलक्षण होकर सर्व के मूल में आधार भूत होकर विराजमान् है।

फिर वृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि:—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरायः सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्व्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्व्वाणि भूतान्यिन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्याम्य वृतः। ३/७/१५ ॥

अर्थ— जो सब भूतों में स्थित होकर, सब भूतों से निराला है, जिसे सब भूत नहीं जानते, सब भूत जिसके शरीर हैं, जो सब भूतों के अन्तरवर्ती होकर उन्हें नियमित करता है वही अमृत स्वरूप आत्मा तेरा अन्तर्यामी है।

मुण्डकोपनिषद् में कथन किया है कि:—

अग्निमूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
२/२/४

अग्नि जिसका मस्तक, चन्द्र सूर्य्य जिसके दोनों नेत्र, दशों दिशा जिसके दोनों करण, प्रसिद्ध चारों वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसका प्राण, विश्व जिसका हृदय, पृथ्वी जिसके चरण हैं निश्चय यही सर्व भूतों का अन्तरात्मा है।

फिर यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णन करता है कि:—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सभूमि ॐ सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ यजुःअ०३१/१/

सहस्र (अनेक) शिरवाला, सहस्र नेत्रवाला, सहस्र चरणवाला पुरुष है। वह भूमि (सारे जगत्) को सर्व ओर से घेर कर उस से परे दशांगुल रूप से स्थित है।

यदि सारे जगत् को एक शरीर कल्पना करें और उसके अन्तर एक नियामक ईश्वर को पुरुष रूप समझें तो ईश्वर को सहस्र शीर्ष सहस्राक्ष और सहस्रपात् ही कहना पड़ेगा क्योंकि जगत् रूप शरीर में अगणित जीव हैं जिनके शरीर भी अगणित ही हैं, नेत्र भी अगणित और चरण भी असंख्य हैं। अतएव ईश्वर को जो उनके अन्तर नियन्ता रूप से उनके आधार में स्थित हैं सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात् कहना सर्वथा योग्य है। यद्यपि वह सर्व को घेर कर सर्व के अन्तर स्थित है तथापि अपने स्वरूप से सर्व से विभिन्न सर्व से परे दशांगुल (दश तत्वों वाला) रूप से स्थित है। इसलिये तृतीय भूमिका में ईश्वर को सर्व का अन्तरात्मा सर्व का केन्द्र, सर्व का मूलाधार महान् पुरुष में अनुभव किया जाता है।

(४)—चतुर्थ भूमिका में ईश्वर को "कर्माध्यक्ष" रूप में अनुभव किया जाता है, ईश्वर न केवल सर्व गूढ़, सर्वव्यापी और सर्वातीत, सर्व के मूलकेन्द्र, मूलाधार हैं, किन्तु वह सर्व के मूल कारण होकर, सर्व के रक्षक होकर सर्वदर्शी होने से सर्व के कर्मों के साक्षी हैं। आधि-भौतिक कर्म आधिदैविक कर्म और आध्यात्मिक कर्म जितने संसार में जीवों द्वारा किये जाते हैं सर्व पर ईश्वर की दृष्टि रहती है, सर्व को ईश्वर देखते हैं, इसीलिये पुण्य कर्म करने में उत्साह, धैर्य, बल और प्रसन्नता प्रेरणा करते हैं और पाप कर्म के करने में अन्तर, अशान्ति, निर्बलता, अन्धकार और आत्मग्लानि उत्पन्न करते हैं। पुण्य कर्म करने में

प्रकाश, हृदय-प्रफुल्लता और पुरुषार्थ का आविर्भाव आत्मा में होता है; इसके विरुद्ध पाप कर्म में आत्म-अन्धकार, हृदय-उदासीनता और आलस्य आदि प्रकट होते हैं। यह सर्व ईश्वर के कर्म साक्षी होने से ही होते हैं। जिस कर्म के करने से ईश्वर-सृष्टि में ज्ञान, प्रेम, पवित्रता, न्याय, दया, मङ्गल-भाव और सत्य आदि का प्रकाश होता है उस कर्म में कर्मकर्त्ता को अधिकतर बल और अधिकतर ज्योतिः दी जाती है, जिससे वह पूर्व से अधिकतर पुरुषार्थवान् और ज्ञानवान् होकर सम्यक् युक्त रीति से कल्याणकारी हित कर कर्म कर सके। और जिस कर्म से अज्ञान, अप्रीति, अपवित्रता, अन्याय, क्रूरता, अकल्याणकारी और असत्य का प्रचार हो उस कर्म में कर्मकर्त्ता के मन में अज्ञान का अन्धकार छा जाता है, आलस्य और निर्बलता आक्रमण कर लेती है। यह अटल नियम ईश्वर की ओर से सृष्टि में विस्तृत हो रहा है उनके कर्म साक्षी होने से ही कर्म की मर्य्यादा सृष्टि में चल रही है। न्यायालय इस पृथ्वी में ईश्वर की ओर से नियत हुए हैं। राजा महाराजा लोग ईश्वर के प्रतिनिधि होकर कर्म की नीति को अपनी २ बुद्धि अनुसार सम्यक् चलाने का प्रयत्न करते हैं। सत्कर्मों के प्रचार करने हेतु और असत् कर्मों के नाश करने के लिये दृष्टान्त रूप होकर समय समय पर अवतार, महापुरुष, ज्ञानी, आचार्य-जगत् में प्रकट होते हैं, यह सर्व ईश्वर की आज्ञा को लेकर आते हैं, जीवों को सत्य-पथ दिखलाते हैं, सन्मार्ग में चलने के लिये उपदेश देते हैं, ईश्वर के अटल नियम को कि पुन्य कर्म में पवित्रता और ज्ञान और आनन्द प्राप्त होता है और पापकर्म में अपवित्रता, अज्ञान और उदासीनता या निरानन्दता मिलती है, अपने उपदेशों से विविध वाक्यों द्वारा प्रचार करते हैं। ईश्वर की आज्ञा को पाकर ही ऋषिजनों ने धर्म का प्रचार किया, वर्णाश्रम धर्म वर्णन किये, गृह धर्म, जाति धर्म, देश धर्म कथन किये, इनके अतिरिक्त संध्यावन्दन आदि नित्य कर्म और षोड़श संस्कार रूप नैमित्तिक कर्म स्थापन किये, अन्य अनेक ऐसे सत्कर्मों का प्रचार किया जिनसे मनुष्य जाति उन्नति को प्राप्त हो। विशेष २ अवसरों पर विशेष २ कर्म,पूजा और दान आदि करना जैसे सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि के समय, इसके सिवाय अनेक प्रकार के उत्सव-समय नियत किये, जिनमें अवश्य मनुष्य को इस २ प्रकार से व्रत करना, इस २ विधि से पूजा करना, पाठ करना और अन्य पुण्यकर्म करना चाहिये। बहुत लिखने की कुछ आवश्यक्ता नहीं, धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र इसी भाव को लेकर रचे गये कि जिससे मनुष्य जाति सृष्टि में ईश्वर के नियमानुसार बर्ताव करती हुई उन्नति पथ में अग्रसर होकर ईश्वर के साथ सहयोगी होकर कर्म करे। मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने यह जो कर्म काण्ड किया और अनेक ग्रन्थ लिखे, सर्व इसलिये किया कि ईश्वर सृष्टि के रचयिता और मूलाधार होकर कर्म साक्षी भी हैं, जिस कर्म को वह अपनी सृष्टि में फैलाने से सर्व भूतों का कल्याण और उन्नति समझते हैं उसी को अपने सेवकों द्वारा सृष्टि में प्रकट करते हैं। सर्व जीवों के कर्म साक्षी कर्माध्यक्ष होने से ही कर्म का इतना प्रचार जगत् में हो रहा है। जो लोग संसारासक्ति से उठ कर तनिक आत्म दृष्टि को लेकर सृष्टि को देखते हैं तो उनको प्रतीत होता है कि जीवों के कर्म करते हुए उनके पीछे उनके कर्मों के देखने वाले कर्मों को यथा विधि चलाने वाले, कर्म विधाता कर्म सर्वदर्शी भगवान् विराजमान हैं, उनकी प्रेरणा से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, उनको सर्वगत कर्म तरङ्ग सर्व में तरङ्गित हो रही है। कोई जीव सृष्टि में बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसका क्या कारण है? इसका यही है कि ईश्वर सर्व के भीतर कर्म की चिङ्गारी को अपनी महान् शक्ति से सुलगा रहे हैं। इसलिये कौन ऐसा जीव है जो उस कर्म चिङ्गारी को शांत कर सकता है। जैसे भूतल जीव भास्मि की क्रिया से क्रियावान् हो रहे हैं। यद्यपि उनको प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार पृथ्वी सूर्य की गति से गतिमान् हो रही है और सूर्य अन्य सूर्य की गति से व्याप्त होकर गतिमान् हो रहा है

और इन सब को आवृत्त कर परम देव महान् अनन्त परमेश्वर की अनन्त शक्तिमयी गति हो रही है। यद्यपि यह महान् उच्च और सूक्ष्म गति सर्व में हो रही है, तथापि साधारण मनुष्य जाति को इसका किंचित् ज्ञान नहीं। यही कर्म-गति है जो सर्व को कर्म में अवरत प्रवृत्त करा रही है। स्वयं ईश्वर जब कर्म में प्रवृत्त हैं तब उनके आश्रित किस प्रकार कर्मरहित हो सकते हैं। चिन्तन करते २ जब हम यह जान जाते हैं कि हमारे कर्मों के साक्षी वह सर्व अन्तरात्मा परम पुरुष जगदीश्वर हैं तब हम सत्कर्म में सदा प्रवृत्त रहते हैं, सर्वदा मंगलकारी हितकारी कर्म करने में रत रहते हैं। पाप कर्म से भय और घृणा हो जाती है, पुण्य कर्म से प्रीति और बढ़ती है। यह चतुर्थ भूमिका है जिसमें ईश्वर को कर्माध्यक्ष, कर्मसाक्षी अनुभव किया जाता है।

५—पंचम भूमिका में ईश्वर को "सर्व वशी" रूप में अनुभव किया जाता है। यह सारा जगत् क्या स्थावर क्या जंगम एक ईश्वर के अधिकार में स्थिति करता है। जैसे सारा जगत एक ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, वैसे ही यह उसी से रक्षित हुआ उसी के अधिकार में स्थित है। कीट से लेकर ब्रह्मा पर्य्यन्त जितने पदार्थ हैं और पृथ्वी से लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्त जितने जड़ पदार्थ (अनन्त लोक) हैं सर्व एक ईश्वर की वशीकारता वा शासना में स्थित हैं। सर्व को वश में रखने वाला, सर्व का शासन करने वाला, सर्व को अपनी आज्ञा में चलाने वाला एक ईश्वर ही है। उसके पूर्ण ज्ञानवान्, पूर्ण सामर्थ्यवान् होने से ही सकल संसार की शास्ति हो रही है। वह अपने परम ज्ञान से, अपने परम बल से सर्व को शासन में रखता है, सर्व को अप नेकल्याणकारी नियम पर चलाता है। सब के अन्तर में रह कर, अन्तरतम रह कर सर्व को अपनी आज्ञा में चलाता है। कोई उसकी आज्ञा को भंग नहीं कर सकता, कोई उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। जैसे वह आप अमर, अविनाशी और अव्यय है वैसे उसके नियम भी अटल, टूटने योग्य नहीं, सर्व ब्रह्माण्ड में उसका राज्य है, वह राजाओं के राजा महाराजा हैं, उनकी राज्यनीति सर्व श्रेयस्कर राज्य नीति है। वह सर्व का स्वामी होकर सर्व पर स्वामित्व रखता है, सर्व को अपने शासन से शासित कर रहा है, जैसे उपनिषत् में कथन किया है:—

"एतस्य वा अक्षरस्य शसासने गार्गि सूर्य्याचन्द्र मसौविधृतौ तिष्ठत। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्र्यार्द्धम् मासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृता तिष्ठज्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्यो ऽन्यानद्यः स्पन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः अतीत्यो ऽन्या यां याञ्च दिशमन्वेति"। (ब्रहदारण्यके ।३।८।९।)

अर्थ इसी अविनाशी (पुरुष) के शासन से हे गार्गि! सूर्य चन्द्र धारे हुए स्थित हैं, इसी प्रकार (पुरुष) के प्रशासन से हे गार्गि! द्युलोक और पृथिवी लोक धारे हुए स्थित हैं, इसी प्रकार (क्षरण रहित पुरुष) के शासन से हे गार्गि! निमेष, मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर, धारे हुए स्थित हैं, इसी अक्षर के प्रशासन से हे गार्गि! कितनी ही पूर्व वाहिनी नदियें श्वेत पर्वतों से निकल कर बहती हैं और कितनी ही पश्चिम वाहिनी नदियें जिन्हें जिस दिशा में वह लगाता है"।

और भी लिखा है:—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" ॥ (कठोपनिषत्)

इस ईश्वर के भय से अग्नि प्रज्वलित होती है, (इसके) भय से सूर्य उत्ताप देता है, (इसके भय से चन्द्र (वारि वर्षण करता है), वायु चलता है और पांचवी मृत्यु धावमान होती है।

अन्य कथन किया है:—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुखंशाश्वतन्नेतरेषाम् ॥" (कठोपनिषत्)

एक (ईश्वर) वशी (सर्व को वश में रखने वाला) है, सर्व भूतों का अन्तरात्मा है, जो एक बीज को बहुत प्रकार का करता है। उस आत्मस्थ को जो धीर पुरुष देखते हैं उनको नित्य सुख प्राप्त होता है, इतर (अन्य) पुरुषों को नहीं"

"स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी। सर्वस्यैशनः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवा साधुना कनीयान् ॥"
(बृ० उ०)

वह यह (प्रत्यक्ष) आत्मा महान्, जन्म रहित है, जो यह विज्ञानमय प्राणों में है। हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें जो यह सोता है, (वह) सर्व को वश में रखने वाला सर्व का ईशान (सर्व को नियम में चलाने वाला) सर्व का अधिपति है। वह अच्छे कर्मों से बड़ा नहीं होता, न बुरे कर्मों से छोटा होता है।

उपरोक्त वाक्यों से सिद्ध होता है कि एक ईश्वर ही सर्व को वश में रखने वाला है, वही सर्व को अपने नियम वत कर चला रहा है, सारा जगत् उसी की आज्ञा से चल रहा है। जैसे चुम्बक लोहे को खैंच कर अपने संग मिलाये रखता है, वैसे ही ईश्वर परम आकर्षणशील, परम शक्तिवान् होने से सर्व को खैंचे हुए अपने वश में चला रहा है। जैसे रथनाभि रथ के अरों को अपने में जोड़े रखती है, और तभी रथ चल सकता है, वैसे ही ईश्वर इस सारे ब्रह्माण्ड का नाभि रूप है, सर्व नाम रूप धारी पदार्थ उसके अरे हैं, सारे एक ईश्वर से जुड़े हुए हैं, उसी से शक्ति पाकर सारे कार्य्यों को कर रहे हैं, मानो ईश्वर तो सर्व का स्रोतस् है और प्राण की धारायें उससे निकल २ कर सर्व को जीवन दे रही हैं। यह स्रोतस् सर्व के मध्य में स्थित है। और अनेक धारावत् होकर अपने चारों ओर सर्व जीव रूप क्षेत्रों को पृथक् पृथक् धाराओं से स्रावित कर रहा है। अतएव कौन ऐसा जीव हो सकता है जो उसके वश में नहीं है।

भगवत्गीता में लिखा है कि जगत् में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो ईश्वर की सत्ता बिना रह सके। जब एक परम ज्योतिर्मय महान् पुरुष सर्व को सर्व के मध्य स्थित होकर अपने परम मोहन रूप द्वारा अपनी ओर खैंच रहा है, तब कौन ऐसा जीव है जो उसकी खैंच से बाहर हो सके। यह सारा चक्र उसी का रचा हुआ है, वह इस चक्र में स्थित रह कर सर्व को चक्र दे रहा है। उसी के माया रूप मन्च पर चढ़े हुए सकल जीव भ्रम में हैं, मानो वही सर्व को घुमा रहा है। इसलिये एक ईश्वर ही सर्व वशी है। गुरु नानक साहिब अपने पवित्र वाक्यों में कथन करते हैं कि:—

हुकमी होवन आकार हुकम न कहिया गाई।
हुकमी होवन जीअ हुकम मिले वडियाई॥
हुकमी उत्तम नीच हुकमी लिख दुःख सुख पाइये।
इकना हुकम बख़शीश इक हुकमी सदा भवाइये॥
हुकमें अन्दर सबको बाहिर हुकम न कोई।
नानक हुकमे जे बुझे तां हौमे कहे न कोई॥

अर्थात्—एक सत्य पुरुष ईश्वर की आज्ञा (शासन) से ही आकार (रूप) होते हैं, पर यह अनुशासन कहने में नहीं आ सकता (क्योंकि मन वाणी से परे है), अनुशासन (आज्ञा) से ही जीव होते हैं, आज्ञा से ही उनको बड़ाई मिलती है, हुकम से ही उत्तम (पुण्यवान्) और नीच (पापी) होते हैं, आज्ञा के लिखे अनुसार ही सुख दुःख मिलता है। अनेकों को आज्ञा से (पुरस्कार) मिलता है, और कई आज्ञा से देश देशान्तर फिरते रहते हैं।

सब कुछ आज्ञा के भीतर (अनुकूल) हो रहा है, आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं होता। नानक साहिब कहते हैं कि यदि (जीव) आज्ञा को बूझ (पहचान) जावे तो कोई अहंकार का वाक्य नहीं कहेगा।

आसा की बार में कथन किया है कि ईश्वर की कुदरत (शक्ति) से सब कुछ हो रहा है:—

कुदरत दिस्से कुदरत सुनिये कुदरत भौ (१) सुखसार।
कुदरत पातालीं आकाशी कुदरत सर्व आकार॥
कुदरत वेद पुराण कितेबां कुदरत सर्व बिचार।
कुदरत खाना पीना पहनन कुदरत सर्व पिआर॥
कुदरत जातीं जिनसीं रंगीं कुदरत जीअ जहान।

[१] भय।

कुदरत ने कीआं कुदरत वदीआं कुदरत मान अभिमान ।
कुदरत पौन पानी बैसंतर कुदरत धरती खाक ।
सब तेरी कुदरत तू क़ादर कर्त्ता पाकी नाई पाक ॥
नानक हुकमे अन्दर वेखे वर्ते ताको ताक ।

जैसे देह के सर्व अङ्ग, सर्व इन्द्रियां, सर्व नाड़ियां, सप्त धातु; एक जीवात्मा के वश में होकर अपना अपना नियत कार्य कर रहे हैं, सर्व पर जीवात्मा का अधिकार है, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड रूप देह में सर्व भूत क्या जड़ क्या चेतन एक ईश्वर के वश में स्थित रहते हैं, एक उसी की आज्ञा में चलते हैं, कोई उसकी आज्ञा को उलङ्घन नहीं कर सकता, वह सर्व वशी और सर्व का अधिपति है। यह ईश्वर अनुभव की पञ्चम भूमिका है जिसमें साधक उसको "सर्व वशीरूप" में देखता है।

(६)—षष्ठम् भूमिका में ईश्वर सर्व का "साक्षी" सर्व से निर्लेप प्रतीत होता है। यद्यपि सर्व को उत्पन्न करता, स्थित रखता और लय करता है, तथापि किसी के सङ्ग आसक्त नहीं होता, मोह रहित हुआ (२) सर्व कार्य्यों को कर रहा है। यह नियम देखते हैं कि दूसरी वस्तु में आसक्ति तब होती है जब अपने में किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो, दूसरी वस्तु को लेने की इच्छा तब होती है जब अपने पास कुछ न्यूनता हो। ईश्वर में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, किसी प्रकार की न्यूनता नहीं, वह पूर्ण, वह सर्व है, इसलिये उसका किसी से मोह नहीं, किसी में आसक्ति नहीं, वह उदासीनवत् सर्व में स्थित है। सृष्टि के प्रकट करने में उसका कुछ घटता नहीं, भय करने में कुछ अधिक नहीं होता, सर्वसाक्षी होकर सर्व में स्थित है। सर्व की सर्व चक्षुः होकर देख रहा है, सर्व को यथोचित कर्म में नियुक्त कर रहा है, सर्व को शासित कर रहा है, परन्तु किसी के संग लिप्त नहीं होता, सदैव प्रसंग, बन्धन रहित स्थित है। भगवद्गीता में कथन किया है कि यद्यपि मैं अपनी प्रकृति का आश्रय होकर अखिल भूत समूह को बारंबार प्रकृति के वश से रचता हूं, तथापिः—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीन वदासीन मसक्तम् तेषु कर्मसु ॥ ८ ॥

वह कर्म मुझको हे धनंजय ! बांधते नहीं। उदासीनवत् उन कर्मों में आसक्त हुआ स्थित हूँ।

जब ईश्वर उदासीन की न्याईं स्थित है तब सृष्टि कैसे चलती है ? सो कहते हैंः—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम् ।
हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ ९ ॥ १० ॥

[२] पवित्रों का पवित्र।

मेरे अध्यक्ष [साक्षी] होने से प्रकृति चराचर सहित प्रकट होती है। हे कुन्ती पुत्र! इस हेतु से जगत् चला रहा है।

कठोपनिषत् में लिखा है:—

सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषै।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेनबाह्य॥

जैसे सूर्य सर्व लोक (जगत्) चक्षुः (दृष्टि शक्ति देने वाला) है, परन्तु चक्षुः सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता अर्थात् चक्षुओं के रोग ग्रसित होने से वह रोगी नहीं होता, वैसे ही एक, सर्व भूतों का अन्तरात्मा (ईश्वर) बाह्य [न्यारा, असंग] होने से लोक के दुखों से लिप्त नहीं होता।

जैसे कमल जल में सदा रहता है परन्तु जल उसे कदापि स्पर्श नहीं कर सकता, वैसे ही ईश्वर भी सर्व में बर्तता है परन्तु किसी से संग नहीं रखता, कोई उसको बांध नहीं सकता। जैसे कमल में एक तरह की चिकनाई होती है जो उसे सर्व से भिन्न रखती है। निर्मल, शुभ्र वस्तु मलिन कुरूप से कदापि मिल नहीं सकती। नवनीत सदैव तक्र (छाछ) से न्यारा रहता है, चाहे उसी में पड़ा रहे। ईश्वर परम शुभ्र, परम निर्मल परम सुन्दर होने से किसी घृणित मलयुक्त कुरूप पदार्थ से मिल नहीं सकता क्योंकि उसका स्वरूप ही ऐसा है। ज्योतिः तम से कदापि नहीं मिलती, प्रत्युत जहां ज्योतिः प्रकाशित होती है वहां तम रहता नहीं ईश्वर भी परम ज्योतिः स्वरूप हैं, सर्व सृजित पदार्थ उसके सन्मुख तमवत् हैं। वह उनका प्रकाशक होने से उनसे भिन्न ही रहता है, उनके दोषों से उसका किंचित् सम्बन्ध नहीं। ईश्वर के निर्लिप्त होने का एक और कारण भी है कि वह सर्व से 'महान्' है। जैसे कहा है:—

महान् प्रभुर्वैपुरुषः सत्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्ति मीशानो ज्योति रव्ययः॥

[श्वेताश्व०३० ३/१२)

वह पुरुष महान् प्रभु है और इस सुनिर्मल परम पद प्राप्ति के निमित्त सत्त्व का प्रवर्तक है, वह ईशान है, ज्योतिः है और अव्यय हैं।

ईश्वर ही सर्व से महान् वस्तु होने के कारण सर्व से विलक्षण, सर्व से भिन्न, सर्व का साक्षी होकर स्थित है। सर्व को अपने महान् पद में नीचे देख रहा है, सर्व ऋषिगण, सर्व देवता, सर्व पितर, सर्व प्राणी उसकी महानता की महिमा गान कर रहे हैं। कोई भी उसकी महिमा का अन्त नहीं पा सकता। ईश्वर सर्व का पिता, माता, बन्धु, गुरु, स्वामी, भक्त और सखा है, सर्व को सर्व अवस्था में सहायता देता और उन्नत कर रहा है, परन्तु इतना सूक्ष्म रूप से बर्तता है कि मनुष्य यही जानता है कि केवल मैं ही सब कुछ कर रहा हूं। वह सब के अन्तःकरण में गुप्त रूप से साक्षी भूत होकर स्थित है परन्तु देखता कौन है? वही जो अपने अन्तःकरण को स्वच्छ और शुद्ध करता है और शान्त समाहित होकर देखने के लिये अति

व्याकुल होता है। वह वहीं उस तीव्राभिमानी को दर्शन देता है। यह ईश्वर अनुभव की षष्टम भूमिका है जिसमें ईश्वर को सर्व के साक्षी निर्लेप रूप में देखा जाता है।

(७)—सप्तम भूमिका में माया और उसके कार्यों को अतिक्रम कर स्वयं मायातीत निर्गुण ईश्वर का अनुभव होता है। पहली भूमिकाओं में जो ईश्वर सृष्टि से सम्बन्ध रखते हुए देखे जाते थे, परन्तु सप्तम भूमिका में माया के सर्व व्यवधानों (नियमों) को तोड़ परम निर्मल, परम शुभ्र स्वयं ज्योतिःस्वरूप सच्चिदानन्द पुरुष का दर्शन किया जाता है। मुण्डकोपनिषत् में लिखा है कि:—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणोऽमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः पराः॥ २ १ २॥

वह मूर्त्ति वर्जित पुरुष दिव्य स्वरूप है। वह बाहर और भीतर है, जन्म रहित है। प्राण से परे, मनों से अतीत, शुभ्र है, अक्षर प्रकृति से भी परे से परे है।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दम् ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्नेति॥(तैतरिय० उ० ३।६

मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जिससे निवृत्त होती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जो जानता है, वह किसी से भी भय नहीं करता।

अनेजदेकं मनसो जवीयोनैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येतितष्ठन्तस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति॥

ईश्वर निश्चल, एक है, मन से भी शीघ्रगामी है, उसे देवता (इन्द्रियें नहीं पा सकतीं, क्योंकि वह उनसे पूर्व ही पहुँचा हुआ है, वह स्थित हुआ उन धावते हुए अन्य (देवताओं, इन्द्रियों) को अतिक्रमण कर जाता है, उसमें मातरिश्वा (सूतात्मा प्राण) जीव के कर्मों को धारण करता है।

इन श्रुतियों से सिद्ध हुआ कि वह ईश्वर प्राण, मन, वाणी, इन्द्रियों की गम्यता से परे है इतना सूक्ष्म है कि प्रकृति से भी परे है। बृहदारण्यक उ० में लिखा है कि:—

स हो वाचैतद्वैतदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनएव ह्रस्व मदीर्घ मलोहित मस्नेहमयच्छायमतनमोऽवाटवा नाकाशमासङ्ग मरसमगन्धमचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कम प्राणममुखममात्रमनन्तरवाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।३।८।८

अर्थः—उस (याज्ञवल्क) ने कहा हे गार्गी! यह वही अविनाशी पुरुष है जिसे ब्राह्मण लोग वर्णन करते हैं। वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, लाल नहीं, चिकना नहीं,

छाया नहीं, अन्धकार नहीं. वह वायु नहीं, आकाश नहीं, उसमें चिपकना नहीं, स्वाद नहीं, गन्ध नहीं उसके आँख नहीं. कान नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, तेज नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, पाप नहीं, भीतर नहीं बाहिर नहीं, न वह कुछ खाता है न उसे कोई खाता है।

और भी कहा है:—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम् तदपाणिपादं नित्यं विभुम् सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः । मुण्डकोपनिषत् १।६।६

जो वह अदृश्य, अग्राह्य, गोत्ररहित, वर्णरहित, चक्षुः और श्रोत्र रहित है, वह हस्तपाद रहित, नित्य, विभु, सर्वगत (सर्व प्राप्त) अत्यन्त सूक्ष्म है, उस अव्यय को जो भूतों का उत्पत्ति स्थान है धीर पुरुष सर्वतः देखते हैं।

नैनमूर्ध्वम् न तिर्य्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥

(श्वेता श्व० उ० ४/१९)

अर्थ—न इसे ऊपर, न तिरछे, न मध्य में कोई पकड़ सका है, न उसकी प्रतिमा है जिसका नाम महद् यश (महा-यशस्वी) है।

सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्चतिर्य्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वदनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनि स्वभावान् धितिष्ठित्येकः ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषत् । ५/४ ।)

सूर्य्य जैसे ऊपर मध्य और तिरछे सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ प्रकाशमान (विराजमान) होता है, इसी प्रकार वह वरणीय और प्रकाशक भगवान् (षट् ऐश्वर्य युक्त) प्रकृति के स्वभाव वाली (पृथिव्यादि) वस्तुओं का अकेला अधिष्ठाता है।

अशरीरं शरीरेष्व नवस्थेष्व स्थितम् ।
महान्तंविभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

(कठोपनिषत् । २/२२१)

शरीरों में शरीर रहित, नाशवान पदार्थों में अविनाशी, महान्, विभु आत्मा को जान कर धीर (पुरुष) चिन्ता नहीं करता ।

स वृक्ष काला कृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनदं भगेशं । ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषत् । ६/६)

जिससे यह प्रपञ्च चल रहा है वह वृत्त (प्रकृति) से, काल से, आकृति से परे अन्य (विलक्षण) ही है। धर्म के प्रवर्तक, पाप के नाशक, ऐश्वर्ययुक्त विश्व के आश्रय अमृत (पुरुष ईश्वर) को आत्मस्थ जान कर (जीव अमर होता है)।

उपरोक्त श्रुतियों से सिद्ध है कि वह ईश्वर देश, काल, अवस्था से अतीत, मन, वाणी, प्राण से परे, इन्द्रियों से रहित, पंच भूतों और उसके विषयों से परे निर्गुण अपने नित्य अमृत स्वरूप में विराजमान है।

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तुपराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

कठोपनिषत्। १० ।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
(कठोपनिषत् ३/११)

इन्द्रियों से परे अर्थ है, अर्थ (विषयों) से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे महान् आत्मा (महतत्व, सर्व लिंग शरीरों का समष्टि रूप अव्यक्त का कार्य सूत्रात्मा हिरण्य गर्भ) है अव्यक्त से परे पुरुष है पुरुष से परे कुछ नहीं, वह काष्ठा (अवधि) वह परागति (सर्वोत्तम गति) है।

इस प्रकार ईश्वर सर्व का अधिष्ठान, सर्व का शक्तिदाता, अन्तिम केन्द्र होने से सर्वातीत निर्गुण है।

इस सप्तम भूमिका में साधक इन्द्रियों, मन, बुद्धि प्राणादि सब व्यवधानों को तोड़ता हुआ देश काल अवस्था से अतीत हुआ ईश्वर के माया रहित निर्विकार निरंजन निर्गुण स्वरूप में प्राप्त होता है मानो यह आत्मा परमात्मा को मिलता है, अनेक जन्मों से बिछुड़े हुए माया में विचरते हुए आत्मा को जब परमात्मा का दर्शन होता है सम्मुख प्राप्ति होती है, उस आनन्द को कौन कह सकता है !!! जैसे बहुत देर से बिछुड़ा हुआ बालक रोता हुआ अपनी माता से मिलता है वा स्त्री परदेश से आये हुए अपने पति से मिलती है उस आनन्द को कौन वर्णन कर सकता है ? यह ईश्वर की सप्तम भूमिका है जिसमें ईश्वर को मायातीत निर्गुण स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप में देखा जाता है।

ॐ तत्सत् ॥

ईश्वर का अनुभव

पदार्थ-विज्ञान और मानस-विज्ञान शास्त्र सम्मत ईश्वर के अस्तित्व के कुछ प्रमाण ये हैं:—

(१) सूर्यादि सब मण्डल चल हैं। सबको नियमानुसार मर्यादित आकाश में भ्रमण कराने के लिए सर्वज्ञ और स्थिर आधार रूप परमात्मा की आवश्यकता है।

(२) प्राणीमात्र में प्रतीत होने वाला ज्ञान अनादि सिद्ध चैतन्य रूप है।

(३) इस सृष्टि में आनन्द की प्रतीत होती है, यह भी अनादि सिद्ध चैतन्य रूप है।

(४) मनुष्यों के मुख और शब्दोच्चारण में विभिन्नता उत्पन्न करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता है।

(५) प्राणीमात्र के शरीर की आन्तरिक रचना आन्तरिक क्रिया का निरीक्षण करने से किसी सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

(६) मनुष्य के हाथ की रेखाओं में भिन्नता देखने से ईश्वर की महिमा का अनुभव होता है।

(७) संस्कृत-भाषा की रचना देखने से संसार रक्षक परमात्मा का बोध होता है।

(८) ऋतुओं में नियमित परिवर्त्तन होना, ऋतुओं के कारण उत्पन्न होने वाले वातपित्तादि दोष-प्रकोप से रक्षा हो, वैसे साधनों की भी साथ-साथ उत्पत्ति देख कर ईश्वर की दयालुता जानी जाती है।

(९) प्राणी मात्र के मन का विकास होने के लिए सर्व व्यापक चैतन्य का आधार है।

(१०) देश तथा धर्म पर संकट उपस्थित होने पर संसार की रक्षा के हेतु महान् पुरुषों की उत्पत्ति ईश्वर-रचित नियम के अनुसार होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

(११) देशों के वैभव की उन्नति और अवनति में भी ईश्वर की लीला प्रतीत होती है।

(१२) सब जीवात्माओं को सत्य की प्राप्ति करने का सामर्थ्य ईश्वर प्रदान कर रहा है।

(१३) पृथ्वी पर सुवर्णादि धातुओं और नाना प्रकार की वनौषधियों की न्यूनाधिक आवश्यक्ता के अनुसार उत्पत्ति सर्वज्ञ ईश्वर का बोध कराती है।

(१४) मूल प्रकृति के कार्य रूप परिणाम में और कार्य में पुनः कारण-भाव की प्राप्ति में अपरिणाम भी स्थिर चैतन्य का आधार है।

[कल्याण से] (स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज)

माया और ईश्वर

देश-काल वस्तु के परिच्छेद से शून्य अनन्त ब्रह्म वस्तु में ईश्वरत्व और जीवत्व की कल्पना माया के सम्बन्ध से दी है।

'माया भासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।'

यह सिद्धान्त है। अब प्रश्न यह उठता है कि एकरस अद्वैत सत्य ब्रह्म में माया आई कहाँ से ? यदि उसमें माया है तो मिथ्या भ्रममात्र है, यह कोई सत्य वस्तु थोड़े ही है, कि जिससे ब्रह्म में द्वैत की कल्पना की जाय। यह ठीक है परन्तु प्रश्न यह है कि एक रस चिन्मात्र ज्ञान स्वरूप वस्तु में यह भ्रम आया कहाँ से ?

यद्यपि भ्रम कोई पदार्थ नहीं तथापि भ्रम होना उसके स्वरूप के विरुद्ध है। यदि उसके स्वभाव में भ्रम है तो ज्ञान के अनन्तर भी भ्रम हो सकता है, फिर तो मोक्ष कथा का प्रसङ्ग ही आपत्ति जनक हो जायगा। इस परिस्थिति में यह विषय बहुत ही सावधानी से विचारणीय है।

इसी भ्रम ने संसार में अनेक मतों और सम्प्रदायों की सृष्टि रचाई है, यह सम्पूर्ण भेदों विभिन्नताओं का अवलम्बन है अतएव ब्रह्म में इस माया, ईशरत्व और जीवत्व पर कुछ विचार किया जाता है। पञ्चदशीकार स्वामी विद्यारण्यजी कहते हैं—

शक्ति रस्तीश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका ।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥

सब वस्तुओं का नियमन करने वाली कोई ईश्वरी शक्ति अवश्य है जो कि आनन्दमय कोष से लेकर सब वस्तुओं में छिपी हुई है। वह शक्ति क्या वस्तु है ?

निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्नि शक्तिवत् ।

अपनी सत्ता से निस्तत्व केवल कार्य से ही जानी जा सकने वाली वह शक्ति अग्नि में दाहिका शक्ति की भांति ब्रह्म की माया है।

यह शक्ति सद्वस्तु से भिन्न होकर सत्वस्तु नहीं है, ब्रह्म से भिन्न होकर उसकी कोई सत्यता नहीं है, शक्तिमात्र वस्तु की सर्वथा पृथक् गणना नहीं हो सकती, इसलिये द्वैत की शंका नहीं की जा सकती। यहाँ भी यह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति की शक्ति उससे भिन्न नहीं समझी जाती। अग्नि की दाहिका शक्ति, या जल की द्रव-शक्ति आदि को कोई अग्नि जल आदि से भिन्न नहीं समझता और उनमें रहने वाली इस शक्ति का पता केवल कार्य से ही लगता है।

यह भी कहा जा सकता है अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को प्रत्यक्ष दिखाने वाली शक्ति को मिथ्या कैसे समझा जाय क्योंकि उसका कार्य यह प्रपञ्चमय जगत् प्रत्यक्ष स्पष्ट हो रहा है इस प्रत्यक्ष से विरुद्ध माया-शक्ति

को असत् क्यों कर माना जा सकता है। परन्तु तत्व विचार की परम्परा से विचार करने से ब्रह्म साक्षात्कार होने पर प्रत्यक्ष के तत्व का कहीं पता भी नहीं लगता इसलिए तत्व दृष्टि से श्रुति भगवती सैकड़ों प्रमाणों-द्वारा इसको मिथ्या और तुच्छ ही बतलाती है। इसीलिए पञ्चदशीकार ने इस माया के तीन रूप बतलाये हैं।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्य सौत्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥
नासदासी द्विभातत्वात् नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्या दृष्टया श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः॥

माया तीन प्रकार की है—तुच्छा, अनिर्वचनीया और वास्तविक तत्वज्ञान के अनन्तर इसका बाध हो जाता है अर्थात् यह रहती नहीं। इसलिए श्रुति दृष्टि से तो यह तुच्छ है परन्तु इसका कार्य यह जगत् प्रत्यक्ष हो रहा है इसलिए इसे असत्य कहते नहीं बनता, इस युक्ति से यह अनिर्वचनीया है और विवेक शून्य जनता प्रत्यक्ष ही इसका सुख दुःख मोह भोग रही है अतएव उन्हें यह वास्तविक प्रतीत होती है। इसीलिए भगवान् भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य जी ने कहा है:—

'न सत् न असत् नापि सद्सत् न भिन्नं ना भिन्नं नपि भिन्ना भिन्नं न निरवयवं न सावयवं नो भयं किन्तु केवल ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानापनोद्यम्।'

न इसको सत् कह सकते हैं न असत् कह सकते हैं न सत् असत् मिला हुआ कह सकते हैं। न सावयव कह सकते हैं और न उभय मिश्रित ही कह सकते हैं किन्तु जिस समय ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान होता है उस समय इसका पता भी नहीं रहता। अतएव यह ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञानापनोद्य है।

ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान से माया का सर्वथा बाधक हो जाने पर मायातीत ब्रह्म के जिस भाव में साधक प्राप्त होता है, वहां माया स्वभाव की गन्ध भी नहीं है, अतः मोक्ष में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रलय-काल में सृष्टि के पूर्व माया का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है और जीव नित्य प्रलय सुषुप्ति में इसका अनुभव भी इसी प्रकार किया जाता है कि—

ने सदासीन्ना सदासीत्किन्त्विदानीमभूत्तमः
अचिन्त्य रचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चितु।
मायाबीजं तदेवैक सुषुप्तावनुभूयते॥

सृष्टि के पहिले माया तमरूप में थी, जीव सृष्टि में माया का बीज गाढ़ सुषुप्ति में अज्ञानरूप से अनुभव किया जाता है।

साभाषमेव तद्बीजं धी रूपेण प्ररोहति

अभ्यास के सहित वही मायाबीज (अज्ञान) बुद्धिरूप से अंकुरित होता है। समष्टि में यही प्रलय-काल के बाद सृष्टि आरम्भ होने के समय अव्यक्त (अज्ञान) महत्तत्वरूप में प्रकट होता है।

'अविद्या सबलं ब्रह्म, ब्रह्मणोऽव्यक्तम्, अव्यक्तान्महत्, महतोऽहंकारः अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि, पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्।'

इस प्रकार अव्यक्त माया (मूलाज्ञान) से यह सृष्टिरूप कार्य व्यक्त होता है और प्रलय के समय फिर समेट कर उस अव्यक्त (माया) में ही लय हो जाता है। यही बात श्रीमद्भगवत्गीता के अध्याय ८ के श्लोक १८ से श्लोक २१ तक में कही गयी है।

ब्रह्म की इस माया शक्ति में जिस तरह जगत् का निर्माण- विनाश करने की शक्ति विद्यमान है, उसी तरह उसमें असङ्ग-आत्म-वस्तु को अन्यथा भ्रम कर देने की शक्ति भी विद्यमान रहती है।

कूटस्थ मसङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे॥

कूटस्थ असङ्ग आत्मा को यह माया-शक्ति जगत्रूप (सुख-दुःख मोहात्मक) कर देती है और चैतन्य ब्रह्म के आभासस्वरूप ईश्वर और जीव को भी बना देती है और उससे कूटस्थपन का अभिघात कर उसे जगत् भाव से भावित कर देती है।

यह इस अघटन-घटना-पटीयसी माया का ही अद्भुत चमत्कार है कि, मिथ्या होकर भी यह कैसी विचित्र लीला रचाती है? जब तक साधक इसका मायामयत्व नहीं जानता, तब तक वह इसके चमत्कार से मुग्ध रहता है किन्तु इसका स्वरूप जानते ही यह शान्त हो जाती है।

अतएव परमार्थ में माया का कोई तत्त्व न होने पर भी सृष्टि दशा में ब्रह्म के किसी देश में यह ब्रह्म की शक्ति स्वरूप से स्थित मानी जाती है।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' 'सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया।' इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की शक्तिस्वरूप ब्रह्म में उसके एक देश में यह माया शक्ति है, जिसके प्रभाव से एक रस अद्वितीय अखण्ड परमात्मा में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का विस्तार होता है।

यह मायाशक्ति क्या ब्रह्म से पृथक् वस्तु है? नहीं! वह जगत्-प्रसविनी प्रकृति उन्हीं के रूप से उन्हीं से उत्पन्न कारण वारि द्वारा समस्त जगत् के जीवों को रचती है।

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्त्यपरमार्थतः।
अभेदञ्चानु पश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः।

अज्ञ जन ही शक्तिमयी माया और शक्तिमान् परमात्मा का भेद वर्णन करते हैं, वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है। इस बात को योगी लोग देखते हैं:—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबला क्रिया च ॥

परमात्मा की परा-शक्ति बहुत प्रकार से विस्तार भाव को प्राप्त होती है, वह स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-बल और क्रियावाली है।

परमात्मा की स्वाभाविक ज्ञानशक्ति उनके विश्वासरूप से प्रकट हो संसार में अनन्त ज्ञान भण्डार भर देती है।

'अस्य महतो भूतस्य निःश्वासित मेतत, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसो इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः सूत्रो श्लोको व्याख्यानातिष्ठुंहुत पायितमयश्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि भूतान्यस्यैव निःश्वासितानि।'

परमात्मा की बल-शक्ति जीवमय संसार के प्राणों को धारण करती है और उनकी क्रियाशक्ति अनादि अनन्त संसार में अनेक प्रकार के परिवर्तन करती रहती है। जिस तरह मनुष्य के शरीर से स्वाभाविक केश, लोम नख, आदि उत्पन्न हुआ करते हैं, पृथ्वी पर स्वाभाविक औषधियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। उसी प्रकार परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में उसकी शक्ति स्वरूपा माया के विलास में विश्वों की उत्पत्ति स्थिति और लय होता रहता है। ब्रह्म की शक्ति स्वरूपिणी माया का यही मायात्व है।

परमात्मा के जिस भाव के साथ सृष्टि का सम्बन्ध है, वही भाव माया पर अधिष्ठातृत्व कर ईश्वर भाव को प्राप्त होता है। किन्तु इस स्थल पर कितने ही लोगों को माया यानी प्रकृति का अस्तित्व स्वीकार होने पर भी उसके नियामक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने में आपत्ति होती है। वे कहते हैं कि प्रकृति स्वयं ही जगत् उत्पन्न करती है, समस्त भावों का उत्पत्ति-विनाश प्राकृतिक है, इसके कर्त्ता या फलदाता स्वरूप किसी ईश्वर की केवल कल्पना है। यहां तक कि ईश्वर का अस्तित्व भी मानने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि पृथिवी अन्न स्वयं ही उत्पन्न करती है, जल स्वयं बरसता है, वायु स्वयं बहता है, अग्नि स्वयं दग्ध करता है, मनुष्य एवं अन्य जीव स्वभाव से ही सन्तानोत्पन्न करते और उसका पालन पोषण करते हैं, मृत्यु आदि जगत् का सब कार्य स्वाभाविक है। इसलिये माया (प्रकृति से) परे ईश्वर का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करना अनावश्यक है। परन्तु उन लोगों को शान्ति से विचार करना चाहिये कि प्रकृति (माया) सब कुछ करती हुई भी अपने स्वभाव से वह जड़ है। प्रकृति के तत्वों का विचार करने वाले सभी दार्शनिक विद्वानों ने प्रकृति को जड़ स्वीकार किया है। जो वस्तु स्वयं जड़ है। वह कर्ता नहीं हो सकती, प्रकृति (माया) का जड़त्व केवल कारण में ही नहीं किन्तु उसके प्रत्येक कार्य वस्तु मात्र में भी प्रत्यक्ष किया जाता है। माया की किसी भी वस्तु में स्वयं कार्य करने की शक्ति नहीं देखी जाती। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आदि कोई भी तत्व स्वयं कार्य नहीं कर सकता। पृथ्वी स्वयं अन्न उत्पन्न नहीं करती, जल स्वयं नहीं बरसता, वायु स्वयं नहीं बहता किन्तु इनके भीतर अवश्य ही कोई ईश्वर सत्ता है, जिसकी प्रेरणा से यह सब कार्य होते रहते हैं इतना तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि जड़ माया में स्वयं कार्य होगा तो जो कार्य जहां से जैसा आरम्भ होगा, वह वैसे ही होते रहना चाहिये और बन्द हो जाने पर तो फिर बन्द ही रहना चाहिये उसका ठीक नियम से चलना सम्भव नहीं।

ठीक समय में वर्षा होना, ठीक समय पर अन्न फूल आदि का उत्पन्न होना आदि सब कार्य नियमित होने के लिये चैतन्य ज्ञान की आवश्यक्ता है। वह ज्ञान जड़ माया (प्रकृति) में है नहीं क्योंकि, यह ज्ञान शून्य है यह सत्य है कि इंजिन आप से आप चलता है, गाड़ियों को खींच ले जाता है। परन्तु ठीक समय पर स्टेशन में पहुँचना, नियत समय तक खड़े रहना, आवश्यक्तानुसार वेग का न्यूनाधिक होना आदि जितने भी कार्य हैं, वह बिना किसी चेतन ड्राइवर या गार्ड आदि की सहायता के कभी नहीं हो सकते।

इसी प्रकार सब कार्य माया द्वारा होते रहने पर भी उनके नियामक किसी अन्तर-बिहारी चेतन पुरुष को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जलवायु आदि का स्वभाव स्वयं बरसना बहना आदि हो सकता है, किन्तु बसन्त ऋतु में मलय पवन प्रवाहित होना, ग्रीष्म में पश्चिम से प्रवाहित होना, वर्षा में पूर्व से बहना इत्यादि नियमपूर्वक कार्य कराने वाला वायु मण्डलान्तर्गत किसी चेतन सत्ता को अवश्य मानना पड़ेगा। इसी तरह ठीक समय पर वर्षा होना, किसी देश में कैसी वर्षा की आवश्यकता है ठीक इसके अनुसार बरसना आदि तभी सम्भव है जब जल राज्य का अन्तर्बिहारी कोई नियामक चेतन हो।

हम संसार की प्रत्येक क्रिया में अनुभव करते हैं कि जड़ वस्तु में कार्य करने की शक्ति होने पर भी जब तक कोई चेतन उसका सञ्चालक न हो, तब तक कार्य नहीं होता। अग्नि में ही जल का वाष्प बनाकर और उस वाष्प से नाना प्रकार के इञ्जिन यंत्र आदि के द्वारा नाना कार्य कर सकने की शक्ति अवश्य ही विद्यमान है। किन्तु किस तरह वाष्प बना कर और किस प्रकार यन्त्र इञ्जिन आदि में उसका संयोग कर कब कौन काम कैसे करना चाहिये, नियमानुसार इन सब संयोगों को घटाने की शक्ति स्वयं अग्नि में नहीं है। इन सब के लिये तो चेतन मनुष्य की ही आवश्यकता पड़ेगी। ज्ञान रखने वाले चेतन मनुष्य की अध्यक्षता के बिना ये कार्य कभी ठीक ठीक नहीं हो सकते।

इस शरीर में ही देखा जाता है कि जब किसी कारण से चेतन प्रथक् हो जाता है, तब इन्द्रियां प्राण मन बुद्धि शरीर आदि समस्त सामग्रियों के रहने पर भी उससे योग्तानुसार कोई भी क्रिया नियमित सम्पन्न नहीं हो सकती।

जब किसी चैतन्य शक्ति के नियामक हुए बिना जगत् की साधारण से साधारण क्रिया भी नियमित रूप से नहीं हो सकती तब इतने भारी अनादि अनन्त सृष्टि-प्रवाह के अमोघ नियमपूर्ण कार्य-जिसमें नियम के विरुद्ध एक पत्ती भी नहीं हिल सकती—जगत् का नियामक कोई सर्व-व्यापक चेतन सत्य नहीं है, ऐसा कहना केवल उन्मत्त प्रलाप या उन्मत्त चिन्ता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यदि जड़ माया का सञ्चालक कोई चेतन ईश्वर न होता तो यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमयी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्रम कभी नहीं रह सकता था। यदि सृष्टि-प्रवाह स्वभावमयी माया ही सृजन करने लगतीतो अनन्त काल तक वह सृष्टि ही करती रह जाती, प्रलय का कभी समय ही न आता और यदि उससे प्रलय होने लगता तो प्रलय ही प्रलय हो जाता प्रलय के गर्भ से नियमानुसार पुनः उचित समय पर सृष्टि का उदय कभी न हो पाता।

कर्मानुसार जीवों की ऊँच नीच गति, ऋतुओं का ठीक ठीक समय पर विकास, नियमपूर्वक रवि शशि का उदयास्त, दिन रात, अमावस्या पूर्णिमा के चक्र की तरह नियमपूर्वक परिवर्त्तन, चन्द्रकला की नियमपूर्वक न्यूनाधिकता, सूर्यनारायण का राशिचक्र में नियमित परिभ्रमण और देशकालानुसार शस्य की समृद्धि आदि कोई भी क्रिया सर्वतोभाव से जाज्वल्यमान संघठित होती हुई दिखाई नहीं देती। अतएव यह सभी जगत् उस जगन्नियन्ता करुणा-वरुणालय ज्ञानमय चैतन्य परमेश्वर की अनादि अनन्त माया के अन्तस्तल में सर्वतोव्यापिनी चैतन्य सत्ता का ही कल्याणमय फल है, जिसको पुण्यवान् श्रद्धालु भक्तजन प्रतिक्षण अनुभव करते हुए परमानन्द-सागर में लीन हुआ करते हैं। अन्यथा अविद्या-ग्रसित कर्कश कुतर्कनायुक्त कठोर-चित्त प्राणियों के हृदय में इस ज्ञान-ज्योति का उदय होना कठिन ही नहीं किन्तु बिना उनकी कृपा सर्वथा असम्भव ही है। अस्तु अब पुनः प्रकरण पर आइये।

इस सारे कथन का सारांश यही निकला कि माया पर अधिष्ठातृत्व करके सृष्टि-कार्य का जो नियामक होता है, उसी भाव को ईश्वर भाव कहते हैं। ब्रह्म भाव और ईश्वर भाव पृथक् २ सीमा पर बँटे हुए हैं, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता क्योंकि अनादि अनन्त असीम अखण्ड वस्तु में ऐसी कल्पना उनके स्वरूप के विरुद्ध होती है। परन्तु यह मानना चाहिये कि अनादि माया के विस्तार और प्रलय के क्रम से एक ही भावों में दो भावों की स्फूर्ति होती है।

प्रलय के समय प्रकृति ब्रह्म में लय हो जाने से द्रष्टा-दर्शन-दृश्य सम्बन्धयुक्त ईश्वर भाव न रह कर केवल ब्रह्म भाव रहता है और वही सृष्टि के समय माया पर अधिष्ठान करके ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है। श्री मद्भागवत में कहा है:—

नारायणायते भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीत मायोरुगुणः सर्गादाव गुणस्वतः॥

नारायण में समस्त विश्व रहता है, वह निर्गुण होने पर भी सृष्टि के समय माया आश्रय करके सगुण ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है।

तच्छक्त्युपाधिसयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।

'अपनी मायाशक्ति के उपाधि-संयोग से ब्रह्म ही ईश्वर भाव को प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मभाव और ईश्वरभाव का रहस्य हम अलग अलग इस तरह समझ सकते हैं कि, जैसे अनन्त-सागर की जो वायुरहित निष्कम्प शान्तिमय अवस्था है सो ब्रह्मभाव है और माया-वायु के सम्बन्ध से उसी की अनन्त उत्तालतरङ्ग फेनयुक्त विक्षुब्ध अवस्था ही ईश्वर भाव है। एक ही ब्रह्मसागर में माया पवन-प्रवाह के स्पन्द-निस्पन्द के कारण दो भाव हैं। एक ही ब्रह्म माया के आश्रय से सगुण संकुचित हो रहे हैं और वही मायावरण शून्य हो निष्कम्प निस्तरङ्ग हो रहे हैं।

श्री मद्भागवत के जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि तरतः' श्लोक में बड़ी सुन्दरता से इन दोनों भावों को बतलाया है। ब्रह्म का यह ईश्वर भाव ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूप तटस्थ-लक्षणा से जानने योग्य है।

सूर्य नारायण की किरणों में अनन्त प्रकाश है परन्तु जब तक शशि, जल या पृथ्वी आदि कोई आधार नहीं होता, तब तक उनका प्रभाव (दीप्ति) मालूम नहीं पड़ता, इसी प्रकार ब्रह्म में अनन्त सामर्थ्य परिपूर्ण रहने पर भी आधाररूप माया के आश्रय बिना वह प्रकट नहीं होता, इस लिये माया के साथ ब्रह्म का यह सम्बन्ध ही ईश्वर भाव है।

ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द भाव का विकास संसार में इस माया उपाधि के सम्बन्ध से ही तटस्थ दशा में प्रकट होता है, मायाशक्ति ईश्वर सम्बन्ध से युक्त होकर ही विश्व को प्रसव करती है। ईश्वर की शक्ति ही त्रिगुण होकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और उसके विनाश के लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश होकर प्रकट होती है। अतएव निर्गुण ब्रह्म में किसी भाव या शक्ति की व्यक्तावस्था न रहने पर भी मायोपाधिक सगुणभाव में माया के आधार से समस्त शक्ति या भावों का विकास होता है।

जैसे वायु में धूलि के परमाणु उड़ते रहते हैं, वैसे ही इस ईश्वर भाव में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का उत्पत्ति-विनाश होता रहता है। अगणित ब्रह्माण्डों में अगणित ब्रह्मा विष्णु शिव विराजमान रहते हैं और उन सबके ऊपर वह अद्वितीय महेश्वर विराजमान हैं। इन्हीं महेश्वर की अनन्त शक्ति, संसार की उत्पत्ति स्थिति विनाश के लिये अनन्त ब्रह्मा विष्णु शिव रूप से व्याप्त हैं। इन्हीं परमात्मा से प्रजापति, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु एकादश रुद्र, समस्त देवतागण और समस्त लोक उत्पन्न होकर पृथक् २ विभाग का नियमन करते हैं। इन्हीं के भय से वायु चलता है, अग्नि तपता है, सूर्य उदय होते हैं, इन्द्र, पवन और यम अपना अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
सर्वस्य प्रभुरीशानः सर्वस्य शरणं सुहृत्।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

ईश्वर सब के प्रभु ईशान हैं, सर्वशक्तिमान् सबके शरण हैं, स्थावर जङ्गम समस्त विश्व उनके वश है।

'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राणि अर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्य पर्वतेभ्यः प्रतीच्योन्या यां यां च दिशमनु। एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः।

'स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।'

'इस अक्षर पुरुष के शासन से ही सूर्य-चन्द्र, स्वर्ग, मर्त्य, निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्द्ध-मास, मास, ऋतु, संवत्सर रक्षित हो रहे हैं। इसी अक्षर के प्रशासन से पूर्व दिशा में बहने वाली नदियां श्वेत पर्वत से प्रवाहित हो रही हैं। पश्चिम दिशा में बहने वाली नदियां अन्य दिशा से प्रवाहित हो रही हैं। इसी अक्षर

पुरुष के प्रशासन से मनुष्य गण दान की, देवता गण यज्ञ की पितृगण श्रद्धा की प्रशंसा कर रहे हैं। यह सबके ईशान, सबके अधिपति सबों के शासक हैं। सत्कर्म से इनकी वृद्धि व असत्कर्म से इनका ह्रास नहीं होता, यह सब के ईश्वर, भूतों के पालक और संसार के धारण करने वाले सेतु हैं, इनको छोड़ कर जगत् का दूसरा कोई रक्षक नियन्ता नहीं है।

इस समस्त संसार के उत्पत्ति स्थिति और संहारक होते हुए भी जगत् के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध से बँधे हुए नहीं हैं। यह उनकी अद्भुत विलक्षणता है, यह सदा प्रकृति-बंधन से अलग और सब संसार के भीतर रहते हुए भी सबके बाहर हैं, क्यों कि इच्छारूपिणी मायाशक्ति इनकी है, यह माया के नहीं हैं।

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एष अन्तर्यामी एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।'

वह ईश्वर समस्त प्राणीमात्र के हृदयाकाश में गूढ़रूप से छिपे हुए घटीयन्त्र की तरह जगत् चक्र को अविराम चला रहे हैं।

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।

जो पृथिवी में रह कर उसके अन्तर-वर्ती हैं, जिनको पृथ्वी नहीं जानती पर जो पृथ्वी को जानते हैं, जो पृथ्वी के भीतर रह कर पृथ्वी का नियमन करते हैं वही अन्तर्यामी परमात्मा ईश्वर हैं।

इस प्रकार जो समस्त जीवों के अन्तर भीतर रहते हैं किन्तु जीव गण जिनको नहीं जानते, पर वह सब को जानते हैं और सब का अन्तर्यामी रूप से शासन करते हैं, वही ईश्वर हैं।

आसीनो दूरं व्रजतिशयानो याति सर्वतः।
कस्तं महामदं देवम् मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

जो परमात्मा सर्वदा निज रूप में स्थित होते हुए भी प्रकृति द्वारा दूर से दूर देश में जाते हैं, निर्विकार निश्चल होने पर भी सचल सक्रिय और सर्वत्र गमन करने वाले प्रतीत होते हैं। श्रुति कहती है—

अपाणिपादो यवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेति वेद्यं नच तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्, वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

उनके हाथ पैर न होने पर भी ग्रहण करते हैं, चलते हैं, आंख न होने पर भी देखते हैं, कान नहीं है पर सुनते हैं, इन्द्रियाँ उनमें नहीं है पर इन्द्रिय वेद्य वस्तुओं को जानते हैं किन्तु उन्हें कोई नहीं जान सकता। इसलिये ज्ञानीगण उनको परात्पर परमेश्वर ईश्वर कहते हैं।

वह एक रस अद्वैत होने पर भी माया शक्ति के योग से अनन्त प्रकार के वर्ण और रूपों को धारण करते हैं। सृष्टि दशा में अनन्त रूप बनकर फिर प्रलय में सबको अपने में ही संहार भी कर लेते हैं। इस प्रकार विचित्र चरित्रशील परमात्मा हम लोगों को शुभ बुद्धि से युक्त करें।

उन्हीं की शक्ति से सब शक्तिमान् हैं, उन्हीं के प्राणों से सब क्रियावान्, उनके ही संयम से सब आवर्तन-परिवर्तनशील हैं, वही सब के विधाता हैं, जीवों के संस्कारानुसार भिन्न भिन्न मार्गों का विधान करते हैं, त्रिगुणमय कर्मों के अनुसार वही समस्त भावों का विनियोग करते हैं, वही स्वभाव का परिपाक और परिणामशील वस्तुओं का संघठन करते हैं, वही जीवों के एक बीज को बहुत प्रकार से विभक्त करते हैं, वही कर्मों का फल देते हैं, और वही धर्माधर्म की प्रेरणा करते हैं।

उनके ऐश्वर्य की तर्कना कोई क्या कर सकता है? देखते हैं कि अनन्त कोटि-ब्रह्माण्डात्मक जगत् के नियन्ता सर्वत्र सर्व शक्तिमान् जीवों के विधाता, अदृष्ट फलदाता, पापियों के दण्डदाता बने हुए हैं, संसार में अधर्म बढ़ जाने पर आवश्यकतानुसार अवतार धारण कर असुरों का दलन कर धर्म की प्रतिष्ठा और साधु जनों की रक्षा करते हैं। कभी भिन्न रूप से अवतार धारण कर वेदों द्वारा पृथ्वी की रक्षा करते हैं, कभी रावण-बंश काल समूच्छदेन करते हैं, कभी जगदम्बा का रूप धारण, कर भीषण गर्जना करते हुए अट्टहास्यके द्वारा दैत्यों का हृदय विदीर्ण कर उनका रक्त पान कर भीषण हुँकार से त्रिभुवन को कम्पायमान कर देते हैं। उनके भावों का कहां तक वर्णन हो सकता है?

पृथिवी कणों को कदाचित् काल पाकर कोई गिन भी ले, किन्तु अखिल शक्ति धाम परमात्मा के गुणों को कोई कभी नहीं गिन सकता। इसी भाव में श्रुति उनके रूप का वर्णन करती है—

द्यां मूर्धानंयस्यविप्रा वदन्ति, खं वै नाभिः चन्द्र सूर्य्यो च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रं विद्धि पादौ क्षितिश्च सोऽचिन्यात्मा सर्वभूते प्रणेता॥

श्रीमद्भागत के द्वितीय स्कध्र में इस रूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है।

पातालमेतस्य हि पादमूलं, पठन्ति पार्ष्णिप्रपदेरसातलम्॥
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ, तलातलं वै पुरुषस्य जंघे।
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते, रूरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च॥
महीतलं तज्जघनं महीपते, नभस्तलं नाभिसरो गृहणन्ति।
उरस्थलं ज्योति रनीकमस्य, ग्रीवा महर्वदनम् वै जनोऽस्य॥
तपो रराटी विदुरादिपुंसः, सत्यन्तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः।
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः, कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः॥
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे, घ्राणोऽस्य गंधो मुखमग्निरिद्धः।

द्यौरक्षिणां चक्षुर भूत पतङ्गः, पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभेच ॥
तद् भ्रू विजृम्भः परमेष्ठधिष्ठयः मापदेस्य तालू रस एव जिह्वा ।
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणंति दंष्ट्रा यमः स्नेह कला द्विजानी ॥
हासो जनोन्मादकरी च माया, दुरन्तसर्गो पदपाङ्गमोक्षः ।
व्रीडोत्तरोष्ठो ऽ धरएव लोभो, धर्मः स्तनोऽधर्म्मपथोऽस्य पृष्ठः ॥
करतस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ, कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थि संघाः ।
नद्योऽस्य नड्योऽथ तनरुहाणि, महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ॥
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा, गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ॥
ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान्, वासस्तु संध्यां कुरुवर्य्यभूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च, स चन्द्रमाः सर्वविकार कोशः ॥
ब्रह्मानन क्षत्रभुजो महात्मा, विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्य गणोपपन्नो, द्रव्यात्मकः कर्म्म वितानयोगः ॥

पाताल उनका पाद मूल है, रसातल चरणाग्र है, महीतल गुल्फ है, तलातल जङ्घा है, सुतल जानु और वितल अतल ऊरुद्वय हैं, भूर्लोक उनका जघन, भुवलोक नाभि, स्वर्लोक वक्षःस्थल, महर्लोक ग्रीवा है, जनलोक मुख, तपोलोक ललाट और सत्यलोक शिर है। इन्द्रादि देवतागण उनके बाहु हैं, सुनने के अधिष्ठाता देवतागण उनके कान हैं, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय हैं, अश्वनीकुमार नासिकापुट हैं, गंध घ्राणेन्द्रिय है और हुताशन मुख है। अन्तरिक्ष उनका नेत्रगोलक है, सूर्यनेत्र दिनरात नेत्रपलक, ब्रह्मपद भ्रू, जल, तालु और रस जिव्हा है। वेद उनका ब्रह्मरन्ध्र, यम दांत, स्नेहकला दन्तपंक्ति, जनों को मोह करने वाली माया उनकी हंसी है। अपार सृष्टि उनका कटाक्ष है, लज्जा ऊपर का ओष्ठ है, लोभ अधर, धर्म स्तन, अधर्म पीठ, प्रजापति मेढ्र, मित्रावरुण वृषण, समुद्र कुक्षि और पर्वतों का समूह हड्डी है। नदियां उनकी नाड़ी, वृक्षपंक्ति रोम, वायु निश्वास और काल गति है। मेघ केष हैं, संध्या वस्त्र, प्रकृति हृदय और चन्द्रमा मन है। ब्राह्मण उनका मुख है, क्षत्रिय बाहु, वैश्य ऊरु और शूद्र पैर हैं तथा यज्ञ कर्म है। यह सब उनके विराट् भाव का वर्णन है। अर्जुन को इसी रूप के दर्शन हुए थे साथ ही इनके ऐश्वर्य भाव के भी दर्शन हुए थे। जिस प्रकार उनके रूप से एक ओर भीषण प्रचण्डता देख पड़ती है, उसी तरह दूसरी ओर अत्यन्त मधुर भाव देखा जाता है। श्री भगवान् इतने मधुर हैं, इतने कोमल हैं, इतने दयामय, स्नेहमय, करुणामय, और प्रेममय हैं कि भक्त के निकट उनके प्राण बिके हुए हैं।

जीवों के दुःख निवारण के लिए स्वयं (लोकदृष्टि) में अनन्त दुःख भोग उनका व्रत है। भृगु पादलता उनके हृदय का भूषण हैं, द्रौपदी का लज्जा निवारण उनका परम पुरुषार्थ है, कल्याण की होमाग्नि में समस्त ऐश्वर्य प्रदान करना उनके जीवन का महाव्रत है, इस भाव में श्रीभगवान् भक्तवत्सल महाप्रभु

हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और परम प्रेममय कान्त हैं। अनन्त आनन्द अनन्त शान्ति के चिर-निकेतन हैं।

इन सभी प्रकार के भावों का विकास संसार में केवल श्रीभगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र जी में हुआ था। महाभारत का कर्मक्षेत्र, श्री गीता जी का कार्य क्षेत्र और वृन्दाबन का भक्ति लीला क्षेत्र, ऐश्वर्य और माधुर्य के समन्वय से भरा हुआ है, जिसका भक्त रसिकजनक ही अनुभव करते हैं। यह भारत-भूमि धन्य है, जिसको इस प्रकार के परम पुरुषों को गोद में लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जिनके सौन्दर्य अथवा किसी भी गुण की उपमा कहीं भी नहीं मिल सकती। ऐसे परम सुन्दर पूर्ण पुरुषोत्तम न कभी हुये थे, न होंगे, जिनके सौन्दर्यादि गुणों से समस्त संसार मुग्ध हो रहा है, जिनके रूप समुद्र में चित्त को डुबाकर साधक संसार के समस्त रसों को भूलकर रस-रूप भगवान् में मिलकर कृतार्थ हो जाता है। यही सब माधुर्यता और ईश्वर भाव है।

(स्वामी श्रीविज्ञानहंस जी)

जीव तथा ईश्वर का स्वरूप

प्रश्न—जीव तथा ईश्वर का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—विचार से देखो, प्रश्न-कर्त्ता महानुभाव जीव हैं या ईश्वर, या दोनों से भिन्न ? यदि प्रश्न-कर्ता को स्वयं अपना पता नहीं हो, जीव ईश्वर का पता कैसे चला सकते हैं। क्या आपने अपने में से शरीर के सङ्ग उत्पन्न होने वाले भाव का अन्त कर दिया ? यदि अन्त कर दिया तो अब रुचि क्यों शेष है ? देखो, शरीर स्वभाव का अन्त करने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है। क्योंकि शरीर भोग का उपभोग करने का क्षेत्र है। भोग इच्छा का अन्त होते ही वास्तविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

वास्तविक अभिलाषा क्या है ? क्या आप सर्वदा एकसा रहना अच्छा नहीं समझते ? क्या आप जीवन नहीं चाहते ? क्या आप दुःख का अन्त करना नहीं समझते, इन अभिलाषाओं के लिये प्रत्येक मानव जाति विवश है। जिसको यह रुचि है वह जीव है। जिससे इस रुचि की पूर्ति होती है वही ईश्वर है। जीव तत्व उसी समय तक जीवित है जिस समय तक इस रुचि की पूर्ति नहीं हुई। रुचि की पूर्ति होते ही ईश्वर का ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व मिट कर एक ही तत्व शेष रहता है, जो तत्ववेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है।

जो सर्वदा नहीं रहता उसको यदि असत् कहते हो तो सर्वदा रहने वाला सत् है। जिसमें ज्ञान नहीं है उसको यदि जड़ कहते हो तो जिसमें ज्ञान है वह चेतन है। जिसमें दुःख नहीं है वही आनन्द है।

जीव की वास्तविक रुचि क्या हुई ? सत्, चित्, आनन्द पाने की यह रुचि जिसकी है वही जीव है और जिससे यह रुचि अभेद होती है वही ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर से जीव की जातीय एकता और मानी हुई दूरी है, शरीर से जीव की मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है।

शरीर से संसार की स्वरूप से एकता है। इसी कारण जब तक शरीर-भाव बना रहता है तब तक संसार की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है। अथवा यह कहो कि सारा संसार एक शरीर है। सम्पूर्ण संसार एक शरीर जान लेने पर सर्व संसार से असंगत हो जाती है। जिसकी असंगता होती है वह जीव, और असङ्ग होने पर जिससे एकता होती है वह ईश्वर है। विषय-विराग होने पर जीव-भाव की अनुभूति और ईश्वर-भाव होने पर ईश्वर की अनुभूति होती है। यदि ईश्वर और जीव का स्वरूप जानना चाहते हो तो योग्यता सम्पादन करो। यह प्रश्न सिद्ध किया जाता है, सीखा नहीं जाता। विषयी संसार को जान पाता है, विषय-विरागी जीव को जान पाता है, और जिज्ञासु तथा भक्त ईश्वर को जान पाता है।

जीव का स्थान

जो शरीर पर अपना अधिकार मानता है वही जीव है। विचार से देखो, शरीर में क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति की झलक प्रतीत होती है इसलिये ५ कर्मेन्द्रियों और ५ ज्ञानेन्द्रियों के स्थल हैं, यद्यपि एक कर्मेन्द्रिय एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से अभेद है, क्योंकि कान के बिना वाणी काम नहीं करती। जिसने सुना नहीं वह बोला नहीं। ऐसा ही सम्बन्ध आँख और पैर का, रसना और उपस्थ का, प्राण और गुदा का तथा त्वचा और हाथ का है। कर्मेन्द्रियों का निरोध करने पर वह ज्ञानेन्द्रियों में विलीन हो जाती है और ज्ञानेन्द्रियां मन में। जो ज्ञान और क्रिया की झलक दो विभागों में बटी हुई थी वह अब मन में आकर एक हो जाती है, क्योंकि मन में क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति दोनों का प्रकाश है। मन में संकल्प की क्रिया भी होती है और वस्तु ज्ञान भी होता है। यदि मन का सम्बन्ध इन्द्रियों से न हो तो इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर पातीं। इन सब कारणों से मन में दोनों विभागों की एकता सिद्ध होती है। मन भी बुद्धि की सम्मति के बिना कुछ भी नहीं कर पाता, अतः मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। बुद्धि में क्रिया-शक्ति लेशमात्र और ज्ञान-शक्ति की विशेष झलक रहती है। बुद्धि इच्छाओं के अनुसार प्रवृत्त होती है। इच्छायें मुख्य रूप से दो प्रकार की होती हैं—अपने में किसी प्रकार की कमी न रहे, और दूसरी विषयों की भोग की इच्छा। यह दोनों अहंभाव में रहती हैं, यही जीव का मुख्य स्थान है।

ईश्वर की प्राप्ति का सरल उपाय

यदि स्वतंत्रता पूर्वक ईश्वर अनुभव करना चाहते हो तो 'उनके' बिना चैन से न रहो, अर्थात् विरह उत्पन्न करो। विरही को विरह के अतिरिक्त और किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का अन्त हो जाता है उसी प्रकार विरह उत्पन्न होते ही सब प्रकार के दोषों का अन्त हो जाता है। दोषों का अन्त होते ही ईश्वर-प्राप्ति अपने आप हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि में सभी विकार जल जाते हैं। यह नियम है कि विकार युक्त जीवन निर्विकार तत्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र विरह रूप अग्नि में विकार जला दो। यदि विरह की पूर्णता का अनुभव करता है तो मछली के जीवन से देखो कि वह जल के बिना कैसे रहती है अन्त में क्या करती है?

प्रश्न—क्या ज्ञान से ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती ?

उत्तर—ईश्वर तो ईश्वर-भक्तों की वस्तु है ।

प्रश्न—क्या भक्तों को तत्त्व-ज्ञान नहीं होता ?

उत्तर—भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहने देते । अतः भगवान् के प्रताप से भक्त को ज्ञान भी हो जाता है । जिस प्रकार चोरी करने वाला चोर दंड नहीं चाहता, पर फिर भी उसे मिलता है, उसी प्रकार भक्त यदि ज्ञान की इच्छा भी न करे तब भी भगवत्कृपा से उसे तत्त्व ज्ञान होता है, क्योंकि तत्व-ज्ञान के बिना पूर्ण भक्ति नहीं होती ।

तत्व-ज्ञान तो ईश्वर-प्राप्ति का फल है । साधारण मानव ज्ञान के साधन को ज्ञान मान लेते हैं, यद्यपि ज्ञान का साधन ज्ञान नहीं है । कुछ भक्त लोग भक्ति के साधन को भक्ति मान लेते हैं । भक्ति तो केवल विरह है, जिसका फल मिलन है । सम्मेलन होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता, अर्थात् भक्ति की पूर्णता तत्व-ज्ञान है ।

ज्ञान स्वतन्त्र साधन विचार है । तत्व-ज्ञान के होने पर तत्व-निष्ठा भक्ति है । भक्त को प्रथम भक्ति और फिर तत्व-ज्ञान, जिज्ञासु को प्रथम तत्व-ज्ञान और फिर तत्व-निष्ठा होती है ।

'आत्मा परमात्मा का भेद तब तक है जब तक परमात्मा की अप्राप्ति है । अप्राप्ति तब तक है जब तक विरह अथवा जिज्ञासा की कमी है । विरह अथवा जिज्ञासा की कमी तब तक है जब तक अभागे सुख ने अधिकार किया है, अर्थात् दुःख भगवान् की कृपा नहीं हुई, अथवा यों कहो कि दुःखियों का पूजन नहीं किया ।'

'परमात्मा से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह अपूर्ण है । अपूर्ण में ही पूर्ण की अभिलाषा होती है । अभिलाषा की पूर्णता होने पर पूर्ण अपूर्ण अभेद हो जाते हैं, अर्थात् अपूर्ण की सत्ता मिट जाती है ।'

'आत्मा और परमात्मा में भेद करने वाली केवल अभिलाषा है, अभिलाषा का अन्त होने पर अभिन्नता हो जाती है । अभिलाषा ही जीव का स्वरूप है अतः अभिलाषा का अन्त होते ही 'जीवत्व' का अन्त हो जाता है, और फिर भेद शेष नहीं रहता ।'

तत्व-ज्ञान पूर्वक तत्व-निष्ठा ही जीवन्मुक्ति है । जीवन्मुक्ति जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है ।

'जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन बिना बुलाये आ जाते हैं । जिज्ञासा जागृत करो । साधन की चिन्ता मत करो ।

प्रश्न—आत्मसाक्षात्कार क्या है ?

उत्तर—सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना अर्थात् किसी प्रकार की आवश्यकता शेष न रहे ।

आत्म-साक्षात्कार होने से पूर्व यदि यह बन्धन है तो वह मुक्ति है, यदि यह दुःख है तो वह आनन्द है, यदि यह सीमित है तो वह असीम है, यदि यह जड़ है तो वह चेतन है और यदि वह मृत्यु है तो वह अमरत्व है।

प्रश्न—आत्म-साक्षात्कार का साधन क्या है।

उत्तर—आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हो तो अपने में से विचारपूर्वक सभी मानी हुई सत्ताओं को निकाल दो।

जगत् का स्वरूप

प्रश्न—जगत् क्या है ?

उत्तर—विचार से देखो, जिसे आप जगत् कहते हैं वह केवल 'आप' की प्रतीति है। प्रतीति-कर्त्ता उसी की प्रतीति कर सकता है, कि जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता हो, अथवा किसी प्रकार की भिन्नता हो, क्योंकि एकता के बिना प्रतीति नहीं होती। अब विचार यह करना है कि भिन्नता क्या है और एकता क्या है ? गहराई से देखो, प्रतीति किन साधनों से होती है और कितने प्रकार की होती है ? इन्द्रियों के द्वारा जो प्रतीति होती है वही प्रतीति बुद्धि द्वारा भिन्न प्रकार की मालूम होती है, किन्तु उन में से अधिक माननीय इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि की होती है। इन्द्रियों की प्रतीति में सद्भाव राग की कमी से होता है। यदि जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो तो राग का अन्त कर दो, क्योंकि राग होने से यथार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होगी। राग का अन्त होने पर बुद्धि आदि का काम शेष नहीं रहता और फिर 'विचार-दृष्टि' उत्पन्न होती है जिससे जगत् 'अपनाही स्वरूप' अनुभव होता है। यह भले प्रकार समझ लो कि जिन साधनों से जगत् की प्रतीति करते हो उन साधनों से जगत् का अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि प्रतीति के साधन भी जगत् से भिन्न नहीं। यह नियम है कि असत्य सत्ता का यथार्थ स्वरूप असत्य से असंग होने पर जान सकते हो। अतः अपने को बुद्धि आदि से असंग कर लो। बुद्धि आदि से असंग होते ही जो अनुभव होता है उस में अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जगत् मेरा ही स्वरूप है।

आप बुद्धि की ऐनक से अथवा इन्द्रियों की ऐनक से जगत् की प्रतीति करते हो। इन ऐनकों के उतार देने पर 'अपने से' 'अपने में' 'अपने को' अनुभव करते हो।

एकता तत्त्वदृष्टि से है, अर्थात् स्वरूप की भिन्नता सिर्फ मानी हुई है, अर्थात् अपने मन में विषय-जन्य स्वभाव को स्वीकार कर लिया है, यही भिन्नता का कारण है।

प्रश्न—संसार क्यों प्रतीत होता है ?

उत्तर—अपने में शरीर-भाव धारणा करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप से प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करने पर संसार का अनुभव होता है उसी प्रकार आत्म-भाव धारण करने पर परमात्मा का अनुभव होता है।

शरीर-भाव मिटाने के लिए आत्म-भाव धारण करना परम आवश्यक है, क्योंकि किसी का होना ही किसी का न होना हो जाता है।

जगत् की प्रतीति जगत्रूप से (अपने स्वरूप से नहीं) उसी को होती है जिसने अपने में विषय-जन्य स्वभाव धारण कर लिया है। विषय-जन्य स्वभाव त्यागने पर जगत् की सत्ता जगत्रूप से नहीं रहती।

प्रश्न—जगत् की जगत्रूप से सत्ता क्या है?

उत्तर—विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध से भिन्न और कुछ नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न—विषय-जन्य स्वभाव कौन धारण करता है?

उत्तर—गहराई से देखो, जिसके बिना जो न रह सके वही उसका कारण होता है। जागृत और और स्वप्न में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति होती है, किन्तु सुषुप्ति में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति नहीं होती, अर्थात् विषय-जन्य स्वभाव सुषुप्ति काल में जिसमें विलीन होता है वही विषय-जन्य स्वभाव धारण करता है।

प्रश्न—विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण किया?

उत्तर—यह प्रश्न ही गलत है, क्योंकि कार्य के होते हुए कारण का ज्ञान नहीं होता। कार्य का अन्त होने पर कारण का ज्ञान होता है। अतः विषय-जन्य स्वभाव का अन्त करने पर यह प्रश्न स्वतः सिद्ध हो जायगा, प्यारे, यह प्रश्न हल किया जाता है, इसका उत्तर सुना नहीं जाता, क्योंकि प्रश्न कर्त्ता महोदय भी तो विषय-जन्य स्वभाव धारण किये हैं, वह क्यों नहीं जान लेते कि विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण किया है?

ईश्वर सम्बंधी उपदेश।

१. ईश्वर सर्वत्र समान व्यापक है।

२. हमारा कर्त्तव्याऽकर्तव्य, कार्याकार्य, विचाराविचार अन्तर्बहिर्व्यापार सब ईश्वर ही के समक्ष होता है।

३. ईश्वर सर्वज्ञ है— उससे बात छिपी नहीं है न छिप सकती है।

४. ईश्वर हमारा उत्पन्नकर्त्ता, मातापिता है।

५. हम ईश्वर के अंश हैं—इसलिए हमारा उससे अभेद है।

६. ईश्वर में पूर्णरूप चैतन्यशक्ति है, हममें अंशरूप चैतन्यशक्ति है। किन्तु उसके जाति, गुण, धर्म, शक्ति में कुछ भी न्यूनता या भिन्नता नहीं है।

७. जो कुछ मांगना मंगना है, लेना देना है, बोलना है, पूछना है, कहना सुनना है— सब कुछ ईश्वर के साथ होना चाहिए।

८. कभी दीनता, दुर्बलता, उदासीनता का भाव तक न होने देना चाहिए।

९. सब पर प्रभुता, शक्तिमत्ता, सत्ता, स्वाधीनता, श्रीमत्ता, प्रमुखता का निरन्तर सद्भाव वाहित होना चाहिये।

१०. सर्वकाल ईश्वर के कृतज्ञ, उपकृतज्ञ एवं आभारी रहना चाहिये।

११. साठ घड़ी, चौबीस घन्टे ईश्वर का स्मरण करना चाहिये, उसमें चित्त लगाना चाहिए एवं उसी का गुणगान करना चाहिये।

१२. प्राण पण से धर्म का आचरण करते हुए 'परम सत्य' का अन्वेषण करना चाहिए।

इस प्रकार दृढ़ भाव, दृढ़ विश्वास, दृढ़ निश्चय से ईश्वर में लक्ष लगाकर तन, मन, धन ईश्वर के चरणों में समर्पित करके नित्य अपना उद्योग, धन्धा व्यवसाय करते रहना चाहिये। अश्रद्धा, संशय, व्याकुलता, निर्बलता, उदासीनता, अकर्मण्यता आदि दोषों का प्रादुर्भाव होते ही— ॐ का जप, या अपने अपने धर्मानुसार ईश्वर की प्रार्थना, या थोड़ी देर के लिए कार्य से विराम पाकर चित्त को (Blank) करो अर्थात् संकल्परहित कर देना चाहिए और शान्त होकर विचारों को लगातार लगाना— कार्य में क्यों नहीं सफलता होती, इच्छित क्यों नहीं साध्य होता, और साध्य में क्यों नहीं सिद्धि मिलती, क्यों संकट दिखाई दे रहा है, क्यों विपत्ति हो रही है, क्या आपत्ति आ रही हैं क्यों बुरा हो रहा है, क्यों बिगाड़ हो रहा है, क्यों हानि हो रही है इनके कारणों की खोज करते करते विचार में लीन हो जाना चाहिए— एकाएक अन्तर्ध्वनि होगी एवं स्वमेव उस कार्य की सफलता का मार्ग दिखाई देगा—उसके अनुसार चलने से सब विघ्न दूर होके अवश्यमेव सफलता प्राप्त होगी, विजय उपस्थित होगी एवं लक्ष्मी वशीभूत होगी।

"सा जिह्वाया हरिंस्तौति तच्चित्तं यत्तदर्पणम्।
तावेव केवलौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजा करौ करौ॥ (गरुड़ पुराण)

जिह्वा वही है जो हरि भगवान् की स्तुति करे, चित्त वही है जो उनके अर्पण हो और केवल वही हाथ सराहने योग्य हैं जो उनकी पूजा में तत्पर हों।

शब्द में शक्ति

शब्द में अचिन्त्य शक्ति है, विचार करो कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति में जो "सर्व" शब्द है, सर्व को सर्व शब्द सहित ब्रह्मरूप से बोधन करता है, इससे 'सर्व' शब्द ब्रह्म का वाचक न रहा क्योंकि कहीं भी उससे पृथक् नहीं है, और जब वाचक न रहा तब वाच्य कुछ भी न रहा, इसलिये वाच्य, वाचकता शब्दों में कुछ नहीं और बोध भी शब्दों से होता है, यही शब्द की अचिन्त्य शक्ति है, तद्वत् सत् आदि शब्द लक्ष्य ब्रह्म को लगाते हैं परन्तु वह सत् आप ही लक्ष्य है इसलिये लक्षक कुछ पृथक् नहीं है और लक्ष्य भी पृथक् नहीं है, इससे लक्षक लक्ष्य कुछ बनते नहीं परन्तु शब्द से लक्ष्य का बोध भी होता है, यही शब्द की अचिन्त्य शक्ति है।

देखिये विमाता के शब्द से ही ध्रुव को अखण्ड पद मिला। शब्द मात्र ही से गौतमबुद्ध राज्यैश्वर्य का त्याग करके महात्मा बने। वैश्या के शब्द से ही सूरदास विरक्त बने। भौजाई के शब्द से ही नरसी महता भक्ति भाजन बने। एवं निज स्त्री के शब्द से ही तुलसीदास सच्चे गोस्वामी बने। ऐसा शब्दों में प्रभाव है, तो सूक्ष्म विचारों में कितना प्रभाव होगा—विचार संयम का सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्फुरण हिमालय जैसा महा पर्वत का प्रवाही पदार्थ बना सकता है। पृथ्वी के कण कण अलग करके उसको हवा में उड़ा सकता है। अटलांटिक महासागर का वाष्पीभवन करके उसको सुखा सकता है। आकाश को निरवकाश करके ग्रह-ताराओं को नीचे गिरा सकता है।

विजय और शान्ति प्राप्त करने का सरल उपाय

मरना, नहीं, हमेशा जीना है, यह समझ कर काम करो, बस तुम्हारी विजय है।" हमेशा जीना है, मरना नहीं, यह समझ कर काम करना जैसे विजय पाने की कुंजी है वैसे ही आज मरना है और अभी मरना है, यह समझ कर ईश्वर की भक्ति करना, शान्ति पाने का उपाय है।

ईश्वर की महिमा

भक्त ध्रुव और प्रहलाद की कथा चाहे कितनी ही पुरानी क्यों न होजाय, पर एक आस्तिक के हृदय से उसका प्रभाव कभी जा नहीं सकता। वह उस घटना को अवैज्ञानिक नहीं मानता, उसकी दृष्टि में में वह बात उतनी ही सत्य है जितना कि विज्ञान अथवा गणित का एक ठोस नियम। आंवे में से बिल्ली के बच्चे को जीवित निकलते देख कर भक्त प्रहलाद के हृदय में अनुराग का स्रोत फूट पड़ा और वह परमेश्वर के अनन्य भक्त बन गये। आज यह कथा अवैज्ञानिक कह कर टाल दी जाती है। मानों लोगों ने प्रकृति के सारे रहस्यों का ठेका ले लिया है और वह आधुनिक विज्ञान के अवगत रहस्यों को छोड़ किसी दूसरे रहस्य का प्रतिपादन नहीं कर सकती।

आज भी वैसी ही घटनाएँ नित्य हुआ करती हैं। पर हम अपनी कूपमण्डूकता के कारण उन पर ध्यान नहीं देते, या 'चान्स' कह कर चुप हो जाते हैं। थोड़े समय की बात है, एक ऐसी ही घटना घटी। बी०एन० डब्लू की छोटी लाइन पर बनारस के पास एक 'राजवारी' नाम का स्टेशन है, स्टेशन के पास ही ठाकुर उमाशंकर ने एक ईंटों का पजावा लगवाया। जब पजावा पुत गया और आग झोंकने का समय आया

तो लोगों ने देखा कि एक नेवला चार-पाँच हाथ भीतर पजावे की दीवार में घुसा हुआ है। ठाकुर आस्तिक विचार के थे। उन्होंने उस नेवले को निकालने की बड़ी चेष्टा की। थोड़ी देर बाद नेवला दिखाई नहीं पड़ा। नौकरों ने कह दिया—वह तो बाहर भाग गया। पजावे में आग लग गई। ईंटें पकीं। पजावा ठण्डा हो जाने के बाद जब ईंटें निकाली जाने लगी तो ठाकुर ने क्या देखा कि पजावे के भीतर लगभग सौ ईंटों का थाक नीचे से ऊपर तक पका ही नहीं, ईंटें काली तक न होने पायी थीं। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। ईंटों के बिखरने पर वह नेवला अपने बच्चों सहित उसमें जिन्दा पाया गया। ईश्वर की यह महिमा देखकर लोग आश्चर्य चकित हो गये। एक भीड़ लग गई। कई प्रतिष्ठित लोगों ने देखा। यह आँखों देखी प्रत्यक्ष घटना है। इस पर कैसे अविश्वास किया जाता है? ईश्वर के सामने क्या यह कोई बड़ी बात है? जिन जिन लोगों को विश्वास न होवे वहाँ जाकर इसकी पूरी तरह की छानबीन कर सकते हैं।

(श्री ब्रजबिहारीलालजी गौड़)

॥ दोहा ॥

'माया, मन्दिर, स्त्री, धरती औ व्यवहार।
ये जब सन्तन को मिलें, तो कोपै सिरजनहार॥"

जब भगवान् का कोप होता है तभी साधु को ये वस्तुएँ मिलती हैं।

आत्म-विचार

आँखों को काट कर हाथ पर रख दिया जाय तो वे देख नहीं सकतीं। कानों को काट कर फेंक दिया जाय तो वे भी नहीं सुन सकते। यह सब क्यों? आत्मा से भिन्न हैं, यों। आत्मा अरूपी है और रूप वाले सब पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भी वह सूक्ष्म है।

सुनो, आत्मा का मूल्य। धन को बहुमूल्य समझने वाले भी यह जानते हैं कि यदि वे अङ्ग से दूषित हैं तो उनका धन व्यर्थ है। धन से अंग-प्रत्यंगों की बहुमूल्यता का वे अनुभव करते हैं। परन्तु वे अंग-प्रत्यंग भी जिसके बिना निस्सार हैं उसके मूल्य का भी अनुभव करो। विनाशी शरीर के लिए दिन-रात परिश्रम करते हो तो उसके लिये भी, जो अनन्तकाल का साथी है, घड़ी-दो-घड़ी यत्न करो। या सम्पूर्ण कर्म उसके अर्पण करो।

जैसे आजीविका के लिए व्यापारादि विभिन्न साधनों में से किसी एक को चुनते हो वैसे ही शान्ति के लिये-कल्याण के लिये किसी भी सम्प्रदाय को चुनो। भगवान् के किसी भी नाम को चुनो। या जैसे बाप-दादों के धँधे को आजीविका के लिये पकड़ते हो वैसे ही सुख के लिये बाप-दादों के धर्म पर दृढ़ रहो। पर जैसे व्यापारी बन कर नौकरी का विरोध नहीं करते उसी भांति हिन्दू बन कर बौद्धों का विरोध मत करो, शैव बन कर वैष्णव का विरोध मत करो। क्योंकि:—

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ बस इत्यलम्।

(कल्याण से) (श्रीसूर्यभानुजी जैन)

ब्रह्मज्ञान का सर्वोत्तमत्व

स्थावर-जंगम सब प्राणि-पदार्थों का अधिष्ठान रूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार किये बिना कोई भी प्राणी दुःख तथा भय से आत्यन्तिक मुक्ति नहीं पा सकता। कोई भी जड़ पदार्थ सुखी नहीं हैं। तृण, लता, वृक्ष, गुल्म सुखी नहीं है, अनेक प्रकार के जलचर सुखी नहीं हैं। कृमि, कीट, पतङ्ग और सर्पादि सुखी नहीं हैं, नानाविध पक्षी सुखी नहीं हैं, विविध पशु सुखी नहीं है, इस पृथ्वी में निवास करने वाले ब्रह्मज्ञान रहित मनुष्य भी सुखी नहीं है और भुवलोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त लोकों में अवस्थित ब्रह्मज्ञान हीन देवता भी यथार्थतः सुखी नहीं है। इस जगत् में जो भाग्यशाली व्यक्ति परम सुख स्वरूप ब्रह्म का अभिन्न भाव से अनुभव करने में समर्थ हुआ है, एक मात्र वही परम सुखी है।

अन्न, वस्त्र, गृह, क्षेत्र, स्वर्ण, रौप्य, पशु, वाहन, पद मर्यादा और कीर्ति—इनमें परम सुख देखने में नहीं आता; विवेकी मनुष्य को ये सब पदार्थ विशुद्ध सुख समन्वित नहीं, किन्तु विषमिश्रित मिष्टान्न के सदृश दुःख-युक्त प्रतीत होते हैं।

मनुष्य की बाल्यावस्था दुःख वाली है, युवावस्था दुःख वाली है और वृद्धावस्था भी दुःख वाली है। अज्ञानी स्त्री दुःखी है, अज्ञानी पुरुष दुःखी है और नपुंसक भी दुःखी है। हे दुःख! तू अज्ञानी जीवों में सर्वज्ञ सर्वदा व्याप्त हो रहा है।

कुरूप मनुष्य दुःखी है, सुरूप दुःखी है, अल्प कुटुम्ब वाला दुःखी है, बहुकुटुम्ब वाला दुःखी है, पुत्र-हीन दुःखी है, पुत्रवान् दुःखी है, निर्धन दुःखी है, धनाढ्य दुःखी है, प्रभाव-शून्य दुःखी है, प्रभावशाली दुःखी है, विद्याविहीन दुःखी है और विद्वान् भी दुःखी है। इस प्रकार पृथ्वी पर सूक्ष्म दृष्टि द्वारा जहां देखिये, वहां सर्वत्र सर्वदा दुःख दुःख और दुःख ही प्रतीत होता है।

सामान्य दृष्टि से देखिये, तो वृक्षादि से कीट सुखी हैं, कीटादि से जलचर सुखी हैं, जलचर से पशु-पक्षी सुखी हैं, पशु-पक्षी से मनुष्य सुखी हैं, मनुष्य से अन्तरिक्षस्थ देवता सुखी हैं, अन्तरिक्षस्थ देवता से स्वर्गीय देवता सुखी हैं, स्वर्गीय देवता से महर्लोक वासी देवता सुखी हैं, जनलोक निवासी देवता से तपलोक वर्त्ती देवता सुखी हैं, तपलोकवर्त्ती देवता से सत्यलोक स्थित देवता सुखी हैं। सत्वगुण की वृद्धि के कारण वह सब अनुभव में आते हैं। ब्रह्म ज्ञान द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्दरूप महासागर के सम्मुख सत्यलोक का सुख एक क्षुद्र बिन्दु-तुल्य है।

तामस सुख की अपेक्षा राजस सुख श्रेष्ठ है, राजस की अपेक्षा सात्विक श्रेष्ठ है, सात्विक की अपेक्षा शुद्ध सात्विक श्रेष्ठ है, और शुद्ध सात्विक सुख की अपेक्षा निरुपाधिक ब्रह्मानन्द श्रेष्ठ है। यह ब्रह्मानन्द ही सर्वोत्तम सुख है। मनुष्य-जन्म पा कर विवेकी अभिन्न भाव से केवल इसी को प्राप्त करने योग्य गिना जाता है।

जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर होता है, जैसे अग्नि के सामीप्य से शीत दूर होता है, जैसे चिन्तामणि की प्राप्ति से दारिद्र्य दूर होता है, और जैसे अमृत-पान से समग्र रोगों की निवृत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य के त्रिविध❀ ताप की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है।

इस धराधाम में मनुष्य जन्म प्राप्त होकर विवेकी मनुष्य को पूर्व कथनानुसार ब्रह्मज्ञान ही सम्पादन करना उचित है। विपुल, धन, सर्वोत्कृष्ट पद-गौरव अथवा बहुशास्त्रों के अध्ययन से सर्व दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। एक मात्र सुदृढ़ ब्रह्मज्ञान से ही सर्व दुःख-निवृत्ति पूर्वक परमानन्द-प्राप्ति सिद्ध होती है।

ब्रह्म से भिन्न जिस-जिस प्राणि-पदार्थ में उसे सत्य मान कर अन्तःकरण की वृत्ति जाती है, वहां २ वह न्यूनाधिक दुःख का ही अनुभव करती है। इस विश्व में एक ब्रह्म ही ऐसा स्थान है, जहाँ जाने से अन्तःकरण-वृत्ति दुःख रहित परमानन्द का अनुभव करती है।

हे मन ! लौकिक ज्ञानों की तृष्णा परित्याग कर। ऐसे ज्ञानों का पार नहीं, वे ज्ञान सत्य सुख देने वाले नहीं हैं, बहुत दिनों तक ऐसे ज्ञानों की प्राप्ति के लिये परिश्रम किया, परन्तु तुझे केवल परिश्रम-जन्य तथा नैराश्य जन्य दुःख का ही अनुभव हुआ है, इसलिये अब जिस ज्ञान से जीव के सर्व दुःखों की प्रशान्ति होकर उसे परमानन्द का लाभ होता है, उसी ज्ञान को प्राप्त करने लिये सर्वदा प्रयत्नशील रह।

रूप, यौवन, धन, अधिकार, स्त्री, पुत्र और विद्या इन सब की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान ही श्रेष्ठ है, क्योंकि ये रूपादि जीव को स्थाई सुख देने वाले नहीं हैं, स्थाई सुख देने वाला तो ब्रह्मज्ञान ही है।

ब्रह्मज्ञान—कुरूप का परम सौन्दर्य्य है, वृद्ध का पूर्ण यौवन है, निर्धन का महाधन है, निरधिकार का महाधिकार है, स्त्री-हीन की रूप-यौवन-कुलसम्पन्न स्त्री है, पुत्र रहित का सुशील पुत्र है, और विद्या हीन की परम विद्या है।

नाना विध तपों से प्रतप्त जीवों के लिये ब्रह्मज्ञान ही परम शीतल कल्प वृक्ष है। निराधार का वह परमाधार है, और अनाथ तथा अशरण को सनाथ तथा शरण युक्त करने वाला है। हे मन ! एतादृश सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान का सम्पादन करने के लिए तू साधन सम्पन्न होकर, संशय विपर्यय छोड़ सर्वदा अधिक से अधिक प्रयत्न किया कर।

(कल्याण से) (श्रीराम स्वामी जी)

❀ दुःख तीन प्रकार के होते हैं:— (१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक (३) आधिदैविक। ज्वर, खांसी आदि रोगों से जो दुःख होते हैं उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। सांप, भालू और सिंह आदि पशुओं के कारण जो दुःख होते हैं, उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं। वायु, अग्नि, वृष्टि इत्यादि के कारण जो कष्ट होता है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं।

सम्यक् ज्ञान रूप वेल (सुधासार २ फल युक्त)

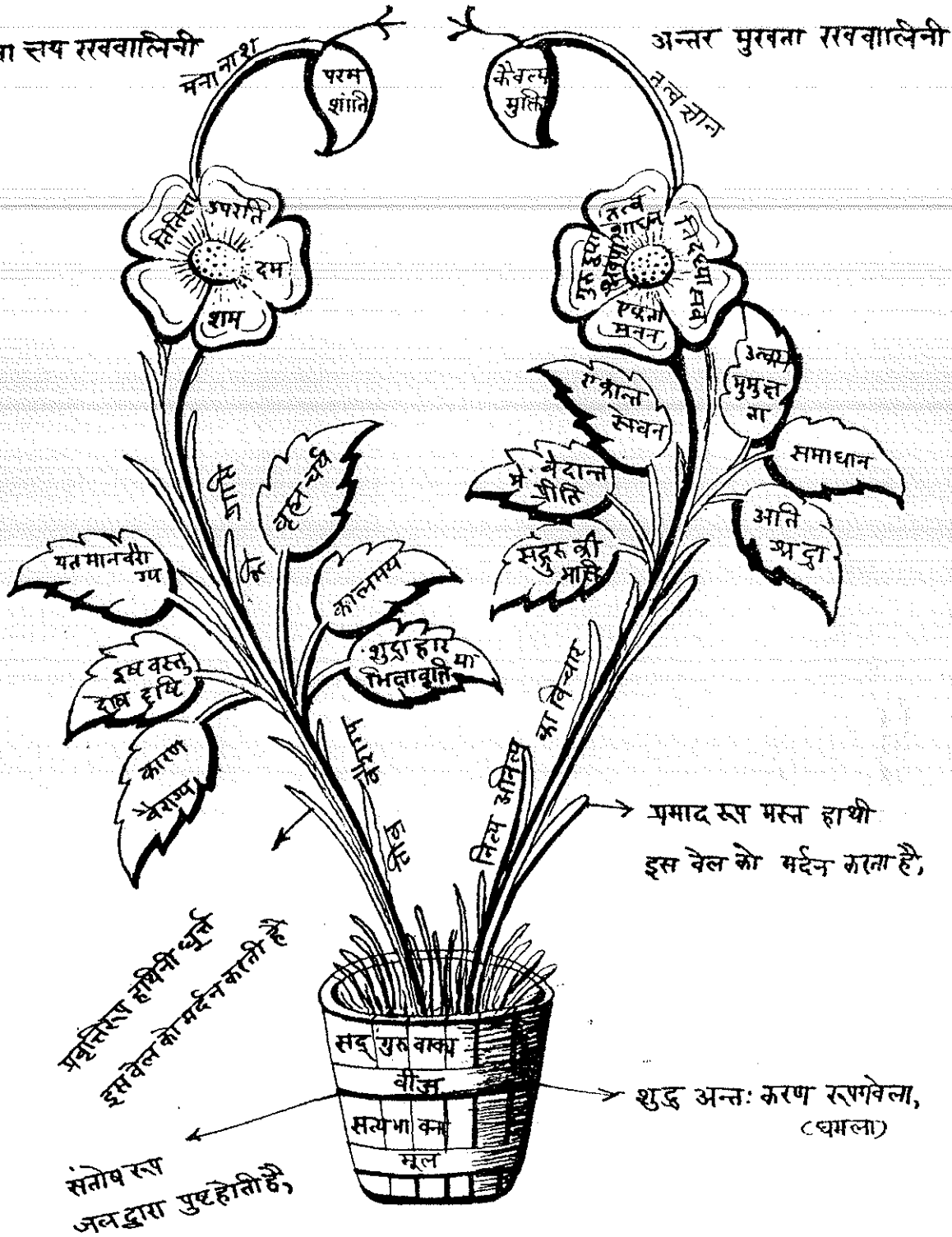

भगवत्प्राप्ति के विविध उपाय

इस ग्रन्थ में हमने भगवत्प्राप्ति के अनेक शास्त्रोक्त उपाय विस्तार से बतला दिये हैं। अब केवल दश उपायों का संक्षिप्त परिचय श्रीजयदयालजी गोयन्दका के आधार पर और दिये देते हैं। मनुष्य अपने २ अधिकार और रुचि के अनुसार किसी भी शास्त्रोक्त उपाय को निष्काम भाव से अर्थात् सांसारिक सुख-प्राप्ति की कामना को छोड़ कर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ काम में लाने से यथासमय वह भगवत् को प्राप्त होकर अपने जन्म और जीवन को सार्थक कर सकता है—

दश उपाय

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकंधर्म लक्षणम्॥ (मनुस्मृतिः)

भगवान् श्री मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षण बतलाये हैं, इन दश लक्षणों वाले धर्म का निष्काम आचरण करने से मनुष्य माया के बन्धन से छूट कर भगवान् को पा सकता है।

१—धृति—किसी प्रकार भी संकट आ पड़ने पर या इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर धैर्य को न छोड़ना। जो धीरज को धारण किये रहता है, उसी का धर्म बनता है और वही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

२—क्षमा—अपने साथ बुराई करने वाले को दण्ड देने-दिलाने की पूरी शक्ति रहने पर भी उसको दण्ड देने (दिलाने) की भावना को मन में भी न लाकर उसके अपराध को सह लेना और उसका अपराध सदा के लिये समाप्त हो जाय इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं।

३—दम—साधारणतः इन्द्रिय-निग्रह को दम कहते हैं, परन्तु इस श्लोक में इन्द्रिय-निग्रह अलग कहा गया है, इससे यहाँ 'दम' शब्द से शम को अर्थात् मन के निग्रह को लेना चाहिये। मन को वश में किये बिना भगवत् की प्राप्ति प्रायः असम्भव है। भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य से मन का वश में होना बतलाया है।

४—अस्तेय—मन, वाणी, शरीर से किसी प्रकार की चोरी न करना।

५—शौच—बाहर और भीतर की शुद्धि-सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यापार से द्रव्य की, उसके अन्न से आहार की, यथायोग्य व्यवहार से आचरणों की और जल, मिट्टी आदि से की जाने वाली शरीर की शुद्धि को बाहर की शुद्धि कहते हैं एवं राग-द्वेष, दम्भ-कपट तथा वैर अभिमान आदि विकारों का नाश होकर अन्तःकरण का स्वच्छ हो जाना भीतर की शुद्धि कहलाती है।

६—इन्द्रिय-निग्रह (दम)—इन्द्रियों को उनके विषय रूप, रस गन्ध, शब्द, स्पर्श में मन

माने रूप से न जाने देकर अनिष्टकारी विषयों से हटाये रखना और कल्याणकारी विषयों में लगाना।

७—धी (बुद्धि)—सात्विकी श्रेष्ठ बुद्धि, जो सत्संग, सच्छास्त्रों के अध्ययन, भगवद्भजन और आत्म-विचार से उत्पन्न होती है तथा जिससे मन परमात्मा में लगता है और यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

८—विद्या—वह अध्यात्मविद्या, जिसको भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया है और जो मनुष्य को अविद्या से छुड़ाकर परमात्मा के परमपद को प्राप्त कराती है।

९—सत्य—यथार्थ और प्रियभाषण। अन्तःकरण और इन्द्रियों से जैसा निश्चय किया हो, वैसा ही प्रिय शब्दों में कहना तथा यह ध्यान में रखना कि इससे किसी निर्दोष प्राणी का हानि तो नहीं हो जायगी। सत्य वही है जो यथार्थ हो, प्रिय हो, कपट रहित हो और किसी का अहित करने वाला न हो।

१०—अक्रोध—अपनी बुराई करने वाले के प्रति भी मन में किसी प्रकार से क्रोध का विकार न होना। अक्रोध और क्षमा में यही भेद है कि अक्रोध से तो कोई क्रिया नहीं होती, जो कुछ होता है, मनुष्य सब सह लेता है, मन में विकार पैदा नहीं होने देता, परन्तु इससे हमारी बुराई करने वाले का अपराध क्षमा नहीं होता, उसका फल उसे न्यायकारी ईश्वर के द्वारा लोक-परलोक में अवश्य मिलता है। क्षमा में उसका अपराध भी क्षमा हो जाता है।

नौ उपाय

उपर्युक्त दश उपायों को काम में न लावें तो निम्नलिखित नवधा भक्ति के नौ साधनों से परमात्मा को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। नवधा भक्ति यह है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

१. श्रवण—भगवान् के चरित्र, लीला, महिमा, गुण, नाम तथा उनके प्रेम एवं प्रभाव की बातों का श्रद्धा पूर्वक सदा सुनना और उसी के अनुसार चलना अर्थात् आचरण करने की चेष्टा करना, श्रवण भक्ति है। श्रीमद्भागवत् के श्रवण मात्र से धुन्धकारी-सरीखा पापी तर गया था। राजा परीक्षित आदि इसी श्रेणी के भक्त माने जाते हैं।

२. कीर्तन—भगवान् की लीला, कीर्ति, शक्ति, महिमा, चरित्र, गुण, नाम आदि का प्रेमपूर्वक कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। श्री नारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य आदि इसी श्रेणी के भक्त माने जाते हैं।

३. स्मरण—सदा अनन्य भाव से भगवान् के गुण-प्रभाव सहित उनके स्वरूप का चिन्तन करना और बारम्बार उन पर मुग्ध होना, स्मरण भक्ति है। श्रीप्रहलादजी, श्रीध्रुवजी, भरतजी, भीष्मजी, गोपियां आदि इसी श्रेणी के भक्त हैं।

४. पादसेवनम् — भगवान् के जिस रूप की उपासना हो, उसी का चरण सेवन करना, या भूत मात्र में परमात्मा को समझ कर सब का चरण सेवन करना। श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीभरतजी, इस श्रेणी के भक्त हैं।

५. पूजन—अपनी रुचि के अनुसार भगवान् की किसी मूर्ति विशेष का या मानसिक स्वरूप का नित्य भक्तिपूर्वक पूजन करना। विश्व भर के सभी प्राणियों को परमात्मा का स्वरूप समझ कर उनकी सेवा करना भी अव्यक्त भगवान् की पूजा है। राजा पृथु, अम्बरीष, आदि इसी श्रेणी के भक्त हैं।

६. वन्दन—भगवान् की मूर्ति को या विश्वम्भर को भगवान् की मूर्ति समझ कर प्राणी मात्र को नित्य प्रणाम करना वन्दन भक्ति है। श्री अक्रूर आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

७. दास्य—श्री परमात्मा को ही अपना एक मात्र स्वामी और अपने को उनका भृत्य समझ कर किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए श्रद्धाभक्ति के साथ नित्य नये उत्साह से भगवान् की सेवा करना और उस सेवा के सामने मोक्ष-सुख को भी हेय समझना। श्री हनुमान्जी, श्रीप्रहलादजी इस श्रेणी के के भक्त हैं।

८ सख्य—श्रीभगवान् को ही अपना परम हितकारी परम सखा मान कर मन लगाकर उनसे प्रेम करना। भगवान् अपने सखा-मित्र का छोटे-से-छोटा काम बड़े हर्ष के साथ करते हैं। श्रीअर्जुन, उद्धव सुदामा, श्रीदाम आदि इस श्रेणी के भक्त हैं।

९. आत्मनिवेदन या समर्पण—अहंकार रहित होकर अपना सर्वस्व श्रीभगवान् के अर्पण कर कर देना। महाराज बलि, गोपियां आदि इस श्रेणी के भक्त हैं।

आठ उपाय

उपर्युक्त नौ उपायों से काम न लें तो महर्षि पातञ्जलि-कथित अष्टाङ्गयोग के आठ साधनों को काम में लाने से भगवत्प्राप्ति हो सकती है—वे आठ साधन ये हैं:—

"यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।"

योग०सा०२९

१. नियम—यम पांच हैं:—

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमा; ।"

(योग० सा० ३०)

(क) **अहिंसा**—मन, वाणी, शरीर से किसी प्राणी की हिंसा न करना, करवाना, और न समर्थन करना अहिंसा कहलाता है। लोभ, मोह, या क्रोध से किसी प्रकार किसी को किंचित् भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।

अहिंसावृत्ति का पूर्ण पालन होने से उसके निकट रहने वाले हिंसक पशुओं में हिंसावृत्ति नहीं रहती।

(ख) **सत्य**—जैसा कुछ देखा-सुना-समझा हो, वैसा ही पराये हित की दृष्टि रखकर यथार्थ कहना सत्य है।

सत्य का व्रत पूरा पालन होने पर जो कुछ भी कहा जाय वही सत्य हो जाता है, उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती।

(ग) **अस्तेय**—मन, वाणी, शरीर से कभी दूसरे की किसी भी वस्तु पर अधिकार करना व न चाहना अस्तेय है।

अस्तेय व्रत की पूर्ण पालना होने से रत्नों पर उसका अधिकार हो जाता है।

(घ) **ब्रह्मचर्य**—आठ प्रकार के मैथुनों का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने से वीर्य यानी शारीरिक और मानसिक महान् पराक्रम की प्राप्ति होती है।

(ङ) **अपरिग्रह**—भोग्य-वस्तुओं का सर्वथा संग्रह नहीं करना अथवा ममता-बुद्धि से किसी भी योग्य वस्तु का संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अपरिग्रह के पूर्ण पालन से जन्मान्तर की बातें जानी जा सकती हैं।

२. नियम —नियम भी पांच हैं:—

"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः।"

(यो० सा० ३२)

(क) **शौच**—मिट्टी जल आदि से शरीर की और शुद्ध व्यापार और आचरणों से आहार-व्यवहार की शुद्धि। और राग-द्वेषादि के त्याग से भीतर की शुद्धि—यह शौच है।

बाह्य शौच के पूर्ण पालन से अपने शरीर पर घृणा हो जाती है और दूसरे के संसर्ग में वैराग्य हो जाता है। आन्तरिक शौच से चित्त की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्म-दर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

(ख) **सन्तोष**—भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में सन्तोष करना यह सन्तोष है।

सन्तोष के पूर्ण धारण से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

(ग) तप—धर्म पालन के लिये कष्ट सहन करना या कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत करना अथवा अग्नि-शीत सहन तप है।

तप द्वारा अशुद्धि का नाश होकर अणिमा, लघिमा आदि शरीर की और दूर दर्शन श्रवण आदि इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है।

(घ) स्वाध्याय—वेद, उपनिषद्, और ऋषि प्रणीत शास्त्रों का अध्ययन, गायत्री आदि मन्त्र और भगवन्नाम का जप स्वाध्याय कहलाताहै। स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता के दर्शन होते हैं।

(ङ) ईश्वर-प्रणिधान—भगवान् को सर्वस्व अर्पण करना और उन्हीं में परायण हो जाना, ईश्वर-प्रणिधान है।

ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

३. आसन—एक स्थिर भाव से अधिक काल तक बैठने का नाम आसन है। सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि अनेक आसन होते हैं। आसन की सिद्धि से शीत-उष्ण आदि द्वन्दों से पीड़ा नहीं होती।

४. प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का नाम प्राणायाम है। रेचक पूरक और कुम्भक-नामक तीन प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास गुरु से सीख कर करना चाहिये। प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण यानी ज्ञान को ढक रखने वाला परदा क्षय हो जाता है।

५. प्रत्याहार—विषयों से मन हट जाने पर इन्द्रियां भी चित्त का ही अनुकरण कर विषयों से निवृत्त हो जाँय, इसका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय मिल जाती है।

६. धारणा—एक देश में चित्त को रोकने का नाम धारणा है।

७. ध्यान—चित्तवृत्ति के ध्येय पदार्थ में तैलधारावत् एकतान स्थिर रहने का नाम ध्यान है।

८. समाधि—ध्यान की परिपुष्टि होने से ध्याता ध्यान की और ध्येय की त्रिपुटी मिट कर एकता हो जाती है, तब उसे समाधि कहते हैं। समाधि सबीज और निर्बीज भेद से दो प्रकार की है, सबीज में त्रिपुटी के न रहने पर भी सूक्ष्म संस्कार रहता है और निर्बीज में सूक्ष्म संस्कार का भी अत्यन्त निरोध हो जाता है।

सात उपाय

उपर्युक्त आठ उपायों का आचरण न हो तो निम्न लिखित सात उपायों के अनुसार निष्काम आचरण करने से भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

इस असार संसार में, सात वस्तु हैं सार।
संग, भजन, सेवा, दया, ध्यान, दैन्य, उपकार ॥

१. संग—संग से यहां सत्संग से तात्पर्य है। भगवत्प्रेमी महात्मा पुरुषों और सत्शास्त्रों के संग से मनुष्य को जो लाभ होता है वह अवर्णनीय है। भगवान् की महत्ता सत्संग से ही जानी जाती है। सत्संग से ही जीव का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं:—

बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होहिं न दृढ़ अनुराग ॥
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥

इसी प्रकार श्री मद्भागवत् में सौनकादि ऋषि कहते हैं।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
(भागवत १ स्कंध)

'हम एक क्षण भर के भगवत्प्रेमियों संग की तुलना में स्वर्ग या मोक्ष को भी तुच्छ समझते हैं तब अन्य सांसारिक वस्तुओं की तो बात ही क्या ? भगवान् स्वयं श्री उद्धवजी से कहते हैं:—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुध्रे सत्संगः सर्वसङ्गापहोहिमाम् ॥
(भा० ११/१२/१-२)

'हे उद्धव! सारी सांसारिक आसक्तियों को नाश करने वाले सत्संग के द्वारा जिस प्रकार मैं पूर्ण प्रकार से उसके आधीन होता हूं उस प्रकार योग सांख्या, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, कुएँ बावड़ी बनाने और बाग, लगाने, दान दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थ यात्रा, नियम, यम आदि किसी भी साधन से नहीं होता।

परन्तु सत्संग के लिए साधु कैसे होने चाहियें इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है। श्रीमद्भगवत्गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ पुरुषों के, बारहवें अध्याय में भक्तों के, चौदहवें में गुणातीत पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं, वैसे लक्षण न्यूनाधिक रूप से जिन पुरुषों में घटते हों, वे ही वास्तविक सन्त पुरुष हैं। श्रीमद्भागवत में सन्तों के लक्षण बतलाते हुए श्रीकपिलदेवजी महाराज अपनी माता से कहते हैं :—

तितिक्षवः कारुणिका सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढ़ाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति त्रिविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः॥
त एते सधावः साध्वि! सर्वसंग विवर्जिताः।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहरा हि ते॥

(भा०/३/२५ २१-२४)

'हे माता! जो द्वन्दों को सहन करते हैं, दयालु हैं, सब भूत-प्राणियों के निःस्वार्थ प्रेमी हैं, शान्त हैं, जिनके कोई भी शत्रु नहीं है, शीलता ही जिनका भूषण है, जो मुझ भगवान् में अनन्य और दृढ़ भाव से भक्ति करते हैं, जिन्होंने मेरे लिए समस्त कर्मों और स्वजन-बान्धवों के ममत्व को भी त्याग दिया है, जो मेरे ही आश्रित हैं, नित्य मेरी ही कथा कहते-सुनते हैं ऐसे मुझमें लगे हुए चित्तवाले वे साधु त्रिविध तापों से पीड़ित नहीं होते। ऐसे वे साधु समस्त आसक्तियों से रहित होते हैं। और वे ही आसक्ति के दोष का नाश कर सकते हैं, अतएव! हे साध्वी उन्हीं का संग करना चाहिए।

इसलिये हज़ार काम छोड़कर भी सदा प्रेम से और श्रद्धा से सत्सङ्ग करना चाहिये।

२—भजन—गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं:—

वारि मथे बरु होय घृत, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल॥

बात भी ठीक है। संसार से तैरने के लिए भगवान् का भजन ही मुख्य है। भजन के पीछे सारे गुण आप ही आ जाते हैं। ध्रुव, प्रल्हाद, मीरा आदि भक्तों को भजने के ही प्रताप से भगवान् ने दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

३—सेवा—सेवा मनुष्य का मुख्य धर्म है। सारे संसार को भगवान् का स्वरूप समझकर मन, वाणी, शरीर से अभिमान छोड़ कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करने का अवसर

मिले, उसका और भगवान् का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये। क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान् ने सेवा का अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया है। सेवा करके किसी पर सेवा का भार पल्ले में रखना नहीं चाहिए तथा सेवा स्वीकार करने वाले को भी छोटा नहीं समझना चाहिये।

४—**दया**—दुःखी प्राणी के दुःख को देख कर हृदय का पिघल जाना और उस का दुःख दूर करने के लिए मन में भाव उत्पन्न होना दया कहलाता है। अहिंसा अक्रिय है और दया सक्रिय है। अहिंसा में केवल हिंसा से बचना है, परन्तु दया में दूसरे को सुख पहुंचाना है। जिस मनुष्य के हृदय में दया नहीं, उसका हृदय पाषाण के समान है। गरीबी, अनाथ, अपाहिज, रोगी, असहाय जीवों पर दया करके जीवन को सफल करना चाहिये। चैतन्य महाप्रभु ने तो तीन ही बातों में अपना उपदेश समाप्त किया है—

नामे रुचि, जीवे दया, वैष्णव-सेवन।
इहा छाडा आर नाहि जानि सनातन॥

'हे सनातन! भगवान् के नाम में रुचि, जीवों पर दया और भक्तों का सङ्ग—इन तीन के अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता।'

५—**ध्यान**—ध्यान तो ईश्वर—प्राप्ति की कुञ्जी है। ध्यान करने की कोशिश करने पर अभ्यास न होने के कारण पहले-पहले मन ऊबता है तथा घबराता है परन्तु यदि दृढ़ निश्चय के साथ प्रतिदिन नियमितरूप से ध्यान का अभ्यास किया जाय तो मन ध्यान का अभ्यासी बन जाता है, फिर ध्यान में जो आनन्द आता है; वैसा आनन्द अन्य किसी कार्य में नहीं आता। इसलिए प्रतिदिन दृढ़ निश्चय के साथ अपने इष्टदेव के ध्यान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। ध्यान सब से बढ़ कर उपाय है।

६—**दैन्य**—अभिमान ही मनुष्य को गिराने वाला है, यदि मनुष्य विनयी हो जाय, परमात्मा के सामने दीन बन जाय तो दीनबन्धु उस पर अवश्य दया करते हैं, इसलिये वक्रता और ऐंठ को छोड़ कर दीनता धारण करना चाहिए।

७—**उपकार**—भगवान् वेदव्यासजी कहते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारं पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

अठारह पुराणों में व्यास के दो ही वचन हैं—परोपकार पुण्य है और परपीड़न पाप है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥
पर हित बस जिनके मन माहीं। तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

अतएव अभिमान, स्वार्थ और कामना छोड़ कर निरन्तर परोपकार में रत रहना चाहिये।

छः उपाय

उपर्युक्त सात उपायों के अनुसार न चला जाय तो नीचे लिखे छः उपायों का अनुसरण करना चाहिये। इन्हीं के निष्काम आचरण से भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

सन्ध्या, पूजा, यज्ञ, तप, दया, सु-सात्त्विक दान।
इन छः के आचरण से निश्चय हो कल्यान ॥

(१) **सन्ध्या**—द्विजातिमात्र को नित्य त्रिकाल सन्ध्या करनी चाहिये। त्रिकाल न हो सके तो प्रातः-काल और सायंकाल दो समय तो सन्ध्या अवश्य ही करें। सन्ध्या के द्वारा परमात्मा की सूर्य, अग्नि और जलरूप से उपासना होती है, मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥

(मनु० २/१०३)

जो द्विज प्रातःकाल और सायंकाल की संन्ध्योपासना नहीं करता, उसे द्विजाति के सारे कार्यों से शूद्र की तरह दूर रखना चाहिये।'

अतः सन्ध्योपासना कभी छोड़ना नहीं चाहिये। सूतक आदि के समय या रेल आदि में मानसिक संन्ध्या कर लेना उचित है। सन्ध्या ठीक समय पर करनी चाहिये।

सन्ध्या का समय यह है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्य सहिता प्रातः सन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारको पेता सायं सन्ध्या त्रिधा स्मृता ॥

प्रातःकाल की सन्ध्या तीन प्रकार की है, तारा रहते उत्तम, तारे अदृश्य हो जाने पर मध्यम और सूर्य उदय होने पर कनिष्ठ, इसी प्रकार सायं-सन्ध्या भी तीन प्रकार की है। सूर्य रहते उत्तम, सूर्य छिप जाने पर मध्यम और तारे उदय होने पर कनिष्ठ।

सन्ध्योपासना से सारे पाप दूर होते हैं और इसी से अन्त में भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम जीवन भर नियमपूर्वक सूर्यदेव की दोनों समय निष्काम भाव से अभ्यर्थना करेंगे तो हमारे मरने पर सूर्यदेव को भी हमारी मुक्ति के लिये सहायता करने को बाध्य होना पड़ेगा। शास्त्र में कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम् ॥

जो द्विज सदाचार-परायण होकर नित्य संन्ध्योपासन करते हैं, वे सारे पापों से छूट कर सनातन ब्रह्मपद को पाते हैं।

(२) पूजा—भगवान् की मूर्ति की या भगवान् की मानसिक पूजा नित्य नियमपूर्वक सबको करनी चाहिये। स्त्रियों और बालकों के लिये घर-घर में भगवान् की मूर्ति या चित्रपट रख कर पूजा की व्यवस्था कर देनी चाहिये। स्त्री-बच्चे घर में भगवान् की पूजा करते रहेंगे तो उनके संस्कार अच्छे होंगे। भगवान् में भक्ति उत्पन्न होगी। मीराबाई धन्ना जाट आदि भक्त गण इसी प्रकार पूजा से परम भक्त होगये थे।

(३) यज्ञ—श्रीमद्भगवत्गीता में तो अनेक प्रकार के यज्ञ बतलाये हैं। जिनमें भगवान् ने जप-यज्ञ को तो अपना स्वरूप ही बतलाया है। 'यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मि' इसलिये भगवान् के नाम का जप तो सभी को करना चाहिये। २१,६०० श्वास मनुष्य को प्रायः नित्यप्रति आते हैं, इसलिये इतने नामों का जप तो अवश्य कर ही लेना चाहिये। जप में उपांशु जप सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ के लिये पञ्चमहायज्ञ की भी बड़ी आवश्यकता है। कम से कम बलि वैश्वदेव तो नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये।

[४] तप—स्वधर्म के पालन में बड़े से बड़ा कष्ट सहना तप कहलाता है। तथा गीता अ० १७ श्लो० १४ से १८ तक शारीरिक, मानसिक, वाचिक तीन प्रकार के तप का वर्णन में उसके अनुसार तप करना चाहिये।

[५] दया—स्मृतिकार कहते हैं।

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टवरि वा सदा ।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥

घर का हो या बाहर का, मित्र हो या बैरी, किसी को भी दुःख में देखकर सदैव हां उसको बचाने की चेष्टा करना दया कहलाता है। दयालु पुरुष का हृदय दूसरे के दुःख को देखकर तत्काल द्रवित हो जाता है। कहा है—

दया धर्म को मूल है, पाप-मूल अभिमान ।
तुलसी दया न छाँड़िये जब लगि घट में प्रान ॥

[illegible] 5-00
[illegible] 4-75
[illegible] 4-00
[illegible] 6-00
3-00 [illegible]
2-50 [illegible]
10-00
42-00 [illegible]
9-90

95-15

६. दान—दान मनुष्य मात्र का धर्म है। धन, विद्या, बुद्धि, अन्न, जल, सहाय, सत्परामर्श जिसके पास जो कुछ हो, योग्य देश, काल, पात्र देखकर उसका दान करना चाहिये, परन्तु दान सात्त्विक भाव से होना चाहिये। जो दान देश, काल, पात्र, न देख कर बिना सत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस है। जो मन में कष्ट पाकर, बदला लेने की इच्छा से या मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति या स्वर्ग-सुखादि की प्राप्ति के लिये दिया जाता है वह राजस है और जो कर्त्तव्य समझ कर प्रत्युपकार की कोई भी भावना न रखकर उचित देश, काल, पात्र में दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। सात्त्विक दान भगवत्प्राप्ति में बहुत सहायक होता है। जिस देश और काल में जिस वस्तु का जिन प्राणियों के अभाव हो और अपने पास वह वस्तु हो तो देश, काल में उस वस्तु के द्वारा उन प्राणियों की सेवा करना ही देश, काल देखकर दान देना है। भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा आर्त्त, भिखारी आदि तो अन्न वस्त्र, औषधि या जिस वस्तु का जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु द्वारा सेवा करने के सदैव ही योग्य पात्र हैं, दान की महत्ता रुपयों की संख्या पर नहीं है वह तो दाता की बुद्धि पर निर्भर है। जिस दान में जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उतना ही उसका महत्व अधिक है। इसलिये महाभारत के अश्वमेधपर्व में पाण्डवों के अपार दान की निन्दा कर नकुल ने निर्धन ब्राह्मण के साधारण रोटी के दान को महत्वपूर्ण बतलाया था। एक आदमी नाम के लिये या अन्य किसी स्वार्थ के वश में होकर अपने करोड़ रुपये में से लाख रुपये दान करता है और दूसरा एक दीन निःस्वार्थभाव से कर्त्तव्य समझ कर अपने पेट को खाली रखकर अपनी एक ही रोटी में से आधी रोटी देदेता है, इन दोनों में आधी रोटी के दान का महत्व अधिक है, यों तो न देने की अपेक्षा सकाम भाव से भी अच्छे कार्य में दान देना उत्तम ही है।

पाँच उपाय

उपर्युक्त छः उपायों को काम में न लाया जाय तो निम्नलिखित पाँच की शरण ग्रहण करनी चाहिये। इन पाँचों की कृपा से परम सिद्धि मिल सकती है।

गायत्री, गोविन्द, गौ, गीता, गङ्गास्नान।
इन पाँचों की कृपा से, शीघ्र मिलें भगवान्॥

१. गायत्री—शास्त्रों में गायत्री की ही महिमा गाई गई है। गायत्री का जाप शुद्ध और मौन होकर प्रणव और व्याहृति सहित करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र में सच्चिदानन्दघन विश्वव्यापी ब्रह्म की स्तुति, उनके दिव्य तेज का ध्यान और प्रार्थना है। गायत्री के विषय में पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अब भी संक्षिप्त में कुछ परिचय देते हैं।

भगवान मनु गायत्री की महिमा में लिखते हैं:—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतकोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥
सहस्रकृत्वास्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥

ओंकार सहित तीन महाव्याहृति और तीन पदों वाली गायत्री को वेद का मुख समझना चाहिये। 'जो वेदज्ञ द्विज प्रातःकाल और सायंकाल प्रणव (ॐ) और व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः) सहित इस गायत्री का जप करते हैं, उनको सम्पूर्ण वेद के अध्ययन का फल मिलता है। जो द्विज नगर के बाहर (एकान्त स्थान में) स्थित हो, प्रतिदिन एक मास तक एक सहस्र गायत्री का जप करता है, वह जैसे सांप केंचुली से छूट जाता है इसी प्रकार महान पाप से छूट जाता है। जो पुरुष आलस्य को छोड़ कर प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन वर्ष तक गायत्री का जप करता है वह वायु की भांति गति वाला और आकाश की भांति निर्लेप होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। अतएव गायत्री का जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

(२) **गोविन्द**—भगवान् श्री गोविन्द के अनन्य चिन्तन से क्या नहीं होता? भगवान् स्वयं कहते हैं:—

अनन्यश्चिन्तयन्तो माम् ये जनाः मयुपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गी० ९/२२)

'जो अनन्य भाव से मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य एकी भाव से मुझ में स्थिति वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अतएव दृढ़ निश्चय और श्रद्धा-प्रेम के साथ भगवान् का चिन्तन करना चाहिये।

(३) **गौ**—हिन्दू-शास्त्रों में गौ की बड़ी महिमा है। गौ की सेवा से सर्व अभिष्ट की सिद्धि प्राप्त होती हैं। गो-मूत्र, गोमय, दूध, दही और घृत-यह पञ्चगव्य पवित्र और पापनाशक हैं।

(४) **गीता**—गीता तो भगवान् का हृदय है। 'गीता मे हृदयं पार्थ।' भगवान् व्यासदेव जी कहते हैं--

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

'स्वयं कमलनाभ भगवान् के मुख-कमल से निकली हुई गीता का ही भलीभांति गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन है ?'

गीता की महिमा कोई क्या कह सकता है ? जो मन लगा कर गीता का अध्ययन करता है, उसी को अनुभव होता है। गीता में ऐसे श्लोक हैं कि जिनमें से किसी आधे या चौथाई श्लोक के अनुसार भी किया जाय तो भगवत्प्राप्ति सहज ही हो सकती है। कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, श्रेष्ठ बुद्धि अर्जुन इस महान् गीतामृत-रूपी दुग्ध को पान करने वाला बछड़ा है।' अतएव प्रतिदिन मन लगा कर अर्थ सहित गीता का पाठ और अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

(५) **गङ्गास्नान**—श्री गङ्गाजी की अपार महिमा है। भक्तों ने गंगाजी का नाम ब्रह्मद्रव रक्खा यानी साक्षात् ब्रह्म ही पिघल कर निराकार से नीराकार होकर बह चला है। गंगा के स्नान-पान से पापों का नाश और मुक्ति की प्राप्ति शास्त्रों में स्थल २ पर बतलाई गयी है। आज भी गङ्गा-तट जैसा पवित्र स्थान और प्रायः नहीं मिलता। अच्छे २ साधु महात्मा गंगा-तट पर ही निवास करते हैं। विदेशी डाक्टरों ने परीक्षा करके बतलाया है कि गंगाजल में रोगनाशक शक्ति है। किसी भी रोग के कीटाणु गंगा में पड़ कर नष्ट हो जाते हैं। वर्षों रक्खे रहने पर भी गंगाजल में कीड़े नहीं पड़ते, यह तो विख्यात बात है। जो कोई श्रद्धा से श्री गंगाजी का सेवन, स्नान और जलपान करता है, वह परम गति को पाता है। यह शास्त्रों का सिद्धान्त है।

चार उपाय

उपर्युक्त पाँच उपाय न हों तो नीचे लिखे चार उपायों को काम में लाना चाहिये।

संयम, सेवा, साधना, सत्पुरुषों का संग।
ये चारों करते तुरत मोह निशा को भंग ॥

१. **संयम**—मन, वाणी, शरीर को इच्छानुसार न चलने देकर और सांसरिक विषयों भोगों से रोक कर कल्याणमय मार्ग में लगाना ही संयम कहलाता है। मनु महाराज ने तो मन, वाणी, शरीर को संयम में रखने वाले को ही त्रिदण्डी कहा है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

(मनु० १२/१०-११)

वाग्दण्ड अर्थात् वाणी का संयम, मनोदण्ड अर्थात् मन का संयम और कामदण्ड अर्थात् शरीर का संयम, इन तीनों को जो बुद्धि पूर्वक संयम में रखता है वह त्रिदण्डी है। जो मनुष्य समस्त प्राणियों के प्रति मन, वाणी, शरीर को संयमित कर लेता है तथा उनको रोकने के लिये काम क्रोध का संयम करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

जो पुरुष मन, इन्द्रिय और शरीर को वश में रख कर राग-द्वेष के वश में न होकर संसार में विचरता है। संयमी पुरुष ही निरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्ष के योग्य होते हैं।

२. सेवा—गुरुजनों की और प्राणी मात्र की निष्काम भाव से भगवद्बुद्धि से सेवा करनेवाला पद-पद पर भगवान् की सेवा करता हुआ अन्त में भगवान् को प्राप्त करता है।

३. साधना—भगवत्प्राप्ति के लिये भजन, ध्यान आदि जो कुछ भी किया जाय सभी साधना है। अपने-अपने अधिकार, विश्वास, प्रकृति और रुचि के अनुसार भगवान् को पाने के लिये नियमित साधन अवश्य करना चाहिये।

४. सत्पुरुषों का सङ्ग—भागवत् में कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभंमन्ये बैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

मनुष्य देह अत्यन्त दुर्लभ और क्षणभंगुर है। इस शरीर में भगवान् के प्रिय भक्तों के दर्शन और भी दुर्लभ हैं, क्योंकि भक्त, सब-महात्मा एक प्रकार से भगवान् के ही रूप हैं, गोसाईं महाराज तो उन्हें राम से बढ़ कर बतलाते हैं। 'राम तें अधिक राम कर दासा'। सन्तों के संग से पापों का नाश होता है, अन्तःकरण की शुद्धि होती है, मन परमात्मा में लगता है और संशयों का उच्छेद होकर भगवत्प्राप्ति होती है। अतएव सत्पुरुषों के सङ्ग का आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

राजा रहूगण के प्रति महात्मा जड़ भरत कहते हैं—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा।
न छन्दसा नैवजलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्॥

हे राजन्! परम ज्ञान केवल महापुरुषों का चरण रज मस्तक पर धारण करने से यानी उनकी आज्ञानुसार चलने से ही मिलता है। तप से, वेदों से, दान से गृहस्थ-धर्म के पालन से, जल, अग्नि या सूर्य की उपासनारूप कर्मों से वह किसी प्रकार भी नहीं मिलता। महापुरुषों का सेवन ही मोक्ष का द्वार है।

तीन उपाय

उपर्युक्त चार साधन न करे तो निम्नलिखित तीन साधन करने चाहियेः-

सत्य-वचन, आधीनता, पर-तिय मातु-समान।
इतने पै हरि ना मिले तो तुलसीदास जमान॥

१. सत्य वचन—कहा है—

सत्य बराबर तप नहीं, झूँठ बराबर पाप।
जिनके हिय में साँच है, तिनके हिय में आप॥

सत्य भगवान् स्वरूप है, जहां सत्य है, वहीं भगवान् हैं। सत्यवादी होने के कारण आज तक श्री-हरिश्चन्द्र का नाम चल रहा है। सत्यवादी होने के कारण ही प्राचीनकाल में जो मुँह से निकल जाता था, वही सत्य हो जाता था। वाक् सिद्धि के लिए मनुष्य को स्वार्थ हँसी-ठट्ठा या भविष्य के वचनों में भी किसी प्रकार झूँठ नहीं बोलना चाहिये।

२. **आधीनता**—अपने को भगवान् के अधीन (अनुकूल) बना देना, अपनी स्वतंत्रता छोड़ कर परमात्मा का सेवक बन कर उनकी आज्ञा और संकेत के अनुसार जीवन बिताना ही आधीनता है। संसार में भगवत्भाव से पुत्र को माता-पिता के, शिष्य को गुरु के, स्त्री को पति के और सेवक को स्वामी के अधीन रह कर कर्त्तव्य का पालन करना भी भगवान् के ही अधीन होना है।

भगवान् के अधीन होने पर उसमें भगवान् के प्रायः सभी गुणों का विकास हो जाता है। स्वामी के बल को पाकर सेवक महान् बलवान् हो जाता है। राजा के आधीन रहने वाला साधारण सिपाही राजा के बल पर बड़े-बड़े धनियों और शक्ति-शालियों को बांध लेता है। इसी प्रकार भगवान् के अधीन होकर मनुष्य भगवान् के बल से बलीयान् हो सारे पापों पर विजय प्राप्त करके भगवान् का परम प्रेमी बन सकता है।

३. **पर-तिय मातु-समान** - स्त्री मात्र जगत्-जननी का स्वरूप है, यह समझ कर अपनी स्त्री को छोड़ कर अन्य सब के चरणों में हृदय से प्रणाम करना और सब के प्रति भक्ति-श्रद्धा रखना मनुष्य के लिये कल्याणप्रद है। जो पुरुष पर-स्त्रीमात्र में मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज और तप की वृद्धि होती है और वह पापों से छुटकारा पाकर भगवान् को पा सकता है।

कहा जाता है कि यह दोहा श्री तुलसीदास जी महाराज का है और वे इसमें इस बात का ज़िम्मा लेते हैं कि इन तीनों साधनों का आश्रय लेने वाले अवश्य ही तर जाँयगे।

दो उपाय

उपर्युक्त तीन साधन न साधे जाँय तो नीचे लिखे दो ही साधनों का अनुसरण करना चाहिये:—

दो बातन को भूल मत जो चाहे कल्यान।
नारायण एक मौत को दूजे श्री भगवान॥

१—**मृत्यु का स्मरण**—संसार की प्रत्येक वस्तु नाश होने वाली हैं, जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है। हमारा शरीर और हमारे सम्बन्धी तथा समस्त विषय एक दिन काल के ग्रास बन

जांयगे। फिर इन से मोह क्यों ? इस नाशवान् शरीर के लिये, जो प्रतिक्षण मृत्यु की ओर से बढ़ रहा है, इतना प्रपञ्च किसलिये ? मनुष्य को मृत्यु की स्मरण नहीं रहती, इसीसे उसे विषयों में वैराग्य नहीं होता। महाराज युधिष्ठर ने यक्ष से कहा था—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थावर मिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

नित्य प्रति प्राणी मर कर यमलोक को जा रहे हैं, (हाथ से उनकी दाह-क्रिया करते हैं) परन्तु बचे हुए लोग सदा जीना ही चाहते हैं, इससे बढ़ कर अचरज और क्या होगा ? यही बात है। इसलिये 'नारायण स्वामी' मृत्यु को याद रखने का उपदेश देते हैं क्योंकि हर समय मृत्यु का स्मरण रखने से नये पाप नहीं बन सकते, तथा विषयों में वैराग्य हो जाता है।

२. भगवान् का स्मरण [चिन्तन]—वैराग्य के साथ ही अभ्यास भी होना चाहिए। भगवान् ने वैराग्य और अभ्यास दोनों के सम्पादन से ही मन का निरोध बतलाया है। मृत्यु को नित्य स्मरण रखने से वैराग्य तो हो जायगा, परन्तु उससे आनन्द नहीं मिलेगा। जगत् शून्य और विनाशी प्रतीत होगा। इसलिये उसीके साथ भगवान् का चिन्तन होना चाहिए। सारे संसार में भगवान् ही व्याप्त हो रहे हैं और जो कुछ होता है, सब उन्हीं की लीला है। वही परमानन्द और परम चेतन तथा ज्ञान स्वरूप हैं। निरन्तर उनका स्मरण करने से पापों के नाश और मन के भगवदाकार हो जाने पर अनायास ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

एक ही उपाय

ये दो उपाय भी न हों तो भगवान् श्री कृष्ण के मुख से उपदिष्ट सब का सार और महान् इस एक उपाय का अवलम्बन तो सभी को करना चाहिए। यह एक ही उपाय ऐसा है जिसके उपयोग करने से आप ही सब कुछ सिद्ध हो जाता है। उपाय है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गी० १८/६६)

अर्थात्—

सब धर्मन को छोड़ कर एक शरण मम होहि।
चिन्ता तजि सब पाप तें मुक्त करौंगो तोहि ॥

'हे अर्जुन ! तू सब धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, मैं तुझ को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' भगवान् श्री राम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर यह कहता है कि मैं तेरा हूं उसको मैं सर्वभूतों से अभय कर देता हूं, यह मेरा व्रत है।'

बस, भगवान् की सर्वतो भावेन शरणागति ही परम और सर्वोत्तम उपाय है। जो भगवान् के शरण होगया, वह सदा के लिये निर्भय और निश्चिन्त हो गया। अतएव सबका आश्रय छोड़ कर हमारे एक मात्र प्रेमी सदा हित करने वाले भगवान् की वही शरण ग्रहण करनी चाहिए।

परमार्थ-साधन के आठ विघ्न

भगवत्-प्राप्ति के साधक को या परमार्थ-पथ के पथिक को एक-एक पैर सँभाल कर रखना चाहिये। इस मार्ग में अनेकों विघ्न है। उनमें से आठ विघ्न प्रधान हैं और वे ये हैं—[१] आलस्य, [२] विलासिता [३] प्रसिद्धि, [४] मान-बड़ाई, [६] बाहरी दिखावट, [७] पर-दोष-चिन्तन, और [८] सांसारिक कार्यों की अत्यन्त अधिकता।

१. आलस्य—आलसी मनुष्य का जीवन तमोमय रहता है। वह किसी भी काम को प्रायः पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवन के दिन पूरे हो जाते हैं। वह परमार्थ की बातें सुनता सुनाता है, उसे अच्छी भी लगती हैं, परन्तु आलस्य उसे साधन में तत्पर नहीं होने देता। श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्य के कारण उद्देश्य-सिद्धितक नहीं पहुँच पाता। इसीलिये श्रद्धा के साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान् ने गीता में कही है। आलस्य से तत्परता का विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे'। जब कभी उसके मन में कुछ करने की भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदि के रूप में आकर उसे घेर लेता है। अतएव आलस्य को साधन-मार्ग का एक बड़ा शत्रु मान कर (जिस) किसी उपाय से भी उसका नाश करना चाहिये।

२. विलासिता—विलासी पुरुष को आमोदप्रमोद व मनोविनोद की सामग्री जुटाने में ही, अवकाश नहीं मिलता, वह साधन कब करे? पहले सामग्री इकट्ठी करना, फिर उससे शरीर को सजाना, यही उसका प्रधान कार्य होता है। कभी साधु-महात्मा का संग करता है तो उसकी क्षण भर को यह इच्छा होती है कि मैं भी भजन करूं परन्तु विलासिता उसको ऐसा करने नहीं देती। भांति-भांति के नये-नये आधुनिक रहन सहन की बनावटी सामग्री संग्रह करना और उनका मूल्य चुकाने के लिये अन्याय और असत्य की परवा न कर हुए धन कमाने में लगे रहना इन्हीं में उसका जीवन व्यतीत है। विलासी मनुष्य के धन का प्रभाव तो प्रायः बना ही रहता है, क्योंकि वह आवश्यक -अनावश्यक का ध्यान छोड़ कर जहाँ कहीं भी कोई आमोद प्रमोद की सुन्दर वस्तु देखता है, उसी को मूल्य से ले लेता है या मूल्य से किसी प्रकार लेना चाहता है। न रुपयों का विचार करता है और न अन्य किसी प्रकार का परिणाम सोचता है। ऐसे लोगों को धनवान् से कँगाल

होते देखा जाता है और अर्थ-कष्ट के साथ ही स्वभाव से प्रतिकूल स्थिति में रहने को बाध्य होने का एक महान् कष्ट उन्हें विशेष रूप से भोगना पड़ता है। जो मनुष्य भगवत्-प्राप्ति को चाहता है परन्तु वैराग्य नहीं चाहता, और सादा जीवन बिताने में संकोच का अनुभव करता है, वह भगवत्-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः विलासिता के भाव को मन में आते ही उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये। विलासिता में अनेक हानियाँ हैं परन्तु निम्नलिखित दश हानियां तो होती ही हैं, इस बात को स्मरण रखना चाहिये।

[१] धन का नाश, [२] आरोग्यता का नाश, [३] आयु का नाश, [४] साधारण सुख का नाश, [५] देश के धन का नाश, [६] धर्म का नाश, [७] सत्य का नाश, [८] वैराग्य का नाश, [९] भक्ति का नाश और [१०] ज्ञान का नाश।

३. प्रसिद्धि—संसार में ख्याति, साधन-मार्ग का एक बड़ा विघ्न है। सत्धक की प्रसिद्धि होते ही चारों ओर से लोग उसे घेर लेते हैं। साधन के लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है। उसका अधिक समय सैकड़ों-हजारों आदमियों से बात-चीत करने और पत्र-व्यवहार में बीतने लगता है। जीवन की अन्तर्मुखी वृत्तिः बहिर्मुखी बनने लगती है। होते-होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है। वह बाहर के कामों ही लग जाता है और क्रमशः गिरने लगता है। यहां तक कि उसका वास्तविक साधक का स्वरूप तो रहता नहीं, परन्तु प्रसिद्धि स्थाई रखने के लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात दिन जलता और नये-नये ढोंग रचा करता है। उसका जीवन कपट, दुःख और सन्ताप का घर बन जाता है। ऐसी अवस्था में साधन का तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्था की प्राप्ति न हो, इससे ही बढ़ती हुई प्रसिद्धि को रोकने की चेष्टा करनी चाहिये।

यह बात याद रखनी चाहिये—'जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है, उससे अधिक भजन होता है तो भी अधिक डर नहीं। जितना भजन होता है उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरने का भय है। जितना भजन होता है उससे कहीं बहुत प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजन के ही भजनानन्दी कहलाता है वहां तो उसका पतन हो ही चुका'।

४. मान-बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विष भरा सोने का घड़ा है। देखने में बहुत ही मनोहर लगता है परन्तु साधन-जीवन को नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। कहावत् है कि 'मान-बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी'—मान की अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पाने के लिये मनुष्य मान का त्याग कर देता है। बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथ से पतन हुआ। जब तक साधन से बड़ाई होती है तब तक वह साधक का भेष रखता है। जहां किसी कारण से परमार्थ साधन में रहने वाले मनुष्यों की निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़ कर जिस कार्य में बड़ाई होती है उसी में लग जाता है। क्योंकि अब उसे बड़ाई से ही काम है, भगवान् से नहीं। अतएव मान-बड़ाई की इच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

५—गुरुभाव—साधन-अवस्था में मनुष्य के लिए गुरुभाव को प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्था में, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता, जब उसी का साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरों को तो कैसे पार पहुँचावेगा? परमार्थ-पथ में गुरु बनने का अधिकार उसी को है जो सिद्धावस्था को प्राप्त हो चुका हो। साधनपथ में दूसरों को साथी बनाना, पिछड़े हुओं को साथ लेना, मित्र-भाव से परस्पर सहायता करना, भूले हुओं को मार्ग बताना, साथ में प्रकाश या भोजन हो तो दूसरों को भी उससे लाभ उठाने देना, मार्ग के रोगियों की सेवा करना, अशक्तों को शक्ति भर साहस, शक्ति और धैर्य प्रदान करना तो साधक का परम कर्तव्य है। परन्तु गुरु बन कर उनसे सेवा कराना, पूजा प्राप्त करना, अपने को ऊँचा मानकर उनको नीचा समझना, दीक्षा देना, सम्प्रदाय बनाना, अपने मत को आग्रह से चलाना, दूसरों की निन्दा करना और बड़प्पन बघारना आदि बातें भूल कर भी नहीं करनी चाहिये।

६—बाहरी आडम्बर—साधन में आडम्बर की भावना बुरी तरह है। वस्त्र, भोजन और आश्रय आदि बातों में मनुष्य पहिले तो संयम के भाव से कार्य करता है परन्तु पीछे उसमें प्रायः 'दिखाव' का भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त, 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने जिसे देखते ही लोगों का मन मोहित हो जाय, भोजन में इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायें।' ऐसे भाव से भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकार के चाल-चलन और वेष-भूषा में ही रह सकते हैं। बढ़िया कपड़े पहनने वाले में स्वाभाविकता हो सकती है और खद्दर, या गेरुआ अथवा बिगाड़ कर कपड़े पहनने वाले में 'दिखाव' का भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपर की क्रिया से नहीं है, मन से है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखाने की भावना ही रहती है। अन्दर सचाई होने पर भी 'दिखाव' की चेष्टा साधक को गिरा ही देती है। अतएव इससे बचना चाहिए।

७—परदोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्ग का एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरे के दोषों का चिन्तन करता है वह भगवान् का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्त में सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहां दृष्टि जाती है, वहीं उसे दोष दिखाई देते हैं। दोषदर्शी सर्वत्र भगवान् को कैसे देखें? इसी कारण वह जहाँ-तहां प्रत्येक की निन्दा कर बैठता है। परदोषदर्शन और परनिन्दा साधनपथ के बहुत गहरे गढ़ढे हैं। जो इनमें गिर पड़ता है, वह सहज ही नहीं उठ सकता। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधक को अपने दोष देखने तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये। जगत् की ओर से उदासीन रहना ही उसके लिए श्रेयस्कर है।

८—सांसारिक कार्यों की अधिकता—मनुष्य को घर के संसार के, आजीविका के, यहाँ तक कि परोपकार तक के कार्य उसी सीमा तक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचने के लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य प्रातःकाल से लेकर रात को सोने तक काम में लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करने का ही समय नहीं मिलता, तब घण्टे दो घण्टे स्वाध्याय करने अथवा मन लगा कर भगवच्चिन्तन करने को तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है? उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, कठिनता से स्नान-भोजन को समय मिलता है। अतएव जहां तक साधक पुरुष को सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिए, जितने में गृहस्थी का निर्वाह सादगी

से चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूप से भजन-साधन को समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपन के कारण प्रमाद या आलस्य को ही अवसर मिले। कर्तव्य-पालन की तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवन के मुख्य ध्येय 'भगवत्-प्राप्ति' का भूल कर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नों में ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधक को चाहिए कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान् की कृपा पर विश्वास करके और उसी का आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नों का नाश कर दे। प्रभु-कृपा के बल से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य प्रभु-कृपा पर जितना ही विश्वास करता है, उतना ही वह प्रभु की सुखमय गोद की ओर आगे बढ़ता है।

(हनुमानप्रसाद पोद्दार)

साधक के लिये २१ उपदेश।

१—साधक के लिये विषयी पुरुषों का संग और विषय में प्रेम—ये पतन के कारण हैं।

२—ईश्वर में प्रेम होने से विषय—प्रेम दूर हो जाता है।

३—साधक को शरीर स्वस्थ और खान-पान का संयम रखना चाहिये।

४—भजन गुप्तरूप से करना चाहिये। अपने को भजनानन्दी प्रकट नहीं करना चाहिये।

५—भजन से कभी तृप्त न होना चाहिये।

६—भगवान् से सांसारिक विषय की प्रार्थना नहीं करनी चाहिये।

७—खोटे पुरुषों का संग त्याग कर सदा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

८—पाप कर्म, छल, कपट, मान, धन और स्त्री का अनुराग, परनिन्दा और परचर्चा प्रेम, गर्व, अभिमान, धूर्तता, तथा, पाखण्ड आदि दोषयुक्त मनुष्यों का संग, इनका सदा त्याग करना चाहिये।

९—परदोष-दर्शन भगवत्प्राप्ति में महान् विघ्न है।

१०—साधक को साम्प्रदायिक झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिये।

११—निरन्तर जप, पाठ, पूजन और ध्यान में समय बिताना चाहिये।

१२—एकान्त स्थान में रहने का अभ्यास करना चाहिये। निद्रा या आलस्य सतावे तो ऊँचे शब्द से सद्ग्रन्थ-पाठ अथवा भगवन्नाम-जप करना चाहिये।

१३—आसक्ति छोड़ कर किये हुए सभी शुभ कर्म भगवद्भजन के अंग हैं।

१४—सब प्रकार के दुःखों को शान्तिपूर्वक सहना चाहिये।

१५—क्रोध के प्रति क्षमा और वैरी के प्रति प्रेम करना चाहिये तथा बुरा करने वाले के साथ भी भलाई करनी चाहिये ।

१६—अपने को सबसे छोटा समझना, अभिमान न करना, किसी का दोष न देखना, किसी से घृणा न करना, कम बोलना, अनावश्यक न बोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी सेवा करना, दीनों पर दया करना, विवाह-उत्सव आदि जनसमूह में कम सम्मिलित होना, पापों से सावधान रहना और ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखना ये साधक के आवश्यक गुण हैं ।

१७—सुवर्ण और स्त्री इन दोनों से बच कर रहो, ये भगवान् और जीव के बीच में खाई बनाते हैं, जिससे यमराज मुँह में धूल डालता है ।

१८—अविनाशी भगवान् और जीव के बीच में तीन धाराएँ हैं:—

(१) कुल (२) काञ्चन और (३) कामिनी । जो इन तीनों को पार कर लेता है, (इनमें आसक्त नहीं होता) वह भगवान् के पास पहुँच जाता है ।

१९—तीन बातें सदा स्मरण रखनी चाहिये— (१) दीनता, (२) आत्म-चिन्तन और (३) सद्गुरु सेवा ।

२०—भजन के विघ्न ये हैं:—

(१) लोक में मान-प्रतिष्ठा होना ।
(२) देश-देशान्तर में ख्याति होना ।
(३) धन-लाभ होना ।
(४) स्त्री में प्रेम करना
(५) संकल्प-सिद्धि अर्थात् जिस पदार्थ की मन में इच्छा हो वही प्राप्त हो जाना ।

२१—भगवत्प्राप्ति के लिए ये अवश्य करने चाहिये:—

(१) सहनशीलता का अभ्यास ।
(२) समय को व्यर्थ न गँवाना ।
(३) पदार्थ पास न होने पर भी भोगने की इच्छा न करना ।
(४) निरन्तर इष्टदेव का चिन्तन करना ।
(५) सद्गुरु की शरण-ग्रहण करना ।

(उड़िया बाबा)

KNOWLEDEGE OF THE SELF IS A KNOWLEDGE OF GOD. A KNOWLEDGE OF THE WORLD; IS A KNOWLEDGE OF FRAUD.

महात्मा बनने के मार्ग में मुख्य विघ्न

ज्ञानी महात्मा और भक्त कहलाने और बनने के लिए तो प्रायः सभी इच्छा करते हैं परन्तु उसके लिये सच्चे हृदय से साधना करने वाले लोग बहुत ही कम हैं। साधन करने वालों में भी परमात्मा के निकट कोई ही पहुँचता है क्योंकि मार्ग में ऐसी बहुत सी विपद्-जनक घाटियां आती हैं जिनमें फंस कर साधक गिरजाते हैं। उन घाटियों में 'कांचन' और 'कामिनी' ये दो घाटियाँ बहुत ही कठिन हैं, परन्तु इन में भी कठिन तीसरी घाटी मान बड़ाई और ईर्षा की है। किसी कवि ने कहा है:—

कञ्चन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना येह॥

इन तीनों में भी सब से कठिन है बड़ाई। इसी को कीर्ति, प्रशंसा, लौकेषणा, आदि कहते हैं। शास्त्र में जो तीन प्रकार की तृष्णा (पुत्रैषणा, लौकैषणा और वित्तैषणा बताई गई हैं, उन तीनों में लौकैषणा के लिए मनुष्य, धन, धाम, पुत्र, स्त्री और प्राणों तक का भी त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है।

जिस मनुष्य ने संसार में मान बड़ाई और प्रतिष्ठा का त्याग कर दिया, वही महात्मा है और वही देवता और ऋषियों द्वारा भी पूजनीय है। साधु और महात्मा तो बहुत लोग कहलाते हैं किन्तु उनमें मान बड़ाई और प्रतिष्ठा का त्याग करने वाला कोई बिरला ही होता है। ऐसे महात्माओं की खोज करने वाले भाइयों को इस विषय का कुछ अनुभव भी होगा। हम लोग पहले-पहल जब किसी अच्छे पुरुष का

नाम सुनते हैं तो उनमें श्रद्धा होती है पर उनके पास जाने पर जब हमें उनमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा दिखलाई देती है, तब उन पर हमारी वैसी श्रद्धा नहीं ठहरती जैसे उनके गुण सुनने के समय हुई थी। यद्यपि अच्छे पुरुषों में किसी प्रकार भी दोष दृष्टि करना हमारी भूल है, परन्तु स्वभाव-दोष से ऐसी वृत्तियां होती हुई प्रायः देखी जाती हैं और ऐसा होना निरन्तर निराधार भी नहीं है। क्योंकि वास्तव में एक ईश्वर के अतिरिक्त बड़े-से-बड़े गुणवान् पुरुष में भी दोषों का कुछ मिश्रण रहता ही है। जहाँ बड़ाई का दोष आया कि झूंट, कपट और दम्भ भी आ ही जाते हैं। जब झूंठ कपट और दम्भ को स्थान मिल जाता है तो अन्यान्य दोषों के आने को तो सुगम मार्ग बन जाता है। कीर्त्तिरूपी दोष देखने में छोटा-सा है परन्तु यह केवल महात्माओं को छोड़ कर अन्य अच्छे-से-अच्छे पुरुषों में भी सूक्ष्म और गुप्तरूप से रहता है। यह साधक को साधनपथ से गिरा कर उसका मूलोच्छेदन कर डालता है।

अच्छे पुरुष बड़ाई को हानि समझ कर विचार दृष्टि से उसको अपने में रखना नहीं चाहते और प्राप्त होने पर उसका त्याग भी करना चाहते हैं। तो भी यह सहज में उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। इसका शीघ्र नाश तो तभी होता होता है जब कि यह हृदय से बुरी लगने लगे और इसके प्राप्त होने पर यथार्थ में दुःख और घृणा हो। साधक के लिए साधन में विघ्न डालने वाली यह माया की मोहिनी मूर्ति है, जैसे चुम्बक लोहे को, स्त्री कामी पुरुष को, धन लोभी पुरुष को आकर्षण करता है, यह उस से भी बढ़ कर साधक को संसार-समुद्र की ओर खींच कर उसे इसमें बरबस डुबो देती है। अतएव साधक को सब से अधिक इस बड़ाई से ही डरना चाहिये। जो मनुष्य बड़ाई को जीत लेता है वह सभी विघ्नों को जीत सकता है।

योगी पुरुषों के ध्यान में तो चित्त की चंचलता और आलस्य ये दो ही महा-शत्रु के तुल्य विघ्न करते हैं। चित्त में वैराग्य होने पर विषयों में और शरीर में आसक्ति का नाश हो जाता है, इस से उपर्युक्त दोष तो कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, परन्तु बड़ाई एक ऐसा महान् दोष है जो इन दोषों के नाश होने पर भी भीतर छिपा रहता है। अच्छे पुरुष भी जब हम उनके सामने उनकी बड़ाई करते हैं तो उसे सुनकर विचार दृष्टि से इसको बुरा समझते हुए भी इसकी मोहिनी शक्ति से मोहित हुए से उस बड़ाई करने वाले के अधीन-से हो जाते हैं। विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस कीर्तिरूपी मोहिनी शक्ति से मोहित न होने वाले वीर करोड़ों में कोई एक ही है। कीर्तिरूपी मोहिनी शक्ति जिसको नहीं मोह सकती, वही पुरुष धन्य है। वही माया के दासत्व से मुक्त है, वही ईश्वर के समीप है और वही यथार्थ महात्मा है। यह बहुत ही गोपनीय रहस्य की बात है।

जिस पर भगवान् की पूर्ण दया होती है, या यों कहें जो भगवान् की दया के तत्त्व को समझ जाता है, वही इस कीर्तिरूपी दोष पर विजय पा सकता है। इस विघ्न से बचने के लिए प्रत्येक साधक को सावधान रहना चाहिये।

(श्री जयदयाल जी गोयन्द का)

कैवल्य-रत्न

१—क्षमा-रहित पुरुष से सहनशील श्रेष्ठ है एवं क्रोध रहित से क्षमावान् उत्तम है।

२—मर्म भेदी कठोर वाणी के शूलों से छिदे हुए पुरुष को तीन दिनों तक क्षोभ रहता है, अतः कठोर वचन कहकर किसी का भी चित्त न दुखाओ।

३—प्रेम उसी के साथ करना चाहिये कि जो किसी भी अवस्था में उसको न घटा कर अन्त तक बराबर एक-सा निभादे।

४—भगवान् से प्रीति करने वाले का संसार शत्रु होगा और जगत् से प्रेम करने वाले का परमात्मा।

५—अभिलाषाओं की वृद्धि से कार्यों की वृद्धि और कार्यों की वृद्धि से वासनाओं की वृद्धि हुआ करती है। इन दोनों की अधिकता के कारण ही मनुष्य के बन्धन नहीं छूटते।

६—स्वप्न में वस्तुतः विषयों के विद्यमान न होने पर भी जब अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती तब जाग्रत में इनके इकट्ठे करने पर अनर्थ से कैसे बचा सकता है?

७—कुछ न करे, न कुछ बोले एवं बुरे भले का कुछ भी ध्यान न रक्खे, क्योंकि आत्मरत विद्वान पुरुष की जिज्ञासा और जिहासा दोनों ही निवृत्त हो जाती हैं।

८—तू जो मुझसे पूछता है कि 'मैं' कौन हूँ? सो तू परिपूर्ण ब्रह्म ही है। वस्तुतः तू निष्प्रपञ्च है स्वभाव से नित्यमुक्त है। तुझ में बन्ध एवं मोक्ष नहीं है, सब फन्दे तुझमें कल्पित हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। यह देह जल में या स्थल में कहीं पड़ा ठोकर खाता रहे, मैं इसके धर्मों से कभी लिप्त नहीं होता, ऐसा निश्चय कर।

९—देव, पितर, ऋषि और मनुष्यों के ऋण-बन्धन से करोड़ों पुरुष मुक्त हुए हैं, परन्तु संसार-बन्धनों से तो कोई ज्ञानी ही मुक्त हुआ है।

१० हृदय का कोमल होना प्रेम की शोभा है, उस पर चलना प्रेम का स्वभाव है, निन्दा होना प्रीति की पुष्टि है, लोक-लाज प्रीति-मार्ग के कांटे हैं, पापों में प्रवृत्ति स्नेह का कारागार है और अपने आपको भूल जाना प्रेम का फल है। स्मरण रहे कि आत्मा से भिन्न पदार्थों में जो प्रेम है, वह प्रेम नहीं, उसका नाम तो राग है।

११—श्रेष्ठ पुरुषों से आदरणीय रहे परन्तु हर्ष न करे। परोक्ष में भी श्रेष्ठों से रक्षित रहे और उनके विवाद-वचनों को सहे, कहे हुए वाक्यों का पालन भी करे और साथ ही सहनशीलता-व्रत को धारण करे।

१२—(१) वासना छोड़ कर शुभ कर्म करे, (२) अनात्म पदार्थों में मोह न रक्खे, (३) निर्वाह से अधिक कुछ भी संग्रह न रक्खे और (४) सच्चे सन्तों के चरणों की धूल हो जावे।

१३—सत्य पर चलना, सत्य बोलना, सत्य सुनना, सत्य देखना और सत्य में ही चित्त देना चाहिये।

१४—जैसा निश्चय करेगा वैसा ही फल पावेगा। जैसे मृग तो घास खाकर कस्तूरी देता है, गौ वही घास खाकर दूध देती है और गदहा लीद देता है। इसी प्रकार निश्चय की विजय है, इसलिये 'मैं देह हूँ' इस नीच निश्चय का परित्याग कर 'ब्रह्म' निश्चय कर।

१५—जिसके कारण-शरीर में अज्ञान न हो, सूक्ष्म देह में वासना न हो, एवं स्थूल शरीर में रोग न हो, वही पुरुष जीवन्मुक्ति के अपूर्व सुख को अनुभव करता है।

१६—जैसे स्वर्ग में रोना, बैकुण्ठ में शोक और कुबेर के पास कंगाली शोभा नहीं पाती, वैसे ही इस संसार में हँसना नहीं बनता। यह प्रपञ्चतिलकनवाजी है, इसमें हँसने वाले तथा ज्यादा कमाने वाले फिसल गये हैं। सुखी वही है जो सदैव नंगा रहे और भूखा सोवे।

१७—परमात्मा के नाम बिना २१,६०० श्वासों का बहुमूल्य कोष नष्ट होरहा है, अतः शास्त्र-सन्तों से नाम-श्रवण कर लेना चाहिये। यदि नाम के स्वरूप का ज्ञान न भी हो, तो भी अपने कर्त्तव्य से हटना ठीक नहीं।

१८—धन धान्यादि घर में, पशु अपनी शाला में, भार्या द्वार पर एवं बान्धवजन श्मशान तक जाकर रह जाते हैं और देह चिता में भस्म हो जाता है। धर्माधर्म को साथ लिये जीव अकेला ही परलोक की यात्रा करता है।

१९—(१) धन-कुटुम्ब में ग्लानि (२) जहां-तहाँ निन्दा और निरादर (३) दुःख तथा रोग ये तीन कोष उनको मिलते हैं जिनपर परमेश्वर अत्यन्त ही अनुग्रह करता है। यथार्थ में बिना कारण परमात्मा कोई दुःख इसके गले नहीं मँढ़ता, वह पूर्व कर्तव्यों का फल भुगता देता है। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।

२०—इन्द्रियों की पड़ी हुई बान आदतें तुरन्त नहीं छूटतीं अतः उनसे सदैव सावधान रहना चाहिये।

२१—गुड़ की भेली कितनी भी बड़ी हो वह सब-की-सब मिठासरूप है और जितना कपूर का टुकड़ा हो वह सब-का-सब सुगन्ध रूप ही है। ऐसे ही वृक्ष, पर्वत, नगरादि जो कुछ भी रमणीय जगत् देख रहे हो, सब चैतन्य स्वरूप ही है।

२२—समस्त आयु गुरु की सेवा करनी चाहिये। बड़े-से-बड़े पदार्थ यहां तक कि अपना शिर भी उनके आगे कर दे तो भी उनका उपकार निवृत्त नहीं हो सकता।

२३—मांगने वाला रुई के फोवे से भी हलका हो जाता है। सन्तोषी से बढ़ कर कोई वस्तु भारी नहीं। ईर्ष्या से बढ़ कर कोई दुःखी नहीं। क्रोध जैसी कोई अग्नि नहीं। ब्रह्मचर्य जैसी दवा नही। सत्य- जैसी निर्भयता नहीं। समदर्शी-जैसा कोई मनुष्य नहीं। भोगी—जैसा रोगी नहीं। अभ्यासी—जैसा कोई आनन्दी नहीं। और इन बातों को जो भुलादे उससे अधिक कोई प्रमादी भी नहीं।

२४—धन-धामादि के उपार्जन करने में, प्राप्त किये हुये पदार्थों की रक्षा में और उनके नाश तथा व्यय में दुःख-ही-दुःख है? ऐसे निरन्तर क्लेशकारी अर्थों को धिक्कार है।

२५—गौड़ी, पैष्टी तथा माध्वी तीन प्रकार की सुरा संसार में प्रसिद्ध है, चौथी स्त्री की आसक्ति को भी सुरा ही जानना चाहिये। इस सुरा ने जगत् को मोहित कर रक्खा है।

२६—कोई पुरुष दाख की तरह अन्दर से भी मधुर होते हैं और बाहर से भी कोमल रहते हैं। कोई नारियल की भांति ऊपर से अत्यन्त कठोर दीखते हैं परन्तु भीतर से कोमल तथा मीठे होते हैं। कोई बेर के सदृश बाहर से मीठे एवं कोमल हैं। परन्तु अन्दर से महान् कठोर हैं, और कोई सुपारी के सदृश एकरस अन्दर से भी बड़े कठोर हैं और ऊपर से तो कठोर हैं ही।

(भिक्षु श्रीगौरीशङ्करजी)

उपदेश

१—ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारी बुद्धि अज्ञान से जड़वत् हो गई है, इसी से संसार की वस्तुएँ पृथक् प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तव में ईश्वर से अन्य और कुछ भी नहीं है। ईश्वर और जीव के बीच में जड़ता (माया) का पड़दा पड़ा हुआ है। बिना यह परदा हटे जीव और ईश्वर का ऐक्य अर्थात् मिलन नहीं होता।

२— ईश्वर और जीव में क्या अन्तर है? जीव और ईश्वर सजातीय हैं, इसीलिये जीव भगवान् का दास बनना चाहता है, क्योंकि सेव्य और सेवक दोनों सजातीय ही हुआ करते हैं। जीव और चेतन

दोनों ही चेतन और अनादि हैं, इसलिये इनका कोई अन्तर समझ में नहीं आता। हाँ, इन दोनों में ईश्वर तो राग द्वेष रहित तथा ज्ञानानन्द स्वरूप है और जीव सत्स्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप होते हुए भी राग-द्वेष के कारण आनन्द रहित है। उपासना द्वारा राग-द्वेष-रहित हो जाने से जीव की ईश्वर के साथ एकता हो जाती है।

३—राग-द्वेष किस प्रकार दूर किया जाय? पहले शुभ कर्म का आचरण और अशुभ का त्याग करे। त्याग द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से साधक ईश्वरोपासना का अधिकारी हो जाता है। फिर उपासना करनी चाहिये। उपासना परिपक्व हो जाने पर भगवान् का मिलन होता है। भगवान् के मिलन से राग-द्वेष जाता रहता है और ईश्वर, जीव तथा जगत् का पूर्ण तथा यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

४—प्रेम सतोगुण, काम रजोगुण और प्रमाद या मोह तमोगुण हैं। सतोगुण हुए बिना ज्ञान नहीं होता। अतः प्रेम परमार्थ है और काम स्वार्थ है। जहां स्वार्थ है वहां काम है। जिस समय स्वार्थ नहीं रहता, उसी समय प्रेम होता है।

५—जीव का स्वभाव प्रेम करना है। ज्ञानी का प्रेम वैराग्य में होता है, कामी का प्रेम संसार में होता है और भक्त का प्रेम भगवान् में होता है। ज्ञानी शिवरूप है, वह काम का शत्रु है, भक्त विष्णुरूप है, काम उसके अधीन है, तथा मन ब्रह्मरूप है, संसार उसकी सन्तान है।

६—ज्ञान अज्ञान का नाश करता है, व्यवहार का नाश नहीं करता। दैवी सम्पत्ति ज्ञान को पुष्ट करती है और आसुरी उसका आच्छादन करती है। इसलिये शुभ कर्म को छोड़ना नहीं चाहिये। चित्त का स्वभाव ही चिन्तन करना है। शुभ कर्म छोड़ देने से चित्त विषय-चिन्तन करेगा। बुद्धि का विषय है, साक्षी का नहीं। अतः विचारवान् पुरुष कर्म करता हुआ उसका साक्षी बना रहे।

७—जो परमात्मा के दर्शन करना चाहे, सदा सुख भोगना चाहे तथा भव-बन्धन से छूटना चाहे तो कामिनी और काञ्चन में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, जो इनमें मन लगाये रहते हैं, उन्हें सिद्धि नहीं मिलती। भगवान् उनसे सदा दूर रहते हैं।

८—जिसका रूप और शब्द में थोड़ा-सा भी अनुराग है वह सगुणोपासना का ही अधिकारी है। निर्गुणोपासना का अधिकारी वही है जिसका रूप शब्द में बिलकुल प्रेम न हो।

९ बंगला में एक कहावत है 'ये मनि ते मनि भगवान्' अर्थात् जैसा मन होता है वैसा ही भगवान् होता है। भगवान् का स्वरूप भक्त की भावना के अनुकूल है।

१०—जब तक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्ताकाश में डेरा डाले पड़े हैं, तब तक न तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न भक्ति-तत्त्व की ही उपलब्धि हो सकती है।

११—जब तक ज्ञान का 'अहं' है तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जब तक भक्ति का 'अहं' है तब तक भक्त नहीं कहा जा सकता।

१२—अज्ञान, अविवेक का नाश करना, ज्ञान तथा प्रेम-तत्त्व की अवहेलना करना है। सारे अज्ञान एवं अविवेक की सृष्टि 'अहं' ने की है। इसलिए 'अहं' को ही अपराधी समझ कर बन्दी करो। उसी का नाश करो। 'अहं' का नाश होते ही दिव्यता का अनुभव होने लगेगा। फिर तुम अपने भीतर एक बढ़ती हुई रोशनी का प्रकाश अनुभव करने लगोगे।

१३—यदि तुम ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हो तो, तुम्हें आवश्यकता इस बात की है कि देश, जाति तथा शरीर की आसक्ति को अलग करो।

१४—जो चित्त दृश्य जगत् में आसक्त है, वह मरमतत्त्व का चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्था में पहुंचने के लिये तुम तड़प रहे हो, उसके समीप पहुंचने के पूर्व तुम्हें बहुत से कामों को समाप्त करना होगा। अपनी सारी बुराइयों को दूर करके सात्विक संसार में उतरना होगा।

१५—तमोगुण और रजोगुण में पूर्ण सुख नहीं है, पूर्ण सुख तो सतोगुण में ही है। इसलिए सतोगुण बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। विचार कर देखा जाय तो काँच भी मिट्टी ही है, तथापि काँच के मकान में देखने से बाहर-भीतर की सभी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं और मिट्टी के मकान में कुछ भी नहीं दीखता। इसी प्रकार तीनों गुणों में से रज और तम मिट्टी रूप हैं तथा सत्व काँचरूप है।

१६—चित्त का विकार तभी जा सकता है जब कि शरीरमात्र को मल-मूत्र का थैला समझा जाय।

१७—जब तक चित्त लीन नहीं होता तब तक क्रिया के सम्बन्ध से विकार हुए बिना नहीं रह सकता। चित्त लीन हो जाने पर फिर जो क्रिया होती है, वह केवल लीलाभाव होती है, उसमें आस्था न रहने के कारण कोई विकार नहीं होता।

१८—रासलीला आदि देखने का अधिकारी वही हो सकता है जिसने अपने चित्त को लीन करके उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो, अन्यथा उसमें लौकिक बुद्धि हुए बिना नहीं रह सकती।

१९—विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल रहे हैं। दुःखी क्यों हो? दुःखी होना अपने को अविश्वास की अवस्था में फेंकना है। सारी परिस्थिति के रचयिता ईश्वर हैं। जिस प्रभु ने तुम्हें उत्पन्न किया है, जिस प्रभु ने तुम्हारे जीवन-रक्षा के हेतु नाना वस्तुओं की सृष्टि की है, जिस प्रभु ने सूर्य और चन्द्र-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं वही प्रभु बुद्धि योग भी प्रदान करेगा।

२०—किन्तु आवश्यकता है; सर्वतोभावेन अपने को उसके ऊपर छोड़ देने की—निछावर कर देने की। अपनी सारी अहंता और ममता को उसी के चरणों में रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन

है। बन्धन में क्यों पड़े हो ? इस महादुःखदायी बन्धन को अपना महाशत्रु समझ उतार कर फेंक दो।

२१—भक्ति भगवत्कृपा से प्राप्त होती है, उसमें अपना पुरुषार्थ काम नहीं देता— यह ठीक है, किन्तु भगवत्कृपा तभी हो सकती है जब कि हम भगवान् की ओर लगें- बिना भगवान् की ओर लगे उनकी कृपा नहीं हो सकती।

२२—आत्मक्रीड़ा या आत्मरति के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, स्त्री-क्रीड़ा, धन-क्रीड़ा या पुत्र-क्रीड़ा आदि सांसारिक भोगों के लिए तो बड़े-बड़े साधनों की आवश्यकता होती है।

२३—चार बातें सर्वथा स्मरण रक्खो, ये चार श्रेणियाँ हैं—प्रथम, संसार को दुःखरूप समझना, दूसरे उसे स्वप्नवत् समझना, तीसरे उसे भगवान् की माया समझना और चौथे उसे आत्मा की तरंग जानना।

२४—ध्यान-निष्ठा में सांसारिक वस्तुओं की इच्छा और काम-क्रोधादि उद्वेग बहुत बड़े विघ्न हैं, इसलिए इनसे सर्वदा बचना चाहिये।

प्रकृति, जीव और ईश्वर।

देखो यह तीन अङ्क हैं—' १११ '। इनका ऐसा विवेचन है।

१ (प्रकृति) १ (जीव) १ (ईश्वर)। ईश्वर का मुख जीव और प्रकृति दोनों की ओर है। वह दोनों को देखता है। जीव का मुख प्रकृति की ओर है। ईश्वर की ओर से पीठ कर दी है। बस, इसी लिये उसे दुख है। जिस दिन वह ईश्वर की ओर मुख कर लेगा, वह तुरन्त ही विह्वल हो जायगा। प्रकृति जड़ होने के कारण से अन्धी है। वह कुछ भी नहीं देखती।

सगुण–निर्गुण ईश्वर

सगुण-निर्गुण में कोई भेद नहीं है। दोनों में एक ही ईश्वर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। जब ईश्वर काम करने लगता है, तब वह सगुण हो जाता है। जब वह विश्राम करने लगता है, तब निर्गुण कहाता है। जैसे रेल्वे का इञ्जिन जब वह रेल चलाता है, तब वह सगुण है, जब वह बिना काम किये खड़ा रहता है, तब निर्गुण है।

× × × × ×

अपने-अपने संस्कार के अनुसार सुख-दुःख सब को होते रहते हैं। तुम्हारे परिवार में माँ बाप, स्त्री-पुत्रादि जो कोई हों उनको जहां तक तुमसे बने सुख पहुँचाओ। यही तुम कर सकते हो। बाकी परिणाम होना व्यर्थ है।

× × × × ×

संसार के भोगों में मत फँसो। भोग तो तुम्हारे लिए योनियों में तैयार हैं।

× × × × ×

सब कार्यों को ईश्वर का विधान समझ कर तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिये। तुम्हारा हित, तुमसे अधिक, ईश्वर समझता है। वह सब काम तुम्हारे हित के लिये करता है। मनुष्य अपनी मूर्खता से उन्हें उलटे समझ कर दुःखी होने लगता है। स्वामी रामतीर्थ कालेज में भर्ती हो गये थे। उनकी अर्जी अस्वीकार हो गई और वे भर्ती नहीं हुए। यह सब काम सुन कर वे दुःखी होने के अतिरिक्त हर्ष से नाचने लगे। वे कहने लगे कि ईश्वर को इससे और कुछ अच्छा करना है।

× × × × ×

अखण्ड प्रफुल्लित रहो, दुःख में भी। चाहे कैसा ही दुःख पड़े, गुलाब के फूल की तरह खिले बने रहो।

खूब हिम्मत रक्खो। पाताल खोद कर पानी निकालो। अगर तुम में हिम्मत नहीं, तो तुम्हारा कोई मूल्य नहीं।

× × × × ×

सत्त्वबुद्धि के लिये आहार शुद्धि की आवश्यकता है। आहार (भोजन) शुद्धि बिना कोई काम नहीं बनता। कहा है—'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'। जैसा पीवे पानी, वैसी होवे बानी'—उड़द की दाल, घुइयां, भिंडी, मछली, मांस, मद्य, लाल मिर्च, लहसुन, प्याज ये सब चीजें विष की तरह छोड़ देनी चाहिये। दूध पाव-डेढ़ पाव, एक उबाल का पीना चाहिये- नियत समय पर स्वल्प भोजन करना चाहिये। अगर इसका ध्यान न होगा, तो योग रोग हो जायगा।

× × × × ×

व्यभिचारिणी स्त्री को जानते हो। वह घर का काम धन्धा तो सब करती है, परन्तु उसका मन पर पुरुष में लगा रहता है। तुम उससे शिक्षा लो। उसी की भांति संसार के काम-काज तुम भी करो। परन्तु मन परमात्मा में लगाये रक्खो।

× × × × × ×

तुम साधक अवस्था चाहते हो, तो शिवजी का चित्र देखो। वे आंख बन्द किये बैठे हैं। माया को वे देखते ही नहीं। मानो माया से वे कहते हैं कि तुम हमें सताती हो तो हम तुम्हें देखेंगे ही नहीं।

और यदि सिद्ध-अवस्था जानना चाहते हो श्रीकृष्णजी का चित्र देखो। वे आँखें खोले माया को देखते और हँसते हैं। मानो वे कहते हैं, माया को मैं जान गया हूँ। माया मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

× × × × × ×

जिस तरह गङ्गा की धार हमेशा चलती रहती है, ऐसे ही जब तक तुम जीवित हो, तुम्हारे हाथ पैर सर्वदा चलते रहते रहें। बराबर काम करते रहो। आलसी मत बनो।

(स्वामी एकरसानन्दजी)

सद्गुरु श्रीचन्द्रजी के अमूल्य उपदेश

परिचय

सद्गुरु श्रीचन्द्र जी महाराज उदासी साधुओं के पूज्य आचार्य हुए हैं। जिस प्रकार सन्यासियों के जगद्गुरु श्री स्वामी शंकराचार्य हुए हैं, उसी प्रकार सारे भारतवर्ष में विस्तृत उदासी-साधु सम्प्रदाय के जगद्गुरु श्री चन्द्रजी महाराज हुए हैं। पंजाब, पूर्व विहार और सिन्ध-प्रदेश में उदासी साधुओं के बड़े-बड़े स्थान हैं। सभी जगह सद्गुरु श्री चन्द्रजी का पूजन होता है। आप जन्म से ही पूर्ण त्यागी, वैरागी, नित्य एकान्तप्रिय अवधूत हुए हैं। जिस समय आपका जन्म हुआ, उसी समय आपके पिता श्री गुरु नानकदेव जी महाराज ने कहा था कि 'यह सच्चे सन्त वैराग्यवान् साधु बाल-यति और सनातन धर्म-प्रचारक, पाखण्ड निवारक महात्मा होंगे।'

श्री गुरु नानकदेवजी ने परमधाम जाते समय इन्हें गद्दी देनी चाही परन्तु त्यागी स्वभाव के कारण इन्होंने उसको स्वीकार नहीं किया। इनके त्याग को देख कर श्री नानकदेव जी ने कहा 'जुग में सबसे बिराजो ऊँचे, तुम्हारी समता कोई न पहुंचे।' आप सदैव ही गाँव से बाहर वृक्षों के नीचे धूनी लगाये मृगछाला पर बैठे रहते थे। कमलिया नामक एक सेवक सदा आपकी सेवा में रहता था। वृद्धावस्था में आप इसी के कंधे पर चढ़ कर कहीं आया जाया करते थे। आप किसी भी सवारी पर कभी नहीं चढ़े। हिन्दू मुसलमान जो कोई भी आपका उपदेश सुनते, सभी मुग्ध हो जाते।

उपदेश

एक समय आप वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, इतने में संत विष्णुजी नामक एक वैष्णव आगये। शिष्टाचार के अनुसार कुशल प्रश्नोत्तर होने पर भगवच्चर्चा होने लगी। संत विष्णुदास जी ने पूछा कि 'ईश्वर को कौनसी बातें अप्रिय हैं'? सद्गुरु श्रीचन्द्र जी ने कहा 'अभिमान और कृतघ्नता।' अभिमान सुरापान के समान है। शराब पी लेने पर जैसे मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता इसी प्रकार अभिमानी पुरुष की वृत्ति हो जाती है। अभिमानी पुरुष अपने पूज्य ऋषि, मुनि, महात्मा, पिता-माता, देवी-देवता सभी का अपमान कर बैठता है। अभिमान के कारण ही रावण ने ऋषियों का अनादर किया था। अभिमान और मद एक ही वस्तु है। शास्त्रों में मद आठ प्रकार के बतलाये हैं:—

१. धन-मद, २. रूप-मद, ३. यौवन-मद, ४. कुल-मद, ५. जाति-मद, ६. राज्य-मद, ७. विद्या-मद, ८. मादक वस्तु का (शराब गांजा आदि का) मद। मद का अर्थ है नाश, जो बुद्धि का नाश कर देता है। जहां भक्ति नहीं रहती। अभिमानी के हृदय में भक्ति का निवास नहीं हो सकता और भगवान् तो भक्ति-प्रिय हैं—(भक्तिप्रियो माधवः)। इसी से अभिमानी भगवान् को अप्रिय है। अतएव जो भगवान् की प्राप्ति करना चाहते हैं उनको सबसे पहिले अभिमान छोड़ना चाहिये। हृदय में नम्रता और समता धारण करनी चाहिए।

दूसरी अप्रिय वस्तु है कृतघ्नता। जीव पर साधारणतः तीन ऋण हैं,—देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण। यज्ञादि द्वारा देवऋण की निवृत्ति होती है, जीवित माता-पिता की सेवा और सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण की निवृत्ति होती है तथा वेद शास्त्र पुराणों के अध्ययन और पठन-पाठन से ऋषि-ऋण उतरता है। इनके न करने से जीव कृतघ्न होता है। देवता वर्षा आदि द्वारा जीवों की रक्षा करते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्मों द्वारा इनकी पूजा करनी चाहिये। माता-पिता के उपकारों का बदला जीव कभी चुका नहीं सकता, इसलिए सेवा सत्कार और आज्ञा पालन आदि द्वारा उनका भला करना चाहिए। ऐसा नहीं करते, वे कृतघ्न हैं। ऋषियों ने हमारे कल्याणार्थ वैदिक पुराण, शास्त्र, स्मृतियां आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनको पढ़ कर सफल करना हमारा कर्त्तव्य है। इनके अध्ययन से स्वरूप ज्ञानरूप मोक्ष-मार्ग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सांसारिक सुखों की प्राप्ति भी होती है। ऐसा न करने वाले कृतघ्न हैं।

इस जन्म में गुरु, विद्यादाता और अपना भला करने वाले पुरुषों का उपकार न मानना भी कृतघ्नता है।

ईश्वर के तो जीव पर अनन्त उपकार हैं। जीव के लिए सभी अनुकूल रचना ईश्वर ने की है। जो जीव ईश्वर का उपकार न मान कर नित्य नियम से प्रतिदिन घंटे आधघंटे उसका भजन नहीं करते, वे तो परम कृतघ्न हैं।

अतएव अभिमान और कृतघ्नता को छोड़ नम्र बन कर, हृदय में उपकारों का स्मरण करते हुए ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए, जो ऐसा करता है वही ईश्वर को प्रिय होता है।

[स्वामी संतप्रसादजी उदासीन]

परम-हंस रामकृष्ण के अमृत मय वचन

(चुने हुए)

१—दो प्रकार की मक्खियाँ हैं। एक तो मधुमक्खियाँ जो केवल मधुपान ही करती हैं और, दूसरी साधारण मक्खियाँ जो मधुपान भी करती हैं, किन्तु जब उन्हें पका घाव या व्रण मिल जाता है तब वे मधु को छोड़ कर व्रण पर जा बैठती हैं। उसी प्रकार दो प्रकार के मनुष्य हैं—एक तो ईश्वरानुरागी और दूसरे

संसारासक्त। जो ईश्वरानुरागी हैं वे ईश्वराधन के सिवा और कोई कार्य नहीं करते। और जो संसारासक्त हैं वे ईश्वर की आराधना तो करते हैं किन्तु जब उन्हें कामिनी काञ्चन की सुधि आती है तब वे हरीकीर्त्तन को छोड़ कर उसी में मग्न हो जाते हैं।

२—सज्जन और दुर्जन हंस और जोंक के सदृश हैं। हंस दूध पीता और पानी को त्याग देता हैं, किन्तु जोंक स्तन में लगने पर भी रक्त को पीती और दूध को त्यागती है। कहने का मतलब यह है कि सज्जन गुणग्राही और दुर्जन दोष ग्राही होते हैं।

३—बद्ध-जीव न तो स्वतः ही हरिनाम सुनते हैं और न दूसरों को सुनने देते हैं। वे धर्म और धार्मिकों की निन्दा करते हैं और यदि कोई भजन-पूजन करे तो वे उसकी हँसी उड़ाते हैं।

४—कछुए की पीठ पर तलवार मारो तो उसकी धार भले ही नष्ट हो जाय पर उस पर कुछ असर नहीं होता, इसी प्रकार बद्ध जीवों को कितना ही धर्म या नीति का उपदेश दो, उन पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

५—सूर्य की किरणें सब जगह समान पड़ती हैं, किन्तु पानी, कांच और स्वच्छ पदार्थों में उनका अधिक प्रकाश दिखाई देता है। इसी प्रकार परमेश्वर का अंश सब जीवों में समान रूप से व्याप्त रहने पर भी साधु पुरुषों में उसका विशेष प्रकाश दिखाई देता है।

६—संसारी मनुष्य तोते के समान हैं जो सदैव "राधे-कृष्ण" रटा करता है; परन्तु जब उसे बिल्ली पकड़ती है, तब टें-टें के सिवा उससे कुछ कहते नहीं बनता। इसी प्रकार संसारी मनुष्य सुख-शान्ति के समय धर्म-कर्म और परमेश्वर की चर्चा किया करते हैं, किन्तु विपत्ति के समय उनसे कुछ नहीं बन पड़ता।

७—जल में कंकड़ फेंको या उसे किसी तरह चंचल करो, तो कुछ समय के पश्चात् वह फिर स्थिर हो जाता है। सत्पुरुषों का क्रोध भी इसी प्रकार होता है, कोई उनके मन में क्रोध उत्पन्न करदे तो वह कुछ ही समय के अन्तर से शान्त हो जाते हैं।

८—संसारी जीव किसी बात से सचेत नहीं होते हैं। उन्हे कितना ही दुःख, परिताप या संकट क्यों न भोगना पड़े, परन्तु वे उससे तनिक भी सावधान नहीं होते। जैसे ऊंट कँटीले झाड़ खाने का रुचिया होता है, कँटीले पेड़ खाते-खाते उसके मुंह से खून बहने लगता है, तथापि वह उनका खाना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार संसारी लोग अनेक कष्ट और दुःख को सह कर भी संसार से तनिक विरक्त नहीं होते हैं।

सदुपदेश ।

नहिं वेद पुराणनि भाखा है । जिन पाया तिन उर राखा है ।
यह मग खांडे की धारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥१॥

जो प्रिय को मिलना चाहते हैं । वे पागल लोग कहाते हैं ।
नहिं प्यारा-मिलन सुखारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥२॥

प्रिय दाया सों प्रिय पाना है । नहिं और उपाय प्रमाना है ।
यों वेद-पुराण उचारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥३॥

कभी प्यारे का गुन गाते हैं । कभी ध्यान करत रह जाते हैं ।
कभी बह आंसुन की धारा है । हरि आशिक़ का मग न्यारा है ॥४॥

तिन्ह खान-पान नहिं भावे है । नहिं कोमल वस्तु सुहावे है ।
सब विषय भोग तिन्ह खारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥५॥

तिन्हके तन कृश हो जाते हैं । मुखकुंज सदा विकसाते हैं ।
तिन्ह-चीर बसन तन धारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥६॥

नहिं मरने में सकुचाते हैं । महबूब रंग में माते हैं ।
तिन्ह सभी अनातम जारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥७॥

नहिं भय काहू को देते हैं । नहिं औरों से भय लेते हैं ।
तिन्ह यम का लेखा फारा है । हरि-आशिक़ का मग न्यारा है ॥८॥

नहिं और दिशा को देखे हैं । नित प्रीतम का मुख पेखे हैं ।
कब आवे प्राण-पियारा है । हरि-आशिक का मग न्यारा है ॥९॥

कभी मरने को उठ धाते हैं । पुनि दरस हेतु फिर आते हैं ।
पिय-दरश-हेतु तनु धारा है । हरि-आशिक का मग न्यारा है ॥१०॥

दिन रैन नींद नहिं आती है । गिन तारे रात बिताती है ।

प्रिय मिलतहि होत उजारा है। हरि-आशिक का मग न्यारा है ॥११॥

बिनु प्रिय के क्षण युग होते हैं। सुन प्रिय की बातें रोते हैं।
तिन्ह कोई न जाननहारा है। हरि आशिक का मग न्यारा है ॥१२॥

जब रामसनेही पाते हैं। तब अपना हाल सुनाते हैं।
सब लोकन सों चुप धारा है। हरि-आशिक का मग न्यारा है ॥१३॥

मुमुक्षु की सप्तपदी।

(छन्दोबद्ध)

(१)

था मुग्ध रमणी रूप पर, अत्यन्त विषयासक्त था।
परिहास हास-विलास में, प्रणयी हृदय अनुरक्त था॥
जब एक पद आगे बढा, 'काम' मन से धोगया।
तो व्यक्तिगत सौन्दर्य क्या, संसार सुन्दर होगया॥

(२)

सुख में हुई अत्यल्प यदि, बाधा लगी तन काँपने।
हो लाल मल कर कर रगड़ने रद लगा उर हांफने॥
पद दूसरा ज्योंही धरा, त्योरी न वह बदली रही।
रिपु 'क्रोध' हटने के हृदय से, शान्तमय देखी मही॥

(३)

सम्पत्ति नाना भांति की, मैं ने कमाई चाव से।
तो भी न छूटी वासना, बढ़ती गई मृदु भाव से॥

रक्खा चरण जब तीसरा, नहिं 'लोभ' से नाता रहा ।
ममता मिटी, निःसीम अब, संतोष धन भाता अहा ॥

(४)

कांता, सुता, सुत, धाम, धन, परिवार प्यारा जान कर ।
लोलुप रहा उनमें सदा, सर्वस्व अपना मान कर ॥

वैराग्य के चौथे चरन में, 'मोह' का परदा हटा ।
चिद् भानु-किरणों से घटी, अज्ञान तम का घन-घटा ॥

(५)

सर्वज्ञ हूँ, बलवान हूँ, गुणवान, सज्जन, मान्य हूं ।
थी भावना, संसार में, सर्वाग्रगण्य वदान्य हूँ ॥

'मद' पांचवे पद पर मिटा, अल्पज्ञ जाना जीव है ।
अभिमान तज देना, परम पुरुषार्थता की नींव है ॥

(६)

मुझ से न कोई श्रेष्ठ हो, चिन्ता बनी थी चित्त में ।
उत्कर्ष नहिं सहता किसी का, ज्ञान बल वा वित्त में ॥

'मत्सर' मरा धरते छठा पद, मित्र रिपु सम होगये ।
वसुधा-कुटुम्बी बन गया, दुर्भाव मन के खो खोगये ॥

(७)

आगे निकल आये, छहों रिपु दीन पीछे रह गये ।
निर्द्वन्द, बन्धन रहित शुचि, अद्वैत-हृद में बह गये ॥

सप्तम चरण धरते मिली, वह मुक्ति-त्रिभुवन सुन्दरी ।
सब भर भरा भरपूर है, आनन्द ! हरि माया हरी ॥

एक सन्त के अमृत वचन

संसार के काम छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। संसार में रह कर, गृहस्थी में रह कर, तुम्हारी मुक्ति हो सकती है। संसार में चिपटो नहीं नीति के अनुसार सब काम करो। देखो राजा जनक गृहस्थ थे फिर भी शुकदेव मुनि उन से ब्रह्मविद्या सीखने आये।

❀ ❀ ❀ ❀

सत्संग किया करो। देखो शब्दों में शक्ति होती है। जैसे शब्द सुनोगे, या पढ़ोगे, वैसा ही तुम्हारा मन बनेगा। अल्प भी हम तुम्हें गाली देदें; तुम्हें दुःख होगा। क्रोध हो आयेगा।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रश्न—भगवन्! सत्संग किस प्रकार करें?

उत्तर—देखो, दो चार आदमी अपने मुहल्ले के इकट्ठा कर लो। नित्य कोई एक समय नियत कर लो। ऐसा समय जिसमें सब को सुभीता हो। एक आदमी तुलसीकृत रामायण का पाठ करे, और शेष सब लोग उसके साथ कहा करें। यह एक प्रकार का सत्संग हो जायगा।

❀ ❀ ❀ ❀

हमारे शरीर में एक प्रकार के शब्द हो रहे हैं और इन्हीं शब्दों के कारण हमारा शरीर हरा-भरा और जीवित है। मृत्यु के आठ दिन पूर्व ये शब्द बन्द हो जाते हैं। फिर शरीर सड़ने लगता है। योगियों को ये शब्द सुनाई देते हैं इसीलिए उन्हें मौत का समय ज्ञात हो जाता है।

(स्वामी एकरसानन्द जी)

श्री श्री पापा जी महाराज के उपदेश

पवित्र प्रेम की उपासना से मनुष्य अमर हो जाता है। प्रेम सत्य की स्थिरता से उत्पन्न होता है।

❀ ❀ ❀ ❀

स्पष्ट भाव से अपने जीवन को स्थित करो। गोलमाल मत करो। संयम की रक्षा के लिए बड़े-बड़े कठोर-से-कठोर नियम बनाओ। जब तक वह नियम तुम्हारे स्वभाव में न परिणित हो जाय, उसे मत छोड़ो।

❀ ❀ ❀ ❀

जीवन का कुछ ठिकाना नहीं। अपने सारे कामों को खतम कर कहीं एकान्त शान्त में स्थायीरूप से स्थित होकर भगवान् को स्मरण करो।

प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त्त में उठ कर तत्त्व-चिन्तन करो। आकाश में टिमटिमाती हुई तारिकाओं की सुनहली पंक्ति को देखो।

यदि उस वक्त नींद आती हो तब भी उठ कर भगवान् को स्मरण करो। यदि थकावट हो, तब भी उठो। आवश्यकता पड़ने पर दिन में भी सो सकते हो।

❀ ❀ ❀ ❀

ऐसे मनुष्यों का दर्शन करो, जिनके दर्शन से तुम्हारे हृदय में घृणा के भाव उठते हैं।

सभी परस्थितियों, सभी दशाओं, सभी रूपों में श्री भगवान् की सत्ता का अनुभव करो। यह विश्व उन्हीं का है। कामुक, क्षुद्र, बुद्धिमान्, विद्वान्, महात्मा आदि भगवान् के ही रूप हैं। सब का सम्मान करो।

जो भी कार्य करो, श्री मङ्गलमय श्री भगवान् का कार्य समझ कर करो, अपना नहीं। अपना समझोगे तो कष्ट होगा, गृह कार्य चिन्ता का रूप धारण करके तुम्हें खा जायगा।

❀ ❀ ❀ ❀

अपनी सब कठिनाइयों में श्री मङ्गलमय श्री भगवान् की छबि का दर्शन करो। वह तो हमेशा दिखाई पड़ता है।

❀ ❀ ❀ ❀

त्यागी के मानी हैं—'जीवन को सौंप देना यानी अपनी सारी शक्तियों को दे देना।' शक्ति-दान ही महान् दान है। चाहे किसी भावना से क्यों न हो, त्याग होना चाहिये। त्याग मनुष्य को महान् बनाता है।

(श्री इन्द्र ब्रह्मचारी)

परमहंस मौनी बाबा के उपदेश

१—किसी को गाली मत दो और न किसी की निन्दा करो। यदि भूल से गाली निकल जावे या निन्दा हो जावे तो उसी समय एक स्नान, परमेश्वर के नाम का एक हजार जप तथा एक दिन व्रत रखना चाहिये। गाली देनी पड़े तो 'शिवजी का बच्चा, रामजी का भक्त, बाप के बेटे, मामा के भांजे तथा चाचा के भतीजे आदि रूप से देनी चाहिये।

२—प्रातः पलंग से उठ क्षमा और सहिष्णुता-प्राप्ति के लिये लिये भूमि को, पवित्रता नम्रता-प्राप्ति के लिए जल को, हृदय में धर्म-प्रकाश-शक्ति-प्राप्ति के लिए सूर्य नारायण को प्रणाम करो, तत्पश्चात् माता-पिता को साष्टाङ्ग प्रणाम करो उनका चरणामृत ले, अन्य गुरुजनों को प्रणाम करना चाहिये।

३—गाली, निन्दा, चोरी, जुआ तथा परनारी-गमन को सर्वथा त्याग दो।

४—प्रति दिन गीता के दो श्लोक कण्ठस्थ करना और सत्सङ्ग करना। सत्सङ्ग न हो तो सत्-ग्रन्थ पाठ होना चाहिये।

५—आमदनी का दशवां भाग अवश्य दान करना चाहिये।

६—प्रति दिन प्रातः और सायं एक श्वास में भगवान् के तीस नाम इस प्रकार लो कि उच्चारण अपने कान में सुना जावे। इस प्रकार प्रातः और सायं नौ-नौ माला कुछ दिन जप करने से मन स्थिर होकर भगवान्-प्राप्ति का सहज उपाय हो जायगा और वर्ष में १॥ महीना आयु बढ़ जायगी।

(कल्याण से)

अरण्यवासी महात्मा के उपदेश

१. अहिंसा-व्रत का पालन करने वाले के साथ कोई द्वेष नहीं करता।

२. यम नियमादि साधनों से सम्पन्न पुरुष ही समाधि लगा सकता है, साधन रहित को समाधि नहीं होती, वह तो केवल लोगों को ठगता है।

३. सभी मनुष्य अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते हैं, कोई भी किसी के कहने से कार्य नहीं करता, अतएव लोगों को उपदेश न देकर अपना सुधार करना ही श्रेयस्कर है।

४. पाप का जो फल पाप करने वाले को होता है, प्रायः वही उसके प्रकट करने वाले को भी होता है, अतएव किसी का भी पाप प्रकट न करे।

५. शास्त्रों में ब्राह्मणों की अत्यन्त महिमा है, ब्राह्मण वही है जो ब्राह्मणोचित कर्म करता है, ऐसे ही ब्राह्मण की महिमा है, कर्मरहित की नहीं।

६. ईश्वर-भजन के समान संसार में कोई भी काम नहीं है।

७. भजन प्रयोजन से होता है, इसमें प्रारब्ध माननेवाला मूर्ख है, लेकिन होना चाहिये भजन।

८. भजन करने से ही विषयों में वैराग्य होता है।

९. सात्विक आहार से सतोगुण बढ़ता है और सतोगुण के बढ़ने से भजन होता है।

१०. प्राणीमात्र का एक ही ध्येय है, सभी नित्य सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। यह अनुभव सिद्ध बात है कि स्त्री-पुत्र, धन, राज, मान आदि में नित्य सुख नहीं है। नित्य सुख की प्राप्ति के उपायों में अनेक मतमतान्तर हैं। इस नित्य सुख को ही परम पद, ईश्वर प्राप्ति या परमानन्द आदि कहते

हैं। यह सुख विश्वास रख कर नाम-जप प्राप्त करने से होता है, जब तक यह सुख न मिले, तब तक नाम-जप करते ही रहो।

११. कलयुग में सर्व श्रेष्ठ सरल साधन श्री भगवन्नाम का जप है, इसके अतिरिक्त दूसरे साधनों में मनुष्य का अधिकार भी नहीं है—

रामेति वर्णद्वयमादरेण, सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः।
कलौयुगे कल्मषमानसानामन्त्रस्य धर्मे खलु नाधिकारः॥

जब किसी काम करने का अधिकार ही नहीं तब उससे लाभ ही क्या होगा? अतएव नाम-जप विशेष ही करते रहो, इससे सब कुछ आप ही हो जायगा।

१२. नाम-जप तथा गीता आदि साधनों से भी ईश्वर भक्तों का सङ्ग श्रेष्ठ है, अवश्य ही भक्तों का मिलना बहुत कठिन है।

१३. भगवान् के प्रेमी की यही पहिचान है कि वह भगवान् के दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल रहता है। बहुत भूखा आदमी जैसे रोटी के लिये चिन्तित रहता है उससे भी सहस्रगुणी अधिक चिन्ता भक्त को भगवान् के लिये रहती है। जैसे भूखे का चहरा छिपा नहीं रहता, वैसे ही विरही भक्त का भी ईश्वर प्रेम छिपा नहीं रहता।

१४. मनुष्य का मूल कार्य ईश्वर-प्राप्ति करना है, जो सांसारिक धन और पद आदि के लिये प्रयत्न करता है वह मूर्ख है। जब यह जीर्ण दुर्गंधित खोल (शरीर) ही नहीं रहता तब धन मानादि से क्या लाभ हैं? फिर भी इस दुर्गन्धित खोली में कितना अभिमान है?

१५. सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं परन्तु साधक को सगुण से लाभ अधिक है।

१६ ज्ञानी और परमात्मा एक ही हैं, जिसने ज्ञानी को वास्तव में पहचान लिया, उसने परमात्मा को जान लिया। भगवान् कहते हैं—'ज्ञानी त्वात्मैवमेमतम्।'

१७. किसी पर दया-दृष्टि करके ही मनुष्य उसे वरदान दे सकता है, जब दुःख होगा तब दया होगी। ज्ञानी एकरस होता है, उस का किसी पर राग-द्वेष नहीं रहता, इसलिये वह किसी पर कैसे दया करे?

१८. ज्ञानी हो जाने पर भी सिद्धियां नहीं मिलतीं, सिद्धियों से ज्ञान का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। सिद्धियां प्राप्त करने का साधन ही दूसरा है, सिद्धियां तो तुच्छ वस्तु हैं। ज्ञानी को सिद्धियों से मतलब ही क्या है? क्यों कि ज्ञानी के अनुभव में तो संसार कुछ है ही नहीं। सिद्धियों से संसार को शाप वरदान आदि द्वारा वश में करना संभव नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण संसार को तो कोई चमत्कार दिखा नहीं सकता, जिसको चमत्कार दिखावे वह यदि ज्ञानी के कहने के अनुसार चलने लगे तो भी उन्हें क्या लाभ? फिर भी ऐसी सिद्धियों के लिये यत्न करना मूर्खता है।

१९. सच्चा गुरु वही है, जिसके द्वारा ईश्वर-प्राप्ति हो जाय। शिष्य को चाहिये कि वह गुरु की आज्ञा का पालन करे, केवल गुरु मानने से कुछ भी नहीं होता।

२०. संसार में संग ही प्रधान है, जैसा संग होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। कुसंग से बड़े २ देवता और ऋषियों का पतन होगया है और सत्संग से अनेक पतित भी पूजनीय हो गये हैं अतएव सदा सत्संग करते रहो।

२१. ईश्वर आप्त काम है, वह सूर्य की भांति है, सूर्य के सामने जाने से अन्धकार और सर्दी दोनों का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु जो सामने नहीं जाता, उसका नहीं होता, इसमें जैसे सूर्य का दोष नहीं है वैसे ही ईश्वर के भजने वाले के समस्त काम सिद्ध होते हैं, नहीं भजने वाले के नहीं होते, इससे ईश्वर में विषमता का दोष नहीं आ सकता।

शारीरिक दुःख दर्द दूर करने की औषधि

दुःख प्राप्त होने पर मनुष्य को दुःख दूर करने के लिए क्या विचारना चाहिये। इस आपके प्रश्न का सीधा और सरल उत्तर तो यह है कि दुःख के समय ईश्वर का भजन करना चाहिये। ईश्वर के भजन से पापों का क्षय होता है। इसमें संशय नहीं है, पाप ही दुःख का हेतु है, यानी पापों का फल ही दुःख है, पाप क्षय हुए और दुःख दूर हुआ! अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वर का भजन करने से भविष्य के लिए पाप न होंगे परन्तु पूर्व के किए तो भोगने ही पड़ेंगे। यह कथन ठीक ही है, क्योंकि यदि पूर्व जन्म में पाप न किये होते अथवा भजन किया होता, तो इस समय दुःख न होता परन्तु जो हो गया, सो हो गया, व्यतीत हुए का कोई प्रतिकार नहीं है, आगे का ही प्रतिकार करना चाहिये और वही हो सकता है। पातञ्जलि भगवान् का वचन है कि 'हेयं दुःख मनागतम्' अर्थात् नहीं आये हुए दुःख के त्यागने का उपाय करना चाहिये। इस वचन के अनुसार आगामी दुःख ही मेटे जा सकते हैं, वर्त्तमान नहीं।

आप कहेंगे कि मैं ने तो वर्तमान् दुःख के निवृत्त करने का उपाय पूछा है, यदि वर्तमान् दुःख निवारण नहीं हो सकता तब तो मेरा पूछना ही व्यर्थ है। नहीं आपका पूछना व्यर्थ नहीं है, दयालु वेद वेत्ताओं ने वर्तमान् दुःख के निवृत्त करने के उपाय भी बतलाये हैं और वे ये हैं— दुःख क्यों होता है? कहां होता है? किस के सहारे से होता है? जाता कब है? सर्वदा के लिए कैसे जाता है? क्रम से इन प्रश्नों के उत्तर ये हैं:— दुःख पूर्व के पाप से आता है, पाप क्षीण करने के और वैराग्य की शिक्षा देने को आता है, पाप क्षीण करके चला जाता है, अन्तःकरण में आता है, स्थूल शरीर के सहारे से आता है। इन उत्तरों के ऊपर विचार करने से मन को शान्ति होती है।

जब दुःख अपने किये हुए कर्मों का फल है, तो प्रसन्नता से भोग लेना चाहिये, क्यों कि जब हमने कर्म किया है तो उसका फल भी हम ही भोगेंगे। दूसरा कौन भोगेगा। इसलिये दुःख को

प्रसन्नता से भोग लेना हमारा कर्त्तव्य है। अतिरिक्त इसके यह दुःख सदा रहने वाला तो है नहीं, आता है चला जाता है, सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख होता ही रहता है, तब उसके लिए शोक क्यों किया जाय, शोक करने से दुःख घटेगा तो है नहीं तब शोक करना व्यर्थ ही है, धैर्य से दुःख सह लेना ही दुःख दूर करने का उपाय है। दुःख अन्तःकरण में होता है, आत्मा में नहीं होता। दुःख के समय अन्तःकरण का और आत्मा का विवेक सुगमता से हो सकता है, सुख में विवेक होना असम्भव सा है, क्योंकि सुख में तो अन्तःकरण और आत्मा निरन्तर एकमेक और दुःख में दोनों स्पष्ट भिन्न २ भासते हैं, ऐसा सबको अनुभव है, आत्मा का अवलम्बन लेकर अन्तःकरण के दुःख को भुला देना चाहिये, आत्मा असंग है, जहाँ असंगता का ध्यान किया कि अन्तःकरण का सम्बन्ध ढीला हुआ, जहाँ सम्बन्ध ढीला हुआ कि दुःख कम हुआ, जितना सम्बन्ध ढीला होगा, उतना दुःख कम होगा और जब सम्बन्ध बिल्कुल छूट जायगा, तो अशेष दुःख जाता रहेगा। यदि आत्मा का अवलम्बन न ले सकें तो ईश्वर के नाम का अवलम्बन भी समस्त दुःखों को मिटा देता है, क्योंकि अन्तःकरण से दुःख की प्रतीति होती है, जब अन्तःकरण दूसरे विषय में लग जाता है, तो दुःख का अनुभव नहीं होता।

दुःख वैराग्य सिखलाता है, इसलिये परम मित्र है। यदि सँसार में दुःख नहीं होता, तो सुखरूप परमात्मा की कोई खोज नहीं करता, मिथ्या सुख में ही सर्वथा आसक्त रहता, जब दुःख आता है, तब भाई बन्धुओं की पहिचान हो जाती है, कोई दुःख को बांट नहीं सकता। अपना दुःख आप ही भोगना पड़ता है। बांटना तो दूर रहा, दुःख में कोई सहायता भी नहीं करता, क्योंकि संसारी सम्बन्धियों की यह कहावत है कि 'जब तक थाली में भात तब तक मेरा तेरा साथ'। कोई शिक्षित कुलीन बांधव अथवा बंधु ही दुःख में सहायता करते हैं, नहीं तो और सब ही दुःखी को देखकर दूर भागते हैं।

जब तक तीनों शरीर हैं, तब तक कोई दुःख से छूट नहीं सकता, क्योंकि तीनों शरीर रोगमय होने से दुःख मय हैं। स्थूल शरीर धातुओं की विषमता से ज्वर, अतिसार आदि रोगों से युक्त है, सूक्ष्म शरीर चिन्ता ईर्षा, काम, क्रोध आदि रोगों से युक्त है और कारण शरीर दोनों शरीरों का बीज होने से रोगमय है ही, तब तीनों शरीरों की और तीनों शरीरों के सम्बन्धियों की आसक्ति छोड़कर अपने सुख स्वरूप आत्मा में ही आसक्त होना चाहिये। उसी का ही कीर्तन करना चाहिये, उसी का मनन और उसी का ध्यान करना चाहिये। ये ही दुःख भुलाने के उपाय हैं।

(२)

एक ज्ञानी से किसी ने पूछा कि चोट लगने से तुम को दुःख होता है या नहीं, तो वह हँस कर इस प्रकार कहने लगा:—

'भाई! मुझे चोट आदि का दुःख क्यों नहीं ज्ञात होता? ज्ञात होता ही है। क्योंकि मेरा अन्तःकरण पत्थर का सा थोड़ा ही है। मुझे दुःख का अनुभव अवश्य होता है, फिर भी जैसा अज्ञान दशा में होता था, वैसा नहीं होता। चाहे पहिले से भी मुझे अधिक दुःख हो, तो भी पहले के समान मैं व्याकुल नहीं होता, क्योंकि पहिले तो मैं समझता था कि दुःख मुझको ही होता है और अब ऐसा समझता हूँ कि मैं भिन्न हूँ। दुःख का अनुभव करने वाला अन्तःकरण भिन्न है। ऐसा समझने से मैं मात्र दुःख का

द्रष्टा रहता हूँ, द्रष्टा रहने से मैं दुःख से विह्वल नहीं होता।

(३)

महाराजा विक्रम से एक दिन उसके किसी मित्र राजा ने इस प्रकार प्रश्न किया। मित्र—हे राजन्! आपके शरीर में चक्रवर्ती महाराज होने का कोई चिन्ह नहीं है फिर आपको राज्य पद कैसे प्राप्त हुआ? विद्या झूंठी तो होती नहीं। विक्रम—भाई! मेरे शरीर के ऊपर चक्रवर्ती का कोई चिन्ह नहीं हैं परन्तु मेरे शरीर के भीतर चक्रवर्ती का चिन्ह है और वह यह है कि मैं कष्ट से व्याकुल नहीं होता। कितना भी कष्ट आ जाय, मैं अपने सत्त्व में स्थित रहता हूँ, सत्त्व नाम धैर्य का है, धैर्य के कारण मैं भारी से भारी कष्ट को सहन कर लेता हूं। गीता में भगवान् ने कहा है कि इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से जो शीत उष्ण सुख दुःख आदि होते हैं, वे अन्तःकरण के धर्म हैं, और अनित्य हैं इसलिये हे कुन्ती पुत्र! उनको सहले, जो इनको सह लेता है, वह अमर पद पाने के योग्य हो जाता है। गीता के इस वचन पर मुझे पूर्ण विश्वास है, मैं इनको स्वाभाविक अर्थात् यत्न बिना ही सह लेता हूँ, सह लेने से मैं सर्वदा अपने नित्य अजर अमर आत्मा में निष्ठ रहता हूं। आत्मनिष्ठ होने से मुझे सुख दुःख आदि द्वन्द नहीं सताते, मेरे समान जो कोई सुख दुःखादि द्वन्दों को सहेगा वह चाहे पूर्व कर्म के प्रतिबन्ध से चक्रवर्ती भले ही न हो, परन्तु वह निर्द्वन्द होने से चक्रवर्ती से भी अधिक सुख को अवश्य भोगेगा और शरीर त्यागने के पीछे तो विष्णु के परम पद को ही प्राप्त कर लेगा, क्योंकि सत्त्व का ऐसा ही महात्म्य है।

(४)

भीष्म जी शर शय्या पर पड़े हुए थे, शिर नीचे को लटक रहा था। भीष्मजी ने तकिया लगाने को और जल पिलाने को दुर्योधन को आज्ञा दी। दुर्योधन पानी और तकिया लेकर दौड़ा। भीष्मजी ने मूर्ख कह कर उसे रोक दिया और अर्जुन से ही वस्तु मांगी। अर्जुन ने तुरन्त ही एक बाण भीष्म जी के शिर के नीचे मारा, वह बाण शिर में लग कर पृथ्वी में गड़ गया और भीष्मजी को तकिया हो गया, पश्चात् अर्जुन ने एक बाण पृथ्वी में मार कर उसमें से तुरंत पाताल का जल निकाल भीष्मजी को पिलाया तब वे सन्तुष्ट हुए। यह सब सत्त्व का महात्म्य है।

(५)

एक राजपुत्र के हाथ में विषैला विस्फोटक हो गया था। डाक्टर उसको चीरने की इच्छा से राज-पुत्र को मूर्छित करने की औषधि सुंघाने लगा। राजपुत्र के आग्रह से बिना दवा सुंघाये ही फोड़े को चीर डाला। राजपुत्र ने बिना किसी व्याकुल हुए फोड़ा चिरवा लिया। तब डाक्टर उसके सत्व की प्रशंसा करने लगा।

(६)

कुन्ती भगवान् से दुःख देने को ही प्रार्थना किया करती थी और कहा करती थीः—
कुन्ती—हे मधुसूदन! सुख की अपेक्षा दुःख हजार गुणा श्रेष्ठ है, क्योंकि सुख में मनुष्य आप

को भूल जाता है और दुःख में मनुष्य निरन्तर आपका स्मरण करता है इसलिये हे प्रभो! ऐसा वरदान दीजिये कि मुझे सर्वदा विपत्तियां ही हुआ करें।

(७)

एक भक्त भगवान् की इस प्रकार प्रार्थना किया करता :—

भक्त – हे देवों के देव! आप जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं, आपके कर्म को मनुष्य समझ नहीं सकता। मरने से प्रायः सब ही डरते हैं परन्तु मृत्यु भी आपका एक प्रकार का उपकार है, उपकार ही नहीं, परम उपकार है। जैसे मनुष्य दिन भर काम करने से थक कर जब रात्रि को विश्राम करने पर थकावट दूर हो जाती है निद्रा के आनन्द भोगता है। इसी प्रकार आयु भर कर्म करते २ थका हुआ मनुष्य मरने के पीछे कुछ काल के लिये दुःख रहित हो जाता है। यदि मनुष्य जीते जी मर जाय, तब तो वह कभी मरे ही नहीं, सर्वथा के लिये अमर हो जाय। क्योंकि मन का जीना बन्धन है और मन का मर जाना मोक्ष है, ऐसा विद्वानों का मत है, जहां मनुष्य जीते जी मरा कि अमर हुआ।

जाग्रत अवस्था में सोते हुये के समान अथवा मरे हुए के समान काम करने से दुःख नहीं व्यापता, इसलिये मैं देह नहीं हूँ। किन्तु देह से भिन्न देह का साक्षी शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त, निर्विकार, निष्फल, निरंजन आत्मा हूँ। ऐसा विचार करते ही जैसे भोजन करते ही भूख भाग जाती है। उसी प्रकार दुःख भाग जाता है, इसलिये श्रेयाभिलाषी को मैं देह नहीं हूँ किन्तु निर्विकार आत्मा हूँ, ऐसा निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। सच कहा है:—

(कुंडलिया)

देही सम निःशोक है, देह विषम भयमूल।
ऐसा करते भाव जो, करें शोक निर्मूल॥
करें शोक निर्मूल, मोह भी कभी न करते।
सब चिन्तायें छोड़, स्वस्थ मन सदा बिचरते॥
तजें देह अभिमान, धन्य ज्ञानी हैं वेही।
भोला! मत भज देह, नित्य भज सादर देही॥

(श्री भोलेबाबा)

कल्याण-प्रद उपदेश ।

मनुष्य के जीवन के ध्येय के विषय में पहिले विस्तार से वर्णन हो चुका है, अब संक्षेप में थोड़ा सा और विवरण करते हैं—

मनुष्य-जीवन का ध्येय है परम कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति । मुक्ति का मार्ग वही बतला सकते हैं जो मुक्त हो चुके हैं । भगवान् के परम धाम का पथ उन्ही को ज्ञात है जो भगवत्कृपा से वहां पहुंच चुके हैं । इसलिए मोक्ष या भगवत्प्राप्ति के इच्छुक साधक जन तत्व ज्ञानी, भगवत्प्राप्त महा पुरुषों की खोज कर उनकी शरण लेते हैं और उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर भगवान् के धाम तक पहुंचने का यत्न करते हैं ।

ऐसे ही तत्वज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मागण 'सद्गुरु' कहलाते हैं । गुरु उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी ऐसी नई बात को सीखे, जिसको वह नहीं जानता । इस नाते मनुष्य सभी को गुरु मान सकता है । अवधूत दत्तात्रेय ने इसी दृष्टि से चौबीस गुरु बनाये थे । परन्तु सद्गुरु इन सारे गुरुओं से विलक्षण होता है । वह सत्-परमात्मा के पथ को जानता है, इसी से मनुष्य उस सद्गुरु को परम गुरु मान कर सब कुछ उसके चरणों पर न्योछावर कर देता है क्योंकि वह उस सद्गुरु से ऐसी चीज़ पाता है, कि जिसके सामने संसार की सभी चीजें, सभी स्थितियां बहुत ही कम कीमत की और अत्यन्त तुच्छ हैं ।

सद्गुरु ही गोविंद को मिलाता है, सद्गुरु ही शिष्य के दुःखों को अशेष हरण करता है, इसीलिए शिष्य की दृष्टि में सद्गुरु ईश्वर से बढ़ कर सेव्य है । इसी से शास्त्रों और सन्तों ने सद्गुरु की अपार महिमा गाई है और गुरु-शरणागति के बिना भगवान् की प्राप्ति को अति दुर्लभ—असम्भव कहा है । बात भी अक्षरशः सत्य है; अनुभवी मार्ग-प्रदर्शक गुरु ही शिष्य को माया के दुर्गम पथ से पार कर लक्ष्य स्थान पर ले जाने में समर्थ है । ऐसे समर्थ गुरु की जितनी पूजा हो, जितना सम्मान हो, जितनी भक्ति की जाय, उतनी ही थोड़ी है; क्योंकि ऐसे गुरु का बदला तो कभी चुकाया ही नहीं जा सकता । ऐसे गुरु का द्रोही नरकगामी न हो तो दूसरा कौन होगा ? और ऐसे सद्गुरु की शरण न लेने वाले से बढ़ कर मूर्ख और मंदभागी भी और कौन होगा ?

तत्वज्ञानी गुरु के बिना परमात्मा का तत्व कौन बतलावे ? इसलिये गुरु की आवश्यकता है और गुरु-सेवा का महत्व है । यही गुरु-भक्ति का रहस्य है । परन्तु ऐसे सद्गुरु सभी नहीं बन सकते । लोगों के जीवन को लेकर खेलना साधारण बात नहीं है । यह बहुत ऊंचे अधिकार की बात है । वस्तुतः परमात्मा के रहस्य को सम्यक् प्रकार जानने वाले महापुरुष ही सद्गुरु-पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं । इसी से श्रुति ने 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरु के समीप जाकर उनसे ज्ञान सीखने की आज्ञा दी है । जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे अन्धे को मार्ग कैसे दिखला सकता है ? वह तो स्वयं गड्ढे में गिरेगा और जिन्होंने अपनी लाठी उसे पकड़ा रक्खी है, उनको भी गिरावेगा । आज भारतवर्ष में यही हो रहा है । भोग-विलास में लगे हुये लोग, इन्द्रिय-विषयों में आसक्त मनुष्य परमार्थ पथ के प्रदर्शक गुरु बन गये हैं, इसका परिणाम

घोर नरकाग्नि में आहुति पड़ने और उसके अधिकाधिक प्रज्वलित होने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये तीन ही भगवत्प्राप्ति के प्रधान मार्ग हैं। योग तीनों में साथ है, इसी से ये कर्म योग, भक्ति योग और ज्ञानयोग कहलाते हैं। भक्ति को भगवत्-कर्म में सम्मिलित करने पर कर्म-योग और ज्ञान-योग ये दो ही निष्ठायें रह जाती हैं। इन मार्गों से चल कर परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए पुरुष यथार्थ कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी हैं, इसी प्रकार के तरे हुए महा पुरुष संसार-सागर में गोता खाते हुए जीवों को तराने में समर्थ होते हैं। जब तक विषयों में राग रहता है, तब तक मनुष्य वस्तुतः न तो निष्काम कर्म का आचरण कर सकता है, न भक्त हो सकता है और न ज्ञान-मार्ग पर ही चल सकता है। राग या आसक्ति से ही कामना उत्पन्न होती है, कामना वाला मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता। विषयों का प्रेमी या विषयासक्त पुरुष अद्वैत परमात्मतत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता। तीनों ही मार्गों के लिये सबसे पहिले विषय-वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है। वैराग्य की भित्ति पर ही निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान की सुन्दर सुदृढ़ इमारत खड़ी हो सकती है। दिखलाने के लिये किये जाने वाले विषय वैराग्य हीन कर्मयोग, भक्ति और ज्ञान से तो प्रायः पतन ही होता है। वैराग्य ही परमार्थ-साधन का प्राण है।

स्वरूप से विषयों को छोड़ कर कठिन संयम और नियमों का पालन करते हुए भी मनुष्य जब विषयों के वश में हो जाता है बड़े-बड़े साधु, महात्माओं को भी जब कामिनी-काञ्चन से और मान-बडाई से सर्वथा पिण्ड छुड़ाने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तब उन लोगों के पतन होने में क्या आश्चर्य है जो रात-दिन भोगों में रचे-पचे रहते हैं, धन कमाते हैं, सञ्चय करते हैं, भेंट लेते हैं, झमेलों में बुरी तरह उलझे रहते हैं, राजाओं का सा टाट-बाट रखते हैं, माल-मलीदा खाते हैं। इत्र-फुलेल लगाते हैं, गहनों-कपड़ों से दिन-रात शरीर सजाने में लगे रहते हैं, नाटक-सीनेमा देखते हैं, वेश्याओं के नाच-मुजरे सुनते हैं, शृङ्गार के ग्रन्थ और अश्लील उपन्यास पढ़ते हैं, राजसी-ठाट से काश्मीर और नैनीताल की सैर करते हैं, स्वयं भगवान् बन कर सेवक-सेवकाओं से पैर पुजवाते हैं, खुशामदियों से घिरे रहते हैं और अभिमान के मद में चूर रहते हैं।

परमात्मा को प्राप्त करने की आशा से ऐसे मोह-जाल-समावृत, विलास विभ्रम-रत, अनेकचित्त-विभ्रान्त, स्वेच्छाचारी, काम-भोग परायण लोगों को गुरु मानना या गुरु बनाना और श्री गोविन्द को छोड़ कर गोविन्द की प्राप्ति के लिये इनकी पूजा करना वस्तुतः मोह ही है। ऐसे लोगों से परमार्थ की आशा ही क्यों कर की जा सकती है ? जो भगवान् के नाम पर भोगों की सेवा में लगे हुए हैं, जिनके हृदय में नन्दनन्दन की जगह धन और पार्थिव रूप बसा हुआ है, वे माया-मोहित प्राणी लोगों को माया से मुक्त कैसे कर सकते हैं ? ईश्वर के नाते तो प्राणी मात्र को ही प्रणाम करना धर्म है परन्तु सद्गुरु समझ कर परमात्मा को प्राप्त करने की आशा से ऐसे लोगों के पैर पूजने और इनसे कानों में मंत्र फुकवाने में सिवा हानि के तनिक भी लाभ नहीं है।

कान में मंत्र फूँकने से ही उद्धार नहीं हो जाता। उद्धार होता है दो उपायों से—सद्गुरु-प्रदत्त मंत्र के सम्यक् विधिवत् अनुष्ठान से अथवा भगवत्कृपा प्राप्त शक्ति सम्पन्न सद्गुरु की तपः शक्ति से। सम्भवतः इन्हीं

दोनों कारणों से ईश्वर स्वरूप, तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषों से मंत्र ग्रहण करने की प्रथा चली होगी, जो इस दृष्टि से वस्तुतः बहुत ही लाभकारी थी; परन्तु आज ऐसे सद्गुरुओं का प्रायः अभाव है। आज गली-गली में डोलने वाले लाखों गुरुओं में बहुत ही थोड़े ऐसे सच्चे सद्गुरु होंगे। ऐसी स्थिति में कान फुँकवाने और केवल जिस किसी को गुरु मानने से ही उद्धार हो जायगा, ऐसी धारणा रखने वाले मनुष्य बहुत अंश में ठगे ही जाते हैं। क्यों कि न तो मंत्रदान करने वाले लोग स्वयं मंत्र में या मन्त्र के देवता में श्रद्धा रखते हैं; (रखते होते तो वे उसी के परायण होकर रहते) न शिष्यगण साधन करने का श्रम उठाना चाहते हैं और न मन्त्रदाताओं में ही वह शक्ति है कि जिसके प्रभाव से मन्त्र देते ही अपने आप शिष्य का उद्धार हो जाय। मंत्रदान का अर्थ मार्ग बतलाना ही है, कान फूंकना नहीं।

गुरु या मार्गदर्शक की जरूरत तो सब को रहती ही है, इससे अपने मन में किसी को गुरु मानने में आपत्ति नहीं परन्तु आज के बिगड़े काल में किसी के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने के पहिले, आत्मसमर्पण करने के पूर्व कुछ समय तक, परीक्षा के भाव से नहीं, किन्तु साधना के भाव से उसके बताए हुए साधन को और उसके संग को करके देखे। यदि दैवी सम्पत्ति में वृद्धि हो या कम-से-कम आसुरी सम्पत्ति के भाव न बढ़ें तो ठीक है, यदि उसके संग से आसुरी सम्पत्ति बढ़े, काम या लोभ की जागृति हो तो सावधान हो जाय। जो गुरु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रीति से धन या स्त्री की मांग करे, उससे तो अवश्य ही सावधान हो जाय।

भारतवर्ष में आज भी सच्चे साधुओं का और ईश्वर-प्राप्त महा-पुरुषों का अभाव नहीं है। तीव्र उत्कण्ठा से साथ सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् से ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिये। यदि आपकी अभिलाषा सच्ची और तीव्र होगी तो सच्चे सन्त अवश्य ही मिलेंगे। अधिक क्या, स्वयं भगवान् को सन्त बन कर आपको उपदेश प्रदान करने के लिए आना पड़ेगा।

ईश्वर का सतत् स्मरण, अपने अन्दर सद्गुणों की वृद्धि और भोगों से वैराग्य, इन तीन बातों को बढ़ाते रहिये। ईश्वर के राज्य में अन्याय नहीं होता। यदि आपकी सच्ची साधना होगी तो आपकी स्थिति के अनुसार आपको सद्गुरु अवश्य मिल जायँगे।

गुरु में भक्ति और श्रद्धा अवश्य करनी चाहिये। जो गुरु का भक्त नहीं होगा, वह भगवान् का भक्त कैसे होगा। परन्तु इस गुरु-भक्त का आरम्भ गुरु जनों की, माता,पिता की भक्ति से करना चाहिये। जो माता-पिता को नहीं मानता वह गुरु और भगवान् को सहज में नहीं मानेगा। उदाहरण देकर माता-पिता की आज्ञा न मानने का समर्थन करना सहज है परन्तु प्रह्लाद बनना बड़ा ही कठिन है। प्रह्लाद या भरत के लिए पिता-माता की आज्ञा का उल्लंघन करना धर्म था, परन्तु विषयानुरागी, स्वार्थी हठी, लोभी और क्रोधी मनुष्य का वैसा करने जाना पतन के स्रोत में ही बहना है।

जो मनुष्य सदाचारी है, दैवी-सम्पदा को बढ़ाने में सदा तत्पर है, माता-पिता-गुरुजनों का आज्ञाकारी है, सदा सत्य बोलता है, क्रोध नहीं करता, ब्रह्मचर्य का पालन करता है, संयमी है, तपस्वी है, स्वधर्मपरायण है, दुखी-दीन प्राणियों की सेवा में तन, मन, धन से लगा रहता है, दया और प्रेम से जिसका

हृदय छलकता है, जो दूसरों की भलाई के लिए स्वार्थ का त्याग प्रसन्नता से करता है, परार्थ में ही स्वार्थ समझता है, भोग विषयों में अनासक्त है और आठों पहर यथासाध्य भगवान् का स्मरण करता है तथा प्राणी मात्र में परमात्मा को देख कर सब का सम्मान करता है। वही पुरुष यथार्थ आत्मोन्नति कर रहा है। ऐसे पुरुष का सङ्ग सदा ही मङ्गलकारक है, चाहे वह मुक्त न हो। ऐसे पुरुष को गुरु मानने में या उससे सत्-शिक्षा और सत्यपरामर्श होने में सदा लाभ है। वह मुक्त होगा तो ठीक मुक्ति धाम तक पहुँचा देगा। अन्यथा, जहाँ तक पहुँचा है, वहाँ तक तो आगे बढ़ा कर ले ही जायगा।

"शिव" (कल्याण से)

अथ शिवपूजा-शतकम्

शिव पूजात्मकं कर्म कर्मनिर्मूलनक्षमम्।
संकल्पः शिवपूजायाः सर्वसंकल्पदुःखहृत् ॥ १ ॥

(सामान्य नियम यह है कि कर्म से प्राणी बन्धन में पड़ जाता है परन्तु) शिव पूजा नाम का कर्म तो कर्मों को उखाड़ फेंकने में समर्थ है। इसी प्रकार सामान्यतया संकल्पों से दुःख ही दुःख उत्पन्न होते हैं परन्तु) शिव पूजा का संकल्प तो संकल्पों से होने वाले समस्त दुःखों को ही हर लेता है।

जब सम्पूर्ण वृत्तिरूपी पुष्पों से इस सदाशिव आत्मदेव की पूजा की जाती है अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति कर ली जाती है तो इस कर्म का यह प्रभाव होता है कि इस वृत्ति के करने में जो जो कर्म विघ्न डाला करते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। उनके साथ ही उन सब का कारण मूलाज्ञान तथा उससे उत्पन्न हुआ कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण संकट एकाएक-(एक साथ) नष्ट हो जाता है।

यदि कोई अधिकारी इस सदा शिव आत्मदेव की पूजा का संकल्प भी कर लेता है तो उस संकल्प का ही इतना अद्भुत प्रभाव होता है कि संकल्पों से पैदा होने वाले उसके समस्त दुःख स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं।

इसका दूसरा भाव यह भी है कि सृष्टि के प्रारम्भ में इस समस्त जगत् को बनाने के लिये जो कि एक बड़ा संकल्प किया गया था—जिसको 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' इत्यादि शब्दों में कहा गया है—जगद्धाता की उस बड़ी भूल से इस संसार में जो कि दुःखों के बड़े बड़े ढेर उत्पन्न हो गये हैं इस शिव पूजन के प्रभाव से वे सब दुःखों के ढेर एकपदे ही न मालूम कहाँ उड़ जाते हैं। इसलिये मुमुक्षु लोग शिवपूजा करें या कम से कम इसका संकल्प तो कर ही लें।

शिवपञ्चाक्षरी दीक्षा शब्दब्रह्ममयी हिता ।
शब्दब्र मणि निष्णातः परं ब्रह्मादिगच्छति ।२॥

शब्द ब्रह्म ❀ के रूप में संसार में अवतीर्ण हुई यह शिवपञ्चाक्षरी + दीक्षा (विद्या) मुमुक्षु लोगों के बड़े ही लाभ की वस्तु है। क्योंकि जब कोई अधिकारी शब्द ब्रह्म में पारंगत हो जाता है (ध्यान आदि के द्वारा प्रणव के अर्थ (ब्रह्म) में रत हो जाता है। किंवा ओंकार के अर्थ ब्रह्म नामक पदार्थ का चित्र अपने मानस नेत्रों के सामने अनायास खड़ा कर लेता है) तब उसके पश्चात् उसको परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है— वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है। मुमुक्षु लोग इस विद्या को अवश्य ही अंगीकार करें।

तिस्त्रो रेखा विभूतेस्तु श्रद्धा भक्तिविरक्तयः ।
पूजाधिकार सिद्ध्यर्थं, धार्याः स्वाङ्गेषु शाम्भवैः ॥३॥

जीव को उसका भूला हुआ ब्रह्म ज्ञान फिर प्राप्त हो जाय यही एक बड़ी भारी विभूति कहाती है। (इस) विभूति की श्रद्धा, भक्ति तथा वैराग्य ❀ नामक तीन रेखायें मानी गयी हैं। शाम्भव शम्भु नामक सदाशिव आत्मा के उपासक मुमुक्षु लोगों को चाहिए कि वे अपने (वृत्तिरूपी) अंगों में पूजा करने का अधिकार सिद्ध करने के लिए इन तीनों रेखाओं को सदा ही धारण किये रहें।

तीनों रेखाओं को धारण करने से ही उनकी आगे वर्णित पूजा करने की योग्यता सिद्ध हो सकती है अन्यथा नहीं। लौकिक विभूति को मलना छोड़ कर यही अलौकिक विभूति शिव के भक्तों को अपने वृत्तिरूपी अंगों में मल लेनी चाहिए।

रुद्रा भरणमुद्रास्तु धार्या रुद्राक्षमालिकाः ।
देवो भूत्वा यजेद्देव मितीयं शाश्वती श्रुतिः ॥४॥

पहले तुम देव बन लो और फिर देव (चिन्मात्रदेव आत्मा) का भजन करना प्रारम्भ करो। यह शाश्वत उपनिषद् में कहा है। इसलिए पहले रुद्राक्षमालाओं को, जो कि रुद्र के आभरण तथ रुद्रा की मुद्रा हैं धारण करलो।

❀ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इत्यादि श्रुतियों में वाच्य और वाचक (शब्द और अर्थ में अभेद मान कर प्रणव को ही ब्रह्म माना गया है। वह प्रणव शब्द रूप होता है इससे उसको ब्रह्म भी कहते हैं।

+ 'ओम् नमः शिवाय' यह शिव पंचाक्षरी दीक्षा कहाती है।

❀गुरु या वेदान्त के वाक्यों में विश्वास 'श्रद्धा' कहाती है, इसकी सहायता से जीव को अपने में ब्रह्मत्व की स्मृति हो जाती है। गुरु में तथा, ब्रह्म के अभेद में स्वाभाविक प्रेम को 'भक्ति' कहते हैं' यह भी अपने ब्रह्म भाव के स्मरण का कारण होता है। आत्मा से भिन्न विषयों में विरसता "वैराग्य" कहा जाता है, उससे भी अपने ब्रह्मभाव का स्मरण हो आता है। तीनों ही ब्रह्माकारवृत्तिरूपी विभूति के आवश्यक अंश हैं इनके बिना ब्रह्मभाव का स्मरण होता ही नहीं।

पूजा के उपयुक्त वायुमण्डल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि रुद्र नामक अहंकार के ससंगत्व तथा दुःखित्व आदि स्वभाव को भुला दिया जाय और असंगत्व तथा आनन्द आदि धर्मों को प्रकट करने वाली शाम्भवी आदि मुद्राओं को ही शम्भु के पहनने की रुद्राक्ष-माला समझ कर उसे अपने वृत्तिरूपी अंगों में धारण कर लिया जाय। ऐसी अलौकिक तीन विभूति रेखाओं तथा ऐसी अलौकिक रुद्रमालाओं को धारण कर लेने पर जब तुम साक्षात् रुद्र हो जाओगे तभी रुद्र भगवान् का सफल पूजन कर सकोगे।

अर्थ पूजाक्रमः—

पूजा के सम्पूर्ण साधनों को बताने के अनन्तर अब पूजा का क्रम अथवा उसका अनुष्ठान करने की पद्धति बताई जाती है—

यद्यपि शैव-तन्त्रों में जहां तहां मणि आदि अनेक प्रकार के शिवलिंग बनाने की बात कही है, परन्तु मिट्टी के लिंग का ही सबसे अधिक माहात्म्य होता है। इसलिए मृण्मय लिंग ही बनाना और पूजना चाहिये। उसके लिये जिस अलौकिक मृत्तिका की आवश्यकता होती है, वही इस अग्रिम श्लोक में बताई जाती है:—

आकाराः कल्पिता यस्यां ब्रह्माद्याः स्थिरजङ्गमाः।
तन्मृत्तिकामयं शैवैः शिवलिंगं प्रपूज्यते ॥५॥

जिस (अलौकिक ब्रह्मरूपी) मिट्टी में ब्रह्मा से लेकर क्या स्थावर क्या जंगम सभी आकृतियें (लौकिक घड़े की तरह) कल्पना मात्र से बना डाली गई हैं, शैव लोग ऐसी उस (ब्रह्ममयी) अद्भुत मिट्टी के बने शिवलिंग को ही पूजते हैं।

तत्र प्रथमं 'हराय नम' इति मृत्तिकाग्रहणम्।

सब से प्रथम 'हर के लिये नमस्कार' यह कह कर मिट्टी उठानी चाहिये।

इस सब द्वैत-जाल को एक दम हर लेने वाले परमात्मा को, जो समस्त द्वैत जाल की बाधा करने पर भी शेष रह ही जाता है, हमारा साष्टांग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम ऐसे गिरें कि आठ प्रकृति-रूपी ❀आठ अंगों से युक्त परमेश्वर की तथा परमेश्वर सहित हमारे जीव भाव की पूर्णरूप से नास्ति हो जाय। इस प्रणिपात के पश्चात् इन दोनों का चिन्ह कहीं भी देखने को न मिले। ये दोनों कहीं खोजने पर भी हाथ न आयें। ऐसी गंभीर अवस्था में प्रवेश कर जाना ही इस पूजा में लिंग बनाने के लिये मिट्टी उठाना कहा जा सकता है।

मृत्सत्या यच्छरावास्तु श्रुता ब्रह्माण्डकोटयः।
हराय नम इत्येवं ग्राह्या सा मृत्तिका बुधैः ॥ ६ ॥

❀ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार से आठ प्रकृतियां कहाती हैं।

सत्य (अर्थात् त्रिकालबाधित) ब्रह्म ही (सकल द्वैत का उपमर्दन करने वाली) मृत्तिका कहाती है। (मृत्तिका तो उसे इसलिये कहते हैं कि) ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्मरूप मृत्तिका के शरावों के समान अति तुच्छ कार्य हैं। (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि श्रुतियों में यही बात प्रतिपादित की गई है) बुध अर्थात् विवेकी लोगों को उचित है कि उस मृत्तिका नामवाली ब्रह्मरूप स्थिति को ही 'हराय नमः' इस मन्त्रार्थ का विचार करते हुए ग्रहण कर लें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो शिवलिंग बनाने के लिये मृत्तिका ही उनके हाथ न लगेगी और फिर उनकी पूजा का भ्रंश हो जायगा)।

महेश्वराय नम इति लिंगसंघट्टनम्।

महेश्वर के लिये नमन इस विचार को लेकर लिंग का निर्माण करना चाहिये।

जो ब्रह्म मायोपाधि से बाहर है, अन्तर्यामी आदि का भी आरोप जिसके आधार पर ही कर लिया गया है, ऐसे उस सर्वेश्वर को (उसी सर्वेश्वरता पर अपना पूर्णाधिकार जमाने के लिये) हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम हो। इस प्रणाम को करते हुए हम बेसुध होकर ऐसे गिरें कि वह हमारा अष्टाङ्ग सहित परमेश्वर तथा ईश्वर सहित जीवभाव सर्वथा नष्ट हो जाय। इस प्रणिपात का यह प्रभाव हो कि हम गिरने वाले तथा हमारे गिरने की भूमि वह परमेश्वर, कोई भी इस अतीत गाथा को कहने के लिये शेष न रह जाँय। ये सर्व गाथायें अनन्तकाल के लिये विलीन हो जाँय। इस प्रकार क्रमानुसार गम्भीरतर तथा गम्भीरतम होते चले जाना ही इस शिव पूजन में 'लिंग संघट्टन' अथवा लिंग निर्माण कहाता है। जब किसी को ऐसा लिंग निर्माण करना आ जाय तो हम कहेंगे कि उसे ब्रह्माकार वृत्ति करना भी आगया और ब्रह्म के साथ एकता सम्पादन करने की कला भी उसके हाथ लग गई है।

अखण्डाकारवृत्तिस्तु वेदान्ते या निरूपिता।
नमो महेश्वरायेति लिंगसंघट्टनं हि तत् ॥ ७ ॥

वेदान्त में जिस अखण्डाकार वृत्ति का वर्णन किया है, जब किसी ज्ञानी में वह वृत्ति रहने लगे तो 'नमोमहेश्वराय' इस भाव लहरी में बहते ही (उसमें ऐसा बहने वाला भाव (नम्रता) आता है कि उसका कहीं भी पता ही नहीं रहता। उसका जीवभाव वहीं पलायन कर जाता है) उसी में समा जाने वाली, सर्वथा तन्मय हो जाने वाली, यह नम्रता ही सच्चा 'लिंगनिर्माण' कहाता है।

इस मंत्र का विचार करते करते जब ऐसी अवस्था का प्रादुर्भाव हो जाय कि ब्रह्म का लिंग यह जगत् फिर कभी भी उससे पृथक् न दीख पड़े (यह ब्रह्माकारवृत्ति फिर कभी भी उससे छूट न सके) तब कहा जायगा कि ब्रह्म के साथ एकता का सम्पादन करने के मुख्य मार्ग पर उसने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया है।

शूलपाणये नम इति प्रतिष्ठापनम्।

शूलपाणि अर्थात् (शान्ति वैराग्य तथा बोध नाम के तीन तीक्ष्ण शूलों से मिल कर बने हुए ज्ञानशूल को सदा ही अपने हाथ में लिए हुए) गुरुदेव को (उनके गुरुरूपी ब्रह्मत्व को भी प्राप्त करने के लिये) हमारा साष्टाङ्ग प्रणाम हो। यही तो इस पूजा में 'प्रतिष्ठापन' कहाता है।

त्यक्त्वा सम्भानां तद्वद्विपरीतत्वभावनाम् ।
शूलपाणिः प्रतिष्ठाप्यः पीठे निष्ठामये बुधैः ॥ ८ ॥

असम्भावना तथा विपरीत भावना को सर्वथा निकाल डालने के अन्तर बुद्धिमान् लोगों को उचित है कि अपने हृदय की अभेदनिष्ठा रूपी पीठ (चौकी) बना कर शूलपाणि (ब्रह्म से अभिन्न आत्म स्वरूप गुरुदेव) को उस को प्रतिष्ठित करदें अर्थात् बार बार विचार करें कि मैं, मेरा गुरु तथा वह परब्रह्म, तीनों अन्ततोगत्वा एक ही हैं। यही इस शिव पूजन में प्रतिष्ठापन कहाता है।

पिनाक धृते नम इत्यावाहनम् ।

ओंकार के अर्थरूपी पिनाक (धनुष) को जिन्होंने धारण कर रक्खा है उन गुरुदेव को प्राप्त करने के लिये वहाँ पहले जैसा साष्टांग प्रणिपात हो। यही इस शिव पूजन का 'आवाहन' कहाता है।

सर्वगस्यापि देवस्य भक्तिरावाहनं तव ।
आवाहयामि भक्त्या तमित्यावाह्यः पिनाकधृत ॥ ९ ॥

सर्वत्र व्याप्त हुए तुम आत्मदेव की भक्ति (सच्चिदानन्दरूप से स्वीकार) कर लेना ही तुम्हारा सच्चा आवाहन (समीप बुलाकर) कहाता है। मैं तो सर्वत्र परिपूर्ण तुम सदाशिव को सदा अपने समीप बुला कर बिठाये लेता हूँ। इस रीति से प्रणव नामक धनुष को धारण करने वाले ब्रह्म को सदा ही प्रत्यक्ष करते रहना चाहिये। ऐसा अलौकिक आवाहन ही इस शिवपूजन में उपयोगी हो सकता है।

अथ ध्यानम्

आवाहन के पश्चात् अब ध्यान को बताया जाता है:—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्जवलाङ्ग परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्
पद्मासीनं समन्तात्स्तुत ममरगणै र्व्याघ्रकृतिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पंचवक्त्रम् त्रिनेत्रम् ॥१०॥

देखने में चांदी के पर्वत के समान उज्जज्ज वर्णवाले, सुन्दर चन्द्रमा को अपने सिर पर भूषण की जगह धारण किये हुए, श्रेष्ठ रत्नों को पहनने के कारण जगमगाते हुए अंगों वाले, एक हाथ में परशु, दूसरे में मृग तथा तीसरे में वर को संभाल कर अभयदान देते हुए, चारों ओर घेर कर बैठे हुए देवों के समूहों से प्रशंसा पाये हुए, व्याघ्रचर्म को पहने हुए, इस समस्त जगत् के आदि कारण, इस समस्त विश्व के वन्दनीय, सम्पूर्ण भयों को अथवा सब लोगों के भयों हटाते हुए, पांच मुख तथा तीन नेत्र वाले, महेश को ही नित्य समझ कर उसका ध्यान किया करे। ध्यान श्लोक का यह लौकिक अर्थ हुआ।

अथास्य विवरणम्:—

इस ध्यान श्लोक का जो शिवपूजा में उपयोगी अर्थ है उसका वर्णन किया जायगा:—

तत्र ध्यायेदित्यादिपदत्रयस्य विवरणम् ।

ध्यान श्लोक के 'ध्यायेन्नित्यं महेशम्' इन तीनों पदों का विवरण सुनलो:—

अनित्ये नित्यं विरसा नित्ये नित्यं धृतव्रताः ।
नित्यं महेशम् ध्यायन्ति नित्यानित्यविवेकिनः ।११॥

इस अनित्य द्वैत प्रपञ्च के विषय में जो सदा ही उदासीन रहते हैं। इससे मिलने वाले किसी भी काल्पनिक सुख की ओर जिनका मन नहीं चलता। नित्य आत्मस्वरूप को अनुभव करने का जो सदा ही व्रत धारण किये रहते हैं (श्रवणादि के द्वारा इस नित्य आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का जो सदा ही गम्भीर प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे वे नित्यानित्य पदार्थों को पहिचानने वाले महापुरुष नित्य महेश्वर का सदा ही ध्यान करते हैं। यही तो शिव पूजन में ध्यान कहाता है।

अथ रजतगिरिनिभमित्यस्य विवरणम्—

अब 'रजतगिरिनिभम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

रजतस्य गिरिः शम्भुः शाम्भवानां परं धनम् ।
धनेन तेन पूर्णानां दरिद्रत्वं न विद्यते ॥१२॥

यह आत्म शम्भु आनन्दरूपी रजत के एक बड़े पर्वत हैं, शम्भु के भक्तों का यही परम धन है, इस धन से जो परिपूर्ण हों, वे कभी दरिद्र नहीं होते।

जैसे इस सकल प्रपंच का व्यवहार रजत अथवा सुवर्ण के आधार पर चलता है, इसी प्रकार यह सब जगत् व्यवहार आनन्ददायक पदार्थ से चल रहा है। जो कि रजत के समान ही सुख जनक है 'एष ह्येवानन्दयति एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। यही आत्मदेव सकल विश्व को आनन्दित कर रहा है। ये सम्पूर्ण प्राणी इसी आत्मानन्द की मात्रा (कण) का उपभोग कर रहे हैं। यह शम्भु उसी आनन्द रूपी रजत का एक बड़ा गिरि है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह आनन्द की एक बड़ी राशि है। यह सम्पूर्ण सुख उसी में से आ रहे हैं और जगत् में कर्मों के अनुसार बाँटे जा रहे हैं। सदाशिव आत्मदेव के भक्तों का परम गुह्य धन भी यही शम्भुदेव है। जो लोग इस आत्मधन के धनी बन जाते हैं उनकी फिर कभी दुर्गति नहीं होती। वे फिर कभी भी पामर प्राणियों की भाँति दीन नहीं बनते। तात्पर्य यह है कि रजत के समान सुखदायक होने के कारण, दुःखरूप दरिद्रता को नष्ट करने के कारण, आनन्दात्मा शिव को रजतगिरि के समान कहा गया है।

अथ चारुचन्द्रावतंसमित्यस्य विवरणम्---

अब 'चारुचन्द्रावतंसम्' इस पद का विवरण लिखा जाता है।

शुद्धात्मा शीतला कान्ता सूक्ष्मा बोधकला परा।
वक्रायते दुरापेयं चन्द्रचूडो विभर्ति ताम् ॥ १३ ॥

अत्यन्त पवित्र, शीतल, कमनीय, तथा सूक्ष्म यह बोध चन्द्र की कला बहुत ही दुरापा है। इसी से उसे वक्रा कहा जाता है। इस चन्द्रकला को धारण करने से ही योगी आत्मदेव को चन्द्रचूड कहा गया है।

इस स्त्री-पुत्रादि प्रपंच रागादि कलंक जिसमें सर्वथा नहीं है, जो स्वयं परम शुद्ध है, इसी परम शुद्धता के कारण जो परम शीतल (अर्थात् जो आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने वाली तथा स्वयं भी तीनों प्रकार के तापों से सर्वथा रहित) है जो मुमुक्षु लोगों को बड़ी ही कमनीय हो रही है, जो बड़ी ही सूक्ष्म है (क्योंकि प्रथम तो वह सूक्ष्म आत्मा को विषय करती है, तथा अन्य किन्हीं भी वृत्तियों से व्यवहित अथवा खण्डित नहीं होती) ऐसी वह सर्वोत्कृष्ट तथा प्रपंच से अतीत रहने वाली आत्मज्ञान रूपी बोध-कला (बोधरूपी चन्द्रमा का एक छोटा सा भाग) बड़ी ही कठिनता से किसी किसी बड़ भागी के हाथ लगती है। इसी कठिनता के कारण सम्प्रदाय में उसको चन्द्रमा की कला के समान वक्र माना गया है (उसकी दुरापता ने ही उसे वक्र कहला दिया है)। परम आह्लाद देने वाली, उस सूक्ष्म ज्ञानकला को ही जब कि वह सदाशिव अपने मस्तक पर धारण कर लेता है, तब उसको चन्द्रचूड़ नाम से कहा जाता है।

'अथ रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम् इत्यस्य विवरणम्---

अब "रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्" का व्याख्यान किया जाता है।

योग दीक्षामयान्येव बोधरत्नानि कानिचित्।
दधाति शङ्करोऽतोऽस्य रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गता ॥ १४ ॥

योग (ऐक्य) की वासनाओं से भरे हुए कुछ अनिर्वचनीय बोधरूपी रत्नों को धारण किये रहता है। इसी से उसका स्वरूप रत्न के समान उज्ज्वल हो गया है। [अपने को ज्ञानदान करने वाले उस उज्ज्वलाङ्ग परमात्मरूपी गुरुदेव की साधकों को पूजा करनी चाहिये]।

अथ परशुहस्तपद विवरणम्

अब 'परशुहस्तम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है:—

येन मोहवनं छिन्नं कदाचिन्न प्ररोहति।
स बोधः परशुस्तीक्ष्णो हस्ते रुद्रस्यवर्त्तते ॥ १५ ॥

जिस बोधरूपी खड्ग से (कामादि भयानक व्याघ्रों की निवास भूमि) इस मोह रूपी अरण्य को इस प्रकार समूल काट डाला जाता है कि फिर कभी भी उस में शाखायें नहीं फूटतीं, ऐसा वह विचित्र तीक्ष्ण परशु रूपी बोध, रुद्र नामक गुरुदेव के हाथ में सदा ही रहता है (अपने सांख्य नामक हाथ में यह ज्ञानी गुरुदेव सदा ही ज्ञानरूपी खड्ग को लिए रहते हैं और जिससे मोह रूपी बन की जड़ें काट कर फेंक देते हैं। उनकी इस अपार दया से सैकड़ों जीव मुक्ति को पा जाते हैं)।

अथ मृगहस्तपद विवरणम्

इस शिव पूजन पद्धति में शिव को मृगहस्त कहने का तात्पर्य बताया जाता है:—

धर्तुम् न शक्यते धीरै र्यो धृतोऽपि पलायते।
लीलयैव धृतो हस्ते शम्भुना स मनमृगः ॥ १६ ॥

धीर योगी लोगों के भी वश में जो नहीं आता, तथा वश में आ जाने पर कभी दूर से निकल भागता है, उसी मनरूपी अत्यन्त चंचल मन को शम्भु ने अपने योग नामक हाथ में बड़ी सरलता से पकड़ लिया है, अर्थात् उसे स्थिर कर के अपने वश में कर डाला है।

अथ बरदहस्तत्व विवरणं

अब शिव को बरदहस्त कहने का तात्पर्य बताया है।

वरार्थिभिर्वरेण्याय वृतो यैस्तु वरः स तम्।
वरं ददाति हस्तेन वरदस्तेन शङ्करः ॥ १७ ॥

जिन वरार्थी मुमुक्षु लोगों ने वरेण्य ब्रह्म सुख को पाने के लिये जिस (सदाशिव) को वरण किया है, उसी (ब्रह्मभाव किंवा मोक्षरूपी स्पृहणीय) वर को वह अपने हाथ से दूसरों को दिया करता है, इसी कारण से उस शङ्कर को वरण कहा जाता है, (वह समस्त स्वशरणगत जन्तुओं को सदा ही मोक्षरूपी वरदान देता रहता है)।

अथ अभीतिहस्तत्व विवरणं

अब शिव के 'अभीतिहस्तत्व' का विवरण किया जाता है।

मृत्यु र्बिभेति ब्रह्मापि मृत्युरेव भयं महत्।
तस्माद मृत्युरभयं हस्ते मृत्युञ्जयस्य तत् ॥ १८ ॥

स्वयम्भू ब्रह्मा भी मृत्यु से डरते हैं, इसीलिए सब से बड़ा भय मृत्यु ही है। परन्तु अमर तथा अभय नाम का परम पद तो मृत्युञ्जय गुरुदेव के (योग नामक) हाथ में रखा रहता है। तात्पर्य यह है कि योग करने से मृत्युरूपी द्वैत की प्रतीति सर्वथा बन्द हो जाती है।

अथ प्रसन्नमित्यस्य विवरणं

अब श्लोक में 'प्रसन्नम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं।

सिद्धिमेकामपि प्राप्य कश्चिदन्तः प्रसीदति।
निधानं सर्व सिद्धीनां प्रसन्नः सर्वदा हरः ॥ १९ ॥

जब कोई साधक किसी एक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब अपने मन में बड़ा ही प्रसन्न होता है, परन्तु सम्पूर्ण सिद्धियों का भण्डार वह हमारा शिव गुरु तो सदा ही प्रसन्नमुख (किंवा सुखरूप) बना रहता है।

अथ पद्मासीनमित्यस्य विवरणं

अब 'पद्मासीनम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

सतां हृदयपद्मेषु यदासीनः सदाशिवः।
अत एव हि वेदेषु पद्मासीन इतिरितः ॥ २० ॥

शिवरूपधारी गुरु (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) सत्पुरुषों के हृदयरूपी कमलों में सदा ही (प्रतीति के द्वारा) आसन आरूढ किए बैठा रहता है। यही कारण है कि श्रुतियों में उसको 'पद्मासीनं' कहा गया है।

अथ समन्तात् स्तुतममरगणैरित्यस्य विवरणं

अथ 'समन्तात् स्तुतमकरगणैः' इन तीनों पदों की व्याख्या की जाती है।

स्तुवन्ति देवान् मनुजास्ते देवा देवनायकान्।
देवदेवो महादेवः स्तूयते देवनायकै ॥ २१ ॥

साधारण मनुष्य तो (मरुत् प्रभृति) देवताओं की स्तुति किया करते हैं। वे देवता लोग देव-नायकों (इन्द्र ब्रह्मा आदि) का यशोगान करते हैं, परन्तु इन सब देवों के भी देव (चिन्मात्ररूप स्वयं प्रकाशक) महादेव की स्तुति तो देवनायक भी करते हैं। तात्पर्य यह है कि सब देवों का आत्मा होने से शिव ही पूरा स्तुत्य कहा जाता है।

अथ 'व्याघ्रकृत्तिवसानं' इत्यस्य विवरणं

अथ 'व्याघ्रकृत्ति वसानम्' इन दो पदों की व्याख्या करते हैं।

शङ्करेण किरातेन मोहव्याघ्रो निपातितः।
कटौकृत्तिस्वरूपेण पश्य तस्य निदर्शनम् ॥ २२ ॥

शङ्कररूपी किरात ने [आत्मा को भुलाने वाले] मोहरूपी व्याघ्र को [जो कि आत्मा के दुःख तथा भय का कारण बना हुआ था] मार गिराया है। उस [मार गिराने] का चिन्ह देखो कि उस मोह व्याघ्र की [दोनों देहों सहित चिदाभासरूपी] कृत्ति [चर्म] उस आत्म शंकर अहंकाररूपी कटि में बंधी हुई है।

तात्पर्य यह है कि स्वात्म-शिवरूपी गुरु ने मोहरूपी व्याघ्र को मार डाला है। यह बात उसके दोनों देहों सहित चिदाभास रूपी चर्म को केवल अहंकार में लटकता हुआ देख कर निश्चय कर लो। देखो कि उस शिवगुरु के दोनों देहों तथा उन देहों में परिच्छिन्न चिदाभास का अब उसके आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया है। वे तो अब केवल अहंकार के आधार पर ही जीवनयात्रा कर रहे हैं।

अथ विश्वाद्यम् विश्ववन्द्यमित्यस्य विवरणम्—

अब 'विश्वाद्यम्' 'विश्ववन्द्यम्' इन दो पदों का व्याख्यान किया जाता है।

विश्वकृद् विश्वरुपोऽसौ विश्वहृद् विश्वपालकः।
विश्वाद्यो विश्ववन्द्यश्च विश्वेशो गिरिजापतिः॥ २३॥

यह प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही इस सकल विश्व को बनाने वाला है। यह सकल विश्व ही उसका आकार है। इस समस्त विश्व का संहार भी वही करता है। इस सकल जगत् को [अपनी सत्ता, अपना चैतन्य तथा अपना आनन्द देकर] पालने वाला भी वही है। इस सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने वाला भी वही है। गिरि नामक मोह तथा उसके कार्य विक्षेप की सहायता से उत्पन्न होने वाली ब्रह्माकार वृत्ति रूपी गिरिजा का पति भी वही है। विश्व का कारण तथा विश्व का वन्दनीय भी वही है।

अथ निखिलभयहरमित्यस्य विवरणम्—

अब श्लोक के 'निखिलभयहरम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है।

श्रुति र्भयमिति प्राह द्वितीयाद्वै भयं भवेत्।
हरो हरति भक्तानां मुक्तिदो निखिलं भयम्॥ २४॥

"द्वितीया द्वै भयं भवति" भय का सिद्धान्त ही दूसरा है। क्योंकि भय दूसरे से ही हो सकता है। श्रुति ने बड़ी दृढ़ता के साथ द्वितीय को ही भय का कारण बताया है। अद्वैतरूपिणी मुक्ति को देने वाले तथा भक्तों के समस्त क्लेशों को निवारण करने वाले हर रूपी गुरुदेव अपने भक्त किंवा सेवक मुमुक्षु लोगों के सम्पूर्ण भय (अथवा भय के कारण द्वैत प्रपंच) को क्षण भर में विनष्ट कर डालते हैं।

अथ पञ्चवक्त्रमित्यस्य विवरणम्—

अब श्लोक के 'पञ्चवक्त्रम्' इस पद का व्याख्यान करते हैं—

ध्यायन्ति भक्ताः सर्वत्र सर्वेषामपि संमुखः ।
उन्मुखो विमुखानां यस्तस्य सा पञ्चवक्त्रता ॥ २५ ॥

भक्त मुमुक्षु लोग जहां तहां चारों दिशाओं में बैठ कर ध्यान करते हैं, यह सदाशिव उन सब भक्तों को सम्मुख ही दीखा करता है, परन्तु जिन भाग्यहीन लोगों को उस पर श्रद्धा नहीं है, उनसे तो सदा ही पराङ्मुख रहता है। यही तो उसकी पञ्चवक्त्रता कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि चारों दिशाओं में भक्तों को दर्शन देने के कारण तो वह चतुर्मुख होता है तथा भक्तिहीन लोगों से विमुख रह जाने के कारण उसको पञ्चवक्त्र कहा जाता है। यही उसके पाँच मुख कहाते हैं।

अथ त्रिनेत्रमित्यस्य विवरणम्—

अब 'त्रिनेत्रम्' इस पद का व्याख्यान किया जाता है—

कर्मोपास्ती उभे नेत्रे, ज्ञानं नेत्रं तृतीयकम् ।
ललाटे राजते यस्य, त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः ॥ २६ ॥

हे शिष्य ! कर्म किंवा उपासना ये ही तो दो नेत्र साधारण लोगों के पाये जाते हैं। तीसरा ज्ञान रूपी नेत्र तो कभी किसी महापुरुष का ही देखा जाता है। वह तीसरा ज्ञानरूपी नेत्र जिस गुरुदेव के ललाट में खुल गया हो, उसी के उस गुरुरूप शंकर को त्रिनेत्र कहा गया है। कर्म से पितृलोक, उपासना से देवलोक और ज्ञान से मोक्षधाम मिलता है।

[इति ध्यानम् ।]

यह ध्यान प्रतिपादक श्लोक का विवरण समाप्त हुआ है।

अथोपकरण विचार—

अब ध्यान के उपकारक उपाङ्गों का विचार किया जायगा।

तत्रादौ शुद्धस्फटिक सङ्काशताविचारः—

शिव को शुद्ध स्फटिक के समान बताया है। अब उसके कारण का विचार किया गया है।

निर्मले सर्वमेवेदं यदस्मिन् प्रतिबिम्बति ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशो नीरागः सोऽयमीश्वर ॥ २७ ॥

यह सम्पूर्ण जगज्जाल सदा ही प्रत्यक्ष रहने वाले उस निर्मल [सदाशिव] में ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। सकल जगत् के प्रतिबिम्ब वाला होने पर भी वह नित्य प्रत्यक्ष ईश्वर सदा ही नीराग बना रहता है।

जिस प्रकार स्फटिक पत्थर नीले पीले पदार्थों के समीप आ जाने पर नीला पीला सा प्रतीत होने को लगता है, परन्तु वस्तुतः उसमें कोई भी राग नहीं होता। इसी प्रकार वह आत्मतत्त्व भी, यद्यपि देखने में जगत् के पदार्थों के प्रतिबिम्ब वाला दीखता है, परन्तु तत्त्वविचार करने पर तो उसमें जगत् के पदार्थों का लेश मात्र भी सम्पर्क नहीं हो पाया। यह बात अनुभवी विद्वानों के ही अनुभव में आती है।

अथ कर्पूरगौरताविचारः—

अब शिव की 'कर्पूरगौरता' का अभिप्राय बताया जाता है।

यद्वासनाप्रसादेन सर्वा दुर्वासना गता।
स्वभावशीतला सेयं शिवेः कर्पूरगौरता ॥ २८ ॥

जिस शिव की वासना (भावना) के उत्पन्न हो जाने से अन्य सम्पूर्ण दुर्वासनाएँ निवृत्त हो गईं, ऐसी वह स्वात्मशिव-विषयक वासना स्वभाव से ही बड़ी शीतल है (इसके प्रभाव से तीनों प्रकार के ताप निवृत्त हो जाते हैं। यही तो हमारे स्वात्माशिव में कर्पूरगौरता कहाती है।

अथ दिगम्बरता विचारः—

शास्त्र तथा लोक में शिव को दिगम्बर कहा गया है। अब उनका तात्पर्य बताया जाता है—

निरावरण विज्ञानस्वरूपो हि स्वयं हरः।
स्वैरं चरति संसारे तेन प्रोक्तो दिगम्बरः ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण द्वैत जाल को हरने वाला शिव स्वयं यद्यपि आवरण रहित चैतन्य स्वरूप है, परन्तु फिर भी समष्टिरूपी तीनों देहों में स्वेच्छापूर्वक विहार करता रहता है, कहीं उलझता नहीं। इस प्रकार (तत्त्व दृष्टि से निरावरण होने के कारण ही) उसको दिगम्बरता को न समझ कर मूर्ख लोग शिव की दिगम्बरता का अर्थ नग्नता कर बैठते हैं।

अथ भस्मोद्धूलन विचारः—

लोक तथा लौकिक शास्त्रों में जहाँ तहाँ शिव के भस्म-लेपन की चर्चा की गई है, उस का गूढ़ तात्पर्य यहीं बतलाया जाता है:—

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते किल।
ते नैव भस्मना गात्रमुद्धूलयति धूर्जटिः ॥ ३० ॥

ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म (सात) कर डालती है, कर्मों की उसी भस्म से यह शिव अपने गात्र को पोता करते हैं।

जब कि शिव के हृदय में सकल कर्मदाहक आत्मज्ञानरूपी अग्नि जल उठती है, तब वह संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नामक सम्पूर्ण कर्मों को भस्म (सात) कर डालती है, यह बात "क्षीयन्तेचास्य कर्माणि" इत्यादि श्रुतियों में बताई गई है। वेदान्त, सांख्य तथा योग नामक तीन जटाओं को धारण करने वाला वह धूर्जटि उन्हीं कर्मों की भस्म को अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म नामक गात्रों में मले रहता है। जिस प्रकार भस्म से कोई काम नहीं निकलता, इसी प्रकार इन बाधित कर्मों से भी फिर किसी भोग की प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार वह कुछ न कुछ कर सकने वाली भस्म किसी के गात्र पर पुत रही हो, इस प्रकार ज्ञानी पुरुष में बाधित कर्मों की प्रतीति लौकिक दृष्टि से होती ही रहती है। इसी भाव को भस्मोद्धूलन जैसे गंभीर शब्द से निरूपण किया गया है।

भासते भिन्नभावानामपि भेदो न भस्मनि।
स्वस्वभावस्वभावेन भस्म भर्गस्य वल्लभम् ॥३१॥

भस्म बन जाने पर फिर भिन्न भिन्न पदार्थों का भी भेद नहीं रह जाता, तब तो वे सब एक रूप ही हो जाते हैं। भस्म का यह स्वभाव महादेव के स्वभाव से मिलता है। इसी कारण से शिव को भस्म प्यारी हो गई है।

अथ चन्द्रचूडता का विचारः—

अब शिव की चन्द्रचूड़ता का विचार किया जाता हैः—

नश्यन्त्यस्य कलाः सर्वाः सा कला नैव नश्यति।
पार्पिता शङ्करे भक्त्या चन्द्रचूडस्तया हरः ॥३२॥

इस चैतन्यरूपी चन्द्रमा की सारी कलाएँ नष्ट हो जाती हैं। केवल एक वही कला नष्ट नहीं होती, जिसको कि वह भक्ति-भाव से शङ्कर को अर्पण कर देता है। भक्त की दी हुई उसी कला को धारण करने से वह हर चन्द्रचूड़ हो गया है।

अंतःकरण की उपाधि में फँसे हुए चैतन्यरूपी चन्द्रमा की ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मनरूपी सोलह कलाएँ होती हैं। जिनके कारण कि पुरुष को चन्द्रमा की उपमा दी गई है। काल पाकर वे सब ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु उनमें से केवल एक वह कला कभी भी नष्ट नहीं होती, जिसको कि चैतन्य-रूपी चन्द्रमा, भक्ति के आवेश में आकर सकल जगदानन्ददायक परमात्मा को अर्पण कर देता है किंवा तदाकार बना देता है। कभी भी नष्ट न होने वाली उस (परमात्माकार चित्तवृत्तिरूपी कला को धारण करने के कारण ही परमात्मा को लोक किंवा शास्त्रों में जहां तहां चन्द्रचूड़ कहा गया है।

अथ जटाजूट विचारः--

अब शिव के जटाजूट का अभिप्राय प्रकट करते हैं।

मिश्रामोऽयं मुनीन्द्राणां पुरातनवटो हरः।
वेदान्तसांख्ययोगाख्याः तिस्रस्तज्जटः स्मृताः ॥३३॥

अनादिकाल से उगे हुये पुराने वट के समान यह हर, मुनीन्द्र लोगों के विश्राम लेने का स्थान बना हुआ है। उस सदाशिव आत्मदेव की वेदान्त सांख्य तथा योग नामक तीन जटाएँ कहाती हैं। (इन्हीं से सुशोभित हो रहा है।)

अथ गङ्गाधरत्वः—

शिव को 'गङ्गाधर' बताने का गूढ तात्पर्य—

ब्रह्मलोका च या गङ्गा सुषुम्णा शीतल द्रवा।
मस्तके राजते यस्य तेन गङ्गाधरो हरः ॥ ३४ ॥

ब्रह्मलोक में रहने वाली, आनन्दरूपी शीतल जल से भरी हुई, गङ्गा के समान पवित्र, सुषुम्णा नाड़ी जिस शिवगुरु के मस्तक में प्रकाशित हो जाती है, उसी के कारण उसको गङ्गाधर कहा जाता है।

अथ त्रिनेत्रताविचार—

अब शिव की त्रिनेत्रता का तात्पर्य बताया जाता है—

आप्यायन स्तमोहन्ता विद्यया दोषदाहकृत्।
सोमसूर्याग्नि नयन स्त्रिनेत्रस्तेन शङ्करः ॥ ३५ ॥

आप्यायन (अर्थात् अपने आनन्द का दान करके तर्पण करने वाला) होने से जो सोम के समान है। अज्ञानरूप वृत्ति से रागादि दोषों को भस्म (सात्) करने के कारण जो अग्नि के सदृश है। इन्हीं सब समानताओं के कारण उसको सोम सूर्य तथा अग्नि नेत्र वाला कहा जाता है। यही समानता देख कर शङ्कर को, लोक तथा शास्त्र में 'त्रिनेत्र' बताया जाता है।

उसके नेत्र होने का कारण लौकिक चन्द्रमा सूर्य तथा अग्नि नहीं है, अथवा ललाट के अग्नि नामक तीसरे नेत्र के कारण भी त्रिनेत्र नहीं कहा गया है। ऐसी त्रिनेत्रता का ज्ञान मार्ग में उपयोगी भी क्या हो ?

अथ नीलकण्ठता विचार—

अब शिव की नीलकण्ठता का तात्पर्य बताया जाता है—

कण्ठे ब्रह्माण्डनभसां गिलितानामनेकधा।
छाया स्फटिक संकाशे नीलकण्ठत्वकारणम् ॥ ३६ ॥

स्फटिक पत्थर में जिस प्रकार नील पीत आदि रङ्ग नहीं चढ़ते, किन्तु वह शुद्ध बना रहता है, उसी की तरह उपाधि के धर्मों से सदा ही असंपृक्त रहने वाले, सदाशिव परमात्मा के कण्ठरूपी एक देश में, तदा तदा निर्गीर्ण होने वाले ब्रह्माण्डों के मध्यवर्ती नीलाकाश का जो कि प्रतिबिम्ब पड़ गया है, उसी से इस शिव को नीलकण्ठ कहा जाने लगा है। (इसके अतिरिक्त उसकी नील कण्ठता का और कोई कारण नहीं है।

यद् ब्रह्माण्ड शरीरस्य श्यामलं पार्वतीयतेः।
कण्ठदेशे स्थितं व्योम नीलकण्ठ स्ततो हरः ॥ ३७ ॥

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (जगत्) ही जिसका शरीर है, समस्त ब्रह्माण्ड में अहंबुद्धि करने वाले उस पार्वती-पति विराट् के कण्ठ में जो श्यामता बताई जाती है, वह और कुछ नहीं है, वह तो केवल रिक्त (द्वैतहीन) आकाश ही है। उसी के कारण सकल द्वैत जाल को हरण करने वाले शिव को नीलकण्ठ कहा जाता है।

अब साकार शिवोपासकों के सिद्धान्तानुसार नीलकण्ठता का कारण बताया जाता है—

शङ्करेणाभ्रशुभ्रेण यद्विषाम्बु दयालुना।
कण्ठे धृतमतः कण्ठे नवाम्बुधर सुन्दरः ॥ ३८ ॥

यद्यपि शम्भु (स्वयं शरत्काल के निर्जल) मेघ के समान शुभ्र वर्ण के हैं परन्तु उन्होंने सकल प्राणियों पर दया करके (समुद्र-मन्थन के समय निकले हुए) विषजल को अपने गले में धारण कर लिया है, इसीलिये वे शिव, कण्ठ में नवीन मेघ के समान सुन्दर नीलवर्ण के हो गये हैं।

शुद्धस्फटिकसंकाशः स्थितोऽयं मन्दराचले।
इन्द्र लीला चलच्छाया नीलकण्ठत्व कारणम् ॥ ३९ ॥

देखने में शुद्ध स्फटिक के समान (शुभ्र वर्ण वाला) वह साकार सदाशिव मन्दर नामक पर्वत पर निवास कर रहा है। उसका निवास स्थान वह मन्दराचल पर्वत इन्द्रनील नामक मणियों द्वारा बना हुआ है। उस इन्द्रनीलाचल की छाया उसके शुभ्र-वर्ण शरीर पर पड़ती है, यों उनका कण्ठ नीला दीखने लगा है, यही उस शिव की नीलकण्ठता का मुख्य कारण है।

रामोऽस्य परमो भक्तः शङ्करो भक्तवत्सलः।
रामरत्नं धृतं कण्ठे नीलकण्ठत्व कारणम् ॥ ४० ॥

राम इस शिव का परम भक्त है, शङ्कर अपने भक्तों पर बड़ा प्यार करते हैं (इसी स्नेह के कारण) उसने नीले रङ्ग के रामरूपी (नीले) रत्न को गले में धारण कर लिया है, यही शिव की नीलकण्ठता का कारण है।

अथ भुजङ्ग भूषणता का विचार

अब शिव के भुजङ्ग भूषणता का विचार किया जाता है—

योगिनः पवनाहारा स्तथा गिरि बिलेशयाः ।
निजरूपे धृतास्तेन भुजङ्गभरणो हरः ॥ ४० ॥

प्राण नामक पवन को वश में करने वाले, गिरि अर्थात् तत्वज्ञान से गिरने वाले देहरूपी बिल में सोते हुए (अर्थात् शरीर की तरफ से उदासीन रहने वाले तथा परमात्म विषय में सदा सजग रहने वाले) योगि रूपधारी भुजङ्गों (सर्पों) को उसने अपने रूप में स्थापित कर लिया है, इसी कारण से उस हर को भुजङ्गाभरण कहा जाने लगा है।

जैसे सर्प पवनाहार तथा बिलेशय होते हैं इसी प्रकार योगी भी होते हैं। इसी समानता से योगियों को भुजङ्गों (सर्पों) की उपमा दी गई है।

काचित् कुण्डलिनी शक्तिः शङ्करेण वशीकृता ।
कुण्डलिन्या कुण्डलिनो देहाभरणतां गताः ॥ ४२ ॥

सब प्राणियों के शरीर में सुषुप्त अवस्था में रहने वाली कुण्डलिनी नामक जीवन्शक्ति को जगा कर शिव ने अपने बश में कर लिया है, उसी कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा ही सर्प लोग उसकी देह के भूषण बन गये हैं। क्योंकि वह शक्ति सर्पों के शरीर में भी निवास किये रहती है, (योग की प्रक्रिया से यह विचार किया है)।

अनन्त वासुकी शम्भोः कर्णकुण्डलतां गतौ ।
तत्प्रधानतयाऽन्येपि ख्याताः कुंडलिसंज्ञया ॥ ४३ ॥

अनन्त तथा बासुकी नाम के सर्प शिव के कर्णकुण्डल बन गये थे। वे दोनों सब सर्पों में प्रधान सर्प थे। इसीलिये (छत्रिन्याय से) शेष सर्प भी कुण्डली कहाने लगे हैं। (यह बात साकार उपासकों के मत से कही है)।

अथ त्रिशूल विचार

शिव के त्रिशूल का गूढ़ तात्पर्य बताया जाता है:—

शान्ति वैराग्य बोधाख्यैः त्रिभिरग्रै स्तरस्विभिः ।
त्रिगुण त्रिपुरं हन्ति त्रिशूलेन त्रिलोचनः ॥ ४४ ॥

आज्ञान को विदीर्ण करने में समर्थ शान्ति (अष्टाङ्गयोग से होने वाली उपरति, जिसके होने पर जगत् का भाव बन्द होने से व्यवहार भी बन्द हो जाता है) वैराग्य विषयों में दोष देख कर विषयों को त्यागने

ने की उत्कृष्ट इच्छा तथा योग्य पदार्थों में दीनता न रहना) तथा बोध (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जिसके होने पर स्वभाव से ही सत्य मिथ्या का विवेक हो जाय, जिसके प्रभाव से चिदात्मा तथा अहंकार की चिज्जडग्रन्थि खुल जाय और फिर कभी ऐसी उलझन उत्पन्न न हो। इन तीन अत्यन्त तीव्र फलक वाले त्रिशूल की मार से यह त्रिनेत्र सदाशिव सत्व, रज, तम नामक तीन गुणों से बने हुए (स्थूल सूक्ष्म तथा कारण नामक) तीनों पुरों (देहों) को एक पदे नष्ट कर देता है।

अथ डमरू विचार

शिव के डमरू का तात्पर्य बताते हैं:—

टनटंकार च्छलेनासौ शैवानां मुक्ति हेतवे ।
नेति नेति मुहुः प्राह डमरुः शाम्भवो हि सः ॥४५॥

शम्भु अथवा वेद में बताया गया डमरु शिव के भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिये 'टन् टङ्कार' शब्द के बहाने से बार बार नेति नेति यह उपदेश कर रहा है।

वह कहता है कि हे शिव भक्तो ! जिस द्वैत के माया मोह में तुम फंस रहे हो, जिसको तुम परम पुरुषार्थ समझे बैठे हो, जिसको तुम 'यत्परो नास्ति' सोच रहे हो, वह द्वैत तो कुछ नहीं है। उसकी तो कोई वास्ताविकता ही नहीं है। तुम अपने अमूल्य आयुष्य को व्यर्थ मत खोवो, तुम तो सर्वाधिष्ठान सकल जगत् के साक्षी, सम्पूर्ण जगत् के प्रकाशक सदाशिव आत्मदेव का भजन करो, उसी से तुम्हें मुक्ति का परमपद हाथ लगेगा।

अथ मुण्डमाला विचार

शिव के पहनने की मुण्डमाला का तात्पर्य बताते हैं—

अनन्तमृत ब्रह्माण्ड मुण्डमाला विधारणे ।
अनाद्यनन्तरूपत्वात् समर्थः शिव एव हि ॥४६॥

अनादि काल से लेकर अब तक नष्ट हुए अनन्त ब्रह्माण्डों के मुण्डों (कपालों) की माला बनाकर पहनने में समर्थ तो वह हमारा आत्मदर्शी शिव गुरु ही है क्योंकि वह अनादि तथा अनन्त रूप को प्राप्त हो चुका है।

अथ वृषवाहन विचार

शिव के वृषवाहन का गूढ़ तात्पर्य कहते हैं:—

ब्रह्माद्या यत्र नारूढ़ा स्तमारोहति शंकरः ।
समाधिं धर्ममेघाख्यं तेनायं वृष वाहनः ॥ ७४ ॥

धर्म की मूसलाधार वृष्टि करने वाली जिस धर्म मेघ नामक समाधि पर ब्रह्मा आदि भी आरुढ़ नहीं हो सके, जगदानन्द दायक परमात्मा धर्म मेघ नामक समाधि पर आरूढ़ हुए दीख पड़ते हैं। इसी कारण से उनको वृष वाहन कहा जाता है।

अथ कैलास विचार

अब कैलास का तात्पर्य बताया जाता है:—

कैवल्ये लसते रुद्र स्तद्भक्ता अपि सर्वदा।
तत्कैवल्य विलासेन कैलासंशम्भुमन्दिरम् ॥ ४८ ॥

रुद्र नामक परमात्मा सदा ही कैवल्य (अर्थात् अखण्डैकरस आत्मा) में विलास करते रहते हैं। उसकी सेवक भक्त लोग भी सदा उसी कैवल्य को पाकर स्वयं प्रकाश हो जाते हैं। इस प्रकार सदा ही कैवल्य का विलास बना रहने से, सकल जगत् को सुख देने वाले शम्भु का वास स्थान, सदा ही कैलाश के समान स्वयं प्रकाशमान बना रहता है। अनन्तकोटि भक्तों की भीड़ हो जाने पर भी वहां का कैवल्य नष्ट नहीं हो पाता।

अथ मन्दर विचार

अब मन्दर नामक पर्वत की व्याख्या करते हैं—

मथितो मुक्तिरत्नार्थम् येनायं भवसागरः।
स बोधो मन्दरो नाम मन्दिरं शंकरस्य तत् ॥ ४९ ॥

जिस बोध ने मोक्षरूपी रत्न को पाने के लिये इस समस्त संसार रूपी सागर को मथ डाला, वह बोध (आत्मज्ञान) ही सच्चा मन्दर कहाता है। उस पवित्र बोध को ही जगदानन्ददायक शङ्कर का निवास स्थान समझना चाहिये (ऐसे बोध में आकर ही सदा शिव वास करते हैं।)

अथ श्मशान विचार

अब श्मशान का तात्पर्य बताया जाता है:—

नित्यं क्रीडति यत्रायं स्वयं संहारभैरवः।
तत्र श्मशाने संसारे शिव स्सर्व दृश्यते ॥ ५० ॥

संहार को करने के कारण, डरावने रूप को धारण किये हुए, वे आत्म देव सदा ही संसार रूपी श्मशान में खेल किया करते हैं। उनकी क्रीड़ा भूमि होने के कारण यह संसार रूपी श्मशान (मुरदों के सोने की जगह) भी मंगल हो गया है। इस संसार रूपी संसार में वे शिव, ज्ञानी लोगों को सदा और सब जगह दीखते हैं।

अथ गण विचार

अब गणों का विचार करते हैं—

आनन्दसागरः शम्भु स्तच्छक्ति र्द्रव उच्यते ।
शीकरा इव सामुद्रा स्तदानन्दकणा गणा ॥ ५१ ॥

वह शम्भु स्वयं (विद्या तथा विषयानन्द आदि समग्र आनन्दों के समुद्र हैं। उसी आनन्द सागर की जगज्जनन शक्ति को ही मुनि लोग द्रव (आनन्द वारि) कहते हैं। आनन्द रूप उसी शम्भु के (विषयानन्द तथा विद्यानन्द आदि) अंश समुद्र के जल शीकरों के समान तुच्छ भाग होते हैं, ये सब आनन्दकण ही शम्भु के सच्चे गण (सेवक) हैं।

जगद्विलक्षणः स्वामी स्वरूपा कृतिलक्षणैः ।
जगद्विलक्षणा एव गणास्तस्य किमद्भुतम् ॥ ५२ ॥

विद्यानन्द आदि गणों का स्वामी वह शम्भु इस (असत् जड़ तथा दुःख स्वरूप) जगत् से सर्वथा ही विलक्षण है। उसका स्वरूप स्वतः प्रकाश है, यह जगत् तो परतः प्रकाश्य है, वह निराकार है, जगत् तो प्रत्यक्ष ही साकार दीख पड़ता है। वह सच्चिदानन्द है, यह जगत् तो असत् जड़ तथा दुःखरूप है। उस शम्भु के (विद्यानन्द आदि) गण भी विषयानन्दादिरूपी जगत् से विलक्षण प्रकार के ही हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अथ योगिनीगणविचारः—

शैव पुराणों में वर्णित योगिनियों का तात्पर्य बताते हैं:—

यैव यैव मनोवृत्ति र्योगाभ्यासेन योगिनाम् ।
सा समीपं गता शम्भोः सैवायं योगिनीगणः ॥ ५३ ॥

योगी लोग जब योगाभ्यास करते हैं, तब उनकी बाह्य विषयों से रुकी हुई जो जो मनोवृत्ति शम्भु नामक परमात्मा के निकट तक जा पहुंचती है, ज्ञानियों की दृष्टि में तो वह ही योगिनी गण कहाते हैं।

सखायः शङ्करस्यैते योगिनीभैरवादयः ।
जीवन्मुक्ता जडैरुक्ता भूतप्रेत पिशाचकाः ॥ ५४ ॥

ये योगिनी तथा भैरव आदि उसी जगदानन्ददायक शंकर के बड़े मित्र जीवन्मुक्त लोग हैं, मूर्ख लोग तो शिव के इन गुणों को भूत प्रेत तथा पिशाच कहने लगे हैं।

अथ कालभैरव विचारः—

शिव के समीपवर्ती काल भैरवों का विचारः—

विवर्तित जगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः ।
कालाब्दिभेति यद्विश्वं स गणः कालभैरवः ॥५५॥

जिसने इस जगद्रूपी जाल को विपरीत रूप बना डाला है, जगत् की कल्पना करने वाला यह काल ही इस शिव का द्वारपाल है। उस काल से यह समस्त जगत् भय खाता है। काल नामक उन अनन्त ईश्वरों का समूह ही काल भैरव कहाता है।

अथ दण्डपाणि विचारः—

अब शिव के दण्डपाणि गणों का विचार करते हैं:—

मनसो दण्डनेनैव दण्डपाणिर्गणो भवेत् ।
तादृशा एव देवस्य गणत्वमुपयान्ति हि ॥५६॥

जब कोई महापुरुष (निरोधरूपी दण्ड से अपने संकल्परूप) मन को दण्ड दे देते हैं किंवा अपने मन पर शासन कर लेते हैं, तब ये ही लोग दण्डपाणि नामक गण बन जाते हैं। जैसे कि पशुओं को रोकने के लिये हाथ में दण्ड पकड़ा जाता है, इसलिये अपने मन को रोकने के लिए निरोध नामक समाधि अथवा अष्टाङ्गयोग को हाथ में ले लेते हैं, कि ये ही लोग दण्डपाणि नाम के गण हो जाते हैं। अब जो कोई इस पद्धति से प्रयत्न करे तो वह भी उसका गण बन सकता है।

अथ क्षेत्रपाल विचारः—

अब क्षेत्रपाल नामक शिव के गणों का विचार करते हैं:—

परमात्मा स्वयं शम्भुः तदंशाः क्षेत्रपालकाः ।
अंशांशिभाव भेदेन क्षेत्रपालैर्वृतो हर ॥५७॥

शम्भु नामक परमात्मा तो स्वयं ही सिद्ध है। क्षेत्रफल अर्थात् समष्टि व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म शरीरों को पालने वाले जीव लोग उसी के अंश हैं। इस प्रकार अंशांशिभाव की कल्पना कर लें तो हर नामक परमात्मा क्षेत्रपाल नामक जीवों से घिरा रहता है।

अथ नन्दिगण विचारः—

अब शिव के नन्दि नामक सेवकों का विचार करते हैं:—

यस्योपरि स्फुरद्रूपो दृश्यते परमेश्वरः ।
स बोधः शुद्धभावात्मा गीयते नन्दिकेश्वरः ॥५८॥

जिस बोध के हाथ लग जाने के अनन्तर परमेश्वर प्रकाशमान रूप में साक्षात् अनुभव में आने लगता है। उस शुद्ध तथा निर्लेप भाव वाले बोध को ही विवेकी लोग नन्दिकेश्वर गण कहते हैं।

अथ भृङ्गि विचारः—

शिव के भृङ्गि नामक गणों का विचार करते हैं:—

यः कीटभृङ्गभावेन भक्तः सारूप्यमागतः।
स एव खण्डपरशो भृङ्गिनामा गणः किल ॥५९॥

जिस प्रकार भृङ्ग किसी कीड़े को पकड़ कर अपने बनाये घर में बन्द कर देता है, तो वह भय अथवा प्रेम से उस भृङ्ग को ही स्मरण करता अन्त में स्वयं भी भृङ्ग बन जाता है। इसी प्रकार जो कोई भक्त प्रेम से विचार करते करते सारूप्य (ब्रह्मभाव) को प्राप्त हो जाता है तो वही ज्ञानी, खण्ड-परशु शिव का भृङ्गि नामक गण कहाने लगता है।

अथ महाकाल विचारः—

अब शिव के महाकाल नामक गण का विचार करते हैं:—

कालेन भक्षितं विश्वं कालो बोधेन भक्षितः।
बोधात्मा काल कालोऽयं महाकालोऽपरो गणः ॥६०॥

मृत्यु ने समस्त जगत् को ग्रस रखा है, यह तो सभी जानते हैं, परन्तु उस काल नामक मृत्यु को भी बोध (ज्ञान) ने ग्रस लिया है। ज्ञानियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला वह बोध, काल है। वही 'महा काल' नाम का गण कहाता है।

अथ स्कन्द विचार—

अब स्कन्द का निर्णय किया जाता है—

बोधस्वसेनया येन मोहस्य स्कन्दनं कृतम्।
स बुद्धिमान् महासेनः स्कन्दो नाम शिवात्मजः ॥६१॥

जिस प्रत्यगात्मरूपी स्कन्द ने बोधरूपी सेना को लेकर अज्ञानरूपी शत्रु का नाश कर डाला, आत्मा तथा परमात्मा को एक समझने वाली उसी बुद्धिरूपी सेना के कारण महासेन कहाने वाला वह ज्ञानी ही स्कन्द नाम का शिव पुत्र कहाता है। क्योंकि वह भी तो शिवस्वरूप ही होता है।

अथ गणेश विचार--

अब गणेश नामक शिव पुत्र का विचार करते हैं—

सुतोऽन्यो विघ्नराशिघ्नः सर्वविद्याविशारदः ।
आनन्दतुन्दिलः साक्षात् सिद्धिदाता गणेश्वरः ॥६२॥

मोक्षमार्ग में विघ्नकारक रागादि दोषों की राशि को नष्ट करने वाला, सम्पूर्ण विद्याओं में बड़ा चतुर आत्मानन्द की अधिकता के कारण सदा ही तुन्दिल सा प्रतीत होता हुआ, प्रत्यक्ष सिद्धि का दान करने वाला प्रत्यगात्मा ही उनका दूसरा पुत्र गणेश्वर कहलाता है ।

उसने शान्ति आदि वृत्तियों के गणों पर अपना पूर्ण अधिकार जमा रक्खा है । उसी को इस शिव पूजा में गणेश समझना चाहिये ।

अथ शिवरात्रि विचार—

अब शिवरात्रि का तात्पर्य बताते हैं:—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
जागर्ति शिवरात्रौ य शिवस्तस्मिन् प्रसीदति ॥६३॥

सब भूतों की जो रात्रि है संयमी पुरुष उसी में जागते हैं, उसी को शिव रात्रि समझो । उस शिव रात्रि में जो जागता है उस पर शिव प्रसन्न हो जाते हैं ।

जिस आत्म-स्थिति में पहुँच जाने पर प्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं, वह आत्मस्थिति ही सब प्राणियों की निशा है । ऐसी रात्रि को ही सच्ची शिव रात्रि कहना चाहिये । साधारणतया कोई भी प्राणी इस अलौकिक शिव रात्रि में जागरण नहीं करते, परन्तु जो कोई भी संयमी अभ्यासी इस शिवरात्रि में जागने (तत्पर रहने) लगता है (अर्थात् लोकव्यवहार का भाव बन्द होकर आत्मस्थिति जब किसी को प्राप्त हो जाती है, जब कोई आत्मस्वरूप का प्रतिक्षण अनुभव करता रहता है) तब वह सदाशिव उस पर प्रसन्न हो जाता है (उसको शिव के निर्मलस्वरूप के दर्शन हो जाते हैं) ।

पञ्च कर्मेन्द्रियाण्येव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
मनोऽहंकृतिचित्तानि त्रीणि बुद्धिश्चतुर्दशी ॥६४॥
इयन्तु शाम्भवैः प्रोक्ता शिवरात्रिचतुर्दशी ।
निराहारतया तत्र वृत्तिलोपी भवेद् बुधः ॥६५॥

पाँच कर्मेन्द्रिय मन अहंकार तथा चित्त ये तेरह पदार्थ होते हैं । अखण्ड ज्ञानरूप बुद्धि ही चतुर्दशी कहाती है । अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति को ही चतुर्दशी कहते हैं । शम्भु के आत्मभूत ज्ञानी लोग इसी को सच्ची शिव रात्रि नाम की चतुर्दशी मानते हैं । बुद्धिमान् को उचित है कि इस शिव रात्रि

में किसी भी विषय का आहार [भोग] न करे और ज्ञान के विरोधी कामादि वृत्तियों का नाश करता रहे।

यही तो इस शिव रात्रि का उपवास कहाता है। केवल भोजन न करने मात्र से इस शिव रात्रि का व्रत पूरा नहीं होता।

शिव भक्तैः कृता पूर्वं शिवस्यत्यान्तवल्लभा।
शिवरात्रिरियं पुत्र शिवसायुज्य दायिनी ॥६६॥

हमारी बताई हुई यह शिवरात्रि (आत्मस्थिति) ही शिव को अत्यन्त प्रिय लगती है। शिव के भक्तों ने इसी शिव रात्रि को मनाया है और इसी की उपासना की है। हे शिष्य! उपासित हुई यही शिवरात्रि उपासक (चिदाभास) को शिव के साथ एकता का दान किया करती है।

निशीथ एव मध्याह्नो रात्रिरेव दिनं विभोः।
न यत्र किंचित् प्रकाशते स प्रकाशस्तु शाम्भवः ॥६७॥

उस विभु की तो रात्रि ही दिन है और आधी रात ही भरी दोपहरी का समय होता है। जिसमें कुछ भी नहीं दीख पड़ता वही तो शाम्भव प्रकाश कहाता है।

हे शिष्य! यद्यपि अन्य देवताओं की पूजा दिन में ही की जाती है, परन्तु शिव पूजा के लिये रात्रि को पसन्द करने का एक बड़ा गूढ़ कारण यह है कि सर्वत्र सामान्य रूप से रहने वाले उस विभु शम्भुदेव का आत्म प्रकाश जब होता है तब सब विशेष प्रकाश बन्द हो जाते हैं, तथा केवल सामान्य प्रकाश शेष रह जाता है। उसके होने पर रात्रि के समान ही सम्पूर्ण व्यवहार बन्द हो जाते हैं। इसलिये यह रात्रि ही ज्ञानी का सच्चा दिन है। इसी में ज्ञानी को ज्ञानरूपी प्रकाश के अखण्ड दर्शन होने लगते हैं। ऐसी अलौकिक रात्रि का जब निशीथ [आधी रात] आता है—जिसमें कि प्रपञ्च की स्फूर्ति सर्वथा बन्द हो जाती है तब यही ज्ञानी का सच्चा मध्याह्न कहाने लगता है। जिस चित्रूप प्रकाश के हो जाने पर और कोई भी वस्तु प्रतीत न हो, जगदानन्ददायक शम्भु नामक ब्रह्म का यही तो सच्चा ज्ञानरूप प्रकाश होता है। इस आत्मप्रकाश को दृष्टि में रख कर ही रात्रि को दिन तथा आधी रात को मध्याह्न कहा है।

अथ शिवताण्डव विचार—

शिव के ताण्डव का तात्पर्य कहते हैं—

यस्यानन्दलयेनैव नन्दिता नारदादयः।
तदानन्दविनोदाख्यं शाम्भवं विद्धि ताण्डवम् ॥६८॥

जिसके आनन्दलय† नामक नृत्य से नारद शुकदेव तथा दत्तात्रेय आदि नन्दित (किंवा ब्रह्मानन्द को प्राप्त) हो रहे हैं, ऐसा वह आनन्दविनोद नामक नृत्य ही (जिसके होने पर कि कर्म, उपासना तथा ज्ञान, असङ्ग रहते हुए भी अनायास ही होते रहते हैं) शम्भु का सच्चा ताण्डव नृत्य कहाता है।

अथ स्मरहरत्व विचार–

अब शिव के स्मरहर नाम का विचार करते हैं:—

हृते स्मरे हृता एव षडप्येते स्मरादयः।
स्मरादिहरणादेव देवः स्मरहरो हरः ॥६९॥

जब किसी को जगत् का स्मरण ही भूल जाता है, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक छहों विकार तो स्वयमेव बाधित हो जाते हैं। इन कामादि का बाध करने के कारण उस हर को स्मरहर, अर्थात् जगत् के स्मरण (भाव) को नष्ट करने वाला कहते हैं। (लोक प्रसिद्ध काम को जला डालने से शिव को स्मरहर नहीं कहा जाता)।

अथ गौरी विचार

अब बारह श्लोकों से गौरी का निर्णय करते हैं:—

सा स्वभावेन वामैन मनोवाचायगोचरा।
वामाङ्गी वामदेवस्य वामे गौरी विराजते ॥ ७० ॥

जिस वृत्ति को मन और वाणी के विषय में न आने वाली बताया गया है, ऐसी वह अद्भुत ब्रह्माकार वृत्ति स्वभाव से ही बड़ी कमनीय हो गई है। परम शुद्ध होने से उसी को गौरी भी कहा जाता है। वह तो वामदेव नामक सुख रूप आत्मा के सुख रूपी वाम अङ्ग में विराजती रहती है। यही कारण है कि उसको वामाङ्गी अर्थात् सुखस्वरूपवाली कहते हैं (वामाङ्गी कहाने में देह की सुन्दरता कारण नहीं है)।

---

† जिस प्रकार लोक में नृत्य करते करते जब लय आ जाता है, अर्थात् स्वर, तान, ताल, मृदङ्ग आदि बाजे तथा पादप्रक्षेप और हावभाव आदि सब समता को प्राप्त हो जाते हैं तब देखने वालों को बड़ा ही आनन्द आता है। इसी प्रकार जब सब आनन्दों का लय हो जाता है, अर्थात् "स एको ब्रह्मण आनन्दः, यो वै भूमा तत्सुखम्, रसो वै सः" इत्यादि में प्रतिपादित आनन्द का लय अर्थात् साम्य हो जाता है अर्थात् सकल वेदादि शब्दरूपी गाने वेदोक्त क्रिया उपासना तथा ज्ञान नामक पादप्रक्षेप, उनके फलों की वासना सहित अनेक आवेशरूपी हावभाव तथा इन सब से होने वाले, छोटे मोटे सब ही आनन्द जब महानन्द में विलीन हो जाते हैं, तब वह 'आनन्दलय' कहाता है।

सा ब्रह्मवादिनां श्रेष्ठा भवानी ब्रह्मनादिनी ।
या कटाक्षेण सर्वत्र शिवाख्यं ब्रह्म वीक्षते ॥ ७१ ॥

जीव को ब्रह्म कहने वाली वह ब्रह्मवादिनी भवानी ब्रह्मवादी लोगों में सर्व श्रेष्ठ है। विवेकी लोगों में रहने वाली वृत्तिरूपी भवानी की सर्वोपरि श्रेष्ठता का कारण यह भी है कि वह अपने (धर्ममेघ समाधि नामक) कटाक्ष से जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओं तथा जगत् के सब पदार्थों में शिव नामक ब्रह्म के अखण्ड दर्शन लेने लगती है।

मम प्रियो मम स्वामी ममात्मा मे गृहेश्वरः ।
इति यस्याः शिवे भावः सा धन्या शैलकन्यका ॥ ७२ ॥

जिस ब्रह्माकार वृत्ति का शिव में सदा ही यह प्रेम भाव बना रहता हो कि वह शिव ही मुझे प्रिय है, वही मेरा पालक है (उसी की सत्ता से मेरी सत्ता चल रही है)। वही मेरा आत्मा है किंवा वही मेरा परमार्थिक स्वरूप है (उसके बिना मेरी तो कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं है) वही मेरा गृहेश्वर है। (अर्थात् जब मैं ब्रह्मत्व का स्वीकार करती हूँ और सुध बुध भूल जाती हूं तब मुझ अंधीभूत का हाथ पकड़ कर चलाने वाले नियामक भी तो वह सदा शिव ही हैं) इस प्रकार सर्वात्मना आत्म समर्पण करने वाली शैलकन्या (ब्रह्माकार वृत्ति) बड़ी ही धन्य और कृतकृत्य हो गई है।

स ईक्षितः स आश्लिष्टः स भुक्तः स च पूजितः ।
स एव हृदये ध्यातः पार्वत्या परमेश्वरः ॥ ७३ ॥

पर्वत नामक अज्ञान से उत्पन्न होने वाली ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पार्वती ने (बाह्य पदार्थों से विरक्त होकर) सर्वत्र उसी परमेश्वर को देखा है (प्रपञ्च का निषेध करके केवल उसी का साक्षात्कार किया है) उसी को ऐक्य भावनारूपी आलिङ्गन दिया है, उसी का अनुभव किया है, उसी को आदर की दृष्टिसे देखा है तथा उसी का अपने हृदय मन्दिर में चिन्तन किया है।

शिवं भजति भावेन पातिव्रत्येन पार्वती ।
अतः सौभाग्यमेतस्या लोके वेदे च गीयते ॥ ७४ ॥

पार्वती (ब्रह्माकार वृत्ति) शिवस्वरूप ब्रह्म को पातिव्रत्य प्रेम से भजन करती है, (वह समझती है कि मुझ ब्रह्माकार वृत्ति को सदा ही अपने इस पति का व्रत धारण किये रहना चाहिये। मुझे सदा ही अखंड एकरस बने रहना चाहिये) यही कारण है कि ऋषि प्रणीत लौकिक शास्त्रों में, वेदों में तथा इन दोनों के द्वारा साधारण लोगों तक में इस वृत्ति की महिमा अथवा सौभाग्य जहाँ तहाँ गाया गया है।

समस्त तीर्थों के स्थान, सम्पूर्ण यज्ञों के तर्पण तथा संसार से अपने पितरों के समुद्धरण से भी वह फल नहीं प्राप्त होता, जो एक बार अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति करने वाले महात्मा के हाथ लगता है।

योगेश्वराणां योगोऽयं भुज्यते यन्महेश्वरः ।
तेन योगेन सम्पन्ना भवानी दिव्ययोगिनी ॥ ७५ ॥

महेश्वर सदा शिव आत्मदेव को (योग की विधि से) अनुभव का विषय बना लिया जाय, बस इसी को योग कला का मर्म जानने वाले लोग, ब्रह्मा आदि योगेश्वरों का योग (अर्थात् ब्रह्म के साथ एकीकरण की गुह्य विधि किंवा गुह्यज्ञान) बताते हैं। उसी महामहिम योग से सम्पन्न भवानी नामक ब्रह्माकार वृत्ति को दिव्य योगिनी (अलौकिक ज्ञानवाली) कहा गया है।

नित्यं नृत्यति पार्वत्याः पुरतः परमेश्वरः ।
यदन्त स्तादृशं प्रेम तदग्रे किं न नृत्यतु ॥ ७६ ॥

(यह ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पार्वती जब किसी विवेकी को सिद्ध हो जाती है तब) उस पार्वती नामक वृत्ति के सामने आकर वह परमेश्वर सदा ही नृत्य करता हुआ सा प्रतीत होने लगता है। क्योंकि जिस वृत्ति के हृदय में वैसा (रिझा देने वाला) अनन्य प्रेम हो, उस प्रेममयी वृत्ति के सामने वह परमेश्वर क्यों ननाचने लगे ?

एकात्मभावसम्पन्नौ स्थितौ भिन्नात्मकाविव ।
भवानीशङ्करौ वन्दे ब्रह्मविद् ब्रह्मणी यथा ॥ ७७ ॥

जिस प्रकार एकात्मभाव को पाकर भी अभी तक ब्रह्म तथा ब्रह्म ज्ञानी से दोनों ही अपने भिन्न स्वरूप को धारण किये हुए हैं, इसी प्रकार सच्चिदानन्दरूपी वास्तविक एकात्मभाव को प्राप्त होकर भी लौकिक दृष्टि के अनुसार अपने अपने भिन्न भिन्न स्वरूपों को धारण किये हुए, इन भवानी तथा शङ्कर दोनों को मैं मुमुक्षु प्रणाम करता हूं।

प्रकार द्वितियेनापि पार्वती स्तुति मर्हति ।
यदस्याः शङ्करे प्रेम, यदस्यां प्रेम शाङ्करम् ॥७८॥

हे मुमुक्षो ! यह ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती दोनों ही प्रकार से स्तुति अथवा आदर की पात्र है, क्योंकि इस पार्वती का सकल जगदानन्ददायक ब्रह्म में अपूर्व स्नेह है, तथा इस विद्व-मनोविनोदिनी पार्वती नामक वृत्ति पर वह शङ्कर भगवान् भी अत्यन्त स्नेह रखते हैं। अतः मुमुक्षु लोगों को ब्रह्माकार वृत्ति बनाने में विशेष आदर रखना चाहिये।

पूजनीया विशेषेण शङ्करादपि पार्वती ।
साक्षानन्दरूपो यस्तस्याप्यानंदवर्धिनी ॥ ७९ ॥

मुमुक्षु लोगों को उचित है कि शङ्करदेव से भी अधिक इस ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पार्वती की पूजा (आदर) किया करें। क्योंकि जो शङ्कर स्वतः ही आनन्द-स्वरूप हैं उन आत्मशङ्कर के भी आनन्द को यह वृत्ति बढ़ा देती है।

यह वृत्ति अपने विषय ब्रह्मानन्द को भी भोगती है तथा आत्मानन्द को भी लेती रहती है। इस प्रकार इस वृत्ति की महिमा से यह आनन्द दुगुना हो जाता है। यही कारण है कि सामान्य आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा आनन्द को अधिक कर देने वाली ब्रह्माकार वृत्ति का ही विशेष आदर मुमुक्षु लोगों को करना चाहिये।

परब्रह्मस्वरूपैव पार्वती नात्र संशयः।
पदस्यां प्रचुर प्रेमा ब्रह्मज्ञानी सदाशिव ॥ ८० ॥

इस ब्रह्माकार वृत्तिरूपी पार्वती को साक्षात्परब्रह्म स्वरूप ही समझना चाहिये। इसकी ब्रह्मरूपता में सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी सदाशिव इस वृत्तिरूपी पार्वती पर सदा ही अपना प्रगाढ़ प्रेम रखते हैं।

साक्षात् मुक्तिपद को दिलाने वाला ब्रह्म भाव ही यद्यपि मुमुक्षु लोगों को प्रिय होना चाहिये, तथापि इस ब्रह्माकार वृत्ति तथा ब्रह्मभाव में कोई भी अन्तर नहीं है, तथा सभी ब्रह्मज्ञानी लोग इस वृत्ति पर बड़ा अनुराग रखते हैं। ये लोग इसी वृत्ति के बढ़ते-बढ़ते अन्त में पूर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण से ब्रह्मभाव के समान ही यह वृत्ति भी मुमुक्षु लोगों को प्रिय हो गई है।

मन्दरास्तरवो वनेषु परिखातोयं सुधासागरो
द्वारेऽप्यष्टविभूतयो निधिगणैरन्तःपुरे पार्वती।
शूल शस्त्रवरं वृषः प्रिय सखा नारः कपालः करे
ग्रैवेयं गरलं भुजेषु भुजगा भस्माङ्गरागे रुचिः ॥ ८१ ॥

चन्द्रादित्य शतप्रकाशजयिनी चन्द्रावतं सोज्ज्वला
गङ्गागर्भ जटाधरा त्रिनयना गङ्गाम्बुवन्निर्मला।
वामे भूधरकन्यका सहचरी भूत्या सदालंकृता
स्वानन्दा शितिकण्ठिनी पुरभिदो मूर्तिः पुरः स्फुर्जति ॥ ८२ ॥

जिसके वनों में तो बहुत से कल्पवृक्ष खड़े हैं, सुधा का समुद्र जिसके नगर की परिखा (खाई) का जल बन रहा है, नौ निधियों के साथ ही आठों विभूतियाँ जिसके द्वार पर (द्वार पालिका) रहती हैं, जिसके अन्तःपुर में पार्वती जैसी अनुपम स्त्री है, (इतना बड़ा सम्पत्ति-शाली और इतना बड़ा महिमा वाला होने पर भी) त्रिशूल को ही जिसने अपना सर्वोत्तम आयुध बनाया है, बैल से ही जिसने प्रिय मित्र का नाता जोड़ा है, आदमी की खोपड़ी को ही जिसने अपने हाथ में (पात्र की जगह) ले रक्खा है, सब कुछ छोड़ कर गरल (हलाहल) को ही जिसने अपना ग्रैवेयं (कण्ठ का भूषण) बना लिया है (सोने आदि के अमूल्य आभूषणों को छोड़ कर) जिसने अपनी भुजाओं में सांपों को लपेट रक्खा है। (चन्दन आदि सुगन्ध और बहुमूल्य पदार्थों को छोड़ कर) अपने अङ्गों पर भस्म मलना ही जिसने पसन्द किया है ॥ ८१ ॥ यद्यपि वे इतने सीधे

सादे हैं) परन्तु अनन्त सूर्य-चन्द्र के प्रकाश को परास्त करने वाली (सिर पर पहने हुए) चन्द्रभूषण के कारण निर्मल, गङ्गागर्भित जटाओं वाला (जिस मूर्ति की जटाओं में गर्मी समा रही है) तीन नेत्रों वाली, गङ्गाजल के समान निर्मल भूति (विभूति अथवा भस्म) से सदा अलंकृत, अपने में से ही आनन्द को लेने वाली नीलकण्ठ वाली, अपने वाम भाग में पार्वती को बिठाये हुए उस त्रिपुर नाशक की वह मूर्ति हमारे सामने सदा ही चमका करती है । ८२ ।

प्रकृत—जिस (ब्रह्मज्ञानी शिव) के (सेवन करने योग्य वेदान्तरूपी) वनों में मन्दार नामक (मकार के समष्टि व्यष्टि अज्ञान, अज्ञानोपाधि ईश्वर और प्राज्ञ, इन सब से मिल कर बने हुए अपने प्रपञ्च को और साथ ही शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों के भी प्रपञ्च को विदीर्ण कर डालने वाले) ज्ञानी तरु निवास करते हैं (जिन्होंने कि इस भवसागर को बात की बात में पार कर डाला है, जो ज्ञानी लोग शिव स्वरूप ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वेदान्तों में बताई हुई निष्ठा में रह कर स्वतः तो भवसागर को पार कर ही जाते हैं परन्तु साथ ही दूसरों के अज्ञान को हटा कर उन्हें भी पार कर देते हैं। अविद्या को उखाड़ देने वाली विद्या नाम की परिखा (खोद डालने वाली) में भरा हुआ विद्यानन्द आदि नामों से कहा जाने वाला सुख-रूपी जल ही (जिसने कि कृष्णारूपी प्यास की बुझाने का बोझ स्वयं ही अपने ही शिर पर उठा रक्खा है) सुधासागर नाम से कहा जाता है ।

इस सदा शिव की प्राप्ति के साधन जो योग अथवा ज्ञान रूपी दो द्वार हैं उन द्वारों पर, आठों प्रकार की सिद्धियां, उन उन सिद्धियों को देने वाली, उन उन धाराणाओं के साथ ही विराजती रहती हैं। उसके लिङ्ग शरीर रूपी अन्तःपुर में सदा ही ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पार्वती बैठी रहती है। (वे सदा ही अपने मन में ब्रह्मचिन्तन करते रहते हैं। शान्ति, वैराग्य तथा बोध नाम की तीन धाराओं से बना हुआ, अज्ञानरूपी शत्रु का वध करने वाला बोधरूपी) त्रिशूल ही जिसका (उपदेश करने योग्य शस्त्रों में) सर्वश्रेष्ठ शस्त्र हो रहा है, धर्ममेघ समाधि नाम का वृष ही जिन का प्रिय मित्र बन गया है, जिसने नार अर्थात् वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी के (ब्रह्मसुख साक्षात्कम्-रूपी) कपाल को अपने (योग नाम के) हाथ में पकड़ रक्खा है, गुरु सेवन रूपी गरल को (अथवा गुरु के बताये रहस्य को स्वीकार कर लेने रूपी गरल को) ही जिसने अपने कण्ठ का भूषण बना लिया है, जिसने (अपनी द्वैत त्याग तथा अद्वैत ग्रहणरूपी सांख्य अथवा योग नाम की भुजाओं के सहारे से आत्मा का दर्शन करने वाले) योगी अथवा विवेकी भुजङ्गों को अपनी भुजाओं का भूषण बना कर पहिन रक्खा है, ज्ञानाग्नि से जलाये हुए, प्रारब्ध शेष पर्यन्त प्रतीत होने वाले, जगद्रूपी भस्म से ही जिसने अपने स्वरूप को रंग डालना मन को भा गया है। पुरभिद (अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण नाम के तीनों शरीरों को विदीर्ण करके बाहर निकल आने वाले शिवात्मा) की वह अनन्त सूर्य और अनन्त चन्द्रों के प्रकाशों को जीतने वाली, बोधरूपी चांद के बने हुए शिरोभूषण को पहन कर निर्मल दीखती हुई, ब्रह्माकार वृत्तिरूपी गंगा से युक्त, वेदान्त सांख्य तथा योग नाम की जटाओं को धारण किये हुए (क्रमानुसार अन्तःकरण को शुद्ध, चित्त को स्थिर तथा आत्मा का दर्शन कराने वाले) कर्म, उपासना तथा ज्ञान नाम के तीन नेत्रों वाली (अपने और अपनी शरण में आये हुए मुमुक्षु लोगों के पाप, माया और अविद्या आदि मलों को हटाने के कारण) गंगाजल के समान निर्मल आकार को धारण किये हुए, आठ विभूतिओं से सदा सुशोभित रहने वाली भूधर-कन्यका (भूनाम के अन्तःकरण को धारण करने वाले अहंकार की पुत्री के समान ब्रह्माकार वृत्ति) को अपने

सुख रूपी वाम भाग में बिठाने वाली, अनादिकाल से लेकर अब तक निगले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों की नीलिमा को अपने गले में धारण करने वाली, यह चिन्मात्ररूपी आकृति हम विवेकी लोगों की ध्यानरूपी आंखों के सामने सदा ही खिंची रहती है।

इति सोपकरणं ध्यानम्।

ध्यान के अनुकूल सब सामग्री सहित यह चिन्तनरूपी पूजोपचार समाप्त हुआ।

अब स्नान का तात्पर्य बताते हैं:—

पशुपतये नमः स्नानम्।

पशु नामक अज्ञ जीवों को (अपनी सत्ता, अपना चैतन्य तथा अपना आनन्द देकर) पालने वाले सदा शिव आत्मदेव (के स्वरूप पर अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाने) के लिये हमारा प्रह्वीभाव हो।

अर्थात् आठ प्रकृतिरूपी ❀ आठ अंगों सहित परमेश्वर तथा हमारे जीवभाव की बाधा हो जाय। हम अपने उपाधिरहित आत्मभाम को प्राप्त हो जाँय। हम अज्ञ जीवों के जीवभाव का सर्वथा लोप हो जाय। यही हमारा प्रणाम अथवा प्रह्वीभाव कहाता है। ऐसा प्रह्वीभाव प्राप्त करने की कला जब किसी के हाथ लग जाय तब हम कहेंगे कि वह स्नान करके पवित्र होकर शिवपूजन का सच्चा अधिकारी बन गया।

पशुत्ववासना त्याज्या ज्ञानगंगाम्बुधारया।
पवित्रया शीतलया स्नाप्यः पशुपतिः शिवः ॥८३॥

प्रथम तो अपने पशुत्व (जीवभाव) के विचारों को सर्वथा छोड़ दो और फिर (जब कि आत्मज्ञान का धारावाहिक प्रवाह बहने लगे, संसार के विषयों का चिन्तन इस प्रवाह को विच्छिन्न अथवा खंडित न कर सके तब ऐसी) निरन्तर बहने वाली तथा दूसरों को भी पवित्र कर देने वाली ज्ञानरूपी गंगा के (तीनों तापों को हटाने वाले विद्यानन्दरूपी) जल की (अविद्या राग आदि मल से रहित होने से) पवित्र तथा (आध्यात्मिकादि तीनों तापों को हटाने के कारण) शीतलधार से पशुपति (अर्थात् शिव नामक सुखरूप आत्मदेव) को स्नान कराना चाहिये। (अपनी जीवत्ववासना को शनैः शनैः कम करते करते अन्त में जीवत्व की सम्पूर्ण बाधा ही कर देनी चाहिये। यही तो इस हमारे शिवपूजन में स्नान कहाता है।

शिवाय नमः इति पूजनम्।

शिवाय नमः इस मन्त्र से पूजन किया जाता है।

❀भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये आठ प्रकृतियां कहाती हैं।

शिवरूप को प्राप्त करने के लिये मेरा ऐसा ब्रह्मीभाव अथवा पतन हो कि उसके पश्चात् में जब उठ कर देखूं तो मुझे आठ प्रकृतिरूपी आठों अंगों तथा अधिष्ठान सहित मेरे जीव भाव का स्वल्प चिन्ह भी हाथ न आये।

शिवो देवः शिवो जीवः शिवादन्यन्न विद्यते।
एवं शिवे प्रकर्तव्यं भक्त्या चन्दनलेपनम् ॥ ८४ ॥

शिव ही पूजनीय देव है, शिव ही यह प्राणोपाधि वाला जीव हो बैठा है। शिव से पृथक् तो कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के विचार प्रवाहों से बड़े प्रेमावेश में आकर बड़ी तत्परता से आत्म शिव के ऊपर विद्यानन्दरूपी चन्दन का लेप कर डालना चाहिये।

अथाक्षताः—

लौकिक शिवपूजन के अक्षतों का इस अलौकिक शिव पूजन में तात्पर्य बताते हैं:—

भजनादक्षता भक्त देवस्तु स्वयमक्षतः।
अतस्त्वक्षतया भक्त्या पूजनीयः शिवोऽक्षतैः ॥ ८५ ॥

भजन के प्रभाव से भक्त लोग भी अक्षत (अमर) हो जाते हैं। निरुपाधि आत्मदेव तो स्वभाव से ही अक्षत (अविनाशी) हैं। इस कारण अक्षत भक्तों को सदा ही अक्षत भक्ति किंवा प्रत्याकारवृत्ति के द्वारा इस आत्म शिव की पूजा अथवा आदर करते रहना चाहिये। यही इस में शिवपूजन अक्षतपूजन है।

अथार्क पुष्प विचार

अर्क पुष्पों को लौकिक शिव पर चढ़ाने की विधि का इस शिव पूजन में तात्पर्य्य बताया है:—

अर्कः पाशुपतो नाम देवः पाशुपतप्रियः।
अतः पाशुपतार्कस्य पुष्पं पशुपतेः प्रियम् ॥ ८६ ॥

पाशुपत अर्थात् पशुपतिनामक परमात्मा का बोध ही (प्रकाश रूप हो जाने से) अर्क अथवा सूर्य कहाता है। वह पाशुपत बोध आत्मदेव को बड़ा ही प्रिय लगता है। इसी कारण बोध रूपी सूर्य का(मुक्ति सुख रूपी खिला हुआ।) फूल ही पशुपति का प्रिय पुष्प हो गया है। (लौकिक अर्थ पुष्प का यहां कुछ भी उपयोगी नहीं है)।

कटुपत्रस्तरुः कोपि भक्तेन गिरिशेऽर्पितः।
प्रकाशकस्तमोहन्ता स एवार्कत्वमागतः ॥ ८७ ॥

किसी भक्त ने अपनी काम क्रोधादि वृत्तिरूपी कड़वे पत्तों वाले तरु अर्थात् बोध को स्वयं प्रकाश चिद्रूप आत्मदेव को अर्पण कर दिया हो तो फिर वही बोध इस अर्पण के प्रभाव से आत्मा और अनात्मा

का प्रकाशक तथा अज्ञान का नाशक हो जाता है। यही कारण है कि वह बोध फिर 'अर्क' नाम से कहाने लगता है।

पुष्पङ्कटुदलस्यास्य शाम्भवेन निवेदितम्।
शम्भुना स्वीकृतं तेन सा जाता शिवमल्लिका ॥ ८८ ॥

इस (काम क्रोधादि रूपी) कड़वे पत्तों वाले जीवरूपी वृक्ष पर खिले हुए (ज्ञानसुखरूपी) पुष्प को, किसी शम्भु के भक्त (चिदाभास) ने लाकर आत्मदेव के भेंट कर दिया, भेट में पाये हुए इस ज्ञानसुखरूपी पुष्प को शम्भु नामक निरुपाधिक आत्मदेव ने स्वीकार भी कर लिया (अपने से अभिन्न बना डाला) तभी लेकर यह बोधरूपी ब्रह्माकार वृत्ति 'शिवमल्लिका' नाम से कही जाने लगी है। क्योंकि वह शिव के साथ ऐक्य को पाकर शोभित होने लगती है।

अथ धत्तूर निर्णय

लौकिक शिवपूजन में धत्तूर के अर्पण की विधि होती है। इस शिवपूजन में उसका अलौकिक तात्पर्य बताते हैं :—

ईश्वरस्य प्रसादेन भासतेऽन्यादृशं जगत्।
स्वसमानगुणत्वेन धत्तूरः शिववल्लभः ॥ ८९ ॥

जब किसी पर ईश्वर की प्रसन्नता होती है तब उसे जगत् और ही तरह का (नीरस) प्रतीत होने लगता है। धत्तूर के सेवन का भी यह प्रभाव होता है कि उसके पीने वाले को भी यह जगत् और तरह का (उल्टा) दीखा करता है। इस प्रकार अपने समान गुणवाला होने से धतूरा नाम का उन्मत्त वृक्ष महादेव को प्रिय हो गया।

प्रकृत—ईश्वर का प्रसाद होने पर आत्मसाक्षात्कार करने वाले चिदाभास को यह जगत् कुछ दूसरे ही रूप में प्रतीत होने लगता है। जिसे वह अपनी अवस्था में जगत् समझ रहा था वही अपनी आत्मा की अनुकम्पा हो जाने पर आत्मरूप दीखने लगता है। इसी गुण की समानता के कारण धतूर नामक वह पुष्प जिसको कि यह जगत् अन्य प्रकार का ही प्रतीत होने लगा हो, शिव का अत्यन्त प्यारा हो जाता है।

उन्मन्या स्वयमुन्मत्त उन्मादयति शाम्भवान्।
अत एव प्रियं शम्भोः पुष्पमुन्मत्तसम्भवम् ॥ ९० ॥

वह शिव स्वयं उन्मनी (मनोलय) अवस्था के प्रभाव से सदा ही उन्मत्त बना रहता है। वह अपने भक्तों को भी उन्मुक्त बनाये रखता है। इसी कारण से उन्मत्त नामक वृक्ष का पुष्प उस शम्भु को प्यारा लगता है।

परमार्थ 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार शब्दानुविद्ध समाधि करते करते जब मन का अत्यन्त अभाव हो जाता है। और मुक्तावस्था प्राप्त होने के कारण साधक उन्मत्त सा होकर जगत् के कार्यों को भूलने लगता है, पूर्णतया उन्मनी के अभाव में आकर लोगों को भी उन्मत्त सा प्रतीत होने लगता है और शिव के भक्त अन्य विवेकी चिदाभासों को भी अपने समान ही उन्मत्त कर लेता है। (अर्थात् उन का भी मनोनाश कर लेता है) तब इस अद्भुत स्वभाव के कारण शम्भु को उस नष्टमनस्क (जिसका मन मर गया हो) चिदाभासरूपी वृक्ष पर लगा हुआ विकसित ज्ञानरूपी पुष्प ही अत्यन्त प्रिय लगता है। उस लौकिक धत्तूर पुष्प का यहां कुछ भी उपयोग नहीं है।

कैतवं कितवस्यास्य सर्वगोयं न लिप्यते।
अतः कितवधूर्तस्य कैतवं कुसुमं प्रियम् ॥९१॥

यह हमारा कपटी आत्मदेव सर्वग अर्थात् सर्वत्र अनुस्थूत होकर भी उनमें लिप्त नहीं होता है (अर्थात् उत्पत्ति आदि के बन्धन में स्वयं कभी नहीं आता) यही उसका एक बड़ा कपट है। इस अद्भुत कपट को पसंद करने के कारण ही आत्मा का दर्शन करने वाले इस कपटी धूर्त को कैतव पुष्प अर्थात् उसी अलौकिक कपट वृक्ष पर लगा हुआ आत्मविषयक ज्ञानरूपी पुष्प ही प्यारा लगता है। अन्य अलौकिक पुष्प नहीं।

कामादयो महाधूर्ता धूर्तितं यैर्जगत्त्रयम्।
तान् धूर्तयति यो युक्त्या स धूर्तो धूर्तवल्लभः ॥९२॥

ये काम क्रोधादि बड़े ही धूर्त हैं। इन्होंने तीनों जगत् को भ्रम में डाल कर ठग लिया है। (इनके प्रभाव में आकर यह समस्त त्रिभुवन सर्वथा अकर्तव्य में फँस गया है और अन्धे के पीछे अन्धे के समान ही संसाररूपी भँवर में फँस कर चक्कर खा रहा है। परमार्थ का किसी को लेशमात्र भी ध्यान नहीं रह गया है) जो युक्ति के सहारे से इन जगद्वञ्चक कामादि धूर्तों को भी ठग लेता है। तो ऐसा वह धूर्त ही सबसे बड़े) धूर्त परमात्मा को प्रिय लगने लगता है।

अर्पितं शङ्करे धूर्तपत्रं कनक पुण्यदम्।
अनेन हेतुना जातो धत्तूरः कनकाह्वयः ॥९३॥

शङ्कर को अर्पण हुआ (कामादि का वञ्चन करने वाले जीव का आत्मज्ञानरूपी) धूर्तपत्र सुवर्ण का दान करने के तुल्य ही महाफल को प्राप्त करा देता है। इसी कारण से (जगत् को अन्य प्रकार का समझने वाला) धत्तूर नाम का ज्ञानी भी सुवर्ण अथवा कनक नाम वाला कहाने लगा है (क्योंकि वही इस फेंक देने किंवा फूँक देने योग्य असार संसार में सुवर्ण के समान ग्राह्य किंवा सत्करणीय पदार्थ है। वह संसार का सुवर्ण है।)

अथ कण्टकारि का निर्णयः—

शिव को कण्टकारिका समर्पण का विचारः—

भक्त्या भक्तेन चेद् वृति र्मनसः शङ्करेऽर्पिता ।
सकण्टक स्वाभावापि जाता साऽकण्टकारिका ॥९४॥

भक्त जब अपने मन की ब्रह्माकार वृत्ति को प्रेमगद्गद होकर आत्मशङ्कर के चरणों में धर देता है तब इस अर्पण करने से पूर्वकाल में उस वृत्ति में पीड़ा देने वाले कामादि विकार रूपी कण्टक भले रहे हों, परन्तु अब तो वह वृत्ति सर्वथा अकण्टकारिका हो जाती है। उसमें अधिकारी को दुःख देने वाले कामादि विकार नहीं रहते। अब तो वह केवल सुखमात्र का ही अनुसन्धान करने लगती है।

अथ बिल्व विचार

शिव को विल्व अत्यन्त प्रिय लगता है, इसी बिल्व का अब यहां विचार किया जाता हैः—

शिवभक्तिस्वभावेन शाण्डिल्यो हि महामुनिः ।
तन्नाम्नैव प्रियं शम्भोः पत्रं शाण्डिल्यसम्भवम् ॥ ९५ ॥

शिव भक्ति का स्वभाव पड़ जाने के कारण शाण्डिल्य मुनि कहलाने लगा था। उस शाण्डिल्य मुनि के उपदेश से उत्पन्न हुआ ज्ञानरूपी पत्र उसी के नाम से शम्भु को अत्यन्त प्रिय होगया है। इस आत्मशिव को लौकिक बिल्वपत्र रुचिकर नहीं होता।

विश्वरूपो महादेवः स्वयं शैलूषलक्षणः ।
अतः शैलूषपत्राणां पूजया स प्रसीदति ॥ ९६ ॥

विश्वरूप होने से वह महादेव स्वयं भी एक प्रकार का शैलूष (नट-बहुरूपिया) ही तो है। इस कारण शैलूष (बेल) के पत्तों की पूजा से वह प्रसन्न हो जाता है। अपरिच्छिन्न चिन्मात्र रूप होने से महादेव कहलाने वाले उस प्रत्यगात्मा ने ही इस समय जगत् का रूप धारण कर लिया है और यों वही विश्वरूप हो गया है। ये ही उसमें बहुरूपधारी शैलूष (नट) के लक्षण पाये जाते हैं। इस थोड़ी सी समानता के कारण ही, कभी इस समस्त जगदाकार बने हुए तथा कभी जगद्रूप की बाधा करके ब्रह्मरूप को धारण कर लेने वाले, जीवों की ब्रह्माकार वृत्ति रूपी पत्तों से की हुई अपनी पूजा को देख कर वह महादेव अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं। हमारे शिव पूजन में लौकिक बिल्वपत्रों की पूजा का कुछ भी उपयोग नहीं है। क्योंकि वह तो पूजकों को केवल सांसारिक फल दे सकती है।

जन्मस्तु फलं श्रीमद्बिल्वपत्रार्पणाच्छिवे ।
अतः निरूपितो वृक्षो बिल्वः श्रीफलसंज्ञया ॥ ९७ ॥

जब कोई अधिकारी अपने ब्रह्माकार वृत्तिरूपी बिल्वपत्र को शिव की सेवा में अर्पण कर देता है तब उसके जन्म धारण करने का प्रयोजन श्रीमत् (मुक्तिसम्पत्तिरूपी श्री से सुशोभित) हो जाता है इसी कारण से वह ज्ञानरूपी बिल्व वृक्ष 'श्रीफल' अर्थात् मुक्ति रूपी फलवाला कहाने लगता है।

लौकिकार्थ—जिस जन्म में शिव को बिल्वपत्र चढ़ाया जाता है उस जन्म का फल यह होता है कि फिर उसे सायुज्य आदि मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये बिल्व वृक्ष को लोक में 'श्रीफल' कहा जाता है।

धूपप्रदीप नैवेद्य फलताम्बूलदक्षिणाः।
शिवाय नम इत्येव सर्वमेवास्य पूजनम् ॥९८॥

चन्दन — धूप—[अखण्ड एक रस आत्मा आत्मविषयक अद्वैतानुभव यदि सदा एक स्वरूप ही चला जाय तो बस इसी को [सच्चिदानन्द घन] आत्मस्वरूप पर दूर से लगाने योग्य चन्दन कहा जायगा। इस तरह का यह चन्दन चित्स्वरूप आत्मदेव को बड़ा प्यारा होगा, इसलिये इस चन्दन को उस आत्मदेव को समर्पण कर देना चाहिये।

अक्षत — शान्ति [वासनाराहित्य] सहनशीलता, अन्तःकरण की स्थिरता, सरलता, निर्मत्सरता [परेर्ष्याविमुखता] तथा अक्रोधादि गुणों की जिनका वेदान्तादि में प्रतिपादन किया गया है पूर्णरूप से आराधना की गई हो [किंवा विकार के कारणों के आने पर भी यदि ये गुण खण्डित नहीं हो सके हों] तो ये ही गुण इस पूजा के तुषरहित शुद्ध अक्षत कहाते हैं।

धूप — शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को तो सत् आत्मवस्तु की वासना के कारण ही जिनको सुन्दरता प्राप्त हुई है, तथा प्रफुल्लता के कारण ही जिनको विकास का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ऐसे भावशुद्धि किंवा आत्मतादात्म्यरूपी पुष्पों से महेश्वर की पूजा करनी चाहिये [अर्थात् महेश्वर के साथ अपने तादात्म्य का दृढ़ निश्चय कर डालना चाहिये] ऐसी अद्भुत पूजा को ही शास्त्र में निर्मल मन वालों की कृत-कृत्यता [धन्यता] कहा गया है। इसके अनन्तर अपने ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को वैराग्य रूपी अग्नि में झोंक डालने से जो दशाङ्गदाह की सुगंध वाष्प ' धूप ' उठता है। [जिससे कि द्वैतजाल के भस्म हो जाने तथा केवल सदात्मा के शेष रह जाने की सूचना मिल जाती है] वह धूप तो इस देव को सदा ही प्यारा लगता है।

दीप — दीप—जिस ज्ञान रूपी दीपक से जल उठने पर बाह्य [ब्रह्म किंवा जगद्विषय में] तथा आन्तर [जीवात्मा तथा अहंकारादि के विषय में] कोई भी अज्ञान शेष नहीं रह जाता, प्रकाश के कारण श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ऐसा 'दीपक' ही इस देव की पूजा के लिये जलाना चाहिये। उसके भीतर और बाहर दोनों जगह का अन्धकार नष्ट हो जायगा।

नैवेद्य

नैवेद्य—जिस द्वैत को यह चिन्मात्र आत्मा बड़ी रुचि से भक्षण करता है, जिसे निगल चुकने [खा लेने] पर इस आत्मदेव की बड़ी ही तृप्ति होती है। उस अपरिमित अनन्त द्वैत को ही 'नैवेद्य' रूप में अर्पण कर देना चाहिये। यह नैवेद्य इस पूजा में उत्तम उपचार माना गया है।

संतोष

नैवेद्य के पश्चात् इस आत्मशिव की पूजा में तत्काल पवित्र करने वाले आचमनीय का विधान किया गया है। संतोषरूपी अमृत को ही 'आचमनीय' जल की जगह लाना चाहिये [आत्मसुख मिलने पर स्वभावतः विषयेच्छा उत्पन्न नहीं होती। उस आत्मा के पूर्ण काम होने तथा विषयों में अधिक दुःख होने से विषयों के प्रति जो अलं-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उसे ही 'संतोष कहते हैं।

ताम्बूल

ताम्बूल आनन्द का भोग लेने में समर्थ, शुद्धचित्त रूपी मुख मण्डल पर प्रसन्नता और सुन्दरता को उत्पन्न करने वाले, मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा नामक चारों भावों को ही जिनका—कि मुनिसंमत पातंजल दर्शन में विस्तार सहित वर्णन आया है, ताम्बूल समझ कर आत्म शिव के आगे रख देना।

अपने समान ज्ञानियों से मित्रता, अपने न्यून जिज्ञासुओं पर दया, अपने से अधिक ज्ञानी को देख कर प्रसन्नता, अपने कथन पर विश्वास न लाने वालों की उपेक्षा करते हुऐ अपने आत्मा को प्रसन्न रक्खे। ऐसे ताम्बूलों को खाने से आत्मा के आनन्द को भोगने के साधन चित्तरूपी मुख पर अत्यन्त शोभा आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आत्माकार वृत्ति निर्मल होती चली जाय और सदा ही आत्मस्फूर्ति बनी रह सके, वैसा प्रयत्न बारम्बार करता रहे।

फल

फल—जिन अनेक जन्मों में बड़े उल्लास के साथ निष्काम भाव उत्तमोत्तम धर्मों का मैंने पालन किया, उन अनंत पवित्र जन्मों के फलरूप में मुझे जो यह ईश्वर भक्ति प्राप्त हुई है उसे मैं फिर परमेश्वर के ही (आरोप और अपवाद रूपी कल्पित) चरणों में निवेदन (करके एक सर्वस्वयाग) कर रहा हूँ। क्योंकि यह भक्ति तो मेरी अनेक जन्मों की पवित्र कमाई का सार होने से मेरा सर्वस्व ही है।

दक्षिणा

दक्षिणा—अब तो इस याग की दक्षिणा देने को भी मेरे पास कुछ शेष नहीं रहा है 'हतोयज्ञस्त्वदक्षिणः' दक्षिणा रहित यज्ञ अपूर्ण ही रहता है अतः इस अपनी पूजाविधि की पूर्णता करने के लिये अपने मन रूपी चिन्तामणि को ही मैं दक्षिणारूप में निवेदन कर रहा हूं। (मन को दे देने से अनन्तकाल से खोई हुई मेरी पूर्णता मेरे हाथ लगेगी)।

धूप, दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल तथा दक्षिणा नाम के सब उपचार शिव को नमस्कार करने के भाव से किये जांय तो फिर इस पूजक के (लौकिक, वैदिक, विहित और निषिद्ध) सभी कर्म उस आत्मदेव की पूजा ही हो जाते हैं। फिर इन अलौकिक भावों का तो कहना ही क्या ?

विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ ।
तत्र पञ्चाक्षरी श्रेष्ठा सा जप्या शिवतुष्टये ॥९९॥

शास्त्रों में वेद ही सर्व श्रेष्ठ हैं। उस वेद में ग्यारह अनुवाकों वाला रुद्राध्याय सबसे श्रेष्ठ है। उसमें से भी "शिवाय नमः" यह पञ्चाक्षरी मन्त्र सर्व श्रेष्ठ है। क्योंकि इसके पाँच अक्षरों से पाँच भूतों को गृहण करके उनके वाच्यांश को त्याग कर उसके साक्षी आत्मदेव का बोध, लक्षणावृत्ति से कराया जाता है।) अथवा रुद्राध्याय की अपेक्षा से भी "अहं ब्रह्मास्मि" यह पंचाक्षरी वाणी अधिक श्रेष्ठ है। मुमुक्षु लोग इन पञ्चाक्षरियों के जाप की आवृत्ति आत्मशिव के संतोष के लिये (अर्थात् उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कर देने के लिए बारम्बार करें।

अथैकादशबिल्वपत्रिकाः—

अब जीवरूपी बिल्व के वृत्तिरूपी ग्यारह पत्तों के अर्पण का विचार किया जाता है:—

दृष्टा च दर्शनं दृश्यमिति पत्र त्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे प्रथमा बिल्वपत्रिका ॥१००॥

दृष्टा दर्शन और दृश्य इन तीन पंखड़ियों वाली पहली बिल्वपत्रिका को चिद्रूप शिव को अर्पण कर दो।

रूपादि को देखने वाला दृष्टा, रूपादि देखने का साधन चक्षु तथा दृश्य रूप आदि, इन तीन दलों से मिलकर बनने वाले त्रिदल बिल्वपत्र को इन तीनों (द्रष्टा, दर्शन और दृश्य) में अनुगत इन तीनों के साक्षी चैतन्य मात्र आत्मस्वरूप की सेवा में अर्पण कर देना चाहिए। यह विचार करना चाहिए कि इन तीनों में समानरूप से अनुगत वह साक्षी चैतन्य ही वास्तविक सत्य है, वही मैं हूं। उससे पृथक् इन तीनों की कोई भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उसी साक्षी चैतन्य के आत्मप्रकाश से यह सब विश्व भासित हो रहा है, इस विश्व की अपनी कोई सत्ता नहीं है। इससे अपने प्रकाश के लिए उसी आत्म-चैतन्य से सत्ता को (आत्म-दर्शन अथवा तत्वज्ञान होने तक के लिए) ऋणरूप में ले रक्खा है। दृष्टा दर्शन तथा दृश्य यह तो एक इन्द्रियोपाधिक भ्रम है। यह तो इन्द्रियों के रहते रहते बना ही रहेगा। जिस प्रकार जल के रहते वृक्ष उलटे दीखते ही रहते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के विद्यमान रहते रहते यह भ्रम भी निवृत्त होने वाली वस्तु नहीं है। बुद्धिमान् लोगों को दिग्भ्रम अथवा पीलिया रोग से दीखने वाले भ्रम या पीलेपन के समान इनको कभी भी परमार्थ सत् न मानना चाहिये। ऐसे विचार करना ही इस सदाशिव को प्रथम बिल्वपत्रिका का अर्पण कहा जाता है।

कर्त्ता कार्यं च करणमिति पत्रत्रयात्मिका ।
शिवे समर्प्यया चिद्रूपे द्वितीया बिल्वपत्रिका ॥१०१॥

(अलंकर्त्तृत्व का अभिमानी) कार्य (रूपादि साक्षात्कार) तथा करण (उन उन क्रियाओं के साधन दश इन्द्रिय तथा मन) इन तीन पत्रों से मिल कर बनने वाली (बुद्धिरूपी) दूसरी त्रिदल बिल्वपत्रिका को उस शिव आत्मा की सेवा में अर्पण कर डालो और उसे चिन्मात्र रूप ही शेष रख लो।

मुमुक्षु को सदा ही यह भावना बनाये रखनी चाहिये कि उसी सामान्य चेतन के अज्ञान के कारण कर्त्ता, कार्य तथा करण नाम के तीन विभाग हो गये हैं। परमार्थ विचार करने पर तीनों उस सामान्य साक्षी चैतन्यरूप से किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हैं। वह एक ही साक्षी चैतन्य उपाधि के कारण इन तीनों रूपों में भासित हो रहा है। जब इन विभागों को अपनी बुद्धि में से निकाल दिया जायगा तब वही चिद्रूप शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को अभ्यास करते समय अपनी किन्हीं क्रियाओं में अभिमान का उदय होने लगे अथवा बलात् ही रूपादिका साक्षात्कार हो जाय तब इनके झगड़े में घुसने किंवा इनकी विचार धारा में बह निकलने से प्रथम ही स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहिये कि मैं तो इन तीनों को चैतन्य का दान करने वाला तीनों का प्रकाशक, तीनों का साक्षी चैतन्य हूं। इन तीनों विचारों के आने से प्रथम मेरी जो शुद्ध स्थिति थी तथा इनके नष्ट हो जाने के अनन्तर मेरी जो निर्विकार स्थिति रह जायगी, उसी शुद्ध स्थिति में मैं अब भी हूं। मैं तो अनादि काल से उसी प्रकार शुद्ध और निर्लेप चला आ रहा हूँ। केवल वर्तमान में कभी कभी इस देहाध्यास के चक्कर में आकर अपने को विकारी किंवा परिणामी सा मान बैठता हूं और दुःखी सा बन जाता हूँ। परन्तु गम्भीर विचार करने पर तो मैं अब भी अत्यन्त शुद्ध और निर्लेप ही हूँ। जब किसी को उन्मनी अवस्था को लाने वाले ऐसे विचार उत्पन्न होने लगें तब समझना होगा कि उसने सदाशिव की सेवा में दूसरी बिल्वपत्रिका का अर्पण कर दिया।

भोक्ता च भोजनं भोज्यमिति पत्र त्रयात्मिका।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे तृतीया बिल्वपत्रिका ॥१०२॥

भोक्ता, भोजन तथा भोज्य इन तीनों दलों से मिल कर बने हुए बुद्धिरूपी तीसरे बिल्वपत्र को सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर दो।

समाधि करते समय इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा प्राप्त हुए विषयजन्य सुख के आपात मात्र मधुर बन्धन में जब हम फँसने लगें, जब हममें भोक्तृत्व का अभिमान उदय होने लगे अथवा जब हम विषय सुख का भोजन करने लगें किंवा भोज्य विषयसुख ही किसी प्रारब्धवश उपस्थित हो जाय, तब पूर्व श्लोक में कहे प्रकार से सदा ही अपने शुद्ध रूप का बारम्बार स्मरण करते रहना चाहिये कि भोक्ता, भोजन तथा भोज्य ये तीनों भाव आगमापायी हैं। इन तीनों भावों को प्रकाशित करने वाला मैं तो इन तीनों का साक्षी सनातन पदार्थ हूँ। इन तीनों भावों के आजाने पर भी मैं इतना ही शुद्ध बना रहता हूं जितना कि इनके वशीभूत हो जाने से प्रथम रहता था। केवल भ्रम के कारण ही मैं इनके अधीन हो गया सा प्रतीत होने लगता हूं। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं तो सूर्य के समान इन सब विभागों को प्रकाशित किया करता हूं और कभी भी इन से लिप्त नहीं होता हूं। इस प्रकार अपनी असङ्ग स्थिति को जब कोई मुमुक्षु स्पष्ट करने लगता है तब समझना चाहिये कि उसने तीसरी बिल्वपत्रिका भी सदा शिव को समर्पण कर दी है।

भूर्भुवश्च तथा स्वर्ग इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे चतुर्थी बिल्वपत्रिका ॥ १०३ ॥

अभ्यास करते हुए जब कभी भूलोक, अन्तरिक्ष-लोक अथवा स्वर्ग लोक का ध्यान आकर ब्रह्माकार वृत्ति खण्डित होने लगे तब साधक को उचित है कि तुरन्त ही सन्नद्ध होकर इन तीनों पत्तोंवाली चौथी बिल्वपत्रिका भी उसी सदा शिव के अर्पण कर दे ।

तब उसको निम्न प्रकार से विचार करना चाहिये कि उस चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव ने ही भू, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग लोक के रूप में अपना विवर्त परिणाम कर लिया है । ये तीनों लोक भी कृतक होने से उत्पत्तिविनाशशील हैं । इन तीनों का भासक, इन तीनों में अनुगत, वह आत्मचैतन्य ही सदा रहने वाला तत्त्व है । फिर भला मुझे इन अशाश्वत पदार्थों के चिन्तन में पड़ कर अपने समाधि सुख को किस प्रयोजन से खण्डित कर लेना चाहिये ? जब कोई इन तीनों भावों से रहित होकर तथा सकल संकल्पों को छोड़ कर एक महती शुद्ध स्फटिक शिला के समान निश्चल हो रहेगा और अपने चिन्मात्ररूप साक्षी चैतन्य के अखण्ड दर्शन कर लेगा तब समझा जायगा कि उसने चौथी बिल्व-पत्रिका को शिव की भेट चढ़ा दिया है ।

जाग्रत्स्वप्नस्तथा सुप्तिरितिपत्रत्रयात्मिका ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे पंचमी बिल्वपत्रिका ॥ १०४ ॥

जाग्रत , स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन पंखडियों वाली पाँचवीं बिल्वपत्रिका को भी शिव के अर्पण कर देना चाहिये ।

जब आत्मानुसन्धान को जाग्रत, स्वप्न किंवा सुषुप्ति के विचार खण्डित करने लगें और आत्मज्ञानी-रूपी अंकुर इन अवस्थाओं के प्रभाव में आकर मुरझाने को उद्यत हो तब तुम अपने बोधांकुर से लालने पालने से कभी भी उपेक्षा मत करो । 'गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः' गर्भिणी स्त्रियां जिस प्रकार विपरीत आहार विहार से अपने गर्भ की रक्षा करती हैं, इस प्रकार इस बोध शिशु को विचार कर्दम में मत फंसने दो । तुरन्त ही आत्मोद्बोधन करके बार बार इसकी शुद्ध स्थिति और असंगता को स्मरण करते रहो । इस विचार को कभी भी अपने मन से न हटने दो कि जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें आने जाने वाली हैं । एक के आने पर शेष दो नहीं रहती । यों इन तीनों का आपस में निरन्तर व्यभिचार देखा जाता है । इन तीनों अवस्थाओं में माला के पुष्पों में सूत्र की तरह जो चैतन्य अनुगत हो रहा है वही परमार्थी लोगों को ज्ञातव्य पदार्थ है । वही मैं हूँ । फिर भला मुझे पामर प्राणियों के समान इन जाग्रादादि के विचारों में ही क्यों उलझे रहना चाहिये । मुझे इन तीनों अवस्थाओं से ऊपर क्यों नहीं उठ जाना चाहिये । ये तीनों तो शरीर इन्द्रियों तथा मन तक ही परिमित रह जाने वाली अशाश्वत अवस्थायें हैं । इनके लिए मुझे अपने शाश्वत आत्मदेव का हनन क्यों होने देना चाहिये । ऐसा विचार प्रवाह जब उमड़ पड़े और गम्भीर शान्ति के चिराभिलषित दर्शन होने की मधुर आशा बंधने लगे, आत्मानुसन्धान का बार बार खण्डित होना बन्द

हो जाय, हमारी समाधि के छिद्र थोड़े होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमने पांचवीं बिल्वपत्रिका को भी सदाशिव आत्मदेव के अर्पण कर डाला है।

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमिति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे षष्ठिका बिल्वपत्रिका ॥ १०५ ॥

'स्थूल शरीर' 'सूक्ष्म शरीर' तथा 'कारण शरीर' इन तीनों प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी छठी बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के समर्पण कर देना चाहिये।

ब्रह्माकारवृत्ति करते समय यदि समष्टि व्यष्टि स्थूल शरीर का विचार आने लगे अथवा केवल लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध में रहकर मनोराज्य होने लगे अथवा कारण शरीर अज्ञान में ही समय यापना हो रही हो तो अपने मनोमन्दिर में से इन तीनों प्रकार की बुद्धिओं को एक दम बाहर कर दो। अपने इन तीनों भावों को, सदाशिव आत्मदेव के अर्पण कर डालो। यह विचार करो कि मुक्त होने के समय हम लोग जिस शुद्ध आत्मस्थिति में रहेंगे उसमें तथा स्थिति में केवल अज्ञान के कारण ही तो अन्तर पड़ा हुआ है। यदि अपने आध्यात्मिक श्रम से हम इस अज्ञान को हटा सकें तो केवल शुद्ध चैतन्य ही शेष रह जायगा। जब किसी मुमुक्षु को तीनों शरीरों के बन्धन में से निकाल कर शुद्ध चिन्मात्र रूप रह जाने की युक्ति हाथ आजाय तब कहना होगा कि उसने छठी बिल्वपत्रिका को भी सदा शिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया।

अविद्या संसृतिर्जीव इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे सप्तमी बिल्वपत्रिका ॥ १०६ ॥

अविद्या, संसार तथा जीव इन तीनों प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी सातवीं बिल्व पत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

तात्पर्य यह है कि अविद्या से (उस अविद्या से उत्पन्न होने वाले इस) संसार से तथा जीव के जीवभाव का स्मरण आने से, जब जब अखण्ड आत्मानुसन्धान खण्ड खण्ड होने लगे तब तब मुमुक्षु को उचित है कि इन अविद्या संसार तथा जीव नाम के तीनों पदार्थों में अनुगत चिन्मात्ररूप का ध्यान बड़ी तत्परता से किया करे कि ये तीनों पदार्थ क्षणध्वंसी, परतः प्रकाश्य तथा अशाश्वत हैं। यदि मैं इनका ही चिन्तन करता रहूँगा और अपने अमूल्य आयुष्य को यों ही व्यर्थ गँवा दूँगा तो मुझे अपने इस व्यर्थ प्रयास का क्या फल मिलेगा? मुझे तो सदा अपने उस शाश्वत चिन्मात्ररूप आत्मदेव का ही मनन करते रहना चाहिये। जिसके प्रताप से मैं इस भवसागर को पार करके पाँचों क्लेशों से मुक्ति पा सकूँगा। इस प्रकार के विचार प्रवाह में जब कोई अधिकारी बह निकलता है और बहता बहता आत्मतट तक पहुँच जाता है तब समझा जाता है कि उसने सातवीं बिल्व पत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव को अर्पण कर डाला।

उत्पत्तिश्च स्थितिर्नाश इति पत्र-त्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे त्वष्टमी बिल्वपत्रिका ॥ १०७ ॥

उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी आठवीं बिल्व पत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

जब कि अपने अथवा उस जगत् के उत्पन्न होने, अथवा किसी वस्तु को पैदा करने के विचार किसी मुमुक्षु के मन में आने लगें, जब कभी अपने धर्माचरण की भावनायें हृदय में उठती हों तथा जगद्व्यवहार को चलाने वाले धर्माचरण में प्रवृत्ति होती हो, या कभी किसी का संहार करना ही मन को रुचिकर होने लगे तब इन सब बुद्धियों को समेट कर (इन सब के प्रकाशक) आत्मदेव की भेंट चढ़ा दो। यह भेंट इतनी गम्भीर हो कि जब यह भेंट चढ़ा चुको तब न तो किसी की उत्पत्ति का विचार आये न किसी की स्थिति का संकल्प उठे और न किसी का संहार करने की ही भावना जागे। तब केवल चिन्मात्ररूप आत्मदेव ही जहां तहां सर्वत्र दिखाई पड़ने लगें। यह भावना सदा के लिये दृढ़ हो जाय कि इन उत्पत्ति आदियों में अनुगत रहने वाला इनका साक्षी चेतन आत्मा ही एक शाश्वत तथा चिन्तनीय पदार्थ है। इन तीनों का चिन्तन करने से तो क्लेशों के वश में आना पड़ता है। इस सब खटपट से छुटने का सर्वोत्तम तथा करने में सुखदायी उपाय तो यही है कि केवल चिन्मात्ररूप में अपनी स्थिति का सम्पादन कर लिया जाय। अथवा यों समझो कि अपने चिन्मात्र 'ओम्' आत्मा में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया जाय। जब किसी अधिकारी को ऐसी स्थिति अनायास ही प्राप्त होने लगे तब समझ लेना चाहिये कि उसने आठवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्र रूप सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है।

ब्रह्मा विष्णु स्तथा रुद्र इति पत्रत्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे नवमी बिल्वपत्रिका ॥ १०८ ॥

ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली नवमी बिल्व पत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो।

अपनी कामपूर्ति के लिये ब्रह्मा की किंवा अपने किसी भोग को स्थित रखने के लिये विष्णु की, तथा किसी शत्रु का संहार करने के लिये रुद्र की उपासना करने के विचार उत्पन्न होने लगें और इन्हीं विचारों के कारण समाधि में लम्बे लम्बे छिद्र हो जाँय और उन छिद्रों में होकर साधक का आत्म सुख विलुप्त होने लगे तो तुरन्त सावधान होकर वस्तुस्थिति का विचार करना चाहिये कि इन ब्रह्मा आदियों को भी (अपनी सत्ता का दान देकर) पालने वाला तो यह मेरा शुद्ध चैतन्य ही है। इन उपाधि वाले चेतनों के प्रपंच में फँस कर मुझे अपने आत्मसुख को खण्डशः (टूक टूक) क्यों कर देना चाहिये ?! हाय ! हाय ! वह कैसी निकृष्ट स्थिति है कि अखण्ड सुख को छोड़ कर खण्डित सुखों की ओर ही मेरा मन चलता है। इस अस्वाभाविक स्थिति से तो मुझे अवश्य ही बाहर हो जाना चाहिये। इस प्रकार से विचार करते करते जब किसी अधिकारी की परमुखापेक्षिता (सुख के लिए दूसरे विषयों का मुँह ताकने की आदत) नष्ट हो जाय और केवल आत्मसुख से ही तृप्ति मिलने लगे, जब कि शुद्ध आत्मारामता आविर्भाव होने लगे, तब निश्चय

कर लेना चाहिये कि इस अधिकारी ने नौवीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्र सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है ।

तमो रजस्तथा सत्वमिति पत्रत्रयान्विता
शिवे समर्प्या चिद्रूपे दशमी बिल्वपत्रिका ॥ १०९ ॥

तम, रज तथा सत्व इन तीन प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धिरूपी दशवीं बिल्वपत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दो ।

जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि (आत्मा को भुला डालने वाले मोहरूपी) तमोगुण से दब कर किंवा (चंचल स्वभाववाले) रजोगुण में फंस कर अथवा (धर्म में प्रीति बढ़ाने वाले तथा सकल जगत् का ज्ञान कराने वाले प्रकाश रूप) सत्वगुण में रम कर अपने आत्म-धाम को भूल जाय तब उसे चाहिये कि वह तुरन्त सावधान होकर इन बुद्धि वृत्तियों को सदाशिव आत्मा की भेंट चढ़ा दिया करे । तब यह चिन्तन किया करे कि इन तीनों गुणों को प्रकाशित करने वाला मेरा आत्म चैतन्य ही परमार्थ वस्तु है । ये सब तो उसी आत्म-चैतन्य के काल्पनिक रूप हैं । मुझे तो इन सब का चिन्तन छोड़ कर सदा अपने उसी पारमार्थिक स्वरूप का विचार रखना चाहिये । यह आत्म-चैतन्य सदा ही त्रिगुणातीत (तीनों गुणों से बाहर) है इन गुणों से आत्मा की सच्ची अवस्था में तो कुछ भी अन्तर (फर्क) नहीं पड़ता है । फिर मुझे ऐसी भूल क्यों करनी चाहिये कि मैं इनके चिन्तन में ही लगा रह जाऊँ ? जब कोई इस विधि से त्रिगुणातीत होकर शुद्ध आत्मस्थिति को पा लेता है तब कहा जाता है कि दशमीं बिल्वपत्रिका को भी चिन्मात्ररूप सदाशिव आत्मदेव की भेंट चढ़ा दिया है ।

त्वन्ता हन्ता तथेदन्त्वमिति पत्र त्रयान्विता ।
शिवे समर्प्या चिद्रूपे रुद्राख्या बिल्वपत्रिका ॥ ११०॥

त्वन्ता (तूपन) अहंता (मैं पन) और इदन्ता (यह पन) इन तीनों प्रकार के पत्तों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि रूपी ग्यारहवीं बिल्व पत्रिका को भी चिद्रूप शिव के अर्पण कर दिया करो ।

ब्रह्माभ्यास करते करते जब किसी मुमुक्षु के मन में तुझ से, या अन्य किसी से सम्बन्ध रखने वाले विचार उदय होने लगें और उस साधक के नव प्रज्वलित बोध दीपक के बुझने का भय हो तब उसे उचित है कि बड़ी तत्परता के साथ इन सब प्रकार के विचारों को समेट कर सदाशिव आत्मदेव के (अपवादाधिष्ठान रूपी) चरण में फेंक दिया करे । यदि ये विचार सहसा वश में न आते हों तो निम्न विधि से विचार किया करे कि ये सब ध्वन्ता (तूपन) आदि इस चिन्मात्र आत्मा को न पहचान ने से इसी के अपारमार्थिक रूप बन गये हैं । काठ के बने हुए हाथों के समान ये सब काल्पनिक हैं । इन सब का सच्चा रूप तो वह सदा-शिव आत्मा ही है । फिर भला मुझ साधक को उस पारमार्थिक रूप को छोड़ कर इन अशाश्वत और मायिक पदार्थों के चिन्तन में ही क्यों डूबे रहना चाहिये । इन त्वन्ता अहन्ता आदियों ने तो मेरे आत्मसुख को मुझ से छीनने का बीड़ा उठा रक्खा है । यह सब कुछ जान चुकने पर भी मुझे उनकी ठगाई में क्यों आते जाना चाहिये । जब किसी मुमुक्षु की बुद्धि पर से त्वन्ता अहन्ता आदि का मोहक फांसा उठ कर

शुद्ध चैतन्य के दर्शन होने लगे हों तो समझना चाहिये कि उसने ग्यारहवीं विल्व पत्रिका को चिन्मात्र रूप सदाशिव आत्मा को भेंट चढ़ा दिया है।

एकादशैताः कथिताः शाम्भवा विल्वपत्रिकाः
एताभिरर्चितः शम्भुः सद्यो मुक्तिं प्रयच्छति ॥१११॥

हमने शम्भु की भेंट करने को ये ग्यारह बिल्वपत्रिकायें बताई हैं इनसे पूजा हुआ शम्भु शीघ्र ही मुक्ति दे देता है।

जीवों के मनों में आने वाले, आत्म-शम्भु पर चढ़ाने योग्य, बिल्वपत्ररूपी ग्यारह प्रकार के विचारों का निरूपण हमने यहाँ तक किया। जब कोई मुमुक्षु प्रसंगानुसार उपयुक्त समय देखकर इन ग्यारह पत्तों से अपने आत्म-शंभु की पूजा कर दे (अर्थात् जब इन ग्यारह प्रकार के विचार में से कोई सा विचार उत्पन्न हो तब तुरन्त ही अपने अध्यात्म विचार की सहायता से उनका लय कर दे और अखण्ड एकरस आत्मदेव के चिन्तन का निरन्तर प्रवाह बहादे) तो यह आत्म-शंभु उस पर तुरन्त प्रसन्न होकर तत्काल ही उसे जीवनमुक्ति के दुर्लभ पद का दान कर दे।

भाव यह है कि ब्रह्माभ्यास करते करते जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियां शान्त हो जाँय, जब सब संकल्पों में महामारी सी फैल जाय, जब मनोधर्म का चिन्ह भी शेष न रहे, जब बुद्धि भी चेष्टा करना बन्द कर दे, खोजने पर जब प्रवृत्ति का पता न पाये अथवा यों कहना चाहिये कि अनादिकाल से अपने २ तुच्छ कामों में फँसे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को विश्राम मिलने लगे तब समझना चाहिये कि परमगति की प्राप्ति होने लगी है, ज्ञानात्मा को शान्त आत्मा में गमन करने की विधि मालूम पड़ गई है, बुद्धि से भी परम जो तत्व है उसको पहचान लिया गया है। परन्तु करोड़ों पुण्यों से कमाई हुई ऐसी शुद्ध आत्मस्थिति को हमारे अनादिकाल के संस्कार बार बार खण्डित करते ही रहते हैं। वे इसे निरन्तर नहीं रहने देते। उस पवित्र अवस्था को निरन्तर रखने के लिये ही उक्त ग्यारह प्रकार के बिल्वपत्रार्पण बताये गये हैं। जिस प्रकार उड़ने की कला में सिद्धहस्त, (चतुर) गृध्र आदि महापक्षी अपने पंखों को हिलाये बिना ही आकाश मार्ग में उडान मारते रहते हैं, केवल कभी (जब कि नीचे को गिरने का भय हो जाता है तब) अपने पंखों को थोड़ा सा हिला लेते हैं इसी प्रकार लोग भी ब्रह्माकार वृत्ति करते करते शुद्ध आत्मस्थिति में बिहार करने लगते हैं। परन्तु जब कभी उनकी शुद्ध स्थिति के भंग होने का प्रसंग आने लगता है, तब वे तुरन्त ही (उक्त ग्यारह प्रकारों में से किसी एक पद्धति से) फिर फिर ब्रह्माकार वृत्ति बना लेते हैं और इस प्रपंच के मिथ्या बंधन से बार बार मुक्त होते रहते हैं। इस अभ्यास को करते करते अन्त में तो ऐसी शान्त और स्पृहणीय देव दुर्लभ अवस्था का प्रदुर्भाव होता है कि जिसका वर्णन करने का भारी बोझ मनुष्यों की अधूरी भाषा से सँभल भी नहीं सकता। जिन ज्ञान योगियों का हृदय जितनी देर के लिये वैसी देवदुर्लभ अवस्था का विलास क्षेत्र बन जाता है वे लोग उतनी देर के लिये आकाश के समान अनन्त, समुद्र के समान गम्भीर, सलिल के समान शीतल और स्फटिक के समान स्वच्छ हो जाता है।

अथाष्टमूर्तिपूजनम्—

शैव शास्त्रों में क्षिति आदि नाम वाली शिव की आठ मूर्तियों का वर्णन आता है उनके द्वारा शिव पूजन का निश्चय अब किया जाता है—

शर्वो भवोरुद्र उग्रो भीमः पशुपतिस्तथा ।
महादेवस्तथेशान इति मूर्तिप्रपूजनम् ॥११२॥

शर्व (प्राणियों को धारण करने वाला पृथ्वी से बना हुआ देह) भव (पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला जल से बना हुआ देह) रुद्र (जला कर सब जगत् को रुलानेवाला अग्नि से बना हुआ तेजः स्वरूप देह) उग्र (भौतिक पदार्थों का शोषण करने वाला वायु से निर्मित देह) भीम (वायु आदि समस्त भूत-भौतिक पदार्थों को अपने में लय करने के कारण सब को भय देने वाला आकाश से बना हुआ देह) पशुपति (जीवरूपी पशु की रक्षा करने वाला मनो निर्मित देह) महादेव (मन से भी श्रेष्ठ होने से महान् तथा चैतन्यरूप सकल संसार की क्रीड़ाभूमि, बुद्धि से निर्मित देह) तथा ईशान (जीवों को अपनी शक्ति से प्रेरित करने वाला अहङ्कार निर्मित देह) हमारी शिव पूजा में ये ही आठ मूर्त्ति हैं। इनका पूजन करना चाहिये।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार नामक आठ प्रकृति ही उस चिन्मात्र के अपारमार्थिक रूपान्तर हो गये हैं। जब इनके साक्षी का ध्यान किया जाता है तब शिव (निरूपाधि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मचैतन्य) ही दृष्टिगोचर होने लग जाता है। इन आठों प्रकृतियों में से जिस किसी पर मुमुक्षु की दृष्टि पड़ती है उसको वहीं वहीं अपने साक्षी आत्मा के अखण्ड दर्शन होते हैं और समाधि होने लगती है। जब किसी मुमुक्षु को आत्मदेव के ऐसे सार्वत्रिक दर्शन मिलने लगें तब समझना चाहिये कि उसने अष्टमूर्ति का विधिपूर्वक पूजन कर लिया है।

अष्टौ प्रकृतिरूपाणि कष्टान्यष्टैव देहिनः ।
स्पष्टं मूर्तिभिरष्टाभि रष्टमूर्तिं हरत्यसौ ॥ ११३ ॥

परा प्रकृति ने ये ही पृथ्वी आदि आठ रूप धारण कर लिये हैं। यही कारण है कि देही जीवात्मा को इन आठ ओर से आये हुए, आठ प्रकार के ही दुःखों को भोगना पड़ता है। परन्तु उन आठ प्रकार के दुःखों को यह हमारा जागा हुआ अष्टमूर्ति अपनी आठों मूर्तियों से हर लेता है।

इन आठों मूर्तियों के द्वारा लक्षणवृत्ति से ज्यों ही इन आठों प्रकृतियों के साक्षी आत्मचैतन्य का अनुसन्धान कोई साधक करते हैं त्योंही आठों प्रकृतियों का बाध हो जाता है (उनमें से कोई सी भी शेष नहीं रहती) तब तो वहाँ एकान्त लीला चतुर केवल साक्षी चैतन्य ही विराजा करते हैं। जब कि वे आठों प्रकृतियाँ नहीं रहतीं तब उन आठों प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाला दुःख ही कैसे रहे ?

अथ प्रदक्षिणा निर्णय

लौकिक पूजन में प्रदक्षिणा करने की जो विधि है उसका यहाँ जो तात्पर्य है वह बताया जाता है—

अपर्यन्तो महादेव स्तस्य कल्पशतैरपि।
न स्यात् प्रदक्षिणं तेन शिवस्यार्धं प्रदक्षिणम् ॥ ११४ ॥

चिन्मात्ररूप महादेव का पर्यन्त (अथवा समाप्ति) कहीं भी नहीं होता। अनगिनत महाकल्पों का समय व्यतीत करने देने पर भी उसकी पूरी प्रदक्षिणा किसी भी चिदाभास से हो नहीं सकती। इसी कारण से शिवतत्व की प्रदक्षिणा आधी अर्थात् एकदेश में ही मानी गयी है।

ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप का चिन्तन किसी से भी नहीं किया जा सकता। जितने भी ज्ञानी लोग हैं वे सब उसके किसी एक देश के चिन्तन में ही दक्ष पाये जाते हैं (कोई ज्ञानी उसकी पूर्णता का ही ध्यान करते हैं, कोई उनकी समता में ही विश्राम कर लेते हैं, किसी को उनका शान्तरूप ही पसंद आता है, किसी को चतुर्थ चिन्ता ही भाती है, कोई तो कुछ भी चिन्तन न करने को ही परम पुरुषार्थ समझने लगते हैं इत्यादि)। लौकिक शिव पूजन में शिव प्रदक्षिणा करते समय (शिवलिंग पर चढ़ाये हुए जल के बाहर निकलने की नाली) को उल्लंघन न करने (किंवा शिव की आधी प्रदक्षिणा करने) का तात्पर्य भी यही है कि सैकड़ों कल्पों तक प्रदक्षिणा करने पर भी अनन्तरूप महादेव की पूरी प्रदक्षिणा किसी से भी नहीं हो सकती।

अथ गल्लवाद्य विचार

शिव के सामने गल्लवाद्य करने का विचार किया जाता है:—

यथा स्वरूपं देवस्य तथा वक्तुं न शक्यते।
स्तुतिर्वा गल्लवाद्यं वा तेन शम्भोर्द्वयं समम् ॥११५॥

चिन्मात्ररूपी आत्मदेव का जैसा स्वरूप है यथार्थ में उसके प्रतिपादन करने का सामर्थ्य तो किसी को भी नहीं है। ऐसी अवस्था में उस सदा शिव आत्मदेव की चाहे तो स्तुति की जाय या फिर (स्तुति की निरर्थकता को देख कर) गाल बजाये जाँय, सकल जगत् को आनन्द देने वाले उस आत्मशम्भु की दृष्टि में ये बातें समान ही होती हैं।

अथ नमस्कार विचारः—

अब नमस्कार नाम के उपचार का निर्णय किया जाता है—

प्रेमनिर्भर भावेन दण्डवत्पतितै र्भुवि।
महादेवो नमस्कार्योः गलितत्वादहङ्कृते ॥११६॥

अहंकार के पूरा नष्ट हो जाने के कारण, प्रेम से गद्गद होकर, ब्रह्मरूपी भूमि में दण्ड के समान निरभिमान होकर शयन कर सकने वाले लोग ही महादेव को नमस्कार किया करें।

शिव पूजन करते करते जब प्रेम की मात्रा अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगे और अधिकारी का अलङ्कार नष्ट हो जाय तब मुमुक्षु को उचित है कि ब्रह्मनाम की विस्तीर्ण भूमि (जीवेश्वरादि प्रपंच के उत्पत्ति स्थान होने से उसे भूमि कहा गया है) में इस प्रकार गिर पड़े और काल पाकर वहीं इस प्रकार विलीन हो जाय जैसे कि डण्डा लम्बायमान होकर भूमि पर गिर पड़ता है और वहीं पड़ा पड़ा गल सड़ कर भूमि में विलीन होकर अपना नाम रूप खो देता है। जिन साधकों के गम्भीर पतन में इस प्रकार मर मिटने और विलीन हो जाने का सामर्थ्य आगया हो ऐसे मुमुक्ष पुरुष ही अनन्त चैतन्यरूप ब्रह्म को नमस्कार करने के सच्चे अधिकारी हैं। तात्पर्य यह है कि जब कोई अधिकारी अहङ्कारादि उपाधियों का परित्याग कर देता है और ब्रह्म के साथ एकता का सम्पादान कर लेता है तब यही इस शिवपूजन का नमस्कार कहाता है।

अथ क्षमापनम्---

अब इस शिवपूजन के क्षमापन का निर्णय किया जाता है—

मानुष्यमपि सम्प्राप्य पूजितो न महेश्वरः।
अपराधो महाञ्जातः क्षमस्वेति मुमुर्वदेत् ॥११५॥

मनुष्य जन्म पाकर भी महेश्वर का पूजन मैंने नहीं किया, यह मुझ से बड़ा भारी अपराध हुआ। हे सदाशिव! मेरे इस अपराध को सहन कर लीजिये। ऐसी प्रार्थना अपने आत्मदेव से बार बार करता रहे।

अनादि काल से लेकर मैंने अनेक बार मनुष्य जन्म पाये, परन्तु अपने अज्ञान के कारण में सदा ही अल्पेश्वरों की पूजा करता रहा। उन जन्मों में कभी भी उस महादेव का पूजन नहीं किया (मैं सदा इन्हीं पामर-स्पृहणीय झगड़ों में फंसा रहा) यह मुझसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया है। हे आत्मदेव! मुझ मुमुक्षु के इस अपराध को आप सह लीजिये। मुमुक्षु को उचित है कि अपने आत्मदेव से बार बार ऐसी क्षमा-याचना करता रहे।

अथ विसर्जन निर्णयः---

अब इस शिवपूजन के विसर्जन का तात्पर्य बताया जाता है।

ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वजीवत्वादि विसर्जनम्।
एतस्यां शिवपूजाया मेतदेव विसर्जनम् ॥१११॥

ज्ञत्व, कर्तव्य, भोक्तृत्व तथा जीवत्व आदि धर्मों का परित्याग ही इस शिव पूजन में विसर्जन कहा है।

आत्मज्ञान में दीक्षित हो जाने के अनन्तर पूर्वाभ्यास वश जब कभी यह भाव होने लगे कि "ये कान, नाक, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मेरी हैं, मैं इनसे श्रवण आदि करता हूं, कर्मेन्द्रियां मेरी हैं, मैं इनसे क्रिया

करता हूँ, मैं ही प्राण लेता हूं, उन उन भोग्य विषयों के आने पर सुख अथवा दुःख भी मुझे ही होते हैं। प्राणों को धारण करने वाला जीव भी मैं ही हूँ" तब तब तुरन्त सावधान होकर इन सब अनात्म धर्मों का विसर्जन कर देना चाहिये अर्थात् यह चिन्तन करना चाहिये कि शुद्ध आत्म-चैतन्य में इन धर्मों का अस्तित्व कहीं भी नहीं है। ये सब धर्म इन्द्रिय, प्राण तथा मन आदि उपाधियों के कारण हैं। जब कोई विवेकी इन अनात्मधर्मों को कभी भी अपने पास नहीं फटकने देता, अपने ज्ञान-दीपक को कभी बुझने नहीं देता, वृत्तिरूपी रन्ध्रों के द्वारा अपने ज्ञानद्रव्य को बहने नहीं देता, तब यह अनात्म धर्मों से हट जाना ही इस शिवपूजन में विसर्जन कहाता है।

अज्ञाकरत्वमायाति पुरुषार्थचतुष्टयी।
यतोऽस्याः शिपूजाया महिमा केन वर्ण्यताम् ॥११९॥

यदि कोई विवेकी उक्त प्रकार से शिव पूजन कर ले तो चारों पुरुषार्थ हाथ बाँध कर उसकी दासता करने लगते हैं। फिर भला किस संसारी की वाणी में इतना सामर्थ्य हो कि इस शिव पूजा की महिमा का पूरा पूरा वर्णन कर सके।

तत्त्वतो यः शिवं वेद स वेद शिवपूजनम्।
कस्तत्त्वतः शिवं वेद वेद शिवपूजनम् ॥११०॥

जो कोई महापुरुष यथार्थरूप में सदाशिव को जान जाय वही शिव पूजन को सम्पूर्णतया जान सकता है। परन्तु ऐसा प्रसङ्ग कभी भी आने वाला नहीं है। क्योंकि ऐसा है ही कौन जो कि यथार्थ रूप में शिव के स्वरूप को जान गया हो? यही कारण है कि शिव पूजन की पद्धति का सम्पूर्ण ज्ञान आज तक किसी को भी ज्ञात नहीं हो सका है।

शिव पूजा शतक में एक सौ बीस श्लोक हो गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार है, इनमें सोलह श्लोक ध्यान निर्णायक श्लोक की व्याख्या है तथा माहात्म्य और अधिकारी का निरूपण करने वाले दोनों श्लोक भी उसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

१०-३-१९४३] (बोधसार)

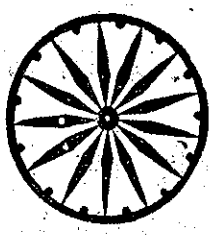

काशीवाले स्वामी अभयानन्दजी महाराज के बताये हुए योगसम्बन्धी १६ साधन।

१. चैतन्य विष्णु भगवान् के चैतन्य चतुर्भुजी मूर्तियों का दर्शन करना।

ज्ञातव्य—चैतन्य विष्णु भगवान् जो परमात्मा है, जिसने सारी सृष्टि को रच कर हम लोगों को उत्पन्न किया, उसकी बनाई चैतन्य चतुर्भुजी मूर्तियें यथार्थ में मनुष्यमात्र हम लोग हैं। (प्रश्न) मनुष्य तो दो भुजा वाला है चतुर्भुजी नहीं? (उत्तर) मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जोड़े से उत्पन्न हुआ है, मनुष्य ही नहीं बल्कि चराचर संपूर्ण जगत् ही उक्त प्रकार जोड़े से उत्पन्न है। और धार्मिक सृष्टि में दोनों समान हैं। दोनों की समानावस्था में एकीकरण करने से चतुर्भुजी मूर्ति होने में किञ्चित् भी संदेह नहीं। यथा—गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन इत्यादि।

साधन—गृह वा बाहर जितने प्राणीमात्र देखने में आवें उनको अपनी आत्मा के अनुकूल जानों। "आत्मनः प्रतिकूलानि न परेभ्यः समाचरेत्" (महाभा०) अर्थात् जो बात तुम अपने लिए करना नहीं चाहते उसे दूसरों के प्रति भी न करो।

द्रष्टव्य—यदि आज से इस महामंत्र को हम अपने चरित्र में ढालदें तो अपने समीप ही चैतन्य चतुर्भुजी मूर्तियों का दर्शन प्रत्येक समय होने लगेगा। और चैतन्य विष्णु भगवान् भी आप पर प्रसन्न होकर सुख की वृद्धि करेंगे।

२. अपने स्वशरीर के चित्र को आकाश में गुप्त मन्त्र द्वारा देखना।

साधन—जिस समय आकाश निर्मल हो, प्रातः ८ से १० बजे तक अथवा सायं ४ बजे से ६ बजे तक धूप में सीधे अपनी छाया के हृदय स्थान पर एकटक दृष्टि त्राटक ३ वा ५ मिनट तक करके ऊपर आकाश में देखने से अपने स्वरूप का चित्र दिखेगा। यदि प्रथम बार देखने में न आवे तो तीन बार उक्त विधि से देखने से अवश्य दिखेगा। कुछ काल नित्य अभ्यास करने से मनकी स्थिरता होने लगेगी।

३. आदि सृष्टि के पाँच योगी गुरुओं का प्रत्यक्ष रूप से दर्शन करना

ज्ञातव्य—योग सिखलाने वाले आदि सृष्टि के पाँच योगी गुरुओं के नाम ये हैं—१ स्वप्न, २ सुषुप्ति, ३ मूर्च्छा, ४ मृत्यु, ५ जाग्रत अवस्था। वे सब अवस्था जिस विधि से हम लोगों को जागता से सोता, सोता से जागता, जीता से मरता, एवं मरता से जन्मना कर देती है उस विधि को ठीक ठीक सीख लेना और उस पर अपने अधिकार जमा लेना सच्चे योगी की शिक्षा और साधन का विषय है। अन्यथा कोई

मनुष्य कभी किसी सच्चे योगी का सच्चा गुरु नहीं होसकता, परन्तु जो पुरुष सचमुच योग साधन करता है उससे योग जिज्ञासुओं को कुछ सहायता मिलती है। इसके बिना सच्चा गुरु मिलना भी कठिन है।

४. रात्रि समय एक चन्द्रमा के स्थान में दो चन्द्रमा का दर्शन करना।

साधन--(प्राकृतिक नियम) शुक्लपक्ष की रात्रि में एकादशी से पूर्णिमा तक जिस समय आसमान साफ हो, रात्रि को ३ वा ४ बजे निद्रा से तुरन्त उठते ही चन्द्रमा पर ३ मिनट तक त्राटक यानी एकटक देखने से एक चन्द्रमा के स्थान में दो चन्द्रमा उसी रात्रि को प्रथम ही दिन दिखलाई देंगे।

द्र०—मनोनिग्रह का एक यह भी साधन है। स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य रात्रि को उक्त विधि से जब चाहे उस समय में भी देख सकता है।

५. मुक्ति पाने अथवा फिर से मनुष्य योनि प्राप्त कराने वाला गुप्त मन्त्र जान लेना।

साधन--"ओ३म् क्रतोस्मर, क्लिबेस्मर, कृत स्मर"। (यजु० अ० ४० मं० १५)

अर्थात्—ओ३म् नाम वाच्य ईश्वर का स्मरण कर, अपने सामर्थ्य के लिये परमात्मा और अपने स्वरूप का स्मरण कर, अपने किये का स्मरण कर।

उपरोक्त वेद आज्ञा के पालनार्थ योगाङ्गों का अभ्यास नित्य कुछ समय निकाल कर करने वाले को मुक्ति वा मनुष्य योनि प्राप्ति का अवसर अवश्य प्राप्त होता है।

६. मनोरथ सफल कराने वाला गुप्त मंत्र।

साधन--'योग साधक के नियम' लघु पुस्तक सं० १ में जो उपयुक्त २४ नियम बतलाये गये हैं उन नियमों को पालन करते हुए सिद्धासन का साधन तब तक करना होगा जब तक वह साध्य न हो जावे। मनोरथ की विशेष सफलता इसी पर निर्भर जानना चाहिए। परन्तु साधारणतया तो उपरोक्त साधन के दशवें दिन से ही फल प्रदर्शन होने लगेगा।

विधि—नव दिवस आसन साधन कर लेवे फिर दशवें दिवस साधन पर से उठते समय हृदय में दृढ़ चित्त से सत्य संकल्प जो कल्याणकारी हो उसे पूरक स्वर अर्थात् श्वास को भीतर खींचते समय तथा कुछ देर उदर दरी में ठहरा कर करे। इसी प्रकार तीन बार करना चाहिए। अनिष्ट कार्य्य जिसे आप त्यागना चाहते हैं रेचक अर्थात् श्वास छोड़ते समय उसी विधि से तीन बार में करना चाहिए।

जिसे तुम अपने अनुकूल बना कर उससे अपना उचित मनोरथ सिद्ध करना चाहते हो तो उसके समीप जाने पर जिस ओर (तरफ) की श्वास तुम्हारी चलती हो तो उसी तरफ तिरछे बैठ कर अपने पूरक स्वर

में जिस कार्य्य को जिस प्रकार कराना चाहते हो मन में उस विचार को चित्रवत् चित्रित करके शीघ्रता से उसके नासिकाग्र को प्रथम देखो और यदि हो सके तो उसकी आँखों की तरफ ध्यानावस्थित होकर फिर अपने विचार को उससे प्रकट करो।

द्रष्टव्य—उपरोक्त विधि के अनुसार एक दिन में एक ही कार्य को सम्पादन करने की इच्छा करनी चाहिए, यदि एक बार निष्फल भी हो जाओ तो हतोत्साह मत हो अपना प्रयत्न बराबर करते रहो। सिद्धासन को साध्य कर लेने का अभ्यास बराबर जारी रखना चाहिए।

(७) दरिद्रता को दूर भगाने वाला गुप्त मंत्र।

"ज्ञातव्य"—प्रथम इस बात को जान लेना परमावश्यक है कि दरिद्रता क्या है? दरिद्रता भी एक प्रकार का कठिन 'मानसिक रोग' है। इस कठिन रोग के निवृत्ति की भी परमौषधि अनुभव से योग ही प्रतीत हुआ है। जो मनुष्य ब्रह्माण्डाधिपति 'जगदीश्वर' से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ लेवेगा वह कभी आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक किसी भी क्लेश से क्लेशित नही रह सकता। समस्त ऋद्धि और सिद्धियें उसके संमुख दासी की तरह खड़ी रहेंगी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो ये चार मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ हैं ये सब सिद्ध हो जावेंगे। परन्तु एक बात यह भी ध्यान में रहे कि 'समस्त शक्तियोंके और सिद्धियों का मुख्य द्वार मानसिक एकाग्रता है जो योग की यह प्रथम कुंजी है उसके एकाग्र करने का साधन निम्न सूत्र द्वारा करनी होगी।

"साधन"—योग सोपान प्रथम भाग पृ० १६ से पृ० २१ तक जो योग साधक के उपयुक्त नियम २४ दिये गये हैं उनको पालन करते हुए पृ० २२ से पृ० ३३ तक मानसिक एकाग्रता के विषय में ओङ्कार का त्राटक, मन की गति का ईक्षण, मन की गति का संयमन, मन की गति का नियमन, इन सबों को प्रथम साध्य कर लेने के पश्चात् सिद्धासन का साधन और तत्पश्चात् स्वर को नियमित करने के लिए स्वर सापन जो उसी प्रथम भाग के अन्त में है यथाक्रम पूर्व से यहाँ तक साध्य करना चाहिए। तत्पुनः योग सोपान द्वितीय भाग पृ० १ से पृ० ८ तक जो तत्वों के विषय में लेख दिये गये हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए पंचतत्वों में से केवल पृथ्वी तत्व का पीले कागज के बने चतुष्कोण यंत्र पर यथाविधि साधन करना होगा।

जिस समय उपरोक्त साधनों को साधक साध्य कर चुकेगा फिर उसके समीप से दरिद्रता सदैव लिए दूर भाग जावेगी। और साधक यथार्थ धनी बन कर ऐहिक और पारलौकिक दोनों सुखों का भागी बन जावेगा।

"साधारण सफलता"—दरिद्रता को दूर भगाने में साधारण सफलता साधक को प्रारम्भिक अभ्यास के दशवें दिवस से ही अनुभवीत होने लगेगी। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि सुख दो तरह के हैं, एक सच्चा सुख और दूसरा झूठा सुख। झूठा सुख बाहर से आता है और अधूरा होता है। सच्चा सुख भीतर से आता है और पूर्ण होता है। पुरुषार्थ प्रयत्न करने वाले की ही देवता सहायता करते हैं

इसलिए अज्ञान, थकावट, निरुत्साह, और बड़-बड़ करने के स्वभाव—ये सब दुर्गुण अवनति लाते हैं। ज्ञान, उत्साह, पुरुषार्थ, प्रयत्न, शान्ति उन्नति लाते हैं। संसार में सत्य, यश, और धन इन तीनों को जो एकत्रित कर सकेगा वही सदैव सुखी रह सकेगा। दीन और दुर्बल, हीन और कमजोर, निस्तेज और निर्वीर्य इस प्रकार जो हीन जीवन है वह अधार्मिक जीवन है। जहां धर्म है वहां अवश्य 'अ-दीनता' रहेगा ही अर्थात् दीनता उसके पास से भाग जावेगी। जो अपने आपको हीन दीन समझते हैं वे वेद का तत्व नहीं जानते। "दो लाख की दो बात, न फजूल खर्ची न फजूल बात"।

(८) सदैव आरोग्य रखने वाला गुप्त मन्त्र।

"साधन"—यदि आप सदैव आरोग्य रहना चाहते हैं तो सब से प्रथम 'योग साधक के नियम' लघु पु० सं० १ में जो उपयुक्त २४ नियम बतलाये गये हैं उन नियमों को पालन करते हुए सिद्धासन का साधन तब तक करना होगा जब तक यह आसन साध्य न हो जावे। सिद्धासन के साथ ही दो आसनों को और भी जिसे सर्वांगासन और शीर्षासन कहते हैं सदैव अभ्यास में रखना आवश्यकीय होगा।

'विधि'–१ "सर्वाङ्गासन"—प्रातः बिस्तरे से उठने के समय साफ चित यानी सीधे लेट कर चूतड़ तक बिस्तरे पर रख के केवल दोनों पावों को जोड़ के ऊंचे करना, पीछे युक्ति से केवल कंधा और माथा इन्हीं पर सब शरीर को तान के खड़ा करना। प्रयत्न करके आप इसी प्रकार एक या दो मिनट तक रहने का अभ्यास कर ले वेंगे तो भी उसका अनुभव मिलेगा। दश मिनट तक रहने का अभ्यास जिस समय हो जाय तो उसे मल-मूत्र की शुद्धि होने लगेगी और जठराग्नि अच्छी तरह से प्रदीप्त होगा।

२ 'शीर्षासन'—धोती या अंगोछे की गिंडूरी बना उस पर शिर रख के दोनों हाथ शिर के दोनों ओर रख ले, फिर पाँव ठीक शिर के ऊपर हो ठीक सीधे लम्बे करे। ऊपर तूंदी और नीचे तालू करने से शीर्षासन अथवा विपरीत करणी मुद्रा बन जाती है। शीर्षासन करने के पूर्व तथा अन्त में दो चार प्राणायाम करने से बहुत लाभ होते हैं। इस आसन को सायंकाल करने से विशेष लाभ होता है। शुद्ध रक्त का सर्वत्र संचार होने से विशेष आरोग्यता मिलती है। जिस प्रकार बोतल साफ करने के लिए उसमें पानी रख कर उसको उलटा और सीधा किया जाता है, इससे बोतल की सफाई हो जाती है। इसी प्रकार शरीर में जो रक्त है वह सब शरीर भर अच्छी प्रकार पहुंचने से सब शरीर शुद्ध और आरोग्य पूर्ण हो जाता है। शीर्षासन प्रारम्भ में ३ मिनट से १५ मिनट, पश्चात् १ घंटा तक अभ्यास करना पर्याप्त है।

'द्रष्टव्य'—इन आसनों का अभ्यास जो सदैव करता रहेगा वह सदैव आरोग्य रहेगा। इनका साधारण फल केवल दश दिवस में ही प्रदर्शन होने लगेगा।

औषध सेवन—'पंचामरा चूर्ण' साधन समय तक नित्य सायंकाल १ या दो मासा तक पाव भर दुग्ध और १ तोला शर्करा (चीनी) के साथ सेवन करने से साधक को उपरोक्त साधन में विशेष सहायता प्राप्त होगी। उक्त चूर्ण दो रुपये में १ डब्बा काशी गुरुकुल 'औषधालय' बनारस, सिटी के व्यवस्थापक द्वारा मंगाने से प्राप्त होता है।

(६) सौ वर्ष वा उससे अधिक जीवन कायम रखने वाला गुप्त मन्त्र

'साधन'—सौ वर्ष वा उससे अधिक जीवन कायम रखने वालों के लिए अपना यौगिक जीवन बनाना परम कर्त्तव्य होगा। यौगिक जीवन बनाने के लिये सबसे प्रथम 'योग सोपान' प्रथम भाग पृ० १६ में लिखे अनुसार उपयुक्त २४ नियम, पृ० २२ में लिखे अनुसार मानसिक एकाग्रता के लिए 'ओङ्कार' पर त्राटक करना, मन की गति का ईक्षण, मन की गति का संयमन, मन की गति का नियमन इत्यादि करने पश्चात् पृ० २५ में लिखे अनुसार सिद्धासन का साधन नियम १ से १० तक में जैसा दिया गया है उसी के अनुसार उसे भी साध्य करना होगा। तत्पश्चात् पृ० २८ में लिखे अनुसार स्वर साधन की व्याख्या, स्वर कार्य और स्वर साधकों के लिए दिए हुए उपयुक्त नियम को जान कर उसी के अनुसार अपने स्वरों को नियमित कर उसे भी साध्य कर लेना परमावश्यक होगा। आयु को वृद्धि गत करने के लिए योग साधन में स्वर साधन मुख्य है। स्वरों को नियमित करने के लिए उपरोक्त साधनों को यथा क्रम साध्य कर लेने की भी विशेष आवश्यकता जानियेगा। यहां तक साध्य हो जाने पर उसके पश्चात् प्राणायाम का साधन यावज्जीवन जैसा कि योग सोपान द्वितीय भाग पृ० १५ से पृ० ३० तक वर्णन किया गया है करना होगा।

साप्ताहिक अभ्यास की क्रिया।

सूर्य देव से सप्ताह में एक बार जीवन शक्ति का लेना—प्रातःकाल सूर्योदय होने पर सूर्य की ओर साधक अपने दोनों पैरों की एड़ियों को मिला कर ∨ इस चित्र की भांति पैर करके अपने दोनों हाथ मस्तक पर ∧ इस चित्र के अनुसार दोनों तर्जनी अंगुलियों के मूल को मिला कर नीचे की ओर झुका कर सूर्य की तरफ ३ मिनट से ५ मिनट एकटक देखने पश्चात् दोनों आखों में स्पर्श पास करके बाहर को झटक पास ११ बार कर देवे। इस प्रकार तीन बार १५ मिनट में पास करना चाहिए। प्रत्येक रविवार को यदि हो सके तो नमक का खाना बंद कर देवे।

औषधि सेवन—'पंचामरा चूर्ण' साधन समय तक नित्य सायंकाल १ या दो माशा तक पाव भर दुग्ध या १ तोला शर्करा (चीनी) के साथ सेवन करने से साधक के केवल, वर्ण, वीर्य और आयु की वृद्धि में सहायता और भी प्राप्त होगी। उक्त चूर्ण दो रुपये में एक डब्बा, काशी गुरुकुल औषधालय बनारस सिटी के व्यवस्थापक द्वारा मंगाने से प्राप्त होता है।

फल—इन उपरोक्त क्रियाओं का विशेष फल कई वर्षों में प्राप्त होगा परन्तु साधारण फल केवल १० दिवस के अभ्यास में ही प्रदर्शन होने लगेगा।

द्रष्टव्य—'प्राणायाम चिकित्सा' पृ० १०७ से पृ० ११३ में ६ पंक्ति तक चिर-यौवन प्राप्त करने की क्रिया, तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति का उपाय ये दो विषय के लेख जो दिये गये हैं यह भी बड़े महत्व के हैं साधक को उन पर भी यथा समय ध्यान देना होगा।

(१०) हिंसक जानवरों से बचाने वाला गुप्त मंत्र ।

साधन—यदि कभी तुम किसी हिंसक जानवरों के समुदाय में पड़ जावो ऐसी दशा में सब से प्रथम चन्द ताल युक्त श्वांस लो अर्थात् पांच बार में ठहर २ कर श्वांस भीतर भरो और प्रत्येक बार 'ओ३म्' का मानसिक जाप उस ठहरे हुये समय में करते जाओ, तत्पुनः पांच बार में ठहर २ कर श्वास बाहर निकालो और तब भी प्रत्येक बार 'ओ३म्' का मानसिक जाप उस ठहरे समय में करते जाओ जिससे तुम्हारे पास प्राण अधिक हो जावे। श्वास प्रश्वास की क्रिया भी यदि उससे कुछ दूरी का अवसर रहे पांच बार करे और तत्पश्चात् मानसिक कल्पना द्वारा अपने चारों ओर विचार का अंडाकार अर्थात् गोलाकार घेरा डाल दो, यही कवच बन जायगा और हिंसक जानवरों से तुम्हें सुरक्षित रखेगा।

२. यदि उपरोक्त क्रिया के करने में सुविधा न प्राप्त हो उस अवस्था में दूसरी विधि यह है कि उस समय तुरन्त मृतासन लगावो अर्थात् भूमि पर मुरदे के समान चित सो जावो, फिर अपने मन को कहीं दूर किसी वाटिका वा रमणीक जगह अथवा किसी अन्य स्थान में पहुँचा कर उसी जगह न्यून से न्यून १५ से ३० मिनट तक ठहराने के पश्चात् प्रणव ओ३म् का मानसिक जाप श्वास प्रश्वास द्वारा करना आरम्भ कर देवे।

सदैव के लिए हिंसक जानवरों से बचने का उपाय।

जो कोई अष्टांग योग का साधन विधिवत् कर लेवेगा (जिसकी क्रिया योगाश्रम 'योगमंडल काशी' बनारस सिटी द्वारा सिखलाई जाती है) उसके समीप किसी भी अवस्था में कोई भी हिंसक किसी प्रकार से हानि नहीं पहुंचा सकेगा। योगाश्रम की नियमावली व प्रवेश पत्र उक्त मंडल के मंत्री के समीप से प्राप्त होता है।

---

(११) सप्तलोक चौदश भुवन स्वशरीर में देखने का गुप्त मंत्र।

ज्ञातव्य—स्वशरीर में जो २ हस्त, २ पग (चरण) १ मलेन्द्रिय, १ मूत्रेन्द्रिय, १ मध्य शरीर अर्थात् गर्दन (ग्रीवा) से नीचे कमर से ऊपर का भाग, ये मिल के सात नीचे के अवयव होते हैं इन्हीं को सप्त पाताल, सप्त अधोलोक, सप्त अधोभुवन, सप्त नरक आदि कहते हैं। दो नयन, दो श्रोत्र, दो नाक के छिद्र, एक मुख जो ऊपर के भाग हैं ये मिल के सात और हस्त आदि जो ऊपर लिख आये हैं मिल के चौदश भुवन होते हैं। यह देह भी बाह्य ब्रह्माण्ड का एक छोटासा चित्र है। स्वशरीर में इसी प्रकार देखा जाता है।

भुवन लोकों का ज्ञान

सूर्य्य में संयम से भुवन का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि सूर्य्य 'फोनोग्राम' के फोकसी की भाँति भुवन का चित्र चित्रित किये हुए हैं। भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, द्यूलोक, इन तीनों लोकों का नाम 'भुवन'

है। जब योगी सूर्य्य मंडल में संयम करता है तब उसको सूर्य्य मंडल का यथार्थ बोध हो जाने से त्रिलोकी का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि त्रिलोकी में सूर्य्य मंडल ही सब मंडलों का अधिपति है। इसी के सहारे संपूर्ण मंडल प्राणन किया कर रहे हैं और इसी के प्रकाश से मनुष्य मात्र का जीवन है। जो योगी इस प्रकार संयम द्वारा सूर्य्य मंडल का साक्षात्कार कर लेता है उसको सब मंडलों की गति, स्थिति तथा प्रलय और सात्विक, राजस तथा तामस सृष्टि का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम 'भुवन ज्ञान' है। सूर्य्य में संयम करने का ज्ञान उसी को हो सकेगा जिसने अष्टाँग योग का साधन पूर्ण किया होगा।

(१२) मन पर विजय प्राप्त कराने वाला गुप्त मंत्र।

साधनः—योग सोपान (प्रथम भाग) पृ० २२ से पृ० २५ लाइन ६ तक में जो मानसिक एकाग्रता के लिए 'ओ३म्' का त्राटक, मन का ईक्षण, मन की गति का संयमन, मन की गति का नियमन आदि की विधि बतलायी गई है उन को प्रथम साध्य कर लेना चाहिए और साथ ही नित्य प्रणव 'ओ३म्' का जाप भी यथा विधि निम्न प्रकार करने से विशेष सफलता प्राप्त होगी।

प्रणव 'ओ३म्' जाप

विधि—रात्रि में दोनों अँगूठे से दोनों कान बन्द करके तथा दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों आँख भी बंद करके प्रथम ५ मिनिट से ३० मिनिट तक मुख से सस्वर एकतार से 'ओ३म्' का जाप किया जाय, कम से कम ४० दिवस अवश्य लगाना चाहिए। तत्पुनः ४० दिवस मुख बंद करके सस्वर एकतार से 'ओ३म्' का उपांसु जाप जिसको केवल तुम्हीं सुन सको करो। फिर ४० दिवस मुख बंद करके जिह्वा को मूर्द्धा में चिपका कर श्वास प्रश्वास द्वारा मानसिक जाप करना चाहिए।

प्रणव—ओ३म्' के जप का सर्वोत्तम समय अर्द्धरात्रि और प्रातःकाल है। चार पाई पर पड़े-पड़े जब तक नींद न आवे 'ओ३म्' का मानसिक जाप करता हुआ सो जाने से बहुत ही उपयोगी जानियेगा। प्रथम तो शीघ्रता से नींद आजावेगी और दूसरा यह होगा कि समस्त रात्रि भर श्वास प्रश्वास द्वारा आपका मानसिक जाप बराबर जारी रहेगा। 'ओ३म्' यह परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है, उसका जाप अर्थों सहित हृदय में ध्यान करता हुआ जो करेगा उसे विशेष लाभ होगा। चारों वेदों में ओङ्कार मंत्र सब से उत्तम है।

१३. क्षुधा पिपासा के रोकने का गुप्त मन्त्र।

साधना—कंठ कूप में स्थित इड़ा नाड़ी में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति होती है। अर्थात् जब तक योगी कंठ कूप में संयम करे, तब तक क्षुधा पिपासा अधिक बाधा नहीं करती। भाव यह है कि मनुष्य के मुख में जो थूक तथा लार उत्पन्न होती है उसका स्थान कंठ कूप है, उसके साथ प्राण वायु का

स्पर्श होने से भूख प्यास लगती है अतएव जो योगी संयम द्वारा प्राण वायु के स्पर्श की निवृत्ति कर उक्त कंठ कूप में चितवृत्ति को एकतान कर देता है तब उसको भूख प्यास की बाधा नहीं होती। दृष्टान्त—जैसे मनुष्य किसी काम में संलग्न वा किसी चिन्ता में निमग्न होता है उसको उतने समय तक भूख प्यास नहीं लगती, शतरंज के खिलाड़ी, वियोगी पहरों भूखे रहते हैं।

ज्ञातव्य—कंठ कूप में संयम करने की विधि जानने के पूर्व अष्टांग योग में पूर्ण अभ्यास कर लेना परमावश्यक है। अष्टांग योग की शिक्षा प्राप्त्यर्थ योगाश्रम 'योगमंडल' बनारस सिटी के आचार्य्य द्वारा उक्त योगाश्रम की नियमावली व प्रवेश-पत्र मंगा योग शिक्षार्थियों में अपना भी नाम लिखा शिक्षा ग्रहण कर उक्त संयम का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

१४. आध्यात्मिक इन्द्र, स्वराट वा सम्राट अथवा परिव्राट बनाने वाला गुप्त मन्त्र।

ज्ञातव्य—ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर आचार्य द्वारा गुरुकुलों में जिसने वेद वेदाङ्गादि ग्रन्थों को अध्ययन कर अपनी समस्त इन्द्रियों पर अधिकार जमा लिया है ऐसे इन्द्रिय जीत ब्रह्मचारी को इन्द्र की उपाधि देना चाहिये अर्थात् वही इन्द्र है। तत्पश्चात् वही ब्रह्मचारी जिस समय गृहस्थाश्रमी बन कर सद्गृहस्थ के नियमों का पालन करता हुआ ऋतुगामी रह कर केवल २५ वर्ष उक्त आश्रम में रहना चाहता है अथवा रहता है ऐसे को स्वराट की उपाधि से विभूषित करना चाहिये अर्थात् वही सम्राट् है। तत्पश्चात् जब वही वानप्रस्थ में २५ वर्ष रह कर इस आश्रम के नियमों का पालन करता है तब वही सम्राट कहलाने का अधिकारी है और वही संन्यास ग्रहण कर संन्यासाश्रम में प्रवेश कर २५ वर्ष उसके नियमों का पालन करता है तब वही परिव्राट् कहलाने का अधिकारी होता है।

सारांश—यह है कि जो मनुष्य (स्त्री हो या पुरुष) उपरोक्त चार आश्रमों का विधिवत् पालन करेगा वही इन्द्र, स्वराट वा सम्राट अथवा परिव्राट बन सकता है।

१५. एक ही साथ में सांसारी सर्व सुख भोगों की प्राप्ति का गुप्त मन्त्र।

ज्ञातव्य—इस बात को प्रथम जान लेने की अत्यन्त आवश्यकता है कि सुख क्या है? इच्छा निवृत्ति का नाम सुख है। जिस मनुष्य ने अपनी सर्व इच्छाओं को सदैव के लिए पृथक् कर दिया अर्थात् उस के हृदय में फिर कभी भी किसी वस्तु की इच्छा प्रकट न हो वही मनुष्य एक ही समय में सांसारी सर्व सुख भोगों

की प्राप्ति कर सकता है। यही इसका गुप्त मन्त्र जानना चाहिए। "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्"।

साधन—अभ्यास और वैराग्य से सर्व इच्छाओं की निवृत्ति की जा सकती है। अर्थात् योगांगों का अभ्यास तथा सांसारी भोगों में वैराग्य रखना यही प्राथमिक साधन है। पिंगल गीता में कहा है—

सदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः ।
तदात्म ज्योतिरात्माय दात्मन्येव प्रपश्यति ॥

कछुवे के अंग समेटने की तरह यह आत्मा संपूर्ण कामों (इच्छाओं) का संहार कर देती है। उस समय इसकी आत्मा ज्योति स्वयं दीखने लगती है। ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए "समदर्शी" हो फल मूल आदि खाकर जीवन बिताते हुए स्वभाव से शान्त चित्त, लघु भोजी और जितेन्द्रिय बन, मन, बचन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थेन्द्रिय के वेगों को सहन करना चाहिये। छान्दोग्य उपनिषद् में 'सयुग्वारैक' की कथा वर्णित है। जो मनुष्य उस गुहा निहित ब्रह्म को जानता है उसे ब्रह्म द्वारा ब्रह्माण्ड के सब आनन्द भोग एक साथ प्राप्त होते हैं।

१६. घर बैठे संपूर्ण देवताओं व तीर्थों का दर्शन कराने वाला गुप्त मन्त्र।

साधन—योग सोपान (प्रथम भाग) पृ० २२ से पृ० २५ पंक्ति ६ तक में जो मानसिक एकाग्रता के लिए 'ओ३म्' का त्राटक, मन की गति का का ईक्षण, मन की गति का संयमन और मन की गति का नियमन आदि की विधि दी गई है तदनुसार प्रथम साध्य कर लेना चाहिये।

संयम—शिर के दोनों कपालों के मध्य ब्रह्मरन्ध्र नामी एक छिद्र है वह प्रकाश का आधार होने से ज्योतिर्मय है, उस प्रकाश में संयम करने से घर बैठे संपूर्ण देवताओं व तीर्थों का दर्शन होता है।

विधि—प्रातःकाल सूर्य्योदय होने पर 'सूर्य्य मंडल' पर प्रथम ३ मिनट से ५ मिनट तक एक टक 'त्राटक' करने का ४० दिवस अभ्यास करना होगा। और उतने ही दिवस प्रत्येक रात्रि को ३ वा ४ बजे निद्रा से जाग कर तुरत ही बिस्तर पर लेटे हुए जहाँ पर किसी प्रकार का प्रकाश भी न हो अपने दोनों हाथों की अंगुलियों के नीचे की गदेली से दोनों आंखों को बंद कर 'अन्तर-दृष्टि' करके भृकुटी के मध्य ऐसी मन में दृढ़ इच्छा करो कि हमको सूर्य्यदेव का दर्शन हो जावे। प्रथम न्यून से न्यून १५ मिनट इस अभ्यास को करो। जब आंख दर्द करने लगे और चित घबड़ाने लगे तो आंख खोल कर थोड़ी देर के पीछे उसी प्रकार अभ्यास का काम पुनः आरम्भ करो। उक्त प्रकार न्यून से न्यून आध घंटे नित्य करना चाहिये। मन में पूरी

इच्छा और लग्न, विश्वास और श्रद्धा के साथ करने से विशेष उपयोगी जानियेगा। बहुत थोड़े दिवस में ऐसा प्रकाश दृष्टि गोचर होगा जैसा सूर्योदय के समय होता है। पहले पहल इस प्रकार कुछ चलायमान सा होगा अर्थात् थोड़ी देर दीख कर बंद हो जायगा। परन्तु शनैः शनैः अभ्यास बढ़ जाने से वह प्रकाश स्थिर हो जायगा। उस स्थिर प्रकाश को पूर्व लिखित ब्रह्मरन्ध्र के स्थान वाले ज्योति में मिला देने से उस भूमि पर साधक जिन देवताओं व तीर्थों की दृढ़ भावना युक्त इच्छा करेगा वही साक्षात् दर्शन कर सकता है।

श्री १०८ स्वामी गंगागिरिजी (ऋषीकेश) ने नीचे लिखे साधन आत्म-साक्षात्कार के लिये बतलाये हैं, यथाः—

(१) अन्वय व्यतिरेक द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना।

अन्वय व्यतिरेक इसको कहते हैं कि जिस वस्तु में एक ही सम्बन्ध और भिन्नता हुआ करती है जैसे रात्रि में लम्बी रेखा दीखने से कोई उसको रस्सी कहा करता है, कोई दंड, कोई जल धारा, कोई रेखा और कोई सर्प इत्यादि, इसमें शब्द का सब से अन्वय सम्बन्ध है और रस्सी से दंड, जलधारा से सर्प आदि का व्यतिरेक अर्थात् भिन्नता है इसका ही नाम अन्वय या व्यतिरेक है, इसी प्रकार लौकिक वस्तुओं का व्यतिरेक होते हुए भी ब्रह्म में सब का अन्वय है। श्रीमद्भागवत् में लिखा है—"एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा॥ (भा० २।६।१५)॥ अर्थात् 'आत्मतत्त्व के जिज्ञासु द्वारा जानने की वस्तु वही है, जो अन्वय और व्यतिरेक से सदा सर्वत्र है।' 'नाथ महाराज समझाते हैं:—'कारण से कार्य अभिन्न है, इसका नाम है अन्वय। कार्य मिथ्या और कारण सत्य है, इस लक्षण का नाम है व्यतिरेक।'

(२) सांख्य योग द्वारा ब्रह्म में लय करना "सर्वं, खल्विदं ब्रह्म"।

(३) सोऽहं के जप द्वारा वृत्तियों को निरोध करना।

(४) अस्ति भाति प्रिय का चिन्तन और नाम रूप का मिथ्यत्व विचारना।

"अस्ति भाति प्रियं नाम रूपञ्चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयम्"। अर्थः—सत, चित्, आनन्द, नाम और रूप ये पांच वस्तुएँ हैं। इनमें से प्रथम तीन ब्रह्म के रूप, अन्य दो जगत् के रूप हैं। और भी लिखा है कि "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनाऽपरः"। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्मरूप है। नाथ महाराज और भी कहते हैं, 'जो साधक अन्वय से मेरी पूर्ण भक्ति और व्यतिरेक से शुद्ध स्वरूप स्थिति साधते हैं, वे ही अविनाशी स्वरूप को प्राप्त होते हैं'।

(५) अपने स्वरूप में रहकर वृत्तियों का निरोध। जगत् वृत्तियों से मन द्वारा बनता है। वृत्तियों के निरोध से लय हो जाता है।

पंजाब जाते समय उन्होंने यह उपदेश भी किया था कि 'सर्वदा सात्विकी वृत्ति रक्खो जो साक्षात्कार में कसौटी है। राजसी व तामसी वृत्ति अन्तःकरण को आच्छादित करती है, इससे आत्म प्रकाश बोध नहीं होता। स्वच्छ दर्पण में ही मुख मुद्रा दीख पड़ता है, मलिन में नहीं, इससे सात्त्विकी वृत्ति द्वारा ही परमात्मा का दर्शन मिलना सम्भव है। और भी कहा कि गुण को ग्रहण करना। अवगुणों की ओर ध्यान भी न देना।'

'वृत्ति' से मोक्ष है न जगत् है।

वेद के पहिले भाग न थे, परन्तु समय के परिवर्त्तन से मनुष्यों को 'वृत्ति' में हेर फेर पड़ जाने से भगवान् व्यास ने ४ भागों में विभाग किये और उनमें ११८० शाखायें यानी उपनिषद् भाग जैसे।

१—ऋग्वेद— २१	शाखायें	(उपनिषद्)
२—यजुर्वेद—१०९	"	"
३—सामवेद-१०००	"	"
४—अथर्ववेद - ५०	"	"

पहिले हर कोई अपनी २ शाखा आप ही निकाल लेता था, परन्तु पीछे मनुष्यों को कठिनाई मालूम होने लगी तब ११८० शाखाओं (उपनिषदों) में विभाग किया।

❀ ❀ ❀ ❀

सब वेद, उपवेद, शास्त्र, पुराणादिक के पढ़ने में ३२ वर्ष या उससे अधिक समय चाहिये परन्तु साधारण पुरुष किसी प्रकार भी नहीं पढ़ सकता, तब भगवान् ने सब उपनिषदों का निचोड़ 'गीता' कह डाली जिसमें चारों वर्णों का अधिकार होगया। गौओं का पालना संभालने में अति ही परिश्रम पड़ता है परन्तु तब दुग्ध मिलता है। बाजार में एक आना देकर भी दूध मिल सकता है।

स्त्री में काम की सहन शक्ति बड़ी है। तलवार के म्यान में कुएँ से जल भरना—ऐसा स्त्री का काम जानो और नंगी तलवार पानी में डाल कर पानी निकालना यानी एक दो बूंद यह मनुष्य की काम शक्ति है। स्त्री व्याकुल नहीं होती परन्तु मनुष्य दो बूंद में ही व्याकुल हो जाता है। यही अटपटा फेर है। चूक मनुष्य की ही है। यदि हम वृत्ति ठीक कर लें तो न मनुष्य है न स्त्री है। अपनी वृत्ति में उन्मत्त रहने से हम ब्रह्माण्ड की ही सैर करते हैं। वृत्ति गई कि रङ्ग बना। यदि हम स्त्रियों को पार्वती और मनुष्यों को शिव समझ लें तो भी वृत्ति ठीक रह सकती है। ब्रह्म ऐसे समझो जैसे नपुंसक जल और ईश्वर ऐसे जैसे मनुष्य और माया ऐसे जैसे स्त्री। 'वृत्ति' इधर उधर न गई तो कार्य सब ठीक है।

शांकर भाष्य, गीता-श्रवण; मधुसूधिनी—मनन और शंकरानन्दी निदिध्यासन है। आत्मपुराण में ५२ उपनिषद् हैं। अत्योपयोगी ग्रन्थ है।

कर्म—संसार के सुख पामर के लिये जब विषयी हुआ तब
उपासना—स्वर्ग के सुख विषयी के बाद
ज्ञान —जब जिज्ञासु हुआ तब इस लोक और परलोक के सुख में विरक्तता दिखा कर मुक्ति के लिये ज्ञान बताया।

कर्म — तो पाप निवारण के लिये है।
उपासना—चित्त की चंचलता दूर करने के लिये और
ज्ञान —मुक्ति के लिये।

संसार नाटक का खेल है। साक्षी दृष्टा न कुछ करता है न धरता है। इन्द्रियां ताल बजाती हैं। राजा (मन) नाटक देखता है, उसे ही सुख दुःख का भान होता है। आप साक्षी दृष्टा बने रहो। देह का अभ्यास दूर करो।

हमारा तो आपसे अन्तिम उपदेश यही है कि नामरूप से वृत्ति हटा कर आत्मचिन्तन में तत्पर होना और गुणों को ग्रहण करना, अवगुण की ओर निहारना भी नहीं।

❀ ❀ ❀

श्री १०८ परमहंस [निहंग] स्वामी हरिहराश्रम उत्तर काशी का उपदेश।

तारीख ऋषीकेश १७-९-१९३१ ई०

(१) विचार द्वारा—नित्य और अनित्य का रात्रि दिवस निर्णय करना। (२) फिर पूर्ण निश्चय प्राप्त करके उसमें दृढ़ भाव रखना।

(३) नित्य नैमित्तक कर्म जप इत्यादि या ईश्वर भजन ध्यानादि निरन्तर करते रहना और पश्चात् तीनों का एकत्व प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थित रहना।

चित्त से संसार है, जब चित्त नहीं तब संसार कहां? राजसी व तामसी वृत्ति को स्थान न देना। बर्हिमुख वृत्ति से दुःख होता है और जन्म मरण प्राप्त होता है। अन्तर्मुख से आनन्द प्राप्त होता है और जन्म मरण से रहित होता है। वृत्ति एक है इसलिये उसे अन्तर्मुख ही लगाना चाहिये। डाक्टर औषधि देता है तो यदि पथ्य का ठीक २ पालन किया तो रोग अवश्य जाता रहता है और अपथ्य में तो रोग बढ़ता ही है और अन्त में प्राण हर लेता है। इसी तरह अन्तर्मुख वृत्ति से जन्म का दुःख छूटता है और बहिर्मुख से जन्म मरण बनता है।

जन्म मरण और देह अवस्था के दुःखों को सब कोई जानता है कि इस संसार में जब से जन्म होता है तब से बाल्यावस्था से लेकर मरण पर्यंत महा दुःखों का सामना करना पड़ता है, इससे ऊपर के तीन साधनों

द्वारा गुणों से गुणातीत होने की चेष्टा करनी चाहिये ताकि जन्म मरण से छूट जावे। सात्त्विकी वृत्ति पर जो कूटस्थ (ब्रह्म) का आभास पड़ता है उससे वृत्ति अंतर्मुख हो जाती है और फिर शीघ्र ही अपने स्वरूप में स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

कर्मयोग और सांख्ययोग दोनों का फल एक ही है। कर्मयोग सरल है और किसी अवस्था में भी हो सकता है परन्तु सांख्ययोग कठिन है। जब तक पूर्ण वासना न क्षीण हो जावे तब तक सांख्य योग सिद्ध नहीं हो सकता है। कर्मयोग से जन्म जन्मान्तर में कार्य करता हुआ एक दिवस सांख्ययोग के फल को पहुँचता है। कच्चा पुरुष सांख्ययोग नहीं कर सक्ता, जैसे गीली लकड़ी में दियासलाई लगाने से शीघ्र नहीं जलती उसे बार बार जलाना व फूंकना पड़ता है और सूखी लकड़ी दियासलाई दिखाते ही जल कर भस्म हो जाती है। इसी तरह कर्मयोग से सिद्धि नहीं प्राप्त होगी जो सांख्ययोग से होती है। परन्तु गीली लकड़ी के भाँति शनैः २ यानी जन्म जन्मान्तरों में जाकर कार्य की सिद्धि होगी। यों तो दोनों लकड़ियों की भस्म ही होना है। एक उसी क्षण भस्म हो जाती हैं दूसरी देर से। सांख्ययोग से उसी जन्म में परमात्मा की प्राप्ति होती है और कर्मयोग से क्रम से। अंत में दोनों का फल एक ही होता है। जिन पुरुषों की अवस्था परिपक्व हो चुकी है अर्थात् जिनको रेलवे का टिकिट मिल चुका है उनके ऊपर के तीन साधनों में अति ही परिश्रम करना चाहिये। जितना शीघ्र और दृढ़ परिश्रम करेंगे उतनी ही उनकी उन्नति होवेगी और अन्त में फल की प्राप्ति यानी ईश्वर प्राप्ति भी शीघ्र होगी। उनको कर्मयोग के साधन में न रहना चाहिये। इन ऊपर के तीन साधनों से एकत्व शीघ्र हो जावेगा। हठयोग—एक साधन है। बाकी मार्ग तो दो ही हैं—कर्मयोग और सांख्य योग।

ऋषीकेश ता० १९-९-१९३१ ई० (संक्षेप से)।

१—शुभ कर्म (निष्काम) (२) अध्ययन, (३) माला-जप और (४) ध्यान।

ऊपर के चार साधनों में से जो आपको अनुकूल हो करो। प्रथम साधारण साधन है, द्वितीय उससे उत्तम है, तीसरा उससे उत्तमतर है और चौथा उत्तमोत्तम (महा उत्तम) है। ध्यान के परे और कोई साधन नहीं है, इसी में सब प्रकार की उन्नति हो सकती है।

तारीख १९-९-१९३१ ई०

आपको दण्ड सन्यास लेना ही होगा, कुटी सन्यास ठीक न होगा। यदि दण्ड सन्यास अनुकूल न जान पड़े तो अवधूत हो जाओ और गंगा किनारे या अपने देश से ५०, ६० कोस दूर विचरो। एक काली कम्बली, या भगवां वस्त्र अंदर और लंगोटी बहुत होगी। विचरते रहो, कुटिया में न रहो। महा आनन्द प्राप्त होगा।

कुटुम्ब के साथ रहने में मोह का प्राप्त हो जाना संभव है, फिर यदि यही विचार हो तो घर में भी सब साधन हो सकता है मगर पतन का होने का भय है, फिर जो इच्छा हो सो करो।

तारीख २०-९-१९३१ ई०

यदि रंडुए पुरुष के हृदय एवं मन में कामिनी भाव है तो और यदि रांड स्त्री के भीतर पुरुष भाव है

तो भले ही अनेक शास्त्र वेद पढ़ जाओ, सब फोकट ही। स्त्री भाव को दिल से निकाल दो और स्त्री को पुरुष भाव दूर कर दो और सब को अपना सर्वस्वरूप समझो तो स्त्री पुरुष का भाव दूर होकर सर्वव्यापकतारूप प्राप्त होगा। यही अपना स्वरूप है। भय वाले पदार्थ का छेदन करो। 'नामरूप में से निकाल कर सर्वव्यापकता में ले जाओ। दृढ़ अभ्यास करने से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्ति हो जाती हैं।

नामरूप तीन गुणों का खेल है। सो नामरूप और भय का छेदन करना, फिर बारंबार आत्मचिन्तन में तत्पर रहना। परमात्मा सर्वव्यापक है, वह एक देशी नहीं है। जब सर्वव्यापकता का अभ्यास परिपक्व होजायगा, तब भेद भाव का नाश होजायगा। और निर्भय हो जायगा। जिससे भय हो उसका ही छेदन करना।

शास्त्र भी पढ़ लिये, वैराग्य भी होगया फिर भी यदि निर्भयता प्राप्त न हुई तो सब पुरुषार्थ यों ही गया। श्रुति कहती है कि साकार निराकार जो भेद है सो नेति नेति कहती है जो दोनों से अलग है वही परमपद है। उसी से निर्भय होता है।

संसार के पदार्थों का भोग और परमार्थ ये दोनों प्राप्त नहीं हो सकते हैं। स्त्री से केवल ग्लानि करने से ही काम नहीं चलता है बल्कि उससे ग्लानि यानी जो भय होता है उसे दूर करना चाहिये फिर सब स्थान पर अपना ही रूप दिखाई देता है फिर भय किस का? नाम रूप में गुमराह न हो जाओ। बस अभ्यास को दृढ़ करोगे तो सब प्रकार से अभय पद को प्राप्त होगे। 'शास्त्र' और 'गुरु' का भय रक्खो। तीनों गुणों से भेद भावना होती है। ब्रह्म सब से अतीत है॥

तारीख २१, २२-९-१९३१ ई०

संक्षेप से—परमार्थ के काम में देरी तनिक भी न करना चाहिये। तीनों गुणों से सब नाम रूप हुआ है, इस से इन गुणों से गुणातीत रहने से ही कार्य सिद्ध होता है। बहिर्मुख वृत्ति दुःखदाई है। और अन्तर्मुख वृत्ति सुखदाई है। तीनों गुणों के कारण ही विधवा स्त्री पुरुषत्व को पैदा करती है और पुरुष कामिनी को पैदा करता है। यह सब खेल वृत्तियों का है। सो नित्य प्रति अन्तर्मुख वृत्ति रखना और राजसी व तामसी गुणों से वृत्ति हटा कर सात्विकी में रखना और फिर अपने स्वरूप में स्थित रहना। अवधूत स्थिति में महा आनन्द है और स्वतंत्रता है परन्तु यदि अवधूत अवस्था न भी ग्रहण करो तो एक काली कम्बली और एक लंगोट रख कर गंगा किनारे पड़ रहना। कुटी में पड़ना ठीक नहीं। वृक्ष के तले बड़ा आनन्द रहता है।

यदि सफेद वस्त्रों में ही संतुष्टता हो तो भी कुछ चिन्ता नहीं। वहाँ जीवन्मुक्त रह सकते हो परन्तु परतंत्रता है स्वतंत्रता नहीं मुक्ति दोनों अवस्था में है परन्तु स्वतंत्रता तो स्वतन्त्रता ही है। आगे जैसी आप की मरज़ी हो वह करें। जितनी शीघ्रता हो सके उतनी ही करनी चाहिये क्योंकि शरीर का क्या भरोसा है और दंड धारण करने का भी उपदेश है॥

तारीख २९-९-१९३१ ई०

दो मार्ग हैं—यथा (१) कर्म योग—यह सरल है और जीवन्मुक्त होकर रह सकता है, (२) ज्ञान

योग (सांख्य योग) कठिन है परन्तु स्वतन्त्र है और अपने आनन्द में उन्मत्त रहता है। फल दोनों एक हैं। कर्म योग में सेव्य सेवक भाव से "सर्वमिति वासुदेवः" का ध्यान करना होता है। यह इस में विशेषता है। सांख्य योग में अपने स्वरूप में आनन्दित होता है, सर्व जगत् को वासुदेवमय जानना ही कर्मयोग है, यह सरल है और ज्ञानयोग (सांख्ययोग) में नानारूप संसार को लय करके अपने स्वरूप में स्थित होना होता है। कर्मयोग में नानारूप जगत् को वासुदेवमय जानना होता है और ज्ञानयोग में सब लय करके स्वयं वासुदेव में स्थित होना होता है।

नारियल का छिलका जगत्मय है, खोपड़ी पर स्थित है। गोला मायामय है और पानी सार है। जब पानी पी लिया तो उसमें सारा नारियल आ गया। यही सांख्य योग है। और छिलका खोपड़ा और गिरी इत्यादि नानारूप जगत् है। अंत पानी ही पीना है, तो अन्तिम फल सब का एक ही है।

नानारूप को वासुदेव मय समझना ही ब्रह्म है और नानारूप को लय करके ब्रह्म प्राप्ति करना भी ब्रह्म है, बस यही दोनों का अन्तिम फल है।

आरम्भ में या बीच में जब मेला बहुत भरता है तब मेला में जाने में आनन्द आता है। अन्त में जाने में भी मेला देखा जाता है परन्तु फिर दुर्गन्धि के अतिरिक्त विशेष लाभ नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य अवस्था या जब ग्रहस्थाश्रम पूरा करके घर में पुत्र प्रपौत्र से मनुष्य सुखी है तब विरक्त होकर विचरना अच्छा है बनिस्बत उसके कि जब वृद्धावस्था में घर में दुःखी होने से फिर विरक्त हो। उसमें उतना लाभ नहीं है।

जिस तरह अच्छा लगे वह करना चाहिये। बातें तो ये दो ही हैं।

ब्राह्मण की वीरता तप में
क्षत्री की रण में
वैश्य की दान में
और शूद्र की सेवा में
} देखी जाती है।

लाल में रहो या सफेद में रहो, अन्तिम फल एक ही है। पहिले में स्वतन्त्रता है, दूसरे में परतन्त्रता है परन्तु मोक्ष दोनों में है।

सांख्य योग—गङ्गासागर के तुल्य है और

कर्मयोग—सौ तीर्थों के बराबर है, अर्थात् तीर्थ सौ बार-गङ्गासागर एकबार।

❀ इति ❀

ऋषिकेश ता० २९-९-१९२९ ई०।

महात्मा प्रेमानन्द माधवजी का उपदेश

श्यामकुटी—जोधपुर ता० ३-३-३४

[साथ में बाबू बुधमल राय जी]

श्रद्धा पूर्ण हो।

संसार के भोग से रहित हो और परलोक के सुख से रहित हो तब स्वामी का खेल देखो।

तन, मन, धन परमात्मा के अर्पण करके आप उसके मुनीम की भाँति संसार में जीवन्मुक्त होकर कार्य करते रहो। साथ ही आपा (अहंकार) को हृदय से निकाल दो, द्विविधा को बहा दो और भाव से अधिक प्रीति है उसको हृदय में बिठाओ और पूर्ण धीरज और संतोष रखते हुए अपने निजानन्द में मस्त रहो तब फिर जन्म-मरण से छुट जाओगे। हृदय में अनायास प्रकाश होगा और सहस्रदल कमल में विलास करते हुए परमात्मा की प्राप्ति करो और पुनः राजा जनक के तुल्य विदेह मुक्त हो जाओ। सारे उपदेश का यही सारांश है।

हृदय से सुरत उठाओ और सहस्रदल कंवल में जहाँ ररंकार की झनकार हो रही है वहाँ ले जाओ और फिर सुरत शब्द के योग का लाभ उठाओ और अपने स्वरूप का दर्शन करके मस्त रहो। क्षमा, शान्ति, धैर्य, संतोष और दया का तीर मारो तो हृदय में प्रकाश होगा। सर्व जनों को गोविंद ही समझो। छै विकार (उर्मि) भूख, प्यास, सुख, दुःख और शोक हर्ष को दूर करो।

चित्त का विष्णु, बुद्धि का ब्रह्मा, मन का शिव बनाया। अष्टावक्र—अष्टाङ्ग; राजा जनक और ब्राह्मण भिक्षु; राजा भर्तृहरि का वैराग्य अनुभव; हृदय में सेत; सहस्रदल कंवल में ररंकार ध्वनि; शीतलता-सुरता; पवन का शरीर, पहले धर्म, द्रव्य और फिर तृष्णा। वासना रही (अर्थात् गुठली रह गई) तो राजा। मन पुत्र, तरंग बहिन।

श्याम कुटी ता० ३०-३-१९३४ ई०

[साथ में पं० ठाकुर प्रशाद और लाला बुद्धमलराय जी]

धीरज की धरती, संतोष की शय्या, क्षमा का भस्म, गम गंभीर का खाना, सुरत शब्द का संयोग श्वेत कंवल में बासा, हृदय में प्रकाश होकर शब्द का कोलाहल होने लगेगा तब निर्भयपद प्राप्त होगा, आधि व्याधि का दुःख न होगा। नित्य प्रति युवा अवस्था बनी रहेगी। कोई शत्रु का भय न रहेगा। ऐसे राजयोगी का कोई कुछ नहीं कर सकता है।

नागपुर में एक ग्रहस्थ है जिसकी लड़कियाँ तक बड़े महात्मा हैं। एक से समरथ दो से सिद्धि होती है।

३१-३-१९३४ ई०

प्रेम की सुई सुरत का धागा-ज्ञान की गूदड़ी सीं डाली। पांचों के तीर से मन मृग को मार डाला। मरहट्टा बनो, अहंकार को निकाल दो तो स्वयं ईश्वर हो।

श्री १०८ योगिराज स्वामी माधवानन्द का उपदेश, जोधपुर ता० १६-८-१९३६ ई०

यदि निम्नलिखित बातों पर अमल किया जावेगा तो मनुष्य का जन्म अवश्य मिल जायगा।

[१] सत्य बोलना, [२] चोरी न करना, [३] पर स्त्री (पर स्त्री के साथ भोग न करना, [४] ईश्वर का १ घंटा भजन करना, [५] हिंसा न करना) [६] दान।

यदि १६ आना सत्य न बोल सके तो रु० बारह आना अवश्य बोलना चाहिये, आपत्ति काल में चार आना की मारजिन [Margin] दी गई है। जान बूझ कर मनसा, वाचा अथवा कर्मणा से किसी को न सतावे। विश्वासघात कभी न करे। उत्तम अधिकारी वही है जो २१६०० रात दिन के श्वांस ओंकार के स्मरण में ही व्यतीत करता है।

कुल १२ चक्र हैं:—छः पिण्ड में, (धर्म क्षेत्र कुरु क्षेत्र में) छः आज्ञा चक्र और सहस्रार के बीच में और छः सहस्रार के ऊपर। कबीर की स्थिति बहुत ऊंची थी। संस्कृत ग्रन्थ बहुत समय हो जाने से मिलते नहीं हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है। आज्ञाचक्र और सहस्रार के मध्य ३१ चक्र हैं मगर मुख्य उनमें चार ही हैं यथा, भंवर गुफा, अध्यास और सहस्रार, आज्ञा। पिण्ड में—कुरुक्षेत्र; धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र है और आज्ञा चक्र के ऊपर धर्म क्षेत्र है। आज्ञा चक्र कूटस्थ का स्थान है। आज्ञा चक्र से अध्यास चक्र तक जो कुलकुला देवी का स्थान है, जहां अर्जुन ने मत्स्य को बेधा था और द्रौपदी अर्थात् कुलकुला देवी प्राप्त की थी। इन दोनों चक्रों के बीच में देवों में युद्ध होता है और वे अध्यस्त के आगे सहस्रार में जाने नहीं देते। कोई ही ऊपर चढ़ जाता है।

शंकर का मत ही सब से श्रेष्ठ और उत्तम मत है परन्तु इस पर द्वैतवादियों के आक्षेप बहुत हैं। शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त के हेतु दिये हैं परन्तु उनको द्वैतवादी बहुत खंडन करते हैं। स्वप्न और जाग्रत में कुछ संशय (Difference) नहीं रखा है। जो दीखता है वह झूंठा है यह Theory ठीक नहीं —झूंठा है क्योंकि दीखता है, इत्यादि।

मुनि अमृतलालजी का उपदेश:—जोधपुर ता० २७-८-१९३४ ई०

मुनि अमृतलालजी जिन्होंने १६० दिवस का उपवास किया था उनको नीचे लिखी पांच बातों का महाराजा हरिसिंह जी कश्मीर के गुरु द्वारा २५ साल पहिले उपदेश मिला था जिनका अमल मुनिजी अभी तक कर रहे हैं:—

[१]—गली में न रहना, अर्थात् तंग गलियों में जहाँ लोगों को कुछ संदेह हो वहां न रहना।

[२]—स्त्री से दूर रहना अर्थात् स्त्री को निकट न आने देना।

[३]—व्यर्थ बातें न करना, अर्थात मौन का धारण करना।

[४]—समाचार पत्रों में लेख न देना अर्थात् खत-ओ किताबत (पत्र व्यवहार न करना)।

[५]—शिष्य न करना।

ये सब विरक्त के लिये निवृत्ति के मार्ग हैं।

[साथ में मेरे परम हितैषी मित्र पं० ठाकुरप्रसादजी, कश्मीरी]

फ़तेहपुर (गङ्गातट) निवासी श्री १०८ स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के "अमूल्य उपदेश।"

(डा० राशबिहारीलाल, सोजती गेट, जोधपुर द्वारा प्राप्त)

स्वामी कहता है कि जो मुझसे मिलना चाहता है तो वह वस्तु भेट लेकर आ, जो मेरे पास नहीं है। और वह सच्ची दीनता है।

दो बातें स्मरण रखना चाहिये कि स्वामी तेरा अन्तर्यामी है। और दूसरी यह कि जो कुछ तू करता है वह उसको देखता है।

जो कोई अपने गुरु की आज्ञा में नहीं बर्तेगा वह कभी सेवक नहीं बनेगा, और जो गुरु से डरता है और गुरु की ओर दौड़ता है उसका एक दिन उद्धार होगा।

जो मालिक के प्यारे हैं उनमें तीन बातें जरूरी होंगी (१) उदारता, (२) दया और (३) तीसरी मेहमानी (पहुनाई) सच्चे महात्माओं की।

वास्तविक वन्दना और भजन यह है कि सच्चा डर और सच्चा भरोसा, सच्चा विश्वास और सच्ची प्रीति स्वामी के चरणों में होवे, चिन्ह डर का यह है कि पाप कर्म छोड़ देवे और चिन्ह सच्चे विश्वास और भरोसे का यह है कि सर्वदा स्वामी का भजन और स्मरण करता रहे। और चिन्ह प्रीति का यह है कि प्रेम दर्शन का दिन दिन बढ़ता रहे।

जिसमें यह तीन बातें नहीं हैं यानी संतोष और स्वामी का भय और स्वामी के दर्शन के विरह की बेकली—उसका उद्धार कठिन है।

किसी ने एक साधु से कहा कि मैं तुम्हारा सत्संग चाहता हूं। उसने उत्तर दिया कि दीनता करनी पड़ेगी। फिर कहा कि स्वामी को चाहता हूँ? उसने उत्तर दिया कि जो कठिन बाधा आ पड़े उसको प्रसन्नता से झेलना पड़ेगा।

जिसने इन छैः बातों को लेकर अपना किया वह सतगुरु का प्यारा हुआ और चौरासी के चक्र से बच कर निज घर में पहुँचने का अधिकारी हुआ।

(१) प्रथम सत्गुरु की जिस प्रकार हो सके पहचान करना (२) दूसरे मन को जानना और उसको जकड़ कर पकड़ना। (४) चौथे झूंठी और असार वस्तु को जानना और उससे सतर्कता से बर्तना यानी फंसना नहीं। और (६) छठी परमार्थ का मूल्य जानना और उसको दृढ़ कर पकड़ना यानी उसके अनुसार चलना।

परमार्थ तीन बातों में है। (१) भय, (२) आशा और (३) प्यार। भय क्या वस्तु है? जो बातें परमार्थ में मना हैं उनसे दूर रहना। आशा क्या है? सेवा और भजन स्वामी का मन मार कर करना— जिसमें एक दिन अपने निज मकान को पहुँच जावेगा। प्यार क्या है? स्वामी की आनन्द और आज्ञा में प्रसन्न रहना।

प्रश्न—परमपद के उपदेश का सच्चा और पूरा अधिकारी कौन है?

उत्तर—परमपद के उपदेश का सच्चा और पूरा अधिकारी वह है जिसमें यही तीन बातें पाई जावें (१) निर्लोभ होना—यानी जिसके पास चांदी, सोना, मिट्टी बराबर हो। (२) संसारियों के वचन की क़दर उसके मन से बिलकुल जाती रही हो, यानी निन्दा और स्तुति दोनों उसके पास समान हों। स्तुति में प्रसन्न न होवे और निन्दा में दुःखी न होवे और (३) यह कि मन की तरङ्गें और विकारों के बर्तने में ऐसा प्रफुल्लित नहीं होता हो वे कि जैसा संसारी उसके बर्तने में प्रसन्न होता है।

जो कोई स्वामी के स्मरण में ऐसा लगा रहता है कि उसको और कामों की सुध नहीं रहती है तो स्वामी उसके आवश्यकी कामों की स्वयं सुध लेता है। और उसको ठीक बना देता है। यानी सब प्रकार से रक्षा और संभाल अपने भक्त की आप करता है।

सच्चे और कपटी भक्त की क्या पहिचान है? सच्चा भीतर और बाहर एक रस बरसता है यानी उसके किसी काम में दिखावा और आदर्श नहीं होता। और कपटी दिखावा और आदर्श के काम विशेष करता है। और उसके भीतर में स्वामी की प्रीति कम होती है और धन का प्यार उसके मन में विशेष रहता है। इस कारण से उसका मन दोनों ओर रूखा रहता है जैसे कि रुपया दोनों ओर से एकसा नहीं होता।

मुख्य दया स्वामी की उस मनुष्य पर जाननी चाहिये जिसको अपने चरणों की सच्ची प्रीति का अधिकार देवे। यह प्रीति ऐसी उज्ज्वल है जो स्वामी और जीव के बीच में जितने परत हैं सब को दूर कर देता है।

स्वामी के मिलने वालों को चार समुद्र से पार होना चाहिये:—

[१] संसार—उसके पार होने की नाव वैराग्य है।

[२]—संसारियों का सङ्ग— उसके पार होने की नाव सत्गुरु का सङ्ग।

[३]—मन और उसके पार होने की नाव:— परमेश्वर की प्रीति यानी सुमिरन और ध्यान और शब्द का श्रवण।

[४]—गुनाहों और तरङ्गें और उसके पार होने की नाव स्वामी के चरणों में प्रेम और चित्त को एकाग्र करके लगाना।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—सत्गुरु से क्या मांगना चाहिये ?
उत्तर—भक्ति और प्रेम स्वामी के चरणों का।

प्रश्न—सत् गुरु के संग क्या आनन्द है ?
उत्तर—उनकी आज्ञा में चलना।

प्रश्न—उम्र क्योंकर व्यतीत करना चाहिये ?
उत्तर—स्वामी के स्मरण में। जहां तक हो सके सब को राजी रक्खो क्योंकि स्वामी का वचन है कि जो कोई मेरे जीवों को प्रसन्न रखता है मैं उससे प्रसन्न रहता हूं।

प्रश्न मनुष्य को कौन काम करना श्रेष्ठ है ?
उत्तर—परमार्थ का कमाना।

प्रश्न—परमार्थ से क्या फल मिलता है ?
उत्तर—पशु से मनुष्य, मनुष्य से देवता बन जाता है। इससे विशेष और बड़े दर्जे हैं। वह प्राप्त होते हैं। वास्तव में धीरे धीरे स्वामी के पास पहुँच कर उसका निज प्यारा हो जाता है।

प्रश्न—सच्चे स्वामी की क्योंकर पहचान हो सकती है ?
उत्तर—महात्माओं के शरण लेने और उनकी युक्ति के अभ्यास से।

प्रश्न— संसार किसको कहते हैं ?
उत्तर—जो अन्त में काम नहीं आवे और स्वामी की ओर से विमुख रक्खे।

प्रश्न—स्वामी की प्रसन्नता क्योंकर पर्याप्त हो सकती है ?
उत्तर—सत् गुरु की प्रसन्नता से।

प्रश्न —सत् गुरु की प्रसन्नता क्योंकर हो सकती है ?
उत्तर—उनके चरणों में गहरी प्रीत और प्रतीत करने से। और जहां तक अनुभव होवे उनकी आज्ञा में बर्तने से और उनकी सेवा में तन, मन, धन का सोच विचार न करे।

प्रश्न —सब कामों से श्रेष्ठ कौन काम है ?
उत्तर—सत्सङ्ग करना और भजन करना और उससे लाभ उठाना।

प्रश्न —सब कामों से बुरा काम कौन है ?
उत्तर—स्वामी का भूलना और धन और भोगों की चाह उठाना।

प्रश्न —सेवक किसको कहते हैं ?
उत्तर—जो अपने को सब से नीच और छोटा जाने। दीन जाने। अपने को निपट नीच माने। अपने स्वामी के चरणों में लव लीन रहे।

प्रश्न —यह श्रेष्ठता क्योंकर हासिल हो सकती है ?
उत्तर—सत् गुरु और साधु के सत्सङ्ग से। और दया से लेकिन जो कोई सच्चा होकर लगे।

प्रश्न —जीव स्वामी की स्मरण में क्योंकर लग सकता है।
उत्तर— मृत्यु की याद रखने से और चौरासी के डर से।

प्रश्न—नियत स्थान पर क्योंकर पहुंचता है ?
उत्तर—धीरज के साथ अभ्यास करना।

प्रश्न—अपराधों की औषधि क्या है ?
उत्तर—अपराध करने पर झुकना और पछताना और भविष्य में सतर्क रहना।

प्रश्न—ऐसा कौन मनुष्य है जो जहाँ जावे सब कोई प्यार करे ?
उत्तर—दीनता हर एक से करता है।

प्रश्न—धीरवान कौन है ?
उत्तर – जो संसारी सुखों को छोड़ कर परमार्थ की कमाई करता हो।

प्रश्न—सच्चा हितकारी कौन है ?
उत्तर - सतगुरु –जो बुराई से तुझको बचाते हैं और भलाई दिखाते हैं और कठिनाई और रोग में तेरी सहायता और सहयोग देता है।

प्रश्न—जो कोई सत्सङ्गी अवैध अपराध करे तो उससे क्योंकर बचना चाहिये ?
उत्तर—उससे कम मिलने और बातचीत न करने से।

प्रश्न—क्या जतन करूं कि वैद्य का आश्रित कम होऊं ?
उत्तर—कम खाओ,कम सोओ और भजन करते रहो।

प्रश्न—क्या करूं कि मुझको सब मित्र रखें ?
उत्तर—झूंठ मत बोलो। वचन के विरुद्ध मत करो किसी को हाथ या वाणी से मत सताओ और चित में सब से प्यार और दीनता रखो ?

प्रश्न—सेवा कितने प्रकार की हैं।
उत्तर—सेवा तीन प्रकार की हैं, (१) तन की सेवा, (२) धन की सेवा, (३) मन की सेवा।

प्रश्न—फल की सेवा क्या है ?
उत्तर—निश्चलता मन की और निर्मलता अन्तःकरण की, फिर आशीर्वाद और दया सतगुरु की।

प्रश्न—जवां मर्द कौन है ?

उत्तर—जो संसार के बिगड़ने से किसी प्रकार आश्रित न होवे और छोटा मन न होवे। पाँच मनुष्यों का सङ्ग न करना चाहिये-(१) झूंठ बोलने वाले अहंकारी का, (२) मूर्ख (अज्ञान) (३) कृपण के साथ जो समय पड़ने पर तुम को शुभ कार्य में व्यय करने से मना करे, (४) नाकिस तबियत यानी तुच्छ मनुष्य जो आवश्यक समय पर तुम्हारे काम न आवे (५) अविश्वासी जो अपना लालच देखकर तुमको हानि पहुँचावे। जो कोई संसार को प्यार करता है उसको भजन का रस कभी नहीं मिलेगा। और जो कोई कामी है उसे काल निश्चित है क्योंकि उससे निर्मल की परमार्थ कमाई कम बनेगी। एक और भक्त थी और इस

तौर पर प्रार्थना करती थी—कि हे सतगुरु ! मेरे जो कुछ साध्य वस्तु संसार की मुझको देना चाहे वह उनको दे जो तुझे भूले हुए हैं और जो स्वर्ग और बैकुंठ का सुख दिया चाहे तो वह उनको दे जो उन सुखों को तुझ से चाहते हों मुझको तो तू ही चाहिये:—

(१) अपने मन से कह कि हे मन ! मेरे स्वामी का भजन स्तुति कर नहीं तो उसका दिया हुआ भोजन मत खा।

(२) हे मन ! मेरे जिन कामों के लिए सत्गुरु ने मना किया है उनको मत कर नहीं तो उसके देश से बाहर निकल जा।

(३) हे मन मेरे ! जो तू पाप कर्म करना चाहे तो ऐसी जगह जा जहां तुझको सत्गुरु नहीं देखे नहीं तो पाप कर्म मत कर।

(४) हे मन मेरे ! जो तू स्वामी के दिये हुए में प्रसन्न नहीं है तो और सत्गुरु ढूंढ ले जो तुझको विशेष देवे।

(५) हे मन मेरे ! पहिले इसके कि मृत्यु आवे स्वामी की भक्ति कर कि धर्मराज के पास न जाना पड़े और नरक के दुःख से बच जावे। जो कोई अपने को सब से उत्तम जानता है वह नीच है और जो कोई अपने को सब से ओछा जानता है उसकी सब बड़ाई करेंगे। जो मन में स्वामी के मिलने की लगन उत्पन्न करो तो उस स्वामी का खौफ़ भी रखो। सब से बड़ा काम मन के विरुद्ध अधिकार करना है।

चौ०—सत्गुरु कहें करो तुम सोई।
मन के कहे चलो मत कोई॥

जो कोई स्वामी को पहचानना चाहे, तो उसको चाहिये कि मन को दुनियां के स्वप्नों से रहित रखे और उसके स्मरण में लवलीन रहे। और उसकी सेवा में ठहरा रहे। और अपनी भूल चूक पर रोवे और पछतावे। मनुष्यों के मन तीन तरह के हैं:— (१) मन शव, (२) मूर्च्छित और रोगी (३) मन सही और वास्तविक। मन शव—संसारियों का है जो सत्गुरु का भजन नहीं करते हैं। मन मूर्च्छित और रोगी—पापियों का है जो पाप कर्म अधिक करते हैं। मन सही और ठीक—उनका है जो प्रति समय सतर्क और चैतन्य रहते हैं। और सर्व समय सत्गुरु से डरते रहते हैं। और नित्यप्रति उसका भजन करते रहते हैं। भलों से भलाई करना यह जगत् का व्यौहार है, बुरों से भलाई करना ते बिरले संसार। एक अभ्यासी महात्मा जब मरने लगे तो अचम्भा किया कि मित्र की आत्मा मित्र लेवे। सत्गुरु ने आज्ञा दी कि आश्चर्य है कि मित्र मित्र के प्रेम और दर्शन से भागे।

प्रश्न—सत्गुरु को कहाँ ढूँढें।

उत्तर—स्वामी की खोज अपने घर में करो। क्योंकि जो सत्गुरु सब जगह है। वह तुम्हारे घर में भी है। पर तुम में से अधिक समीप है बनिस्बत दूसरी जगह के।

प्रश्न—स्वामी हम में किस प्रकार से है ?

उत्तर—सत्गुरु तुम में इस प्रकार से है जैसे फूल में सुगंध और दूध में घी और लकड़ी में अग्नि।

प्रश्न—सत्गुरु का दर्शन हमको किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—ईश्वर का दर्शन तुमको महात्माओं की सेवा करने से और उनसे युक्ति लेकर अपना घट मथन करने से हो सकता है—जैसे इत्र फूल में है लेकिन कई बार खींचने से निकलता है।

प्रश्न—ईश्वर के दर्शन की हमको क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—ईश्वर तुम्हारा बराबर सूरज के है, समीप जाओगे प्रकाश पड़ेगा—जिस प्रकार दूर जाओगे अंधेरे में रहोगे।

प्रश्न—गुरु की परमार्थ में किस प्रकार जरूरत है ?

उत्तर—कि जब तक सेवक की सुरत यानी अन्तरात्मा ईश्वर के चरणों में पहुंच कर ठहराने लगे, जब जाने चरणों का रस भली भाँति ले सके और कोई मध्यस्थ उसके और मालिक के बीच में न रहे। जब तक ऐसी हालत न होवे, अनुरागी सेवक को चाहिये कि गुरु का सत्सङ्ग बराबर किये जावे और उनसे सहायता लेता रहे। सत्सङ्ग की क्या महिमा है ?—सत्सङ्ग की यह महिमा है कि सत् गुरु यानी पूरे गुरु के भीतर और सङ्गत करने से वह एक दिन उसको अपने समान कर लेवेगा। जैसे कीट भृङ्गी के सङ्ग भृङ्गी का रूप हो जाता है।

प्रश्न—पूरे गुरु की क्या महिमा है ?

उत्तर—जिनका सत्लोक परमेश्वर में सुरत लगा है। और जिनकी अन्तरात्मा उस स्थान तक समय भजन के आती जाती हो। प्रश्न—हम ऐसे गुरु को किस प्रकार पहचान सकते हैं।

पूरी पहचान तो कठिन है। किन्तु जितनी वह अपनी दया से प्रदान कर उनके सत्सङ्ग करने से हो सकती है।

ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् ॐ तत्सत्

प्रश्नोत्तर

आत्मा-सम्बन्धी-प्रश्नोत्तर ।

(१) प्रश्न - आत्मा कैसा है ?

उत्तर—आत्मा अचिन्त्य, अनन्तरूप, कल्याणरूप, अमृत, माया का भी कारण, आदि-मध्य और अन्त से हीन, विभु, एक, आनन्दरूप और अद्भुत है ।

(२) प्रश्न—क्या सब प्राणियों में एक ही आत्मा है ?

उत्तर—निस्सन्देह, सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—"एक ही चेतनदेव सारे भूतों में छिपा हुआ है । वही सब में व्याप रहा है और वही सब भूतों का अन्तरात्मा है । वही कर्मों का अध्यक्ष या ज्ञाता सब भूतों का निवास स्थान, साक्षी, चेतन, द्वैत से रहित और निर्गुण है ।

(३) प्रश्न—क्या शरीर और आत्मा दो अलग-अलग पदार्थ हैं ?

उत्तर—बेशक शरीर और आत्मा दो अलग-अलग पदार्थ हैं । शरीर जड़ और नाशवान है; किन्तु आत्मा चेतन और अविनाशी है । शरीर रहने का घर और आत्मा उसमें रहने वाला है ।

(४) प्रश्न—जीवन और मरण अथवा जन्म और मृत्यु किसे कहते हैं ?

उत्तर—शरीर और आत्मा के संयोग को जीवन और इनके वियोग को मरण कहते हैं । जब आत्मा नये शरीर में प्रवेश करके संसार में आता है, तब कहते हैं कि जन्म हुआ और जब आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर चल देता है, तब कहते हैं कि मृत्यु हुई ।

मृत्यु का पूर्ण रहस्य जानने के लिये जीवन का जान लेना आवश्यक है । जीवन इच्छाओं की पूर्ति के लिए मिला है, यह सभी जानते हैं, यदि सभी इच्छाओं की पूर्ति हो गई तो फिर जीवन की आवश्यकता नहीं होती । और जब जीवन की आवश्यकता नहीं होती तब मृत्यु की आवश्यकता नहीं होती । जीवन की आवश्यकता न रहने पर देहान्त होता है, मृत्यु नहीं । क्योंकि मृत्यु जीवन के लिये होती है अर्थात् जो इच्छायें शेष रह जाती हैं, उनकी पूर्त्ति के लिये मृत्यु एक अवस्था है, और कोई वस्तु नहीं ।

जिस प्रकार थके हुए प्राणी को नींद आवश्यक है, थकावट दूर करने के लिये, उसी प्रकार इच्छाओं के शेष रहने वाले प्राणी को मृत्यु आवश्यक है, जीवन के लिये ।

(५) प्रश्न—क्या पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है ?

उत्तर—यदि जीवन में ही पूर्णता न मिले तो जीवन का मूल्य ही कुछ नहीं । यदि जीवन में ही पूर्णता न मिल सके तो पूर्णता केवल कल्पना होगी। पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है। विचार कर देखो, जो चाह किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उनका पूर्ण होना परम अनिवार्य है। कमी रहना किसी को भी प्रिय नहीं, अतः कमी का अन्त करने के लिये ही जीवन मिला है।

मानव जीवन में वह सभी साधन विद्यमान हैं कि जिनसे जीवन में ही जीवन की पूर्णता का अनुभव हो सकता है। परन्तु बाह्य रंगों से अपने को रंग लेने से वह साधन छिप से जाते हैं। व्याकुलता के प्रवाह में बाह्य रंग धुल जाते हैं। व्याकुलता प्रत्येक मानव में नहीं है, अर्थात् सभी में है। जो पूर्णता के लिये व्याकुल होता है वह पूर्णता अनुभव करता है । जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मिठास चीनी का होता है, उसी प्रकार सभी साधनों में प्रधानता व्याकुलता की होती है। पूर्णता की निराशा पापिनी को जीवन में मत आने दो। दबी हुई व्याकुलता बार बार उत्पन्न होती है, अतः उसको पूर्ण कर दो। व्याकुलता के सभी ऋणी हैं, क्योंकि वह पूर्ण करने पर ही साथ छोड़ती है। अतः व्याकुलता का कोई भी प्रत्युपकार नहीं कर पाता। जीवन में व्याकुलता के समान कोई भी हितैषी मित्र नहीं है। अतः उस परम हितैषी मित्र का आदर करो, हृदय में स्थान दो, जीवन का अंग बनाओ। यह आपको पूर्णता से अभेद करने में समर्थ है। व्याकुलता-रहित जीवन बेकार है।

(६) प्रश्न—क्या मृत्यु होने पर पूर्णता नहीं मिल जाती ?

उत्तर विचार कर देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं वह नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिये एक विशेष अवस्था है। जीवन की परिस्थिति को देखो, क्या है ? कुछ इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, कुछ इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये प्रयत्न कर रहे हो, और कुछ इच्छा अवशिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान् जीवन और कुछ नहीं। जब जीवन की क्रिया-शक्ति क्षीण हो जाती है और इच्छायें शेष रहती हैं, तब प्रकृति-माता क्रिया-शक्ति प्रदान करने को कुछ काल के लिये अपने में विलीन कर लेती हैं और फिर नवीन जीवन देती हैं। जब तक इच्छायें बनी रहती हैं तब तक जीवन की सभी अवस्थायें बार बार होती रहती हैं। जीवन का सदुपयोग करने पर इच्छाओं का जीवन में ही अन्त हो जाता है, बस उसी काल में ही पूर्णता अनुभव होती है, मृत्यु होने पर नहीं। मृत्यु तो केवल प्राणी को नवीन जीवन देने में समर्थ होती है, पूर्णता देने में नहीं। पूर्णता का अभिलाषी तो जीवन में ही पूर्णता का अनुभव करता है, अर्थात् पूर्णता का सम्बन्ध ही वर्त्तमान् जीवन से है।

(७) प्रश्न—क्रिया किस में होती है और क्यों होती है ?

उ०—यदि विचार-दृष्टि से देखा जावे तो यही ज्ञात होता है कि एक एक कर्मेन्द्रिय का एक २ ज्ञानेन्द्रिय से सम्बन्ध है। अतएव ज्ञानेन्द्रियों के बिना कर्मेन्द्रियों में क्रिया नहीं होती। जिस प्रकार जो सुन नहीं सकता वह बोल नहीं सकता, ऐसा देखने में आता है। त्वचा का और हाथ का, नासिका का और गुदा का, आँख का और पैर का, रसना और उपस्थ का भी उसी प्रकार संबन्ध है। परन्तु यदि मन ज्ञानेन्द्रियों का साथ न

देवे तो फिर ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रिया नहीं हो सकती। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय की क्रिया एक दूसरे से भिन्न प्रकार की है, किन्तु एक ही मन पाँचों इन्द्रियों से भिन्न भिन्न प्रकार की क्रिया करता है, जिस प्रकार एक सेव के फल को रसना चख कर, आँख देख कर और नाक सूंघ कर सेव कहती है। अर्थात् क्रिया में भिन्नता होते हुए भी सभी इन्द्रियों का ज्ञान एक होता है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियों का ज्ञान एक ही मन से होता है। यह भी अनुभव होता है कि यदि मन इन्द्रियों का साथ न दे तो इन्द्रियां होते हुए भी बेकार सी हो जाती हैं। इससे यही समझना चाहिये कि मन के बिना इन्द्रियां काम नहीं कर सकतीं, और मन बुद्धि के बिना काम नहीं कर सकता। यद्यपि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का स्वरूप एक है किन्तु क्रिया-भेद से चार प्रकार के मालूम होते हैं, क्यों कि एक काल में चारों की क्रिया का एक साथ अनुभव नहीं होता। जब मन क्रिया करता है तब और अन्य तीनों नहीं करते, अर्थात् एक की ही क्रिया एक समय में होती है, परन्तु बुद्धि की आज्ञा को सभी स्वीकार करते हैं। बुद्धि की प्रवृत्ति चाह के अनुसार होती है। यदि किसी प्रकार की चाह न रहे तो फिर बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धि के सम होते ही मन इन्द्रियां आदि सभी सम हो जाती हैं, अर्थात् सभी क्रियाओं का अन्त सा हो जाता है।

अब यह विचार करना है कि चाह क्यों उत्पन्न होती है, और किसमें होती है? चाह उसमें उत्पन्न होती है कि जो विषयों के रस का आस्वादन करता है तथा जो अपने में किसी प्रकार की कमी नहीं चाहता है। उसमें ही चाह उत्पन्न होती है। यह भली प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि चाह वास्तव में दो प्रकार की है। एक तो विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के रस के आस्वादन की, और दूसरी किसी प्रकार की कमी न रहने की, अर्थात् सब प्रकार से पूर्ण होने की। इन दो प्रकार के सिवाय और किसी प्रकार की चाह कभी देखने में नहीं आती।

विषयों की चाह की पूर्त्ति के लिये कर्म में रुचि होती है, और पूर्णता की चाह की पूर्त्ति के लिये ज्ञान में रुचि होती है। क्योंकि अनेक बार विषयों का रसास्वादन करने पर भी कमी शेष रहती है। इसलिये विषयों का त्याग करने के लिये पूर्णता का अभिलाषी विवश हो जाता है। विषयों का राग मिटने पर कर्म की रुचि मिट जाती है, और फिर एक ही चाह शेष रहती है। जिस समय वह एक चाह रह जाती है उस समय संसार की सुन्दरता, सत्यता, सुखरूपता बिलकुल मिट जाती है। इन्द्रियों के ज्ञान पर निरन्तर विश्वास नहीं रहता। ऐसी दशा में नवीन व्याकुलता होती है जो कहने में नहीं आती।

सीमित अहं-भाव न तो जड़ का ज्ञान होता है न चेतन, क्योंकि जड़ से मिल कर जड़ और चेतन से मिल कर चेतन प्रतीत होता है। सीमित अहंभाव का स्वतंत्र कोई स्वरूप नहीं दिखाई देता। सीमित अहं-भाव के मिटने पर सभी प्रकार की क्रियाओं का अन्त हो जाता है। चाह के समूह के अलग सीमित अहंभाव का और कोई स्वरूप नहीं ज्ञात होता। क्योंकि सभी चाह के मिट जाने पर सीमित अहंभाव मिट जाता है, फिर संसार का पता नहीं चलता। शरीर और संसार दोनों का स्वरूप एक है। क्योंकि स्थूल शरीर का स्थूल पंच भूतों से अभेद सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्य (अग्नितत्त्व) के बिना कोई भी आँख देख नहीं सकती और सूर्य के बिना किसी प्रकार का रूप बन नहीं सकता, अर्थात् सूर्य, आँख तथा रूप इन तीनों का एक ही स्वरूप है, उसी प्रकार आकाश के बिना शब्द उत्पन्न नहीं होता, और आकाश के बिना कान सुन नहीं सकते,

अर्थात् आकाश, शब्द और कान तीनों एक हैं। इसी प्रकार जल के बिना रस उत्पन्न नहीं होता, और जल के बिना रसना रसास्वादन कर नहीं सकती, अर्थात् जल, रस, रसना तीनों एक हैं। वायु के बिना त्वचा उत्पन्न नहीं होती और वायु के बिना स्पर्श भी नहीं हो सकता अर्थात् वायु त्वचा और स्पर्श तीनों एक हैं। पृथ्वी के बिना गंध उत्पन्न नहीं होती, और पृथ्वी के बिना नासिका सूंघ नहीं सकती, अर्थात् पृथ्वी-नासिका तथा गंध तीनों एक हैं।

शरीर का सम्बन्ध कुल संसार से अभेद सिद्ध हो जाता है, अतः ये अंग और अंगी के समान एक ही हैं। एक शरीर का अहंभाव संसार से भिन्नता मानने से उत्पन्न होता है जो स्वरूप से मिथ्या है। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सीमित अहंभाव मिट कर असीम अहंभाव आ जाता है (अर्थात् जीव-भाव मिट कर ईश्वर-भाव आ जाता है। क्योंकि जो अंग का स्वामी है वही अंगी का स्वामी हो सकता है। अंगी का कोई अलग अभिमानी नहीं हो सकता।

सीमित अहंभाव का अभाव होने पर असीम अहंभाव मिट जाता है, और फिर शुद्ध, निर्विकार सब प्रकार से पूर्ण, अखंड, अविचल, आनन्दघन, बोध स्वरूप, स्वयं प्रकाश परमतत्त्व शेष रह जाता है। उसमें कभी किसी प्रकार की क्रिया अनुभव नहीं होता। और पर-प्रकाश्य (असत्) जड़ संसार में भी क्रिया नहीं हो सकती तथा जड़ और चेतन का मेल भी नहीं हो सकता, क्योंकि मिलाप अभेद स्वरूप में ही हो सकता है, विरोधी स्वरूप में नहीं। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार दोनों कभी एक समय में मालूम नहीं होते उसी प्रकार जड़ और चेतन दोनों एक समय में अनुभव नहीं होते। क्रिया चेतन में भी नहीं होती, क्योंकि वह पूर्ण है।

विषयों के राग और ज्ञान की कमी से सीमित अहंभाव उत्पन्न होता है, और सीमित अहंभाव से ही क्रिया उत्पन्न होती है। सीमित अहंभाव बिना किसी के आधार के रह नहीं सकता। यह जिसको आधार करता है उसका ही स्वरूप हो जाता है। इसलिये सीमित अहंभाव में जड़ या चेतन की कल्पना करना उचित नहीं मालूम नहीं होता, सिवाय इसके कि चेतन का ज्ञान होने पर चेतन, और जड़ का ज्ञान होने पर इसे जड़ कह देते हैं। वास्तव में तो उसका स्वरूप मिथ्या अनुभव होता है।

जिसका कारण मिथ्या है उसका कार्य सत्य नहीं हो सकता। अतः क्रिया किसमें होती है क्यों होती है, इसका कथन नहीं किया जाता, किन्तु ज्ञान होने पर यह प्रश्न सिद्ध हो जाता है।

अतः पाठकों को चाहिये कि यह प्रश्न सिद्ध करके ही शान्ति प्राप्त करें, केवल सुन कर नहीं।

(८) प्रश्न—क्या यह शरीर ही मनुष्य नहीं है?

उत्तर—नहीं, यह देह या शरीर या चोला मनुष्य नहीं है। इस देह को धारण करने वाला अथवा इस देह में बसने वाला एक सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ है, जो हृदय के भीतर रहता है, उसे ही मनुष्य जीवात्मा, देही या शरीरी कहते हैं।

(९) प्रश्न—बालकपन व युवावस्था और वृद्धावस्था—ये अवस्थायें किसकी होती हैं, आत्मा की या शरीर की ?

उत्तर—बालकपन, युवावस्था, और वृद्धावस्था—ये अवस्थायें शरीर की होती हैं, आत्मा की नहीं। शरीर की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, मगर शरीर के अन्दर रहने वाला जीवात्मा सदा जैसा का तैसा बना रहता है। शरीर की अवस्था बदलने पर, उसकी अवस्था में कुछ भी फेर फार नहीं होता। बचपन के शरीर में आत्मा जैसा रहता है, युवावस्था और बुढ़ापे के शरीर में भी वैसा ही रहता है। सारांश यह है कि आत्मा सदा एकसा रहता है, वह न कभी बच्चा होता है, न बूढ़ा और न जवान।

(१०) प्रश्न—शरीर के साथ जो आत्मा या चेतन वस्तु उत्पन्न होती है, वह क्या शरीर के साथ ही नाश नहीं हो जाती ?

उत्तर—शरीर के साथ जो चेतन वस्तु या आत्मा पैदा होती है, वह शरीर के नाश होने पर नाश नहीं हो जाती। शरीर नष्ट हो जाता है, पर उसके भीतर रहने वाला आत्मा नाश नहीं होता वह अपने कर्मानुसार फिर नया शरीर पाता है। हम लोग जिस प्रकार आज हैं, उसी तरह पहिले भी थे और आगे भी रहेंगे। हमने अब तक अनगणित जन्म लिये हैं और आगे भी, जब तक मोक्ष न हो जायगी, इसी प्रकार जन्म लेते और मरते रहेंगे। देखने में आता है कि माँ के पेट से निकलते ही बालक को हर्ष, शोक और भय आदि होने लगते हैं। हाल के उत्पन्न हुए बालक को अपने पहिले जन्म की हर्ष, शोक और भय पैदा करने वाली बातें स्मरण होती हैं, इसी से वह हंसता, डरता और रोता है। अगर हाल के जन्मे बालक ने पहले कभी जन्म न लिया होता, तो वह उत्पन्न होते ही अपनी भूख शान्त करने के लिये, माँ के स्तनों को खोज कर उनसे लग न जाता। बालक ने पहिले अनेक जन्म लिए हैं और प्रत्येक बार माताओं के स्तन-पान किये हैं; इस बार भी उसे पहिले जन्म की बात याद स्मरण है, उसे स्तन-पान का अनुभव है, दूध पीने के लाभ का ज्ञान है; इसी से वह इस जन्म में पैदा होते ही बिना किसी के सिखाये, स्तन पीने लगता है। इसी से निर्द्वन्द ज्ञात होता है कि, तत्काल के जन्मे शिशु के भीतर चैतन्य वस्तु—आत्मा है और वह पहले जन्म में भी था। उसी आत्मा ने अपना पहला शरीर छोड़ कर, इस नये शरीर में प्रवेश किया है। उस बालक का पहला शरीर नाश हो गया है, पर उसके भीतर रहने वाला आत्मा ज्यों का त्यों; वह पुराने शरीरों को त्याग-त्याग कर नये-नये शरीर धारण करता है। शरीर नाश होते जाते हैं, मगर आत्मा कभी नाश नहीं होती। इसी से शास्त्रों में आत्मा को अमर और अविनाशी तथा नित्य या सदा सर्वदा रहने वाला कहा है।

(११) प्रश्न—शरीर और आत्मा की तुलना करो ?

उत्तर—शरीर में रहने वाला आत्मा नित्य, अविनाशी, अक्षय, निराकार, निर्विकार, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अजर और अमर है; किन्तु शरीर अनित्य नाशवान, घटने-बढ़ने वाला, साकार, विकारवान, स्थूल और बूढ़ा होने तथा मरने वाला है।

आत्मा कभी मरता नहीं, सदा रहा आता है, इससे उसे नित्य कहते हैं। आत्मा का कभी नाश नहीं होता, कोई भी उसका नाश नहीं कर सकता। मनुष्य की तो बात ही क्या है, स्वयं जगदीश परम

परमात्मा भी, आत्मा का नाश नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मा स्वयं ब्रह्म है, कोई भी अपना नाश आप नहीं कर सकता। आत्मा आत्मा को जला नहीं सकती, जल डुबा या गला नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती; अतः आत्मा के अविनाशी होने में कोई सन्देह नहीं। आत्मा निराकार है, यानी उसके आकार या अङ्ग, प्रत्यङ्ग नहीं; इसलिये वह घटता-बढ़ता नहीं; बस, इसी कारण उसे अक्षय भी कहते हैं। उत्पन्न होना, अस्तित्व, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना और नाश होना—ये छः "भाव विकार" हैं। ये छः देह के धर्म हैं। शरीर पैदा होता है, घटता-बढ़ता है, शरीर में ही तरुणता और वृद्धता प्रभृति रूपान्तर या फेरफार होते हैं तथा शरीर का नाश होता है; अर्थात् शरीर की ये छः अवस्थायें होती हैं; किन्तु इन छःओं विकारों से अलग रहता है। न वह उत्पन्न होता है, न घटता-बढ़ता है, न उसमें रूपान्तर होते हैं और न उसका नाश होता है; इसी से उसे निर्विकार कहते हैं। आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, इसलिए वह बुद्धि आदि से जाना भी नहीं जा सकता। आत्मा न बूढ़ा होता है और न मरता है; इसी से उसे अजर और अमर कहते हैं।

(१२) प्रश्न—क्या स्त्री और पुरुष में आत्मा अलग-अलग होते हैं ?

उत्तर—जिस प्रकार बालकपन, युवा और वृद्धावस्था के शरीर में एक ही आत्मा होता है; उसी तरह स्त्री, पुरुष और नपुंसक प्रभृति में एक ही आत्मा होता है। आत्मा जैसे-जैसे शरीरों को धारण करता है; वैसा-ही-वैसा हो जाता है। शरीर स्त्री या पुरुष होता है; आत्मा नहीं। एक ही आत्मा दो प्रकार के शरीरों में रहने से स्त्री और पुरुष कहलाता है। स्त्री के शरीर में रहने वाला आत्मा, जब पुरुष के शरीर में आ जाता है, तब पुरुष कहलाता है। और पुरुष के शरीर में रहने वाला आत्मा, जब स्त्री के शरीर में आ जाता है, तब स्त्री कहलाती है। आत्मा स्त्री पुरुष नहीं होता। किन्तु शरीर स्त्री पुरुष होता है।

(१३) प्रश्न—मरने के बाद इन्द्रियां अपना-अपना काम क्यों नहीं करतीं ?

उत्तर—शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है। शरीर घर है और आत्मा दीपक है। जिस तरह घर में दीपक का प्रकाश रहता है; उसी प्रकार शरीर रूपी घर में आत्मा रूपी दीपक का प्रकाश रहता है। यह चेतन आत्मा ही सारी इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक है। चेतन आत्मा के प्रकाश से ही इन्द्रियां अपना-अपना काम करती हैं। जब आत्मा शरीर-रूपी घर को छोड़ जाता है; तब शरीर घर में अंधेरा हो जाता है। इन्द्रियां जो आत्मा की ज्योति से अपना-अपना काम करती थी; उसके शरीर में न रहने से बे-काम हो जाती हैं।

(१४) प्रश्न—हमको मृतक के साथ क्या करना चाहिए ?

उत्तर—मृतक के साथ सब से बड़ा कर्त्तव्य यही है कि उससे हमको अपना सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए; और हृदय से सद्भावपूर्वक मूक प्रार्थना करना चाहिए, कि उस प्राणी का कल्याण हो। क्योंकि जब प्राणी स्थूल शरीर को छोड़ कर अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए योनि धारण करता है तब यदि आप उसके साथ सम्बन्ध रक्खेंगे तो उसको योनि धारण करने में देर अवश्य होगी। इसलिये शीघ्रातिशीघ्र सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए।

(१५) प्रश्न—क्या ईश्वर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं ?

उत्तर—नहीं, ईश्वर और आत्मा एक ही हैं। इनमें कुछ भेद नहीं।

(१६) प्रश्न—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् है; पर जीवात्मा तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं; तब दोनों एक कैसे हुए ? और जीव को ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिये।

उत्तर—जीवात्मा की उपाधि अन्तःकरण है और ईश्वर की उपाधि माया है। जीवात्मा की उपाधि छोटी सी है; पर ईश्वर की उपाधि माया सारे ब्रह्माण्ड में फैल रही है; इसी से ईश्वर में सर्वज्ञता आदि धर्म रहते हैं; पर जीवात्मा में नहीं परन्तु सुखरूपता दोनों में समान है तथा नित्यत्व और चेतनत्व धर्म भी दोनों में बराबर हैं। इससे स्पष्ट है कि, ईश्वर और आत्मा में भेद नहीं, उपाधि के छोटेपन और बड़ेपन के कारण दोनों में भेद जान पड़ता है।

यही प्रश्न किसी मनुष्य ने एक महात्मा से किया था। महात्मा ने कहा—"मुझे प्यास बड़े वेग से लगी है, अतः पहिले गङ्गाजी से एक तुम्बी जल भर लाओ।" वह आदमी एक तूम्बी गङ्गा-जल भर लाया और महात्मा के सामने रख दिया। महात्माने कहा—यह तो गङ्गा-जल नहीं है। गङ्गा-जल में तो सैकड़ों नाव और अग्नि-बोट आदि चलते हैं, बड़े बड़े मगर और घड़ियाल तथा मछलियां तैरती हैं, किनारे पर घाट बने हैं, लोग स्नान करते हैं, पर इस में तो उनमें से एक भी नहीं, फिर मैं इसे कैसे गङ्गा जल समझूं ?" उस जल लाने वाले ने कहा—"महाराज ! वह गङ्गा का बड़ा भारी प्रवाह है, जिसके किनारे पर्वत वृक्षादिक हैं तथा जिस में जहाज चलते और मनुष्य नहाते हैं, और यह उसी प्रवाह का एक छोटा सा अंश है। इसमें वे सब कैसे रह सकते हैं ? पर इसके गङ्गा जल होने में तनिक भी भ्रम नहीं; जो मधुरता आदि गुण उसमें हैं, वे ही सब इसमें भी हैं। यह सुनते ही महात्मा ने कहा—"बस, तेरा प्रश्न सिद्ध हो गया। यही बात ईश्वरात्मा और जीवात्मा में है। दोनों एक ही हैं। ईश्वर नित्य और चेतन है, वह सुख-रूप है और यह भी सुखरूप है। आत्मा की उपाधि अन्तःकरण है और ईश्वर की उपाधि माया है। आत्मा की उपाधि छोटी सी है, उसका भाग छोटा है; और इसी से आत्मा में सर्वज्ञता आदि नहीं; पर ईश्वर की उपाधि माया सारे विश्व में व्याप रही है, उसका दायरा बहुत बड़ा है, इसी से उसमें सर्वज्ञता आदि धर्म हैं। अन्य शब्दों में यों कहो:—

"जीव और ईश्वर अंग अंगी के समान हैं। जब जीव अपनी अल्पज्ञ सत्ता स्वीकार कर लेता है और ईश्वर की सर्वज्ञ सत्ता स्वीकार करता है तब उपासना करने की रुचि उत्पन्न होती है क्योंकि अल्पज्ञ हमेशा सर्वज्ञ होने के लिए प्रयत्न करता है। उपासना=अपने से भिन्न किसी प्रतीक में, जो अपनी रुचि के अनुसार हो, सर्वोत्कृष्ट भाव स्थापित कर, अर्थात् जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न है, उसमें अपने भाव के अनुसार अपने को समर्पण कर देना ही उपासना है। परन्तु जिसको किसी भी प्रतीक में रुचि न हो उसका अपने ही में (ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न) सर्वोत्कृष्ट तत्त्व की स्थापना कर उनकी जो कुछ इच्छा है उसी प्रकार प्रसन्न रहने का अभ्यास करना अथवा अपने माने हुए अहंभाव को समर्पण कर देना उपासना है। उपासना का

वास्तविक तत्व यह है उपास्यदेव से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उसका अभाव हो जावे, अथवा उपास्यदेव से भिन्न और किसी की सत्ता शेष न रहे।

(१७) प्रश्न—क्या ईश्वर सर्वव्यापक है ? अगर ईश्वर सर्वत्र है, तो वह दीखता क्यों नहीं ?

उत्तर—जिस तरह दूध में मक्खन, दही में घी, तिलों में तेल, पहाड़ी झरनों में जल और अरणी में अग्नि की ज्योति है; उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र है। जिस तरह तिलों में तेल है, पर दीखता नहीं; दूध में मक्खन है पर दीखता नहीं; ईख में रस है, पर दीखता नहीं; उसी प्रकार आत्मा सब शरीरों में है, पर दीखता नहीं।

(१८) प्रश्न—क्या सब में एक ही आत्मा है ? यदि सब में एक ही आत्मा है, तो अलग-अलग क्यों दीखती है ?

उत्तर—निश्चय ही सारे विश्व में अथवा संसार के सभी नगरों में एक ही आत्मा है। स्त्री, पुरुष, गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, हाथी, ऊँट, कुत्ता और बिल्ली प्रभृति संसार के सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है। इन सब में अलग-अलग आत्मा नहीं है; पर भ्रमवश या अज्ञान से जिस तरह एक ही सूर्य अनेक जल से भरे हुए घड़ों में अनेक सूर्यों की तरह दीखता है; उसी तरह एक ही आत्मा अनेक शरीरों में अनेक आत्माओं की तरह दीखता है। बुद्धिमान् समझता है, कि सूरज एक है पर अनेक घड़ों में अनेक सूरजों की तरह दीखता है; उसी तरह ज्ञानी समझता है कि, सारे संसार में एक ही आत्मा व्याप रहा है; पर अनेकों शरीरों में अनेक आत्माओं के अनुसार दीखता है।

(१९) प्रश्न - यदि जगत् के सभी शरीरों में एक ही आत्मा है, तो एक के सुखी होने से सभी सुखी क्यों नहीं होते और एक के दुःखी होने से दुःखी क्यों नहीं होते और और एक के मरने से सभी क्यों नहीं मर जाते इत्यादि ?

उत्तर—एक शरीर में हाथ, पैर, नाक, अँगुली प्रभृति अनेक अवयव हैं, पर उस शरीर के सारे अवयवों में एक ही आत्मा है। इतने पर भी, पैर में दर्द होने से हाथ में दर्द नहीं होता; नाक में सुख होने से कान में सुख नहीं होता और एक अङ्ग के टूट जाने से सारे अङ्ग टूट नहीं जाते। सारांश यह है कि, जिस प्रकार एक शरीर के अवयवों में एक आत्मा होने से सब में सुख दुःख नहीं होता; उसी तरह ब्रह्माण्ड के शरीर में एक आत्मा है और संसार के सारे शरीर उसके अवयव हैं। एक शरीर के सुखी दुःखी होने से विराट् के और शरीर सुखी दुःखी नहीं होते; क्योंकि वे सब शरीर विराट् के अवयव मात्र हैं। और भी विस्तार है कि, जिस तरह हमारे इस शरीर के हाथ पैर आदि अवयव हैं; हमारे एक अवयव को कष्ट होने से दूसरे अवयव को कष्ट नहीं होता; उसी प्रकार हम सारे ही प्राणी उस विराट्-शरीर के अवयव हैं। हम में से एक के दुःखी होने से दूसरा दुःखी नहीं होता और सुखी होने से दूसरा सुखी नहीं होता।

आत्मा से सुख-दुःख आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुख दुःख आदि का सम्बन्ध अन्तःकरण से है। गरमी-सर्दी, सुख-दुःखादि आत्मा को नहीं मालूम होते; किन्तु अन्तःकरण द्वारा जाने जाते हैं। सब अलग-अलग शरीरों में आत्मा तो एक ही है; मगर अन्तःकरण अलग-अलग हैं। इसी कारण एक को सुख होने से सब को सुख और एक को दुःख होने से सब को दुःख नहीं होता। "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है कि आत्मा सारे शरीर में एक ही है। इच्छा, संकल्प, संशय, लज्जा, भय आदि मन से सम्बन्ध रखते हैं। जो ऐसा समझते हैं, कि आत्मा को सुख होता है, आत्मा को दुःख होता है तथा शरीर-शरीर में आत्मा है, वे सब भूल करते हैं, बालक और अज्ञानी हैं।

एक बात और है,—आत्मा नित्य और आदि-अन्त रहित है, उसका विनाश कभी नहीं होता; इसलिये आने वाले और जाने वाले, उत्पन्न होने वाले और नाश होने वाले सुख दुःखों का सम्बन्ध आत्मा से नहीं हो सकता। दो समान पदार्थों का सम्बन्ध होता है, यही नियम है। अन्तःकरण और सुख-दुःख आदि दोनों ही उत्पत्ति और विनाश में समान हैं, अतः अन्तःकरण को ही दुःख-सुख प्रतीत होते हैं। निर्गुण, निराकार नित्य और विकार रहित आत्मा को अनित्य (सदा न रहने वाले) सुख-दुःख नहीं घेर सकते। सुख दुःख अनित्य हैं और अन्तःकरण भी अनित्य है। अनित्य का अनित्य के साथ ही मेल हो सकता है; नित्य और अनित्य का संयोग कभी हो नहीं सकता। अब साफ तौर से समझ में आ जायगा कि, सुख-दुःख का सम्बन्ध अन्तःकरण से है, आत्मा से उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। आत्मा को कभी कोई दुःख नहीं होता। अज्ञान से आत्मा का बन्धन ज्ञात होता है। अभिमान के कारण या विषयों और इन्द्रियों के सम्बन्ध से सुख-दुःखादि उत्पन्न होते हैं और वह अन्तःकरण को ज्ञात होते हैं; आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं। बस यही कारण है कि, सब शरीरों में एक आत्मा होने पर भी अन्तःकरणों के अलग होने से, एक को सुख होने से दूसरे को सुख और एक को दुःख होने से दूसरे को दुःख नहीं होता।

(२०) प्रश्न—मनुष्य बन्धन-मुक्त कैसे हो सकता है?

उत्तर—जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से जल दीख पड़ता है, पर वास्तव में वहां जल का नाम भी नहीं—मरुभूमि ही है; उसी तरह यह जगत् जैसा दीखता है, वैसा नहीं है; भ्रम से वैसा दिखता है। असल में मिथ्या प्रपंच है। यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है, यह मेरा घर है—यह सब वासना के खेल हैं, अर्थात् वासना से ही संसार दीखता है। मूल में न कोई किसी का पुत्र है और न पिता, न पुत्री। वासना के कारण ही यह जीव बन्धन में बँधता है। वासना के कारण ही यह नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। वासना के त्याग के से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है और जीव ज्ञानी हो जाता है। हृदय में कामनाओं का होना ही संसार है और कामनाओं का सब प्रकार से नाश हो जाना ही मोक्ष है। जो बन्धन से छूटना चाहें, वे वासना या कामना को त्यागें।

(२१) प्रश्न—क्या पुत्र पौत्रों के होने से मुक्ति हो जाती है?

उत्तर—नहीं; यह अज्ञानिओं का भ्रम है। पुत्र तो कुत्ते, बिल्ली और सूअरों के भी होते हैं, क्या उनकी गति हो जाती है? किसी प्रकार नहीं। पुत्र से न तो किसी की गति हुई और न होगी। गति अपने पुरुषार्थ से होती है। अगर पुत्रों से गति होती, तो पहले के मोक्ष चाहने वाले अपने पुत्रों को क्यों त्याग जाते? जो पुत्रों से गति होना मानते हैं वे मोहान्ध हैं।

हां, "वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलि" में कहा है—जिस विद्वान् का मन एक क्षण भी ब्रह्मविचार में स्थित हुआ है, उसने मानों सब तीर्थों के जलों में स्नान कर लिया है। पुनः तीनों लोकों की पृथ्वी दान कर ली है और सर्व प्रकार के सहस्रों पुण्य भी उसने कर लिये हैं। सर्व देवता भी पूज लिए हैं। इस संसार से सर्व पितरों का और आगे के सर्व कुलों का उद्धार भी कर लिया है। पुनः तेतीस कोटि देवता सहित सर्व जगत् पूजने योग्य भी वही विद्वान् है।

(२२) प्रश्न—क्या तीर्थाटन से भी मुक्ति नहीं हो सकती ?

उत्तर—जिन पुरुषों के मन और वाणी आदि शुद्ध हैं, उनके पद-पद में तीर्थ हैं; किन्तु जिनके मन मलिन हैं, उनके लिये गङ्गा भी कीकर के देश के समान है, यह बात "देवी भागवत" में कही है।

"कपिल गीता" में कहा है—यह तीर्थ है, वह तीर्थ है, ऐसा समझकर अज्ञानी मारे-मारे फिरते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मा रूपी तीर्थ का हाल ज्ञात नहीं।

"गीता" में कहा है—जिसकी आत्मा में प्रीति है, जो आत्मानन्द से तृप्त है या जो आत्मा से संतुष्ट है, उसे कुछ भी नहीं करना है, अर्थात् उसके लिये तीर्थों में भटकने या और काम करने की आवश्यकता नहीं।

जिस तरह तालाब के निर्मल और ठहरे हुए जल में सूर्य का विम्ब—अक्स—दीखता है; उसी तरह शुद्ध मन वाले को परमेश्वर दीखता है। जिसका मन स्थिर और शुद्ध है, उसके चरणों में तीर्थ हैं।

(२३) प्रश्न—महात्माओं ने पुत्रों को दुःखदायी और शत्रु क्यों कहा है ?

उ०—पुत्र सचमुच ही शत्रु होते हैं। पुत्र इस जन्म ही में माता-पिता को दुःख से नहीं छुड़ा सकते, तब मरने पर क्या सुखी करेंगे ? पुत्र तो केवल धन के साथी हैं। वे पूर्व जन्म के लेनदार हैं। अपना ऋण चुकाने को पुत्ररूप से जन्म लेते हैं। असल में पुत्र का नाम ही दुःखों की खानि है। जिनके पुत्र नहीं होता, वे पराये पुत्रों को देखकर मन में कुढ़-कुढ़ कर मरते हैं। हाय ! हमारे धन का कौन स्वामी होगा ? दीन जनों के पुत्र न होने से इतना दुःख नहीं होता, जितना धनियों को होता है। यदि किसी के पुत्र होकर मर जाता है, तो वह जीते जी ही मर जाता है। यदि पुत्र का विवाह हो जाता है और वह फिर मर जाता है; तो माता-पिता के जलन की सीमा नहीं रहती; पुत्र-वधू को देख-देख कर रात-दिन रोते-कलपते हैं। अगर पुत्र कुपुत्र निकल जाता है, तब तो माता-पिता को पद-पद पर जलना और कुढ़ना पड़ता है। उनको पुत्र न होने वालों से भी अधिक सन्ताप होता है। अगर पुत्र सुपुत्र होता है, तो उसके जीने की चिन्ता रहती है, फिर उसके सगाई विवाह की चिन्ता रहती है और संतान हो जाने पर उसकी संतान की चिन्ता रहती है। सारांश यह, पुत्रवानों को सर्वदा चिन्ताग्नि में जलना पड़ता है और शेष में पुत्र से कोई लाभ भी नहीं। मरने पर पुत्र धन का स्वामी हो जाता है और पिता का नाम भी नहीं लेता। अगर कोई श्राद्ध वगैरह करता है, तो वह अपने नाम और लोक-लाज को करता है, पिता की आत्मा की शान्ति के लिए नहीं करता। इसी से तत्त्वज्ञानी लोग पुत्र की इच्छा नहीं रखते और पुत्र को ऐसा शत्रु कहते हैं, जो ऊपर से मित्र मालूम होता है; पर वास्तव में दृढ़ शत्रु होता है। अनेक पुत्र दरिद्री पिता को

मारते-पीटते हैं। उसे पौली में टूटी सी खाट पर पटक कर बासी-कूसी खाना देते और अनेक-दुर्गति करते हैं। आश्चर्य है, फिर भी मोहान्ध अज्ञानी पुत्र ही पुत्र चिल्लाया करते हैं।

(२४) प्रश्न— संसार बन्धन से किस तरह छुटकारा मिल सकता है ?

उ०—विषयों में लगे हुए चित्त को, विषयों से हटाकर, ब्रह्म में लगा देने से संसार-बन्धन से छुटकारा हो सकता है।

(२५) प्रश्न—आत्मा के साक्षात्कार में बाधक कौन हैं ? परमात्मा का स्पष्ट दर्शन कब होता है ?

उ०—आंख, कान, नाक प्रभृति इन्द्रियां और रूप, शब्द स्पर्श, गंध आदि विषय-अनर्थों की जड़ हैं। इन्द्रियाँ सदा विषयों की ओर पुरुष को ले जाती हैं और विषय विष की तरह घातक हैं। विषयासक्तों को आत्मा या परमात्मा का दर्शन नहीं होता।

विषय और इन्द्रियां उत्पन्न होने वाले और नाश होने वाले हैं। किन्तु आत्मा अजन्मा और अविनाशी है, अतः उसका और इनका मेल नहीं, क्योंकि मेल समान-समान का होता है; नाशवान् और और अविनाशी का मेल हो नहीं सकता। आत्मा इनसे परे और सब का साक्षी है। उस आत्मा की प्राप्ति सत्य से होती है। सत्य से ही मन का निरोध होता है। मन का निरोध होते ही आत्मा स्वच्छ दीखता है; अर्थात् शुद्ध, श्रेष्ठ और निर्मल मन में ही आत्मा दीखता है, जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में मुँह दीखता है। अशुद्ध मन में आत्मा नहीं दीखती। अशुद्ध मन बन्धन का कारण और शुद्ध मन मोक्ष का कारण है। मन के शुद्ध हो जाने से बुरे भले कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के नाश हो जाने से पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। सारांश यह है कि, आत्मा या परमात्मा के दर्शन चाहने वालों को, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, मन को शुद्ध करना आवश्यकीय है; जिस प्रकार लकड़ियों के न रहने से अग्नि अपने कारण में लय हो जाती है; यानी बुझ जाती है; उसी तरह वृत्तियों से रहित हुआ मन भी अपने कारण में लय हो जाता है; यानी शान्त हो जाता है। जब मन शान्त हो जाता है, उसकी चंचलता नाश हो जाती है, वह स्थिर हो जाता है, तब आत्मा का दर्शन होने लगता है। जिस तरह चंचल हवा से हिलते हुये मैले गदले जल में सूरज का बिम्ब या (अक्स) नहीं दीखता; उसी प्रकार अशुद्ध, मैले और चंचल चित्त में आत्मा नहीं दीखता। अतः मन की चंचलता और उसकी गंदगी को दूर करना जरूरी है।

(२६) प्रश्न—ज्ञान, ध्यान, स्नान और शौच किसे कहते हैं ?

उ०—आत्मा को सब प्राणियों में एक रूप से देखना ही "ज्ञान" है। मन का विषयों से रहित हो जाना ही "ध्यान" है। मन के मैलों को दूर करना ही "स्नान" है और इन्द्रियों के निग्रह करने को ही "शौच" कहते हैं।

(२७) प्रश्न—परमेश्वर कहां है ? उसका ध्यान कैसे करना चाहिये ?

उ० - यह जो हमारा शरीर है, यही उस देवता—परमेश्वर के रहने का मन्दिर है। इसी में जो चेतन जीव है, वही केवल "शिव" है। मनुष्य को हृदय -कमल में परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये। चंचल या चलायमान चित्त से वह नहीं दीखता।

(२८) प्रश्न—जड़ क्या है ? चेतन क्या है ? असत् क्या है ? सत् क्या है ? आनन्द क्य है ? दुःख क्या है ? और क्या शरीर - जड़, असत् तथा दुःखरूप है ? अपूर्ण कौन है ?

उ०—जड़—जड़ वह है जो अपने आपको प्रकाशित न कर सके, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से प्रकाशित हो ।

चेतन—चेतन वह है जो अपने को स्वयं प्रकाशित करे, और जिससे जड़ प्रकाशित हो ।

असत्—असत् वह है जो बदलता रहे, अर्थात् जो हरकाल में बराबर न हो ।

सत्—सत् वह है जो सर्वकाल में एकसार रहे, और असत् को प्रकाशित करे ।

आनन्द—आनन्द वह है जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जावे, अर्थात् अत्यन्त प्रिय हो ।

दुःख—जो किसी प्रकार प्रिय न हो, अर्थात् जिसका त्याग कर दिया जावे ।

शरीर-आदि जो कुछ जानने में आता है वह अपने को अपने आप प्रकाशित नही कर सकता, इसलिये जड़ है । शरीरादि सभी वस्तुएँ लगातार बदलती रहती हैं, अतएव असत् हैं । और वही दुःख रूप हैं ।

अपूर्ण—अपूर्ण वही है जो असत्, जड़ तथा दुःख रूप है ।

(२९) प्रश्न—सारे दुःखों का मूल कारण क्या है ?

उ०—तृष्णा—इच्छा ! जिसके मन में तृष्णा है. उसका मन सदा इधर-उधर भटकता रहता है, वह कभी शान्त नहीं होता । मन के शान्त हुए बिना प्राणी को सुख नही । अतः तृष्णा को त्यागना चाहिए, किसी भी वस्तु की इच्छा न रखनी चाहिये । यहाँ तक कि, स्वर्ग और मोक्ष की भी इच्छा न रखनी चाहिए । जब वह संसार की मोह-माया त्याग, एक मात्र ब्रह्म विचार में लीन हो जावेगा तो उसका शोक दुःख से कतई पीछा छूट सकता है ।

(३०) प्रश्न—अगर यह जगत् जड़ है, तो यह चेष्टा कैसे करता है ?

उ०—बेशक यह जगत् जड़, नाशवान् और दुःख रूप है; किन्तु ब्रह्म चेतन, नित्य और सुख रूप है । जिस तरह चुम्बक पत्थर की विलक्षण शक्ति से लोहा चेष्टा करने लगता है; उसी तरह ब्रह्म चेतन की विलक्षण शक्ति से यह जगत् भी चेष्टा करता है ।

(३१) प्रश्न—ईश्वर और जीव की एकता प्रमाणित करो ?

उत्तर—ईश्वर और जीव में भेद नहीं है । जैसे ब्रह्म निरवयव और निराकार है; वैसे ही जीव भी निरवयव और निराकार है । एक ही चेतन अंतःकरण रूपी उपाधियों के अन्तर्गत तो जीव कहाता है और वही चेतन अन्तःकरण रूपी उपाधियों रहित ईश्वर कहलाता है । ब्रह्म चेतन, अकर्ता और अभोक्ता है; जीव चेतन भी अकर्ता और अभोक्ता है । ब्रह्म-चेतन नित्य और शुद्ध है; जीव-चेतन भी नित्य शुद्ध है । जीव और ईश्वर को एक समझने वाला मोक्ष लाभ करता है । जिसका ऐसा निश्चय है, वही आत्म-ज्ञानी है । जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, वह मूर्ख और अज्ञानी है ।

(३२) प्रश्न—आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है ?

उत्तर—वैराग्य। बिना वैराग्य के आत्मज्ञान हो ही नहीं सकता।

(३३) प्रश्न—वैराग्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—संसार से राग या प्रीति न रखना ही वैराग्य है। या दूसरे शब्दों में यों कहो कि संसार से सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव हो जाता है, यही वास्तव में वैराग्य है।

(३४) प्रश्न—क्या स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मकान-हाट प्रभृति किसी में ममता न रखनी चाहिये ?

उत्तर—हां, नहीं रखना चाहिये; इस जगत् में जितने जीव हैं, वे सभी यात्री हैं और मकान-महल प्रभृति विश्रामगृह हैं। कोई भी यात्री दूसरे यात्री से नाता नहीं जोड़ता, प्रीति नहीं करता; क्योंकि घड़ी दो घड़ी या चार दिन का साथ है। इतने से समय के लिये मोह ममता करना मूर्ख का काम है। जब स्त्री पुत्र आदि यात्री और मकान-महल प्रभृति विश्रामगृह हैं, तब इनमें ममता रखना अनुचित नहीं तो क्या उचित है ? न रखना चाहिये; क्योंकि यह शरीर भी तो विश्रामगृह ही है। इस शरीर रूपी विश्रामगृह में जीव कुछ दिन को आ बसा है, जब इसकी पुकार हो जाएगी, इसके लिये मृत्यु-रूपी रेलगाड़ी आ जाएगी, तब इस शरीर रूपी विश्रामगृह को छोड़ कर क्षण में रेल में बैठ जायगा; और शरीर का त्याग करके चल देगा।

(३५) प्रश्न—शूरवीर कौन है ?

उ०—जो संसारी शत्रुओं को जीत सकता है, वह शूरवीर नहीं हो सकता, किन्तु जो अपने ही शरीर, मन और इन्द्रियों को जीत लेता है वही शूरवीर है। व्यासदेव जी ने कहा है:—"जो रण में जय लाभ करता है वह शूरवीर नहीं कहलाता, शूरवीर वही है जो इन्द्रियों पर जय-लाभ करता है। जो शास्त्रों को पढ़ सकता है, वह पण्डित नहीं कहलाता; पण्डित वही है, जो धर्म का आचरण करता है। चटाचट खूब बोलता है, वह वक्ता नहीं है, जो दूसरों के हित की कहता है। जो धन दान करता है, वह दाता नहीं, दाता वही है जो दूसरों का सम्मान करता है।"

(३६) प्रश्न—संसार में सदा स्थिर न रहने वाले पदार्थ क्या हैं ?

उत्तर—जवानी, जीवन, मन, शरीर की छाया, धन और प्रभुता, ये सदा नहीं रहते। तरुणाऽवस्था थोड़े ही दिन रहती है—देखते देखते झट चली जाती है और बुढ़ापा आ जाता है। जीवन भी सदा नहीं रहता। मनुष्य पानी के बुल-बुले की भांति उत्पन्न होता और चट ही विलुप्त हो जाता है। धन और प्रभुता भी सदा नहीं रहते। जो आज राजा है, वह कल साधु या कंगाल (निर्धन) और द्वारे द्वारे मारा-मारा फिरता है। अतः इन पर फूलना—अभिमान करना, अज्ञानियों का काम है।

(३७) प्रश्न—मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य-पालन क्या है ?

उत्तर—ईश्वर-भजन करना; क्योंकि वह स्वामी है। स्वामी ध्यान दे, चाहे न दे पर सेवक को अपने कर्त्तव्य-पालन या (फ़र्ज़ अदा करने से) न चूकना चाहिये। जो उम्र विषय भोगों में वृथा बीत गई;

सो बीत गई पर जो बाकी रही है, उसको क्षण-क्षण परमात्मा के भजन में लगाना चाहिये, क्योंकि कौन जाने यह श्वांस बाहर निकल कर भीतर न आवे।

किसी ने कहा है:—

अरे भज हरे नाम क्षेमधाम क्षणे क्षणे।
वहिस्सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्त्तते ॥

अरे जीव! हरि के नाम को क्षण-क्षण भज, हरि का नाम कल्याण का घर है। जो श्वास बाहर चला जाता है, उसके भीतर आने का कौन भरोसा? आवे न आवे।

ऐसी ही बात कबीरदास ने कही है:—

नव द्वारे का पींजरा, तामे पक्षी पौन।
रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन ॥

मनुष्य-शरीर नौ द्वारों का पींजरा है। इसमें दो द्वार हैं दो आंखों में दो नाक में; दो कानों में, एक मुंह में एक गुदा में और एक गुप्त इन्द्रिय में। इस तरह ९ द्वार हैं। इसी नौ द्वारे के पींजरे में पवन-रूपी पक्षी जीव रहता है। इतने द्वार होने पर भी, वह इस पींजरे में रहता है, यही आश्चर्य की बात है। इतने द्वारों से निकल जाने में क्या आश्चर्य? तात्पर्य यह कि, जीव न जाने कब इस शरीर को छोड़ भागे। जब तक जीव इस शरीर में है, तभी तक हरि-भजन या मोक्ष लाभ करने की उपायें की जा सकती हैं। जीव के इस शरीर से निकल भागने के बाद, यह मौका हाथ से निकल जायगा। जीव इस शरीर त्यागते ही कीड़े, मकोड़े साँप, छछूंदर, बिल्ली, कुत्ते, गधे प्रभृति की योनि में जन्म ले लेगा। उन योनियों में ज्ञान, शक्ति नहीं होती; अतः उन शरीरों में जाकर मोक्ष-लाभ नहीं हो सकता। मनुष्य-शरीर से ही मोक्ष मिल सकती है, पर मनुष्य शरीर बार बार नहीं मिलता। ८४ लाख योनियां भुगत लेने पर मनुष्य-जन्म मिलता है; इस शुभ-अवसर को हाथ से गंवाना भारी अज्ञानता है। जो इसमें चूकेगा, लाखों करोड़ों वर्ष तक पछतावेगा। अतः जब तक जीवन है, मन को सब ओर से रोक कर, विषयों को विषवत् त्याग कर, हरि का भजन करो।

(३८) प्रश्न—ईश्वर-प्राप्ति का सरल उपाय क्या है?

उत्तर—यदि स्वतंत्रतापूर्वक ईश्वर अनुभव करना चाहते हो तो 'उनके' बिना चैन से न रहो, अर्थात् विरह उत्पन्न करो। विरही को विरह के सिवाय और किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार का अन्त हो जाता है उसी प्रकार विरह उत्पन्न होते ही सब प्रकार के दोषों का अन्त हो जाता है। दोषों के अन्त होते ही ईश्वर-प्राप्ति अपने आप हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि में सभी विकार जल जाते हैं। यह नियम है कि विकारयुक्त जीवन निर्विकार तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र विरहरूपी अग्नि में विकार जला दो। यदि विरह का पूर्णता का

अनुभव करना है तो मछली के जीवन से देखो कि वह जल के बिना कैसे रहती है, और अन्त में क्या करती है ?

(३९) प्रश्न—क्या भक्तों को तत्त्वज्ञान नहीं होता ?

उत्तर—भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्त में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं देते। अतः भगवान् के प्रसाद से भक्त को ज्ञान भी हो जाता है। जिस प्रकार चोरी करने वाला चोर दंड नहीं चाहता, पर फिर भी उसे मिलता है, उसी प्रकार भक्त यदि ज्ञान की इच्छा भी न करे तब भी भगवत्-कृपा से उसे तत्त्व ज्ञान होता है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञान के बिना पूर्ण भक्ति नहीं होती।

तत्त्व-ज्ञान तो ईश्वर प्राप्ति का फल है। साधारण मानव ज्ञान के साधन को ज्ञान मान लेते हैं, यद्यपि ज्ञान का साधन ज्ञान नहीं है। कुछ भक्त लोक भक्ति के साधन को भक्ति मान लेते हैं। भक्ति तो केवल विरह है, जिसका फल मिलन है। मिलन होने पर किसी प्रकार भेद नहीं रहता, अर्थात् शक्ति की पूर्णता तत्त्व ज्ञान है।

ज्ञान का स्वतंत्र साधन विचार है। तत्त्व ज्ञान होने पर तत्त्व-निष्ठा भक्ति है। भक्त को प्रथम भक्ति और फिर तत्त्व-ज्ञान, जिज्ञासु को प्रथम तत्त्व-ज्ञान और फिर तत्त्व-निष्ठा होती है।

उपदेश।

आत्मा-परमात्मा का भेद तब तक है जब तक परमात्मा की अप्राप्ति है। अप्राप्ति तब तक है जब तक विरह अथवा जिज्ञासा की कमी है। विरह अथवा जिज्ञासा की कमी तब तक है जब तक अभागे सुख ने अधिकार किया है, अर्थात् दुःख भगवान् की कृपा नहीं हुई, अथवा यों कहो कि दुःखियों का पूजन नहीं किया।

परमात्मा से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह अपूर्ण है। अपूर्ण में ही पूर्ण की अभिलाषा होती है। अभिलाषा की पूर्णता होने पर पूर्ण अपूर्ण अभेद हो जाते हैं, अर्थात् अपूर्ण की सत्ता मिट जाती है।

आत्मा और परमात्मा में भेद कराने वाली केवल अभिलाषा है। अभिलाषा का अन्त होने पर अभेदता हो जाती है। अभिलाषा ही जीव स्वरूप है। अतः अभिलाषा का अन्त होते ही 'जीवत्व' का अन्त हो जाता है, और भेद शेष नहीं रहता।

तत्व-ज्ञान पूर्वक तत्त्व-निष्ठा ही जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति जीवन का सर्वोत्तम आदर्श है।

जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्त्ति के साधन बिना बुलाए आजाते हैं। जिज्ञासा जागृत करो। साधन की चिन्ता मत करो।

(४०) प्रश्न—सच्चा ज्ञानी कैसा होता है ?

उ०—जिसका किसी पदार्थ में राग न हो, यहाँ तक कि स्त्री पुत्र प्रभृति में भी राग न हो। अगर सन्यासी हो तो मठ, शिष्यों और धन प्रभृति में राग न हो, शत्रु-मित्र आदि सब जीवों को एक दृष्टि से देखे, किसी को अपना और किसी को पराया न समझे, किसी को भी जिससे भय न हो और किसी से भी जिसे भय न हो, जो आत्मा को अमर और अविनाशी तथा शरीर से अलग समझता हो; जो सब प्राणियों में एक आत्मा को देखता हो; जो ईश्वर और जीव में भेद न समझता हो; जो नष्ट हुए, मरे और बीती बात का शोक न करता हो, यानी सर्वस्व नाश हो जाने और पुत्र तथा स्त्री तक के मर जाने पर भी नाम मात्र को शोक न करता हो, वह ही सच्चा ज्ञानी है। किन्तु जो ज्ञानी की सी बातें तो बघारता हो पर वैराग्य से शून्य हो, वह बंध्य ज्ञानी है।

(४१) प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि क्या है ?

उत्तर—विचार कर देखो, जिस प्रकार वस्त्र में बाह्य वस्तुओं का मिल जाना वस्त्र की मलीनता कहलाती है और उन वस्तुओं का जो वस्त्र की जाति से भिन्न हैं निकल जाना ही वस्त्र की शुद्धता कहलाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में बिषयादिक स्वभाव का प्रभाव हो जाना ही अन्तःकरण की मलीनता है और विषय आदि का प्रभाव अन्तःकरण से निकल जाना ही अन्तःकरण की शुद्धता है। अन्तःकरण की शुद्धता हो जाने पर अन्तःकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति-काल से भिन्न अन्तःकरण स्वयं अपने कारण में विलीन हो जाता है, अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की अनुभूति होती है।

निर्विकल्प स्थिति अन्तःकरण की स्वाभाविक अवस्था है। इन्द्रियों की क्रिया का प्रभाव क्रिया के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टा निर्जीव यन्त्र की भांति होती रहती है।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियां चेष्टा रहित अवस्था में अन्तःकरण में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार अन्तःइन्द्रियां चेष्टा रहित होने पर निर्विकल्प स्थिति में विलीन हो जाती हैं। यही अन्तःकरण की शुद्धता है।

(४२) प्रश्न - अन्तःकरण की शुद्धता का फल क्या है ?

उ०—अन्तःकरण शुद्ध होने पर पूर्ण सत्य की जिज्ञासा जाग्रत होती है। और फिर सत्य की कृपा से स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य का अनुभव करने के लिए, अथवा यों कहो कि जीवन की पूर्णता के लिए अन्तःकरण की शुद्धता परम अनिवार्य है।

(४३) प्रश्न—चित्त शुद्धि का साधन क्या है ?

उ०—शुद्ध अन्न।

(४४) शुद्ध अन्न कैसे होता है ?

उ०—जो सत्य धर्म से कमाया जाता है, वही शुद्ध द्रव्य होता है, उस शुद्ध द्रव्य से जो खाने पीने के पदार्थ मोल लिए जाते हैं, वही शुद्ध कहे जाते हैं। ऐसे शुद्ध पदार्थों के खाने से मन शुद्ध हो जाता है; क्योंकि अन्न के द्वारा सत्य-धर्म का प्रभाव चित्त पर भी होता है। शुद्ध चित्त में ही वैराग्य और विवेक आदि उत्पन्न होते हैं। वाक्यों में सत्य बोलना सर्वोपरि है। सत्य से यों ही चित्त शुद्ध हो जाता और इससे अन्न भी शुद्ध होता है; इसलिए प्रत्येक समय सत्य के आश्रय रहो; सत्य को न त्यागो। सत्य के समान जगत् में कोई दूसरा धर्म या भक्ति-उपासना नहीं है।

(४५) प्रश्न—साधक को कैसा भोजन करना चाहिये ?

उ०—विचार कर देखो, भोजन किस लिए किया जाता है ? भूख का दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवन शक्ति काम करती रहे, इसलिए भोजन किया जाता है। विवेकी पुरुष तो भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण भगवान् को आहुति देता है। आहुति ऐसी वस्तुओं की देनी चाहिये जिससे जीवन शक्ति दैवी स्वभाव की हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पाये। भोजन का शारीरिक स्वभाव से अभेद सम्बन्ध है। भोजन की सामग्री सत्त्व प्रधान हो। सत्व प्रधान का अर्थ यह नहीं है कि केवल फल, दूध आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक काल का बना हुआ न हो, जो पचने में सुगम हो और प्राण को अधिक काल तक शक्ति भी दे सके। भोजन पदार्थों के प्राप्त करने के लिये धन भी सात्विक हो, अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो, और भोजन बनाने वाला भी सात्विक स्वभाव का हो अथवा परिवार-सम्बन्धी हो। क्योंकि कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं उनको (नौकर आदि को) अपने जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन में भोजन पान करने का रस प्रायः बना रहता है, मिलता है नहीं। अतः उस भोजन में मानसिक दोष आ जाता है। ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिये जो अपने समान उसे भी खिला सकें, नहीं तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिये, जिससे भोजन में अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिए वही उचित होता है कि जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।

आहुति में अभक्ष्य पदार्थ (अंड़ा, मांसादि) बिलकुल नहीं होना चाहिये। उन पदार्थों के सेवन करने से प्राण में शक्ति-हीनता और स्वभाव में असुरता आती है।

प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदय में यह भाव हो कि हम प्राण भगवान् को आहुति दे रहे हैं। प्रधानतया ५ प्रकार का प्राण है। यह भावना दृढ़ करने के लिए प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा आदि प्राणों की भावना से भोजन के आरम्भ काल में आचमन करने के पश्चात् यदि हो सके तो, सात्विक पदार्थों के ही ५ ग्रास प्रत्येक प्राण के नाम से आहुति दे। ऐसा प्रतिदिन करने से 'मैं भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण को आहुति देता हूँ, यह भावना दृढ़ हो जायगी और और भोजन में आसक्ति नहीं रहेगी। स्वाद बुद्धि का अन्त हो जावेगा, क्योंकि स्वाद का अभाव होने पर वीर्य-रक्षा बड़ी सुगमता से हो जाती है। जो भोजन का संयम नहीं कर सकता वह वीर्य रक्षा नहीं कर

सकता। वीर्य-रक्षा के बिना बुद्धि आदि में सात्विकता नहीं आती। अतः साधक को भोजन समझ बूझ कर करना चाहिए। देखो एक एक ज्ञानेन्द्रिय से एक एक कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध है। जो स्वाद को नहीं जीत पाता वह उपस्थ को नहीं जीत पाता, जैसे जो सुख नहीं पाता वह बोल नहीं पाता, आदि।

(४६) प्रश्न क्या चित्त की शुद्धि का और भी कोई उपाय है ?

उ०—हां, परोपकार या दूसरों पर दया करने से भी चित्त शुद्ध हो जाता है। दयालुचित्त मनुष्य ही दूसरों का भला करते हैं। असल में चित्त-शुद्धि का "दया" मुख्य साधन है। जो मनुष्य शरीर पाकर उपकार नहीं करता, वह पशुओं से भी गया-बीता है। ईश्वर ने मनुष्य-शरीर परोपकार के लिए ही दिया है। शास्त्रों में लिखा है "धन और प्राणों से परोपकार करना चाहिए; क्योंकि परोपकार के बराबर सौ यज्ञों का भी पुण्य नहीं है। जो परोपकारहीन है, उसका जीना वृथा है। पशुओं का चमड़ा भी पराये काम आता है। अपने लिए कौन नहीं जीता ? जो पराये लिये जीता है, वही जीता है। वृक्ष अपने लिए फल नहीं देते, नदियां अपने लिए नहीं बहतीं, शेष जी ने पृथ्वी परोपकार के लिए ही अपने सिर पर धर रखी है। भगवान् कृष्ण पराये काम के लिए ही सारथी बने थे। सन्त लोग परोपकार के लिए ही शरीर धारण करते हैं। अतः मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य परोपकार या दया करना है। इससे चित्त शुद्ध हो जाता है और शुद्ध चित्त में परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

(४७) प्रश्न—ज्ञानवान् की दृष्टि में एक ही आत्मा है, तो फिर ज्ञानी सब के साथ खान-पानादि क्यों नहीं करता ?

उत्तर—ज्ञानी दो तरह के होते हैं। (१) तो जीवन्मुक्त (२) आचार्य। जीवन्मुक्त,—जिन्हें अपनी देह की भी सुध नहीं होती। वे जनक की तरह विदेह और अजगर वृत्ति वाले होते हैं। वे न किसी से भिक्षा मांगते हैं और न कहीं जाते हैं। अगर कोई उन्हें खिला देता है, तो खा लेते हैं; कोई जल पिला देता है, तो जल पी लेते हैं। कोई धूप में बिठा देता है, तो वहीं बैठे रहते हैं और कोई वर्षा में पटक देता है, तो वहीं पड़े रहते हैं। उन्हें धूप, छाया और वर्षा सब समान हैं। वह आत्मानन्द में डूबे रहते हैं। उनको जगत् नहीं दीखता। उन्हें सर्वत्र आत्मा ही आत्मा दीखता है। उनकी दृष्टि में न कोई ब्राह्मण है और न कोई भङ्गी चमार। उनको तो आत्मा ही आत्मा दीखता है; अतः उनके मुँह में ब्राह्मण अन्न डाल दे तो वैसे ही, भङ्गी अन्न डाल दे तो वैसा ही, उनको दोष नहीं लगता। दोष उन्हें लगता है जिन्हें वर्णाश्रम—धर्म का ज्ञान होता है। वह तो सब प्रकार निर्दोष हैं। वेदादिक शास्त्रों की आज्ञा भी उन पर नहीं चलती, क्योंकि वे तो ब्रह्मरूपी हैं और महान् सुख में डूबे रहते हैं।

(२) दूसरे प्रकार के ज्ञानियों की गिनती आचार्य-कोटि में है। वे भी सब प्राणियों में एक ही आत्मा देखते हैं, इसी से वे किसी से राग-द्वेष नहीं रखते; परन्तु वे समवर्त्ती नहीं होते। वे भङ्गी, चमार और ब्राह्मण सब का झूंठा नहीं खाते, क्योंकि उन्हें वर्णाश्रम-धर्म का ज्ञान है। सब प्रकार के व्यवहार और वर्णाश्रम-धर्म का समझने वाला यदि सब के साथ खावे पीवेगा, तो उसे दोष लगेगा। जो उन्मत्तों की भाँति होता है, जिसे क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिए, क्या विधि है और क्या निषेध है; इन बातों का ज्ञान नहीं होता, उसे दोष नहीं लगता। सब किसी से समान वर्त्ताव करने या हर किसी के

साथ खाने-पीने से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता, तो भंगी, चमार जो सब का झूंठा खाते हैं, ज्ञानी कहलाते। ज्ञानी वही है, जिसमें राग-द्वेष आदि नहीं हैं तथा जो आत्मानन्द से आनन्दित है, पर जिसमें राग-द्वेष हैं, जो विषय-भोगों में आनन्द मानता है, वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी है।

पाप-पुण्य उसे लगते हैं, जिसे ज्ञान होता है। बालक को धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप का ज्ञान नहीं होता; इसी से उसे पुण्य-पाप नहीं लगते। बालक को आचार का ज्ञान नहीं होता। वह ऊपर से रोटी खाता जाता है और नीचे से मल-मूत्र त्याग करता जाता है। लोगों को उसकी इस क्रिया पर ग्लानि नहीं होती। इसी तरह जीवन्मुक्त को पाप-पुण्य नहीं लगते, वह चाहे जो करे, क्योंकि उसे ज्ञान ही नहीं। उसके भले-बुरे कामों को देख कर कोई उसे भला-बुरा भी नहीं कहता। किन्तु आचार्य-कोटि के ज्ञानी यदि मांस मदिरा सेवन करें, हर किसी का झूंठा खायें, पर स्त्री-गमन करें, तो उन्हें पाप जरूर लगेगा; क्योंकि उन्हें सब तरह का ज्ञान होता है और लोग भी उनसे घृणा करते हैं। आचार्य-कोटि में वही ज्ञानी है, जो उन कामों को नहीं करता, जिनकी शास्त्रों में मनाही है और उन कामों को करता है, उनको निष्काम होकर अनासक्तता से श्रेष्ठ आचार के लिए करता है अथवा निषिद्ध और विहित दोनों कर्म नहीं करता। यानी जिनकी शास्त्रों में आज्ञा है और जिनकी मनाही है, दोनों ही प्रकार के काम नहीं करता; केवल आत्म-चिन्तन ही करता है; वह आचार्य-कोटि में है।

(४८) प्रश्न – मुक्त किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस पुरुष का मोक्ष में अभिमान है, देहादिकों में ममता है, वह न योगी है और न ज्ञानी; पर जो न किसी की निन्दा करता है और न स्तुति; न किसी को देता है और न किसी से लेता है; जो सर्वत्र राग-रहित है; यानी जिसे किसी पदार्थ—स्त्री-पुत्र धन-सम्पत्ति प्रभृति से राग नहीं—किसी में भी ममता नहीं—वही मुक्त है। जिसका मन अपने तईं चाहने वाली स्त्री को सामने देख कर अथवा मृत्यु को सामने देख कर भी व्याकुल नहीं होता, वही मुक्त है।

(४९) प्रश्न—क्या आत्मा उच्च और नीच नहीं होता ?

उत्तर—आत्मा में अपवित्रता और नीचता नहीं। एक ही आत्मा ऊंच-नीच सब शरीरों में है। शरीरों के गुण-दोषों से वह गुण-दोष वाला नहीं होता। एक ही आकाश मन्दिर में भी है, संडास (पुरीषालय) में भी है, भंगी चमार के घरों में भी है, उत्तमोत्तम मूर्त्तियों में भी है, मल-मूत्र की बाल्टियों में भी है; परन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण, उसका उपाधियों से कोई सम्बन्ध नहीं; वह बुरी-भली उपाधियों के कारण बुरा-भला भी नहीं होता। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में है। आत्मा तो आकाश से भी सूक्ष्म है; अतः वह असङ्ग और निर्लेप है।

(५०) प्रश्न—चोर और दुष्टों को भी साधु बनाने वाला क्या है ?

उत्तर—"सत्सङ्ग"। सत्सङ्ग की महिमा शेष और शारदा भी नहीं गा सकते। कमल पर स्थित जल की बूंद भी मोती-जैसी लगती है। लोहा काठ के सङ्ग में रहने से जल में नहीं डूबता। नदी-नालों

का जल भी गङ्ग-जल के सङ्ग मिल कर गङ्गाजल हो जाता है। नागर पान के सङ्ग ढाक का पत्ता भी राजा तक पहुंच जाता है। चींटी फूल में बैठ कर महादेव जी के सिर पर चढ जाती है। चन्दन के साथ नीम भी चन्दन हो जाता है। बांस मिश्री के साथ मिल कर उसी के साथ तुलता है। सत्सङ्ग से ही घोर बन में जाकर डाकूपना करने वाले भील वाल्मीकिजी महर्षि हो गये; अतः सत्सङ्ग को चित्त की शुद्धि का मुख्य उपाय समझना चाहिये; और कुसङ्ग से बचना चाहिये। क्योंकि उस से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

(५१) प्रश्न—संसार में कितने प्रकार के मनुष्य हैं और उनमें से कौन से परमात्मा के दर्शन करते हैं ?

उत्तर—संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं:—(१) कृपण और आलसी, (२) विषय-भोगी, (३) उदार और उद्योगी। इनमें से पहले प्रकार के कृपण (लोभी) और आलसी तो कभी परमात्मा तक पहुँच ही नहीं सकते; क्योंकि वह हाथों से दान नहीं करते, और पैरों से महात्माओं तक नहीं पहुँचते। दूसरी प्रकार के विषय-भोगी अंधे हैं। उन्हें न परमार्थ दीखता है और न परमेश्वर, इसलिए वह परमेश्वर का भजन-पूजन नहीं कर सकते। तीसरे प्रकार के लोग उद्योगी और दाता हैं। वे हाथों से दान करते और पैरों से चल कर महात्माओं की सेवा में पहुँच जाते हैं; अतः सत्सङ्ग के कारण उन्हें ज्ञान हो जाता है। उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है; इसलिये वह परमेश्वर के दर्शन पाते हैं।

जो पुरुष रात-दिन स्त्री-पुत्रों की सेवा में लगे रहते हैं, रात दिन उनके ही सुख-चैन की चिन्ता रखते हैं, वह कभी सत्संग नहीं करते; इसलिये वह स्त्री-पुत्रों की चिन्ता करते-करते ही मर जाते हैं और फिर जन्म लेते और मरते हैं। उनकी मोक्ष नहीं होती।

जो पुरुष वेद-शास्त्रों में लिखे हुए कर्म करते रहते हैं, वह कभी आत्मा का विचार भी नहीं करते; वह कर्म करते-करते ही मर जाते हैं उनकी भी मोक्ष नहीं होती।

जो पुरुष वेद-शास्त्रों का मनन न करके, आत्म-विचार छोड़ कर और किसी और ध्यान नहीं देते, उनको परमानन्द या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(५२) प्रश्न—सब वेद-शास्त्रों का सार क्या है ?

उत्तर—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्मरूप है और दूसरा कोई नहीं,—यही सब शास्त्रों का सारतत्व है।

(५३) प्रश्न—प्राणी बन्धन से कब छूटता है ?

उत्तर—जब मनुष्य इस बात को समझ लेता है कि, आत्मा असङ्ग, अकर्त्ता, अभोक्ता और चैतन्य स्वरूप है; तभी वह बन्धन से छूट जाता है, अर्थात् अपने असली स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही मुक्ति का हेतु है।

(५४) जीव और ईश्वर का मेल कब होता है?

उत्तर—जब अविद्या और माया त्याग दी जाती है; तब ईश्वर और जीव का मेल हो जाता है। इन दोनों के मेल में "अविद्या और माया" बाधक है।

(५५) प्रश्न—परमेश्वर कहां रहता है और वह किस प्रकार मिलता है ?

उत्तर—परमेश्वर इसी काया में रहता है। जब तक जीव उसे बाहर खोजता फिरता है, वह नहीं मिलता; लेकिन जब वह उसे इस काया ही में खोजता है तब वह मिल जाता है और प्रसन्न होकर पिता की तरह पुत्र को मोक्ष-रूपी महान् फल देता है। वास्तव में ईश्वर इसी काया में रहता है; पर मूर्ख लोग उसे काशी, द्वारका, रामेश्वर आदि में खोजते फिरते हैं। ऐसे अज्ञानी भटकते-भटकते मर जाते हैं। पर ईश्वर नहीं मिलता। वे लोग—"छोरा बगल में ढिंढोरा शहर में" वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

एक आचार्य का कहना है कि तुम हृदय को बिलकुल खाली कर दो, उसमें कुछ भी न रहने दो, तब उसमें भगवान् वास करेंगे और जो कुछ भी तुम्हारे मुँह से निकलेगा, वही भगवान् की ओर से निकलेगा, इस प्रसंग में राधा और बाँसुरी के एक संवाद की कथा याद आती है। एक बार राधा ने बाँसुरी से पूछा—'बाँसुरी' तू ने पूर्व जन्म में ऐसे कौन-से-सुकर्म किये थे जो आज तू भगवान् को इतनी प्यारी हो रही है कि वह सदा तुझे अपने होटों पर ही लगाये रहते हैं, एवं तू उनका अधरामृतपान किया करती है ? बाँसुरी बोली—'राधे !' पूर्वजन्म की बात तो मुझे कुछ याद नहीं। यहां तक कि मैं यह भी नहीं जानती कि पूर्वकाल में मेरा कोई जन्म था या नहीं। पर हाँ, अब यह पता है कि मैं बांस की पोली हूँ। तू मेरे भीतर देख तो सही कि "भीतर तो कुछ नहीं है।" तब बाँसुरी बोली—'बस, जब मेरे भीतर कुछ भी नहीं है तो तू समझ ले कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मेरे अन्दर से जो विविध राग रागनियाँ निकलती हैं वह वास्तव में भगवान् के अधर से निकलती हैं।' यह सुनकर राधा प्रसन्न हो गई और उसकी आँखें खुल गईं।

जो श्रद्धा और भक्ति से भगवान् का आँचल पकड़ता है भगवान् उसका सारा भार अपने कंधे पर उठा लेते हैं और उसे तनिक भी कष्ट नहीं होने देते।

जब तक हृदय में विकार है, भय है और अविश्वास है, तब तक श्रद्धा और भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती।

(५६) प्रश्न—किनका अधिकार मोक्ष में है और किनका कर्मों में ?

उत्तर—जो पुरुष कर्म करते हुए भी अपने तईं कर्मों का करने वाला और उनके फल का भोगने वाला नहीं मानते, अपने को असंग और सच्चिदानन्दस्वरूप समझते हैं, वे ही ज्ञान और मोक्ष के अधिकारी हैं; किन्तु जो समझते हैं कि हम इस काम को करते हैं और हम ही इसका फल भोगेंगे, उनका कर्मों में

अधिकार है, उनकी मोक्ष नहीं हो सकती; इसीलिये भगवान् ने कहा है—कर्म करो पर निष्काम होकर कर्म करो। यानी फल-प्राप्ति की इच्छा से कर्म मत करो। यदि कोई पुरुष इस विचार से ईश्वर—भजन करेगा कि, मुझे इसके फल-स्वरूप राज्य सुख और स्त्री पुत्रादि मिलें, तो उसे मर कर जन्म लेना होगा और वह इच्छित फल उसे भोगने होंगे। परन्तु जो, बिना काम को मन में रक्खे, ईश्वर-भजन करेगा, उसे फल भोगने को जन्म न लेना होगा; यानी उसकी मोक्ष हो जायगी।

(५७) प्रश्न—परमात्मा सब के अन्दर है। फिर एक कुमार्ग में जाता है और दूसरा सुमार्ग में, इसका कारण क्या है?

उत्तर कारण यह है कि सुमार्ग में जाने वाला अपना सब कुछ भगवान् को सौंप देता है और कुमार्ग में जाने वाला अपनी इन्द्रियों को।

(५८) प्रश्न—जीव डरता क्यों है?

उत्तर—जीव अज्ञान से डरता है। वास्तव में उसे किसी का भय नहीं। जब मन किसी दूसरे की कल्पना करता है, तभी उसे भय लगता है। मूल में एक अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं। वास्तव में न बन्धन है न मोक्ष। बन्धन और मोक्ष मन के सङ्कल्प-मात्र हैं। मन के शान्त होने पर वे शान्त हो जाते हैं। जिस तरह बच्चा अपनी ही परछांई से डरता है; उसी तरह यह जीव अपने संकल्पों से डरता है।

(५९) प्रश्न—क्या आत्मा सचमुच अजर अमर है?

उत्तर—निस्संदेह आत्मा अनादि, अजर और अमर है। यह जीव अज्ञान के कारण अपने अजर अमर आत्मा में जन्म और मरण मानता है। जब इसे किसी सत्पुरुष का उपदेश मिलता है, तब इसे होश होता है। उस समय यह अपने तईं अजर और अमर समझ कर, जन्म मरण से रहित हो जाता है। जिस प्रकार एक बनिये को, गेरू-घुले लोटे के जल से गुह्य द्वार धोने पर गुदा द्वारा रक्त गिरने का भ्रम हो गया था। उसी भाँति जीव को अपने स्वरूप में भ्रम हो रहा है।

(६०) प्रश्न—इस जीव को सुख कब मिलता है?

उत्तर—जब यह जीव अहंकार और ममता त्याग देता है। जब तक मनुष्य के मन में "मैं और तू" का झगड़ा रहता है, जब तब उसकी ममता स्त्री-पुत्र और गृह भूमि आदि में रहती है, तब तक उसे सुख नहीं होता।

(६१) प्रश्न—यह संसार असार और महा मलीन है; फिर लोग इसकी मोह ममता में क्यों फंसे हैं? इसे त्यागते क्यों नहीं?

उत्तर—जो लोग मोह-ममता में फंसे हैं, उन्हें मलीन वस्तुओं से भी घृणा नहीं होती। जिस प्रकार भंगी को मैले के देखने या उठाने से घृणा नहीं होती; उसी भांति मोह-ममता में फंसे हुए गृहस्थों को ऐसे

116:00 चीनीगोड़ा 2 कि. 58=

47/250 बोली।

163=50

गृहस्थाश्रम से भी घृणा नहीं होती, जो महा गन्दगी का स्थान और दुःख-शोक का भण्डार है। कहीं मल पड़ा है, कहीं वमन पड़ी है, कहीं नाक पड़ी है, कहीं थूक खखार पड़ा है, कहीं कोई रोता है और कहीं हाय हाय करता है। कारण यह है कि, उनका स्वभाव ही भंगी की भांति वैसा ही हो जाता है। उनका मस्तिष्क मलीन हो जाता है। घर-गृहस्थी की मलीनता और मलीन प्रवृत्ति उनके मस्तिष्क में समा जाते हैं। पशुवधागार की दुर्गन्ध कसाइयों के कपाल में समा जाती है। मोचीखाने की दुर्गंध मोचियों के माथे में समा जाती है।

तात्पर्य यह है, जिनके अन्तःकरण मोह और ममता से मैले हो गये हैं, उनको गृहस्थी में घृणा नहीं होती; किन्तु जिनके अन्तःकरण सत्संग से शुद्ध हो जाते हैं, उनको गृहस्थी से घृणा होने लगती है। उन्हें गृहस्थी जंजाल मालूम होती है। कई-कई मनुष्य बेगार में पड़े हुओं की तरह गृहस्थी में काम करते हैं और ज्यों ही अवसर पाते हैं त्यों ही दौड़ भागते हैं।

(६२) प्रश्न—गृहस्थी में भी किसे विक्षेप नहीं होता ?

उत्तर—जिसमें ममता नहीं, उसे विक्षेप क्यों होने लगा। जो ममता त्याग कर गृहस्थी के काम करता है, उसे विक्षेप नहीं होता। जिसे संसारी विषय-भोगों में ममता नहीं, वह घर में रहता हुआ भी सुखी है। जिसमें ममता है, वह गृहत्यागी भी दुःखी है।

(६३) प्रश्न—मन के निरोध के साधन क्या हैं ?

उत्तर—वैराग्य और अभ्यास। मनुष्य या देवता की मूर्ति या सूरज चन्द्रमा प्रभृति जो अपने को प्यारे लगते हों, उनमें मन को लगा कर मन का निरोध करना चाहिये। पहले मन को स्थूल पदार्थों में लगाना चाहिये। जब मन स्थूल में लगने लगता है, तब धीरे-धीरे अभ्यास से सूक्ष्म में जाकर ठहर जाता है। बिना स्थूल पदार्थ में लगे, सूक्ष्म में मन लग नहीं सकता। बिना मन के एक जगह ठहरे, परमानंद मिल नहीं सकता। मतलब यह है, मन के रोकने या ठहराने में ही परम सुख है और उसके इधर-उधर भटकाने में घोर दुःख है। मूर्त्ति-पूजा इसीलिये आरम्भ की गई थी, कि लोग स्थूल मूर्ति का ध्यान करते-करते सूक्ष्म आत्मा के ध्यान करने योग्य हो जायं। जब स्थूल मूर्ति में ही मन न लगेगा तब सूक्ष्म आत्मा में कैसे लगेगा ? भूगोल पढ़ने वाले पहले संसारचित्र देखते हैं। संसारचित्र देखते-देखते फिर सारे पहाड़ और देश तथा नगर प्रभृति उनकी दृष्टि में आ जाते हैं। संसारचित्र सामने न होने पर भी, सारा संसारचित्र उनको अपने नेत्रों के सामने दीखने लगता है। उसी तरह मूर्ति पर ध्यान जमाने वालों का, पीछे, अभ्यास से बिना मूर्त्ति ध्यान जमने लगता है। मूर्त्ति में भगवान् नहीं है, मूर्त्ति खाली ध्यान जमाने का साधन-मात्र है। जो मूर्त्ति को ही भगवान् मान लेते हैं वे अज्ञानी हैं।

जो लोग कहा करते हैं कि, मूर्त्तिपूजा से ईश्वर नहीं मिलता, उन्हें महा कवियों के निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान देना चाहिये:—

(१)

आखिर को इश्के कुफ्र से ईमान हो गया।
मैं बुत-परस्तियों से मुसलमान हो गया ॥१॥

मैं मूर्ति पूजा करते-करते ईश्वर—भक्त हो गया। प्रतीक द्वारा ही मुझे ईश प्राप्ति हुई। मुझे असत् से सत् की प्राप्ति हुई।

काबे जाना भी तो बुतखाने से होकर ज़ाहिद।
दूर इस राह से अल्लाह का घर कुछ भी नहीं ॥२॥

भक्त महाशय! अगर काबे जाना हो तो जाओ; पर मंदिर में होकर भी एक राह उधर को जाती है। सच तो यह है, कि उस मार्ग से अल्लाह का घर कुछ भी दूर नहीं है। मूर्त्तिपूजा से भी ईश-प्राप्ति अनायास हो जाती है ॥२॥

तेरी सूरत को देखता हूं मैं।
उसकी सूरत को देखता हूं मैं ॥३॥

तेरी सूरत में मुझे ईश्वर की माया दीखती है। तेरा मुंह उसकी सृष्टि का बढ़िया नमूना है।

तेरी सुन्दरता को देख कर मेरा मन हृदय से निकला पड़ता है, तो तेरा गढ़ने वाला तो तुझ से भी बढ़ कर होगा; अतः मैं तुझे छोड़ उससे ही प्रेम क्यों न करूं? बहुत से लोग ईश्वर की प्रकृति के नमूने या प्राकृतिक शोभा देख-देख कर सच्चे ईश्वर-भक्त बन गये हैं ॥३॥

(६४) प्रश्न—वैराग्य पैदा होने और पापों से बचने का मूल कारण क्या है।

उत्तर—मृत्यु को स्मरण रखना। मृत्यु को स्मरण रखने से पाप नहीं होते और वैराग्य उत्पन्न होता है। श्मशान-घाट पर जाने से ही मनुष्य के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो उठता है, पर वह घर आकर सब भूल जाता है, फिर विषयों में लग जाता है। एक सम्राट ने पाप और अन्याय से बचने के लिये ही, अपनी सभा में; सामने ही, एक कब्र बनवा रक्खी थी, कि क़ब्र को देखते रहने से मुझसे अन्याय-कर्म नहीं होंगे। मृत्यु अटल है। और सब टल जांय, पर मृत्यु टल नहीं सकती, वह अवश्य आवेगी; चाहे आज आवे और चाहे कल। जिसने जन्म लिया है, उसे मरना ही होगा। जो मरने की बात भूल जाते हैं; जिन्हें यह याद नहीं रहता कि, हम दो दिन या दश दिन में मरेंगे, वही पाप कर्म करते हैं और उन्हें ही संसार से विरक्ति नहीं होती। जिनको हर क्षण मृत्यु दीखती है, उनका मन विषय-भोगों या स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति प्रभृति में नहीं लगता। संसार से मन के हटने का नाम "वैराग्य" है।

(६५) प्रश्न—कौन किसी का भी बुरा नहीं चाहता?

उत्तर—जो वैराग्यवान है, जिसे संसार की वास्तविकता का ज्ञान है, जिसे अपने जीवन का क्षण-भर भी भरोसा नहीं है, जो धन यौवन, शरीर भोगों को नाशवान् समझता है, जो सबके भीतर एक चेतन आत्मा को देखता है, वह भूल कर भी किसी का बुरा नहीं चाहता।

(६६) प्रश्न—दुःखों और सुखों का हेतु क्या है ?

उत्तर—संसार के भोगों में राग ही दुःखों का और वैराग्य ही सुखों का कारण है। दूसरे शब्दों में यों समझिये—जो संसार में ममता रखता है वह नाना प्रकार के दुःख भोगता है और जो संसार में ममता नहीं रखता संसार को त्याग देता है, वह परम सुख पाता है। वैराग्य के अतिरिक्त, संसार में और कहीं सुख है ही नहीं, यह निश्चय है।

(६७) प्रश्न—राग और वैराग्य का क्या कारण है ?

उत्तर—विषयों में सुख का ज्ञान होना ही राग का कारण है और इनमें दुःख मालूम होना ही वैराग्य का कारण है। जो मनुष्य धन और स्त्री पुत्र आदि से सुखी होता है, तभी उसे इन सब में राग या प्रीति होती है, पर जब उसे इन से दुःख होता है, तब उसे वैराग्य होता है। किसी को स्त्री खूब प्यार करती है, उसे अच्छी तरह आलिङ्गन करती है, उसकी सेवा में हर समय खड़ी रहती है, उसके अतिरिक्त और किसी पुरुष को नहीं चाहती, तब मनुष्य का मन स्त्री में और भी फँसता है,—यही राग है। पर यदि स्त्री पुरुष को प्यार नहीं करती, उसके घर में आते ही कलह करती है, कड़े शब्द कहती है, हर तरह तङ्ग करती है, मीठी बातें नहीं बोलती, पर पुरुष को चाहती है, तब उसका मन स्त्री से हट जाता है, वह उसे बुरी ज्ञात होती है, अतः उसे वैराग्य हो जाता है। भर्तृहरी को जब तक यही ज्ञान था कि, पिंगला मुझे बहुत चाहती है, अष्ठ पहर मेरा ही भजन करती है, तब तक उसका मन उसी से फंसा रहा। लेकिन ज्योंही उन्हें ज्ञान हुआ कि, वह पर-पुरुषरता है; यह कुलटा है और अश्वपाल से प्रीति रखती है, उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। वे राज-पाट धन-दौलत सब को त्याग संन्यासी हो गये।

(६८) प्रश्न—क्या गृहस्थाश्रम में वैराग्य हो सकता है ?

उत्तर—सब की पैदायश ही गृहस्थाश्रम से है। गृहस्थी में सदा सुख ही रहे, ऐसा हो नहीं सकता। इसमें एक-न एक दुःख बना ही रहता है। कभी लड़का मरता है, कभी स्त्री मरती है, कभी धननाश हो जाता है, कभी ऋण-भार शिर पर चढ़ता है, कभी शत्रु सताते हैं; अतः मनुष्य को जरा-बहुत वैराग्य होता ही रहता है; पर यह मन्द वैराग्य होता है; पर ज्यों ही दुःख टल कर सुख की घड़ी आती हैं, उसका वैराग्य नहीं रहता। पर वैराग्य का मूल कारण है गृहस्थाश्रम ही। रामचन्द्रजी और वशिष्टजी प्रभृति महापुरुषों को गृहस्थी में ही वैराग्य हुआ था। जनक प्रभृति को गृहस्थाश्रम में ही ज्ञान हुआ था। जनक महाराज गृहस्थी में रहकर भी सच्चे त्यागी थे उन्हें लोग विदेह कहते थे। ज्ञान का कारण वैराग्य है। जिसे गृहस्थाश्रम में वैराग्य है, वह ज्ञानी है; पर जिसे संन्यासाश्रम में भी राग है, वह अज्ञानी है। पक्का-स्मरण रक्खो, बिना वैराग्य ज्ञान नहीं होता और बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं होती। जो मनुष्य गृहस्थी में रह कर भी उसमें कमल की तरह रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि कमल जल में रहता है पर पानी उस पर नहीं ठहरता; इसी तरह जो गृहस्थी में रहता है, गृहस्थी के सब काम विषय भोगादि करता है; पर उनमें ममता या आसक्ति नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त है। राजा जनक गृहस्थी में रहकर क्या नहीं करते थे ? पर उनकी आसक्ति या ममता किसी भी पदार्थ में नहीं थी।

(६९) प्रश्न— संसार में स्त्री कौन है और पुरुष कौन है ?

उ०—जो पुरुष अपने हृदय में रहने वाले पुरुषरूप स्वप्रकाश आनन्दरूप आत्मा को नहीं जानता, वह स्त्री है; क्योंकि जैसे स्त्री का पति उससे अलग होता है उसी तरह उस आत्मा को न जानने वाले ने भी अपने से अलग पति मान रक्खा है। सारांश यह है कि जिसमें वैराग्य और आत्म-विचार नहीं, वह स्त्री है।

(७०) प्रश्न—ईश्वर के भजन-स्मरण में वैराग्य की क्या आवश्यकता है ?

उ०—बिना वैराग्य के पुरुष का मन ईश्वर-भजन में नहीं लगता, इसलिये वैराग्य की आवश्यकता है। मन एक है। जब तक वह विषय-भोगों में लगा रहता है, तब तक वह ईश्वर में नहीं लग सकता, किन्तु जब वह विषय-भोगों से हट जाता है, तब वह ईश्वर में लग जाता है। जब मन में विषय-भोगों की चाह बनी रहती है, जब वह विषय-भोगों की लालसा से भरा रहता है, तब उसमें ईश्वर के लिये जगह नहीं रहती, लेकिन जब वह विषय-भोगों से रिक्त हो जाता है; यानी शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है; तब उस निर्मल और रिक्त मन में परमेश्वर बैठ सकता है। अतः परमेश्वर के दर्शन चाहने वाले को पहले वैराग्य द्वारा अपना मन शुद्ध करना चाहिये।

(७१) प्रश्न—संसार में सर्प से भी भयङ्कर कौन है ?

उ०—स्त्री सर्प से भी भयंकर है। सर्प के विष से मनुष्य एक एक ही बार मरता है; पर स्त्री के विष से बार-बार मरता है; यानी वासना बनी रहने से, वह बार-बार जन्म लेता और मरता है।

(७२) प्रश्न—स्त्री-रूपी सर्प से बचने का क्या उपाय है ?

उ०—स्त्री का स्मरण न करना और उसे कभी न देखना। उस की छाया से भी दूर रहना।

(७३) प्रश्न—स्त्री-सङ्ग से क्या हानि है ?

उ०—जिसमें जिसकी वासना रहती है, वह स्वप्न में भी दीखता है; इसी तरह मरण-काल में जब पुरुष की वासना स्त्री में रहती है; तब उसको प्राप्त करने के लिए वह फिर शरीर धारण करता है। मरते समय विशेष कर स्त्री में मन रहता ही है, इसी से ज्ञानी लोग पहले ही स्त्री से अलग हो जाते हैं; जिससे मरण-काल में उसमें वासना न रहे। इसके सिवा कामी पुरुष और स्त्रियों के संग से पुरुष कामी हो जाता है और दूसरा जन्म लेने पर क्रोधी और मोही होता है। काम क्रोध और मोह प्रभृति से मन अशुद्ध हो जाता है। अशुद्ध मन में ब्रह्मज्ञान नहीं ठहरता। जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान-शून्य होता है; वह कीड़े-मकोड़ों की योनि पाता है। इन शरीरों को पाकर फिर वह नरक से नहीं निकल सकता; इसलिए स्त्रियों का सङ्ग नहीं करना चाहिये।

(७४) प्रश्न—ईश्वर सर्वव्यापक कहलाता है, पर वह दीखता क्यों नहीं ? उसे कैसे देख सकते हैं ?

उ०—हां, ईश्वर सर्वत्र है। ज़मीन, आसमान, सूरज, चांद, समुद्र, नदी, पशु, पक्षी और मनुष्य सब में ईश्वर है। उसे देखने के लिए उत्सुक रहो, उसके प्रेम में डूब जाओ, वह दीखेगा। पर यह भी स्मरण रक्खो, कि वह इन चमड़ों की आंखों से नहीं दीखता, वह ज्ञान की आंखों से दीखता है।

महा कवि दाग़ कहते हैं:—

यहां भी तू वहां भी तू जमीं तेरी फ़लक तेरा।
कहीं हमने पता पाया न हरगिज़ आज तक तेरा॥

यहां भी तू है और वहाँ भी तू है। यह आकाश भूमि सब तेरे ही हैं। फिर भी तेरा पता नहीं मिलता। कहीं तेरी सर्वव्यापकता ही तो तेरे गुप्त होने का कारण नहीं।

रहिए मुश्ताक़ जलव—ये दीदार।
हमने माना नज़र नहीं आता॥

उसके दर्शन के लिए इच्छुक रहने की आवश्यकता है। यह दूसरी बात है कि वह दिखाई न दे।

देख गर देखना है ज़ौक कि वह परदानशीं।
दीदये रोज़ ने दिल से है दिखाई देता॥

अगर तू उस छिपे हुए प्रेमी को सचमुच ही देखना चाहता है, तो उसे मानस चक्षुओं से देखने का प्रयत्न कर, क्योंकि चर्म चक्षुओं से वह नहीं दीखता।

श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं:—

"विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुसा" मूढ़ लोग ईश्वर को नहीं देख सकते। केवल वही देख सकते हैं, जिनके ज्ञान के नेत्र हैं; अर्थात् ईश्वर ज्ञान की आंखों से दीखता है, चमड़े की आंखों से नहीं दीखता।

महाकवि ग़ालिब कहते हैं:—

असले शहूद शाहिदो मशहूद एक हैं।
हैरां हूं फिर मुशाहिदा है किस हिसाब में॥

जब देखने वाला, दृश्य और दर्शन एक ही हैं। जब सब में एक ईश्वर है; तब फिर किसका दर्शन किया जाय? सारे संसार में ब्रह्म व्यापक है और वह मैं ही हूँ, "सोऽहं भाव" दिखाया है।

और भी—

क़तरे में दजला दिखाई न दे और जुज़्व में कुल।
खेल लड़कों का हुआ दीदये बीना न हुआ॥

बूंद में जिसने समुद्र को न देखा और व्यष्टि में समष्टि को—तो वह ज्ञान-चक्षु ही क्या हुए ? आत्मसाक्षात्कार कोई लड़कों का खेल थोड़े ही है। इस में अद्वैतवाद है; यानी जीव और ब्रह्म सब एक ही हैं और एक ब्रह्म के सिवा दूसरा और कोई नहीं है।

उस्ताद जौक कहते हैं:—

दाना खिरमन है, क़तरा है दरिया हमको।
आये है जुज़ मैं नज़र कुल का तमाशा हमको ॥

हम दाने में ढेर और बूंद में समुद्र देखते हैं। हम व्यष्टि में समष्टि का तमाशा देखने वाले हैं; तङ्ग—नजर नहीं हैं।

महाकवि जौक कहते हैं:—

वह पहलू में बैठे हैं और बद-गुमानी।
लिये फिरती मुझको कहीं-का-कहीं है ॥

वह ईश्वर पास में बैठा है; पर भ्रम-वश मैं उसे जहां तहां खोजता फिरता हूं।

जहां के आईने से दिल का आईना है जुदा।
उस आईने में हम आईनेगर को देखते हैं ॥

संसार के दर्पण से मन का दर्पण अलग है। मन के दर्पण में हम दर्पण बनाने वाले—ईश्वर को देखते हैं।

(७५) प्रश्न—ईश्वर की सेवा से क्या फल मिलता है ?

उ०—महाकवि ग़ालिब कहते हैं:—

तेरी बन्दनवाज़ी हफ्त किशवर वख़ूफ़ा देती है।
जो तू मेरा जहां मेरा अरब मेरा अजम मेरा ॥

तेरी सेवा निष्फल नहीं जाती। तेरी सेवा करने से सातों बिलायतों का फल मिल जाता है। अगर तू मेरा, हो जाय, तो संसार मेरा, अरब मेरा और अजम मेरा।

मनुष्य की सेवा में कुछ लाभ नहीं, लाभ है जगदीश की सेवा में, उसकी कृपा होने से फिर कोई अभाव नहीं रहता।

(७५) प्रश्न—ईश्वर कैसा है ?

उत्तर—इसका उत्तर आत्मा के विषय में पहिले प्रश्न में दिया जा चुका है। महाकवि दाग़ कहते हैं:—

सिफ़ातो ज़ात में यकता है तू ऐ वाहिदे मुतलक़।
न कोई तेरा सानी है न कोई मुश्तरक तेरा ॥

हे त्रिविध भेद-शून्य परमात्मा ! तू अद्वितीय है, तेरा, जोड़ा, नहीं है और कोई भागीदार या साझी भी नहीं है।

(७७) प्रश्न—मनुष्य देवताओं से कब बढ़ सकता है ?

उत्तर—अगर मनुष्य किसी भी चीज़ की इच्छा न रक्खे, उसमें मोह ममता और वासना न हो; तो वह देवताओं से भी बढ़कर ही है।

उस्ताद ज़ौक कहते हैं: —

जिस इन्साँ को सगे दुनिया न पाया।
फ़रिश्ता उसका हम पाया न पाया ॥

जो मनुष्य संसार का कुत्ता नहीं—संसार का दास नहीं, वह देवताओं से बढ़ कर है।

हमारे यहां भी शुकदेव जी ने कहा है:—

इन्द्रोऽपि न सुखी तादृग्भ्याग्भिक्षुस्तु निस्पृहः।
कोऽन्यः स्यादिह संसारे त्रिलोकी विभवे सति ॥

निस्पृह—इच्छारहित भिक्षु जैसा सुखी है; वैसा सुखी इन्द्र भी नहीं। जब त्रिलोकी का विभव होने पर भी, निस्पृह भिखारी के समान इन्द्र सुखी नहीं है, तब और कौन हो सकता है ? अर्थात् कामना-वासना-हीन भिखारी देवराज से भी बड़ा है।

(७८) प्रश्न - कृपापात्र कौन हो सकता है ?

उ०—विचार कर देखो, कृपा-पात्र वही जो केवल एक ही कृपालु की कृपा की आशा करता है, और जो अपनी सारी शक्ति समर्पण कर केवल कृपा पर ही पूर्ण भरोसा करता है, वही कृपा-पात्र है। ऐसे कृपा पात्र पर कृपा करने के लिये कृपालु विवश हो जाते हैं। कृपा-पात्र में करने की शक्ति शेष नहीं रहती, क्योंकि उसके सभी साधन कृपा में विलीन हो जाते हैं जो अपने प्रेम-पात्र के पूर्ण प्रभाव को जानते हैं।

(७९) प्रश्न—मुझे क्या जानना चाहिये ?

उ०—दुःख होते हुए भी दुःख का अनुभव न करना अत्यन्त प्रमाद है। उस प्रमाद के कारण ही मुझे क्या जानना चाहिये यह प्रश्न सिद्ध नहीं हुआ। प्रमाद मिटाने के लिये प्रतिदिन कुछ न कुछ प्रयत्न करो।

सोने से प्रथम कम से कम २॥ घड़ी सब कार्य समाप्त होने पर एकान्त में बैठो। वहां पर कोई और मानव न हो। उस दिन के किये हुए प्रत्येक कार्य पर दृष्टि डालो और देखो कि आज कोई नया कार्य

तो नहीं किया ? और फिर यह भी विचार करो कि आजकल जो कुछ करते है वह कब तक करते रहेंगे ? सब से अन्तिम कार्य क्या होगा ? जब करने की शक्ति नहीं रहेगी तब क्या करेंगे ? जो परिस्थिति कुछ काल पहिले थी वह न रही तो क्या बनी रहेगी ? जीवन का भविष्य क्या होगा ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न अपने में उत्पन्न कर दो, ऐसे प्रश्न उत्पन्न होने पर हृदय में एक नई उथल-पुथल मच जायगी, जो प्रमाद के हटाने में समर्थ होगी।

वर्त्तमान परिस्थियों से निराश होते ही यथार्थ जिज्ञासा जागृत होगी। यदि निराशा इस प्रकार की हो गई है कि संसार की प्रत्येक परिस्थिति का समान अर्थ हो गया है, अर्थात् संसार की कोई भी परिस्थिति संतुष्ट नहीं कर पाती तब तो यथार्थ तत्त्व का अनुभव वर्त्तमान में ही हो जावेगा।

विषय-जन्य स्वभाव से सच्ची निराशा होने पर असंगता आ जाती है। पूर्ण असंगत किसी का संग होती है, अर्थात् असंगता ही यथार्थ तत्त्व के साक्षात्कार में पूर्ण समर्थ है। जो जानना चाहिये उसका अनुभव करना है, सीखना नहीं कि क्या जानना चाहिये। जानना जिज्ञासु का जीवन है, उससे भिन्न जिज्ञासु को कुछ भी करना शेष नहीं है।

(८०) क्या सच्चे ईश्वर प्रेमी या प्रथम श्रेणी के ज्ञानी जात-पांत को नहीं मानते ?

उत्तर—निसन्देह जो पहुंचे हुए साधु या आत्मा हैं, जिन्होंने आत्म तत्त्व को पा लिया है, वे सब को एक ही समझते हैं, वे जात-पांत नहीं समझते। ईश्वर-प्रेमी को जात से क्या मतलब ?

उस्ताद ज़ौक़ कहते हैं—

मतलब न कुफ्र से है न इसलाम से है काम।
दिल देके ए सनम तुझे, सब से बरी हुये॥

धर्मा-धर्म से अब कोई हमारा सम्बन्ध नहीं। तुझसे सम्बन्ध जोड़ कर, हम सब से निरद्वन्द हो गये।

(८१) प्रश्न—जब सब में एक ही आत्मा है, सभी में एक ब्रह्म व्यापक है, तब किससे बैर और किस से विरोध ?

उत्तर—एक हाथी ताल में जल पीने गया, इस ताल के निर्मल जल में अपनी परछांई को दूसरा हाथी समझ, वह उससे लड़ने लगा। वहां दूसरा हाथी न था, पर उसे वृथा भ्रम हुआ। बस इसी तरह संसार में हे मनुष्य ! सर्वत्र तू ही तू है, पर भ्रम से तू अपने तईं ही दूसरा समझ कर लड़ता फिरता है। उस्ताद ज़ौक़ ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है :—

प्रश्नोत्तरी की सूची

क्रम	प्रश्नोत्तर	पृष्ठ
१.	आत्मा कैसा है ?	४६७
२.	क्या सब प्राणियों में एक ही आत्मा है ?	,,
३.	क्या शरीर और आत्मा दो अलग-अलग पदार्थ हैं ?	,,
४.	जीवन और मरण अथवा जन्म और मृत्यु किसे कहते हैं ?	,,
५.	क्या पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है ?	४६८
६.	क्या मृत्यु होने पर पूर्णता नहीं मिल जाती ?	,,
७.	क्रिया किस में होती है और क्यों होती है ?	,,
८.	क्या यह शरीर ही मनुष्य नहीं है ?	४७०
९.	बालकपन, व युवावस्था और वृद्धावस्था—ये अवस्थायें किसकी होती हैं, आत्मा की या शरीर की ?	४७१
१०.	शरीर के साथ जो आत्मा या चेतन वस्तु उत्पन्न होती है, वह क्या शरीर के साथ ही नाश नहीं हो जाती ?	,,
११.	शरीर और आत्मा की तुलना करो ?	,,
१२.	क्या स्त्री और पुरुष में आत्मा अलग-अलग होते हैं ?	४७२
१३.	मरने के बाद इन्द्रियां अपना-अपना काम क्यों नहीं करतीं ?	,,
१४.	हमको मृतक के साथ क्या करना चाहिये ?	,,
१५.	क्या ईश्वर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं ?	४७३
१६.	ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान् है; पर जीवात्मा तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं; तब दोनों एक कैसे हुए ? और जीव को ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिये ।	,,
१७.	क्या ईश्वर सर्वव्यापक है ? अगर ईश्वर सर्वत्र है, तो वह दीखता क्यों नहीं ?	४७४
१८.	क्या सब में एक ही आत्मा है ? यदि सब में एक ही आत्मा है, तो अलग-अलग क्यों दीखती है ?	,,
१९.	यदि जगत् के सभी शरीरों में एक ही आत्मा है, तो एक के सुखी होने से सभी सुखी क्यों नहीं होते और एक के दुःखी होने से दुःखी क्यों नहीं होते और एक के मरने से सभी क्यों नहीं मर जाते इत्यादि ?	,,
२०.	मनुष्य बन्धन-मुक्त कैसे हो सकता है ?	४७५

आप आईन-ये हस्ती में है तू अपना हरीफ़ ।
वर्ना यों कौन था जो तेरे मुकाबिल होता ॥

संसार में तू स्वयं अपना प्रतिद्वन्दी बना हुआ है। संसार एक आईना है। जिसमें तुझे अपनी ही मुद्रा दीख रही है; पर तू समझता है कि, कोई दूसरा है। इसी भ्रम के कारण, तू चिन्ताग्रस्त हो रहा है। यदि तुझे यह भ्रम न होता; तो संसार में तेरा जवाब न होता, तू अद्वितीय होता ; यानी अगर तू समझ लेता कि, जगत् में सर्वत्र मैं ही हूँ, दूसरा तो कोई नहीं है। इस अवस्था पर पहुंचने से तू पूरा हो जाता।

(८२) प्रश्न—मनुष्य का शोक-दुःख से कतई पीछा कब छूट सकता है ?

उत्तर—जब वह संसार की मोह-माया त्याग, एक मात्र ब्रह्म विचार में लीन हो जाय।

(८३) प्रश्न—मोक्ष की प्राप्ति किसको होती है ?

उत्तर—जैसे इस संघात की सारी चेष्टायें पंचभूतरूप ही हैं, वैसे ही सम्यक् आत्मज्ञानी की समस्त चेष्टा समाधिरूप ही हैं। जैसे वृक्ष का पका फल नीचे न गिरने की इच्छा न करने पर भी अवधि प्राप्त होने पर गिर ही जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान के प्राप्त होने पर इच्छा न करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसके विपरीत जैसे कुएँ में पड़ा हुआ मनुष्य लाख कूदने पर भी बाहर नहीं निकल सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य लाख इच्छा करने पर भी मोक्ष को नहीं पाता। मोक्ष में आत्म-ज्ञान ही हेतु है, अतएव देहाभिमान को सम्यक् प्रकार से त्याग कर आत्मज्ञानी हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(८४) प्रश्न – आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो ?

उ०—जैसे एक ही जल के तीन रूप हैं-शान्त जल, बुद्बुदा और लहर, वैसे ही एक ईश्वर ही के तीन नाम हैं—ईश्वर, जीव और माया। वास्तव में जैसे बुद्बुदे और लहर जल से भिन्न नहीं है वैसे ही जीव और माया भी ईश्वर से अभिन्न हैं। जैसे बुद्बुदे और लहर को पकड़ने से जल ही हाथ आता है, इसी प्रकार संसार के समस्त मूर्तामूर्त पदार्थों में ब्रह्म को समझना चाहिये। जैसे सोने के सभी आभूषण वास्तव में स्वर्ण ही हैं, इसी प्रकार स्थावर जंगम समस्त सृष्टि ब्रह्म रूप ही है। इस प्रकार सम्यक् प्रकार से जान लेना ही आत्म ज्ञान का स्वरूप है। इस आत्मज्ञान के होने पर बिना ही इच्छा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

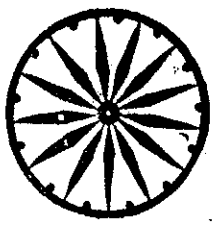

क्रम	प्रश्नोत्तर	पृष्ठ
२१.	क्या पुत्र पौत्रों के होने से मुक्ति हो जाती है ?	४७५
२२.	क्या तीर्थाटन से भी मुक्ति नहीं हो सकती ?	४७६
२३.	महात्माओं ने पुत्रों को दुःखदायी और शत्रु क्यों कहा है ?	,,
२४.	संसार-बन्धन से किस तरह छुटकारा मिल सकता है ?	४७७
२५.	आत्मा के साक्षात्कार में बाधक कौन हैं ? परमात्मा का स्पष्ट दर्शन कब होता है ?	,,
२६.	ज्ञान, ध्यान, स्नान और शौच किसे कहते हैं ?	,,
२७.	परमेश्वर कहां है ? उसका ध्यान कैसे करना चाहिये ?	,,
२८.	जड़ क्या है ? चेतन क्या है ? असत् क्या है ? सत् क्या है ? दुःख क्या है ? और क्या शरीर–जड़, असत् तथा दुखरूप है ? अपूर्ण कौन है ?	४७८
२९.	सारे दुःखों का मूल कारण क्या है ?	,,
३०.	अगर यह जगत् जड़ है, तो यह चेष्टा कैसे करता है ?	,,
३१.	ईश्वर और जीव की एकता प्रमाणित करो ?	,,
३२.	आत्म-ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है ?	४७९
३३.	वैराग्य किसे कहते हैं ?	,,
३४.	क्या स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मकान-हाट प्रभृति किसी में ममता न रखनी चाहिये ?	,,
३५.	शूरवीर कौन है ?	,,
३६.	संसार में सदा स्थिर न रहने वाले पदार्थ क्या हैं ?	,,
३७.	मनुष्य का सब से बड़ा कर्त्तव्य-पालन क्या है ?	,,
३८.	ईश्वर-प्राप्ति का सरल उपाय क्या है ?	४८०
३९.	क्या भक्तों को तत्त्वज्ञान नहीं होता ?	४८१
४०.	सच्चा ज्ञानी कैसा होता है ?	४८२
४१.	अन्तःकरण की शुद्धि क्या है ?	,,
४२.	अन्तःकरण की शुद्धता का फल क्या है ?	,,
४३.	चित्त शुद्धि का साधन क्या है ?	,,
४४.	शुद्ध अन्न कैसे होता है ?	४८३
४५.	साधक को कैसा भोजन करना चाहिये ?	,,
४६	क्या चित्त की शुद्धि का और कोई उपाय है ?	४८४

क्रम	प्रश्नोत्तरी	पृष्ठ
४७.	ज्ञानवान् की दृष्टि में एक ही आत्मा है, तो फिर ज्ञानी सब के साथ खान-पानादि क्यों नहीं करता ?	४८४
४८.	मुक्त किसे कहते हैं ?	४८५
४९.	क्या महात्मा उच्च और नीच नहीं होता ?	"
५०.	चोर और दुष्टों को भी साधु बनाने वाला क्या है ?	"
५१.	संसार में कितने प्रकार के मनुष्य हैं और उनमें से कौन से परमात्मा के दर्शन करते हैं ?	४८६
५२.	सब वेद-शास्त्रों का सार क्या है ?	"
५३.	प्राणी बन्धन से कब छूटता है ?	"
५४.	जीव और ईश्वर का मेल कब होता है?	४८७
५५.	परमेश्वर कहां रहता है और वह किस प्रकार मिलता है ?	"
५६.	किनका अधिकार मोक्ष में है और किनका कर्मों में ?	"
५७.	परमात्मा सब के अन्दर है। फिर एक कुमार्ग में जाता है और दूसरा सुमार्ग में इसका कारण क्या है ?	४८८
५८.	जीव डरता क्यों है ?	"
५९.	क्या आत्मा सचमुच अजर अमर है ?	"
६०.	इस जीव को सुख कब मिलता है ?	"
६१.	यह संसार असार और महा मलीन है; फिर लोग इसकी मोह ममता में क्यों फंसे हैं ? इसे त्यागते क्यों नहीं ?	"
६२.	गृहस्थी में भी किसे विक्षेप नहीं होता ?	४८९
६३.	मन के निरोध के साधन क्या हैं ?	"
६४.	वैराग्य पैदा होने और पापों से बचने का मूल कारण क्या है ?	४९०
६५.	कौन किसी का भी बुरा नहीं चाहता ?	"
६६.	दुःखों और सुखों का हेतु क्या है ?	४९१
६७.	राग और वैराग्य का क्या कारण है ?	"
६८.	क्या गृहस्थाश्रम में वैराग्य हो सकता है ?	"
६९.	संसार में स्त्री कौन है और पुरुष कौन है ?	४९२
७०.	ईश्वर के भजन-स्मरण में वैराग्य की क्या आवश्यकता है ?	"
७१.	संसार में सर्प से भी भयंकर कौन है ?	"

क्रम	प्रश्नोत्तरी	पृष्ठ
७२.	स्त्री-रूपी सर्प से बचने का क्या उपाय है ?	४९२
७३.	स्त्री-सङ्ग से क्या हानि है ?	”
७४.	ईश्वर सर्व-व्यापक कहलाता है, पर वह दीखता क्यों नहीं ? उसे कैसे देख सकते हैं ?	”
७५.	ईश्वर की सेवा से क्या फल मिलता है ?	४९४
७६.	ईश्वर कैसा है ?	”
७७.	मनुष्य देवताओं से कब बढ़ सकता है ?	४९५
७८.	कृपापात्र कौन हो सकता है ?	”
७९.	मुझे क्या जानना चाहिये ?	”
८०.	क्या सच्चे ईश्वर प्रेमी या प्रथम श्रेणी के ज्ञानी जात-पांत को नहीं मानते ?	४९६
८१.	जब सब में एक ही आत्मा है, सभी में एक ब्रह्म व्यापक है, तब किससे बैर और किस से विरोध ?	”
८२.	मनुष्य का शोक-दुःख से क़तई पीछा कब छूट सकता है ?	४९७
८३.	मोक्ष की प्राप्ति किसको होती है ?	”
८४.	आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो ?	”

(४) राज-योग ।

क्रिया—सिद्धांत मूलक योग साधनों में अन्तिम राजयोग है।

राजयोग अन्य तीनों योगों की चरम सीमा है और इसका अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनको फँसाती है और बुद्धि की क्रिया मनुष्य को मुक्त करने में सहायक होती है; यही कारण है कि अज्ञान से जीव बंध को प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्त होता है। अतः बुद्धि क्रियारूपी विचार द्वारा चित्तवृति निरोध की जो शैली है, उसको राजयोग कहते हैं। आत्मरूप का अनुभवयुक्त ज्ञान हो जाना ही राजयोग का मुख्य ध्येय है।

राजयोग का लक्षण योगदर्शन में भगवान् पातञ्जलि ने इस प्रकार कथन किया है कि—"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः" अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) है, यदि चित्त की वृत्ति के निरोध अर्थात् रोकने का ही नाम योग है, तो चित्त क्या है? चित्त की वृत्ति किसको कहते हैं? और उसका रोकना क्या पदार्थ है? यह समझना होगा, तब ही समझ में आवेगा, कि योग क्या पदार्थ है और चित्त-वृत्ति के निरोध की शिक्षा के लिए ही योग शिक्षा वा योगसाधना करनी होगी।

चित्त और चित्त की वृत्ति।

चित्त का अर्थ विचार चेतन, मन, तर्क, बुद्धि, विचार, चिन्तन है। वृत्ति का अर्थ अन्तःकरण का परिणाम विशेष, स्थिति, व्यवहार है।

(समुद्र) रूपी चित्त मनस्तत्त्व रूप है। वृत्तियें उसकी तरङ्ग रूप हैं। जब बाहर कुछ कारण ऊपर काम करने लगते हैं उसी समय वे रूप धारण करते हैं। पातञ्जलि दर्शन के टीकाकार कहते हैं, कि – 'विषय सम्बन्धाच्चित्तस्य या परिणतिः सा वृत्तिः' विषय सम्बन्ध से चित्त का जो परिणाम है उसी को वृत्ति कहते हैं।

चित्त शब्द का अर्थ अन्तःकरण के हैं और वह सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों की (साम्यावस्था रूप प्रकृति का) परिणाम कार्य्य होने से त्रिगुणात्मक है, (इसी को मन और बुद्धि भी कहते हैं और) इसी के घट पटादि बाह्य पदार्थ तथा काम, क्रोध, लोभ मोह आदि आभ्यान्तर पदार्थों को विषय करने वाले परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति त्रिगुणात्मक अन्तःकरण का परिणाम होने के कारण शान्त, घोर, मूढ़ इस भेद से तीन प्रकार की है–सात्त्विक वृत्ति का नाम शान्त, राजस वृत्ति का नाम घोर (भयानक) तथा तामस वृत्ति का नाम मूढ़ है। यह वृत्तियें प्रमाण आदि भेद से कई प्रकार की हैं और इन्हीं के निरोध (रोकने) को योग कहते हैं, यह निरोध अभ्यास और वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान से होता है। अभ्यास और वैराग्य के विषय में आगे कहेंगे। त्याग प्राप्त हो जाने पर दशों इन्द्रियाँ अपने विषय को छोड़ कर सतोगुणी वृत्ति धारण कर लेती हैं। त्याग से 'अन्तर्मुखी' हो जाती हैं।

प्रश्न—यह जो हम सृष्टि देखते हैं, यह बाहिर है आत्मा भीतर है। तब भीतर बैठा हुआ आत्मा इसको किस प्रकार देख सकता है।

उत्तर—बाहिर के पदार्थ का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र की पुतली पर आ पड़ता है। उससे सूक्ष्म ज्ञानवाही नाड़ियों (में क्रिया होती है, और) वह (आकर) मस्तिष्क (दिमाग़) में पहुँचता है, मस्तिष्क के द्वारा चित्त में पहुँचता है। चित्त और आत्मा दोनों एक जगह हैं। जब वह दृश्य जो बाहिर था, आत्मा के निकट पहुँच गया है। आत्मा दृष्टा अर्थात् देखने वाला है, यह दृश्य (देखने की वस्तु) है। अब दृष्टा और दृश्य में कोई व्यवधान (अन्तर) नहीं रहा। दृश्य उसके पास पहुँच गया है इसलिये दृष्टा अपने दृश्य को देख लेता है।

जब बाहिर का दृष्य चित्त पर पहुँचता है, तो अब चित्त उस पहिले आकार से एक नये (तद् आकार वाला) बनता है। इसी आकार को वृत्ति कहते हैं, आत्मा इस वृत्ति का अनुभव करता है, उस अनुभव का नाम बोध वा दृष्टि है और आत्मा बोद्धा वा दृष्टा है

यह वृत्तियाँ आत्मा के सामने (समक्ष)उत्पन्न होती हैं, इसलिये आत्मा को वृत्तियों का साक्षी कहते हैं। क्योंकि साक्षी वही है जिसके सामने वह घटना हुई हो।

ये वृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। देखने में जो चित्त की वृत्ति है, सुनने में भिन्न हो जाती है। और सोचने में इन दोनों में भिन्न हो जाती हैं। देखने में भी भिन्न २ पदार्थों के देखने से वृत्ति भी भिन्न २ होती चली जाती है। इस प्रकार ये वृत्तियाँ असंख्य हैं, चित्त सदा असंख्य इन्हीं वृत्तियों को बदलता रहता है। जिस अवस्था में सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं उस अवस्था का नाम योग है।

चित्त की अवस्थायें।

वृत्ति की पाँच अवस्थायें होती हैं। (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। इन पाँचों की अवस्था भेद से आलोचना निम्न प्रकार देखो:—

(१) "क्षिप्त"—(रज और तप प्रधान)—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं।

विस्तार में यों समझिये कि:—सारी सृष्टि सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से रची गई है। चित्त भी इन्हीं तीनों गुणों का परिणाम विशेष है। चित्त प्रकाश-स्वभाव वाला है इसलिए सत्वगुणी है। प्रवृत्ति स्वभाव है, इसलिये रजोगुणी है, और काम करने से रोकने का स्वभाव रखता है इसलिए तमोगुणी है, जब जिस गुण की प्रधानता होती है उसी का स्वभाव प्रकट होता है। चित्त की बनावट में सत्त्वगुण प्रधान है, इसलिए प्रकाश उस अवस्था में भी रहता है, और इसीलिए इसको चित्त सत्व कहते हैं। जब चित्त में रज और तम प्रधान होते हैं अर्थात् जब चित्त में सत्व के साथ राजस और तामस काम करते हैं, तब द्रष्टा ऐश्वर्य को और विषय को प्यार करता है। क्योंकि सत्व की प्रधानता से चित्त वस्तु के

तत्व का पता लगाना चाहता है, पर तमोगुण उस तत्व को छिपा रखता है। तत्व का पता न लगाने से रजोगुण उसको स्थिर नहीं रहने देता तुरन्त दूसरी ओर ढकेल देता है, तब वस्तु की वास्तविकता (तत्व) नहीं प्रकाशित होती, चित्त को इसके साथ केवल प्यार ही रह जाता है। यही क्षिप्तावस्था है। यह अवस्था साधारण संसारियों की है।

(२) "मूढ"—(तमोगुण प्रधान)—जिसमें चित्त कृत्याकृत्य को भूल कर मूर्खवत् होकर नाना प्रकार के उपद्रव करता है अर्थात् जब (रजस्) को जीत कर (तमस्) फैल जाता है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य प्रवृत्ति की ओर अनैश्वर्य संसार की ओर झुकता है। यही मूढावस्था है। यह अवस्था नीच प्रकृति वाले लोगों की होती है।

(३) "विक्षिप्त"—(रजोगुण प्रधान)—जिसमें चित्त व्याकुल और अशान्त रहता है। जब तमस् निरंतर क्षीण हो जाता है, रजस् की भी मात्रा ही शेष रहती है। तब चित्त मल पोंछे दर्पण की तरह पूरा २ चमकता है। और धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ईश्वर की ओर झुकता है।

इस अवस्था में रजस् का थोड़ा सम्बन्ध बना रहने से चित्त कभी स्थिर हो जाता है, अधिकतर अस्थिर ही रहता है। वह अस्थिरता इसकी स्वाभाविक होती है, व्याधि आदि अन्तरायों अर्थात् विघ्नों से होती है। यह विक्षिप्तावस्था है। यह अवस्था जिज्ञासु जनों की होती है। यह भी योग की अवस्था नहीं क्योंकि इसमें प्रधान विक्षेप है, स्थिरता अप्रधान सी है।

(४) "एकाग्र"—(सत्त्वगुण प्रधान)—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ अनेक ओर से हट कर एक ओर लग जाती हैं अर्थात् जब रजस् का लेश भी शेष नहीं रहता, तब चित्त एकाग्र होता है। यह अवस्था योग की है, इसका नाम सम्प्रज्ञात योग है।

(५) "निरुद्ध"—जिसमें चित्त की वृत्तियाँ चेष्टा रहित हो जाती हैं। इन दोनों ४-५ अवस्थाओं में योग हो सकता है। क्योंकि सतोगुण की विशेषता में ये दोनों अवस्थायें प्राप्त होती हैं। इसी का नाम असम्प्रज्ञात योग है।

सम्प्रज्ञात अवस्था से भिन्न अवस्था की वृत्तियाँ संसार में बांधती हैं, यह दोष देख कर इनसे ऊपर उठने की इच्छा उत्पन्न हुई थी और इसीलिए इन वृत्तिओं को रोक कर संप्रज्ञात अवस्था में पहुंच गये और यहाँ आत्मा और चित्त का भेद दर्शन हुआ इसका नाम विवेक ख्याति है। पर यह विवेक ख्याति भी एक गुणों की अवस्था है। चित्त जिस प्रकार बाह्य विषयों को अपने स्वरूप में रख कर आत्मा को दिखलाता था, इसी प्रकार इस विवेक ख्याति को भी उसी ने अपने स्वरूप में रख कर दिखलाया है। पर आत्मा अब अपने स्वरूप को अनुभव कर चुका है कि यह एकाग्र वृत्ति भी चित्त की ही एक अवस्था है, यह सदा नहीं रहेगी, पर मैं सदा रहूँगा। यह गुणों की अवस्था है, मैं निस्त्रैगुण्य हूं। यह दोष देख कर इस ख्याति (प्रसिद्धि) से उसको वैराग्य होता है। तब वह इन वृत्तियों को भी दबा देता है। अब चित्त के भीतर कोई वृत्ति नहीं। यही निरुद्धावस्था है। इसी का नाम असंप्रज्ञात योग है, इसी का लक्षण इस सूत्र में किया है। 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' अर्थात् योग, चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) है।

(प्रश्न) इस अवस्था में आत्मा क्या करता है ?

(उत्तर) तब द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप (अपने आप) में अवस्थिति (ठहरना) होती है। जिस प्रकार नाटक देखने वाला सावधानता से देखता हुआ नाटक देखता हुआ होता है। उसकी जेब से कुछ निकाल लो, उसे पता नहीं। वह मानो वहाँ है ही नहीं। वह तो उस दृश्य में है, जिसको देख रहा है। जब वह खेल बन्द होता है, तब वह अपने आपको संभालता है। अब वह नाटक के दृश्य में नहीं अपने स्वरूप में है; अब उसकी जेब में हाथ डालो झट तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृति की नाट्य-शाला में बैठ कर इसी के दृश्य को देख रहा है और वह इतना मग्न है कि अपने आपको भूला हुआ है। मानो वह अपने स्वरूप में स्थित नहीं, उस दृश्य में स्थित है जिसको देख रहा है। निरोध अवस्था में जब यह खेल उसके सामने बन्द होता है, तब वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

(प्रश्न) व्युत्थानावस्था में अर्थात् वृत्तियों के बने रहने पर जीवात्मा की स्थिति कहाँ पर होती है ?

(उत्तर) व्युत्थान काल में द्रष्टा की (जीवात्मा) अपनी वृत्ति के समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्ति के समान रूपवाला होता है।

निरोध से उठने पर आत्मा चित्त की वृत्तियों के समान रूप हो जाता है। तीनों गुणों के कारण शान्त, घोर मूढ़ रूप होती है। आत्मा उस अवस्था में अपने आप को शान्त, दुःखी और मूढ़रूप अनुभव करता है। पर व्युत्थान अर्थात् वृत्तियों के बने रहने पर भी योगी की वृत्तियां प्रायः शान्त ही रहती हैं। हाँ, अयोगियों की वृत्तियाँ प्रायः अशान्त होती हैं। आत्मा योगी अयोगी दोनों का अपनी अपनी वृत्तियों के समान रूप होता है। अर्थात् आत्मा वही कुछ देखता है जैसी वृत्ति है, यह नहीं होता कि वृत्ति अशान्त रहे और आत्मा शान्त रहे, वा वृत्ति शान्त हो और आत्मा अशान्त रहे।

अब तक योग का लक्षण, योग की अवस्था में आत्मा की स्थिति और व्युत्थान अवस्था में आत्मा की स्थिति बताई गई है।

प्रश्न—जिन वृत्तियों के रोकने का नाम योग है, उन वृत्तियों की कितनी संख्यायें अर्थात् वह कितने प्रकार की हैं ?

उत्तर—बाह्य पदार्थ असंख्य हैं, उनके कारण से चित्त वृत्तियें अनगणित सहस्रों वर्ष पर्यन्त तक भी उनकी गणना होनी सम्भव है तथापि वह सब निरोध के योग्य नहीं। चित्त वृत्तियें निरोध के लिए पाँच प्रकार की हैं, क्योंकि वे सभी इन्हीं पाँचों में अन्तर्भाव होने के कारण सब निरोध हो जाती हैं। परन्तु पाँचों वृत्तियें क्लिष्ट (राग-द्वेष आदि क्लेशों की हेतु) और अक्लिष्ट (रागद्वेष आदि क्लेशों के नाश करने वाली) भेद से दो प्रकार की हैं।

क्लिष्ट वृत्तियों से वह बंधन में पड़ता है और अक्लिष्ट वृत्तियें वे हैं, जो क्लेशों के नाश करने वाली हैं। जब पुरुष अभ्यास और वैराग्य से अन्तर्मुख होता है, तब ये वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बड़े गहरे जमे हुए हैं, तथापि जिस समय शास्त्र अनुमान और आचार्यों के उपदेश से अभ्यास और वैराग्य उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और इसके भी संस्कार

जमते हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव ही है कि वे अपने सदृश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को। फिर उन संस्कारों से वैसी ही वृत्तियां आगे उत्पन्न होती हैं, इसलिये अब यहां आकर दोनों में युद्ध होता है। दोनों के संस्कार विद्यमान हैं, प्रत्येक वृत्ति दूसरी को दबा कर अपना उदय चाहती है। यदि यहाँ पहुँच कर पुरुष शास्त्र के अभ्यास और गुरु के उपदेश को श्रद्धा से धारण रखता है, तो अक्लिष्ट वृत्तियें जीत जाती हैं। वे क्लिष्ट संस्कारों को उखाड़ कर अपना अपना राज्य जमा लेती हैं। जिज्ञासु को इस बात में सावधान करने के लिये महर्षि पतञ्जलि मुनि ने योग दर्शन में क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद बतलाये हैं।

पाँच प्रकार की वृत्तियाँ

पाँच वृत्तियों के नाम ये हैं। यथाः—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा और स्मृति।

(१) **'प्रमाण'**— वृत्ति तीन प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। जिस वृत्ति से यथार्थ बोध हो, उसका नाम प्रमाण है। जैसे—मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं यह अनुमान से जानता हूं, मैं यह शास्त्र से जानता हूँ, इस प्रकार के यथार्थ बोध को प्रमाण कहते हैं। अयथार्थ बोध का नाम अप्रमाण जानो)। प्रमाण तीन ही हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। और जितने प्रमाण माने गये हैं वे सब इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। प्रत्यक्ष के अनन्तर जिस वृत्ति के द्वारा ज्ञान होता है उसको 'अनुमान' कहते हैं। भले प्रकार समझा जाय जिसके द्वारा उसे 'आगम' कहते हैं अर्थात् शब्द प्रमाण को आगम कहते हैं। सो मुख्यतया शब्द प्रमाण वेद ही है इसी कारण वेद को आगम कहते हैं। तदनुकूल आप्तोपदिष्ट सत्य ग्रन्थ भी शब्द प्रमाण हो सकते हैं। यह तीन प्रमाण जब तक मनुष्य के सामने रहते हैं तब तक ईश्वर से योग नहीं,। रुकने पर ही मेल होता है।

(२) **'विपर्यय'**—मिथ्या ज्ञान अर्थात् जैसे को तैसा न जानना, अथवा अन्य की भावना कर लेना विपर्यय दूसरी वृत्ति कहलाती है। जैसे सीप में चाँदी का भ्रम होना, जीव में ब्रह्म का ज्ञान वा भान हो। विपर्यय को ही अविद्या भी कहते हैं। अविद्या पाँच क्लेशों में एक क्लेश है अर्थात् जिसको क्लेश ने सताया है उसको ईश्वर का योग प्राप्त नहीं। जिसके निरोध से ईश्वर की प्राप्तिरूप योग होता है।

(उ) **'विकल्प'**—वृत्ति का अर्थ विरुद्ध कल्पना करना है अर्थात् जो यथावत् बात है उसके विरुद्ध नई बात समझ लेना विकल्प है। जैसे अग्नि से तपा हुआ गरम लोहा देख कर कहना कि लोहा जलाता है। वास्तव में लोहा नहीं जलाता वास्तव में लोहे में समाई हुई अग्नि जलाती है। बाँझ का पुत्र या आकाश का पुष्प यह भी कल्पित है इनको भी विकल्प कहते हैं। यह विकल्प भी योग का बाधक है इसके जीतने से योग होता है।

(४) 'निद्रा वृत्ति'—जो जो पदार्थ जाग्रत अवस्था में मनुष्य को दिखलाई देते थे वे नहीं दिखाई देते ऐसी अवस्था का नाम निद्रा (नींद) वा सुषुप्ति है, यह भी योग की साधक है, इसके जीतने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है।

निद्रा वृत्ति तीन प्रकार की होती है।

(१) एक तमोगुण प्रधान, जिसमें रात भर मनुष्य अतीव गाढ़ निद्रा में सोया हुआ रहने पर भी जगाने पर, अति कठिनता से जागता है, तथापि सोने की इच्छा बनी रहती है और अवसर मिलने से फिर सो जाता है।

(२) दूसरी रजोगुण प्रधान, जिसमें कि मनुष्य रात्रि भर सोता भी रहे तथापि रात्रि के अन्त में जब जागता तब कहता है कि मुझे रात्रि को निद्रा अच्छे प्रकार नहीं आई और दिन में आलस्य बना रहता है।

(३) सत्वगुण प्रधान, निद्रा कहाती है, जिसको योगी जान लेते हैं और अधिक से अधिक चार घंटे सो लेने के उपरान्त जब जागते हैं तो स्मरण होता है कि हम बड़े आनन्दपूर्वक सोये।

निद्रात्रय का जिस किसी को यथावत् ज्ञान हो जाता है, वही पुरुष निद्रा को जीत भी सकता है, निद्रा को समाधि में त्यागना चाहिये, क्योंकि यह योगाभ्यास में विघ्नकारक है, इस वृत्ति का पूर्ण ज्ञान ध्यान योग द्वारा ही होता है और उस ध्यान योग से ही इसका निवारण भी हो सकता है।

निद्रा भी वृत्तियों में परिगणनीय इसलिये हैं कि मनुष्य को सुखपूर्वक वा दुःखपूर्वक आदि सोने की स्मृति बिना अनुभव के नहीं होती।

निद्रा के दो भेद और भी हैं अर्थात् एक तो आवरण वृत्ति और दूसरी लय वृत्ति।

(१) आवरण वृत्ति उसको कहते हैं कि जो बादल की भांति ज्ञान को ढक लेती हैं। यह निद्रा का पूर्व रूप है।

(२) लय वृत्ति वह कहाती है, जिसमें निद्रावश मनुष्य झोके खाने लगता है

उक्त सब प्रकार की निद्रा को ध्यान योग से हटाना उचित है।

(५) 'स्मृति वृत्ति'—जिन विषयों का चित्त वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव किया गया हो उनका जो बार बार ध्यान होता रहता है वही स्मृति वृत्ति है। पूर्व काल में अनुभव किया हुआ विषय स्मृति का स्वार्थ अर्थात् अपना विषय होता है और जो विषय पूर्व अनुभव नहीं किया वह परार्थ अर्थात् दूसरे का अर्थ है, एवं सारांश यह हुआ कि पूर्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जितने अर्थ का अनुभव हुआ है उतने ही अर्थ को विषय करने वाली संस्कारजन्य चित्त वृत्ति का नाम स्मृति है।

वृत्तियाम

योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे। क्योंकि इनके हटाने के पश्चात् ही सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात योग हो सकता है।

वृत्तियाम पाँच प्रकार से होता है, यथाः—

१. ईश्वर के निरन्तर चिन्तन (मय) योग की क्रियाओं, अभ्यास तथा वैराग्य से उक्त वृत्तियां रोकी जाती हैं। योग दर्शन १/१२

२. ईश्वर की भक्ति से समाधि योग प्राप्त होता है। यो० १/२३

३. ओ३म् का जप और उसके अर्थ अर्थात् परमात्मा का चिन्तन (ध्यान) करता है, तो उसका चित्त एकाग्र हो जाता है। यो० १/२८

४. विक्षेप (विघ्नों) को रोकने के लिये अभिमत एक तत्त्व का अभ्यास करे अर्थात् जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम रखना और सर्वदा उसी ही की आज्ञा पालन में पुरषार्थ करना चाहिये क्योंकि वही एक विघ्नों के नाश करने को वज्र रूप शस्त्र है। अन्य कोई उपाय नहीं, यह चित्त वृत्ति के निरोध का चौथा उपाय है। यो० १/३२

५. सुखियों में मित्रता, दुःखियों पर दया, पुण्यात्माओं पर हर्ष और पापियों से उपेक्षा (उदासीनता) की भावना से चित्त निर्मल होता है। यो० १/३३

चित्त को स्थिर करने के अन्य उपायः—

६. प्राणायाम अर्थात् प्राण के बाहर फेंकने और ठहराने से भी चित्त स्थिर होता है। यो० १/३४

७. इन्द्रिय स्थान विशेष में धारण करने से भी चित्त वृत्ति स्थिर होती है अर्थात् नासिकाग्र, जिह्वामूल नेत्रादि में धारण करने से अलौकिक गंध, रस और रूपादि का अनुभव होता है, और ये ही दिव्य विषय ज्ञान योगी के चित्त को स्थिर कर देता है। यो० १/३५

८. हृदय पुण्डरीक (कमल) में धारण करने से एक अपूर्व ज्योति का प्रकाश होता है उससे भी चित्त स्थिर हो जाता है। यो० १/३६

९. वीतराग (विषय विरक्त=निष्काम) महात्मा का ध्यान भी चित्त स्थैर्य का एक उपाय है। यो० १/३७

१०. स्वप्न ज्ञान और निद्राज्ञान का अवलम्बन (सहारा) लेने वाला अर्थात् (स्वप्न) (नींद) में जैसे बाह्य विषयों का ग्रहण नहीं होता और निद्रा (सुषुप्ति) में जैसे बाह्याभ्यन्तर कोई विषय नहीं रहते, इसी प्रकार स्वप्न और सुषुप्ति के साथ चित्त का संयम करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

अथवा जाग्रत में पुरुष स्थूल देह में विचरता है। और स्वप्न में सूक्ष्म देह में अर्थात् बिना ही स्थूल देह के देखता सुनता है। निद्रा [सुषुप्ति] में केवल कारण शरीर में विचरता है। जब जाग्रत में भी स्वप्न और सुषुप्ति के ज्ञान को आश्रय करता है तो उसका चित्त एक जगह स्थिति पाता है। यो० १/३८

११. मनुष्य नाना रुचि के होते हैं, इसलिये जिसको जो अभिमत [पसन्द] है, जिसमें उसका चित्त लगता है, उसी के ध्यान करने से भी चित्त उसमें लगना सीख जाता है, फिर वशीभूत को अन्यत्र भी लगा सकते हैं। नाभि-चक्र, हृदय-कमल, मूर्द्धना; नासिकाग्र ज्योति चन्द्र सूर्य अन्य तारा, मणि, मुक्ता आदि किसी चमकीली वस्तु वा अन्य जिस किसी को मनोइच्छा करे, उसमें चित्त लगा कर स्थिरता सिखावे, फिर वशीभूत चित्त शास्त्रोपदिष्ट पदार्थ में लगाना सुगम हो जाता है।

'अभ्यास' और 'वैराग्य'।

'अभ्यास' और 'वैराग्य', इन दो उपायों से इन्द्रियां वश में हो सकती हैं—ये ही दो उपाय मन को वश में करने के लिये बतलाये गये हैं। विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले राजस सुख को तथा निद्रा, आलस और प्रमाद जनित तामस सुख को वास्तव में क्षणिक, नाशवान्, और दुःखरूप समझ कर इस लोक और परलोक के समस्त भोगों से विरक्त रहना वैराग्य है। और परमात्मा के नाम, गुण, रूप, चरित्र के श्रवण, कीर्त्तन, मनन आदि में और लोक सेवा के कार्यों में इन्द्रियों को लगाना, एवं धारणशक्ति के द्वारा उनकी क्रियाओं को शास्त्र के अनुकूल बनाना तथा उनमें स्वेच्छाचारिता का दोष न होने देने की चेष्टा करना अभ्यास है। इन दोनों उपायों से इन्द्रियों को और मन को वश में किया जा सकता है।

राजयोग का सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सम्मिलित अन्तःकरण ही जीव के बन्धन का कारण और मुक्ति का भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीव को नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रिय परायण बुद्धि जीव को बन्धन में जकड़ती है और ब्रह्म परायण बुद्धि जीव को मुक्ति भूमि में पहुंचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धि की सहायता से तत्त्वज्ञान लाभ करके अन्त में राजयोगी जीव और ब्रह्म के अभेद का कारण समझ कर ज्ञान से अज्ञान का नाश करता हुआ जीव और ब्रह्म की अद्वैत सिद्धि के द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगी की समाधि निर्विकल्प समाधि कहाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार शैलियों के मूल में भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्गयोग का साधन-क्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोग के आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च पौधा शिखर (छत पर चढ़ने के लिये आठ सोपान) (सीढ़ियां) रूप हैं।

राजयोग के आठ अङ्ग।

राजयोग के आठ अङ्ग ये हैं:—यथा—[१] यम; [२] नियम; [३] आसन; [४] प्राणायाम; [५] प्रत्याहार; [६] धारणा; [७] ध्यान; और [८] समाधि।

इन योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने के क्रम से बुद्धि की शुद्धि होकर अविद्या दूर होने लगती है। बुद्धि की पूरी २ शुद्धि होकर अविद्या की अत्यन्त निवृत्ति हो जाने के कारण बुद्धि और उसके कारण प्रकृति

से भिन्न, अनुभव में आया हुआ आत्मतत्त्व निज स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा वा पुरुष कैवल्य कहलाता है। इसका संक्षिप्त विज्ञान यह है कि,

(१) **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह –ये यम कहलाते हैं। बाह्य इन्द्रियों पर आधिपत्य जमाने के साधनों को यम कहते हैं।

१. अहिंसा – किसी भी प्राणी को मन, वाणी, वा शरीर से पीड़ा न देने का नाम अहिंसा है।

२. सत्य— सावधानी के साथ देखने में जैसा जानने में आया हो अथवा प्रामाणिक पुरुष के द्वारा जैसा सुनने में आया हो तैसा ही, किसी का अहित न करने वाला, प्रयोजन वश दूसरे को अपना सा ज्ञान होने के लिये स्पष्ट शब्दों में जो कहा जाय वह सत्य कहलाता है।

३. अस्तेय— किसी की कोई भी वस्तु उसकी अनुमति के बिना नहीं लेना अस्तेय कहलाता है।

४. ब्रह्मचर्य – अन्य इन्द्रियों के उपस्थ का निग्रह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य में प्रधान तत्त्व है-विन्दु संरक्षण और संशोधन। इससे वासनाओं के नाश द्वारा तथा ब्रह्म की प्राप्ति में सहायता मिलती है। ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को तो वीर्य किसी भी अवस्था में अधोमुखी होता ही नहीं, अतएव वे तो ब्रह्म के मार्ग में अनायास ही आगे बढ़ जाते हैं। इनसे निम्न सार में वे हैं जिनका विन्दु अधोगामी तो होता है, परन्तु वे मन, वचन और शरीर से मैथुन का सर्वथा त्याग करके उसका संरक्षण कर लेते हैं। यह भी एक प्रकार से ब्रह्मचर्य ही है।

५. अपरिग्रह-ममता के साथ किसी भी पदार्थ का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। अर्थात् भोग—सामग्री के संग्रह का नाम परिग्रह है और जो उससे रहित हो उसे अपरिग्रह कहते हैं।

(२) **नियम**—(१) शौच, (२) संतोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम कहलाते हैं। अर्थात् अन्तरेन्द्रियों पर आधिपत्य करने के साधनों को नियम कहते हैं।

१. शौच – दो प्रकार का है-बाहरी शौच और भीतरी शौच। शरीर को जल तथा मिट्टी आदि से शुद्ध करना बाहरी शौच कहलाता है और सुखी प्राणियों में मैत्री की, दुःखी प्राणियों में करुणा की, पुण्यवानों में हर्ष की और पापियों में उपेक्षा की भावना रख कर चित्त में स्थित ईर्षा, अपकार करने की इच्छा, गुण में दोष देखना और क्रोध आदि दोषों को दूर करना, इसको भीतरी शौच कहते हैं।

२. संतोष—शास्त्र में बताये हुए उद्योग को सावधानी के साथ करने से जो अन्न, वस्त्र आदि प्राप्त हों उनमें तृप्ति रखना संतोष कहलाता है।

३. तप—भोजन, निद्रा और इन्द्रियों को वश में रखना तप कहलाता है।

४. स्वाध्याय—सद्गुरु के उपदेश किये हुए मन्त्र का अर्थ के स्मरण के साथ जप करना या सत्शास्त्र का समझ के साथ प्रवचन करना स्वाध्याय कहलाता है।

५. ईश्वर प्रणिधान—कर्त्तापने की और फल की इच्छा को त्याग कर सब कर्म परमेश्वर को अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

यम और नियम का अनुष्ठान करने से साधक के चित्त में बुरे संस्कार बलहीन हो जाते हैं, अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है और पाप ओर की रुचि दूर हो जाती है।

(३) आसन—चित्त में व्याकुलता न हो और शरीर कांपे नहीं ऐसे बैठने का नाम आसन है। अर्थात् स्थूल शरीर को योग के उपयोगी बनाने के साधनों को आसन कहते हैं। आसन ८४ प्रकार के हैं, तिनमें सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन ये तीन आसन योगाभ्यासी के लिये विशेष उपयोगी हैं।

१. सिद्धासन—बांये पैर की एड़ी उपस्थ के मूल में रख कर और उस पैर की ऐड़ी पर दाहिने पैर की ऐड़ी रख कर स्थिरता के साथ सीधा बैठना एक प्रकार का सिद्धासन कहलाता है।

२. पद्मासन—दाहिना पैर बांई जंघा पर रखकर तथा बांये पैर को दाहिनी जंघा पर रखकर स्वस्थता के साथ सीधा बैठना पद्मासन कहलाता है।

३. स्वस्तिकासन—दाहिने जंघा तथा पिंडली के मध्य में बांया पैर रख कर और बांयी जंघा तथा पिंडली के मध्य में दाहिना पैर रखकर स्वस्थता के साथ सीधा बैठना स्वस्तिकासन कहलाता है।

इन तीनों में कोई एक आसन सिद्ध हो जाने पर अर्थात् एक पहर तक उस आसन से सुख के साथ बैठने की शक्ति हो जाने पर प्राणायाम का अभ्यास करने का अधिकार प्राप्त होता है।

(४) प्राणायाम—प्राणवायु को अच्छे प्रकार से स्थिर करने का नाम प्राणायाम है अर्थात् शरीरस्थ प्राण को योगी बनाने के साधनों को प्राणायाम कहते हैं। चारों साधन बहिरङ्ग के हैं।

उस प्राणायाम के तीन भेद हैं—(१) पूरक, (२) कुम्भक और (३) रेचक।

१. पूरक—दाहिने नासापुट को बांये हाथ के अंगूठे से दबाकर रखना, गुदा और उपस्थ को संकुचित करना और मध्यम वेग से सोलह बार ॐकार का मन ही मन में जप करते रहने तक बाहर के पवित्र वायु को बांये नासापुट के द्वारा भीतर को खेंचना पूरक प्राणायाम कहलाता है।

२. कुम्भक—भीतर भरे हुए वायु को मन में चौंसठ ॐकार का जप करने तक शरीर के भीतर रोक रखना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

३. रेचक—कुम्भक करते समय दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से बांये नासापुट को भी दबा दे और ग्रीवा को अच्छे प्रकार से नमावे, फिर पहिले के समान ग्रीवा को सीधी करके दाहिने नासापुट से अंगूठा हटा कर नाभि को संकुचित कर रोके हुए वायु को मन में ३२ बार ॐकार का जप करने तक धीरे २ बाहर को निकालो। यह रेचक प्राणायाम कहलाता है।

पहले पूरक, फिर कुम्भक और अन्त में जहाँ से पहले पूरक किया हो तहाँ से रेचक करे। यह अनुलोम, विलोम प्राणायाम कहलाता है। भोजन को नियम में रख कर इस अनुलोम, विलोम प्राणायाम का अभ्यास नित्य प्रति सांझ-सबेरे यथा शक्ति करने से नाड़ियों की शुद्धि होती है। नाड़ियों की शुद्धि होने से अन्तःकरण का रजोगुण तथा तमोगुण कम हो जाता है और इससे साधक में धारणा का अभ्यास करने की योग्यता आती है, चिरकाल तक प्राणायाम का अभ्यास करके प्राणवायु की गति को अच्छे प्रकार से रोक लिया जाय तो प्राण की गति के रुकने के साथ २ मनोवृत्ति भी रुक जाती है और वासनायें बलहीन हो जाती हैं।

(५) प्रत्याहार— श्रोत्रादि इन्द्रियों का स्वस्वरागद्वेषात्मक स्वाभाविक विषयों से विवेक रूपी बल से निवृत्त करके, उनका अयोग्य आहार बन्द करके, चित्त के अधीन करना प्रत्याहार कहलाता है अर्थात् इन्द्रियों के पीछे २ जाने वाले चित्त के स्वभाव को दूर करके इन्द्रियों को चित्त के पीछे २ फिरने वाली बना देना प्रत्याहार कहलाता है। या यों कहो कि बहिर्मुख मन को अन्तर्मुख करने के साधनों को प्रत्याहार कहते हैं।

इसकी सिद्धि के लिये याज्ञवल्क्य-संहिता में वर्णन की हुई प्राण के आरोह-अवरोह की पद्धति गुरु की सन्निधि में रह कर जाननी चाहिए।

निम्नलिखित क्रियाओं के २५ पल (दस मिनट) के नियमित अभ्यास से भी प्रत्याहार सिद्ध होता है।

पद्मासन से बैठ कर केवल कुम्भक द्वारा श्वासोच्छ्वास की गति रोकने से, सिद्धासन से बैठ कर त्रिकुटी अथवा नासिकाग्र पर निमेषोन्मेष रहित दृष्टि स्थिर करने से, ❀ मूर्च्छा प्राणायाम के अभ्यास से, शान्त चित्त से १२,००० प्रणव के जप करने से,

---

❀ मूर्च्छा—इसको षण्मुखी मुद्रा भी कहते हैं। यह प्राणायाम पाँचों भूतों के जो पाँच रङ्ग हैं (पृथ्वी का पीला, जल का सफेद, तेज का लाल, वायु का हरा और आकाश का नीला) उनको जानने के निमित्त है। यह चित्त को समाधि में निरोध करता है। इससे चित्त की एकाग्रता होती है।

विधि—दोनों हाथों के अंगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आँखों पर, दोनों मध्यमा नासिकाओं पर और अनामिका तथा कनिष्ठका मुंह पर रख कर मूल बंध तथा जालंधर बंध को आरंभ से अन्त तक स्थिर रखके बांई नासिका से पूरक भरे। यथा-शक्ति कुम्भक करके सूर्य नाड़ी (दक्षिण नासिका) से शनैः शनैः रेचक करे।

विपरीत करणी मुद्रा के अभ्यास से और मनोवृत्ति को श्वासोच्छ्वास के लयोद्भव के स्थान में स्थिर करने से। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों की अत्यन्त वश्यता, मन की निर्मलता, तप की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर की आरोग्यता और समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त होती है।

(६) **धारणा**— आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार के देशों में से किसी योग्य ध्येय देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। धारणा के अभ्यास से चित्त की वृत्तियां स्थिर हो जाती हैं।

धारणा की सिद्धि के लिये निम्नलिखित मुद्राओं का अभ्यास श्रेयस्कर है:—

(१) अगोचरी—नासिका के अग्रभाग पर मन को रोक कर स्थिर करना।

(२) भूचरी—नासिका के अग्र भाग से ४ अंगुल दूर रहे हुए आकाश में मन को स्थिर करना।

(३) चाचरी—आज्ञा चक्र में मन को रोकना। पक्षान्तर में इसको खेचरी भी कहते हैं।

(४) शाम्भवी—मन को आज्ञा चक्र में स्थिर करके दृष्टि को समस्थल (Level) में अधिक से अधिक दो हाथ और न्यून से न्यून एक बालिश्त के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में स्थिर रख कर स्थित करना। अथवा चलते, फिरते, उठते, सोते, जागते, काम करते अपने में अपना लक्ष्य रख के अलक्ष्य का लक्ष्य करना।

इसके लिये बाह्य उपकरण की सहायता की अपेक्षा नहीं। केवल बहिर्लक्ष्य का अन्तर्लक्ष्य होना ही बहुत है। परा का स्फुरण पश्यन्ती बन कर मध्यमा, वैखरी के अर्थ शब्दों की एकता करता है या नहीं—इसका निरीक्षण करना ही अन्तर-लक्ष्य है। इसी को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। किन्हीं-किन्हीं के मत में यह मुद्रा शिवजी ने साधी थी इसीलिये इसका नाम शाम्भवी पड़ा।

(७) **ध्यान**— धारणा के देश में चित्त वृत्ति का तैलधारावत् अखण्ड प्रवाह तथा मन का निर्विषय होना ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्जगत् में ठहरने का अभ्यास करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुण भाव मयरूप हो, चाहे ज्योतिर्मयरूप हो, चाहे विन्दु मयरूप हो, चाहे निगुर्ण सच्चिदानन्दमयरूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेव को केवल ध्येय बना कर जगत् को भूल जाने को ध्यान कहते हैं। धारणा में ध्येय में से वृत्ति चलायमान होकर अन्य विषय के आकार की बन जाती है और ध्यान में वृत्ति ध्येय में ही रहती है, यही दोनों में भेद है।

ध्यानावस्था में शान्ति के द्वारा शारीरिक और मानसिक कष्ट दूर हो जाते हैं। जैसे ही कष्ट दूर होते हैं मानसिक तथा शारीरिक आनन्द का उदय होता है। मन आनन्दमय हो जाता है।

ध्यानावस्था में जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह आनन्द पाँच प्रकार के होते हैं—अल्प आनन्द, क्षणिक आनन्द, उमड़ा हुआ आनन्द, प्रवाहित आनन्द और व्यापक आनन्द। अल्प आनन्द से केवल रोमाञ्च हो जाता है। क्षणिक आनन्द क्षण-क्षण में चमक उठने वाली बिजली के चमक के समान होता है। जिस प्रकार लहरें समुद्र कूल पर आ-आकर टकराया करती हैं उसी प्रकार 'उमड़ा हुआ आनन्द' शरीर पर शीघ्रतापूर्वक आकर टकराया करता है। प्रवाहित आनन्द बलवान् होता है और यह शरीर को उठा कर अन्तरिक्ष में प्रवाहित करने लगता है। जब व्यापक आनन्द आता है तो सम्पूर्ण शरीर को अत्यधिक भर देता है और वह हवा से भरे हुए ब्लैडर के समान आनन्द से फूल उठता है।

ध्यान के अभ्यास से स्नायुजाल, मस्तिष्क, और मन में पर्याप्त परिवर्तन होते हैं। इससे स्नायु-प्रवाह, कम्पन, स्नायु-पथ, कोण, स्नायु-प्रणाली नवीन हो जाते हैं। सारे मन और स्नायु-जाल का पुनर्निर्माण हो जाता है, इससे तुम अपने नव निर्मित हृदय, नवीन मन, नवीन संवेदनाएँ, नवीन अनुभव, नवीन चिन्तन और क्रिया, तथा नवीन विश्वदृष्टि (अर्थात् प्रभुमय जगत्) को उन्नत करते हो।

यदि तुम्हें ध्यानावस्था में आत्म-प्रकाश की अनुभूति हो, यदि तुम ध्यान में दिव्य तेज को देखो और यदि तुम्हें देवदूत, ऋषियों, मुनियों, देवताओं के दर्शन अथवा अन्य अद्भुत आध्यात्मिक अनुभव हों तो भय से पीछे न मुड़ो। उन्हें भ्रम न समझो। साधना को न छोड़ो। आगे बढ़ो। सतत् चेष्टा करो। पटों (परदों) को एक-एक करके तोड़ते जाओ।

ध्यान करने की कोठरी को हरि मन्दिर के समान पुनीत समझना चाहिये। वहाँ अपवित्र विषयों पर बातें नहीं होनी चाहिये। वहाँ अमर्ष, द्वेष, लोभ-सम्बन्धी पापमय विचार नहीं होने चाहिये। धार्मिक और श्रद्धालु चित्त के पुरुषों का ही प्रवेश वहाँ होने देना चाहिये।

श्री स्वामीनारायण भगवान् ने ध्यान की एक ऐसी युक्ति बताई कि जिस ध्यान से बड़े-बड़े भी सिद्ध दशा को पा गये। उस ध्यान के समान अन्य कोई ध्यान नहीं है। जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र अथवा औषधि में स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यान में स्वाभाविक चमत्कार है जिससे साधक सिद्ध दशा को पा जाते हैं। साधक अपने दक्षिण नेत्र में सूर्य्य का ध्यान करे और बाम नेत्र में चन्द्र का ध्यान करे; इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाश में हैं वैसे ही जब नेत्र में भी दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और वाम नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्य की धारणा वाम नेत्र में करना और चन्द्र की धारणा दक्षिण नेत्र में करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्र को अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाश में देखते रहना और

दृष्टा जो जीव है, उसके स्वरूप को भी देखना, और जीव के स्वरूप में परमात्मा का ध्यान करना। उसके पश्चात् ध्याता का जो वासनायुक्त लिङ्ग देह है वह चक्र के समान आकाश में घूमता हुआ भासने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते-करते उसको भगवान् के विश्वरूप का दर्शन होता है, उसमें चौदह लोकों की रचना दिखाई पड़ती है तथा समग्र ब्रह्माण्डादि पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। पश्चात् अणिमादि सिद्धियाँ भी उसको प्राप्त होती हैं, और सूर्य चन्द्र की किरणें जहाँ तक पहुँचती हैं वहाँ तक उस ध्याता की दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियाँ मिलने पर भी भगवद्भक्त होने के कारण से साधक उन सिद्धियों को ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वर का ध्यान ही करता है। तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेव जी के समान चरम सिद्धि-दशा को पाता है। भगवद्भक्त को यह ध्यान सिद्ध होता है और तात्कालिक सिद्ध दशा प्राप्त करने का यह उत्तम उपाय है।

(८) **समाधि**—परमात्मा में जीव भाव के मिला देने को समाधि कहते हैं। ध्यान का परिपाक संयम है, संयम का परिपाक संप्रज्ञात योग (सविकल्प समाधि) है और संप्रज्ञात योग का परिपाक असंप्रज्ञात योग (निर्विकल्प समाधि) है। असंप्रज्ञात योग के समय चित्त की वृत्ति ध्येय के आकार की ही रहती है, बाहर के या भीतर के किसी दूसरे पदार्थ के आकार की नहीं होती, निद्रा से लय भी नहीं पाती है। तथा पहले अनुभव किये हुए किसी भी विषय का वह स्मरण नहीं करती है उस समय वह असङ्ग और अक्रिय आत्मस्वरूप में विराम पाकर सब दुःखों से रहित हो जाती है।

सविकल्प समाधि में केवल कण्ठ-श्वास और नाभि-श्वास रहता है। सविकल्प समाधि में स्थित पुरुष की नाड़ी मुमुर्ष व्यक्ति की नाड़ी के सदृश हो जाती है। इस समाधि अवस्था में शरीर के जलने अथवा अन्य प्रकार से विशेष कष्ट पहुँचने पर अन्तःकरण में उसका बोध होता है।

निर्विकल्प समाधि होने पर कण्ठ-श्वास और नाभि-श्वास तक बन्द हो जाता है। यहाँ तक कि उस अवस्था में हाथ की नाड़ी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्ति के शरीर की तरह सब अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं। उसी अवस्था को वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जा सकता है। वह अवस्था जिनकी जब होती है, वह उस समय देहस्थ होने पर भी देहस्थ नहीं है। उस अवस्था में देह रहने पर देह के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में उनकी देह जला देने पर अथवा टुकड़े-टुकड़े करने पर भी उनको कोई कष्ट नहीं मालुम होता। जिनको निर्विकिल्प समाधि होती है, उनके लिये आहार के विषय में कोई विधि निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकार का आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते। वह सदानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष हैं।

अन्यथा, त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में राजयोग के (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि—ये आठ अङ्ग कहे हैं, इन यमादि का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) यम—देहादि में वैराग्य यम है।

(२) नियम—निरन्तर पर तत्त्व में अनुरक्ति का नाम नियम है।

(३) आसन—सर्व वस्तुओं में उदासीनता आसन है।

(४) प्राणायाम—जगत् में मिथ्यात्व निश्चय प्राणायाम है।

(५) प्रत्याहार—चित्त की अन्तर्मुखता प्रत्याहार है।

(६) धारणा—चित्त का तत्व में निश्चल भाव धारणा है।

(७) ध्यान—'चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूं'—इस चिन्तन का नाम ध्यान है।

(८) समाधि—ध्यान की भली भाँति विस्मृति अर्थात् केवल संस्कार शेष अवस्था समाधि है।

ये आठों ही साधन उत्तम अधिकारी के लिये हैं।

अन्यथा—तेजोविन्दू उपनिषद् में राजयोग के और अपरोक्षानुभूति में निर्विकल्प समाधि के पन्दरह अङ्ग कहे गये हैं।—

(१) यम— 'सम्पूर्ण ब्रह्म ही है—इस ज्ञान से जो भी इन्द्रिय ग्राम का संयम है, सो ही यम है। इस यम का जिज्ञासु को पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये।

(२) नियम—'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति का सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार नियम है। इसका विद्वान् नियम से अनुष्ठान करते हैं।

(३) त्याग—अनात्म चिन्ता का न करना ही त्याग है। यह महान् पुरुषों का पूज्य है, शीघ्र मोक्ष को देने वाला है।

(४) मौन—ब्रह्म मन-वाणी का अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुति प्रमाण से अनात्म वस्तुतः है ही नहीं, इस निश्चय को मौन कहते हैं।

(५) देश— वस्तुतः जिसमें सर्वथा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपंच नहीं है, सर्व का विवर्ताधिष्ठान होने से जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है, उस अपने आत्मा को ही योगियों ने अभ्यास के लिए एकान्त देश कहा है।

(६) काल—ब्रह्मादि सर्व भूतों को जिसमें क्षण भर कल्पना होती है ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यास के योग काल है अर्थात् अभ्यासी को देश काल की भ्रान्ति का त्याग करना चाहिए।

(७) आसन—वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धों की सिद्धि का निमित्त है, जो सर्व भूतों का आदि है, जो विश्व का अधिष्ठान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है।

८. मूलबन्ध— जो सर्व लोकों का मूल है, जो चित्त निरोध का मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्म-वादियों को सेवन करना चाहिए। यही मूलबन्ध है, अन्य गुदा संकोच रूप मूलबन्ध जिज्ञासु को सेव्य नहीं है।

९. देहसमता— अपने हस्तादि सम्पूर्ण अङ्गों को ब्रह्म रूप समझे, इस प्रकार का समझने वाला योगी ब्रह्म में ही लीन होता है। इस ज्ञान के बिना केवल कटि आदि अंगों की समता या ऋजुता शुष्क वृक्ष की सरलता के तुल्य व्यर्थ है।

१०. दृक्स्थिति—ज्ञान दृष्टि से सब जगत् को ब्रह्मरूप देखे, यही दृष्टि पर उदार मोक्ष को देने वाली है; नासिका के अग्र-भाग को विषय करने वाली दृष्टि मुमुक्षु की कर्त्तव्य नहीं है। नासिका के अग्र-भाग में दृष्टि करनी चाहिए, इसका यह भाव है कि यदि योगी नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा, यदि सर्वथा नेत्र बन्द करेगा तो आलस्यादि से चित्त का लय होगा; अतः योगी शांभवी मुद्रा से स्थित रहे, भृकुटी के मध्य में आन्तरतत्त्व में लक्ष रक्खे, नेत्रों को किंचित खुला रक्खे, इसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। इसका वर्णन हम पहले भी कर चुके हैं।

११. प्राणायाम (प्राणसंयम)—'त्रिज्ञादि सर्व पदार्थों में ब्रह्म भावना के परिपाक से सर्व वृत्तियों का निरोध से प्राण का भी निरोध होता है, यही मुख्य प्राणायाम है।

'नेति नेति' श्रुति के बल से प्रपंच का अभाव निश्चय करना रेचक प्राणायाम है। ब्रह्मैवाहमस्मि—इस वृत्ति की निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है, ब्रह्मनिष्ठों का यही प्राणायाम है। केवल नाक दबा कर प्राणों का रोकना अज्ञानियों का प्राणायाम है।

१२. प्रत्याहार—सम्पूर्ण विषयों में आत्मदृष्टि करने से चित्त को संतोष और शान्ति होती है वही प्रत्याहार है, यही प्रत्याहार योगी के द्वारा अभ्यास करने योग्य है।

१३. धारणा – जहाँ जहाँ मन जावे वहाँ-वहाँ ब्रह्म दर्शन, यही उत्तम धारणा है।

१४. आत्मध्यान—अन्य विषय शून्य जो 'ब्रह्मवाहमस्मि' वृत्ति की एकलीनता है, यही आत्मध्यान है। यह ध्यान परमानन्द का देने वाला है।

१५. समाधि—निर्विकार चित्त होकर अपने को ब्रह्मरूप-ज्ञान करके सम्पूर्ण वृत्ति सहित सृष्टि भाव से रहित हो जाने को समाधि कहते हैं। जो ऊर्ध्वपूर्ण, अधःपूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थान में पूर्णरूप से विद्यमान है वही परमात्मा है, उन्हीं को जान लेने से साधक समाधि को प्राप्त हो जाता है, उनका वह पूर्ण भाव ही समाधि का लक्षण है।

राजयोग के स्वरूप की उपलब्धि के लिये योगाचार्यों का इस प्रकार से प्रयत्न है। मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग ये तीनों साधन-अवस्था के योग हैं और राजयोग सिद्धा-

वस्था है इसलिये उपर्युक्त राजयोग के योगाङ्गों के लक्षण में अन्य योगों के योगाङ्गों का कुछ खण्डन-सा प्रतीत होता है। वास्तव में अन्य योग-मार्गों के क्रिया-सिद्धांश का यह खण्डन नहीं है। केवल राजयोग का अधिकार किस प्रकार आत्मज्ञानमूलक है, इसको स्पष्टरूप से बतलाने के लिये ही यह दिग्दर्शन कराया गया है।

जीव की व्यष्टि सत्ता, परमात्मा की समष्टिसत्ता, राजयोग की अन्तिम साधन-दशा में किस प्रकार विलीन की जाती है, अब इस पर विचार किया जाता है।

पृथ्वी जल में लय को प्राप्त होती है, अग्नि में जल लय हो जाता है, अग्नि में वायु लय होता है और वायु आकाश में। इस प्रकार विलोम क्रम के अनुसार स्थल भूतों के अनन्तर बुद्धि में मन, अहंकार में बुद्धि, क्षेत्रज्ञ में चित्त और परमात्मा में क्षेत्रज्ञ लय को प्राप्त होता है। इस प्रकार के लय चिन्तन में साधक करोड़ों जन्म के किये हुए पाप-समूहों से उत्तीर्ण हो जाता है। घट नष्ट हो जाने पर घटस्थ आकाश जिस प्रकार स्वाभाविक ही महाकाश में लय हो जाता है, उसी तरह रूप से अविद्या विनाश के अनन्तर जीव भी परमात्मा में लय हो जाता है।

श्री गुरुदेव के उपदेशानुसार राजयोग के विविध अङ्गों के साधन से परमपद की प्राप्ति किस भांति होती है सो बताया जाता है। राजयोग के १६ अङ्ग हैं।

'कलाषोडस कोपेता राजयोगस्य षोड्स'

"सोलह कलाओं से पूर्ण राजयोग के सोलह अङ्ग हैं'—सात ज्ञान भूमियों के अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचार प्रधान हैं। इनके साधन बहुत प्रकार के हैं। धारणा के दो अङ्ग हैं—एक प्रकृति धारणा और दूसरी ब्रह्म धारणा। ध्यान के तीन अङ्ग हैं—विराट ध्यान; ईश्वर-ध्यान और ब्रह्म-यान। ब्रह्म-ध्यान में ही सब की परिसमाप्ति है। समाधि के चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकार राजयोग के सोलह अङ्गों के साधन से राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्र, हठ, लय इन तीनों योगों में सिद्धि-लाभ के अनन्तर अथवा इन तीनों में से किसी एक की भी सिद्धि के अनन्तर साधक को राजयोग का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। अब इन अङ्गों का वर्णन किया जाता है। सप्त भूमियों का ज्ञान इस प्रकार है:—

सप्त ज्ञान भूमियां।

(१) ज्ञानदा— मुझे जो कुछ जानना था सो सब जान लिया है यह प्रथम भूमिका का अनुभव है, इसमें सभी दार्शनिक ज्ञान और सत्सङ्ग आदि आ जाते हैं।

(२) सन्यासदा—मुझे जो कुछ त्यागना था सो सब त्याग दिया है, यह दूसरी भूमिका का अनुभव है, इसमें स्थूल त्याग ही नहीं अपितु समस्त अनात्म भावों का त्याग आ जाता है।

(३) योगदा—मुझे जो कुछ शक्ति प्राप्त करनी थी सो सब कर ली है, यह तीसरी भूमि का अनुभव है। यहां पर 'शक्ति' शब्द से समाधि पद में स्थित होने की योग्यता जाननी चाहिये।

(४) लीलोन्मुक्ति—माया की लीला ही सब कुछ दिखाई देती है, मैं उसमें मोहित नहीं होता। इससे पूर्णतः विषयों का त्याग है।

(५) सत्पदा—जगत ब्रह्म ही है यह पञ्चम भुमिका का अनुभव है।

(६) आनन्दपदा—ब्रह्म ही जगत् है यह षष्ट भूमिका का अनुभव है।

(७) परात्परा—मैं ही ब्रह्म हूँ, यह सप्तम भूमिका का अनुभव है।

इसके पश्चात् धारणा का साधन होता है। जो योगी लय योगोक्त पञ्चधारणा-मुद्रा के अभ्यास से पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश की धारणा में सिद्धि लाभ कर चुके हैं और साथ ही साथ पञ्च सूक्ष्म क्रिया के साधन से पञ्च तत्त्वों को जप करने में समर्थ हो चुके हैं वे उन मुद्राओं की सहायता से विराट् ईश्वर-ब्रह्म की धारणा से अग्रसर होते हैं, धारणा के वास्तव में दो अङ्ग हैं —प्रकृति-धारणा और ब्रह्म-धारणा। ये दोनों धारणा के अङ्ग जीवन्मुक्त गुरु से साधक को प्राप्त होते हैं।

धारणा के अनन्तर ध्यान का अभ्यास होता है। राजयोग के ध्यान की यह विलक्षणता है कि जहां अन्यान्य योगों में एक ही प्रकार का ध्यान करना होता है वहां राजयोग में तीन प्रकार का ध्यान हितकर है। जैसे १—'मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ'। २—'मैं ही द्रश्य का द्रष्टा हूं।' ३—'मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हूँ'। जीवनमुक्त गुरुदेव की सहायता से शास्त्रों का और राजयोग का रहस्य साधक को प्राप्त होता है। इस ध्यान की सिद्धि से निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। उपर्युक्त तीन भाव ही ब्रह्म, ईश्वर और विराट-भाव हैं। ब्रह्म, ईश और विराट् भाव से परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। एक अद्वैत पद के ही यह तीनों विलास हैं। तत्त्वातीत पद मन-बुद्धि से अगोचर है परन्तु इन तीनों भावों के अनुसार राज-योगी में भी त्रिविध परिवर्त्तन होना स्वाभाविक है। इसीलिये राजयोग में प्रस्थानत्रय का विधान है। यद्यपि राजयोगी में द्वैतभाव नहीं रहता परन्तु सूक्ष्मरूप से सच्चिदानन्द-भाव का रसास्वादन बना रहता है।

अब राजयोगी की समाधि का वर्णन किया जाता है—

राजयोग का साधन प्रथमावस्था में धारणा और ध्यान भूमि से आरम्भ होता है। राजयोग की साधन-भूमि प्रधानतः समाधि भूमि ही है। समाधि भूमि में पहले वितर्क रहता है, तदन्तर आगे बढ़ने पर विचार रहता है, उसके आगे की अवस्था का नाम आनन्दानुगत अवस्था है और आगे की अस्मिता नुगत अवस्था को अवस्था कहते हैं। इनमें दो भेद सविचार समाधि के हैं और द्वितीय दो भेद निर्विचार समाधि के हैं।

विशेष लिङ्ग, अविशेष लिङ्ग, लिङ्ग, और अलिङ्ग, यह चार भेद हृदय के हैं। अलिङ्ग तक त्याग देने योग्य है। इसके बाद निर्विकल्प-समाधि का उदय होता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भाव निर्विकल्प-समाधि

में नहीं रहता, कोई द्वैतभाव अथवा कोई भी विकल्प जिसमें न रहे, वही तुरीया अवस्था है-निर्विकल्प समाधि है। इन क्रमों को अपरोक्षानुभूत-प्राप्त जीवनमुक्त महात्मा से जानना चाहिये।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥'

इन वचनों का तात्पर्य यही है कि चित्तवृत्ति निरोध द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्था में जीवात्मा-परमात्मा का एकीकरण होकर स्वरूप की प्राप्ति होती है, उस साधन को योग कहते हैं। इन वचनों से ऐसा सिद्धान्त होता है कि चित्त वृत्तियों का निरोध जब तक नहीं होता तब तक जीव की पृथक् संज्ञा विद्यमान रहती है। परन्तु चित्त वृत्ति का जितना जितना निरोध होता जाता है उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्व का नाश होकर स्वरूप का विकास होता है और चित्त वृत्ति के सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाने पर जीव जीवत्व का कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूप का पूर्ण विकास हो जाता है।

मन्त्रयोग की सिद्धावस्था भाव-समाधि में, हठयोग की सिद्धावस्था रूपी महाबोध समाधि में और लययोग की सिद्धावस्था रूपी महालय—समाधि में, जिन सबका वर्णन पहले आ चुका है, साधक को जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओं से साधक की बहुत कुछ चित्त वृत्ति-निरोध में सफलता मिलती है तो पूर्ण रीति से इन तीनों सविकल्प-समाधियों में चित्तवृत्तियों का विलय नहीं होता और न उनका मूल ही नाश होता है।

मन्त्र और इष्टदेव के एकीकरण द्वारा मन्त्र योग के महाभाव-समाधि का उदय होता है। हठयोग से वायु निरोध द्वारा महाबोध-समाधि का उदय होता है। नाद और विन्दु के एकीकरण से लय योग की महा-लय-समाधि होती है। वे तीनों समाधियां लौकिक उपाय-सम्भूत होने से, हठपूर्वक अनुष्ठित होने से और ज्ञान सम्बन्ध रहित होने से यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्ति निरोध करने में समर्थ होती हैं, तथापि चित्तवृत्ति के मूलोच्छेद करने में समर्थ नहीं होती। सुतरां इन तीनों समाधि-दशा में वृत्तियों का पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनों समाधियों में से किसी समाधि-दशा को प्राप्त कर के जब योग की उन्नत भूमि में पहुँच जाता है तभी वह देवदुर्लभ-साधन की उन्नत अवस्था को प्राप्त करके राज-योग का अधिकारी बन जाता है। वस्तुतः जहां पर मन्त्र, हठ, लययोग समाप्त होते हैं वहीं से राजयोग का श्रेष्ठ अधिकार आरम्भ होता है। राजयोग के साधन की समालोचना करने से यही ज्ञात होता है कि भाग्य-वान् साधक राजयोगी प्रथम न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल, सांख्य, पूर्वमीमांसा; भक्ति दर्शन, और ब्रह्ममीमांसा के सिद्धान्तों के क्रम से, जैसा कि न्याय और वैशेषिक भूमि के अनुसार स्थूल शरीर से भिन्न अन्तःकरण विशिष्ट सुख-दुःख-युक्त आत्मा, तदन्तर सांख्य और पातञ्जल-दर्शन भूमि के सिद्धान्तानुसार अन्तःकरण रहित असङ्ग आत्मा का अनुभव करके पश्चात् पूर्व मीमाँसा भूमि के अनुसार जगत् और ब्रह्म का अभेद अर्थात् जगत् ही ब्रह्म है, इस ज्ञान का अनुभव करते हुए तदन्तर ब्रह्म ही जगत् है —'वासुदेवः सर्वं' इस भक्ति शास्त्र के सिद्धान्त का अनुभव कर एवं पश्चात् 'ब्रह्मैवाहं' यह अनुभव करता है। षोडशाङ्ग राजयोग की सात भूमियों का यही रहस्य और साधन-क्रम है। इसके अनन्तर वह योगिराज सत्-चित्-भाव पूर्ण प्रकृति -पुरुषात्मक दो राज्यों के दर्शन करके उनकी धारणा से अनन्त रूप मय प्रपञ्च की विस्मृति सम्पादन करने में समर्थ होता है।

यही राजयोग के अष्टम और नवम अङ्ग के साधन का क्रम है। इसके पश्चात् वह परम भाग्यवान् योगिराज परिणामशील प्रकृति के स्वरूप को भली भांति जान कर ब्रह्म, ईश और विराट् रूप में अद्वितीय ब्रह्म-सत्ता का दर्शन करके ध्यान भूमि की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है। यही राजयोग के सोलह अङ्गों में से दशम, एकादश और द्वादश अङ्ग का साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम से वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मा ज्ञानयुक्त समाधि दशा को अतिक्रमण करके स्व-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशा को जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब योग साधनों का अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना--राज्य की परिधि और वेदान्त का चरम सिद्धान्त है।

अब समाधि का लक्ष्य वर्णन किया जाता है—

'मैं ही ब्रह्म हूँ' एस प्रकार का ज्ञान ही महात्मागणों के अर्थ एक मात्र मोक्ष का कारण हुआ करता है। निर्मल गगन जिस प्रकार परिष्कृतरूप से दृष्टिगोचर हुआ करता है और उसमें गगन-स्वरूपादि जिस तरह परिष्कृत दिखायी देते हैं उसी प्रकार 'मैं ही अक्षर ब्रह्म हूँ' ऐसे ज्ञान से अव्यय विष्णु रूपी परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। एक मात्र मैं ही अखिल विश्व हूँ ऐसा ज्ञान उत्पन्न होते ही परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाते हैं और जब अपने आपको साधक गगन की नाईं अखण्ड विचार कर सकता है तभी उसको परमात्मा गगनवत् अखण्ड प्रतीत होने लगते हैं। स्वयं प्रकाशमान् और अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति इस योग से होती है इसीलिये इसको राजयोग कहते है। इस लक्ष्य की सिद्धि राजयोग - पथ में धीरे धीरे किस प्रकार होती है सो बतलाया जाता है।

जब अंतःकरण में सृष्टि भाव-विशेष का उदय होता है तब अन्तःकरण तद्भावमय हो जाता है और जब अंतःकरण शून्य तत्त्व को धारण कर लेता है तभी अन्तःकरण में वृत्ति शून्यता आ जाती है, इसी तरह जब साधन द्वारा अन्त में अन्तःकरण ब्रह्म भाव से पूर्ण हो जाता है तभी ब्रह्म पद का उदय होता है, इसलिए उस श्रेष्ठ पद को लाभ करने के लिए अभ्यास करना उचित है।

अन्य वृत्तियों का नाश होकर साधक की परिपक्व अवस्था में जब ब्रह्म-भाव का उदय होता है, वही साधक की श्रेष्ठ अवस्था है, नहीं तो साधनहीन साधक केवल वाचक ज्ञानी ही हुआ करते हैं, जो पुरुष ब्रह्मवृत्ति-शून्य होकर केवल बातों से ब्रह्म-भाव प्रकाश किया करते हैं वे अज्ञानी बारम्बार आवागमन-पथ से संसार में भ्रमण किया करते हैं।

'निमेषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं बिना।'

ब्रह्मादि देव गण, सनकादि मुनि गुण, शुक्र आदि महर्षि गण सकल अवस्था, सकल काल में जिस प्रकार ब्रह्म-पद में ही लीन रहा करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों को सदा ब्रह्ममयी वृत्ति में ही लीन रहना उचित है।

यद्यपि कारण से कार्य की उत्पत्ति हुआ करती है परन्तु कारण में कार्य की स्थिति कदापि नहीं रहती। इसलिये कार्य-भाव के अभाव हो जाने से केवल सत्, चित्, आनन्दरूप कारण-भाव की ही स्थिति रह जाती है। जब कार्य और कारण-भाव निवृत्त हो जाता है, तब मन और वाणी का अगोचर शुद्ध ब्रह्म-पद ही शेष रह जाता है। इसलिये जब वृत्ति ब्रह्मात्मक-भाव की धारणा कर लेती है तब अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धता के कारण पूर्ण ज्ञानमयी वृत्ति का उदय हुआ करता है। कारण के बिना कार्य नहीं हुआ करता। इस ज्ञान-भित्ति पर स्थित रह कर मुमुक्षुगण को सबसे पहले कारण-पद का निश्चय करना उचित है। इस प्रकार व्यतिरेक—अनुमान द्वारा नित्य कारण-पद की स्थिति हो जाती है। पहले कार्य से कारण का निश्चय करके पीछे कार्य का त्याग कर देना उचित है। कार्य के त्याग देने पर कारण ही अवशिष्ट रह जाता है। इस रीति से कार्य वर्जित होने से मुनिगण स्वयं चिन्मय स्वरूप हो जाया करते हैं। इस प्रकार लक्ष्य-सिद्धि हो जाने पर सिद्ध योगी की जो अवस्था होती है वह अब बतलायी जाती है।

स्वयं ब्रह्मरूप हो जाने पर साधन की आवश्यकता नहीं रहती, तब साधक साधन-अवस्था से निर्मुक्त हो जाया करते हैं और सिद्ध-पदवी को प्राप्त कर योगिराज बन जाते हैं, उन योगिराज की अवस्था का विषय मन, वाणी से अगोचर है। दृश्य वस्तु-समूह को अदृश्य की प्रकार धारणा करते हुए एक मात्र ब्रह्म स्वरूप चिन्ता से ही ज्ञानी पुरुषगण चिन्मय रस से भरी हुई बुद्धि से युक्त होकर नित्य स्थायी सुरत में अवस्थित रहा करते हैं। तब वह ब्रह्मज्ञानयुक्त योगी अपनी ज्ञानाग्नि से पुण्य-पाप-समूह को भस्म कर डालते हैं, सुतरां उनके लिये तब शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, इष्ट- अनिष्ट, शुभ-अशुभ, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सब एक ही समान हो जाते हैं। तब वे गत विषयों से शोक-शून्य हो जाते हैं और पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते।

कर्माधिकार भाव—

निर्विकल्पं प्रयत्नानां नैव कर्मावशिष्यते।
तथापि तेषां घटकृच्चक्रवज्जायते तु तत्॥

निर्विकल्पसमाधि—सिद्ध योगी का कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता। तथापि जब तक विदेहमुक्ति नहीं होती तब तक प्रारब्ध कर्म के वेग से तथा विराट् केन्द्र से परिचालित होकर कुलाल चक्र की भांति जीवन्मुक्त योगी निर्लिप्त होकर जगत्-कल्याणार्थ कर्म करते हैं। श्री भगवान् ने गीताजी में इस प्रकार निष्काम कर्म-विज्ञान और अनुष्ठान-विधि का भली भांति इस प्रकार वर्णन किया है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनञ्जय! इन्द्रियों का सङ्ग त्याग कर सिद्धि असिद्धि में समभावापन्न होकर आत्म योग युक्त होते हुए कर्त्तव्य कर्म साधन करते रहो। अन्तःकरण की समता ही योग है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मनः सर्वभूतहिते रताः ॥

क्षीण-पातक, क्षीण-संशय, संयत-चित्त, सर्व भूतों के हित में रत और सम्यक्-दर्शी ऋषिगण ब्रह्म निर्वाण रूपी मोक्षपद को प्राप्त किया करते हैं। यही जीवन्मुक्त महात्मा के जीवन में कर्माधिकार भाव है।

अब उनके जीवन में उपासना का भाव कैसा होता है सो बताया जाता है।

उपासनाधिकार भाव—

यद्यपि स्वरूपस्थित जीवन्मुक्त, जैसे नदियां समुद्र में मिल कर एक हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मरूप को प्राप्त हो जाते हैं तो भी परमानन्द के विलास वश के कारण कभी ईश्वररूप में और कभी विराट्रूप में परमानन्द अनुभव करते हैं। क्षीण मन और वासनाहीन जीवन्मुक्त जगत् के लिये भगवत्-कार्य में निरन्तर रत रहते हैं। कभी चिदानन्दमय विराट्रूप को प्राप्त करते हैं और कभी ईश्वर की स्तुति करते हुए परमानन्द में निमग्न होते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्य जी ने इसी भाव में मुग्ध होकर कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनमस्त्वम् ।
समुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो हि तारङ्गः ॥

हे नाथ ! भेद न होने पर भी मैं तो आपका ही हूँ, न कि आप मेरे ! क्योंकि तरङ्ग तो समुद्र का ही हुआ करता है। समुद्र तरङ्गों का कदापि नहीं होता। यह जीवन्मुक्त के जीवन में उपासनाधिकार भाव है।

उनके जीवन में ज्ञानाधिकार-भाव कैसा है सो लिखते हैं—

ज्ञानाधिकार भाव—

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र विद्यते ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥
व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात् ।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥

इस संसार रूपी प्रपञ्च का ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई उपादान कारण नहीं है, इसलिये संसार ब्रह्म रूप के सिवा और कुछ भी नहीं है। व्यापक-भाव मिथ्या है, सब आत्मरूप ही है, ऐसा वेद में भी प्रमाण मिलता है। इस प्रकार परमात्मा का ज्ञान होने से भेद ज्ञान रह ही नहीं सकता।

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि जसग्राणि विभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥

एक मात्र ब्रह्म ही नाना प्रकार के नाम और नाना प्रकार के रूपों को धारण किया करते हैं और कर्म की स्फूर्ति भी उन्हीं में हुआ करती है। साक्षात् प्रमाण से और वेदरूप आप्त प्रमाण से यही सिद्ध है। फलतः जिस प्रकार रज्जु में रज्जु का यथार्थ ज्ञान होते ही भ्रम ज्ञान दूर हो जाया करता है, उसी प्रकार इस प्रपञ्च के अधिष्ठान भूत परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होते ही यह प्रपञ्चरूपी संसार लय को प्राप्त हो जाता है। वह ब्रह्म पद सत्यस्वरूप है, ज्ञानमय है, अनन्त है, सदानन्दरूप है, एकमात्र है, सर्वधर्म शून्य है, मन और वाणी से अगोचर है, उस पद में सजातीय भाव अथवा विजातीव भाव रूपी द्वैत भाव की कोई भी सम्भावना नहीं है क्योंकि उस अवस्था का नाम अद्वैत पद ही है।

यही राज योग की सिद्धावस्था मनुष्य-जीवन का अन्तिम लक्ष्य और सब प्रकार के साधनों का चरम फल है।

सिद्धियां।

॥ अथाष्ट सिद्धिमाह ॥

अणिमा महिमा चैव गिरिमा लघिमा तथा।
प्राप्ति प्राकाम्य ईशिता वशित्वा चैव चाष्टम् ॥१॥

॥ अथ नव निद्धिमाह ॥

शृंङ्गार वीर करुणा अद्भुत हास्य मेवच।
भयानक बिभत्स्येव रौद्र शान्त रसाङ्कय ॥१॥

योगी को प्रक्रिया विशेष से आठ सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् [१] अणिमा, [२] महिमा, [३] गरिमा, [४] लघिमा, [५] प्राप्ति, [६] प्राकाम्य, [७] ईशित्व और [८] वशित्व।

ईश्वर की इन आठ सिद्धियों का देवयोनियों पर अनुग्रह होता है। यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, पितर, ऐन्द्र, प्राजापत्य, बाह्मण्य इन आठों देव योनियों का निवास स्थान चान्द्र धरातल है। इनमें जन्म काल से ही यह सिद्धियें वर्त्तमान रहती हैं। मनुष्य भी प्रक्रिया विशेष से इन्हें प्राप्त कर सकता है। अब इनका संक्षेप में निम्नलिखित वृत्तान्त सुनिये।

(१) अणिमा—अणुता को ही अणिमा कहते हैं। इच्छामात्र से छोटे से छोटा शरीर बना लेना अणिमा सिद्धि है। इसी सिद्धि के बल पर हनु से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसी सिद्धि के बल पर हनुमान अति ही सूक्ष्म शरीर बना कर सुरसा के शरीर से बाहर निकलने

में समर्थ हुए थे। इसी शरीर से राक्षसों की दृष्टि से बचते हुए उन्होंने लंका में सीता का अन्वेषण किया था।

(२) महिमा— महिमा सिद्धि अणिमा के ठीक विपरीत है। शरीर को यथेच्छ बढ़ा लेना ही महिमा है। चाक्षुष मन्वन्तर में होने वाले जल-प्रलय में मत्स्यरूपधारी भौम विष्णु ने इसी के प्रभाव से अति शीघ्र अपना महा विशाल शरीर बना डाला था। इसी शरीर के आश्रित रहने वाली नौका पर बैठ कर कतिपय महर्षियों के साथ चाक्षुष मनु ने जलौघ (समुद्री तूफान) से त्राण पाया था (देखिये शत० ब्रा० ८/१/१) इसी के प्रभाव से हनुमान ने सुरसा की शरीर वृद्धि के साथ अपना शरीर बढ़ाया था।

(३) गरिमा— शरीर को यथेच्छ भारी बना लेना ही गरिमा है। माता कुन्ती, एवं सती द्रौपदी के साथ पांचों पाण्डव १० वर्षों के लिये बन में निकल गये थे। परिभ्रमण करते करते यह लोग एक बार एक ऐसे सरोवर के पास जा निकले, जिसमें एक सुन्दर कमल का पुष्प तैर रहा था। द्रौपदी ने लालसा प्रकट की कि मेरे लिये पुष्प और आने चाहियें। इस नारी हठ के कारण भी भीम को जाना पड़ा। खोज ही खोज में यह निषेध पर्वत पर जा पहुँचे। वहां मारुति पहले से ही बैठे थे। उन्होंने अपने वरपुत्र भीम के बलाभिमान को दूर करने के लिये इसी गरिमा का आश्रय लिया। हनुमान ने अपना शरीर इतना बोझल बनाया कि दश सहस्र हाथियों के बल का अभिमान करने वाले विशाल काय भीम से अल्पकाय मारुति टस से मस न किये जा सके। लङ्केश की राजसभा में इसी के प्रभाव से बालिपुत्र युवराज अङ्गद का पैर किसी से स्थानाच्युत न हुआ। इसी स्वाभाविक बल के कारण भगवान् कृष्ण ने महाकाय एवं महाबली चाणूर जैसे योद्धा को परास्त किया।

(४) लघिमा— शरीर को यथेच्छ वायु से भी हल्का बना लेना लघिमा है। इससे पार्थिवाकर्षण का कोई असर नहीं रहता। इस सिद्धि को प्राप्त करने वाला मनुष्य विमानादि साधनों के बिना भी आकाश में विचर सकता है। भौम देवता इसी सिद्धि के आधार पर आकाश में घूमा करते थे। इसी के प्रभाव से हनुमान समुद्रोल्लंघन में समर्थ हुए थे। इसी के प्रभाव से भागवत नारद आकाश मार्ग में विचरते हुए भगवान् कृष्ण के समीप, एवं अन्य स्थानों पर पहुँचा करते थे। धारणा-ध्यान-समाधि भेद से योग के तीन अङ्ग माने गये हैं। चिरकाल तक आदरपूर्वक इन तीनों का अभ्यास करते रहने से कालान्तर में तीनों का 'संयम' हो जाता है यही सयम है। "कायाकाशेकः सम्बन्ध संयमात्, लघुतूलतूल समापत्तेश्चाकाश गमनम्" इस पतञ्जलि सिद्धान्त के अनुसार शरीर का आकाश के साथ पूर्ण संयम हो जाने से शरीर गुरुत्वाकर्षण से विमुक्त होता हुआ तूल (रुई) के समान हल्का हो जाता है।

(५) प्राप्ति— एक स्थान पर बैठे हुए २००, अथवा अधिक दूर पर स्थित वस्तु को आकर्षण द्वारा अपने पास मंगा लेना ही प्राप्ति है। पर्वत के शिखर पर फल लग रहे हैं। इस विद्या से सिद्ध योगी भूतल पर खड़े ही फल खा रहे हैं, यही प्राप्ति है।

(६) प्राकाम्य—पृथ्वी, जल, तेज, वायु इत्यादि भौतिक पदार्थों में जो अभिघात होता है, वह इस सिद्धि से हट जाता है। इसके बल से योगी पानी की तरह पृथ्वी के अन्तस्तल में प्रवेश कर सकता है, महाकठिन पाषाणादि शिलाओं में प्रविष्ट हो सकता है। चिरकाल पर्यन्त यथेच्छ पानी की गहराई में रहने पर भी इसका दम नहीं घुट सकता है। अग्नि इसे जला नहीं सकती। सात तालों में नियन्त्रित रहता हुआ भी यह अदृश्य हो सकता है। जरासंध के आकस्मिक आक्रमण होने पर इसी शक्ति के प्रभाव से भगवान् कृष्ण ने समुद्र में बसी हुई द्वारिका में एक दिन के भीतर सब यादवों को पहुँचा दिया था, एवं युद्ध के लिये उसी दिन लौट आये थे। महाराज नल भी इस सिद्धि में प्रवीण थे। प्रासाद का द्वार चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, नत हुए बिना ही नल प्रवेश कर जाते थे। रिक्त घट् उनकी दृष्टि मात्र से जलपूर्ण हो जाते थे। काष्ठ स्वतः इच्छामात्र से प्रज्वलित हो जाता था। महाराज ऋतुपर्ण के सारथि बने हुए नल जिस समय दमयन्ती स्वयम्बर में पहुँचे तो महासती दमयन्ती ने अपनी दासी केशी को सारथी के पास (उनकी जांच करने के लिये) भेजा। कारण इस सन्देह का एक मात्र था ऋतुपर्ण का इतने शीघ्र स्वयम्बर में पहुँच जाना। उसने विचार किया कि हो न हो, सारथि के रूप में आर्य पुत्र ही हैं नल ही उस समय रथ हांकने में महाकुशल माने जाते थे। केशी वहां पहुँचती है, एवं नल के उन अद्भुत चरित्रों को देख कर विस्मित हो जाती है। तुरन्त वापिस लौटती है, और दमयन्ती से कहने लगती है।

(७) ईशित्व—अलौकिक कर्म करने योग्य प्राप्त शक्ति विशेष ही ईशित्व है। अणिमादि सिद्धियों को दूसरों में डाल देना ही ईशित्व है। इसी ईशित्व के प्रभाव से भगवान् कृष्ण ने लघिमा प्रवेश से गोवर्द्धन पर्वत को हलका बना कर उसे कन्दुक की भाँति अंगुली पर उठा लिया था। अदृश्य हो जाना भी इसी सिद्धि के अन्तर्गत है।

(८) वशित्व—अपने प्रबल बल-शाली को भी वश में कर लेना वशित्व है। इसी सहज सिद्धि के प्रभाव से कृष्ण कालीदह में कूद पड़े थे एवं विषधर सर्पों का दमन कर डाला था। इसी सिद्धि के प्रभाव से महर्षियों के तपःपूत पवित्र आश्रमों में हिंसक पशु परस्पर में अभिन्न मित्र बने रहते थे।

राजयोग का विषय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। श्री कृष्ण का योग राजयोग था, जैसा कि नवें अध्याय के आरंभ में उन्होंने स्वयं कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि यह योग कलि-युग में अनायास सुखपूर्वक किया जा सकता है और योगी और ज्ञानी को ही श्री कृष्ण ने परम भक्त कहा है (गीता अ० ६/४६, ४३ अ० १८/५४, ५८) देखिये भगवान् की प्रतिज्ञा के विषय में सूरसागर में क्या लिखा है:—

हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अरजुर परतिग्या मोरी, यह ब्रत टरत न टारे॥
भगतन काज लाज हिय धर के, पांय पियादे ध्यायौ।

जहां जहां भीर परे भगतन पै, तहां तहां होत सहाये ॥
जो भगतन से बैर करत है, सो निज बैरी मेरो ।
देख विचार भगत हित कारन, हांकत हों रथ तेरो ॥
जीते जीत भगत अपने की, हारे हार विचारों ।
'सूरश्याम' जो भगत विरोधी, चक्र सुदर्शन मारों ॥

दृष्टान्त—काशी के एक बड़े बंगाली उपदेशक ने समाचार पत्र में एक योगी महात्मा की बड़ी निन्दा की, फल यह हुआ कि यह महाशय किसी अपराध में जेल में गये और वहीं काला-फोड़ा होकर मर गये। शास्त्रों में कहीं यह लिखा है कि भगवान् ने ऐसी प्रतिज्ञा की है कि भक्तों के शत्रुओं को तीन महीने में, तीन पक्ष में, तीन दिन में या तीन वर्ष में दण्ड मिलता है।

दृष्टान्त— एक बड़े अभिमानी बङ्गाली महाशय थे जो योगियों को कुछ नहीं समझते थे, उन्होंने इनके सामने एक बार योगी महात्मा को गालियां दीं। फल यह हुआ कि ज्यों ही वह कमरे से बाहर निकलने को हुए कि द्वार की चौखट का ऊपरी हिस्सा उनकी खोपड़ी में बड़े ज़ोर से लगा कि नीचे गिरे और बहुत देर तक उनके मस्तक से रक्त बहता रहा। शिष्य ने जब गुरुजी को यह बात सुनाई तो उनके दयार्द्र-हृदय को बड़ा दुःख हुआ।

आत्मा शरीर के किसी व्यवहार के बिना भी दूसरों की सहायता कर सकता है, क्योंकि सब से घनी कर्ममय अवस्था तो अत्यन्त घनीभूत ध्यान की अवस्था होती है। कई बार एक योगी महात्मा ने संकट-काल में अपरिचित रूप में आकर अपने शिष्यों की सहायता की, ऐसे स्थानों में जहां उनकी सहायता करने वाला और कोई न था। जब महात्मा जी से लोगों ने आकर अपनी दशा वर्णन की तब गुरुदेव ने भेद खोल दिया।

योगी में अपार कार्य क्षमता होती है। दूसरों की सहायता जैसे वह कर सकता है वैसी और कोई नहीं कर सकता। इस पृथ्वी पर किसी योगी का रहना ही सब के लिये परम शुभ है। परन्तु साधारण पुरुष इस रहस्य को नहीं जानते।

अहंकार ही इस संसार में सब बुराइयों की जड़ है। ऐसे निर्मानमोहाजितसङ्गदोष जो महात्मा हैं उनके लिए यह संसार कुछ है ही नहीं। योगी अध्यात्म जगत् में रहता है, इसलिए उस पर सुख-दुःखादिक द्वन्दों का कुछ प्रभाव नहीं होता। उसके लिए सोना और मिट्टी बराबर है। साधु और असाधु को वह सम-दृष्टि से देखता है। जो उसे चोट पहुंचाता है, उसे भी वह क्षमा करता है और सब का कल्याण करता है। (गी० ५/२५, २/८)

योगी समरथ होते हैं, इसलिए तुलसीदास जी ने भी कहा है 'समरथ को नहिं दोष गुसांईं'।

दृष्टान्त— एक बार एक समरथ महात्मा कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक चमार मिला, उससे उन्होंने कहा कुछ खाने को दो। वह भुनी हुई कुछ मछलियां ले आया। महात्मा जी उनको खा गये।

उनके शिष्य उनके पीछे थे। उन्होंने भी उसी चमार से और मछलियां लाने को कहा। उनके लिये भी भुनी मछलियां लाई गईं। शिष्य लोग खा-पी कर गुरू के साथ हुए। गुरु ने उन लोगों से पूछा, 'तुम लोगों ने कुछ खाया पिया' उन्होंने उत्तर दिया 'जिस चमार के यहाँ आपने भुनी मछलियां खाईं, उसी के यहां हम लोग भी वही खा आये। गुरु जी ने सब मछलियों को वमन द्वारा पेट से बाहर निकाला। वे जीवित होकर बाहर निकलीं। गुरु जी ने कहा 'खाने में हमारी बराबरी करने वाले! तुम लोग भी मछलियों को जिला कर बाहर निकालो। शिष्य नहीं निकाल सके। तब गुरु ने कहा 'मूर्खो! मेरी बराबरी करते हो? पर मेरी शक्ति की समानता नहीं कर सकते! अब से- मेरा कहा किया करो। मैं जो कुछ करता हूँ उसकी नक़ल मत किया करो।' तात्पर्य, अज्ञानी मनुष्य को अपना अधिकार जान कर गुरु की बराबरी में न रह कर गुरु की आज्ञा में और भगवान् के आश्रय रहना चाहिए।

सङ्कटकाल में ईश्वर के सिवा और कोई बचाने वाला नहीं है। जो लोग ईश्वर पर भरोसा रखते हैं और उसकी सेवा करते हैं, वे ऐसी कितनी ही बुराइयों से बचते हैं जिनमें फँस कर दुरात्मा अपना नाश कर लेते हैं, मैं अब सत्तर वर्ष का हुआ हूँ, मैंने संसार में जो कुछ देखा वह यही है। सद्गुरु और ईश्वर के अतिरिक्त संसार में अपना और कोई नहीं है।

इस योग का स्वल्प आचरण भी बन पड़े तो उससे महान्-से-महान् सङ्कट से भी मुक्ति मिल जाय। गीता में भी कहा है:—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'

यदि किसी प्रतिबन्ध के कारण, किसी को ब्रह्मज्ञान न हो और वह इस मार्ग पर श्रद्धा रखता हो तो वह ब्रह्मतत्त्व की उपासना ही किया करे। उससे भी उसे मुक्ति मिल ही जायगी। परोक्ष ज्ञान के रोकने वाली तो अश्रद्धा है और कुछ नहीं। तथा अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्ध केवल अविचार ही किया करता है। विचार करने पर भी यदि किसी को ब्रह्मात्मा का परिज्ञान न हो सके, तो उसे बारंबार विचार करते ही रहना चाहिये, उसे समझ लेना चाहिये कि अभी विचार में कोई कमी रह गई होगी। क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान के होते ही विचार अपने अपने आप रुक जायगा। विचार की समाप्ति अपरोक्ष ज्ञान का अचूक चिन्ह माना गया है। यदि मरण पर्यन्त विचार कर डालने पर भी किसी को आत्म लाभ न हो तो उसे उसके प्रतिबंधों का क्षय हो जाने पर जन्मांतर में आत्म लाभ हो ही जायगा।

फिर भी बार बार विचार करने पर भी जब तत्त्वज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिये कि भूत, भावी या वर्त्तमान् कोई सा प्रतिबंध होगा, जो कि ज्ञान को होने नहीं देता। इन तीनों में से कोई सा प्रतिबंध हो तो वेद पारंगत लोग भी मुक्त नहीं होते हैं।

वर्त्तमान प्रतिबन्ध चार प्राकर का होता है, [१] विषयासक्ति, [२] बुद्धि की मन्दता, [३] कुतर्क और [४] अपने विपरीत ज्ञान पर अड़ कर बैठ जाना कि 'यही ठीक है'। शम दमादि श्रवणमननादि उपायों

से (जो भी जिस जिस प्रतिबन्ध को हटाने में उपयुक्त है) उस उस प्रतिबंध के हट जाने पर अपना ब्रह्मभाव हाथ आ जाता है। जन्मान्तर दिलाने वाला जो आगामी प्रतिबंध होता है, जिसको प्रारब्ध शेष भी कहते हैं, यह तो भोग के बिना क्षीण नहीं हो पाता। यही कारण है कि उस आगामी प्रतिबंध की निवृत्ति का समय नियत नहीं किया जा सकता कि - इतने दिनों में आगामी—प्रतिबंध नष्ट हो जायगा। वह प्रतिबंध वामदेव का तो एक जन्म में ही क्षीण हो गया था। भरत को तो इसमें तीन जन्म धारण करने पड़े थे। गीता में तो यहां तक कहा है कि जो योग-भ्रष्ट हो जाते हैं—[जो तत्त्व साक्षात्पर्यंत विचार नहीं कर पाते। जिनका विचार बीच ही में छूट जाता है] उनके प्रतिबंध का क्षय होने में कभी २ बहुत जन्म लग जाते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि इस रुकावट के कारण उनका विचार निरर्थक नहीं हो जाता है। ज्योंही उनका प्रतिबंध हटता है त्यों ही उन्हे आत्म-ज्ञान हो जाता है।

जिस श्रद्धालु की बुद्धि अतिमन्द हो, जो अध्यात्मदर्शी गुरु हाथ न लगे, या अनुकूल देशकालादि न मिल सके, वह इतना ही करे कि दिन रात ब्रह्मोपासना (प्रणवाभ्यास) ही करता रहे। निर्गुण ब्रह्म की उपासना की रीति पहले कह आये हैं—वह यह है कि उसके ज्ञान को बार बार दोहराता रहे। एक बात इसमें ध्यान रखने योग्य है कि शाखाओं में निर्गुण ब्रह्म के जितने गुण आये हैं, उन सबका, उपसंहार इस उपासना में कर लेना चाहिये। उसमें 'आनन्द', 'चित्', 'पूर्ण' आदि जितने भी विधेय गुण हैं या अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ आदि जितने भी निषेध्य गुण हैं उन सभी का उपसंहार इसमें साधक को कर लेना चाहिये। ऐसा न हो कि किसी एक प्रकरण में जिन गुणों का वर्णन आया है केवल उन्हीं गुणों के आधार पर; इस उपासना को करने लगें। उपासना करते हुए यह भी कभी न भूलें कि आनन्द आदि विधेय और अस्थूलादि निषेध्य गुणों से एक मात्र अखण्ड आत्म-तत्त्व ही लक्षित होता है। इन सबसे जो तत्त्व लक्षित होता है ' वही तत्त्व मैं हूँ ' ऐसा ध्यान साधक को यथा-शक्ति आठों पहर रखना चाहिये।

बोध और उपासना

बोध तो वस्तु के अधीन होता है। इसके विपरीत उपासना उपासक के हाथ की बात होती है। बोध की उत्पत्ति विचार से होती है—साधक न भी चाहे तो भी वस्तु के सामने आने पर बोध होता ही है। उसे वह रोक नहीं सकता। वह बोध रूपी दिवाकर जब उदय होता है तब इस सब संसार की सत्यता को भस्म करके छोड़ता है। जब इतना हो चुकता है तब साधक कृतकृत्य हो जाता है। उसके अनन्तर उसे नित्य तृप्ति रहने लगती है। अब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। अब तो वह प्रारब्ध क्षय की बाट जोहने लगता है कि 'यह कब समाप्त होगा'।

ऐसा परम पद यदि किसी को पाना हो तो वह गुरु के उपदेश पर विश्वास करे। उस पर किसी प्रकार का भी संशय न करे और अपने उपास्य का निरन्तर ऐसा विचार करे कि—इस चिन्तन के बीच में अन्य किसी भी विषय का विचार तक न आने दे। चिन्ता करते करते अन्त में ऐसी अवस्था आजायगी कि साधक को स्वयं ही यह भाव होने लगेगा कि ओ हो! यह चित्यस्वरूप तो मैं ही हूं। यहां पहुँचते ही साधक का चिन्तन भी छूट जायेगा। फिर यह प्रयत्न करना चाहिये कि किसी तरह मरण पर्यन्त यही धारणा

बराबर बनी रहे। क्योंकि उपासना पुरुष के अधीन होती है। कोई चाहे उसे करे, चाहे न करे, या जैसे जी में आये कुछ का कुछ किया करे। इस कारण उपासकों से यह बात विशेषरूप से कह देना चाहते हैं कि वे इस उपासना को सदा ही किया करें। स्वप्न में भी वेद पाठ करने वाले वेदपाठी का या स्वप्न में जप करने वाले जपिता का जो हाल हो जाता है वही हाल उस उपासक का होना चाहिये।

उपासना की ऐसी प्रगाढ़ता तो तभी होगी जब कि विरोधी विचारों को छोड़ कर निरन्तर भावना की जायगी और वासना का आवेश बढ़ने लगेगा। इस उपासना में अवस्था की अधिकता जब हो जायगी तब विषय व्यसनी की भाँति अपने प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए भी, अपना लोक व्यवहार करते हुए भी, यह उपासना बराबर चल ही सकेगी। जिस ज्ञानी ने यह समझ लिया है कि—यह प्रपंच तो मायामय है, आत्मा तो केवल चैतन्यरूप है, फिर बताओ, उसे व्यवहार में क्या उलझन होगी? व्यवहार को यह जरूरत तो है ही नहीं—यह प्रपंच सच्चा ही हो और न व्यवहार को यही आवश्यक हो कि आत्मा जड़ ही हो, तब उसका काम चले, किन्तु इस बिचारे (व्यवहार) को तो केवल साधनों की ही जरूरत होती है।

देखो व्यवहार के साधन जो मन, वाणी, शरीर अथवा ये बाह्य पदार्थ हैं, इनको तत्त्व ज्ञानी तोड़ फोड़ कर तो फैंक ही नहीं देता है। फिर बताओ कि इसका व्यवहार कैसे रुकेगा? यह मत कह बैठना कि तत्व ज्ञानी भी चित्त का उपमर्दन तो करता ही है। अरे भाई! यह बात तो तुम 'ध्याता' ही कह रहे हो। तत्वज्ञानी पुरुष कभी भी चित्त का उपमर्दन नहीं कर सकता। भला क्या कहीं घटत्व को जानने वाला पुरुष भी बुद्धि का मर्दन किंवा उसे एकाग्र करता देखा जाता है? यदि केवल एक बार ज्ञान हो जाने पर फिर घट जैसा जड़ पदार्थ भी सदा ही भासने लगता है तो फिर स्वयं प्रकाश यह आत्मा एक बार ज्ञान हो जाने पर सदा ही क्यों न भासने लगेगा? घटादि का निश्चय जब एक बार हो जाता है तब उसके पश्चात् घट ज्ञान नष्ट तो हो जाता है परन्तु फिर जब कभी घट की आवश्यकता होती है, तभी उस घट को ले जा सकते हैं। उस घट में चित्त को स्थिर किये रखने की आवश्यकता ही नहीं होती।

ठीक यही बात आत्मा के विषय में भी समझ रखनी चाहिए—उसमें भी चित्त को स्थिर किये रखना आवश्यक नहीं है। जब किसी को एक बार आत्मा के स्वरूप का निश्चय हो जाता है तब फिर उसे जब कभी अपेक्षा होती है, तभी वह ज्ञानी उसके विषय में कथन, मनन या ध्यान आदि कर ही सकता है। यदि कोई ज्ञानी भी उपासक की भांति लौकिक व्यवहार को भूल जाता है तो इस भूल को ज्ञान से हुआ मत समझो। यह विस्मरण तो उसे ध्यान से हुआ है। परन्तु यह ध्यान तो उस ज्ञानी ने अपनी इच्छा से चुन कर लिया है। शास्त्र उससे ध्यान करने को नहीं कहता। मुक्ति तो उसे केवल ज्ञान से ही मिल चुकी है। यह बात वेदान्तों में अनेक जगह कही गई है।

यदि तत्वज्ञानी लोग ध्यान न करें तो वे भले ही बाह्य व्यापारों में लगे रहें। उनकी प्रवृत्ति में किसी प्रकार की कोई रुकावट नहीं है। तत्वज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति मान कर अति आसक्ति से डरना ठीक नहीं है। क्योंकि तत्वज्ञानी के प्रति तो 'प्रसङ्ग' किंवा 'विधि शास्त्र' ही नहीं होता। जिस अविचारी को देह के वर्ण, आश्रम, आयु और अवस्थाओं में अभिमान बना हुआ है, ये सब विधि और निषेध शास्त्र केवल उसी के लिये बने हैं। ज्ञानी का निश्चय तो इसके विपरीत होता है। उसे तो यह ज्ञान हो जाता है

कि—जैसे माया ने देह बनाया है, इसी तरह वर्णाश्रमादि भी उसी ने घड़ दिये हैं। बोधरूप आत्मा के तो कोई वर्ण या आश्रम आदि नहीं होते। जिसने अपने जी से सम्पूर्ण आसक्तियों को निकाल कर फेंक दिया है, वह तो मुक्त ही है, ऐसा महापुरुष समाधि करे या न करे, काम करे या बैठा रहे, यह सब उसकी (प्रारब्धानुकूल) इच्छा पर ही निर्भर होता है। इस विषय में शास्त्र की यह हिम्मत नहीं है उससे कुछ करने को कह सके।

जो पुरुष कामवासनाओं के बन्धन से छूट चुका हो, और कर्म को छोड़ बैठने या करते जाने से, फिर उसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता। समाधि और जप से भी उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। "आत्मा असङ्ग है उससे भिन्न सभी कुछ इन्द्रजाल के समान माथिक है" ऐसा निर्णय जिन्होंने कर लिया हो, उनके मन में वासना कैसे ठहरेगी? जब कि तत्त्वज्ञानी की वासना ही नहीं रहती तब उसे हटाने के लिए ध्यान भी क्यों करेगा? या जब ज्ञानी को प्रसंग ही नहीं रह गया है तो अति-प्रसंग कहां से आयेगा? जिस बालक के लिए विधि नहीं होती उसको अति प्रसंग भी नहीं देखते हैं। जैसे विधि का अभाव बालक को है वैसा ही तत्वज्ञानी को भी है। कुछ न जानने के कारण बालक के लिए विधि नहीं होती, सब कुछ जानने कारण ज्ञानी के लिए भी विधि नहीं रहती। सम्पूर्ण विधिओं का बोझ अल्प के कंधों पर ही लदा रहता है।

एक प्रासंगिक बात यह भी जानने योग्य है कि किसी किसी ज्ञानी में शाप और बरदान का सामर्थ्य भी पाया जाता है सो यह सामर्थ्य किसी तप से उनमें आता है। ज्ञान को उत्पन्न करने वाले तप से यह सामर्थ्य उत्पन्न होता ही नहीं है, ऐसी अवस्था में जिन ज्ञानियों में शाप या वरदान का सामर्थ्य नहीं है, उनके ज्ञानी होने की शंका नहीं चाहिये। प्राकृत बात तो यही कह रहे थे कि लौकिक व्यवहार जिन साधनों से चला करता है, तत्त्वज्ञान के हो जाने पर साधनों का उपमर्द (नाश) नहीं हो जाता, इस कारण ज्ञानी लोग राज्यादि जैसे बड़े से बड़े आरम्भ भी भले प्रकार निभा ही सकते हैं। उनको मिथ्या समझने से यदि किसी की इच्छा ही उधर को न चलती हो तो वह भले ही ध्यान करने लगे और व्यवहार को बन्द कर दे। यह सब ज्ञानी के प्रारब्ध पर ही निर्भर होता है। इसके विपरीत उपासक को चाहिये कि वह सदा ही ध्यान करता रहे। इसे तो वह कभी न भूलना चाहिये कि उस (उपासक) की ब्रह्मरूपता तो केवल ध्यान के प्रताप से ही होती है। जो वस्तु ध्यान से बनी है वह तो ध्यान के हटते ही नष्ट हो जायगी। परन्तु सच्ची ब्रह्मता तो जब उसका ध्यान नहीं भी रहता, तब भी बनी ही रहती है। इसलिये ज्ञान तो उसका बोधक ही हो सकता है, जनक नहीं हो सकता। ज्ञापक के न रहने से सत्य वस्तु छिप नहीं जाती। वैसे तो उपासक भी ब्रह्म ही है, परन्तु अभी तक उसको इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है, इस कारण उसकी ब्रह्मरूपता उसके उपयोग में नहीं आती। जैसे भूखों मरने से भीख मांगना भला होता है। इसी प्रकार और सब कामों से उपासना का दर्जा ऊंचा है।

और सुनिये, पामर लोगों के व्यवहार से तो यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, उन यज्ञादिकों से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और सगुणोपासना से भी निर्गुणोपासना ऊंची मानी गई है। इस ऊँच नीच भाव का निर्णयक आधार पूछो तो यों है कि ज्यों ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है, त्यों त्यों श्रेष्ठता भी बढ़ने लगती है। निर्गुणोपासना के सर्व श्रेष्ठ होने का कारण तो यही है कि यह उपासना पीछे जाकर

धीरे धीरे ब्रह्मज्ञान के रूप में बदल जाती है। फल मिलने के समय जैसे सकल भ्रम प्रमा ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार मुक्ति का समय आने पर यह 'निर्गुणोपासना' ही 'ब्रह्मविद्या' बन जाती है।

निर्गुणोपासना में यही विशेषता है कि वह ज्ञान के सब से अधिक समीप होती है। वह निर्गुणोपासना जब पकने लगती है तब पहिले तो इसी की 'सविकल्प' समाधि हो जाती है। फिर पीछे से उस सविकल्प समाधि की ही 'निर्विकल्प समाधि' बन जाती है। यह निरोध नामक समाधि निर्गुणोपासक को अनायास ही प्राप्त हो जाती है। जब किसी को निरोध का महालाभ हो जाता है, तब उस पुरुष के अन्दर असंग वस्तु शेष रह जाती है। उस असंग वस्तु की भावना यदि कोई बार बार करे तो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के याद आते ही बिजली की चमक की सदृश तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है।

उस समय की ज्ञानोन्मुख अवस्था की सराहना किन शब्दों में करें—उस समय ही निर्विकारता, असंगता, नित्यता स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता आदि का सच्चा भाव अभ्यासी की बुद्धि में ठीक तौर पर जंचने लगता है। इनका यथार्थ मर्म तभी अभ्यासी की समझ में आता है। अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाली इस निर्गुणोपासना को छोड़ कर जो लोग तीर्थों को टकराते हैं और जपादि में व्यस्त पड़े रहते हैं वे तो ऐसे हैं जैसे हाथ पर रखे गुड़ को फेंक कर कोई हाथ को ही चाटने लगता हो। विचारक के सामने तो उपासक का दर्जा भी बहुत नीचा होता है, यह बात कभी न भूलना चाहिए। यही कारण है कि—विचार न करने की अवस्था में ही 'योग' किंवा 'उपासना' का विधान किया गया है। जिन पुरुषों के चित्त अत्यन्त व्याकुल रहते हैं उनको विचार से तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता, उनके लिये तो 'योग' ही मुख्य उपाय है। क्योंकि योग करने से उनका धीदर्प नष्ट हो जाता है। जिन महापुरुषों की बुद्धि कभी व्याकुल नहीं होती, जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण में छिपा रहता है, उनके लिये तो 'सांख्य' नाम का विचार ही मुख्य उपाय है। क्योंकि उन्हें उसी से झटपट सिद्धि मिलती है। गीता में भी कहा है कि सांख्य मार्गी जिस परम पद् को पाते हैं 'योगमार्गी' भी वहां पहुँच जाते हैं। जिस ज्ञानी को यह अज्ञात है कि परिणाम में जाकर 'सांख्य' और योग एक ही हैं, जिसे इनमें भेद नहीं दीखता उसी को शास्त्र का मर्मज्ञ समझ लो।

सारांश यह है कि यदि कोई ध्यान से देहाभिमान को खो दे और अपने अद्वितीय आत्मा केद र्शन कर ले, तो यह अनादि काल से मरने वाला प्राणी ही अमर हो जाय और इसी जन्म में सच्चिदानन्द ब्रह्म के दर्शन करके छोड़े।

सांख्य योगौ प्रथक् वाला प्रवदन्ति न पंडिताः।
एक मध्यस्थितः सम्यगुभयोर्विन्दिते फलम् ॥ (गी० अ० २ श्लो०)

अर्थः—अल्प बुद्धि वाले ज्ञान (सांख्य) और योग अलग अलग कहते हैं परन्तु पंडित ऐसा नहीं जानते क्योंकि एक का भी पूरा श्रद्धा से अनुष्ठान करने वालों को दोनों का फल (मोक्ष) मिलता हैं।

प्रश्न—इनमें पहले किसका साधन करना चाहिये ?

उत्तर—ऊपर कहे अनुसार जिसकी जैसी रुचि हो वैसा करे। अथवा दोनों को साथ ही करे परन्तु योगदर्शन के व्यास भाष्य में लिखा है कि:—

स्वाध्यायाद योग एवासीत् योगात् स्वाध्याय माम्नेत।
स्वाध्याय योग संपत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थः—स्वाध्याय अर्थात् वेदादि शास्त्रों के अभ्यास से योग का ज्ञान होता है और योगाभ्यास से उसी ज्ञान का विशेष अनुभव होता है तब स्वाध्याय और योग की एकता से परमात्मा का साक्षात् प्रगट होता है अर्थात् अध्यात्म शास्त्र के श्रवण और मनन से जो परोक्ष ज्ञान होता है वही निदिध्यासन नाम योग से साक्षात् किया जाता है जैसे किसी ने काशी से आकर कहा कि काशी इस प्रकार की नगरी है और वहां जाने का यह मार्ग है तो सुनने वाले को काशी और उसके मार्ग का परोक्ष ज्ञान तो हुआ परन्तु जब वह चलने का विचार करेगा तो मनन और निश्चय करके चलेगा सो निदिध्यासन निदान वहां पहुँच करके जानेगा कि काशी सुनी थी सो प्रत्यक्ष देखता हूँ। इस साक्षात् ज्ञान ही का नाम योग है।

राजयोग से स्वरूप का ज्ञान होता है तथा अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। योगी के विषय में श्री भर्तृहरिजी ने क्या ही अच्छा कहा है:—

धैर्य्यस्य पिताः क्षमा च जननी शान्तिश्चिरंगेहिनी।
सत्यपुत्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः ॥
शय्या भूमि दिशोपवसनं ज्ञानामृतं भोजनं।
यस्य संत कुटुम्बिनोवर्तितं कस्मात् भयं योगिनाम् ॥

अर्थः—धैर्य्य जिसका पिता, क्षमा जिसकी माता, सदा रहने वाली शान्ति जिसकी बहिन और मनोनिग्रह जिसका भ्राता है, भूमि जिसकी शय्या और दिशा जिसके वस्त्र और ज्ञान जिसका भोजन है, ऐसे कुटुम्ब में वर्तने वाले योगी को किसका भय हो सकता है।

❀ इतिः राजयोग सारांश समाप्तम् ❀

अन्तिम कहना यह है कि संसार में यदि सबसे अद्भुत कोई वस्तु है तो हमारा यह मानव-देह है। इसी शरीर के द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् के अनेक चमत्कारों का हमें पता लगा है, इसलिए हम इसे आश्चर्यों का आश्चर्य कहते हैं। निर्वाणसुख, निर्विकल्प समाधि अथवा भगवत्प्राप्ति भी जिन्हें हुई है, वह इसी से हुई है, चाहे हम इनके दोष और दुष्परिणामों की कितनी ही निन्दा और गर्हणा करें। योगी लोग इस शरीर को एक सात मंजिले मकान की उपमा देते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और

सहस्रार— ये इसकी सात मंजिलें हैं और अनन्त शिराओं के जालरूप तार इसमें लगे हैं। इन शिराओं अथवा नाड़ियों में इड़ा और पिंगला ये दो नाड़ियां मुख्य हैं। ये मेरुदण्ड के उभय पार्श्व में बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक भीतर से पोली नली और है जो सुषुम्ना कहलाती है और मेरुदण्ड के भीतर होकर गयी है। इस नली के नीचे के सिरे से लगा हुआ मूलाधार चक्र है जहाँ कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है और ऊपर के सिरे से सटा हुआ सहस्रार-चक्र अर्थात् सहस्र दल का कमल है जो ज्ञान का आयतन है। प्राणशक्ति निरन्तर इड़ा और पिंगला नाड़ियों में से होकर प्रवाहित होती रहती है। योगी यदि किसी साधन विशेष से प्राण को सुषुम्ना नाड़ी के द्वारों में से निकाल ले जाय, जो मुंदा हुआ है, तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति, जो सदा सोयी रहती है, जाग्रत होकर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ जीवन के ध्येय की ओर अग्रसर होती है और सहस्रार में जाकर परमात्मा से मिल जाती है। इस स्थिति में साधक को बहुत-से विचित्र आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। इस तुरीयावस्थारूप परम ध्येय को प्राप्त करने के उद्देश्य से योगी प्राणायाम का अभ्यास करता है, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप पूरक अर्थात् श्वास को बाहर निकालना है, और क्रमशः श्वांस नाड़ी और विचार के प्रवाह को संयत कर अंत में सूक्ष्म प्राण को आधीन करने में समर्थ होता है और इस वश में किए हुये प्राण की सहायता से वह जगत् के मायारूप भ्रमजल को छिन्न-भिन्न कर देता है। परन्तु प्राणायाम के इस विशिष्ट साधन को प्रारम्भ करने के पूर्व साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह योग के चार मुख्य अङ्गों की पूर्ति कर ले। वे हैं—ब्रह्मचर्य, किसी सिद्ध योगी के तत्त्वावधान में रहना, अनुकूल सङ्ग और हित भोजन, जिसमें अधिक नमकीन, अधिक मीठी अथवा कोई खट्टी, कड़वी और मादक वस्तु न हो। इन प्रारम्भिक नियमों का पालन न होने पर साधक को भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है, जो उन्माद, हृद्रोग, श्वास और इसी प्रकार के अन्य दुष्ट रोगों के रूप में प्रकट हो सकती है। प्राणायाम का विधिपूर्वक अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है, किन्तु प्राणायाम के अतिरिक्त बहुत से अन्य उपाय भी हैं जो मनुष्य की सुप्त शक्ति को जगाने में निसर्गतः समर्थ हैं। दार्शनिकों की सूक्ष्म सकङ्कन शक्ति से, भगवत्प्रेम से और सिद्ध महापुरुषों की दया से भी वह कार्य हो सकता है।

निर्वाण अथवा समाधि के मार्ग में अनेकों विघ्न भी हैं। इनमें सब से बड़ा विघ्न सिद्धियों की प्राप्ति है, जिनका लुभावना और चित्ताकर्षकरूप साधक को चौंधिया देता है। सच्चे साधक को चाहिये कि वह इन सिद्धिओं के जादू में न आवे और अपने आध्यात्मिक जीवन की नौका को निर्वाण के सुखद एवं निरापद तीर पर ही लेजा कर विश्राम ले।

शरीर और मन के बीच सनातन काल से परस्पर सम्बन्ध चला आया है। शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है और मन का शरीर पर। इसीलिए मन को सूक्ष्म शरीर और शरीर को स्थूल मन कहते हैं। हम लोगों का यह प्रतिदिन का अनुभव है कि पूजा, जप, ध्यान आदि के अभ्यास से जब मन ऊपर को उठता है तब शरीर में भी स्फूर्ति, उत्साह और बल आ जाता है और रोगी होने पर भी वह अपने को रोगमुक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार जब शरीर स्वस्थ और नीरोग होता है उस समय मन भी शान्त और समाहित हो जाता है। यह बात साधारण लोगों में देखी जाती है। कुछ इने-गिने लोग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर अनेक प्रकार की व्याधियों से जर्जरित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओं के होने पर भी वे प्रकृतिस्थ

और शान्त बने रहते हैं और उनका चित्त प्रशान्त महासागर की भांति सदा अक्षुब्ध एवं स्थिर रहता है। परन्तु साधारणतया यह देखने में आता है कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है। स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तो चिकित्सिकों, वैज्ञानिकों और शरीरमर्मज्ञों के अनेक परस्पर विरोधी मत हैं। इन लोगों का जो कुछ भी मत हो, योगियों की धारणा तो यह है कि शरीर में प्राणों का विभाग उचित अनुपात में न होने के कारण रोग होते हैं। इसीलिये व्याधिनाश के लिए योगी लोग शरीर के जिस भाग में प्राण आवश्यकता से अधिक होता है वहां से निकाल कर जहां उसकी कमी होती है वहां ले जाते हैं। ध्यान से हमें प्राण का अनुपात ठीक रखने में सहायता मिलती है और इससे साधक का शरीर निरंतर स्वस्थ रहता है। परन्तु जब साधक को योग की सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह शीत, उष्ण आदि द्वन्दों के आक्रमण को तथा प्राण शक्ति के व्यय से होने वाली क्षीणता को सहन करने में समर्थ हो जाता है। योगशास्त्र कहता है:—

न तस्य मृत्युर्न जरा न व्याधिः
प्राप्तं हि योगाग्निमयं शरीरम्।

अर्थात् जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त कर लिया वह जरा, मृत्यु और व्याधि के पाश से मुक्त हो जाता है।

पद्मासन, सर्वाङ्गासन आदि कई क्रिया और आसन ऐसे हैं जिनकी सहायता से अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वच्छ और निर्मल रहता है। हठयोगी नित्य प्रातःकाल तक ऐसी क्रिया करते हैं जिसे नेति-धौति कहते हैं। इस क्रिया के द्वारा योगी एक लम्बे कपड़े के टुकड़े तथा गगरों-पानी की सहायता से पेट तथा मुख्य-मुख्य नाड़ियों का शोधन करते हैं। देशी वैद्यों का भी कहना है कि इस अद्भुत क्रिया से अनेक रोग, जो देखने में असाध्य प्रतीत होते थे, अच्छे होते देखे गये हैं। यह महान् शोक की बात है कि हठ-योगियों की शरीर के संसर्ग में रहते-रहते शरीर में दृढ़ आसक्ति हो जाती है और वे लोग जीवन के लक्ष्य की ओर तनिक भी आगे नहीं बढ़ पाते। यद्यपि शरीर की इन नैसर्गिक व्याधियों से वह मुक्त रहें परन्तु स्मरण रहे, शरीर की स्वस्थता ही हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य न बन जाय। पञ्च महाभूतों के संघात से शरीर की रचना हुई है, अतःकालात्पय से उन भूतों का वियुक्त होना अवश्यम्भावी है। अतः केवल शरीर की ही संभाल में तल्लीन हो जाना कदापि अभीष्ट नहीं है। मनुष्य को साथ ही साथ आध्यात्मिक साधना भी करते रहना चाहिये और निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म जगत् से ऊपर उठने तथा निर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधि की अवस्था में आरुढ़ होने की चेष्टा करते रहना चाहिए, जहाँ पहुँच कर मनुष्य इस भौतिक जगत् से नहीं लौटता और जहाँ शाश्वत शान्ति तथा सुख का साम्राज्य रहता है। यही जीवन का परम ध्येय है।

योग की (कण्ठस्थ करने योग्य) कुछ आवश्यक बातें ।

त्रियोग - कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान योग ।

योग चतुष्टय—हठ-योग, लय-योग, मंत्र-योग और राज-योग ।

द्विविध निष्ठा—सांख्य योग और कर्मयोग ।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा ।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम । जगत्, जीव और भगवान् ।

वेदान्त के चार महा-वाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म ।

सप्त ज्ञान भूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा ।

साधन चतुष्टय—नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व ।

त्रिविध नरक द्वार—काम, क्रोध, लोभ ।

त्रिविध ज्ञान द्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रिय संयम ।

भक्ति के चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयं मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं व्रज ।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा ।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन ।

पञ्च भाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर ।

अष्ट सात्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर भङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, और प्रलाप ।

प्रेम की तीन अवस्थाएँ – पूर्व राग, मिलन, और वियोग ।

त्रिविध विरह—भूत, वर्त्तमान और भावी ।

विरह की दश दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ।

चतु-र्विध भाव—भावोदय, भाव-संधि, भावप्राबल्य और भाव शान्ति ।

द्विविध महाभाव—रूढ़ और अधिरूढ़ ।

द्विविध अधिरूढ़ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन) ।

आसन—चौरासी या १०८ । प्रधान दो पद्मासन और स्वस्तिकासन

मुद्रा और बंध – अनेक हैं परन्तु पच्चीस मुख्य हैं । उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध, जालंधरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेद, विपरीत करणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी,

	माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी, और पाँच धारणायें पार्थिव, अम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।
षट् कर्म—	धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई कोई त्राटक समेत सात मानते हैं।
प्राणायाम—	पूरक, कुम्भक और रेचक।
चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम	—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकार के केवल प्राणायाम।
अष्टविध प्राणायाम—	सूर्यभेदन, उज्जई, सीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोम को जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।
दैनिक श्वांस—	२१, ६००।
योग साधन में तीन प्रधान नाड़ियां	— इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना।
दश वायु—	प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय।
योग के षट् चक्र —	मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध औरआज्ञा।
योग के सप्त चक्र—	उपर्युक्त छः और सातवां सहस्रार।
योग के नौ चक्र—	उपर्युक्त सात और आठवां तालु में ललना चक्र और नवां ब्रह्मरन्ध्र में गुरुचक्र।
षोड्स आधार—	१. दाहिने पैर का अंगूठा, २ गुल्फ, ३. गुदा, ४. लिङ्ग, ५. नाभि, ६. हृदय, ७. कण्ठकूप, ८. तालमूल, ९. जिह्वामूल, १०. दन्तमूल, ११. नासिकाग्र, १२. भ्रूमध्य, १३. नेत्रमण्डल, १४. ललाट, १५. मस्तक और १६. सहस्रार।
तीन ग्रन्थि—	ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि और रुद्र-ग्रन्थि।
त्रिमार्ग—	पिपीलिका-मार्ग, दादुर-मार्ग और विहङ्गम मार्ग।
त्रिशक्ति—	ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठ में), अधः शक्ति (गुदा में) और मध्य शक्ति (नाभि में)।
पञ्चभूत—	पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।
पञ्चाकाश—	आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।
वर्ण—	पचास ('अ' से 'ह' तक)।
त्रिविध मन्त्र—	पुं, स्त्री, क्लीव।
चतुर्विध वाणी—	परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी।
योग के आठ अङ्ग—	यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।
यम —	अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

संयम— धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रिया-योग— तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान— भेद भाव से और अभेद भाव से।

द्विविध समाधि— सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात् या निर्बीज।

असम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगत।

असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद—भव प्रत्यय, उपाय प्रत्यय।

पञ्चवृत्ति— मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्च-क्लेश— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्त साधन— शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योग के विघ्न— व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फल में सन्देह, चित्त की अस्थिरता, दुःख, मन की मलिनता, देह की चंचलता, अनियमित श्वांस प्रश्वांस; अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्य का नाश, बनावटी गुरु का शिष्यत्व; सच्चे गुरु का अपमान, भगवान् में अविश्वास, सिद्धिओं की चाह, अल्प-सिद्धि में पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना।

अष्ट महा सिद्धि— अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और पत्र कामा वसायित्व। कुछ लोग इनमें गरिमा जोड़ कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक— मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ— जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया। त्रिविध ब्रह्मनिर्देश—ॐ तत्सत्।

त्रिदेव— ईश्वर, जीव, प्रकृति। ब्रह्मा, विष्णु, महेश। त्रिगुण—सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण

त्रिकाल— भूत, वर्तमान और भविष्यत्। त्रिवेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद।

अक्षर— अ + ऊ + म् = ओ३म्। प्रणव। अवस्था—आदि, मध्य और अन्त।

त्रिनेत्र— दक्षिण, वाम, और दिव्य। त्रिऋण—देव, पितृ और ऋषिऋण।

त्रिताप— आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि दैविक। त्रिदृश्य—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन।

त्रिपुट— ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय। त्रिगति—भव, विभव और पराभव।

त्रिध्यान— ध्याता, ध्येय और ध्यान। त्रिज्ञान—अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान।

त्रिदोष— वात, पित्त और कफ़। त्रिबन्ध—श्वास, अश्वास, उच्छ्वास। रेचक, पूरक, कुम्भक।

त्रिरन्ध्र— इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना।

त्रयीकरण— कर्त्ता, करण और क्रिया।

त्र्येषणा— लोकेषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा। अग्नि—दाक्षिण्य, गार्हपत्य और अवहनीय।

त्रिविध कर्मफल— इष्ट, अनिष्ट, और इष्टानिष्ट। त्रिविध कर्मद्वार—मनसा, वाचा और कर्मणा।

त्रिविध ज्ञान— सात्त्विक, राजस और तामस।

प्रस्थानत्रयी— उपनिषद्, वेदान्त और गीता।

चौदह भुवन— भूः, भुवः, स्वः, जन, तप, सत्य, ब्रह्म, तल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, रसातल, और पाताल।

(३) ज्ञान-यज्ञ

ज्ञान का अर्थ है जानना। जानना किस बात का? जो जानने योग्य (ज्ञेय) है उसका जानना और उसकी प्राप्ति में लग जाना ही ज्ञान है। जानने योग्य कौन है? परमात्मा के अतिरिक्त जानने योग्य परम तत्व और क्या हो सकता है? शास्त्रों में ज्ञान का रूप इस तरह बतलाया गया है:—

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति एकत्व प्रतीति र्ज्ञानम्।

अर्थात् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। ऐसा अद्वैत बोध ज्ञान है। यह जानना और अनुभव करना ज्ञान कहलाता है कि मैं देह (जड़ पदार्थ) नहीं हूँ—मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ—मुझमें और निर्विकार तथा आनन्द स्वरूप परमात्मा में कोई भेद नहीं।

ज्ञान के साधन दो प्रकार के हैं, अर्थात् (१) अन्तरङ्ग और (२) बहिरङ्ग।

(१) अन्तरङ्ग— अन्तरङ्ग साधन आठ हैं—यथा १. विवेक, २. वैराग्य, ३. शमादि षट् सम्पत्ति, ४. मुमुक्षुता, ५. श्रवण, ६. मनन, ७. निदिध्यासन, ८. तत्वमसि महावाक्य का साक्षात्कार करना।

(२) बहिरङ्ग— जिन साधनों का फल प्रत्यक्ष फल ज्ञान न हो किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि हो वे बहिरङ्ग साधन हैं। यज्ञ, सगुणोपासना, आदि कर्म बहिरङ्ग साधन हैं। इन से चित्त की शुद्धि होती है जो ज्ञान की प्राप्ति में उपयोगी हैं।

महाभारत में कहा है कि:—

ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषमलायते।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् जो मनुष्य मनरूपी तीर्थ को ज्ञानरूपी कुंड में ध्यानरूपी जल से स्नान करके राग द्वेषरूपी मैल को धो डालता है; वही परमगति को प्राप्त होता है।

अन्तःकरण में तीन दोष हैं यथा, (१) मल (पाप), (२) विक्षेप (चंचलता) और (३) स्वस्वरूप का आवरण (अज्ञान) निष्काम शुभ कर्म से मल दूर होता है, निष्काम उपासना से विक्षेप दूर होता है और ज्ञान से आवरण दूर होता है।

अधिकारी—मल, विक्षेप रहित अज्ञान ही केवल शेष हो और चार साधन (विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता) युक्त हो।

किसी श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरु के मुख से तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ सुने और आत्मानात्मा का विचार करे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर से भिन्न एवं पंचकोष अतीत तथा अवस्थाओं का साक्षी (जानने वाला) और सत् चित्त आनन्द स्वरूप आत्मा मैं हूं, ऐसा बारम्बार विचार करे।

चार साधन—(१) विवेक,—आत्मा अविनाशी और अचल है। जगत् आत्मा से विपरीत स्वभाव वाला है। यह विनाशी और चल है, ऐसे ज्ञान का नाम विवेक है, अर्थात् यह नाम, रूप और क्रिया वाला जगत् क्षण क्षण में (परिणाम पाकर) नाश पाने के स्वभाव वाला है इसकी जिसमें स्थिति है वह ब्रह्म तत्त्व अपरिणामी तथा नित्य है ऐसी दृढ़-बुद्धि का नाम विवेक है।

(२) वैराग्य—सब भोगों का त्याग करने की इच्छा का ही नाम वैराग्य है अर्थात् इस लोक के स्त्री, धन और कीर्ति आदि विषयों से लेकर परलोक के अप्सरा आदि दिव्य विषयों में आसक्ति अभाव वैराग्य कहलाता है। मतलब आत्मा से भिन्न विषयों में विरसता "वैराग्य" कहा जाता है, उससे अपने ब्रह्म का भाव स्मरण हो आता है।

(३) षट् सम्पत्ति—शम, दम, श्रद्धा, उपराम, तितिक्षा और समाधान ये छः सम्पत्तिओं के नाम हैं।

(१) शम— मन की एकाग्रता अर्थात् मन को विहित विषयों में लगाये रखने का और निषिद्ध विषयों में न जाने देने का बल शम कहलाता है।

(२) दम—इन्द्रिय निग्रह—अर्थात् इन्द्रियों को उनके विहित विषयों में प्रवृत्त रखना और निषिद्ध विषयों में न जाने देने की सामर्थ्य दम कहलाता है।

(३) श्रद्धा—वेद और गुरु वाक्य सत्य अर्थात् सद्गुरु और सत् शास्त्र के वचन में प्रामाणिकता का निश्चय श्रद्धा कहलाता है।

(४) उपराम—स्त्री आदिक धन सम्पत्ति का त्याग अर्थात् त्यागे हुए विषय में स्वाभाविक उदासीनता रहे यह उपरति वा उपराम कहलाता है।

(५) तितिक्षा—भूख, प्यास, इत्यादिक को वश में करना अर्थात् प्रारब्धवश प्राप्त हुआ हानि, लाभ, मान, अपमान, भूख, प्यास और शीत उष्ण को सहन करने वाला बल तितिक्षा कहलाता है।

(६) समाधान—चित्त एकाग्र करना अर्थात् चित्त की चंचलता को दूर करके उसको सत्व-

गुण की वृद्धि करने वाले किसी एक विषय में एकाग्र रखना समाधान कहलाता है।

(४) मुमुक्षुता—ब्रह्म की प्राप्ति और बंधन की निवृत्ति ये मोक्ष का स्वरूप है और मोक्ष की इच्छा जिसका नाम मुमुक्षुता—अर्थात् आध्यात्मिक आदि तीन प्रकार के दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की नित्य प्राप्ति मोक्ष कहलाती है। ऐसे मोक्ष को पाने की तीव्र इच्छा मुमुक्षुता कहलाती है।

ये चारों साधन जिन्हें साधन चतुष्टय कहते हैं अर्थात् विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता श्रवण-साधन में उपयोगी हैं। कारण कि विवेक आदि के बिना बहिर्मुख मनुष्य श्रवण नहीं कर सकता, पिछले अर्थात् तीन साधन यानि श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान में उपयोगी हैं कारण कि इनके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। अभेद ज्ञान के लिये उपयोगी केवल महावाक्य का अर्थ साधन है।

(५) श्रवण-ऊपर कहे चार साधनों को प्राप्त कर लेने के बाद श्रोत्रिय कहिए सत् शास्त्र और शिष्यों के चित्त को समाधान देने की युक्तिओं को जानने वाला और ब्रह्म निष्ठ कहिए अपने चित्त की ब्रह्म में स्थिति रखने वाले दयालु सद्गुरु की वह जिज्ञासु अनन्य भाव से शरण लेकर, उनके पास मन और कानों को सावधान रख कर श्रद्धा और प्रीति के साथ वेदान्त शास्त्र को सुने यह श्रवण कहलाता है, अर्थात् षड्लिङ्ग द्वारा वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय करना श्रवण है।

षड्लिङ्ग ये हैं:—यथा (१) उपक्रम और उपसंहार—प्रकरण के आरम्भ और समाप्ति की रूपता।

(२) अभ्यास— अद्वैत रूप का बारम्बार पठन करना।

(३) अपूर्वता—अलौकिकता।

(६) मनन—इस प्रकार श्रवण करने से उस जिज्ञासु की समझ में आ जाता है कि—सब शास्त्र अद्वितीय ब्रह्म का निरुपण करने वाले हैं अर्थात् कोई शास्त्र साक्षात् ब्रह्म का निरूपण करते हैं। इस प्रकार सारग्राही बुद्धि से शास्त्रों के वर्णन किये हुए विषय को जान लेने से शास्त्र न जाने अद्वैत का वर्णन करते हैं या द्वैत का वर्णन करते हैं ऐसा संदेह उसके चित्त में नहीं रहता है। श्रवण किये हुए विषय का एकान्त में बैठ कर बुद्धिपूर्वक विचार करना और उस विषय को मन में दृढ़ करना मनन कहलाता है। संक्षेप में जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने वाली तथा जीव और ब्रह्म का भेद का खंडन करने वाली युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन ही मनन है।

(७) निदिध्यासन—इस प्रकार मनन करने से उस जिज्ञासु के आत्मा के मोक्ष के और मोक्ष के साधन के स्वरूप में के सब संदेह दूर हो जाते हैं। व्यावहारिक रीति से भेद की

प्रतीति होने पर भी पारमार्थिक रीति से वह भेद मिथ्या है और अभेद ही सत्य है, ऐसा उसको दृढ़ निश्चय हो जाता है। सूर्य थाली की बराबर दीखता है, आकाश नीले रङ्ग-वाला दीखता है और पटबीजना अग्नि सा दीखता है तो भी शास्त्र जानने वाले सूर्य को पृथ्वी से बहुत बड़ा, आकाश को रङ्गशून्य और पटबीजने को अग्नि के दाहक धर्म से रहित जानते हैं तथा भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत होता है तो भी शास्त्र के ज्ञाता स्वप्न में दीखने वाले भेद की समान जाग्रत में दीखने वाले भेद को भ्रान्तिरूप मानकर अभेद को ही सत्य मानते हैं। इस प्रकार श्रवण से प्रमाणगत संशय-शास्त्र द्वैत का प्रतिपादन करना होगा या अद्वैत का प्रतिपादन करना होगा, शंका और मनन से प्रमेयगत संशय-ब्रह्मविद्या के स्वरूप की शंका दूर होती है। मनन के परिपाक से जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाने पर जिज्ञासु को निदिध्यासन करना चाहिए। अद्वितीय ब्रह्म के आकार में वृत्तियों के प्रवाह को चलाना और उससे भिन्न पदार्थ के आकार में वृत्ति को न होने देना निदिध्यासन कहलाता है। संक्षेप में अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म के) अनुकूल वृत्ति का प्रवाह और देहादि वस्तुएँ जो इसके प्रतिकूल हैं उनका विचार सर्वथा छोड़ दिया जावे यही निदिध्यासन है।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं है, बल्कि बुद्धि के दोष (असंभावना और विपरीतिभावना) के नाशक हैं। निदिध्यासन परिपाक होने पर आत्मरूप से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार होकर देह में अहं भाव की बुद्धि और जाग्रत में सत्यपने की बुद्धि जो विपरीत ज्ञान कहलाती है, वह नष्ट हो जाती है। फिर उसकी तीनों शरीरों में, वा पाँच कोषों में (पृष्ठ देखो) आत्म बुद्धि और नामरूप वाले जगत् में पहले की समान सत्यपने की बुद्धि नहीं रहती है, किन्तु आत्मस्वरूप से अभिन्न ब्रह्म में अहं भाव की और उस ब्रह्म में ही सत्यता की बुद्धि रहती है।

जिज्ञासु अन्य पदार्थों में से अहं भाव की बुद्धि को त्याग कर पहले अन्नमय कोष में अहं बुद्धि करता है, फिर अन्नमय कोश में से अहंपने की बुद्धि को त्याग कर प्राणमय कोश में अहं भाव की बुद्धि करता है, फिर उसमें से अहंपने की बुद्धि को त्याग कर मनोमय कोश अहंपने की बुद्धि करता है, फिर उस कोष में से अहंपने की बुद्धि को त्याग कर विज्ञानमय कोश में अहंपने की बुद्धि को स्थिर करता है फिर विज्ञानमय कोश में से अहंपने की बुद्धि को त्याग कर आनन्दमय कोष में अहं भाव की बुद्धि को स्थापन करता है, उसके बाद उस आनन्दमय कोश में से अहं भाव की आत्मा की बुद्धि को अच्छे प्रकार से त्याग कर उसके अधिष्ठानरूप अन्तरात्मा में अहं बुद्धि को स्थिर करता है और उसका ब्रह्म से अभेद है ऐसा निश्चय करता है। इस प्रकार जीवित दशा में ही तथा इस दीखने वाले प्रपञ्च के विद्यमान होते हुए ही जो इस सब का बाध करके आत्म-स्वरूप में विश्राम पाता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

निदिध्यासन के परिपाक की अवस्था को समाधि कहते हैं। अतः समाधि निदिध्यासन के अन्तर्गत है। निदिध्यासन सविकल्प समाधि है। इसके परिपाक की अवस्था निर्विकल्प समाधि है। जो त्रिपुटी के भाव से रहित है। इसके दो भेद हैं— बाह्य और आन्तरिक। जो मूर्ति आदि बाह्य अबलम्बनों के चिन्तन से हो वह बाह्य-निर्विकल्प समाधि है। जो सर्वान्तर अद्वैत ब्रह्म के चिन्तन से हो वह आन्तरिक निर्विकल्प समाधि है।

आन्तरिक समाधि के भी दो भेद हैं— (१) साक्षात्काररूप और (२) असाक्षात्काररूप। जो गुरुमुख द्वारा अर्थ सहित महावाक्य के श्रवण, मननादिरूप विचार के साथ अद्वैत ब्रह्म का चिन्तन करके ब्रह्म और आत्मा की एकता के अपरोक्ष भाव-सहित हो वह साक्षात्काररूप आन्तरिक निर्विकल्प समाधि है। जो विचारपूर्वक अद्वैतब्रह्म का चिन्तन करके भी एकता के परोक्षभाव सहित हो वह असाक्षात्काररूप आन्तरिक निर्विकल्प समाधि है।

(८) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का साक्षात्कार करना—वेद में दो प्रकार के वाक्य हैं। जिस वाक्य से परोक्षज्ञान अर्थात् (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) अर्थ— ब्रह्म सत्यज्ञान-स्वरूप अनन्त है, इसका नाम अवान्तर वाक्य है, और जिससे अपरोक्ष ज्ञान हो अर्थात् 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि, 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' ये महावाक्य हैं। चारों वेदों में एक एक महावाक्य से सम्पूर्ण ज्ञान का उपदेश किया है, जैसे कि—

(१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—यह ऋग्वेद के ऐतरय उपनिषद् का महावाक्य है प्रज्ञान यानी चैतन्य ये ही ही ब्रह्म है। यह इस वाक्य का अर्थ है। ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है। यह अनुभव वाक्य है।

(२) अहं ब्रह्मास्मि'—यह यजुर्वेद के ब्रह्मदारण्यक उपनिषद् का महावाक्य है। अहं यानी हूँ [जीव], ब्रह्म और परमात्मा का और अस्मिपद जीव ब्रह्म की एकता का बोधक है यानी मैं ब्रह्म हूं। यह इसका अर्थ होता है। यह अनुभव वाक्य है।

(३) 'तत्त्वमसि'—यह सामवेद का छांदोग्य उपनिषद् का महावाक्य है। यह विषय सविस्तार समझाया है। [तू वह ब्रह्म है] इसका अर्थ है—'वह तू है'। यह उपदेश वाक्य है।

(४) 'अयमात्मा ब्रह्म'—यह अथर्ववेद का माण्डूक्य उपनिषद् का महावाक्य है। अयं यानी हूँ [यह] आत्मा यही ब्रह्म है। यह इस महावाक्य का अर्थ है। इस प्रकार चारों वेदों ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। यह अनुभव वाक्य है।

शब्द की वृत्ति।

शब्द का जो अर्थ से सम्बन्ध होता है तिसको शब्द की वृत्ति कहते हैं। सो वृत्ति दो प्रकार की है। एक शक्ति वृत्ति, दूसरी लक्षण वृत्ति। शब्द का जो अपने अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध है तिसको शब्द की शक्ति

वृत्ति कहते हैं और शब्द का जो अपने वाच्यार्थ द्वारा अपेक्षित अर्थ से सम्बन्ध है तिसको लक्षणा वृत्ति कहते हैं। तिस लक्षणा वृत्ति करके जो अर्थ जाना जाय तिसको लक्षार्थ कहते हैं और जहां पर शक्ति वृत्ति करके यथार्थ अर्थ की प्राप्ति नहीं हो, तहां लक्षणा वृत्ति आश्रय कही जाती है, सो लक्षणा वृत्ति तीन प्रकार की है:— यथा [१] जहत, [२] अजहत और [३] भाग त्याग।

(१) जहति लक्षणा—

जहां वाक्यार्थ सम्पूर्ण त्याग कर वाच्य अर्थ सम्बन्धी की प्रतीत हो, वहां जहति लक्षणा होती है। जैसे किसी ने कहा 'गंगा में ग्राम है'। यहां गंगा-पद का वाच्य अर्थ छोड़ कर तट का अर्थ लिया गया है; क्योंकि गंगा नदी के प्रवाह में ग्राम में स्थिति असंभव है।

(२) अजहति-लक्षणा—

जहां वाच्य अर्थ-सहित वाच्य अर्थ के सम्बन्धी का ज्ञान हो, वहां अजहति लक्षणा होती है, जैसे लाल दौड़ता है यहां लाल का अर्थ है लाल घोड़ा। इस प्रकार 'लाल' शब्द में अपना वाच्यार्थ भी रहा और उसके सम्बन्धी घोड़े का अर्थ भी आगया।

(३) भाग-त्याग-लक्षणा—

जहां शब्दों के वाच्य अर्थ के मध्य में एक भाग का त्याग हो और एक भाग का ग्रहण, वहां भाग-त्याम लक्षणा होती है, इसे जहति-अजहति-लक्षणा भी कहते हैं। उदाहरण—पहले देखे पदार्थ को अन्यदेश में देख कर किसी ने कहा-'वह यह है'। अतीतकाल में और अन्यदेश में स्थित पदार्थ 'वह' है और वर्त्तमान काल तथा इस देश में स्थित पदार्थ 'यह' है। इद दोनों पदार्थों में काल और देश का विरोध है। इसलिये इन दोनों वस्तुओं के विरोध को निकाल कर केवल पदार्थ की एकता ही समझना चाहिये। भाग-त्याग लक्षणा से देश काल का विरोध दूर कर अर्थ यही लिया गया वह यह है।

भाग-त्याग लक्षणा से तत्त्वमसि-महावाक्य का अर्थ—'तत्' शब्द का वाच्य अर्थ ईश्वर-चेतन है, जिसके ये धर्म हैं:—सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, विभु, ईश, स्वतन्त्र, परोक्ष, मायी, बन्ध-मोक्ष रहित।

'त्वम्' शब्द का वाच्यार्थ जीव-चेतन है जिसके धर्म ये हैं—अल्प-शक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अनीश, परतंत्र (कर्म के अधीन) प्रत्यक्ष, अविद्या मोहित, बंध-मोक्ष वाला है।

इन दोनों के वाच्य अर्थों में एकता का विरोध है। जो धर्म ईश्वर के हैं, उनसे विपरीत धर्म जीव के हैं। ऐसी दशा में इन दोनों की एकता कैसे हो सकती है? भाग-त्याग लक्षण से इन दोनों के विरोधी धर्मों को त्यागकर केवल शुद्ध असंग चेतन को ही देखो जो एक है। चेतन दोनों में एक है और उसके अतिरिक्त जो धर्म प्रत्येक में है वे विरोधी हैं। जिन्हे भाग-त्याग-लक्षणा से छोड़ दिया है। इसलिये चेतन की दृष्टि से जीव और ब्रह्म, दोनों एक हैं। इसी प्रकार शेष तीनों वाक्यों का अर्थ भी भाग-त्याग-लक्षणा से लगाओ।

महावाक्य का प्रत्यक्ष ज्ञान—

यह नियम नहीं है, कि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा ही हो। सुख दुःख का ज्ञान इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता तो भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। विषय में वृत्ति का सम्बन्ध होकर विषयाकार वृत्ति जहां हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अथवा विषय चेतन का वृति चेतन से अभेद होना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह अभेद कहीं इन्द्रिय के द्वारा होता है, कहीं शब्द के द्वारा और कहीं इन्द्रियादि रूप बाह्य निमित्त से उपजी हुई वृत्ति के द्वारा शरीर के बिना ही, भीतर होता है। क्रमशः उदाहरण ये हैं:—

इन्द्रिय के द्वारा घटादि का ज्ञान—

'दशम् तू है,' इस शब्द से दशम् का ज्ञान और सुख-दुःखादि का ज्ञान।

सबमें पिछले उदाहरण में साक्षि-भाष्य ज्ञान है। पहले उदाहरण का विषय साक्षि-भाष्य नहीं है। जो वृत्ति इन्द्रियादि बाह्य साधन से हो उसका विषय साक्षि भाष्य नहीं है। जैसे घटादि का ज्ञान। और जो वृत्ति बाह्य-साधन के बिना हो उसका विषय साक्षि-भाष्य है। जैसे सुख-दुःख का का ज्ञान।

ब्रह्म भी साक्षि-भाष्य नहीं है; क्योंकि अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति गुरु के द्वारा वेद वचन से महावाक्य के शब्द से), जिसका सम्बन्ध बाह्य-साधन श्रोत्र से है, उत्पन्न होती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति का सम्बन्ध ब्रह्म विषय से है और विषय में वृत्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान है। अतः ब्रह्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष बात को अपरोक्ष ज्ञान और साक्षात्कार भी कहते हैं।

याद रहे कि महज्जनों का संग मुक्ति का हेतु है, कामियों का संग नरक का हेतु है। ऐसे ऐसे साधन करके युक्त जीव अपरोक्ष ज्ञान द्वारा निश्चय मुक्त हो जाता है।

परोक्ष—अपरोक्ष ज्ञान

दश आदमी नदी उतरे, पार जाकर गिनने लगे कि, कोई हम में से डूबा तो नहीं ? जिसने संख्या की थी उसने अपने को न गिना फिर यह निश्चय कर लिया कि हम दश थे एक डूब गया और आपको भूल कर रोने लगा। उस समय कोई और पुरुष वहां आगया उसने पूछा कि "तुम क्यों रोते हो ?" कहा कि, हम दश पार उतरे थे अब नौ हैं, एक नदी में डूब गया। उसने जो अपने मन में गिना तो दश प्रत्यक्ष हैं, उसने कहा तुम शोक मत करो दशवां है, यह वाक्य सुनकर उसको निश्चय हुआ कि, दशवां डूबा नहीं, कहीं इसने देखा है; अपने आपको दशवां निश्चय नहीं किया इसको तो परोक्ष ज्ञान कहते हैं। फिर उसने कहा कि तू मेरे सन्मुख गिनती कर। तब फिर उसने वैसे ही आप से अलग नौ को गिना। आपको न गिना। उसने कहा दशवां तू है तब उसने जाना कि निस्संदेह दसवां मैं हूँ। इसको अपरोक्षज्ञान कहते हैं। ऐसे ही जिसने गुरु शास्त्र से सुन कर यह निश्चय कर रक्खा है कि, कोई ब्रह्म है, आपको निश्चय नहीं किया कि, मैं ब्रह्म हूँ, इसको परोक्षज्ञान कहते हैं। यह परोक्षज्ञान गुरू शास्त्र पूर्वक जिसको है सो ज्ञान बुद्धिपूर्वक उसके किये हुए समस्त पापों को अग्निवत् भस्म कर देता है। जब यह निश्चय हुआ कि, मैं ही ब्रह्म हूँ इसको

अपरोक्षज्ञान कहते हैं, यह अपरोक्षज्ञान गुरू शास्त्र पूर्वक जिसको है; सो ज्ञान मूलाज्ञानसहित समस्त संसार को दूर कर देता है। अर्थात् पुनः उसका जन्म नहीं होता, वह निरतिशयानन्द को प्राप्त होता है।

जिसे ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है वह जीवन्मुक्त है। प्रत्येक परस्थिति में एकसा रहता है। विषयों के लिये उसमें तनिक भी चाह नहीं होती। उसका मन द्वन्दों से विकृत नहीं होता और सदा शान्त रहता है। उसका मन हर्ष और शोक से मुक्त होता है। वह न तो सुख से उमङ्ग में आता है और न दुःख और शोक से व्यथित होता है, वह अशुभ वासनाओं से मुक्त होता है। उसका मन सांसारिक विषयों से ऊपर उठा रहता है। वह जीव और ईश्वर को अभेद दृष्टि से देखता है। कारण, परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है, उसके सब संशय दूर हो जाते हैं, उसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। यही अर्थ निम्नलिखित श्लोक का भी है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक० २२८)❀

जिसके द्वारा प्रत्येक प्राणी व्यवहार करते हैं और जो पृथक् स्थिति का हेतु है उसे हृदय कहते हैं। जड़ माया और चेतन परब्रह्म अज्ञान दोनों की एकता जो हृदय में है उसे हृदय ग्रन्थि कहते हैं। जड़ और चेतन विरुद्ध स्वभाव वाले होने से एकता को प्राप्त नहीं हो सकते, किन्तु अज्ञान ने एकता करके जीव भाव बना डाला है। अज्ञान में यह सामर्थ्य है कि जो अशक्य है उसको शक्य करके दिखलादे, अज्ञान युक्त ऐसी गड़बड़ी का नाम ग्रन्थि है। हृदय ग्रन्थि अज्ञान का कार्य है, इसी से हृदय की अज्ञान ग्रन्थि कहो अथवा जड़ चैतन्य की ग्रन्थि कहो। इस ग्रन्थि से अनेक प्रकार के सुख दुःख जीव भोगता रहता है, ग्रन्थि ही बन्धन स्वरूप है। ग्रन्थि अज्ञान-भूल से है इसी से भूल निकल जाने से ग्रन्थि नहीं रहती, भूल अपने स्व-स्वरूप में की गई है। प्रत्येक का अपना स्वरूप परब्रह्म है यही परावर है। ब्रह्मा जहां अवर निष्ठ है। ऐसा स्वरूप परावर अथवा कार्यब्रह्म और कारण ब्रह्म परावर है, उस परब्रह्म को जब देख लेते हैं अपना स्वरूप है ऐसा दृढ़ता से जान जाते हैं तब अज्ञान निवृत्त हो जाता है—भूल नहीं रहती भूल निकल जाने से भूल से बनी हुई जो हृदय ग्रन्थि थी वह भी टूट जाती है। अनेक प्रकार के संशय अज्ञान दशा में हुआ करते थे, जैसे, मैं कौन हूँ, संसार क्या है, परब्रह्म क्या है, सुख दुःख क्या है, कैसे होता है, किसको होता है, क्यों होता है, यह सब संशय निवृत्त हो जाते हैं,फिर संशय को रहने का स्थान ही नहीं रहता। जैसे सूर्य के प्रकाश में पदार्थ स्पष्ट प्रतीत होते हैं शंका नहीं रहती इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा सूर्य का प्रकाश होने से कोई भी शंका नहीं रहती। जन्म मरण और उनके बीच में अनेक प्रकार के अनेक योनियों में भोग कर्म से होते रहते हैं। जिस प्रकार का कर्म होता है, उसी के अनुसार जन्म

❀ अर्थ—जब कि उस परावर का दर्शन मिलता है अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अहंकार टूट जाता है, सब संशय मिट जाते हैं और कर्म नष्ट हो जाते हैं।

वह अमृत ब्रह्म ही आगे है, वही पीछे है। वही दांई ओर है वही बांई ओर है वही नीचे है। वही ऊपर है। यह सारा विश्व वही वरिष्ठ ब्रह्म ही तो है।

और भोग होता है और यह सब कर्म सूक्ष्म अज्ञान की हृदय-ग्रन्थि में टिके रहते हैं। जब ग्रन्थि टूट जाती है तब सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार सब कर्म नष्ट हो जाने से और परब्रह्म का बोध होने से परमपद की प्राप्ति होती है।

चूंकि यह श्लोक बड़े महत्त्व का है इसलिये इसकी व्याख्या विद्याभास्कर श्री पं० रामावतार शास्त्री वेदान्त-तीर्थ के शब्दों में इस प्रकार उद्धृत करते हैं:— "सम्पूर्ण रज्जु-सर्पों में तथा अंधकार में प्रतीत होने वाली सब जल धाराओं में जैसे रज्जु ही रज्जु व्याप्त रहती है इसी प्रकार देह से सकल नाम रूपात्मक पदार्थों में सच्चिदानन्दरूप जो परमात्मा व्याप्त हो रहा है उसी को 'पर' कहा जाता है, इसी प्रकार देह के अन्दर अहंकार आदि दृश्यों से भिन्न मैं, मैं कहाने वाला स्वरूप साक्षी नामक जो जीवात्मा है 'अवर' कहा जाता है। परन्तु यदि कोई अपनी महामहिमा के कारण 'पर' भी हो तो मुनि लोग उसे 'परावर' कहते हुए गद्गद् हो जाते हैं। स्वयं प्रकाश होने से मन और वाणी के अगोचर उसी 'परावर' परमात्मा का जब कि "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् स्युष्टे सत्या इहाशिषः।" ऋग्वेद— हे अग्ने! मैं तू हो जाऊं या तू मैं हो जाऊं तब ही (कहीं जाकर) तेरे आशीर्वाद सफल हों, इस प्रकार अथवा "त्वं वा अहमस्मि भगवोदेवते, अहं वा त्वमसि" हे देवते जो तू पर है वही मैं अवर हूँ वही तू पर है" इस प्रकार व्यतिहार के हाथ पर रक्खे हुए आमले की तरह साक्षात् दर्शन मिल जाता है, तब उस साक्षात्कारी अधिकारी की वह हृदय की ग्रन्थि— जिसके कारण चैतन्यरूप साक्षी और जड़रूप अहंकार का परस्पर तादात्म्य सा हो गया था, जिसको अनिर्वचनीय माया की आवरण शक्ति ने उत्पन्न किया था, स्वयमेव खुल जाती है। उस ग्रन्थि के खुलते ही यह ब्रह्म मेरा ही आत्मा है या नहीं, ब्रह्म होने पर भी उसके शुद्ध स्वरूप का मैं ने साक्षात्कार किया या नहीं, साक्षात् कर लेने पर भी मुझे जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं, जीवन्मुक्ति हो जाने पर भी वर्तमान देहपात के अनन्तर मुझे विदेहमुक्ति मिलेगी या नहीं, विदेह मुक्ति मिलेने पर भी कालान्तर में मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं, इत्यादि कुछ भी सन्देह शेष नहीं रह जाता। संशय नाश का बहाना मिलते ही उस ज्ञानी के कोटि सहस्र जन्मों में पुण्य अपुण्य या मिश्रित सम्पूर्ण अनारब्ध कर्म, परावर दर्शनरूपी अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से भस्मसात् हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म ही भोगने को शेष रहते हैं। ज्ञानी का प्रारब्ध शेष रह जाता है यह बात अज्ञानी दृष्टि के आधार से कही है, गंभीर विचार करने पर तो शरीराभिमान से रहित इस अधिकारी को जब प्रत्येक बाह्य पदार्थ में भी समाधि होने लगती है, तब प्रारब्ध कर्मों का भोग भी उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रहता। लौकिक दृष्टि के प्रारब्ध सुख दुःख भी तो उसकी समाधि भूमि ही के अंग बन जाते हैं। उस अनुपम अनन्त तथा अपरिच्छिन्न अवस्था का वर्णन सान्त तथा परिच्छिन्न शब्दों जैसे क्षुद्र साधनों से पूर्ण सफलता के साथ हो ही नहीं सकता। इसमें कहने का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि फिर उस ज्ञानी के आरब्ध और अनारब्ध सम्पूर्ण कर्म ही क्षीण या हतवीर्य हो जाते हैं। वह तो ज्ञान होते ही मुक्त हो जाता। अनेक श्रुतियों से इसी बात का अनुमोदन किया गया है "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मुनरभव सूर्यश्च" "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तरति शोकमात्मवित्" "अभयं वै जनक प्राप्नोसि" "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तमेव विद्वान मृत इह भवति" इसी बात को जान कर ऋषिवामदेव इस निश्चय पर पहुंचा था कि मैं ही मनु हुआ था और मैं ही सूर्य हूँ। ब्रह्म को जाने तो ब्रह्म ही हो जाय, ब्रह्मज्ञानी पुरुष "पर" को प्राप्त कर लेता है। आत्मज्ञानी पुरुष

शोक नदी को पार कर चुकता है। हे जनक, इतना जान चुकने पर अब तुम अभय पद को प्राप्त हो गये हो। अरे! अमरभाव तो इतना ही है जितना हम ऊपर बता चुके हैं। केवल उसी को जानकर जन्म मरण के चक्कर को टाला जा सकता है। उसको इस रूप में पहचान चुकने वाला पुरुष इसी जन्म में अमर हो जाता है।

ऊपर कहा हुआ साक्षी ही जब उपाधि के वश में आ सा जाता है तो 'जीव' हो जाता है नहीं तो स्वभाव से तो वह 'ब्रह्म' है ही।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थः— (तत् और त्वं इन दोनों पदार्थों का शोध करते करते) जब देहाभिमान गल जाता है तब परमात्मा का ज्ञान हो चुकता है तो मुनि का मन जहाँ जहाँ जाता है उसे वहीं वहीं समाधियां होने लगती है।

हृदय ग्रन्थि के ऊपर बहुत कुछ कहा चुका है अब इस पर एक दृष्टान्त सुनियेः—

॥ दृष्टान्त ॥

शान्तिपुर नगर का राजकुमार जीवनसिंह योग्य अवस्था का हुआ तब एक दिन आखेट खेलने को जंगल में चला गया। एक मृग निशाना चूक जाने से भागा, राजकुमार उसके पीछे पड़ा, मृग कभी दिखलाई दे कभी अदृश्य हो जाय ऐसे बहुत दूर निकल गया। जंगल बहुत वृक्षों से घना था और काँटे वाले वृक्ष भी बहुत थे, सायंकाल हो गया, तब विचार करने लगा कि मैं और घोड़ा दोनों भूखे हैं, यहां टिकने का स्थान भी नहीं, रात्रि कैसे कटैगी? इतने में एक विकराल सिंह ने राजकुमार की ओर दौड़ कर घोड़े पर चोट की। राजकुमार एक वृक्ष की शाखा पकड़ कर पेड़ पर चढ़ गया, घोड़ा मर गया, उसे खेंचकर शेर ले गया। राजकुमार बहुत भयभीत था, शेर का शब्द सुनाई दे रहा था, धैर्य धारण कर पेड़ से नीचे उतर कर चारों ओर देखने लगा तो उत्तर की तरफ थोड़ी दूर पर दीपक जलता दीखा, उसी तरफ आने लगा। पैर में काँटे लगे, पैर में पत्थर की ठोकरें लगी अंधेरे में ठीक दीखता भी नहीं था, बहुत कष्ट पाते हुए दीपक के निकट आ पहुँचा। चन्द्र का उदय होने से प्रकाश होने लगा था, इससे विदित हुआ कि दीपक एक मकान में जल रहा है ऐसा जानकर मकान के पास पहुँचा। मकान के द्वार पर एक दासी खड़ी हुई थी, राजकुमार ने नम्रता से उससे कहा "मैं मार्ग भूल गया हूँ, मैं आज की रात्रि आपके यहां निवास करना चाहता हूँ।" दासी बोली "आप यहां ठहरिये मैं अपनी स्वामिनी से पूछ कर उत्तर दूंगी" ऐसा कह वह भीतर गई राजकुमार बाहर खड़ा रहा। थोड़ी देर में राजकुमार को अपने साथ भीतर लिवा लाई। वहां एक उच्च आसन के ऊपर एक देवांगना सदृश्य सुन्दर स्त्री बैठी थी। (राजकुमार का समाचार सुन कर उसे स्नान कराके) भोजन करा कर अपनी स्वामिनी के पास ले आई, राजकुमार को थोड़ी दूर पर एक आसन पर बैठा कर सुन्दरी बोली "रात्रि अधिक होने आई है आप थके हुए भी हैं, इस दासी के साथ जाइये आराम करने का स्थान यह दिखला देगी।" दासी के साथ राजकुमार चला। पास के एक कमरे में एक पलंग बिछा

हुआ था उस पर सोने के लिए दासी ने कहा। राजकुमार पलंग पर पड़ा रहा परन्तु जब से उसने सुन्दरी को देखा था तब से उसका चित्त सुन्दरी में लगा था, स्नान और भोजन भी उसने बेहोश के समान की स्थिति में ही किया था और अब भी चित्त सुन्दरी में लगा हुआ था। थका हुआ होने से पलंग पर पड़ा था, परन्तु नींद आती नहीं थी। सुन्दरी पर मोहित हुआ चित्त शान्त नहीं होता था।

पलंग पर पड़ा हुआ राजकुमार विचार कर रहा है कि 'आहाहा! कैसा सौन्दर्य है! अवश्य यह कोई देवी या राज कन्या है। जैसी सुन्दर है वैसी ही सरल स्वभाव मृदु भाषिणी भी है। धन्य है ईश्वर तेरी लीला को! मैंने आज तक ऐसी सुन्दर स्त्री नहीं देखी। ईश्वर ने ही उसका दर्शन कराया है, वह ही मेरे को उसकी प्राप्ति भी करा देगा। ऐसे अनेक विचारों के अन्त में अर्ध-रात्रि के समय कामान्ध होकर अपने पलंग से उठ कर पास के कमरे में सोई हुई सुन्दरी के पलंग पर पहुँच गया। वह जाग्रत हो गई। तुरन्त पलंग के पास से एक बूटी निकाल कर राजकुमार को सुंघा दी। बूटी सूंघते ही उन्मत्त के समान चिल्लाता हुआ महल से बाहर निकल गया। उसने पूर्व की सब स्मृति को खो दी, जंगल में भागता २ आगे चला गया। सुबह का समय होते ही दो झोंपड़ी देखने में आई, वहां ठहरा। झोंपड़ी भंगियों की थी वहां भंगी रहते थे, राजकुमार को जाति का कुछ भेद नहीं था, दुपहर में भंगियों ने कुछ रोटी के टुकड़े दिये वे खाकर राजकुमार वहां ही पड़ा रहा। दो दिन के बाद भंगी उससे काम लेने लगे, राजकुमार भंगी का काम करता था और टुकड़ा खाता था। पांच दिन के बाद एक भंगी की लड़की से विवाह कर लिया और मैं भंगी हूँ ऐसा मान कर दिन व्यतीत करने लगा।

कभी २ राजकुमार को शंका होती थी कि सब भंगी लोग काले हैं, मैं ऐसा काला नहीं हूँ। ऐसा क्यों? सब अधर्म करने के स्वभाव वाले हैं मैं ऐसा स्वभाव वाला नहीं हूं क्या मैं भंगी नहीं हूँ या हूँ? ना, मैं भंगी ही हूँ भंगियों में रहता हूँ भंगन ही मेरी स्त्री है, भंगी का काम करता हूँ। क्या मैं इस प्रकार के बीच काम करने को जन्मा हूँ क्या मेरे दुःखों की निवृत्ति भी हो सकती है? मैं भंगी का काम करना नहीं चाहता, ग्लानि होती है। हाय! तब भी करना ही पड़ता है-आदि शंकाएँ हुआ करती थीं और भोग भोगते हुए अपने को दुःखी मानता था, अनेक प्रकार के कर्म का बंधन होता था।

एक दिन वहां से संत जा रहे थे, उनने भंगी के भेष में राजकुमार को देख कर तुरन्त जान लिया कि यह राजकुमार है। उसे पास बुला कर पूछा तू कौन है? राजकुमार ने कहा मैं भंगी हूँ, भंगी का काम करता हूँ और इस झोंपड़ी में रहता हूँ। संत ने कहा हे मूर्ख! तू भंगी नहीं है, अपने को भंगी क्यों मानता है? राजकुमार बोला मैं राजा नहीं, मैं राजा होता तो मेरा राज्य होता, मुझे बहकाते हो मैं भंगी ही हूँ। संत ने कहा -मैं सच कहता हूं। ऐसा कह कर झोली में से एक बूटी निकाल कर राजकुमार को सुंघादी। राजकुमार को पूर्व की सब स्मृत्ति हो आई। तब बोला—सच मैं राजा ही था अब मुझे पूर्व स्मरण हो गया। मैं आखेट खेलने गया था, जंगल में एक स्थान पर रात्रि में टिका था वहां की सुन्दरी को देख कर कामांध होकर उसके पास गया था। उसने मुझे एक बूंटी सुंघादी, तब से मैं अपना पूर्व का वृत्तान्त, जाति आदि सब भूला था। आपने कृपा करके मुझे होश कराया है, ईश्वर आप का कल्याण करे आप कहिये अब मुझे क्या करना चाहिये।

सन्तः—तू भंगी के भेष को छोड़ दे, अपने राज्य को चल, मैं भी शान्तिपुर को चल रहा हूँ मेरे साथ चल।

सन्त ने राजकुमार को स्नान कराया, सब पुराने वस्त्र उतरवा कर अपने पास से वस्त्र देकर उसको अपने साथ लेकर दोनों शान्तिपुर में पहुंचे। राजकुमार के पिता ने राजकुमार की बहुत खोज की थी न मिलने से निराश हो रहा था, अब बीमार पड़ा था। सन्त राजकुमार को राजा के पास लेगये। राजा प्रसन्न हुआ। थोड़े दिन में राजा मृत्यु को प्राप्त हुआ और राजकुमार ही शान्तिपुर का राजा बना।

ऊपर के दृष्टान्त से ज्ञान होते ही अज्ञान की निवृत्ति होकर परमपद को प्राप्त होना समझ में आता है। राजकुमार आत्मा है, आखेट की इच्छा हुई जंगल में भटकते हुए अविद्या के स्थान में पहुंचा, अविद्या रूप सुन्दरी पर (मोहित) हुआ तब उसने स्मृति भ्रंश नामक बूटी सुंघादी, सूंघते ही पूर्ण अविद्या के दबाव में आगया और वहां से चल कर भंगी बना। अविद्या में पड़ा हुआ जीव भी इसी प्रकार व्यवहार करता है, भंगी का काम करने लगा, अनेक प्रकार की शंकाएँ हुई। कर्म का भोग भोगना था और नया बनना था परन्तु गुरु की कृपा से जहां उसने पूर्व स्मृति से अपने स्वरूप को जाना कि स्मृति भ्रंश रूप अविद्या ग्रन्थि टूटी, उसी से शंकाएँ गईं और सब कर्म से निवृत्त होकर राजा बना। अज्ञान निवृत्त होते ही स्वरूप की प्राप्ति होती है।

ज्ञानी कर्मानुसार प्राप्त वस्तु में स्वस्थ चित्त वाला है, किये हुए और करने के योग्य कर्म में संतोषवान् है, सब में सम है और तृष्णा के अभाव से, नहीं किये हुए और किये हुए कर्म को नहीं स्मरण करता है। ज्ञानी का विक्षेप में न चित्त विक्षेपवान है और समाधि में न समाधिमान है, जड़ता में भी जड़ है और पण्डिताई में पण्डित नहीं है। ज्ञानी स्तुति से न प्रसन्न होता है, निन्दा से न कोप करता है, जीवन में न हर्षित होता है। (अ० गी०)

ज्ञान से प्रारब्ध क्षय होता है या नहीं ?

एक उपनिषद् में लिखा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

उस ब्रह्म के दर्शन होने पर हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और दर्शक के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। ऐसा छांदोग्य उपनिषद् का कथन है।

श्री मद्भगवद्गीता में भी यही बात कही है—

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। (४/३७)

इस विषय पर एक महाशय का कथन इस प्रकार है:—

' कर्म यह एक प्रकार की शक्ति है। जब कोई कर्म किया जाता है तो प्रकृति में शक्ति तरंगें उठती हैं और उनकी शान्ति तभी हो सकती है जब वे सब तरंगें लौट कर अपने उत्पत्ति स्थान में अर्थात् कर्म कर्त्ता के पास आकर अपनी शक्ति उसके ऊपर पुनः डाल दें। प्रकृति-शक्ति का क्षय कभी नहीं होता। केवल रूपान्तर होता है। यह प्रकृति का नियम है। अंगरेजी में उसे Law of Conservation of Energy कहते हैं और उसका कार्य प्रकृति के सब लोकों में या खण्डों में होता है। तो फिर शास्त्र का कथन क्या झूंठ हो जायगा ? नहीं।

यह बात सम्भव है कि एक का कर्म दूसरा अपने ऊपर लेकर भोग ले। ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी अवस्था में स्वार्थ त्यागी आत्म समर्पण करने वाले नये भोक्ता को वास्तविक कर्म कर्त्ता की अपेक्षा कर्म का प्रतिफल कम मात्रा में भोगना पड़ता है। सद्गुरु भी शिष्य का कुछ कर्म अपने ऊपर ले लेते हैं। जब साधक पूर्ण ज्ञानी हो जाता है तो उसे दीख पड़ता है कि कौन-कौन कर्म उसका अभी भोगने को शेष हैं। वह अपने ज्ञान द्वारा उन-उन जीवों को स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोक से जहां कहीं वे जीव हों ढूंढ निकालता है और उनका कल्याण कर अपने सञ्चित प्रारब्ध या क्रिय-माण कर्म का पलटा दे देता है और इस प्रकार उसके कर्म क्षय हो जाते हैं। यह विचार युक्ति और न्यायसङ्गत और प्रकृति नियमानुकूल ज्ञात होता है।

कोई-कोई ऐसा समझाते हैं कि अहंभाव का नाश हो जाने पर शरीरों को कर्म भुगतना पड़े पर अन्तः स्थित जीवात्मा को उसका भान नहीं होता, क्योंकि देहाभिमानी अहं भाव नाश हो चुका है। यह बात सत्य है पर इस अवस्था को प्रारब्ध का क्षय होना नहीं कहना चाहिये।

किसी-किसी का कहना है कि प्रारब्ध तो अवश्य ही भोगना पड़ता है पर सञ्चित कर्म और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। ऊपर लिखे विचार से तो सब कर्मों का क्षय होना सम्भव हो सकता है। हां यह भी सम्भव है कि कोई-कोई ऐसे कर्म हों जिसका निपटारा भोग कर ही विशेष सरल रीति से हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि प्रारब्ध कर्म से सम्बन्ध रखने वाले सब जीव इस साधक के सहवास में सदेह हैं और उनके सम्बन्ध से प्रारब्ध का क्षय शरीर के द्वारा ही सरलता से हो सकता है, जो जीव सहवास में नहीं है उनको शूक्ष्म शरीरों द्वारा दूसरे लोकों में या खण्डों में सहायता दी जाती है और कर्म ऋण इस प्रकार चुकाया जाता है।

(कल्याण से) (रा० ब० पाण्डया बैजनाथ, बी० ए०)

अब हमें यह देखना है कि प्रारब्ध क्या है ? इस विषय में परमहंस स्वामी योगानन्द जी महाराज (आलू वाले बाबा) आगरा ने अपने, 'वेदान्त दीपिका' नामक ग्रन्थ में अति ही रमणीक व्याख्या की है जो हम यहां उन्ही के शब्दों में ज्यों की त्यों उद्धृत करते हैं:—

प्रारब्ध।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं, संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अनेक जन्म कि किये हुए कर्मों

का फल देनेवाले सूक्ष्म संस्कार जो अपक्व होने से वर्तमान समय में भोग नहीं दे सकते उनको संचित कर्म कहते हैं। एक व्यापारी ने धंधा करके बहुत धन एकत्र किया है, उस विशेष धन को उपयोग में लाने की इस समय आवश्यकता नहीं है, तब वह व्यापारी धन को कोष में बन्द रखता है, उन धन को संचित कहते हैं, इसी प्रकार संचित कर्म हैं। संचित कर्म में से जो संस्कार पक्व होकर बाहर निकल कर आये हैं और वर्तमान में फल देना आरम्भ कर चुके हैं वे प्रारब्ध कर्म हैं, अथवा सूक्ष्म संचित में से जो पक्व होकर स्थूल शरीर के भोग का हेतु हुए हैं, वे प्रारब्ध कर्म हैं। व्यापारी ने कोष में से कुछ धन व्यय करने के लिये निकाल लिया है, यह प्रारब्ध है। प्रारब्ध स्थूल शरीर का भोग है, विशेष करके स्थूल शरीर के अन्त के साथ समाप्त हो जाता है।

तीसरी प्रकार के कर्म क्रियमाण हैं, उनको आगामी भी कहते हैं। प्रारब्ध कर्म के भोग करते समय जो नये मानसिक सूक्ष्म संस्कार उत्पन्न होते हैं उनको आगामी कहते हैं। संचित और आगामी अपक्व होने से सूक्ष्म हैं और प्रारब्ध पक्व होने से सूक्ष्म भोग वाला है। स्थूल के सम्बन्ध के साथ सुख दुःख का जो भान होता है वह भोग कहलाता है। भोग अन्तःकरण में होता है तो भी स्थूल सम्बन्ध होने के कारण भोग स्थूल कहा जाता है, वह भोग ही प्रारब्ध है। कर्म की विधि निषेध बताने वाले, उपासना की विधि निषेध दर्शाने वाले और ज्ञान के प्रकाशक ऐसे तीन प्रकार के शास्त्र वाक्य हैं। कर्म और उपासना में क्रिया का सम्बन्ध है। उपदेश भी उसी में है। उपदेश सूक्ष्म हैं। प्रारब्ध स्थूल होने से मानसिक सूक्ष्म उपदेश का बाधक नहीं है। इसलिये गुरू शास्त्र का उपदेश सार्थक है वह उपदेश क्रियमाण—आगामी के लिये है भोग के लिये नहीं है।

अज्ञानावस्था में मनुष्य प्रारब्ध और आगामी का भली प्रकार निर्णय नहीं कर सकता। प्रारब्ध का ज्ञान न होने से बिना जाने हुए कर्म के सहारे आलसी होकर पड़े रहने से लोग दुष्ट आगामी को उत्पन्न करते हैं। अनेक प्रकार के कर्मों के भाव की कल्पना करना ही आगामी को उत्पन्न करना है। आगामी प्रत्यक्ष हैं, प्रारब्ध भोग के प्रथम प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष ग्रहण करना मूर्खता है। "दैव, दैव आलसी पुकारे" जिसको दैव कहते हैं वह प्रारब्ध है। प्रारब्ध अनिवार्य है। स्वाभाविक रीति से सूक्ष्म से स्थूल रूप में प्रवाहित होने वाला कर्म प्रारब्ध है। सामान्यता से प्रारब्ध का भोग निर्लेपता से होने देना चाहिये उसमें विशेषता सम्मिलित करने से अथवा विरुद्धता से नया आगामी उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार नया दुष्ट आगामी उत्पन्न न हो और शुभ आगामी उत्पन्न हो इसलिये शास्त्र का उपदेश है।

श्री मद्भगवत्गीता में भगवान् को अर्जुन का प्रारब्ध विदित था। जब अर्जुन प्रारब्ध से विरुद्ध प्रकार के भाव को करने लगा तब भगवान् को उपदेश देने का अवसर मिला। अर्जुन को प्रारब्ध बताते हुए भगवान् कहते हैं, (गीता अध्याय १८ श्लोक ५९–६०) "तू अहंकार को प्राप्त होकर 'मैं नहीं लड़ूँगा' ऐसा मानता है, यह तेरा विचार व्यर्थ है क्योंकि तेरी प्रकृति—प्रारब्ध तुझ को युद्ध में प्रवृत्त करेगी, हे अर्जुन, अपने कर्मों के स्वभाव (प्रारब्ध) से बंधा हुआ तू अज्ञान से जो कर्म करना नहीं चाहता वह परवश होकर तुझे करना पड़ेगा।" प्रारब्ध के भोग की क्रिया में रोक न करना और उसमें अहंकृति आसक्ति न करना यह कर्म योग है, इसी का उपदेश अर्जुन को किया गया था। भोग स्थूल है, उपदेश सूक्ष्म है,

इसलिये प्रारब्ध भोगते हुए उसमें से शुभ आगामी उत्पन्न होने के लिये शास्त्र का उपदेश है। प्रारब्ध को हटाकर आगामी का उपदेश नहीं है। प्रारब्ध भोगते हुए मन किस भाव में रखना यह शास्त्र का उपदेश है। ऐसा उपदेश ग्रहण करने में अर्जुन परतंत्र न था, प्रारब्ध भोग में ही उसकी परतंत्रता थी। मनुष्य की परतंत्रता प्रारब्ध भोग में होती है, आगामी में नहीं।

यदि आगामी में भी परतंत्रता मानी जाय तो जन्म मरण संसार-संसार के चक्र का अभाव होना चाहिये, ऐसा होने से गुरु शास्त्र व्यर्थ हो जांयगे। आगामी जिसमें स्वतंत्रता है उसका सदुपयोग करने से संसारी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि औषधि रोग की है मृत्यु की नहीं है। मृत्यु का ज्ञान न होने से औषधि अवश्य करना चाहिये, औषधि का फल प्रत्यक्ष दीखता है परन्तु वही प्राणांत में निष्फल होती है। इसी प्रकार प्रारब्ध विदित न होने से उपदेश रूप औषधि अवश्य करना चाहिये क्योंकि उसके अनुसार बर्तने से यदि प्रारब्ध का कोई विरुद्ध संस्कार बीच में न हो तो वह अवश्य सार्थक होगा। अपने कर्तव्य से हमको न चूकना चाहिये। उपदेश व्यर्थ नहीं है। यदि विरुद्ध रुकावट के कारण उपदेश का फल तत्क्षण न हो तो भी उसके संस्कार व्यर्थ नहीं जाते। तीव्रता के अभाव से संस्कार पक्व न हों तो भी वे सूक्ष्म में रहते हैं और समय पर बलिष्ट होकर अवश्य फल देते हैं

तीव्र प्रारब्ध के विरुद्ध जो उपदेश और स्थूल क्रिया होती है वह सिद्ध नहीं होती परन्तु उलटे भाव से वह प्रारब्ध को ही सिद्ध करती है, इसका दृष्टान्त सुनियेः—

एक बार देवर्षि घूमते २ यमराज के पास पहुँचे। यमराज ने आदर सहित उनको अपने पास बैठाया। कुशल समाचार पूछने के पश्चात् उन दोनों में यह बात हुई।

देवर्षिः—हे यमराज! मुझे एक शंका हुई है इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आपका ज्ञान बहुत ही विस्तीर्ण है, एक महान् व्यापारी के दुकान की समान है। ब्रह्मांण्ड भर के जीवों के कर्म का लेखा आपके यहां रहता है। कर्म के अनुकूल फल मिलता है। इतना भारी काम होने से कभी २ भूल अवश्य होती होगी।

यमराज—नहीं, भूल कभी नहीं होती। यह दैवी कार्य्यालय है। जिस प्रकार मनुष्यों के काम में भूल होती है इस प्रकार यहां के काम में भूल नहीं होती। भूल अज्ञान से होती है। जहां अज्ञान निवृत्त हुआ है वहां भूल नहीं होती। यह तो आप जानते ही हैं कि मैं जीवन्मुक्त अधिकारी हूं।

देवर्षिः—जब तक शरीर का प्रादुर्भाव है तब तक भूल होना संभव है। मैं आपसे पूछता हूँ, आप बहुत समय से यम पद पर आरूढ़ हैं। कभी आपको किसी बात में मोह होने का प्रसंग आया है या नहीं?

यमराजः—हां, जब मैं प्रथम ही इस पद पर आया था तब थोड़े दिन पश्चात् मैं जीवों के मरण का व्यौरा देख रहा था। उसमें एक असम्भवित अकाल मरण होने का प्रसंग मेरे देखने में आया। कैलाश पर्वत के ऊपर जहां सदाशिव विराजते हैं उसके पास एक पहाड़ की गुफा में एक अंधा बिलाव रहता है उसकी

मृत्यु आ पहुँची है। ५० घड़ी के भीतर मृत्यु है और एक लंगड़े रीछ से उसकी मृत्यु होना है, वह रीछ वहाँ से पच्चीस हजार कोस दूर है, इतने थोड़े समय में लंगड़ा रीछ उसके पास नहीं पहुँच सकता और अंधा बिलाव भी रीछ के पास किसी प्रकार नहीं जा सकता। यह प्रसंग देख कर मुझे मोह उत्पन्न हुआ कि बिलाव को शंकर ने अमर तो नहीं कर दिया है, इसकी तलाश करनी चाहिये। मैं नया ही यम बना था इसलिये मैं वहां से चल कर कैलाश पर शंकर के पास पहुँचा और प्रणाम करके बोला "हे महेश, मैं आपसे यह पूछने आया हूँ कि आपके स्थान के पास जो एक गुफा है, वहां एक अंधा बिलाव रहता है, वह आपकी प्रसादी खाकर जी रहा है, उसकी मृत्यु कल दो पहर बाद है, संयोग निकट है, मृत्यु होना असम्भव है। आपने इस बिलाव को अमर तो नहीं कर दिया है ?"

महादेव स्मित वचन से बोले "अरे यम, तू क्यों भूलता है ? मैं किसको अमर करता हूँ ? किसको मारता हूँ ? जीवों को जो फल प्राप्त होता है वह उनके कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है। तू क्यों घबड़ाता है ? संयोग होने वाले कार्य को करता है, तू मोह को मत प्राप्त हो। तू यमराज के पद पर होकर भी कार्य करने वाला नहीं है ! कार्य करने और कराने वाले सब संस्कारों के फल हैं। अज्ञानी यथार्थ न समझने से मोह को प्राप्त होता है, तू ज्ञानी होकर मुझ से पूछने आया है। यह देख कर मुझे आश्चर्य होता है ! मैंने कहा "महाराज, आपके वचनों से मुझे शान्ति प्राप्त हुई।" ऐसा कह कर और आज्ञा लेकर मैं अपने स्थान पर लौट आया। हे देवर्षि, अब जैसा प्रसंग हुआ सो सुन, मेरी और महादेव जी की जो वार्ता हुई वह बिलाव ने सुन ली और अपना मरण सुन कर वह दुःखी हुआ। कभी २ विष्णु कैलाश पर शिव जी से मिलने आया करते थे, जब विष्णु जी महादेव जी के पास बैठा करते थे। तब गरुड़जी बिलाव के पास बैठा करते थे। इस प्रकार गरुड़जी और बिलाव में मित्रता हो गई थी। मेरे चले आने के पश्चात् थोड़ी देर में वहां विष्णु जी आये। गरुड़ विष्णु जी को महादेव जी के पास बैठा कर बिलाव के पास जाकर बैठे। बिलाव को उदास देख कर गरुड़जी ने कहा "मित्र ! आज उदास क्यों है ?" बिलाव ने कहा "मित्र ! कल मेरी मृत्यु होने वाली है। यमराज और महादेव जी में वार्ता हुई थी उससे मुझे विदित हो गया है।" गरुड़ जी ने कहा "मित्र ! मैं तेरी मृत्यु नहीं होने दूंगा।" बिलाव ने कहा "आप समर्थ हो परन्तु मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि आज मेरा और आपका अन्तिम सम्मिलन है।" गरुड़जी ने कहा "मित्र ! दुःखी मत हो, कल दोपहर को मैं विष्णु जी को लेकर आऊंगा, उनको महादेव जी के पास बैठा कर तुझको अपने तीव्र वेग से पच्चीस हजार मील दूर पर ऐसी गुफा में रख आऊंगा जहां तुझे मारने वाला कोई न होगा"। ऐसा कह कर गरुड़जी चले गये और दूसरे दिन आकर बहुत दूर दूसरे द्वीप में जाकर बिलाव को एक गुफा में रख आये। उसी गुफा के भीतर वह लंगड़ा रीछ रहता था, ज्यों ही गरुड़ पहुँचे और बिलाव (होने) की गंध रीछ को प्राप्त हुई त्यों ही वह बाहर आया, बिलाव को उसने मार डाला। सच कहा है:—

दोहा।

होवे जस भवितव्यता, तैसी मिले सहाय।
आप न आवे ताहि पे ताहि तहां ले जाय॥

हे देवर्षि, इस प्रकार एक बार मुझे शंका हुई थी; इसके पश्चात् फिर मुझे शंका न हुई। बहुत काम होने पर भी सब काम ठीक होता रहता है।

ऊपर के दृष्टान्त में प्रारब्ध विरुद्ध विचार–प्रयत्न क्रिया की गई, वह सार्थक न हुई। शास्त्रकारों का इस प्रकार की क्रिया के लिए उपदेश नहीं है उपदेश आगामी सूक्ष्म कर्म रूप है और स्थूल शरीर के सहारे से होता है। शास्त्रकारों को यह विदित है कि हमारे उपदेश का प्रभाव सूक्ष्म भावरूप अंतःकरण में होता है। अज्ञानी मनुष्य सूक्ष्म भाव को समझ नहीं सकते, इसलिये स्थूल क्रिया सहित उपदेश करना उन लोगों को हितकारक होगा। ऐसा समझ कर स्थूल क्रिया सहित उपदेश किया गया है। यदि स्थूल क्रिया प्रारब्ध विरुद्ध होगी तो न हो सकेगी परन्तु शुभ सूक्ष्म भाव में स्थूल प्रारब्ध बाधक न होगा। विशेष करके उपदेश सूक्ष्म के लिये ही होता है। कदाचित् वह उपदेश तीव्र वेग सहित ग्रहण किया जाय और प्रारब्ध स्थूल और सूक्ष्म किसी कर्म की भी उसे रोकने की सामर्थ्य न हो और उपदेश के अनुकूल संचित में से सूक्ष्म कर्म मिल जाय तो वह कर्म तत्क्षण पक्व हो कर स्थूल भाव में प्रारब्ध बन जाता है। इस कारण से भी शास्त्र कारों का यह कथन नहीं है कि हमारा उपदेश मात्र सूक्ष्म के लिये अथवा स्थूल के लिये ही है। इस से सिद्ध होता है कि स्थूल प्रारब्ध सामान्यता से उपदेश रूप सूक्ष्म के विरुद्ध नहीं है।

स्वरूप के प्रकाशक शास्त्र की बात ही और है। स्वरूप का प्रकाश ज्ञान स्वरूप है। और उससे स्थूल सूक्ष्मकी गम नहीं है इसलिये उसका विरोधी कोई नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रत्येक की स्वतंत्रता है। कर्म ज्ञान का विरोधी नहीं है इसलिये वह ज्ञान में रुकावट नहीं कर सकता। यदि प्रारब्ध कर्म ज्ञान का विरोधी होता तो अनेक जीवन्मुक्त महात्मा जो हुए हैं, अब हैं, और होते हैं वे न होते। प्रारब्ध कर्म के भोग के कारण किसी को भी ज्ञान प्राप्ति के निमित्त शिथिल नहीं होना चाहिये, पूर्ण उत्साह से वैराग्य विवेक में लग जाना चाहिये। किसी प्रकार के भी कर्म ज्ञान में बाधक नहीं है। ज्ञान अन्तःकरण में होता है, यदि कर्मों के कारण अन्तःकरण मलिन हो तो ज्ञान प्राप्ति असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म ज्ञान में बाधक नहीं है परन्तु अन्तःकरण की अशुद्धि बाधक है और वह पूर्व योग से होती है जिसकी मनुष्यों को खबर नहीं हो सकती। जिसकी खबर नहीं है उसके भरोसे बैठकर ज्ञान प्राप्ति के उद्यम से नहीं हटना चाहिये किन्तु प्रबलता के साथ पूर्ण वैराग्य सहित परमपद की प्राप्ति का यत्न करना चाहिये। यदि पूर्ण तीव्रता से यत्न किया जाय तो अन्तःकरण में चाहे जितनी मलिनता हो सब दूर हो जायगी। प्रयत्न करने में यह मन्त्र स्मरण रखना चाहिये "कर्मभोग ज्ञान का विरोधी नहीं है, मैं पुरुषार्थ—प्रयत्न करके अवश्य ज्ञान प्राप्त कर लूंगा"

कर्म की गहनता—सूक्ष्मता बहुत है। अभ्यासियों को प्रारब्ध के भोग का विचार न करना चाहिये। शास्त्र का उपदेश बहुत सूक्ष्म होने से बिना सद्गुरु ग्रहण करने से पूर्ण फल नहीं देता। कदाचित् योग्यता न होने से, अथवा विरुद्धाचरण होने से विरुद्ध फल देता है। इसलिये सद्गुरु द्वारा ग्रहण करना चाहिये। सद्गुरु योग्यता और संयोग के अनुसार जो उपदेश देते हैं वह कल्याण कारक होता है।

जीव पूर्ण परतंत्र नहीं है और पूर्ण स्वतंत्र भी नहीं है। जिश अंश में जीव की परतंत्रता है उसमें किया हुआ बर्ताव सफल नहीं होता। सृष्टि भोग, पुत्र, धन, स्त्री और शरीरादि में जीवों का भाव होता है उनमें से जो पक्व होकर घन भाव को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जीव सृष्टि में से निकल कर ईश्वर सृष्टि में आ जाते हैं उसमें जीव की परतंत्रता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि तीन कर्मों में से दो जो संचित और आगामी सूक्ष्म हैं उनमें जीव की स्वतंत्रता है और केवल मात्र स्थूल प्रारब्ध भोगादिक में जीव की परतंत्रता है। इसीलिये ज्ञानियों को ज्ञान होने के पश्चात् भी शरीर का भोग संसारी मनुष्यों के समान ही देखने में

आता है। शास्त्र डंके की चोट कहता है 'आगामी परम पुरुषार्थ में जीव की सम्पूर्ण स्वतंत्रता है, हे मनुष्यो! तुमको जो योग्यता और स्वतंत्रता मिली है उसके सदुपयोग द्वारा अपना परम कल्याण करलो।"

प्रारब्ध के अविरोध वाली क्रिया भी किस प्रकार कर सकते हैं। इसके समझने के लिये एक दृष्टान्त सुनिये। इस दृष्टान्त में प्रारब्ध का विदित होना मुख्य बात है और प्रारब्ध में हानि न होते हुए उपदेश से किस प्रकार कार्य लेते हैं यह देखना है।

एक मनुष्य बहुत ही ग़रीब था। वह स्वभाव से शान्त और सामान्य नीति वाला था, अधर्म की ओर उसकी रुचि न थी, ऐसा होने पर भी निर्धन होने के कारण वह बहुत दुःखी था। जैसे आजकल देखने में आता है कि नीति (सदाचारी) वाले को भूखा मरना पड़ता है और अधर्मी मौज उड़ाते हैं। इसी प्रकार नीतिवान् होकर भी वह दुःख भोगता था। उसके कुटुम्बी भी धन के अभाव के कारण उसको बुरी दृष्टि से देखते थे। कोई उसका सहायक न था। बिचारा न तो कुछ पढ़ने लिखने पाया कौर न उसका विवाह हुआ। प्रसन्नता के सहारे खेत में परिश्रम शुल्क द्वारा दिन व्यतीत करता था, कर्महीन होने से कभी २ परिश्रम शुल्क भी नहीं मिलता था। अंत में घबरा कर उसने विचार किया कि संसारिक सुख मिलता नहीं और दुःख भोगना पड़ता है, क्या करूं? सब छोड़ कर साधू हो जाऊं तो अच्छा हो। इस प्रकार सोच कर उसने अपनी सर्व समृद्धि जो मात्र खुरपी थी, ब्राह्मण को दान कर दी और वह साधु बन गया। वह तो साधु बन गया परन्तु उसका प्रारब्ध साधु न बना। मांग कर खाने से खाने की आपत्ति पहले से कुछ कम हो गई। एक दिन उसने विचार किया, इस प्रकार भटकना और खाने के लिये आयुष्य खोना ठीक नहीं है, कुछ तपश्चर्या करनी चाहिये। बस्ती से भिक्षा मांगना छोड़ कर वह बन में एक पेड़ के नीचे जा आसन लगा कर बैठ गया और सच्चा झूंठा जैसा कुछ आता था वैसा राम नाम का जाप करने लगा। जप में उसे श्रद्धा थी। दो चार दिन खाने का कष्ट सहना पड़ा, पीछे ईश्वराज्ञा से वहां के भूमिधर के यहां से दो रोटी और नमक आने लगा। दुपहर को भूमिधर का मनुष्य आकर रोटी और नमक नित्य प्रति दे जाया करता था। इस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन एक राजा जो अपना राज पाट छोड़ कर साधु हुआ था, वहां आया। उसने खुरपी वाले साधु के पास आसन जमाना चाहा। तब उन दोनों की यह बातचीत हुई:— खुरपी वाला साधुः—तू कब हुआ है? राजाः—कल। साधुः—तब तू मेरे पास बैठने के योग्य नहीं है। मैं बारह वर्ष का साधु हूँ। तू अपना स्थान किसी और स्थान पर जमाले। राजा वहां से चल के थोड़ी दूर पर पेड़ की योग्य छाया देख कर बैठ गया। राजा के शरीर में भभूति लगी हुई थी तो भी राज तेज छुपता न था। जब भूमिधर को सूचना हुई कि एक राजा राजपाट छोड़ कर साधु बना है तब उसने उसके भोजन के लिये चांदी के थाल में अनेक प्रकार की मिठाई भेजी? खुरपी वाले साधु ने विचार किया "उसे कौन भोजन देगा। मैं बहुत वर्षों से यहां हूँ, तब मेरे लिये केवल मात्र दो रोटी आती हैं। नया साधु क्या खायेगा। देखना चाहिये।" ऐसा विचार कर वह टहलता हुआ उसके पास पहुंचा और उसे चांदी के थाल में अनेक प्रकार के मिष्टान्न खाते हुए देख कर उस पर ईर्ष्या हुई। जिस भूमिधर के यहां से उसे दो रोटी नित्य मिलती थीं उसी के यहां से नये साधु के लिये भोजन आता था। ईर्षा से जलता हुआ वह अपने स्थान पर पहुँचा तो वहां नित्य नियम के अनुसार दो रोटी और नमक लेकर मनुष्य आया हुआ देख कर

उसने क्रोधित होकर कहा "मैं रोटी नहीं लूंगा। कल के बने हुए साधु को मिष्टान्न और बारह वर्ष के साधु को दो रोटी! रोटी लाने वाले ने कहा, 'महाराज, स्वामी की यही आज्ञा है'। साधु ने कहा 'रोटी वहीं लेजा' मनुष्य रोटी लेकर लौट गया।

सायंकाल को भूमिधर वहां आया और साधु के साथ यह वार्ता हुई:—भूमिधर! आज रोटी क्यों फेर दी? साधु:—कल के बने हुए साधु को मिठाई और मुझको रोटी! भूमिधर:—ऐसा ही है, तुम एक खुरपी छोड़ कर साधु बने हो, वह राज छोड़कर साधु हुआ है। तुम्हारा प्रारब्ध कंगाली का है, उसका राज का है। साधु को यह बात बुरी सिद्ध हुई, भूमिधर की रोटी लेना उसने छोड़ दिया और उग्र तपश्चर्य्या करना आरम्भ किया, सात दिन तक कुछ न खाया। अन्त में इष्ट से प्रसन्न होकर दर्शन दिये और दोनों में यह बातचीत हुई:—इष्टदेव:—तू ऐसी कठिन तपश्चर्य्या किस लिये करता है? साधु:—मुझे खाने पीने की आपत्ति होती है। जन्म से दुःख भोगता रहा हूँ, साधु हुआ तब भी कुछ सुख नहीं मिला! इष्टदेव:—मनुष्य मात्र अपने पूर्व कर्मानुसार भोग प्राप्त करते हैं, प्रारब्ध के निश्चित् भोग में कोई वृद्धि नहीं कर सकता। साधु:—क्या मेरा प्रारब्ध ऐसा ही है? इष्टदेव:—तेरी आयु बहुत है और आयुष्य भर के निमित्त १००) रु० हैं, विषय-भोग तुझे कहां से मिले? यदि अच्छा २ भोजन तुझे खाने को दिया जाय तो आगे क्या दिया जाय? साधु:—(चकित होकर) मुझे एक साथ सौ रुपये दे दीजिये। इष्टदेव:—अच्छा, ऐसा हो जायगा परन्तु फिर तुझे एक धेला भी नहीं मिलेगा। साधु:—कुछ चिन्ता नहीं। इष्टदेव:—(प्रसन्न होकर) सौ रुपये तुझे मिल जायंगे, एक बात और सुन, सौ रुपये लेकर तू राजा साधु के पास जाकर सब बात कहना, जैसी युक्ति वह बतावे उस प्रकार काम करना।

इष्टदेव ने भूमिधर को प्रेरणा किया उसने सौ रुपये खुरपी वाले साधु के पास भेज दिये। साधु प्रसन्न होकर राजा साधु के पास गया और सब वृत्तान्त सुनाया। राजा साधु ने कहा, तू सौ रुपये का क्या करेगा? खुरपी वाले साधु ने कहा, आप कहो वैसे करूं? राजा ने कहा, तू हाट जाकर सब रुपयों की सामग्री ले आ और सबको भोजन का नौता दे आ। भोजन बनाकर सबको खिला दे, सबके साथ तू भोजन कर, जो कुछ बचे उसको भी सब को बांट दे। रात्रि को न तो भोजन बचा कर रखना न एक पैसा रखना। खुरपी वाले साधु ने शिक्षा मान कर इसी प्रकार किया। ऐसा करने से आस पास के ग्रामों में उसकी बड़ी वाह-वाह हुई। दूसरे दिन एक दूसरे भूमिधर ने आकर सौ रुपये दिये। उनका भी दूसरे दिन भण्डारा हुआ। तीसरे दिन तीसरे ने सौ रुपये दिये इसी प्रकार लोग सौ रुपये रोज दे जाया करें और भंडारा हो जाया करे। शुद्ध भाव से भंडारा करते हुए खुरपे वाले साधु की सम्पूर्ण आयु बीत गई। प्रारब्ध के सौ रुपये केवल साधु के भोग के लिये थे, दूसरों की मजदूरी में वह भोजन पाता रहा और सौ रुपये ज्यों के त्यों रहे। राजा साधु और इष्टदेव की कृपा से इस प्रकार वह सुखी हुआ।

इस दृष्टान्त से देखा जाता है कि प्रारब्ध में बाधक न होते हुए युक्ति पूर्वक जो कार्य कर कर सकते हैं वही पुरुषार्थ है। उस पुरुषार्थ को जब आत्मिक भाव में लगाते हैं तब परम पुरुषार्थ कहा जाता है।

आजकल मनुष्य प्रारब्ध और पुरुषार्थ को उलटे हिसाब से समझ रहे हैं इसी से दोनों ही ठीक नहीं होते। प्रारब्ध में पुरुषार्थ समझ कर दौड़ते हैं और पुरुषार्थ को प्रारब्ध पर छोड़ देते हैं। सद्गुरु की सहायता से उन दोनों को ठीक २ समझ कर बर्तना।

अन्तिम सारांशः—प्रारब्ध का वेग स्थूल है। शास्त्र और गुरु के उपदेश सूक्ष्म हैं। प्रारब्ध में जीव परतंत्र है, उपदेश ग्रहण करने में स्वतंत्र है। जिस अंश में प्रारब्ध अविरोधी उपदेश हो सकता है उसमें शास्त्र और गुरु का उपदेश सार्थक है।

महावाक्य-माहात्म्य

आत्म पुराण में लिखा है:—

महावाक्यार्थानुभव ज्ञानाद् ब्रह्मैवाह मस्मीति,
निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स सन्यासी च योगी च कैवल्य पदमश्नुते।

अर्थः—मैं ही ब्रह्म हूँ महावाक्यों के ज्ञान द्वारा निराधार ब्रह्म को आश्रय करके जो दृश्य का बाध (परित्याग) करता है वही सच्चा सन्यासी, जीवनमुक्त, जगत् पूज्य, राजयोगी, परमहंस, अवधूत, ब्रह्मदेव होता है।

शास्त्रों में इस परम पुनीत ब्रह्म-विद्या से बढ़ कर और किसी वस्तु की प्रशंसा नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिये कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं:—

स्नातं तेन समस्त तीर्थ सलिलै, र्दत्ता च सर्वाऽवनि।
र्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः॥
संसाराश्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोकस्य पूज्योऽप्यसौ।
यस्य ब्रह्म विचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

अर्थः—जिस विद्वान का मन एक क्षण भी ब्रह्म विचार में स्थित हुआ है, उसने मानो सब तीर्थों के जलों में स्नान कर लिया है। पुनः तीनों लोकों की पृथ्वी दान कर ली है और सर्व प्रकार के सहस्रों पुण्य भी तिसने कर लिये हैं। सर्व देवता भी पूज लिये हैं। इस संसार से सर्व पितरों का और आगे के सर्व कुलों का उद्धार भी कर लिया है। पुनः तेतीस कोटि देवता सहित सर्व जगत् कर पूजने योग्य भी वही विद्वान है। (वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलिः)।

वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलि में कहा है:—

कुलं पवित्रम् जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपार सच्चिन्सुखसागरेऽस्मिऽल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

अर्थात् जिसका मन अपार सच्चिदानन्द समुद्र परब्रह्म में लीन होगया है, उसका कुल पवित्र हो हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है और उसके कारण पृथ्वी भी पुण्यवती हो जाती है।

शास्त्र में ऐसे एक नहीं, अनेक प्रमाण पाये जाते हैं।

ब्रह्म-विद्या प्रतिपादक उपनिषद्-ब्रह्म-विद्या के यथातथ्य प्रतिपादक हैं उपनिषद्। इन्हीं उपनिषदों से दुग्धरूप गीतामृत दूहने के लिये परब्रह्म सच्चिदानन्द, उपनिषदैकप्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दोग्धा-रूप से अवतीर्ण हुए और इन्हीं उपनिषदों के मन्त्ररूप मणियों को उत्तर मीमांसा रूप वेदान्त दर्शन के सूत्रों में पिरोने के लिये कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेद व्यास का आविर्भाव हुआ। अतः इन तीनों को यानी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीताजी को 'वेदान्त-प्रस्थानत्रयी' भी कहते हैं। इन उपनिषदों के मन्त्रों का ही श्लोकों में कथारूप से हम जैसे मन्द बुद्धि पुरुषों के उपकार के लिये पुराण में संग्रह किया गया है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म-विद्या का भण्डार तथा आदि स्रोत सबने उपनिषदों को ही माना है। उपनिषदों के महावाक्य रूप शर से बिना विंधे आत्मोपलब्धि प्रायः असंभव ही बतलाई गई है। उपनिषदों का सर्वोच्च महत्व केवल शास्त्र सम्मत ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त स्वर से स्वीकार किया है। देखिये प्रोफेसर मैक्समूलर [Prof Maxmuller] क्या लिखते हैं:—

'I spend my happiest hours in reading vedantic books. They are to me light of the morning like the pure air of the mountains—so simple, so true if once understood.'

'The Upanishads are the.....sources of.....the vedant's philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme.'

अर्थात् मैं अपने सब से अधिक आनन्द के घण्टे वेदान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय में व्यतीत करता हूँ। मेरे लिये वे प्रातः कालीन प्रकाश तथा पर्वतों की शुद्ध वायु के समान हैं। यदि एक बार समझ में आजायँ तो वे बड़े ही सरल और बड़े ही सच्चे हैं।

उपनिषद् वेदान्त(फिलोसफी का) आदि स्रोत हैं। और यह एक ऐसा निबन्ध है जिसमें मेरे विचार से मानवी भावना उच्चतम शिखर पर पहुँच गई प्रतीत होती है।

इसी प्रकार श्री स्वामी जयेन्द्रपुरी जी महाराज मण्डलेश्वर जी का भी कथन है कि:—

'ब्रह्म विद्या के सेवन से ही मनुष्य ओजस्वी, तेजस्वी, प्रतापी, धीर, वीर, गम्भीर, उदार, स्वार्थ-त्यागी एवं आनन्दभागी होता है। इस ब्रह्म विद्या के सच्चे उपासक सारे प्रमाद एवं विषयासक्ति का

परित्याग कर सदा के लिये निर्भय हो जाते हैं। कायरता, दुर्बलता, मलिनता, आदि तो उसके पास फटकने नहीं पाती। उपनिषद् ही ब्रह्मविद्या का पवित्र भण्डार है। उपनिषदों से ही गीता का जन्म हुआ है। ब्रह्मविद्या ही विशुद्ध भगवत्प्रेम एवं अनन्य भक्ति है।'

(कल्याण से)

सारांश यह है कि जो प्राणी वासना का परित्याग कर आत्म-स्वभाव में स्थित हुआ पृथ्वी में विचरता है, त्रिलोकी का नाथ है। चित्त में जो चेतन भाव है, उसके स्फुरण का नाम संसार है और स्फुरण से रहित जो शुद्ध चिन्मात्र है उसका नाम परम पद है। जो पुरुष एक क्षण के लिये भी अप्रमादी होकर आत्मा का वास्तविक रूप जान लेता है, वह संसारिक कल्पना का परित्याग करके मुक्त हो जाता है। आत्मा ही सर्वत्र, सब पदार्थों में स्थित है। चितवृत्ति के बहिर्मुख होने पर संसार का सृजन होता है और पञ्चभूत दृष्टि में आते हैं किन्तु जब चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, तो केवल ज्ञानस्वरूप आत्मातत्त्व ही भासने लगता है। अतः संसार के सारे आत्मतत्त्व में सुषुप्त की भांति स्थिर होकर मौन हो जाओ।

मौन पाँच प्रकार के हैं—यथा (१) वाणीका मौन (कुछ न बोलना), (२) समाधि मौन (आंखों को मूंद लेना और कुछ न देखना, (३) काष्ठ मौन (हठ करके मन और इन्द्रियों को वश में कर लेना), (४) सुषुप्ति मौन (वाणी और इन्द्रियों द्वारा तो चेष्टायें करना किन्तु किसी पदार्थ को आत्मा से भिन्न न समझना अर्थात् या तो ऐसा समझना कि जो कुछ है मैं ही हूँ और (५) मौन है आत्मा में ही जागरण करना (ऐसा देखना कि मुझ में न जाग्रत है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है, इसको तुरीयातीत कहते हैं।

ऊपर के तीन मौन तपस्वियों के और शेष दो ज्ञानियों के हैं। ज्ञानी तो इन्द्रियों के रोकने की चेष्टा करते हैं और न भोगों में विचारने की ही। (स्वभावतः वे जिस परिस्थिति में पड़ जाते हैं उसी में स्थित रहते हैं। यह परम मौन है। लिख कर अथवा संकेत द्वारा अपने भावों को प्रकट करने से मौन में विघ्न होता है। अतः उसे भी बन्द करना चाहिये। वाणी का संयम जब तक पूर्ण न हो जाय, मौन रक्खो। कभी बोलो तो रात में, किन्तु भगवत् विषय पर ही।

युवावस्था में उपार्जित ज्ञान वृद्धावस्था में बुढ़ापे के कारण, दुर्बल हो जाता है। किन्तु विवेकी मनुष्य पुण्य के प्रताप से इच्छाओं को संकुचित रखते हैं जो इन्द्रियों को, दुर्गम मार्ग के समान, जीत कर दोषों का त्याग कर देता है, वही मोक्ष रूपी अमृत पीने में समर्थ हो सकता है। अखण्ड सिद्धान्त यह है कि ध्यानयुक्त ज्ञान बिना अविद्या अज्ञानावस्था नहीं जाती। और अविद्या के बिना परमात्मा का दर्शन नहीं होगा।'

और भी सुनिये,

जिनको दृश्य प्रपञ्च प्रतीत होता है और वह किस में से किस प्रकार उपजा होगा, यह जानने की इच्छा होती है, उनके समाधान के लिये शास्त्र इस प्रकार कहता है:—

नामरूप आदि विषयों से रहित जो कोई एक है, उसको अन्य के नाम का प्रयोग किये बिना कोई वस्तु नहीं समझा जाता, इसलिये शुद्ध ब्रह्म या चैतन्य या ब्रह्म कहते हैं। जीवों के कर्म फल देने को उद्यत होते

हैं, तब वे ब्रह्म के आश्रय में रहने वाली माया में से (सब जड़ समूह के उपादान कारण रूप सूक्ष्मतर द्रव्य में से) आकाश, आकाश में से वायु, वायु में से तेज, तेज में से जल, और जल में से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इन सूक्ष्म महाभूतों के आपस में मिल जाने से स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं, इन स्थूल भूतों से भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार ब्रह्म का विवर्तरूप और माया का परिणामरूप यह जगत् है। इसका विस्तारिक विवरण परिशिष्ट भाग में करेंगे। अधिष्ठान से विपरीत सत्तावाला अन्यथा स्वरूप विवर्त्त कहलाता है। अधिष्ठान जो ब्रह्म उसकी पारमार्थिक सत्ता है और जगत् की व्यावहारिक सत्ता है, इसलिये अधिष्ठान रूप ब्रह्म से जगत् विपरीत सत्ता वाला है। ब्रह्म का स्वभाव सत् चित् और आनन्द है, जगत् का स्वभाव असत्, जड़ और दुःख है इसलिये जगत् ब्रह्म से अन्यथा स्वरूप वाला है। माया की व्यावहारिक सत्ता है और जगत् की भी व्यावहारिक सत्ता है, इसलिये उपादान कारण रूप माया से जगत् की समान सत्ता है। माया सावयव निरवयव से विलक्षण स्वरूप वाली है और जगत् सावयव स्वरूप वाला है, इसलिये जगत् माया से दूसरे प्रकार के स्वरूप वाला है। सत्ता तीन प्रकार की है—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक। तीनों काल में एक रूप रहने वाली सत्ता परमार्थिक सत्ता कहलाती है। मध्य काल में चिरकाल तक रहने वाली सत्ता व्यावहारिक सत्ता कहलाती है। ईश्वर के संकल्प से रचा हुआ और प्रलयकाल तक रहने वाला यह नामरूपात्मक जगत् व्यावहारिक सत्ता वाला है। केवल प्रतीतिकाल में ही रहने वाली सत्ता प्रतिभासिक कहलाती है। भ्रान्तिकाल में, मनोराज्य के समय में तथा स्वप्न काल में प्रतीत होने वाले पदार्थ प्रतिभासिक हैं।

वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। ब्रह्म में जगत् का अध्यारोप है। आरोपित को दूर करके मूल वस्तु को पहचानना अपवाद कहलाता है। जगत् का अपवाद—प्रपंच प्रतीत होता है, तो भी उसके नाम रूप का बाध करने से ब्रह्म का ज्ञान होता है। लय चिन्तवन से भी ब्रह्म का ज्ञान होता है। वह लय चिन्तवन इस प्रकार करना चाहिये कि—कार्य कारण का अभेद होने से सब पार्थिव पदार्थ पृथ्वी से भिन्न नहीं है, ऐसा चिन्तवन करे, इस पृथ्वी की जल में से उत्पत्ति हुई है, इसलिये पृथ्वी तत्त्व और जल के अन्य कार्य पृथ्वी रूप हैं, ऐसा चिन्तवन करे। जल तत्त्व तेज तत्व में से उपजा है, इसलिये जल तत्व तथा तेज तत्व के अन्य कार्य तेजोरूप हैं, ऐसा चिन्तवन करे। तेज तत्व वायु से उपजा है, इसलिये तेज तत्व और वायु के अन्य कार्यों का वायु से अभेद्य है, ऐसा चिन्तवन करे। वायु की आकाश से उत्पति हुई है, इसलिये वायु आकाश से भिन्न नहीं है, ऐसा चिन्तवन करे। वह आकाश माया से उपजा है, इसलिये उसका माया से अभेद है, ऐसा चिन्तवन करे, और माया ब्रह्म में कल्पित है, इसलिये उसका ब्रह्म से अभेद है, ऐसा चिन्तन करे। इस प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति को स्थिर कर लेने के पश्चात् वृत्ति अन्य पदार्थ के आकार की होय तो फिर लय चिन्तवन करके उसको ब्रह्माकार करें।

प्रत्यगभिन्न ब्रह्म-तत्व का अनुभव करने वाले जीवन्मुक्त की बाहरी दशा उसके प्रारब्ध के अनुसार सोपाधिक या निरुपाधिक होती है। उपाधि वाली दशा में रहने वाले जीवन्मुक्तों की जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द का लाभ थोड़ा मिलता है और उपाधि रहित वा न्यून उपाधि वाली दशा में रहने वाले जीवन्मुक्तों [illegible] के विलक्षण आनन्द का आत्म-ज्ञान का विषय अति गंभीर है। अतः उसमें पुनरपि दोष का आ जाना एक साधारण सी बात है और जब तक सरल न किया जावे तब तक यह इसका समझना

अति कठिन है। यों तो पूर्ण तत्त्वदर्शी द्वारा सीखने में कठिन से कठिन समस्या भी यों ही सरल हो जाती है परन्तु अल्पज्ञ साधारण जन जिनको संस्कृत का ज्ञान कम है अथवा बिलकुल ही नहीं है उनको बड़ी कठिन समस्या का सामना करना पड़ता है अतः हम थोड़ी सी शिक्षा, साधन, ईश्वर-माया, अभ्यास सम्बन्धी विवेचन करके पश्चात् समाधि का विशेष वर्णन व ज्ञान की सप्त भूमि का और ज्ञान प्राप्ति में प्रतिबन्ध व उनके उपाय वर्णन करके इस विषय को समाप्त करेंगे, उसके पश्चात् मृत्यु रहस्य आदि का पूर्णतया विवेचन किया जायगा।

प्रश्न—तत्वज्ञान क्या है ?

उत्तर— श्लोक

निर्विकारो निराकारो निरवेद्योऽहमव्ययः ।
नाहं देहो ह्यसद् रूपो ज्ञान मित्युच्यते बुधैः ॥

अर्थ— में निर्विकार हूँ अर्थात् सदा एक रूप हूँ और निराकार अर्थात् मेरा कोई आकार नहीं है, मैं निरवेद्य हूँ अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक आधि भौतिक इन तीनों तापों करके रहित हूँ और अविनाशी हूँ, नाशवान् देह नहीं हूँ, इस प्रकार ज्ञान को पंडितगण तत्व ज्ञान कहते हैं।

निरामयो निराभासो निर्विकल्पोऽहमाततः ।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो, ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥

अर्थ— मैं रोगहीन हूँ अर्थात् मुझे राजयक्ष्मादि रोग नहीं होता है; मुझे फल की अभिलाषा नहीं है, मैं कल्पना नहीं करता हूँ और सर्व व्यापी हूँ, मैं नाशवान् देह नहीं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को पण्डितगण तत्वज्ञान कहते हैं।

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो नित्यमुक्तोऽ हमच्युतः ।
नाहं देहोह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः ॥

अर्थ— मैं रजोगुण सतोगुण तमोगुणरूप तीनों गुणों करके रहित हूँ, क्रिया करके रहित हूँ, न मित्य हूं नित्य मुक्त हूँ अर्थात् सर्वदा ही बन्धन शून्य हूँ अच्युत हूँ अर्थात् सदा ज्ञानमय हूँ मैं नाशवान् देह नहीं हूँ, इस प्रकार ज्ञान को पंडित जन तत्वज्ञान कहते हैं।

निषिध्यनिखिलोपाधीन्नेतिनेतीतिवाक्य ।
विद्या दैक्यंमहावाक्यैजीवात्मपरमात्मनोः॥

अर्थ— अपरोक्षरूप से जो आत्मा के चैतन्य स्वरूप का ज्ञान वह सामान्य ज्ञान होने से मुक्ति का साधन नहीं है किन्तु महा-वाक्यों से उत्पन्न जो जीव और ब्रह्म की एकता का विशेष ज्ञान है वह मुक्ति का साधन है, अर्थात् नेति नेति इस वाक्य से सम्पूर्ण उपाधियों का निषेध (त्याग) करके और तत्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का निश्चय करें अर्थात् 'सरास आदेशोनेतिनेतीत्यतन्नि

रसनम् ॥ वह यह उपदेश है इस प्रकार की श्रुतियों के वचनों से अतत् कहिये आत्मा से भिन्न का निरसन (त्याग) करे अर्थात् आत्मा से भिन्न को जड़ और अनित्य समझे। इस व्यास सूत्र के अनुसार सम्पूर्ण समष्टि व्यष्टिरूप उपाधि स्थूल सूक्ष्म रूप वा कार्य-कारण रूप नाम रूपात्मक जगत् अनात्म अर्थात् अनित्य और जड़ जान कर निषेध (अनात्मज पदार्थों का त्याग) करे और तिन सम्बन्धों सहित "तत्त्वमसि, अयमात्माब्रह्म, प्रज्ञानब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि" इन वेदों के महावाक्यों करके जीवात्मा और परमात्मा की एक रूपता को निश्चयपूर्वक जानै। उस जानने के ज्ञान को ही मुक्ति का साधन और तत्त्वज्ञान कहते हैं।

'आत्म-बोध' के ४५ वे श्लोक में लिखा है कि, जिसका अपरोक्ष साक्षात्कार है वह ब्रह्म ही नित्य प्राप्त है, जीवात्मा नित्य प्राप्त नहीं हो सकता सो ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान से भ्रम के द्वारा परमात्मा ही जीव भाव को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः कोई जीव नहीं है जैसे कि स्थाणु में अंधकार के विषय भ्रांति से पुरुष को तुल्यता प्रतीत होती है, इस प्रकार ब्रह्म में भ्रम से जीवभाव प्रतीत होता है। अर्थात् अनादि अज्ञान से ब्रह्म ही जीव प्रतीत होने लगता है और महावाक्यों के द्वारा जीव का जो वह तात्त्विक (सच्चा) रूप है उसके साक्षात्कार करने से (जानने से) वह जीवभाव इस प्रकार निवृत्त हो जाता है जैसे स्थाणु के ज्ञान से पुरुष भ्रम की निवृत्ति हो जाती है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये निम्न लिखित बारह साधनों का जानना आवश्यक है।

पहिले चार साधन—

(१) एक तो पूर्ण ब्रह्म आत्मस्वरूप को याद करना चाहिये और (२) दूसरे अपनी मृत्यु को याद रखना चाहिये, क्योंकि मृत्यु को याद रखने से बुरे काम न होंगे। इसलिये दो बातों को याद रखना आवश्यक है और (३) तीसरे यह है कि यदि कोई अपने साथ बुराई करे तो उसको भूल जाना चाहिये और (४) चौथी बात यह है कि तुम अगर किसी के साथ भलाई करो तो उसको भी भूल जाओ।

दूसरे चार साधन—

और फिर चार बातें साधन करने की हैं। (१) पहिला साधन यह है कि नित्य अनित्य का विचार अर्थात् नित्य पदार्थ क्या है और अनित्य पदार्थ क्या है? नित्य पदार्थ उसको कहते हैं कि जो वस्तु हमेशा स्थाई रहे वा भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों में एक समान रहे। अनित्य व जगत् और जीव को आज है कल नहीं है।

(२) दूसरा साधन वैराग्य है अर्थात् यह लोक और परलोक इन दोनों लोकों के फलों से रहित होना।

(३) तीसरा साधन शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इनके (अनुकूल) चलना अर्थात्—

शम—संसार की वासनाओं का त्याग करना शम कहलाता है और

दम—बाह्य-इन्द्रियों का रोकना अर्थात् नासिका कर्ण आदि इन्द्रियों को गंध-शब्दादि विषयों से हटा कर अपने अधीन कर लेना दम कहलाता है।

उपरति—विषयों से अत्यन्त चित्त को पृथक् कर देने का नाम उपरति है और सम्पूर्ण प्रकार के दुःखों को सहन करना सो तितिक्षा कहलाती है।

श्रद्धा—वेद शास्त्रादि और गुरु के वाक्यों में जो भक्ति करना है सो श्रद्धा कहाती है। और

समाधान—शब्दादि विषयों से चित्त को रोक कर मोक्ष के करने वाले श्रवण मनन, निदिध्यासन द्वारा एकान्त में बैठ कर नित्य अनित्य के विचार को समाधान कहते हैं।

(४) चौथा साधन मुमुक्षुत्व अर्थात् इच्छा रखनी मोक्ष की। इसके सिवाय और इच्छा नहीं रखनी चाहिये।

तीसरे चार साधन—

इसके पश्चात् चार बातें जो करने की हैं उनका नीचे वर्णन किया जाता है:—

(१) शम

शम = सन्तोष = विचार = सत्संग उसको कहते हैं कि संसार के इष्ट अनिष्ट में चलायमान न होवे न किसी का दुःख करे और न किसी से कुछ प्रश्न करे। उपाधि से रहित परम शान्तरूप अमृत करके पूर्ण रहे वह पुरुष नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ दिखलाई देता है लेकिन वास्तव में कुछ नहीं करता है, जहां उसके मन की वृत्ति जाती है वहां आत्म-सत्ता भासती है जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत करके पूर्ण रहता है उसी तरह समदृष्टि वाला पुरुष ज्ञान करके पूर्ण रहता है अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में एक समान रहता है।

सन्तोष।

अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे और प्राप्त हुई इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष न करे। जिसकी त्रिलोकी के राज्य मिलने से इच्छा पूर्ण नहीं हुई वह दरिद्री है और जो निर्धन है और संतोष वाला है वह सबका ईश्वर है। एक दृष्टान्त है:—

दृष्टान्त।

एक गुरु और चेला थे। वे लोग सदा जंगल में ही रहा करते थे, चेले ने भी कभी बस्ती का मुँह तक नहीं देखा था यहां तक कि उसको स्त्री पुरुष का ज्ञान न था कि स्त्री किसको कहते हैं और पुरुष किसको कहते हैं। एक दिवस गुरु ने चेले से कहा कि बेटा बस्ती में जाकर भिक्षा मांग कर ले आओ। चेला गुरु की आज्ञा पाते ही ग्राम में गया और एक गृहस्थ के दर्वाजे पर जाकर भिक्षा के लिये सवाल किया। उस घरमें

केवल मा और बेटी रहती थीं। मा ने बेटी से कहा कि साधु को भिक्षा देआओ, बेटी भिक्षा देने के लिए गई, उस सम इत्तिफाक से उस लड़की के छाती का कपड़ा खुला था, साधु ने उसके दोनों स्तनों को देख कर रोना शुरू किया और भिक्षा भी नहीं ली, लड़की यह सब दशा देख कर अपनी माता से जाकर बोली कि साधु रो रहा है और भिक्षा भी नहीं लेता। तब माता ने आकर साधु से पूछा कि महाराज आप क्यों रोते हो ? साधु ने उत्तर दिया कि हे माता ! इस लड़की की छाती पर जो दो फोड़े हुए हैं उनको देख कर मैं रोता हूँ क्योंकि एक समय मेरे पावों में भी इसी प्रकार का एक फोड़ा निकला था उससे मुझको बड़ी पीड़ा हुई थी सो मैं देखता हूँ कि मेरे एक ही फोड़े से इस प्रकार वेदना थी कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता तो जब इसके दो फोड़े हैं तो किस प्रकार कष्ट होता होगा, मा ने तब साधु के आंसू पोंछे और बोली कि महाराज ! यह फोड़े नहीं हैं यह तो लड़कों के दूध पीने के प्यालेहैं। साधु ने अचम्भे में आकर पूछा क्या इसके बालक हुवा है, मा ने कहा कि अभी नहीं। परन्तु आगे उत्पन्न होगा तब इन्हीं प्यालों से दूध पीवेगा, साधु बोला कि लड़के के उत्पन्न होने के पहिले दूध के प्याले स्थानापन्न हो गये मैं तो इतना बड़ा हो चुका हूँ क्या मेरे लिए भोजन नहीं है। इस प्रकार वहां से एका-एक गुरु के पास चला गया और उनको सब वृतान्त सुनाकर कहने लगा कि लड़के के उत्पन्न न होने के पहले ही दुग्ध की प्यालियां आरूढ़ हो गई तो क्या आपको इतना संतोष नहीं है जो मुझे भिक्षा मांगने के लिए ग्राम में भेजा था। गुरु ने कहा बेटा भिक्षा मांगने के लिए मैंने तुमको नहीं भेजा था बल्कि तुम्हारे संतोष की परीक्षा करने को भेजा था। संतोष ऐसी वस्तु है कि इससे परमानन्द प्राप्त होता है।

विचार।

उसको कहते हैं कि नित्य अनित्य को देखना बल बुद्धि और तेज और चौथे यह है कि जो बल और बुद्धि के द्वारा प्राप्त हुआ और चौथे यह है कि जो प्राप्ति होती है सो विचार के द्वारा होती है। इसका मतलब (आशय) यह है कि इन्द्रियों का जीतना और बुद्धि से आत्मा व्यापनी और तेज पदार्थ का आना यह विचार से होता है जिसको जो कुछ सिद्धि होती है सो विचार करने से होती है। इसके ऊपर एक दृष्टान्त है:—

दृष्टान्त।

एक साधु किसी सम्राट् की वाटिका में गया और अपना झोली तोंबा सम्राट् के सिहासन पर रखकर बैठ गया। शाम के समय जब सम्राट् वाटिका में वायु सेवन को आया तो साधु को देख कर बड़ा क्रोधित हुआ और बोला कि अरे मूर्ख ! तू नहीं जानता कि यह मेरा सिंहासन है। साधु बोला कि बाबा इतना क्रोध क्यों करते हो मैं तो इसको सराय समझ कर बैठा हूँ। यह सुनकर सम्राट् को और भी क्रोध हुआ। तब साधु ने कहा कि सुनो बाबा यह तो बतलाओ कि यह उपवन किसका है। सम्राट ने उत्तर दिया कि हमारा है, साधु बोला कि तेरे पहिले यहां कौन रहता था ? सम्राट ने कहा मेरा बाप रहता था। साधु बोला कि तेरे बाप के पहिले कौन रहता था, सम्राट ने कहा मेरा दादा रहता था, इसी प्रकार सम्राट अपनी सात आठ पीढ़ी तक का नाम ले गये तब साधु बोला कि बाबा जिस घर में यात्रियों की तरह

इतने आदमी रह रह कर चले गये तो सराय नही तो फिर क्या है। साधु के इस उत्तर पर सम्राट को विचार हो गया कि वास्तव में साधु ठीक कहता है अतः सम्राट अपनी राज-सत्ता को छोड़ कर साधु हो गया यानी जगत् और जीव का विचार करने लगा, विचार करते-करते परम पदवी को पहुंच गया । इसी प्रकार विचार करने को विचार कहते हैं।

सत्सङ्ग

जितने जो कुछ दान व तीर्थ इत्यादि साधन हैं उनसे आत्मपद की प्राप्ति होती। सत्सङ्गरूपी एक वृक्ष है और उसका फूल विचार है सो आत्मज्ञानरूपी फल को पाता है। जो पुरुष आत्मानन्द से रहित है सो सत्संग से आत्मानन्द से पूर्ण होता है और अज्ञान करके जो मृत्यु को पाता है सो सत्संग के संग से ज्ञान पाकर अमर होता है और जो आपदा करके दुःखी है सो सत्संग करके सम्पदा को पाता है इसी के ऊपर एक दृष्टान्त है:—

दृष्टान्त ।

एक भँवरा एक गोबर के कीड़े को उठाकर ले आया (क्योंकि भँवरों के बच्चा पैदा नहीं होता है उसी को अपना स्वरूप बना लेते हैं) और उसको लेकर एक कमल के फूल के ऊपर रस लेने को बैठ गया और उस फूल के ऊपर कीड़े को छोड़ कर दूसरे फूल के ऊपर रस लेने को गया इतने में शाम हो गई, फूल का मुँह बन्द हो गया तो कीड़ा उसके भीतर रह गया। भँवरे ने विचार किया कि कल जल्दी प्रातःकाल को आकर कीड़े को उठा ले जाऊंगा किन्तु सूर्य निकलने के पहिले ही उस फूल को माली तोड़ ले गया और माली के यहां से ब्राह्मण ने ले जाकर शिव के ऊपर चढ़ा दिया और दूसरा पूजा करने वाला आया उसने फूल को उठाकर गंगा जी में फेंक दिया। जब दिन चढ़ा तो भौंरे को कीड़े का स्मरण हुआ, तो उस फूल के ऊपर खोजने लगा, जब फूल को नहीं पाया तो विचार किया कि माली लेगया होगा, जब माली के घर में भी उस फूल को नहीं पाया तो ब्राह्मण के घर गया, जब वहाँ भी न पाया तो शिव के मन्दिर में जाकर देखा, लेकिन वहाँ पर भी कीड़े को नहीं पाया तो विचार किया कि गंगा जी में फेंक दिया होगा, गंगा जी में जाकर देखा तो फूल के ऊपर कीड़ा बैठा हुआ बहता चला जाता था, भँवरे ने कीड़े को उठाना चाहा तो उसने कहा कि हे मित्र ! अब मुझे कहाँ ले जाता है। मैंने संगति का फल पा लिया कि मैं गोबर में रहने वाला कीड़ा जिसको लोग छूते तक नहीं तेरे सत्संग से मैं शिव के शिर तक चढ़ा और साक्षात् गंगा जी में गिरा जिसके सिर्फ दर्शन ही से पापों के नाश होते हैं सो साक्षात् देह सहित गिरा, अब इससे बढ़कर और मुझे क्या चाहिये, सत्सङ्ग का फल ऐसा ही होता है।

श्लोक ।

संतोषः परमालाभः सत्संगः परमंधनम् ।
विचारः परमंज्ञानं शमश्च परमं सुखम् ॥

अर्थः—संतोष की बराबर कोई (ऐसा) दूसरा लाभ नहीं है और सत्संग की बराबर दूसरा धन नहीं है, विचार के बराबर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है और शम के बराबर दूसरा कोई सुख नहीं है, इसलिये प्रथम मुमुक्षु पुरुषों को यह बारह साधन करने चाहिये ।

इसके पश्चात् यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ और किस प्रकार पैदा हुआ । इसी ऊपर एक दृष्टान्त है कि:—

दृष्टान्त ।

एक दिन एक साधु का शिष्य जो किसी दूसरी जगह से आया था और रात्रि का समय था । चेले ने गुरू जीके सामने आकर प्रणाम किया । गुरु ने पूछा कि तू कौन है ? चेला बोला कि मैं हूँ । गुरु ने कहा तू कौन है ? चेला—मैं शरीर धारी हूँ । गुरु—तीन प्रकार के शरीर होते हैं कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, बस इन तीनों में से तू कौन है ? चेला—मैं स्थूल शरीर हूँ । गुरु—स्थूल शरीर की पैदायश पाँच तत्त्व और पंचीकरण से है (पृथ्वी जल-तेज-वायु आकाश) इनको पंचतत्त्व कहते हैं, इन्ही पाँच तत्त्वों के दो दो भाग करना और फिर आधे २ भाग को अलग रख देना और आधा जो अलग रक्खा था उन में चार चार भाग एक दूसरे में मिला देना इसी को पंचीकरण कहते हैं । और स्थूल शरीर जन्मता है बढ़ता है और नाश होता है और इसकी मूल उत्पत्ति जिससे तू घृणा करता है एक मूत्र की बूंद से है, पस इनमें तू कौन है ? शिष्य—मैं स्थूल नहीं हूँ मैं सूक्ष्म शरीर हूँ, गुरु—सूक्ष्म की उत्पत्ति सत्तरह वस्तुओं से है ? अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राण और एक मन और एक बुद्धि इनमें से तू कौन है । शिष्य—ये पदार्थ भी विकारवान् हैं, इनमें से भी मैं नहीं हूँ, मैं कारण शरीर हूँ । गुरु—कारण शरीर उसको कहते हैं कि जो न सत्य है और न असत्य है, सत्य तो इसलिये कहा जाता है कि जब निद्रावस्था में रहता है तब कहता है कि मैं बहुत सोया, ऐसा सोया कि मुझे कुछ ज्ञान नहीं था इस भांति से तो सत्य है और झूंठा इस प्रकार है कि जब सो करके उठता है तो शरीर ज्यों का त्यों स्थिर रहता है, अतः इनमें तू कौन है ? शिष्य—मैं इनमें भी नहीं हूँ, मैं वही हूँ जो न जन्मता है और न मरता है न घटता है, न बढ़ता है अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ—सत् उसे कहते हैं कि जो सर्वदा तीनों काल में एक समान रहे —चित् जो वस्तु देखने और कहने में आती है और उससे पृथक् हूँ, आनन्द अर्थात् सर्व प्रकार के दुःखों से रहित अप्रपंचरूप जो आत्मा है सो मैं हूँ, इसी प्रकार जानने को ज्ञान कहते हैं ।

ईश्वर और माया ।

शरीर और माया देखने भर ही सत्य हैं वास्तव में यह कोई वस्तु नहीं है । माया करके भास रहा है, और इनके कामों को अज्ञानी पुरुष मानते हैं, इसी करके आवागमन का दुःख पाते हैं, इसी के ऊपर एक दृष्टान्त है:—

॥ दृष्टान्त ॥

किसी साहूकार ने एक उपवन लगाया। उसमें दो रक्षक रक्खे, उनमें से एक तो अन्धा था, दूसरा लंगड़ा। उस उपवन में बहुत फल लगे थे। दोनों कहने लगे तुम तो भाई अन्धे और में पगुला, किस प्रकार हम लोग फल खा सकते हैं, अन्धे ने पँगुले से कहा कि तू मेरे कन्धे पर चढ़ जा और तू फल तोड़ना सो हम भी खायेंगे और तुम भी खाना, ऐसा ही उन लोगों ने किया, दो चार दिन के पश्चात् स्वामी देखने को आया और देखा कि उपवन में फल बहुत कम रह गये हैं, तब उन दोनों रक्षकों से पूछा कि उपवन के फल कौन व्यक्ति तोड़ ले जाया करता है ? उन्होंने उत्तर दिया कि आप विचार कर लीजिये कि यह तो अंधा और मैं पँगुला हूँ न इसकी शक्ति है और न मेरी। स्वामी भी यथोचित् उत्तर पाकर चुप हो रहा। इसी प्रकार कई बार देख चुका परन्तु किसी से कुछ नहीं कह सकता था। एक दिन उपवन का स्वामी उपवन के किसी ओर छिप कर बैठ गया और उन दोनों ने बदस्तूर (यथानियम) फल तोड़ना और खाना आरम्भ किया, तब तो स्वामी ने उन्हें बंदी कर लिया और बहुत मारा, जंहां तक मारा गया। जब हार गया तब उन्हें कारागार भेज दिया। अब इस पर विचार करना चाहिये कि संसाररूपी उपवन और इन्द्रियरूपी अंधा है और मनरूपी पंगुला और वासनारूपी फल और धन कुटुम्बरूपी वृक्ष इसमें मनुष्य फंस जाता है तब आत्मारूपी स्वामी उसको दण्ड देता है। विचार करना चाहिये कि मन का और इन्द्रियों का संयोग होता है तब वासना उत्पन्न होती है इसलिए मन को रोक करके इन्द्रियों के विषयों की तरफ (ओर) जाने नहीं देना चाहिये और अपने स्वामी आत्मतत्त्व को पहिचाने कि जिससे जन्म मरण से रहित हो जावें। जिस तरह जब लड़का क, ख, सीखता है उसी प्रकार प्रथम कार्मोपासना में मन को लगावें अर्थात् कर्मोपासना के आशय को समझें, यह नहीं कि ठाकुर जी के मंदिर जाता है और 'शान्ताकारं भुजगशयनं' मन्त्र पढ़ता है, उस मंत्र के पढ़ने में विशेषता नहीं है परन्तु प्रयत्न करें कि शान्तरूप और शेषनाग के ऊपर शयन करने वाला कैसा है ? जब उसको देखे फिर उसके अनुसार होने का उपाय करना चाहिये। इसी के ऊपर एक दृष्टान्त है:—

॥ दृष्टान्त ॥

एक स्त्री के यहाँ कोई अतिथि आया। वह विचारी दीन दुखिया थी और उसके घर में धान को छोड़ कर और कोई अन्य अनाज नहीं था कि महमान के वास्ते बना कर खिलावे, तब उसने धान कूटना शुरू किया। धान कूटते समय चूड़ियों का शब्द होने लगा, स्त्री ने विचार किया कि महमान को आवाज़ सुनने से अच्छी नहीं लगेगी तब वह अपनी एक चूड़ी फोड़ने लगी। प्रथम एक चूड़ी फोड़ कर देखा कि शब्द होता है कि नहीं लेकिन फिर चूड़ियों का शब्द होने से फिर एक चूड़ी तोड़ी। इस प्रकार तोड़ते तोड़ते उसके हाथ में एक चूड़ी रह गई तब उसने विचार किया कि यह ठीक है। अब इसी पर विचार करना चाहिये कि कर्म उपासना इत्यादि कर्मों को करता रहे, परन्तु यह नहीं कि उसी में फंसा रहे मगर आगे का मार्ग सरल करने की चिन्ता करता रहे जब अन्त में एक ही वस्तु रह जावे अर्थात् आप आत्मस्वरूप तो उसी को ब्रह्म कहते हैं। वह नित्य है, अनादि है, अनन्त है और जन्म मरण से रहित है और दूसरी कल्पना का त्याग करता रहे जिसको विचार कहते हैं। कल्पना अर्थात् विचार कोई नहीं क्योंकि जितने पदार्थ हैं सब कल्पना ही हैं और जिस कल्पना को कल्पना मानते हैं वह भी एक कल्पना है।

जिस प्रकार आकाश में अनेक भांति के चित्र देखते में आते हैं किन्तु देखते देखते सब नाश हो जाते हैं और शुद्धस्वरूप आकाश ही भासमान रह जाता है, इसी भांति कल्पना पदार्थ जहां तक विचार है वहीं तक हैं फिर अन्त में हम ही हम रह जाते हैं। अतः हमेशा विचार करते रहना चाहिये ये सब बातें मनुष्य के लिए हैं।

अभ्यास

अब कुछ अभ्यास के बारे में लिखा जाता है, अभ्यास करने वाले को प्रथम निदिध्यासन करना चाहिये, निदिध्यासन के बिना सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए ब्रह्मज्ञान की इच्छा करने वालों को बहुत काल तक मंगल के लिए निदिध्यासन करना चाहिये, निदिध्यासन के पन्दरह अंगों को कहता हूँ, इन्हीं अंगों के निदिध्यासन करना चाहिए।

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राण-संयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्म-ध्यान, समाधि।

यम

सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मरूप जानना, इस प्रकार निश्चय करके फिर इन्द्रियों को वश में करना यम कहलाता है।

नियम

मैं ब्रह्म हूँ और ब्रह्म से परे सम्पूर्ण संसार मिथ्या है।

त्याग

चैतन्य स्वरूप को अवलोकन करके जो प्रपंच का अर्थात् घटपट आदि नाम से व्यवहार के पदार्थों का त्याग करना त्याग कहलाता है।

मौन

जिसके उत्तर नहीं हो उसको तो क्या कहना है और जिसकी वाणी और मन की भी फुरना न होवे अर्थात् मन से, वचन से, और कर्म से इन तीनों से फुरना नहीं होने का नाम मौन है, मौन धारण करके फूलों से या और किसी वस्तु से लिखने का नाम मौन नहीं है।

देश

जहां आदि अन्त मध्य में कहीं भी मनुष्य नहीं होवें, जिस समय संसारियों का शब्द भी सुनाई नहीं देवे और निर्जन स्थान हो उसी को देश कहते हैं।

काल

जिसके फुरनमात्र में ही ब्रह्मा आदि सब सृष्टि स्थिति प्रलय होती है इस कारण अखंड आनन्द स्वरूप अद्वैत ब्रह्म को काल कहते हैं।

आसन

जिसमें सर्वदा भली-भांति सुख के साथ ब्रह्म का विचार होवे अर्थात् पद्मासन के आसन को आसन कहते हैं।

मूलबन्ध

आकाश आदिकों का आदिकारण और चित्त एकाग्र का मूल है उसी को मूलबन्ध कहते हैं।

देह साम्य

सब प्राणियों में सम-दृष्टि करके जो समान ब्रह्म में लीन हो जाता है उसको देह-साम्य कहते हैं।

दृक्स्थिति

दृष्टि को ज्ञानमय करके उस दृष्टि के द्वारा ब्रह्ममय जो जगत् को देखना है उसको दृक्-स्थिति कहते हैं।

प्राणायाम

चित्त आदि को लेकर सब प्रकार के पदार्थों में ब्रह्म भावना करके और सब प्रकार की इन्द्रियों की वृत्तियों का रोकना है उसको प्राणायाम कहते हैं।

प्राणायाम तीन प्रकार का है अर्थात् रेचक, पूरक, कुंभक-रेचक अर्थात् प्रपंच का त्याग और मिथ्यात्व को रोकना पूरक, सब एक ब्रह्म ही है इसी तरह वृत्तियों का रखना कुंभक, अनन्तर निश्चलता से एक ब्रह्म निश्चय होता है उसको कुंभक कहते हैं।

प्रत्याहार

सर्व जगत् को ब्रह्ममय देखकर और चैतन्य स्वरूप आत्मा में चित्त को लगाना उसको प्रत्याहार कहते हैं।

धारणा

जहां जहां मन जावे वहां वहां ब्रह्मस्वरूप दर्शनपूर्वक मनको निश्चल करने को धारणा कहते हैं।

आत्म-ध्यान

सम्पूर्ण विकारों को दूर करके और देह के कर्मों को त्याग करके तमाम ब्रह्म है इस प्रकार ज्ञान करके सम्पूर्ण ब्रह्म है इस प्रकार ज्ञान करके जो ब्रह्मस्वरूप अवलम्बन कर स्थिति करता है उसी को आत्म-ध्यान कहते हैं।

समाधि

निर्विकार चित्त हो करके अपने को ब्रह्म-स्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्ण प्रकार के प्रपंच भाव को परित्याग करना समाधि कहलाता है।

जब तक आनन्दमय ब्रह्म के वश में नहीं होवे तबतक निदिध्यासन भली प्रकार से अभ्यास करना चाहिये किन्तु जिस समय निदिध्यासन के द्वारा अपने आप ब्रह्मस्वरूप हो जाय उस समय निदिध्यासन आदि का कुछ प्रयोजन नहीं है।

अब थोड़ा सा वर्णन और करके इस विषय को समाप्त करते हैं—

संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिनको भौतिक पदार्थों की विशेष चाहना है, वे कर्म के ही अधिकारी हैं, उपासना अथवा ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। कर्म भी सकाम और निष्काम भेद से दो प्रकार के हैं, सकाम कर्म विधिपूर्वक करने से भौतिक पदार्थों की प्राप्ति रूप फल देते हैं और निष्काम करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कर्म के अधिकारी से उपासना का अधिकारी अधिक सूक्ष्म बुद्धिवाला होता है। ऐश्वर्य सहित परमात्मा की सामीप्यता का भाव रखना उसका उद्देश्य है। उपासना भी सकाम और निष्काम दो प्रकार की है। सकाम उपासना भौतिक पदार्थ और स्वार्गादि के सुख को प्राप्त कराने वाली है; निष्काम उपासना इष्ट पर विशेष भाव उत्पन्न करती है और अन्तःकरण शुद्ध करके ज्ञान के ठहरने योग्य बनाती है। ज्ञान दो प्रकार का है—संसार का और परब्रह्म का। ये दोनों भी परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार के हैं। अपरोक्ष ज्ञान भी अदृढ़ और दृढ़ दो प्रकार का है। सांसारिक ज्ञान परब्रह्म का ज्ञान न होने से ठीक नहीं है, परोक्ष ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं है, और अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान भी मोक्ष का हेतु नहीं है। ये सब प्रकार का ज्ञान कहने मात्र ज्ञान है, वास्तविक ज्ञान तो स्वरूप का दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान ही है। दूर रह कर जो जाना जाय वह परोक्ष ज्ञान है अर्थात् जानने वाला जिस ज्ञान से वस्तु को पृथक् भाव से जानता है वह परोक्ष ज्ञान है और जो एकमेक होकर जाना जाता है वह अपरोक्ष ज्ञान है। संशय विपर्यादि दोषों से रहित अपरोक्ष ज्ञान को दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं और संशय विपर्यादि दोषों सहित को अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं यह मोक्ष का हेतु नहीं है। अधिकारी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के हैं। उत्तम अधिकारी वास्तविक अधिकारी है। मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी अपनी न्यूनता को सत्संग और श्रवणादि से पूर्ण कर सकते हैं। ज्ञान के अधिकारी होने के प्रथम कर्म उपासना करनी पड़े यह नियम नहीं है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है वह कर्म और उपासना बिना ही ज्ञान का अधिकारी हो सकता है, क्योंकि पूर्वजन्म में की हुई शुद्धि भी इस जन्म में काम देती है।

समाधि का विशेष विवेचन।

समाधि के दो भेद हैं—(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्प। पुनः सविकल्प समाधि के भी दो भेद हैं, (१) दृश्यानुविद्ध, (२) शब्दानुविद्ध। उनमें जिसका दृश्य से सम्बन्ध है—दृश्य के सहारे से जो समाधि होती है वह दृश्यानुविद्ध समाधि है। दृश्य सम्बन्ध से है, दृश्य में समाधि नहीं है। जैसे किसी पदार्थ को जानने के लिए किसी एक पदार्थ का सहारा लिया जाय, इसी प्रकार यह समाधि है। जैसे रेखा खींचने में रूल का सहारा लिया जाय, जिससे रेखा सीधी खिंच जाय। परन्तु पीछे सीधी रेखा को रूल से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, इसी प्रकार दृश्यानुविद्ध समाधि है। जगत् और जगत् के सब पदार्थ काल्पनिक हैं इसी से सब दृश्य हैं, दृश्य के आन्तर में रहा हुआ उसका आधार और प्रकाशक वास्तविक तत्त्व दृष्टा है, वही दृश्य का साक्षी है। उस दृश्य को हटा कर उसके द्रष्टा साक्षी में चित्त को लगाना समाधि है। चित्त की एकाग्र वृत्ति समाधि में होती है। अंतःकरण की सात्विक वृत्ति में काम, चिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा,

धैर्य, अधैर्य, लज्जा, भय आदिक दृश्य हैं उनको हटाते हुए सदा अपने को उन वृत्तियों का साक्षी शुद्ध चैतन्य समझते हुए सदा ऐसे ही अनुसंधान पूर्वक आत्मानुभव करने को दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। इस प्रकार के अभ्यास से अन्तःकरण में आभास के आवेश से काम संकल्प आदि दृश्य वृत्तियों का अनुसंधान छूट कर मैं असंग आत्म-स्वरूप हूँ, ऐसा बोध होता है। "मैं असंग सच्चिदानन्द स्वयं प्रकाश द्वैत से रहित अद्वितीय हूँ, इस प्रकार की यह शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है।"

दृश्यानुविद्ध समाधि में जो क्रम प्रत्याहार धारणा और ध्यान का है वही क्रम शब्दानुविद्ध समाधि में भी है। दृश्यानुविद्ध समाधि में दृश्य को हटाते हुए दृश्य के सम्बन्ध वाले दृश्य के आधार को धारण किया था, शब्दानुविद्ध की धारणा में, तत्त्वमसि आदि महावाक्य और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के वाक्यों को समझ कर वाक्य के सहारे लक्ष्य से जो तत्त्व समझा गया है, उस वाक्य को भी हटा कर व्यापक परमतत्त्व जो धारण किया जाता है, वह शब्दानुविद्ध समाधि की धारणा है। दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध में धारणा के अनुसार ध्येय होता है और सविकल्प समाधि में दोनों की समानता है। दृश्यानुविद्ध में दृश्य को हटा कर शेष रहा हुआ परम तत्व है और उसको अपना प्रत्येक रूप समझा जाता है, इसी प्रकार शब्दानुविद्ध समाधि में शब्द के सहारे जो बोध हुआ है उसके शब्दादिक को हटाते हुए अपना प्रत्येक रूप परम तत्व समझे। दोनों प्रकार की समाधि में तत्व का बोध होता है।

दृश्यानुविद्ध शब्दानुविद्ध अथवा समाधि करते २ अभ्यास के बल से अन्तःकरण में आनन्द स्वरूप के आवेश से काम संकल्प आदि दृश्य वृत्तियों का अनुसन्धान छूट जाता है और मैं असङ्ग हूँ आत्मा स्वरूप हूँ इत्यादि शब्दों को भी छोड़ कर तूष्णी रूप शान्ति स्थिति को पहुँचता है, कभी २ विकल्प होने के कारण यह सविकल्प समाधि होती है और विकल्प का पूर्ण अभाव हो तब वही निर्विकल्प कही जाती है।

शब्दानुविद्ध समाधि शब्दों का वेधन करने को कही है इसी से प्रायः विचार रूप ही होती है। शास्त्र के वाक्य और सद्गुरु का उपदेश जो शब्दों द्वारा समझ में आया था उसके बार बार विचार करने वाला विचार का स्वरूप ही बन जाता है। "मैं असङ्ग अक्रिय हूँ" आदि विचार से ही कामादि विकार क्षीण होते हैं। विचार में ही लक्ष्य के ऊपर चित्त की एकाग्रता होती है। क्रिया योग द्वारा कोई शब्दानुविद्ध समाधि करने को चाहे तो शरीर के भीतर जो स्वाभाविक ध्वनि हुआ करती है, उसी के ऊपर चित्त वृत्ति को लगा कर ध्यान करने से श्रेष्ठ ध्यान होता है, तब प्राण मन्द पड़ कर समाप्त हो जाता है। वही ध्वनि अस्पष्ट होकर एकता को प्राप्त हो जाती है, वह मैं हूँ ऐसे बोध से ही समाधि सफल होती है। जो इस प्रकार का बोध न हो तो समाधि का फल नहीं होता। ज्ञान समाधि तो विचार सहित ही होती है इसीसे उसमें तो असङ्गादिक शब्दों को छोड़ कर स्वरूप में ही अपने को समझते हैं।

दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध दोनों प्रकार की समाधि में, दृश्य के साथ में संपूर्ण जगत् की निवृत्ति होती है, ऐसे ही शब्द के साथ में संपूर्ण जगत् की निवृत्ति होती है। दृश्य रूप है यह मायिक है और शब्द नाम है, इसी से यह भी माया का है, दोनों मायिक होने से एक दूसरे का सम्बन्धी होने से एक को हटाने से दूसरे को भी हटना पड़ता है। दृश्यानुविद्ध समाधि में दृश्य का त्याग किया है, दृश्य नाम वाला ही होता है, नाम

का त्याग होगया तब उसके साथ रूप का भी त्याग होने से सच्चिदानन्द ही शेष रहा। ऐसे ही शब्दानुविद्ध में शब्द का त्याग होता है, इसलिये शब्द से सम्बन्धित रूप का त्याग हो जाने से शेष ऐसा अस्ति भाति प्रियरूप सच्चिदानन्द ही रहा।

समाधि बुद्धि का सम होना है, एकाकार होना है। जो लोग समाधि को जड़ होना कहते हैं यह ठीक नहीं है। विषम बुद्धि ही जगत् की बुद्धि है, बुद्धि अपनी अनेक प्रकार की वृत्तियों वाली विशेषता को विषमता को छोड़ कर सम भाव को प्राप्त हो तब सम ऐसा परब्रह्म ही होता है। सुषुप्ति अवस्था में लय हुई बुद्धि सम दीखती है। तब भी वह सम नहीं है इसी से सुषुप्ति समाधि नहीं है। बोध स्वरूप ही बुद्धि में है, बुद्धि में से मायिक उपाधि—भिन्नता का त्याग करने से बोध स्वरूप ही शेष रहता है। बुद्धि अनेक प्रकार से अनेक प्रकार के पदार्थों में भटकती रहती है, नामरूप ही भटकने का हेतु है, इसी से नाम रूप के त्यागवाली शब्दानुविद्ध और दृश्यानुविद्ध समाधि हैं।

दृश्यानुविद्ध समाधि की सिद्धि के अनन्तर और ऐसे ही शब्दानुविद्ध समाधि की सिद्धि के बाद उनका भी भान हटा देना चाहिये वा दृश्य अथवा शब्द की उपेक्षा की जाय, तब सविकल्प समाधि से उच्च-अवस्था प्राप्त होती है। सविकल्प समाधि में विकल्प का भान होता था यानी कभी कभी सूक्ष्म भाव में मन चंचल हो जाता था और कभी त्रिपुटी का भी अस्पष्टरूप से भान होता था वह हट जाता है और प्रवाहित वृत्ति स्थिर होती है। प्रवाह का भी भान नहीं होता, ज्ञाता ज्ञान दोनों ही ज्ञेयरूप हो जाते हैं, ज्ञेय ही ज्ञेय शेष रहता है और वहाँ किसी प्रकार का विकार-विकल्प न होने से उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

सविकल्प समाधि में कभी उत्थान संस्कार अस्पष्ट होता था और निरुद्ध संस्कार के बल से दब जाया करता था, अब वह संस्कार का उत्थान ही नहीं होता और उनको हटाने के लिये निरोध संस्कार की भी आवश्यकता नहीं रहती। सब प्रकार से वृत्ति का निरोध होकर निरोध वृत्ति का भी भान नहीं होता। चैतन्यमय हो जाता है तब शुद्ध समाधि होती है और उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। निर्विकल्प समाधि में चित्त की एकाग्रता चैतन्य में होती है और चित्त की पृथकता भी चैतन्य में ज्ञात नहीं होती। ध्यान की अवस्था में चित्त की एकाग्रता का प्रवाह था और त्रिपुटी के भाव सहित होता था, सविकल्प समाधि में एकाग्रता की अधिकता और त्रिपुटी का अस्पष्ट भान होता था अब निर्विकल्प समाधि में त्रिपुटी के भाव रहित, चित्त की पृथकता रहित चैतन्य से एकता होती है यानी चित्त चैतन्य भाव को प्राप्त होता है, स्थिर होता है। इसी कारण से चित्त का लय चैतन्य में कहा जाता है क्योंकि चित्त की पृथकता नहीं रहती। योगी का चित्त जो अनेक प्रकार से चंचल था अब वह चंचलता छोड़ कर वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा जैसे एकसी रहती है, लौ हिलती नहीं, इसी प्रकार योगी का चित्त हिलता नहीं। वृत्तियों का हिलना ही चित्त है, जब वृत्तियों से रहित चित्त होता है तब चित्त की पृथकता प्रतीत नहीं होती और वहाँ चित्त चैतन्य स्वरूप ही होता है। स्वरूप का अनुभव होता है, मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष होता है और चित्त की अज्ञानावस्था की काम क्रोधादिक वृत्तियों का अभाव होता है। विक्षेप का हेतु वहाँ कोई नहीं होता और भिन्नता रहित भी बोध होना ही चाहिये, यदि स्वप्नाकाशरूप का बोध न हो तो सुषुप्ति अवस्था जानना चाहिये, चित्त का अभाव समाधि नहीं। चित्त वृत्तियाँ और पृथकता जो विक्षेप का हेतु हैं और न जानना समाधि में जो आवरण

का हेतु है ये दोनों नहीं होते यानी दोनों शक्ति जिसकी हैं ऐसी अविद्या भी नहीं होती। वृत्ति रहित चित्त की चैतन्य में स्थिति समाधि है। चित् का अभाव समाधि नहीं, इसी से महर्षि पतंजलि ने चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है। चित्त जो जाग्रतावस्था और स्वप्नावस्था में विषयाकार वृत्ति का होता है और सुषुप्ति में अविद्यामय अबोधरूप होता हैं, ऐसा न होकर चैतन्याकार होना समाधि है।

सविकल्प समाधि की अन्तिम दशा में साक्षात्कार होकर योगी निर्विकल्प होता है। निर्विकल्प ही स्वस्वरूप है। अद्वैत होते हुए भी सुषुप्ति और मूर्च्छा के समान नहीं हो, पृथक् बोध न होते हुए भी बोध स्वरूप हो, दृष्टा दृश्य और दर्शन के अभाव में स्वस्वरूप का अनिर्वचनीय अकथनीय द्वैत रहित एक तत्त्व का बोध हो यह बोध अनुभव स्वरूप है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों का अविषयरूप, स्वतः सिद्ध प्रमाणरूप भौतिक ज्योति से विलक्षण ज्योतिस्वरूप स्थिति ही निर्विकल्प समाधि है।

एक संत के पास दो मुमुक्षु आया करते थे, दोनों अधिकारी के लक्षणों से युक्त थे, संत के ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखते थे, संत के वाक्य को ईश्वर वाक्य समझते थे, दोनों ने पूर्ण निश्चय समझ रक्खा था कि हमारा कल्याण संत के उपदेश से ही होगा, संत के समागम को अपना अहोभाग्य मानते थे। दोनों मनुष्यों ने संत से उपदेश देने की प्रार्थना की। सन्त ने दोनों को अधिकारी के लक्षणों से युक्त देख कर उपदेश देना स्वीकार किया। दोनों को भिन्न २ उपदेश दिया। दोनों योग्य होते हुए भी उनमें एक की बुद्धि सूक्ष्म थी और दूसरे की बुद्धि कुछ स्थूलता युक्त सूक्ष्म थी, इसी कारण दोनों के उपदेश में अन्तर था। कुछ स्थूलता युक्त सूक्ष्म बुद्धि वाले को इस प्रकार कहा:—

जितने पदार्थ देखे जाते हैं प्रत्येक का कोई आधार अवश्य होता है, आधार दीखे अथवा न दीखे तो भी आधार अवश्य होता है और उसका आधार का भी आधार होता है जो मूल आधार है, उसका कोई आधार नहीं होता, वह एक और अखण्ड है और वास्तविक यह आधार और आधेय रहित है। उसका अन्य आधार नहीं है। यह परम तत्व है जिसे स्वस्वरूप अथवा परब्रह्म कहते हैं। उसके सामने कोई अन्य पदार्थ ही नही है तब वह किसका आधार हो? यही पारमार्थिक सत्ता स्वरूप है, व्यवहारिक सत्ता वाले के व्यवहारिक पदार्थ का उसे आधार कह सकते हैं।

जैसे एक घड़ी है, घड़ी का आधार खीसा (जेब), खीसे का आधार कोट, कोट का आधार मनुष्य; मनुष्य का आधार मकान, मकान का आधार पृथ्वी, ऐसे कर के सब पदार्थों का आधार पृथ्वी है। पृथ्वी जल का कार्य होने से जल का आधार पृथ्वी, अग्नि वायु का कार्य होने से अग्नि का आधार वायु, वायु आकाश का कार्य होने से वायु का आधार आकाश, आकाश अविद्या का कार्य होने से आकाश का आधार अविद्या है। अविद्या विद्या से विरुद्ध होने से विद्या स्वरूप तत्व के अपूर्ण बोध में भासती है और सब का मूल आधार परब्रह्म में अविद्या भासती है। परब्रह्म को छोड़ कर अविद्या की स्वतन्त्र कोई भी सत्ता नहीं है। अविद्या, माया, प्रकृति, अज्ञान, यह एक ही स्वरूप है।

एकान्त में बैठ कर इस प्रकार सब दृश्यों के आधार को ग्रहण करते हुए हटाता चला जा, जब सब दृश्य हट जायँगे तब परब्रह्म ही शेष रहेगा, उसी को समझ, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। आधा घण्टा

अथवा एक घण्टा नित्य प्रति विचार में लगाता रह, सब दृश्य हटते ही तुझे अपने स्वरूप का बोध हो जायगा। गुरु-उपदेश के अनुसार मुमुक्षु अभ्यास में प्रवृत्त हुआ, सब दृश्य को हटा कर आत्मानुसन्धान करने लगा।

सन्त ने दूसरे मुमुक्षु को, जो प्रथम वाले से सूक्ष्म बुद्धि वाला था, इस प्रकार उपदेश दिया:—

संतः—तूने तत्त्वमसि महावाक्य पढ़ा है और मुझ से कई समय सुना भी है वही फिर कहता हूँ। तत् त्वं और असि, यह तीन पद हैं। तत्=वह=ईश्वर, त्वं=तू=जीव और असि=है; 'है' यह पद दोनों की एकता करता है। अब विचारना चाहिये कि ईश्वर महान् है, सर्वज्ञ है और तू जीव तुच्छ है, अल्पज्ञ है और प्रत्यक् है, इस प्रकार के विरुद्ध लक्षणों से युक्त पदार्थों की एकता हो नहीं सकती। माया जिसकी उपाधि है ऐसा चैतन्य ईश्वर है और अविद्या जिसकी उपाधि है ऐसा चैतन्य जीव है; दोनों में चैतन्य एक ही है, दोनों की उपाधि भिन्न २ हैं उपरोक्त दोनों उपाधियों का बोध करके शेष वह कुछ नहीं है, इस प्रकार समझ कर चैतन्य की एकता कर। उपाधि के भाग को त्याग करने से शेष रहे हुए तत्व का बोध हो जाता है। यह बोध स्वरूप मैं हूँ ऐसा समझ कर टिक जा, बारम्बार विचार करके उपाधि की ओर से चित्त वृत्ति को हटा दे जिससे चित्त की वृत्ति तक न रहने पावे।

यह शिष्य भी गुरु के उपदेश के अनुसार शब्द के सहारे से कुछ काल तक अभ्यास करता रहा।

दोनों मुमुक्षुओं ने गुरु के उपदेश के अनुसार कितने ही दिनों तक अभ्यास किया। दोनों को धारणा, ध्यान और समाधि होने लगी। जब संत ने समझ लिया कि दोनों सविकल्प तक पहुँच गये हैं तब एक दिन दृश्यानुविद्ध समाधि वाले से पूछा।

सन्त—तू कितने दिन से अभ्यास करता है? अब कहाँ तक पहुँचा है? दृश्य का बोध रहता है या नहीं?

मुमुक्षुः—महाराज आरम्भ में तो दृश्य के बाध्य करने की वृत्ति ही होती नहीं थी, कुछ दिन पश्चात वृत्ति होने लगी तो भी चलित हुआ करती थी; अब प्रवाह रूप से रहती है और कभी कभी प्रवाह का भी भान नहीं होता और त्रिपुटि बनी रहती है; कभी त्रिपुटि अस्पष्ट मालूम होती है और जितने समय त्रिपुटि अस्पष्ट होती है आनन्द मालूम होता है।

सन्तः—तेरा अभ्यास ठीक ठीक चल रहा है, तू दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि में पहुँचा है, अब अधिक अभ्यास से निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होकर स्वरूप के बोध से कृतार्थ होगा।

सन्त ने दूसरे मुमुक्षु से पूछा—'तेरे अभ्यास की क्या दशा है? शब्द के सहारे से तूझे समाधि प्राप्त हुई या नहीं? अभ्यास के आरंभ से अभी तक का वर्णन कर।'

मुमुक्षुः—महाराज 'तत्त्वमसि' महावाक्य में मैंने अपने शुद्ध स्वरूप को जाना है, परन्तु स्वरूप में टिकता नहीं हूँ, या स्वरूप में टिक कर जानता नहीं हूँ। प्रथम शब्द के लक्ष्य की ओर वृत्ति को ले जाता

था परन्तु वह वहाँ न रह कर शब्द की ओर लौट आती थी, अब कुछ टिकने लगती है। शब्द के भान रहित लक्ष्य में जाती है। वृत्ति का प्रवाह चला करता है परन्तु शब्द सर्वथा निर्मूल नहीं होता; कभी त्रिपुटि स्पष्ट जानी जाती है कभी अस्पष्ट।

सन्त ने उसको भी अधिक अभ्यास करने को कहा। दोनों अभ्यास करके निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त हुए।

अस्ति भाति प्रिय स्वरूप जो परब्रह्म है उसमें मायिक नाम रूप का रङ्ग चढ़ गया है, इस नाम रूप के रङ्ग को वैराग्य रूपी क्षार और चित्त वृत्ति एकाग्रता रूप अभ्यास से हटा कर परब्रह्म का बोध होता है—परब्रह्म में समाधि होती है, इस सविकल्प समाधि में भी जो बोध होता है वह अन्य पदार्थों के बोध से विलक्षण है क्योंकि यह अपना ही स्वरूप है।

आन्तर में से नाम रूप को हटा देने से आन्तर में समाधि होती है, ऐसे ही बाहर के किसी पदार्थ में से नाम रूप को हटा देने से भी समाधि होती है। परब्रह्म का बोध होता है। जैसे अन्तःकरण में अन्तःकरण वह नाम है और इन्द्रिय से युक्त होकर बोध करना रूप है; ऐसे अन्तःकरण और उसके कार्यरूप को हटा देने से जिस चैतन्य के आधार में यह है उसका भान होता है। अन्तःकरण का बाध होने से परब्रह्म का भान होता है। समाधि होती है। जैसे अन्तःकरण में समाधि होती है ऐसे ही बाहर के पदार्थ के नाम रूप को हटा देने से भी परब्रह्म में समाधि होती है। आन्तर समाधि में एक स्थान के नाम रूप का त्याग किया जाता है, क्योंकि ज्ञाता इनसे पृथक् नहीं है और बाहर की समाधि में अन्तःकरण और बाहर के पदार्थ दोनों के नाम रूप का त्याग हो जाता है।

समाधि

-:-

षट् समाधि का अभ्यास

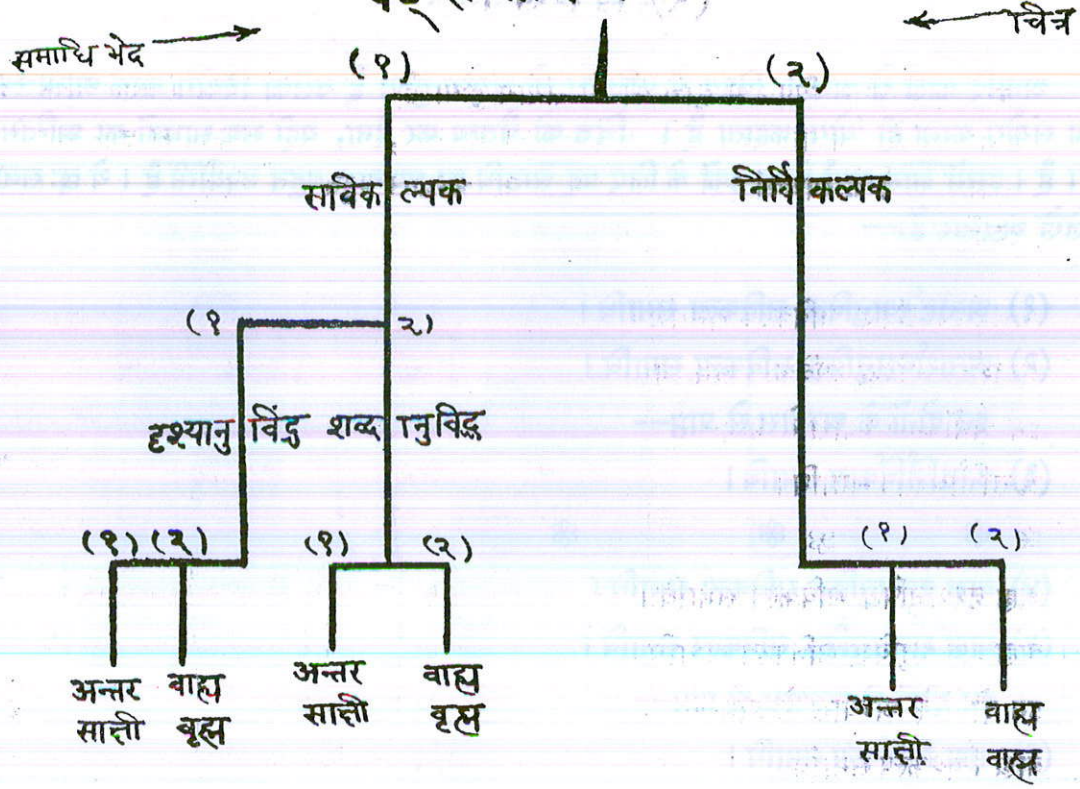

समाधि के विशेष नाम :—

१ साक्षिविषय अन्तर दृश्यानुविद्ध सविकल्पक समाधि,

२ ब्रह्म विषय बाह्य दृश्यानुविद्ध " "

३ साक्षिविषय अन्तर शब्दानुविद्ध " "

४ ब्रह्म विषय बाह्य शब्दानुविद्ध " "

५ साक्षि विषय अन्तर निर्विकल्पक समाधि,

६ ब्रह्म विषय बाह्य निर्विकल्पक समाधि,

विषय :—

इस प्रकार से कुछ समाधियां ६ प्रकार की होती हैं। तीन अन्तर तीन बाह्य हैं सभी अन्तर (मानस) समाधियों में साक्षी (परमार्थिक जीव) का ध्यान होता है, एवं तीनों बाह्य समाधियों में ब्रह्म का ध्यान होता है।

(२) विवरण ।

अनादि काल से अनात्म विषय में वृत्ति का जो संयोग हुआ है उसका वियोग करके आत्म-स्वरूप में वृत्ति का संयोग करना ही 'योग' कहाता है। चित्त को चैतन्य कर देना, यही सब साधनों का अन्तिम ध्येय या योग है। इसमें ज्ञान मार्ग के साधकों के लिए षट् समाधि का अभ्यास बहुत उपयोगी है। ये छः समाधियाँ नीचे लिखे अनुसार हैं:—

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(२) अन्तर्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि।

इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त—

(३) अन्तर्निर्विकल्प समाधि।

❀ ❀ ❀

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि।

इन दोनों के अभ्यास से प्राप्त—

(६) बाह्य निर्विकल्प समाधि।

समाधि के ये छः अङ्ग हैं।

वृत्ति के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग, दो मुख होते हैं। वृत्ति जब अन्तर्मुख होती है—भीतर की ओर प्रविष्ट होती है तब उपर्युक्त त्रिविध अन्तरङ्ग समाधियों का अभ्यास करे, और वृत्ति बहिर्मुख होकर बाह्य दृश्य में क्रीड़ा करने लगती है तब उपर्युक्त त्रिविध बहिरङ्ग समाधियों का अभ्यास करे। इससे—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

'जहाँ भी मन जाय वहीं समाधि कर ली' इस प्रकार 'अखण्ड' समाधि प्राप्त होती है।

इन समाधियों का अभ्यास कैसे करना चाहिए, यह आगे बतलाते हैं—

(१) अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि—अन्तर में काम-क्रोधादि जो वृत्तियां हैं वे ही 'दृश्य' हैं। इन दृश्यों के भावाभाव का साक्षी शुद्ध चैतन्य रूप मैं हूँ, इस प्रकार चिन्तन करना—वृत्ति को साक्ष्याकार करना अर्थात् साक्षी में लीन करना ही 'अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(२) अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि—'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि श्रुति के श्रवण और चिन्तन से स्वयं प्रकाश रूप आत्माकार वृत्ति करना ही 'अन्तश्शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है।'

(३) अन्तर्दृश्यानुविद्ध और अन्तश्शब्दानुविद्ध समाधियों के अभ्यास से होने वाली 'अन्तर्निर्विकल्प समाधि'—इसमें चित्त की स्थिति 'अचलदीपवत्' अथवा जैसा कि गीता में कहा है, 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'—निवातस्थ दीप के समान होती है। अर्थात् दृश्य और शब्द दोनों संबन्ध छूट जाते हैं और अचल दीप शिखा-सी सादृयाकार वृत्ति होती है।

(४) बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि—बाहर जगत् के पदार्थों को देख कर होने वाली नाम-रूपाकार वृत्ति को त्याग कर अर्थात् नाम और रूपगत मायांश को त्याग कर उसके अस्ति-भाति-प्रियरूप ब्रह्मांश का अनुसंधान करना 'बाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

(५) बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि तत्पद निर्देश करने वाले वाक्यों से चराचर जगत् का ब्रह्म रूप से चिन्तन करना—वृत्ति को ब्रह्माकार करना 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' है।

बाह्य दृश्यानुविद्ध और बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियों के अभ्यास से जो स्थिति होती है, जिसमें नाना रूपों को देखते हुए अस्ति-भाति-प्रियरूप की ओर ध्यान बंधता है, वृत्ति निस्तरङ्ग होकर ब्रह्माकार होती है, उस स्थिति को बाह्य निर्विकल्प समाधि कहते हैं। वह 'निस्तरङ्ग समुद्रवत्' अथवा 'कल्पाम्बुनीरवत्' होती है।

[त्वं पद साक्षी का निर्देश करने वाले वाक्य अन्तश्शब्दानुविद्ध समाधि के बोधक शब्द हैं और तत्पदार्थ का बोध कराने वाले वाक्य बाह्य शब्दानुविद्ध समाधि के साधक शब्द हैं, ऐसा समझना चाहिये।]

❀ ❀ ❀ ❀

आत्म-साक्षात्कार और जगन्मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी जीवन्मुक्त को नामरूपाकार जगत् की प्रतीति होती ही है। नदी-किनारे खड़े होने से नदी के जल में अपना उलटा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है अर्थात् शिर नीचे और पैर ऊपर दिखाई देते हैं। अभ्यास की दृढ़ता से जगत् का मिथ्या भास नहीं रह जाता। ऐसी समाधि उपयुक्त षट् समाधियों के आभास से प्राप्त होती है। उसका वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता। वह स्वसंवेद्य ही है। वह समाधि सप्त-भूमिका की छठी भूमिका है।

उत्थानेवाप्यनुत्थानेऽप्यप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
समाधि षट्कं कुर्वीत सर्वदा प्रयतो यतिः ॥९००॥
विपरीतार्थधीर्यावन्न निशेषं निवर्तते।
स्वरूप स्फुरणं यावन्न प्रसिद्धयत्यनिर्गलम्।
तावत्समाधिषट्केन नयेत्कालं निरन्तरम् ॥९०१॥

(श्रीशंकराचार्य-कृत सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह)

'उत्थान में और अनुत्थान में भी, अप्रमत्त और जितेन्द्रिय होकर यत्नशील साधक इस समाधि षट् का अभ्यास करे। मायाजनित 'आवरण' और 'विक्षेप' सर्वथा जब तक नष्ट नहीं होते अर्थात् आत्मा के ऊपर तद्विपरीत जमी हुई अनात्मबुद्धि (ब्रह्म में होने वाली जगद्बुद्धि) जब तक समूल उखड़ नहीं जाती तब तक इस समाधि का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। इसमें कभी प्रमाद न हो।'

न प्रमादोऽत्र कर्तव्यो विदुषा मोक्ष मिच्छता।
प्रमादे जृम्भते माया सूर्यापाये तमो यथा ॥९०१॥
स्वानुभूतिं परित्यज्य न तिष्ठन्ति क्षणं बुधाः।
स्वानुभूतौ प्रमादो यः स मृत्युर्न यमः सताम् ॥९०३॥

भावार्थः—'मोक्ष की इच्छा करने वाला विद्वान् इस अभ्यास में कदापि प्रमाद (गलती, गफलत आलस्य) न होने दे। कारण, सूर्यास्तकाल में जैसे अन्धकार, वैसे ही प्रमाद में माया का उद्भव होता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वानुभूति छोड़ कर एक क्षण भी नहीं रहते, कारण, वे यह जानते हैं कि स्वानुभूति में प्रमाद का होना ही ज्ञानियों की मृत्यु है, यम मृत्यु नहीं।'

इन षट् समाधियों में पहली तीन समाधियाँ अपने भीतर साधने की हैं और आगे की तीन समाधियाँ सम्पूर्ण द्वैत निवृत्ति के लिये बाहरी दृश्य जगत् में साधने की हैं।

यथा समाधित्रितयं यत्नेन क्रियते हृदि।
तथैव बाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये ॥

(सर्व वेदान्तसिद्धान्तसार संग्रह)

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

(श्रुतिः)

[कल्याण से] ॐ तत्सत् [श्रीशिवपुत्र स्वामी, श्री सिद्धारूढमठ, हुबली।]

समाधि करने का प्रयोजन।

प्रश्न—समाधि करने से प्रयोजन क्या सिद्ध होता है?

उत्तर—एक हठयोग रूप और दूसरी राजयोग रूप समाधि है। हठयोग रूप समाधि के सिद्ध होने पर हृदय की शुद्धि व सिद्धियों की प्राप्ति होती है परन्तु राजयोग रूप समाधि अद्वैत ज्ञान को कहते हैं

अर्थात् असंग, निष्क्रिय, प्रकाश स्वरूप ब्रह्मात्मा का एक निश्चय रूप समाधि सर्वोत्तम है और समाधि का कर्त्तव्य समझना बन्धन रूप है परन्तु हठयोग का साधना कलियुग में अति कठिन है कारण यह है कि यम, नियम आदि साधन इस काल में बनने कठिन हैं और शुद्ध भावों के होने व पदार्थों के जानने से ब्रह्म-ज्ञान का प्रकाश-अभ्यास के द्वारा सुगम हो सकता है। यों तो ता० ६ नवम्बर सन् १९४४ ई० को सायं-काल के ७॥ बजे एक महात्मा ने जोधपुर में १४ घंटे की हठयोग समाधि लगाई थी और दूसरे दिवस ९॥ बजे प्रातःकाल जब समाधि छूटी तो राज्य कर्मचारी ऊंचे और बड़े व जोधपुर की जनता सहित इस समाधि को देखकर चकित रह गये। यहां तक की गुलाब की पुष्पमाला जो महात्मा जी के गले में समाधि के समय पहनाई गई थी वैसी की वैसी बनी रही कहीं से किंचित् भी फूल मुरझाये न थे।

आत्मा सब वासना से रहित व षट् विकारों से अतीत, व्यापक, शान्त स्वरूप अपार है, विक्षेप (चंचल वृत्ति) को त्याग करके उस चैतन्य की दृढ़ भावना करो तब सर्वथा उन्नति व कैवल्य पद को पाकर के कृतार्थ होवोगे।

जैसे घट के बाहर, भीतर आकाश पूर्ण होता है तैसे ही सब भूत प्राणियों के भीतर, बाहर ब्रह्म सदैव व्यापक है। वह दूर व दुर्लभ नहीं--विचार करने से साक्षात्कार होता है।

'नेति नेति' इस श्रुति वाक्य से सम्पूर्ण उपाधियों को त्याग करके अद्वैत चैतन्य मात्र को महावाक्यों के विचार से निश्चय करना चाहिये और जो भेद भासता है वह केवल अज्ञान से है। आकाश की नाई ब्रह्मात्म एक पूर्ण है ऐसा जानकर विद्वान् कृतकृत्य होता है।

प्रश्न—भेद माने बिना व्यवहार, परमार्थ क्या सिद्ध हो सकते हैं?

उत्तर—व्यवहार में तो सभी को भेद मानना ही पड़ता है। भेद माने बिना कोई कार्य नहीं हो सकता परन्तु अद्वैत शुद्ध परमात्म (ब्रह्मात्म) में व ईश्वर और जीवों में वास्तव से भेद मानना अज्ञानता है। जैसे मिट्टी के सब बासनों में मिट्टी व आकाश एक है तैसे माया व चैतन्य सब एक हैं। हां, जगत् के नाम रूप और व्यवहारों में भेद मानना ठीक है।

सब भूत, भौतिक प्राणियों का आत्मा एक है। जैसे सूर्य्य का प्रकाश सर्वत्र एक और आकाश सब में एक पूर्ण है तैसे ही ब्रह्मात्म सब देहधारियों में अद्वैत पूर्ण है। अनजान ब्रह्मात्मा में वास्त-विक भेद मानते हैं। इस प्रसंग से यह सिद्ध हुआ कि व्यवहार दशा में ज्ञानी, अज्ञानी सब को भेद मानना पड़ता है परन्तु ज्ञान दृष्टि से ब्रह्म चैतन्य में भेद कभी नहीं।

सप्त ज्ञान भूमिका

ज्ञान और उस ज्ञान से विभूषित महापुरुषों की अन्तर्बाह्य स्थिति के स्वरूप को समझने में सरलता हो, इसलिये ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। ये सात भूमिकाएँ ये हैं:—

भूमयः सप्त तद्वरत्स्युज्ञानस्तोक्ता महर्षिभिः ।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञान भूमिः प्रकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी ।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा ॥

(वेदान्त सिद्धान्तादर्श, १९०-१९२)

महर्षियों ने ज्ञान की सात भूमिका कही हैं यथाः—पहिली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्वापत्ति, पाचवीं असंसक्ति छटी पदार्थाभाविनी और सातवीं तुरीया ।

१. शुभेच्छा—नित्यानित्यवस्तुविवेकादि पुरसरा फल पर्यवासिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा ।

'नित्यानित्य वस्तु विवेक—वैराग्यादि के द्वारा सिद्ध हुई फल में पर्यवसित होने वाली मोक्ष की इच्छा अर्थात्विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्ष के लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है ।'

२. विचारणा—गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्य विचारात्मक श्रवण मननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा ।

'श्री सद्गुरु के समीप वेदान्त-वाक्य के श्रवण-मनन करने वाली जो अन्तःकरण की वृत्तिः है वह सुविचारणा कहलाती है ।'

३. तनुमानसा—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस की एकाग्रता या सूक्ष्मवस्तुग्रहण योग्यता तनुमानसा ।

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासना के अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तु के ग्रहण करने की सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं ।'

ये तीन भूमिकाएँ कहलाती हैं । क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट ज्ञात होता है । इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं । क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादन योग्यतामात्रं संपद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते ।

इन तीनों अवस्थाओं में तत्त्व ज्ञान के प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्म ज्ञान नहीं प्राप्त होता; अर्थात् इन तीन भूमिकाओं में विचरता हुआ पुरुष ब्रह्म में अभेद भाव को प्राप्त नहीं होता । परन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए इनकी पहले-अत्यन्त आवश्यकता होने के कारण इनकी गणना अज्ञान की भूमिका में न होकर ज्ञान की भूमिका में ही होती है ।

ज्ञान भूमिकात्वं तु ज्ञानेतर कर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यै वाधिकारित्वात् ।

इन तीन भूमिकाओं में स्थित पुरुष ज्ञान से इतर कर्मादि का अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान तत्व-ज्ञान का ही अधिकारी होता है।

४. सत्त्वापत्ति—निर्विकल्प ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कारः सत्वापत्तिः।

संशय विपर्ययरहित ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नाम की चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिका में स्थित महापुरुष को 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या का वास्तविक अनुभव हो जाता है। यद्यपि इस दशा को प्राप्त पुरुष को जगत् का ज्ञान होता है और शरीर तथा अन्तःकरण द्वारा सभी क्रियाएँ सावधानी के साथ होती हैं तथापि मायावश जिस जिस जगत् को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत् के मिथ्यात्व का उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५. असंसक्ति—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पक समाध्यवस्था संसक्तिः।

सविकल्प समाधि के अभ्यास द्वारा मानसिक वृत्तियों के निरोध से जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था होती है। वही असंसक्ति कहलाती है। इससे सुषुप्ति-अवस्था के समान ब्रह्म से अभेद भाव प्राप्त हो जाता है। यह जग प्रपञ्च को भूला रहता है, परन्तु समय पर स्वयं ही उठता है और किसी के पूछने पर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाह की क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

६. पदार्थाभाविनी—असंसक्ति भूमिकाभ्यास पाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभाविनी।

असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिका के परिपाक से प्राप्त पटुता के कारण दीर्घकाल तक प्रपञ्च के स्फुरण का अभाव पदार्थाभाविनी भूमिका कहलाती है। पाँचवी भूमिका में विश्वप्रपञ्च का विस्मरण अल्प काल तक ही रहता है और छठी भूमिका में यह स्थिति दीर्घ काल पर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओं में केवल समय का ही भेद होता है। इस भूमिका को गाढ़ सुषुप्ति के नाम से पुकारते हैं। इस भूमिका में स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थत दशा में आकर नहीं करता, परन्तु—

अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।

अर्थात् अन्य के द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है। दूसरा कोई मुँह में ग्रास दे देता है तो दांत और जीभ से खाने की क्रिया हो जाती है। इत्यादि।

७. तुरीया—तुर्यगा-ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।

ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न इस महापुरुष को पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थ की परिस्फूर्ति का न होना, यही ज्ञान की सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थिति को प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक

या परेच्छापूर्वक व्युत्थान को प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मभूत स्थिति में ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीय प्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

इस प्रकार ज्ञान की सात भूमिकाओं में प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्ति के लिये योग्यता प्राप्त करने के निमित्त बनाई गई हैं। चौथी से सातवीं भूमिका तक ज्ञान की दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशा की भूमिका है। चतुर्थ भूमिका में ही तत्वज्ञान का यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओं में स्थित रहता है। व्युत्थान दशा के तारतम्य से इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। अतः ब्रह्म के जानने वालों को ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानी की संज्ञा से शास्त्रों ने स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।

एताः सत्त्वपत्त्याद्याश्चतस्त्रो भूमिका एव ब्रह्मविद् ब्रह्मविद्वर विद्वरीयो ब्रह्मद्विरिष्ठेत्येतैनी मभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओं में स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है'।

(कल्याण-गोरखपुर, यू० पी० से) (श्री हरिलाल भोगी लाल वैद्य)

अन्यः—

श्रीमत्परमहंस श्रीस्वामी हंसस्वरूप अपनी श्रीमद्भगवत्गीता की हंसनादिनी टीका में ज्ञान की सप्त भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्त्तिता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थ भाविनी शष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ (योगवासिष्ठः उत्पत्ति प्रक०, सर्ग ११९ श्लोक ५, ६)॥ अर्थः—१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्तिः, ५. असंसक्तिः, ६. पदार्थभाविनी, और ७. तुरीया। ये ही सातों ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। अब इनका स्वरूप सुनो।

१. **शुभेच्छा**—"तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फल-पर्य्यवसायिनी मोक्षेच्छा प्रथमा॥" अर्थ—नित्या-नित्य वस्तु—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति इत्यादि साधनों के सहित जो इनके फल की प्राप्ति पर्य्यंत मोक्ष की इच्छा है, उसे शुभेच्छा कहते हैं। यह पहिली भूमिका है।

२. **विचारणा**—"ततो गुरुमुपसृत्यवेदान्तवाक्य—विचारः श्रवणमननात्मको द्वितीया" अर्थात् मोक्ष की इच्छा हृदय में उपजने के पश्चात् समित्पाणिं होकर गुरु की शरण जा उनके मुख से सिद्धान्त वाक्यों

को श्रवण कर अपने घर आ उन श्रवण किये हुए वाक्यों का मनन करते हुए पूर्णरूप से विचार करने का नाम "विचारणा" है। यह दूसरी भूमिका है।

३. तनुमानसा—"ततो—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया अर्थ—विचार करते-करते अर्थात् निदिध्यासना अभ्यास करते-करते जब मन की एकाग्रता प्राप्त होकर सूक्ष्म वस्तुओं के ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है, तब उसे तनुमानसा कहते हैं। वह ज्ञान की तीसरी भूमिका है। बिना इस भूमिका के प्राप्त हुए आत्मज्ञान की शक्ति प्राप्त नहीं होती। इस भूमिका के लाभ से प्राणी को आत्म-तत्त्व तथा ब्रह्म-तत्त्व का अनुभव होने लग जाता है। ये तीनों भूमिकायें जागृत अवस्था में होती हैं। जैसे जागृत अवस्था में सम्पूर्ण जगत् भेद बुद्धि द्वारा दीख पड़ता है तैसे ही इन तीनों अवस्था तक भी जगत् भेद बुद्धि द्वारा अनुभव होता है।

४. सत्त्वापत्ति—"ततो वेदान्त वाक्यान्निर्विकल्पो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिका फलरूपा।" अर्थ—अहम्ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्माब्रह्म, सर्वंखल्विदम्ब्रह्म इत्यादि ब्रह्म और जीव कहिये भक्त और भगवत्स्वरूप की एकता होने लगती है तब उसे 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं। इस अवस्था को स्वप्नावस्थावत् भी कह सकते हैं। क्योंकि जैसे सोने वाला जब जागने लगता है तब स्वप्न की सब वस्तु जागते-जागते उसके अन्तःकरण में लय होती चली जाती हैं। इसी प्रकार जब प्राणी इस चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति को प्राप्त होता है तब जगत् के सब पदार्थ स्वप्नवत् उसके हृदय में लय होने लग जाते हैं। अर्थात् प्राणी के ध्यान से जगत् का अभाव होने लग जाता है। प्रमाणः—

अद्वैते स्थैर्य्यमायाते द्वैते प्रशममागते।
पश्यन्ति स्वप्नलोकं च चतुर्थी भूमिकामिता॥

अर्थः—जब प्राणी को अद्वैत में स्थिरता प्राप्त होती है और द्वैत बुद्धि का उपशम हो जाता है. तब प्राणी इस संसार को स्वप्नवत् देखता है, इसी अवस्था को चौथी भूमिका अर्थात् सत्त्वापत्ति कहते हैं।

५. असंसक्ति—"तत्र सविकल्पसमाध्यासेन निरुद्धे मनसि या निर्विकल्पसमाध्यवस्था सा असंसक्तिरिति, सुषुप्तिरिति चोच्यते।" अर्थ—सविकल्प समाधि के अभ्यास द्वारा जब मन की अत्यन्त एकाग्रता हो जाती है, प्रपंच का अभाव होकर सर्वत्र आत्मा ही आत्मा दीखने लग जाता है, मन का निरोध होकर निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्रगट होती है, तब उसे 'असंसक्ति' कहते हैं। इसी को सुषुप्ति भी कहते हैं। क्योंकि इस अवस्था में सुषुप्ति के समान आनन्दमय हो जाता है। मुख्य तात्पर्य यह है, कि सविकल्प समाधि से बढ़ते-बढ़ते जब योगी निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है तब ही 'असंसक्ति' नाम ज्ञान की पांचवीं भूमिका कही जाती है।

समाधि अवस्था में जब तक समाधि वाले को ज्ञान, ज्ञातः, ज्ञेय, ध्यान, ध्याता, ध्येय; क्रिया, कर्त्ता, कर्म इस त्रिपुटी का स्वरूप बना रहता है, तब तक 'सविकल्प—समाधि' कही जाती है।

जब इस त्रिपुटी का भेद मिट कर सुषुप्ति के समान सर्व प्रकार की वृत्तियों का अभाव हो जाता है तब उसे 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं। इस अवस्था में योगी बिना किसी के जगाये आप जग जाता है। ऐसे योगी को 'ब्रह्मद्विर' कहते हैं।

६. पदार्थ भाविनी—"ततस्तदाभ्यास परिपाकेन या चिरकालावस्था सा पदार्थ भाविनीति गाढ़ सुषुप्ति रितिचोच्यते"

अर्थ—पूर्व में जो कथन किया पांचवीं असंसक्ति भूमिका का तिसके अत्यन्त परिपक्व हो जाने से, जब बहुत काल तक निर्विकल्प-समाधि की स्थिरता हो जाती है, तब उस अवस्था को 'पदार्थभाविनी' छठवीं भूमिका कहते हैं। इसी अवस्था को गाढ़-सुषुप्ति भी कहते हैं। गाढ़-सुषुप्ति और पदार्थभाविनी भूमिका में केवल इतना ही अन्तर है, कि सुषुप्ति में अविद्या व्यापती है और पदार्थ भाविनी में अविद्या नष्ट होकर विद्यारूप हो जाती है। तहां प्राणी को परमानन्द का लाभ होता है। ऐसी अवस्था को जब योगी प्राप्त हो जाता है तब अपने आप समाधि को त्याग उठ नहीं सकता, दूसरे के जंगाने से जाग सकता है।

जैसे बाल्मीकि जी इस भूमिका को प्राप्त हो गये, तो उनके शरीर पर बल्मीक जम गया। सर्पों ने उस बल्मीक में अपना घर बना लिया। पर बाल्मीकि जी की समाधि नहीं टूटी। यही इस छठी भूमिका की पहचान है। वसिष्ठ जी श्रीरामचन्द्र जी से कहते हैं, कि इस भूमिका वाले को 'ब्रह्मविद्वरीयान्' करके पुकारते हैं।

पंचमीभूमिकामेत्य सुषुप्ति पदनामिकाम्।
षष्ठीं गाढ़ सुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकां ॥

अर्थ—ब्रह्मविद्—योगी पहले असंसक्ति नाम पांचवी भूमिका को प्राप्त करता हुआ सुषुप्ति के समान परमानन्द की प्राप्ति में मग्न हो क्रमशः धीरे-धीरे छठवीं भूमिका को जो गाढ़-सुषुप्ति के समान है प्राप्त करता है।

७. तुरीया—"यस्यास्तु समाध्यवस्थायाः न स्वतो न वा परतो व्युत्थितो भवति, सर्वथा भेददर्शना भावात् किन्तु सर्वदातन्मय एव स्वप्रयत्नमन्तरेणेव परमेश्वरप्रेरित प्राणवायुवशादन्यैर्निर्वाह्यमानदैहिक व्यवहारः परिपूर्ण परमानन्दघनएव सर्वतस्तिष्ठति सा सप्तमी "तुरीयावस्था" ॥ तां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते।

अर्थ—जिस अवस्था में न तो आप जगे, न अपने किसी दूसरे शिष्यादि के जगाने से जगे, वरु प्रपंच के भेद दर्शन के अभाव होने से ब्रह्माकार—वृत्ति में तद्रूप हो जावे और अपने सर्व प्रकार के प्रयत्नों को परित्याग कर परमेश्वर की प्रेरणा द्वारा प्राणवायु के वश से अथवा और किसी अन्य प्रकार से आप से आप उसके बाह्य शरीर की रक्षा अर्थात् दैहिक व्यवहार की सिद्धि होती रहे और आप स्वरूपतः परमानन्दघन में स्थिर रहे तिस अवस्था को (तुरीया-वस्था) कहते हैं। इस सातवीं भूमिका अर्थात् तुरीयावस्था के विषय में माण्डूक्योपनिषत् की श्रुति सुनो।

नान्त प्रज्ञम् न बहिः प्रज्ञम् नो भयतः प्रज्ञम् न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञम् ना प्रज्ञम् ।। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्य-मलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।। (माण्डू० श्रु० १६)

अर्थ—जिस योगी तथा आत्म-ज्ञानी की प्रज्ञा [बुद्धि] न भीतर की ओर, न बाहर की ओर हो, अर्थात् न स्वप्न हो न जागृत हो। "उभयतः प्रज्ञः" हो अर्थात् कुछ स्वप्न और कुछ जागृत दोनों मिली हुई अवस्था भी न हो। और "प्रज्ञानघन" सुषुप्ति [घोर निद्रा] भी न हो। प्रज्ञ भी न हो, अर्थात् जागृत भी न हो, और अप्रज्ञः एक बारगी जड़ के समान बोध रहित भी न हो, अदृश्य अर्थात् नेत्रों का विषय भी न हो, अग्राह्य हो अर्थात् हाथ, पांव इत्यादि किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य भी न हो, फिर अलक्षणं अर्थात् अनुमान के भीतर भी न आ सकता हो। अचिन्त्यम् चिन्ता करने योग्य भी न हो। अर्थात् अन्तःकरण भी जिसको नहीं स्पर्श कर सकता हो। अथपदेश्यम् उपदेश करने अर्थात् जागरितादि तीनों अवस्थाओं की एकता हो जाने पर जो आत्मज्ञान का सार भाग परमानन्द-स्वरूप है सो ही हो। फिर प्रपंचोपशम हो अर्थात् जिस अवस्था में प्रपञ्च कर नाश हो जावे। फिर कैसा हो ? कि 'शिवम्' परम कल्याण-मय हो। 'अद्वैतम्' जिसके समान कोई दूसरा न हो। ऐसी अवस्था को चतुर्थमन्यन्ते चौथी अवस्था अर्थात् 'तुरीय' मानते हैं। वही शुद्ध निर्मल आत्मा है और 'विज्ञेयः' जानने योग्य है। यही ज्ञान की सातवीं भूमिका है।

प्रिय पाठको ! जो प्राणी एवम्प्रकार सातों ज्ञान की भूमिकाओं के पार हो गया उसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं। उस को कुछ कर्तव्य नहीं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि 'न तस्यकृतेनार्थः' ऐसे ज्ञान भूमिका से पारंगत प्राणी को न कर्म करने का कुछ पुण्य है, न नहीं कहने का प्रत्यवाय है। ब्रह्मलोक से लेकर पाताल पर्यन्त जितने देव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, मनुष्य इत्यादि हैं किसी से कुछ भी कोई अर्थ सिद्ध करने के लिये ऐसे प्राणी को किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा प्राणी जीवन्मुक्त है। ऐसी अवस्था वाला करोड़ों में कोई एक होता है।

पाठक ! इस बात को कदापि न भूलना चाहिये कि यह कलियुग भयङ्कर देहाभिमान का युग है। इसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी हेतु इस युग में ज्ञान-योग की कठिनता बतलाते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस अपनी 'वाक्य-सुधा' में लिखते हैं—

'कलियुग में ज्ञानयोग की कठिनता का पहला कारण यह है कि अपना प्राण केवल अन्नगत है। दूसरे मनुष्य की आयु भी बहुत कम है। तीसरे इस युग में अहंकार छूटना बड़ा कठिन है और जब तक अहंकार अस्त नहीं होता तब तक ज्ञान का उदय भी नहीं होता। अतएव जब तक आपका व्यक्तित्व लय नहीं हुआ तब तक सगुण के अतिरिक्त ईश्वर के किसी भी दूसरे रूप की कल्पना नहीं हो सकती। अहंकार की कुछ ऐसी ही शृङ्खला है कि अधिकांश लोग सहज ही इस जन्म में या जन्मान्तरों में उसे नहीं तोड़ सकते। अतएव जब तक आप समाधि तक न पहुंच जावें तब तक सगुण ईश्वर का ही अनन्य भजन और चिन्तन करना चाहिये क्योंकि सत्पुरुष, शास्त्र और साक्षात्कार (महात्माओं का अनुभव) एकमत हो कर रहे

है कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर मनुष्य के भीतर बाहर प्रतीत होता है। इसलिये ज्ञानी पुरुष सगुण ईश्वर की आवश्यकता बतलाते हैं।

ईश्वर का साकार रूप ज्यों ही देखने को मिला, ज्योंही उस परमात्मा से मन से बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ त्योंही भक्त के चित्त का समाधान हो जाता है।

बिल्ली का बच्चा अपनी मा को 'म्याऊँ-म्याऊँ' पुकारना ही जानता है, और कुछ नहीं जानता। अब जितने वेग से उस बच्चे को भूख लगेगी उतने ही वेग से और विह्वलता से वह अपनी माँ को पुकारेगा। पुकार सुनते ही माँ भी उतने ही वेग से उसके पास दौड़ी आवेगी और उसे दूध पिला कर तृप्त कर देगी। इसी प्रकार आप भी अपनी माँ (भगवती या परमात्मा) को पुकारना आरम्भ कर दें। फिर जितनी विशेष भूख लगेगी उतनी ही वेगता और विह्वलता आपकी पुकार में होगी और उतनी ही शीघ्रता से आपकी माँ भगवती भी 'म्याऊँ-म्याऊँ करते हुए [अर्थात् यह कहते हुए कि बच्चा ! मैं ही आती हूँ, मैं ही आती हूँ। तुम न आओ, तुम न आओ] आपके पास दौड़ आयेगी और [ज्ञानरूपी] दूध पिला कर कृतार्थ कर देगी—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

आवश्यकता है केवल पुकार करने की, न कि और अधिक ज्ञान की।

यदि आप पुकारना आरम्भ कर दें तो कालान्तर में आपके अन्दर सत्सङ्गति की भूख उठेगी। भूख लगते ही ईश्वर में श्रद्धा होगी। श्रद्धा होते ही आप निरन्तर भगवान की सेवा करना चाहेंगे। सेवा से निष्ठा होगी। निष्ठा के परिपक्व होते ही 'भाव' की अवस्था आवेगी जिसमें पहुँच ईश्वर नाम-स्मरण करते ही आप निःशब्द या स्तब्ध हो जाया करेंगे। सामान्य लोगों की अवस्था इससे आगे नहीं जाती। किन्तु ईश्वर-कृपा हो गयी तो आप 'महाभाव' की अवस्था में पहुँच जांयगे। इस अवस्था में आप उन्मत्त के समान रहने लगेंगे—कभी रोवेंगे। जगत् या शरीर का भान जाता रहेगा। प्रायः यह अवस्था उन अवतारी पुरुषों को प्राप्त होती है जो जगत् का कल्याण करने के लिये आते हैं, जो कहते हैं कि—

'अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।'

इसके अनंतर जब परम प्रेम या भक्ति की अवस्था आवेगी तब माता आकर दूध पिला देगी और तुलसी के निम्नलिखत वचन सत्य कर देगी—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गुसाईं। अन इच्छित आवति बरिआई॥

अब अच्छी तरह ध्यान रहे कि गृहस्थी से पानी की और मन से दूध की उपमा दी जा सकती है। अच्छा दूध एक बार जब पानी में मिला दिया जाता है तब वह फिर शुद्ध दशा में दुबारा नहीं लाया जा सकता। पर यदि उसका रूपान्तर कर दिया जाय अर्थात् मक्खन बना लिया जाय तो वह पानी में रह कर

भी लिप्त न होगा अर्थात् पानी पर तैरता रहेगा। इसी प्रकार अपने मनरूपी दूध का भक्तिरूपी मक्खन बना लो। फिर गृहस्थाश्रम रूपी पानी पर उतराते रहो, उस पानी में कभी न मिलोगे। इतना सब करने के लिये जरूरत है केवल पुकार करने की, अन्तःकरण से आर्त्त होकर, बिल्कुल आतुर होकर प्रभु के लिये पुकार करने की। जैसे सूर्योदय के पहले प्रभात काल की लालिमा दीख पड़ने लगती है वैसे ही अन्तःकरण की सच्ची आतुरता ही भावी ईश्वर-दर्शन का पूर्व चिन्ह है। (इस प्रकार की कीमत केवल बुद्धिवाद से न जान सकोगे पर श्रद्धा से परख लोगे। बिल्ली का बच्चा केवल इतना ही जानता है कि 'म्याँऊ-म्याँऊ' करके अपनी माँ को किस प्रकार पुकारना चाहिये। फिर आगे क्या करना है सो सब बिल्ली को ज्ञात रहता है। चाहे वह उस बच्चे को दूध पिलावे या जहां उसे अच्छा लगे ले जावे, चाहे पाकशाला में, स्वामी के गुदगुदे बिछौने पर। भावार्थ यह है कि बिल्ली ही उसके योग क्षेम को देखती है। बच्चे को पुकार करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखना है, पर पुकार अवश्य करनी है और करते रहना है।'

बस, कलिकाल को देखते हुए पाठकों से इतना ही हमारा अन्तिम निवेदन था सो कर चुके।

कलि के ब्रह्म-ज्ञानी और उनको त्यागने का उपदेश।

वाचिक ज्ञानी मनमुखी लोग वेदान्त का विपरीत अर्थ समझ कर विधि-निषेध का उल्लङ्घन करके "ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या" ऐसा कहते हुए काम, क्रोध, लोभ, छल, कपटादि में लम्पट रहते हैं। इसी से श्रुति प्रथम ही कथन कर चुकी है कि—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सँप्राप्ते तु कलौयुगे।
नानु तिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदर परायणः॥

अर्थात् कलियुग के लगने पर सब (शुष्क वेदान्ती लोग) ब्रह्म का बहुत लम्बा चौड़ा निरूपण करेंगे, किन्तु शिश्नोदर परायण होने से ब्रह्मतत्व में तत्पर होने का साधन (भक्तिमय ध्यान योग) कोई नहीं करेंगे।

एक और बात सुनियेः—

योगी ज्ञानी और भक्त

योगी—इस संसार सागर को चित्त-वृत्ति निरोध द्वारा पार करता है।
ज्ञानी—ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा इसके पार जाता है।

भक्त—नाम के स्मरण और जप से संसार को तरता है। राम या नारायण या इसी तरह भगवान् का कोई नाम हो उसमें बड़ी भारी शक्ति है। इससे अनंत आनन्द की प्राप्ति होगी। नाम की शक्ति से परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो सकता है। नाम से जीव और ब्रह्म की एकता प्राप्त हो सकती है। नाम में चुम्बक और विद्युत् की सी आश्चर्यजनक शक्ति विराजमान है। इसलिये नाम की शक्ति को अनुभव करो और नाम का उच्चारण व स्मरण करो और माला फेरो।

यही अभिप्राय सुन्दरदास जी का भी है कि —

"एक ब्रह्म मुख सूँ बनाय करि कहतु है, अन्तःकरण तो विकारन सूँ भरयो है ।
जैसे ठग गोबर को कूपो भरि राखत है, सेर पंच घृत लेके ऊपर ज्यूं करयो है ॥
जैसे कोई भांडे मांहि प्याज कूं छिपाय राखे, चीथरा कपूर को लेके मुख बांधि धरयो है ।
सुन्दर कहत ऐसे ज्ञानी हैं जगत् मांहि, तिनकूँ तौ देखि करि मेरो मन डरयो है ॥

ऐसे शुष्क ज्ञानियों के निमित्त "नैष्कर्मसिद्धि" में भी यहां तक कहा है कि—

बुद्धाद्वैत सतत्वस्य यथेष्टा चरणं यदि ।
शुनांतत्व दृशां चैव को भेदोऽशुचि भक्षणे ॥

अर्थात् जो तत्वज्ञानी अद्वैत स्वरूप को जान कर भी यथेष्टाचरण करें, अर्थात् जैसी इच्छा होवे, वैसे पाप कर्मों में बर्ताव करें तो फिर कुत्तों और ज्ञानियों में अभक्ष्य भक्ष्य करने में क्या भेद रहा ? कुछ भी नहीं। क्योंकि जैसे श्वान वमन करके फिर उसी वमन को भक्षण करता है वैसे ही धूर्त पुरुष भी विषयों को प्रथम त्याग कर दंभ से झूंठ मूठ सन्यासी या साधु बन जाते हैं, और जहाँ उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी कि वे फिर त्यागे (वमन किये) हुए स्त्री भोग और द्रव्यादि विषयों को ग्रहण करने लगते हैं । ऐसे कर्म-भ्रष्टों को त्याग देने में शास्त्र का प्रमाण भी है कि—

गृह कर्म समासक्तं अहं ब्रह्मेति वादिनम् ।
कर्म ब्रह्मोभय भ्रष्टं तं त्यजेदंत्यजे यथा ॥

अर्थात् जिसकी गृह कर्म (व्यवहारादि) में आसक्ति है, और मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा कहता है उस पुरुष को कर्म और ब्रह्म दोनों से भ्रष्ट हुआ जानकर अन्त्यज (चाण्डाल) के समान त्याग कर देना योग्य है। क्योंकि शाब्दिक ज्ञानी आप भी कर्म भ्रष्ट होकर संसार को भी कर्म भ्रष्ट करते हैं। कैसे करते हैं ? उसका एक ही दृष्टान्त से विदित हो जायेगा कि— ज्ञानगङ्गा में स्नान करने वाला शब्द ज्ञानी का और साहूकारादि का क्या हाल हुआ ।

दृष्टान्त ।

एक शुष्क-ज्ञानी जो सन्यासी के भेष में था, वह भोजन के समय किसी ब्राह्मण के घर पहुँचा। उस ब्राह्मण ने उसका सत्कार करके कहा कि आपने स्नान किया है कि नहीं ? यदि नहीं किया होवे तो चलिये मैं अपने हाथ से आपको स्नान कराऊं। पर वह सन्यासी बोला कि हम जड़ जल से स्नान नहीं करते, हमारे पास तो शीत उष्ण से रहित "ज्ञान गङ्गा" भरी है। उसी में हम सर्वदा स्नान करते हैं ! तब ब्राह्मण बोला कि हे महात्मन् ! यदि आप स्नान नहीं करते तो न करें ! आपकी की क्या इच्छा है !

पर यह जल लेकर चरण तो धो लीजिये, यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं धो दूँ ! तब क्रुद्ध होकर वह वेदान्ती बोला कि अरे तुम उन्मत्त तो नहीं हो ! हमें बारम्बार सताने से क्या लाभ ! अरे भले मनुष्य। जब हमने ज्ञान-गङ्गा में स्नान कर लिया है तो क्या फिर चरणों का धुलाना शेष रह गया होगा ? चलो जो कुछ अन्न सिद्ध हो तो परोसो। वह ब्राह्मण मन ही मन उस कर्म भ्रष्ट के ज्ञान के महत्व को समझ चुका और उस अहं ब्रह्मी से नम्रतापूर्वक बोला कि आप दुःखित क्यों होते हैं, सब आपकी इच्छा पर है। पर दश मिनट आप विश्राम कीजिये तब तक शेष रसोई सिद्ध हो जाती है। ऐसा उससे कह कर वह ब्राह्मण रसोई-गृह में अपनी स्त्री के पास गया, और उससे बोला कि हींग, नमक, मिरची, खटाई आदि मसाला डाल कर अच्छी-झमझमाट भाजी बना। पति की ऐसी आज्ञा होते ही उसकी स्त्री ने वैसे ही भजिये सिद्ध किये। तब वह ब्राह्मण उस ब्रह्मज्ञानी को विशेष भाजी ही परोस कर भोजन कराने लगा, कई दिनों में भाजी मिलने से उस पुस्तक ज्ञानी ने प्रसन्न हो २ कर यथेष्ठ भोजन किया। हाथ मुख धोने के पश्चात् उस ब्राह्मण ने नम्रतायुक्त प्रार्थना कर २ के उसको बड़े प्रेम से एक खोली में ले जाकर उत्तम बिछौने पर विश्राम करने को कहा। उस घोर ज्ञानी ने तमोगुणी भोजन तो कण्ठ तक किया ही था, इससे बिछौने पर लेटते ही उसे निद्रा आगई, और कुम्भकरण के समान खर्राटे लेने लगा। ऐसा देखते ही उस ब्राह्मण ने ज्ञानी का जल भरा हुआ कमण्डल उठा लिया, और उस खोली के द्वार की बाहर से सांकल लगा दी, और उस महात्मा को कब तृषा प्यास लगती है ऐसी प्रतीक्षा करने लगा। कुछ काल में ही उस वेदान्ती की तृषा के कारण शीघ्र ही निद्रा खुली, क्योंकि मसालेदार भाजी खाये थे सो तृषा ने उसको अधिक सताया, इससे वह बिछौने पर से उठ बैठा, और अपना जल का पात्र खोली में इधर उधर ढूंढने लगा, परन्तु वहाँ जल-पात्र नहीं था। इस कारण द्वार के समीप आकर द्वार खोलने लगा तो उसकी भी बाहर से सांकल दी हुई जान पड़ी। ऐसा देखते ही उसने द्वार को खटखटाया और ब्राह्मण को पुकारा, पर किसी ने भी उत्तर नहीं दिया। तब मन ही मन कहने लगा कि मेरा जलपात्र ले जाकर बाहर से सांकल किसने लगाई होगी ? घर वाले सब कहां गये होंगे ? समीप किसी का शब्द भी सुनाई पड़ता ? बहुत बुरी बात हुई ऐसा—पश्चात्ताप करते २ अपने बिछौने पर जा बैठा पर वह प्रबल तृषा ऐसी सताने लगी कि बैठना भी कठिन पड़ गया, इससे फिर द्वार के समीप आकर उस ब्राह्मण को पुकारने लगा, पर फिर भी बाहर से कुछ उत्तर नहीं मिला।

ऐसे दो चार घड़ी व्यतीत हो गईं। तब तो तृषा से अति ही व्याकुल होने के कारण उस ब्राह्मण को शक्ति पूर्वक अवाच्य भाषण करने लगा। तब वह ब्राह्मण उसे बहुत व्याकुल जान कर द्वार के समीप आया और बाहर से ही हंसते २ बोला कि महात्मन् ! क्या है ? आप इतने दुःखित क्यों जान पड़ते हैं ? तब वह ज्ञानी बोला कि भाई ! मेरा जलपात्र कौन ले गया ? बाहर से द्वार की सांकल किसने लगाई ? मैं तृषा से बहुत व्याकुल हो गया हूँ, अब शीघ्र द्वार खोलो, नहीं तो जल के बिना मेरे प्राण निकल जायेंगे। तब वह ब्राह्मण बोला कि ऐसा आप क्यों करते हैं ? आपके पास तो ज्ञानगंगा भरी है, फिर आप तृषा से व्यर्थ ही व्याकुल हो रहे हैं, यह तो बड़े ही आश्चर्य की वार्त्ता है ? तब वह शुष्क ज्ञानी बोला कि अरे भाई ! अभी इन बातों को तो रहने दो, नहीं तो मैं मर जाऊंगा। तब वह ब्राह्मण बोला कि स्नान करना, हाथ पाँव धोना तो "ज्ञानगंगा" में होता है, फिर जल पीने को क्या ज्ञानगंगा नहीं है ? क्या इस समय वह शुष्क हो गई ? अब आप उसी में से जल भी पी लीजिये, अभी द्वार नहीं खुलता।

सतर्कः अब कभी चीं चाँ की तो तुम जानते हो ?

अब तो अहं ब्रह्मी जान गया कि मुझे अच्छा दण्ड मिला, पर किसी भी युक्ति से जल मिले तो अच्छा है, इस समय कुछ बल (ज़ोर, जुल्म) भी नहीं चल सकता, क्योंकि अब तो इसके पूरे पूरे आधीन हो गये हैं। ऐसा विचार कर बड़ी नम्रता से वह बोला कि अहो ब्रह्मदेव ! अब बहुत हुआ शीघ्र द्वार खोलो ? तब ब्राह्मण बोला कि स्वामी जी ! यदि आप शपथ खावें तो द्वार खोलता हूं। नहीं तो चुप बैठे रहो। ऐसा श्रवण करते ही वह पश्चात्ताप करने लगा कि अरे बाप। आज कहाँ आ फंसे, अब तो जो यह कहेगा वह स्वीकार करना ही पड़ेगा। ऐसा सिद्ध कर बोला कि अहो भैया ! तुम्हें कैसे दया नहीं आती ? जैसा तुम कहोगे वैसा ही करूँगा, पर शीघ्र द्वार खोलो। तब ब्राह्मण बोला कि अब आप ऐसी शपथ खाइये कि "आज से मैं भी कभी कर्म-भ्रष्ट नहीं होऊंगा और दूसरे ग्रहस्थियों को भी कर्म भ्रष्ट न कर उनके समक्ष ऐसी २ कर्म-भ्रष्टता की वार्त्ता भी नहीं करूँगा"। ऐसा बोल कर अपने गुरु, गंगा, गीता, भागवत और भगवतादि की शपथ खाओ तो द्वार खुलता है, नहीं तो आज द्वार खुलता नहीं है यह निश्चय समझो। बस ! बस अब उससे क्या बनता है ?

निराश होकर उपरोक्त शपथ खानी ही पड़ी। तब ब्राह्मण ने द्वार खोला और उसे यथेष्ट जल पिलाकर अच्छी प्रकार धर्म मार्ग का बोध दिया और यह भी कहा कि ज्ञानी भी श्रीराम, कृष्ण, बसिष्ठादि के समान कर्म करते ही हैं, जिससे कि अपनी ब्रह्मवृत्ति में भी बाधा नहीं पड़े और अज्ञानी पुरुष भी कर्म भ्रष्ट होकर धर्मच्युत नहीं होवें। यदि तुम्हें इस विषय में शंका होवे तो श्रीभद्भगवत्गीता आदि धर्मशास्त्र से अपना पूर्ण समाधान कर लो। और विचार करो कि जैसे साहूकार अपने द्रव्य के भण्डार की चाबियां और दूकान का भार अपने पुत्रों को नहीं सौंपता, परन्तु अपने मुनीमों—कारबारी या गुमास्तों को ही सोंपकर अपनी सब दुकान का भार भी मुनीमों पर ही रखता है। इसी कारण द्रव्य सहित सब दुकान की हानि और लाभ के उत्तरदाता मुनीम ही रहते हैं, पुत्र नहीं रहते। इसी प्रकार ईश्वर रूपी साहूकार ने तीर्थ, कर्म, उपासना और योगादि सत्कर्म रूपी द्रव्य और धर्म रक्षक शास्त्रों की परमार्थमार्ग रूपी चाबियां संसार की प्रजारूपी अपने पुत्रों को नहीं दी, और संत रूपी मुनीमों को ही सोंप कर सब संसार की प्रजारूपी दुकान का भार सन्तों पर ही इस निमित्त रक्खा है कि सन्तरूपी मेरे मुनीम मेरी सर्व प्रजारूपी पुत्रों को शौच, स्नान, सन्ध्यावन्दनादि पंचयज्ञ, वेदपाठादि, श्रौतस्मार्त कर्म, तीर्थ व्रत और भक्तिमय ध्यानयोगादि सत्कर्म रूपी द्रव्य से परिपूर्ण करें। फिर जो संत सत्कर्म रूपी भण्डार को और प्रजारूपी दुकान को भी सत्कर्म और सद्धर्म की मर्यादा से रहित (खाली) करते हैं तो सब संसार के बिगाड़ [धर्म हानि] के उत्तरदाता वे सन्त (या विद्वान्) ही रहते हैं। क्योंकि जब सन्त ही तीर्थ, व्रत, कर्म, उपासना, श्राद्ध, तर्पण, वेद-पाठ, योगादि सत्कर्म और धर्मशास्त्र की निन्दा कर शौच, स्नान, सन्ध्यावन्दनादि सत्कर्मों से वंचित रहेंगे तो फिर संसार की क्या दशा ? कर्मभ्रष्ट होने से यह परम पवित्र भारतवर्ष नष्ट भ्रष्ट होकर पतित हो जायगा कि नहीं ? अतः संसार को भी धर्म-मार्ग में ही प्रवृत्त करना योग्य है, क्योंकि संसार के सुधार रूप लाभ के उत्तरदाता भी सन्त ही हैं। इस कारण आज से सर्वदा सावधान रह कर संसार को भी धर्ममार्ग में लगाइये, और आप भी चलते बैठते अर्थात् सर्वकाल परमात्मा के ध्यान में सर्वदा लवलीन रहिये।

ज्ञान प्राप्ति में प्रतिबन्ध।

प्रतिबन्ध तीन प्रकार के हैं यथा—[१] भूत, [२] भावी और [३] वर्तमान्।

[१] भूत प्रतिबन्ध—पूर्व अनुभव किये जो प्रिय विषय उनके दृढ़ संस्कार के वश से ब्रह्मचिन्तन काल में जो उनका पुनः पुनः स्मरण है, उसका नाम भूत प्रतिबन्ध है। सो प्रतिबन्ध उपहित चेतन के चिन्तन करके निवृत्त होता है। जैसे किसी को महीषी (भैंस) उपहित ब्रह्म का चिन्तन कराया।

[२] भावी प्रतिबन्ध—प्रारब्ध कर्म का शेष तथा ब्रह्मलोक की इच्छा इस भेद करके दो प्रकार का है सो पूर्वोक्त प्रारब्ध शेषरूप भावी प्रतिबन्ध वामदेव में तथा भरत में होता हुआ सो वामदेव का तो एक जन्म का था और भरत का तीन जन्म का था।

[३] वर्त्तमान प्रतिबंध-पाँच प्रकार का है, यथा—(१) विषयासक्ति, (२) अल्प बुद्धि, (३) कुतर्क, (४) विपर्य दुराग्रह और (५) भेद-वचन विश्वास।

(१) विषयासक्ति—जो विषयों में राग उसका नाम विषयासक्ति।

(२) बुद्धिमन्दता—श्रवण करे, अर्थ के ग्रहण करने में तथा धारण करने में बुद्धि की अकुशलता उसका नाम बुद्धि मन्दता है।

(३) कुतर्क—श्रुति से विरोधी जो तर्क है उसका नाम कुतर्क है।

(४)विपर्यदुराग्रह—वास्तव में अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा के कर्त्ता भोक्तापने में दुराग्रह है, अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता भोक्ता है, इस प्रकार का जो अभिमान है उसका नाम विपर्य्य दुराग्रह है, वहां असंभावना और विपरीत भावना भी प्रतिबन्ध है। वहां संशय को असंभावना कहते हैं और विपर्य्य का लक्षण पूर्व समीप कर चुके हैं।

असंभावना दो प्रकार की है, (१) प्रमाणगत (२) प्रमेयगत। वेदान्त ग्रन्थ तो प्रमाण है, सो अद्वैत अर्थ का कथन करता है, ऐसा जो संशय उसको प्रमाणगत संशय कहते हैं और जीव ब्रह्म की एकता वेदान्त को प्रमेय है सो एकता सत्य है ऐसे संशय को प्रमेय गत संशय कहते हैं। इतने प्रतिबन्ध कहे। इनमें से कोई एक के होने से इस पुरुष को श्रवण करते भी यथार्थ ज्ञान नहीं होने देते। इससे उन प्रतिबन्धों की निवृत्ति करना चाहिये।

(५)—भेद वचन विश्वास

पाँच प्रतिबन्धों की निवृत्ति का उपाय—

प्रतिबन्धों के निवृत्ति के अनेक उपाय हैं, इनमें पाँच उपाय मुख्य हैं और ये हैं:—

[१] शम दमादिकों से—विषयासक्ति की निवृत्ति होती हैं।

[२] वेदान्त के श्रवण से—बुद्धि की मन्दगति दूर होती है। तथा प्रमाण गत असंभावना की निवृत्ति होती है।

[३] मनन करने से—कुतर्क रूप प्रतिबन्ध तथा प्रमेय गत असं-भावना की निवृत्ति होती है।

[४] निदिध्यासन से—विपर्य दुराग्रह की निवृत्ति होती है। और

[५] भेदवादी का संग न करना तथा भेद वचन न सुनना।

आत्मज्ञान से आवरण शक्ति तथा तादात्म्याध्यास यह दोनों निवृत्त होते हैं और विक्षेप शक्तिवाला अज्ञान आत्मज्ञान के अनन्तर रहता है। उस विक्षेप वाले अज्ञान को ही तोश कहते हैं। और जैसे आवरण शक्ति का आत्मज्ञान के साथ विरोध है उसी भांति उस विक्षेप शक्ति का आत्मज्ञान के साथ विरोध नहीं। उस प्रारब्ध ने ही अपने फल देने के लिए उस विक्षेप शक्ति वाले अज्ञान लेश का रक्षण किया था। उस प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्ध के निवृत्ति हुए से अनन्तर सो अज्ञान लेश आप ही निवृत्त हो जाता है। उसकी निवृत्ति के लिये फिर आत्मज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है।

जिसका चित्त इस तीनों [भूत, भावी, वर्तमान] प्रतिबन्धों से रहित है वह आत्मज्ञान के विषय में कुछ श्रवण करने का अधिकारी है। वही एकाग्र-चित्त है। वाक्य का श्रवण करता और जान जाता है कि आत्मा श्रवण करने में आश्चर्यमय है।

मृत्यु रहस्य।

मृत्यु क्या है? गहराई से देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं वह तो नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिये एक विशेष अवस्था है। इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें अनेक सम्प्रदायों में प्रचलित हैं। परन्तु जीवन और मृत्यु का वास्तविक रूप यह है कि अनेक नाड़ी और नसों से बने हुए शरीर और आत्मा के संयोग का नाम जीवन है और उन्हीं के वियोग का नाम मृत्यु है। अपने २ स्वरूप से जीवन और मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिनमें उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तृत्व का आरोप किया जा सके। वे एक प्रकार की क्रियायें हैं और इसलिये उनके परिणाम पर ध्यान देकर उन्हें दुःख या सुखप्रद कहा जाता है। यहाँ मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ कहना है।

"मृत्यु सुखप्रद है"—सबसे पहिली बात जो मृत्यु के सम्बन्ध में समझ लेने की है वह यह है कि परिणाम की दृष्टि से मृत्यु दुःखप्रद नहीं किन्तु सुखप्रद है। मृत्यु किस प्रकार सुखप्रद है? यह सिद्धान्त कुछ व्याख्या चाहता है और वह व्याख्या इस प्रकार है:— जीवन और मृत्यु को दिन और रात के सदृश कहा जाता है। यह सभी जानते हैं कि दिन काम करता है। काम करने से उसके अन्तः-करण (मन, बुद्धि आदि) और बाह्यकरण आँख नाक, हाथ, पाँव, आदि सभी थक कर काम करने के अयोग्य हो जाते हैं और तब वह कुछ नहीं कर सकता। इसी प्रकार शक्ति का ह्रास होने पर रात्रि आती है। दिन में जहां मनुष्य की शरीर के भीतर और बाहर की सभी इंद्रियां अपना २ काम तत्परता से

करती थीं, अब रात्रि आने पर मनुष्य गाढ़ निद्रा में सो जाता है और अन्तःकरण क्या, बाह्यकरण क्या सभी शान्त और पुरुषार्थ रहित हो जाते हैं। काम करने से जहां शक्ति व्यय होकर कम होती है, काम न करने से, व्यय समाप्त हो जाने से शक्ति पुनः एकत्रित होने लगती है। इस प्रकार व्यय हुई शक्ति को पुनः देकर रात्रि चली जाती है। फिर दिन आने पर मनुष्य पुरुषार्थ-मय होकर उस एकत्रित शक्ति को व्यय कर डालता है। फिर रात्रि आती है और वह पुनः शक्ति का भंडार भर देती है। यह क्रम अनादि काल से चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहता है।

शक्ति रक्त में रहती है और नया रक्त प्रति-समय (आहार के रूपान्तरित होने से) बनता रहता है और रात्रि में शक्ति का व्यय कम होने से उस (शक्ति) की मात्रा बढ़ती रहा करती है, यह नियम प्राणि और अप्राणि सभी में काम करता है। जब किसी भूमि की उपज कम हो जाती है तो कृषक उसे कुछ काल के लिए छोड़ देता है और उसमें कुछ नहीं बोता और इस प्रकार कुछ समय तक भूमि के रिक्त पड़े रहने से उसमें उसमें फिर उत्पादिका शक्ति एकत्र हो जाती है और भूमि फिर अन्न उत्पन्न करने योग्य हो जाती है और तब कृषक फिर उसमें बोना आरम्भ कर देता है।

जिस प्रकार दिन और रात काम और विश्राम करने के लिये हैं इसी प्रकार जीवन और मृत्यु रूपी दिन रात भी काम और थकावट दूर करने के लिये ही हैं। मनुष्य जीवन रूपी दिन में काम करता है। यह काम वाल्यावस्था से आरंभ होकर यौवनावस्था में उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। वृद्धावस्था जीवन रूपी दिन का अन्तिम पहर होता है। इसलिये जिस प्रकार सायंकाल होने से पहिले मनुष्य काम करते २ थक जाता है। और अधिक काम करने योग्य नहीं रहता इसी प्रकार वृद्धावस्था (जीवन रूपी दिन सायंकाल) के आने पर भी मनुष्य काम करने के अयोग्य हो जाता है। मस्तिष्क काम नहीं देता, स्मृति जीर्ण हो गई। हाथ पांव हिलाना दुर्लभ हो गया, अधिक कहने की आवश्यता नहीं, सभी जानते हैं कि बुढ़ापे की अन्तिम अवस्था में मनुष्य काम करने के अयोग्य और निरर्थक हो जाता है, चारपाई पर खों २ करने के अतिरिक्त और किसी काम का नहीं रहता। और वह सारा सामर्थ्य, जो वाल्य और युवावस्था में था, बुढ़ापे में स्वप्न की सी बात हो जाती है।

इस प्रकार जब जीवन रूपी दिन में मनुष्य काम करते २ थक और अधिक काम करने के अयोग्य हो जाता है तब मृत्यु रूपी रात्रि आराम देकर निष्क्रियता दूर करने के लिये आती है। जिस प्रकार रात्रि में सुख पाकर प्रातःकाल होने पर मनुष्य नये उत्साह, नये सामर्थ्य, नई स्फूर्ति के साथ उठता है इसी प्रकार मृत्यु रूपी रात्रि में आराम पाकर मनुष्य जीवन रूपी दिन के प्रातःकाल रूपी वाल्यावस्था में नये उत्साह, नई शक्ति, नये सामर्थ्य और नई स्फूर्ति के साथ उत्पन्न होता है। जहां बुढ़ापे में हाथ पांव हिलाना कठिन था वहां वाल्यावस्था इसके सर्वथा विपरीत है। यहां बाल्यकाल में सामर्थ्य की इतनी बहुलता है कि बालक को हाथ पांव ठहराना कठिन होता है। यदि उसके हिलते हुए हाथों को पकड़लो तो वह पांव हिलाने लगेगा। यदि पांव भी पकड़ लो तो रोने लगेगा। तात्पर्य यह है कि जब तक वह अपने हाथ पांव हिलाने में बाधक साधनों को दूर न कर लेगा चैन न लेगा, इतना परिवर्त्तन क्यों हो गया? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि मृत्यु रूपी रात्रि ने आराम देकर बुढ़ापे की अकर्मण्यता को वाल्यावस्था की इस अपूर्व कर्मण्यता में बदल

दिया—इस प्रकार हमने देख लिया कि मृत्यु दुःख देने के लिये नहीं किन्तु आराम और सुख देने के लिये ही आती है। इसीलिये कृष्ण महाराज ने गीता में अर्जुन के प्रति कहा है—

"शरीर वस्त्र के सदृश है।"

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (गीता २/२२)

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य फटे पुराने वस्त्र छोड़ कर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लिया करता है। इसी प्रकार आत्मा जीर्ण और जर्जर शरीर को छोड़ कर नया शरीर ग्रहण (कर लिया) करता है। भला कभी किसी को देखा या सुना है कि पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये वस्त्रों के ग्रहण करने में उसे दुःख या क्लेश हुआ हो, बल्कि इसके विपरीत यह तो देखा जाता है कि नये वस्त्रों के ग्रहण करने से सभी प्रसन्न होते हैं। फिर भला आत्मा निकम्मे और जर्जर शरीर को छोड़ कर नये और पुष्ट शरीर के ग्रहण करने से अप्रसन्न और दुःखी किस प्रकार हो सकता है। इसलिये यह सिद्धान्त कि मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है, श्रेयस्कर और ग्राह्य है।

मृत्यु दुःखप्रद क्यों प्रतीत होती है—जिस समय मनुष्य सिद्धान्त की सीमा उल्लंघन करके क्रियात्मक जगत् पर दृष्टि डालते हैं तो बात इसके सर्वथा विपरीत जान पड़ती है। एक कुष्ट रोग से पीड़ित प्राणी कारा-ग्रह में बंदी है। रोग की पीड़ा भयानक रूप धारण किये हुए है—रोगी के शरीर से रक्त और रस रह २ कर प्रवाहित हो रहा है। बन्दी होने के कष्ट भी साथ भोगने पड़ते हैं। किसी प्रकार का उसको सुख नहीं है किन्तु जीवन, क्लेश और दुःखमय बन रहा है। स्पष्ट है कि यदि वह मरजावे तो इन सारे दुःखों से छूट जावे, इसलिये यदि इससे पूछते हैं कि इस समस्त दुःखों से बचने के लिये क्या तुम मरना चाहते हो? तो मरने का नाम सुनकर वह भी कानों पर हाथ रखता है। यह अवस्था तो एक साधारण व्यक्ति की हुई कि मृत्यु का नाम सुनकर कांपने लगता है। अब एक विद्वान वैज्ञानिक का हाल सुनिये।

लाप्लास की एक जीवन घटना—फ्रांस देश का एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक "लाप्लास" था जिसने जगदुत्पत्ति के संबंध में प्रचलित पाश्चात्य सिद्धान्त "नैबुलर थियोरी" (Nebular Theory) का विवरण देते हुए एक पुस्तक लिखी थी जिसमें सूर्य चन्द्रादि अनेक नक्षत्रों की उत्पत्ति का विवरण अङ्कित था। पुस्तक के तैयार हो जाने पर उसकी एक कापी उसने महान् नैपौलियन की भेंट की। नैपौलियन ने पुस्तक को पढ़ा और लाप्लास से भेट होने पर एक प्रश्न किया। प्रश्न यह था कि तुमने पुस्तक में जगत् के रचयिता ईश्वर का क्यों कहीं वर्णन नहीं किया। लाप्लास नास्तिक था। उसने नास्तिकता पूर्ण उत्तर दिया। उत्तर यह था कि मुझे इस जगदुत्पत्ति का विचार करते हुए ईश्वर की कल्पना करने की कहीं आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। नैपोलियन उसका उत्तर सुन कर चुप हो गया। परन्तु जब लाप्लास के मृत्यु का समय उपस्थित हुआ और उसको निश्चय हो गया कि अब कुछ क्षण ही में मृत्यु आकर उसके प्राण हरण करना चाहती है तो वह इतना भयभीत हो गया कि भय की अधिकता के कारण उसे कुछ भी सुध बुध नहीं रही। और अनायास उसके मुख से ये शब्द निकल पड़े "Love is greater than thousands of any

mathematics" अर्थात् 'ईश्वर का प्रेम मेरी सहस्त्रों गणितों से अच्छा है' यह ईश्वर का प्रेम उस समय स्मरण आया जब उसने समझ लिया कि अब मृत्यु गला घोंटना चाहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि साधारण स्थिति के आदमी एक मृत्यु से भयभीत होते हैं तो दूसरी ओर लाप्लास जैसे विद्वानों को भी मृत्यु कम डरावनी नहीं है। क्रियात्मक रूप में जब मृत्यु इतना भयप्रद है तो फिर किस प्रकार उसे सुखप्रद कहा जा सकता है ?

यह सच है कि क्रियात्मक संसार में मृत्यु दुःखप्रद सा प्रतीत होता है पर विचारने के योग्य तो यही बात है कि मृत्यु के समय में होने वाले दुःख का कारण स्वयमेव मृत्यु है या और कोई कारण है जिसे हमने उपस्थित कर लिया है।

ममता से दुःख होता है मृत्यु से नहीं—कारण का संकेत कुछ तो ऊपर कहा ही गया है, कुछ उसे और स्पष्ट अब किया जाता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है और मनुष्य को प्रयोग के लिए मिली है। मनुष्य को जगत् की समस्त वस्तुओं में केवल प्रयोगाधिकार है। ममता के वशीभूत होकर जब मनुष्य उन्हें अपना समझने लगता है तभी उसे कष्ट भोगना पड़ता है।

प्रश्न—अपना समझने से कष्ट क्यों होना चाहिये ?

उत्तर—संसार में मृत्यु का क्रियात्मकरूप यह है कि वह मनुश्यों से प्राप्त वस्तुओं को छुड़ा दिया करता है। कल्पना करो कि जयचन्द्र एक ग्रहस्थ है, उसके पास अनेक ग्राम, उसकी जिमींदारी में हैं, बहुत सा धन भी है, पुत्र और पौत्र भी हैं। निदान सब प्रकार से धन, धान्य और कुटुम्ब परिवार से परिपूर्ण है। पर्याप्त आयु भोगने पर अब जयचन्द्र मृत्यु शय्या पर है और शीघ्र ही संसार से बिदा होने वाला है। अच्छा बतलाओ कि जयचन्द्र यहाँ से जब जायेगा तो वह अपने साथ क्या २ ले जावेगा।

मनुष्य के साथ केवल धर्माधर्म जाते हैं—जयचन्द्र यहाँ से अपने किये हुए कर्मों के सिवा, जिन्हीं का नाम धर्म्माधर्म है, और कुछ न ले जायेगा।

प्रश्न—क्या जिमीदारी, धन सम्पत्ति, पुत्र और पौत्रों में किसी को भी अपने साथ न ले जायेगा ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों साथ न ले जायगा ? अपनी इच्छा के साथ न ले जायगा या किसी विवशता से ? यदि किसी विवशता से, तो वह विवशता क्या है ?

उत्तर—अपनी इच्छा से तो कौन अपनी वस्तुओं को छोड़ा करता है, अवश्य कोई विवशता ही होनी चाहिये और वह विवशता मत्यु के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत भी नहीं होती है।

सांसारिक वस्तुओं में केवल प्रयोग अधिकार है—ठीक है। वह मजबूरी मृत्यु के ही रूप में है। मृत्यु का काम यही है कि वह मृत पुरुष से जीवन में प्राप्त वस्तुओं धन, सम्पत्ति आदि को छुड़ा दिया करती है। यदि जयचन्द्र इन वस्तुओं में केवल प्रयोगाधिकार ही समझता है तो वह उस पाठशाला मास्टर की

भांति है कि जो पाठशाला का अन्तिम घंटा बजते ही पाठशाला की प्रयुक्त किताबों और कृष्णपाटी आदि को जो उसे पाठशाला के घंटों में पाठशाला का काम चलाने के लिए मिले थे, पाठशाला में ही छोड़ कर प्रसन्नता के साथ पाठशाला से चल देता है, समस्त प्राप्त वस्तुओं सम्पत्ति आदि को स्वयमेव यहीं छोड़ कर यह समझता हुआ कि जीवनरूपी पाठशाला समाप्त होने पर इनके प्रयोग की अवधि भी समाप्त हो गई प्रसन्नता के साथ संसार से चल देगा और इस दशा में उसे कुछ भी दुःख मृत्यु से न होगा।

अब प्रश्न होता है कि जयचन्द्र की इस अवस्था में कुछ तो दुःखी होना ही पड़ेगा। क्योंकि उसे अपनी वस्तुयें तो छोड़नी ही पड़ेंगी। कदापि नहीं। क्या उस पाठशाला के मास्टर को स्कूल की वस्तुएँ, शाला में छोड़ कर छुट्टी होने पर घर चलते समय भी कुछ दुःख हुआ था? स्कूल मास्टर तो प्रसन्नता से छुट्टी होने पर घर जाया करते हैं। उन्हें तो कुछ भी दुःख नहीं होता। तब जयचन्द्र को क्यों दुःख होना चाहिये। यह भी तो सारी सम्पत्ति को अपनी ही नहीं किन्तु ईश्वर की समझ कर, प्रयोग की अवधि (आयु) समाप्त होने पर जा रहा है! हां, जयचन्द्र को उस दशा से दुःख हो सकता है। यदि वह इन समस्त वस्तुओं में ममता जोड़ कर यह समझने लगे कि वस्तुएँ मेरी हैं।

प्रश्न—ममता जोड़ने से क्यों दुःख होगा?

उत्तर—इसलिये कि वह तो इन वस्तुओं को अपनी समझ कर छोड़ना न चाहेगा क्योंकि कौन अपनी वस्तुओं को छोड़ा करता है, परन्तु मृत्यु उससे इन वस्तुओं को बल पूर्वक छुड़ावेगा। बस, बलपूर्वक, इच्छा के विरुद्ध वस्तुओं के छुड़ाने ही से तो कष्ट हुआ करता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि मृत्यु स्वयमेव दुःखप्रद नहीं किन्तु मनुष्य जगत् की वस्तुओं में ममता जोड़ कर मृत्यु के समय मृत्यु को दुःखप्रद बना लिया करता है।

एक उदाहरण—एक और उदाहरण से इस बात को समझिये। यदि कोई राजकर्मचारी यहाँ आकर आज्ञा देवे। रामदत्त इस सङ्घ को छोड़ कर चला जावे। तो उसे कष्ट होगा या नहीं। उत्तर— अवश्य कष्ट होगा।

प्रश्न—परन्तु यदि रामदत्त किसी कार्ययश स्वयमेव इस संघ से उठ कर चला जावे तो क्या तब भी उसे दुःख होगा?

उत्तर—उसे कुछ भी दुःख न होगा। क्यों कि वह तो अपनी प्रसन्नता से स्वयमेव उठकर गया है।

तो विचार यह करना है कि दोनों रूपों में रामदत्त को संघ छोड़ना पड़ता है परन्तु जब वह स्वयमेव छोड़ता है तब दुःखी नहीं होता। और जब दूसरा कोई उसे बाध्य करके संघ छुड़ाता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है। इन दोनों अवस्थाओं में जो दो प्रकार की एक दूसरे से विभिन्न हालत होती है, इसका कारण यह है कि जब मनुष्य अपनी इच्छा से कोई काम करता है तब उसे दुःख नहीं होता परन्तु यही काम जब अनिच्छा से करता है तब उसे दुःखी होना पड़ता है। इसी उदाहरण के अनुसार जब मनुष्य संसार की सांसारिक वस्तुओं में ममता का नाता न जोड़ कर स्वयमेव छोड़ता है तब उसे मृत्यु के समय दुःखी नहीं होना पड़ता।

परन्तु जब ममता के वश होकर प्राणी संसार को स्वयं नहीं छोड़ता और मृत्यु बलपूर्वक उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे संसार छुड़ा देता है तब उसे क्लेश होता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य को मृत्यु के समय उसके दुःख का कारण संसार के न छोड़ने की इच्छा है न कि स्वयमेव मृत्यु। इस संसार के न छोड़ने की इच्छा मनुष्य को क्यों उत्पन्न होती है? इसका कारण वही ममता है जिसके फेर में पड़कर मनुष्य यह समझने लगता है कि संसार में मेरी जिम्मेदारी है, मेरा धन है, मेरी सम्पत्ति है, मेरे पौत्र हैं, स्त्री है, मकान है अर्थात् जो है सब यहीं तो है। इस लिये संसार नहीं छोड़ना चाहिये।

यह बात तो स्पष्ट होगई कि मृत्यु स्वय-मेव दुःखप्रद नहीं और यह भी प्रगट होगया कि यदि मरने वाला अपने को ममता के चक्र से मुक्त रख सके तो बिना किसी प्रकार का दुःख उठाये प्रसन्नता से इस जगत् से कूंच कर सकता है और यह बात भी पहले ज्ञात हो चुकी है कि पिता पुत्रादि के सम्बन्ध शरीर और आत्मा के संयोग ही के नाम हैं। इनके वियोग होने पर फिर सम्बन्ध की कोई सत्ता अवशिष्ट नहीं रहती और इस प्रकार जब सम्बन्ध ही नहीं रहा तो फिर परलोक गत सम्बन्धी के लिये रोना पीटना अथवा कोई इसी प्रकार की क्रिया करना सर्वथा निरर्थक है।

और भी सुनो—

जो कुछ मनुष्य कर्म करता है उसके दो प्रकार के अंकुर होते हैं, एक का नाम अवरिष्ट, दूसरे का नाम संस्कार। जिस प्रकार का अवरिष्ट होता है उस प्रकार की वासना अन्तिम आयु में जीव के मन में उत्पन्न होती है। और जिस प्रकार की वासना होती है, उस प्रकार का शरीर परमात्मा के नियम से बनता है। कर्मों के अनुसार जो शरीर परमात्मा ने बना दिया है उसमें उदान वायु सूक्ष्म शरीर और आत्मा को लेजा कर पहुँचा देता है। मरने के ६ मास पूर्व उसकी प्रकृति में परिवर्त्तन हो जाता है अर्थात् जैसा फल उसको मिलने वाला होता है वैसे ही विचार हो जाते हैं।

महाभारत शान्ति-पर्व में लिखा है कि "नाना प्रकार की रीतियों से पाप-पुण्य को भोग कर देह के त्यागने वाले जीवों की बहुत प्रकार की गति होती है अर्थात् पापियों का जन्म पशु पक्षियों में और पुण्यात्माओं को स्वर्ग मिलता है और पुण्य-पाप के समान होने में मनुष्य का जन्म होता है, और तत्त्वज्ञान से माया के दूर होने पर मुक्ति होती है, यही चारों गति हैं परन्तु इनके भेद बहुत से हैं। जिस प्रकार तांबे आदि के बर्त्तन, चाँदी सोने के पानी से सुन्दर रंगीन किये जाते हैं इसी प्रकार पिछले कर्मों के पीछे चलने वाला जीव पूर्व के कर्मों से रंग को पाता है। बिना बीज के कुछ उत्पन्न नहीं होता है और कर्म किये बिना सुख की वृद्धि नहीं पाता है। मनुष्य इस शरीर में वा दूसरे शरीर को पाकर उत्तम कर्म से सुख पाता है।

प्राण छोड़ने के समय प्राणी की क्या हालत होती है?

जिस समय मनुष्य मृत्यु-शय्या पर होता है और अन्तिम श्वांस लेने की तैयारी करता है तब उसकी अवस्था यह होती है:—

जिस प्रकार कोई राजा जब कहीं को जाता है तब उसे विदा करने के लिये उसके पास ग्राम नायक आदि आते हैं। उसी प्रकार जब जीवात्मा ऊर्ध्वश्वांस लेना शुरू करता है तब उसके चारों ओर सब इन्द्रिय और प्राण

उपस्थित होते हैं। जीव उस समय अपने तेजस अंशों को जो समस्त शरीर में फैला रहता है समेटता हुआ हृदय की ओर जाता है, जब वह आंख के तेज को खींच लेता है तब वह बाहर की वस्तुओं को नहीं देखता और उस समय निकट बैठे बांधव कहने लगते हैं कि अब यह नहीं देखता। इसी प्रकार जब वह प्राण, वाक्, श्रोत्र, स्पर्श, मनादि समस्त बाह्य और अन्तःकरणों से अपने तेज को खींच लेता है, तब वे ही बंधु बांधव कहने लगते हैं कि अब यह नहीं सूंघता, नहीं बोलता, नहीं सुनता, नहीं छूता, नहीं जानता इत्यादि। उस समय उसके हृदय का अग्रभाग आकर्षित होने लगता है और वह उसी प्रकाश के साथ शरीर से निकलता है। + नेत्र या शरीर के किसी दूसरे भाग से निकलता है। निकलने के मार्गों का भेद उसकी अन्तिम गतिओं के अनूकूल होता है। ‡ जब जीव शरीर से निकलता है तो उसके साथ ही प्राण और सम्पूर्ण सूक्ष्म इन्द्रिय (सूक्ष्म शरीर) भी स्थूल शरीर को छोड़ते हैं। इस प्रकार शरीर से निकलने वाले जीव के साथ ज्ञान कर्म और पूर्व प्रज्ञा (पूर्व जन्मानुभूत बुद्धि) भी होते हैं। ❀ इस प्रकार पुण्यऔर पाप कर्म दोनों के वशीभूत जीव एक शरीर को छोड़ कर दूसरे नये शरीर को ग्रहण कर लेता है।

प्रश्नः—एक योनि से दूसरी योनि तक पहुँचने में कितना समय लगता है—एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के ग्रहण करने में जीव को कितने दिन लगते हैं और इन दिनों में जीव कहाँ रहता है ?

उत्तरः—"याज्ञवल्क्य" ने "जनक" को इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि जैसे "तृणजलायुका" (एक कीट विशेष) एक तिनके के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तिनके पर अपने अगले पांव जमा कर तब पहिले तिनके को छोड़ती है। इसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर को उसी समय छोड़ता है जब दूसरे नये शरीर का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

प्रश्नः—आखिर इसमें कुछ समय तो लगता ही होगा, बिना समय के तो यह कार्य हो ही नहीं सकता ?

उत्तरः—अवश्य कुछ न कुछ समय एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर के ग्रहण करने में लगता है। परन्तु वह समय इतना थोड़ा होता है कि मनुष्य ने जो समय की नाप-तोल (दिन, घड़ी, मुहूर्तादि) नियत की है उस गणना में नहीं आता।

प्रश्नः—यह जीव दूसरे शरीर में जाता क्यों है ? जब एक शरीर से निकलना उसके अधिकार में है तो दूसरे में जाना भी उसी के अधिकार में होना चाहिए।

उत्तरः—एक शरीर को छोड़ना और दूसरे का ग्रहण करना इन दोनों में से एक भी जीव के अधिकार

+ देखोबृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्रा० ४ कण्डिका १-२, ‡ कठोपनिषद् में लिखा है कि जब जीव मुक्ति का अधिकारी हो जाता है तब शरीर से मूर्धा में निकलने वाली नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा निकलता है। परन्तु जब मुक्ति से भिन्न गति होती है तब अन्य मार्गों से निकला करता है। (कठो० ६/१६) ❀ बृहदा० ३०४-४-२. ❀ बृह० ३०४-३-३.

में नहीं है। शरीरस्थ जीव के लिये एक जगह "जनक" के एक प्रश्न का उत्तर देते हुये "याज्ञवल्क्य" ने बतलाया था कि "वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, कार्यमय, अकार्यमय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, एवं सर्वमय है। यह जीव इदम्मय और अदोमय है। इसीलिये उसको सर्वमय कहते हैं। जैसे कर्म और आचरण करता है जीव वैसा ही हो जाता है। साधु (अच्छा) कर्म वाला साधु और पाप करने वाला पापी होता है। यह जीव काम (इच्छामय) है। जैसी उसकी कामना होती है वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। + एक और ऋषि ने कहा है कि "जो मनुष्य मन में उनकी वासना करता हुआ जिन २ विषयों की इच्छा करता है वह उन २ कामनाओं के साथ, जहाँ २ वे उसे खींच कर ले जाती हैं, वहां २ उत्पन्न होता है" इन कथनों से स्पष्ट है कि जीव अपने कर्मानुसार एक शरीर छोड़ने और दूसरे के ग्रहण करने में परतन्त्र होता है। अर्थात् कर्मानुसार उसे जहाँ उत्पन्न होना चाहिये वहीं उत्पन्न होता है जैसा कि कहा जा चुका है।

सूक्ष्म शरीर की मृत्यु नहीं होती—मृत्यु केवल स्थूल शरीर की हुआ करती है। इन दो के सिवाय एक तीसरा कारण शरीर और भी है उसकी भी मृत्यु नहीं होती। सूक्ष्म और कारण ये दोनों शरीर आत्मा से उस समय पृथक् होते हैं जब वह पूर्ण स्वतन्त्रता रूप मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। सूक्ष्म शरीर=१० इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये १७ तत्व मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यह रजोगुणी शरीर है। कारण शरीर=तीन तत्व (सत्, रज और तम,)। चित् अहंकार व जीवात्मा से है। यह तत्वगुणी शरीर है। इस शरीर को जगत् का अंकुर कहना ठीक होगा।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर के अन्त होने का क्रम व पंचाग्नि विद्या का रहस्य।

स्थूल शरीर—अग्नि, जल इत्यादि पांच भूतों के मेल से बनता है और नष्ट हो कर फिर तत्त्वों में लय हो जाता है।

सूक्ष्म शरीर—१ भूत, २ इन्द्रिय, ३ मन, ४ बुद्धि ५ वासना, ६ कर्म, ७ वायु, ८ अविद्या। इन्हीं आठ तत्त्वों के सार-भाग से अर्थात् इन्हीं आठ तत्त्वों की सूक्ष्म शक्तियों के एकत्र होने से पुर्य्यष्टक❀ अर्थात् सूक्ष्म शरीर बनता है।

+ बृहदारण्यक ७० अ० ४, ब्रा० ४ क० ५,

❀ "भूतेन्द्रियमनोबुद्धि वासनाकर्मवायवः।
अविद्याचाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः॥

१—पंच भूतों की सूक्ष्म शक्तियां पंच तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के नाम से पुकारी जाती हैं।

२—इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियां तेजस के नाम से पुकारी जाती हैं।

३—मन की सूक्ष्म शक्ति संकल्प विकल्पात्मका-अन्तः वृत्ति के नाम से पुकारी जाती है।

४—बुद्धि की सूक्ष्म शक्ति निश्चयात्मिका अन्तःवृत्ति के नाम से पुकारी जाती है।

५—वासना की सूक्ष्म शक्ति वह है जो जीवों को कर्म से मिला देती है। इसी को भावना, संस्कार और स्मृति हेतु के नामों से पुकारते हैं।

६—कर्म की सूक्ष्म शक्ति को संकल्प के नाम से पुकारते हैं।

७—वायवः-प्राण अपानादि जो वायु हैं इनकी सूक्ष्म शक्ति को व्योम के नाम से पुकारते हैं। जो प्राणमय-कोश का निवास स्थान है।

८—अविद्या + यह स्वयं एक सूक्ष्म शक्ति है जो उक्त सातों शक्तियों को मिलाकर पुर्य्यष्टक तैयार करती है जिसे कारण-शरीर कहते हैं।

यहां पुर्य्यष्टक में जो भूत शब्द है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वायु, अग्नि, जल इत्यादि जो स्वरूप करके सर्वत्र देख पड़ते हैं वरन् यहां अपंचीकृत जो भूत हैं उनसे तात्पर्य्य है। जैसे चुम्बक (अयस्कान्त) एक लोहा होता है जिसे "लोहमणि" भी कहते हैं, जो स्वरूप करके तो एक लोहे के आकार में है, पर उसमें जो दूसरे लोहे को अपनी ओर खींचने की एक गुप्त शक्ति है, जिसका कुछ भी आकार नहीं है। लोहमणि तो देखा जाता है पर उसकी आकर्षक शक्ति नहीं देखी जाती, क्योंकि वह निराकार अत्यन्त सूक्ष्म है। इसी प्रकार यहां भूत इन्द्रिय इत्यादि कहने से सबों की गुप्त-शक्तियां समझी जाती हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जिनमें दीर्घता, स्थूलता और विस्तीर्णता लेश मात्र भी नहीं पाई जाती है। ये सब शक्तियां भी काम देती हैं। केवल अविद्या जो यह पुर्य्यष्टक में आठवीं शक्ति है वही भूतों की तन्मात्रा और इन्द्रियों की शूक्ष्म शक्तियों को मन, बुद्धि,† वासना,‡ कर्म और वायु

+ अविद्या = "अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्याति रविद्या" (पतंजलि)

अर्थ—जो नित्य है उसमें अनित्य, जो अशुचि अपवित्र है उसमें पवित्र, जो दुःख है उसमें सुख, जो अनात्मा है उसमें आत्मा की ख्याति अर्थात् भ्रम हो उसे अविद्या कहते हैं। अर्थात् घट पट इत्यादि अनित्य वस्तुओं में नित्यत्व का अभिमान हो, कि ये सत्य हैं। तथा इस अपवित्र शरीर को पवित्र समझना, दुःख को सुख समझना। इसी प्रकार जो अनात्म है जिसका कहीं भी भाव नहीं है उसमें आत्मत्व का भ्रम होना, पाप में पुण्य का भ्रम होना और अनर्थ में अर्थ का भ्रम होना अविद्या कही जाती है।

†अफलविपाकात् चित्त भूमौ शरते इत्याशयः वासनाख्याः संस्काराः—अर्थात् नाना प्रकार की वे वृत्तियां जो अनिवार्य हैं जो चित्त भूमि में उस समय तक सोयी हुई पड़ी रहती हैं जब तक उनका फल परिपक्व होकर इष्ट अनिष्ट प्रकट न करे।

‡कर्म (धर्माधर्मौ) अर्थात् जितने पुण्य पाप इस शरीर से हो चुके हैं।

की सूक्ष्म शक्तियों के साथ पिण्ड बना कर सूक्ष्म शरीर सिद्ध करती हैं। जब तक अविद्या नष्ट नहीं होती तब तक इस शूक्ष्म शरीर का अन्त नहीं होता, वरन् यह सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर से निकल कर पंचाग्नि होता हुआ दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। एवम् इस प्रकार बारम्बार चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमता हुआ फिरता है। यह अविद्या जब तक नाश न हो पुर्य्यष्टका नहीं टूटती और तब तक सूक्ष्म शरीर का अन्त नहीं होता। इस कारण अविद्या के नाश के निमित्त विवेक का होना अति ही आवश्यक है। अर्थात् ज्ञान के प्राप्त होते ही अविद्या का नाश हो जाता है। अविद्या का नाश हुए पुर्य्यष्टका टूट जाती है। पुर्य्यष्टका के टूटते ही सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है।

यहां तक स्थूल और सूक्ष्म देहों का अन्त हो जाना दिखलाया गया। अब तीसरे कारण शरीर के अन्त हो जाने का भेद कहते हैं। सुनो!

वीजावस्थायां सूक्ष्मवृत्तित्वात् विषयव्यापार रहितस्यान्तः करणस्य सुतरां सुखस्वरूपेणो नुभूयतेऽसौद्रष्टा कारण शरीरः।

बीज की अवस्था में सूक्ष्मवृत्तित्व के कारण विषयों के व्यापार से रहित अन्तःकरण के अत्यन्त सुखस्वरूप से जो अनुभव किया जाता है वही द्रष्टा कारण शरीर (The inner rudiment of the body called casaul-frame.) है। जैसे वृक्ष के बीज में जो टेढ़ी सीधी मोटी पतली रेखाएं देख पड़ती हैं उन्हीं लकीरों में जो जो सूक्ष्म शक्तियां हैं, वे ही उस वृक्ष के मोटे डाल, पत्ते मंजर, फूल फल इत्यादि के कारण । इसी प्रकार यह कारण शरीर स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों के उत्पन्न होने का मुख्य कारण है। इसी कारण यह कारण-शरीर को श्रुति ने भी बीज की उपमा देकर समझा दिया है।

श्रु० छान्दो०—न्यग्रोधफलमाहरेदिति। इदं भगव-इति। भिन्धीति भिन्नम् भगव इति किमत्र पश्यसीति। इमेवाधाना भगव इति। आसामेकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति। किंचिन्न भगव इति।

अर्थ—श्वेतकेतु जब अपने पिता के समीप आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के तात्पर्य से गया है। तब पिता ने उससे कहा है, कि हे पुत्र तू एक बरगद का फल ले आ? पिता की आज्ञा पाते ही वह फल ला कर बोला (इदं भगव इति) लीजिये हे भगवन्! यह फल ले आया हूं। पिता ने कहा "इसे तोड़ दे" पुत्र ने तोड़ कर कहा "भगवन्! देखिये मैं ने तोड़ दिया!" पिता ने पूछा—"इसके भीतर तू क्या देखता है?" पुत्र ने कहा "भगवन्! इसमें बहुत से छोटे-छोटे बीज देखता हूँ" फिर पिता ने कहा (आसामेकांभिन्धीति) इनमें से एक को तोड़ डाल! उसने तोड़ दिया। फिर पिता ने पूछा "तू इन बीजों के भीतर क्या देखता है?" पुत्र ने उत्तर दिया "भगवन्! अब तो मैं इसमें कुछ भी नहीं देखता हूँ"। तब पिता ने कहा, "हे बेटा! जिसको तू कुछ भी नहीं कहता है वही सम्पूर्ण वृक्ष का कारण है। इसी से वृक्ष के फल और फूल डाल-डाल में सुशोभित होते हैं।"

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे वृक्ष और उसके बीज की उत्पत्ति एक निराकार और अदृश्य सत्ता से

है। इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीर की भी उत्पत्ति एक निराकार और अदृश्य सत्ता से है जिसे कारण शरीर कहते हैं।

स्थूल शरीर को जाग्रत अवस्था से सम्बन्ध है। सूक्ष्म शरीर को स्वप्न अवस्था से सम्बन्ध है। कारण शरीर को सुषुप्ति अवस्था से सम्बन्ध है। सो कारण-शरीर भी तुरीया अवस्था के प्राप्त होने से अन्त हो जाता है। क्योंकि तुरीयावस्था के प्राप्त होते ही सब शरीरों का अन्त होकर केवल आत्मा ही आत्मा रह जाता है। उक्त सिद्धान्तों से सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर का अन्त जलने, गलने और दुर्गन्धित हो जाता है। सूक्ष्म शरीर का अन्त विद्या से अर्थात् ज्ञान से और कारण-शरीर का अन्त तुरीया अवस्था की प्राप्ति से हो जाता है।

अब स्थूल और सूक्ष्म शरीर का व्याख्यान सर्व साधारण प्राणियों के कल्याण निमित्त करके स्पष्टरूप से यह दिखलाया जाता है, कि प्राणी किस शरीर को मरण काल के समय ग्रहण करता है।

इस स्थूल को हम आंखों से देखते हैं, पर सूक्ष्म को नहीं देखते। इन दोनों में सारी शक्तियाँ एक समान हैं। बाह्यकरण और अन्तःकरण अर्थात् १० इन्द्रियां, ४ अन्तःकरण और ५ प्राण ये सब मिल कर जो १९ शक्तियां हैं वे स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में एक समान वर्तती हैं। इसलिए श्रुति ने दोनों का "एकोनविंशति मुखः" अर्थात् १९ मुखवाला कहा है। तहां इन दोनों में इतना अन्तर है, कि स्थूल शरीर जाग्रत अवस्था में इन उन्नीसों शक्तियों के साथ स्थूल वस्तुओं के संग सर्व प्रकार के व्यवहारों को पूर्ण करता है और सूक्ष्म शरीर इन्हीं १९ शक्तियों के साथ स्वप्न अवस्था में भिन्न-भिन्न व्यवहारों का साधन सूक्ष्म तत्त्वों के साथ करता है। जैसे जाग्रत में यह प्राणी अपने स्थूल अंगों को स्थूल स्त्री के अंगों से आलिङ्गन कर संभोग करता हुआ अपने वीर्य का पतन देखता है, ऐसे ही वह प्राणी स्वप्न में अपने सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म स्त्री के शरीर के साथ संपरिष्वक्त होकर अपने वीर्य का पतन देखता है।

यहां विचारने योग्य है, कि वीर्य का पतन-रूप जो स्त्री-संग का फल है दोनों शरीरों के द्वारा एक समान है। केवल स्थूल और सूक्ष्म का भेद रहा।

मुख्य अभिप्राय कहने का यह है, कि मरण-काल के समय पुराना शरीर छोड़ कर किसी नये स्थूल शरीर को नहीं धारण करता है वरु सूक्ष्म शरीर को धारण करता है। सो सूक्ष्म शरीर वैसा ही बन जाता है जैसा उसने अपनी आयु भर का स्मरण किया था। अर्थात् आयु भर प्राणी जिस-जिस भाव का स्मरण करता है उसी-उसी भाव का सूक्ष्म शरीर बन कर मृतक के सम्मुख आ खड़ा होता है। मृतक पहला शरीर छोड़ झट उसमें घुस जाता है। भगवान कहते हैं "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्" अर्थात् जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ प्राणी अपने शरीर को त्यागता है, उसी-उसी भाव के शरीर को प्राप्त होता है। अर्थात अपने पुराने शरीर में निवास-काल तक जैसा-जैसा कर्म करता है उसी कर्मानुसार प्राणी के के मन में एक विशेष प्रकार के शरीर का संकल्प दृढ़ हो जाता है फिर जिस प्रकार का संकल्प दृढ़ हो गया, मरण काल के समय उसी प्रकार का सूक्ष्म शरीर तैयार हो जाता है। अर्थात् उसी डौल की उसकी पुर्यष्टका बन जाती है।

इसी सिद्धान्त को व्यासदेव भी श्रीमद्भागवत में एक उत्तम उदाहरण देकर कहते हैं। सो सुनो !

ब्रजंस्तिष्ठन्यदैकेन यथैवैकेन गच्छति। यथा तृणजलूकैवं देही कर्म गतिं गतः ॥
(श्रीमद्भागवत् स्कं० १० अध्या० १ श्लो० २८)।

अर्थ—तृणजलूका (ठेंगी वा जों की) जो एक प्रकार की बड़ी कीड़ी होती है, वर्षाकाल में तृणों पर बहुत देख पड़ती है। वह जैसे एक पांव से अगले तृण को ग्रहण करती और पिछले तृण को छोड़ती आगे को बढ़ती चली जाती है, इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अगले कर्मरूप सूक्ष्म शरीर को धारण करता हुआ पिछले स्थूल को परित्याग करता चला जाता है। अर्थात् अगले सूक्ष्म शरीर पर एक पांव को रख लेता है तब दूसरे पांव को पिछले शरीर से उठा लेता है। यहां भी एक पांव का रखना क्या है ? एक शरीर का धारण करना है। अर्थात् केवल शरीर के धारण करने से तात्पर्य है। स्थूल नहीं। यदि मरण के समय सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरों के धारण करने से तात्पर्य होता तो व्यासदेव यों कहते कि एक ही पाँव नहीं वरन् दोनों पांव उठा कर अगले तृण पर रखता है। सो ऐसा नहीं कहा केवल एक ही पांव कह कर यह दिखला दिया, कि प्राणी मरण के समय केवल सूक्ष्म ही शरीर धारण करता है। अब इतना तो अवश्य जानना चाहिये, कि मरण काल में जो सूक्ष्म शरीर धारण करता है उसका स्थूल फिर कब प्राप्त करता है। अर्थात् दूसरा तो स्थूल शरीर है, वह कब तैयार होता है सो सुनो ! छान्दोग्योपनिषत् पंचम प्रपाठक नवम् खण्ड श्रुति १ का वचन है, कि—

"ॐ इतितु पंचाम्यामाहुता वापः पुरुषवचसो भवन्तीति।"

अर्थ—इस प्रकार पांचवीं आहुति में वह जो श्रद्धा (आप) रूप जल जो सूक्ष्म— वह है शरीर पुरुषरूप होकर प्रगट हो जाता है। अर्थात् सूक्ष्म अपने स्थूल शरीर को पाता है।

अब यहां यह जानना चाहिये, कि पांचवीं आहुति क्या है ? श्रद्धारूप आप क्या है और वह पुरुष-रूप होकर कैसे प्रगट होता है ?

इस ऊपर कथन किये हुए श्रद्धा को ही सूक्ष्म शरीर के नाम से पुकारते हैं। क्योंकि श्रद्धा तिस सूक्ष्म शरीर की ही एक विचित्र शक्ति है। सो पाँच कुण्डों में हवन होकर अर्थात् पांच स्थानों में प्रवेश कर अपने स्थूल को पाता है। इसलिये पांचवीं आहुति में उसी सूक्ष्म शरीर का स्थूल हो जाता है। इन पांचों आहुतियों के पांच भिन्न-भिन्न अग्नि-कुण्ड कौन हैं ? जिनमें हवन होता हुआ स्थूल शरीर पाता है। सो सुनो !

ॐ असौ वावलोको गौतमाग्निः—(स्वर्गलोक)
ॐ पर्जन्यो वावलोको गौतमाग्निः—(पर्जन्यलोक)
ॐ पृथ्वी वावलोको गौतमाग्निः—(पृथ्वीलोक)

ॐ पुरुषो वावलोको गौतमाग्निः—(पुरुषलोक)
ॐ योषा वावलोको गौतमाग्निः—(स्त्रीलोक)

छान्दोग्योपनिषद् पंचप्रपाठक चतुर्थ-खण्ड से अष्टम खण्ड तक ये पांच श्रुतियां हैं, जिनमें से ऊपर के वाक्य निकाल कर दिखलाये गये हैं। एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करने के विषय अर्थात् पुनर्जन्म के विषय राजा जयवलि ने यही पांच कुण्ड गौतम के प्रति उपदेश किया है, कि हे गौतम ! १—स्वर्गलोक प्रथम कुण्ड। पर्जन्यलोक [मेघ लोक] द्वितीय कुण्ड। पृथ्वी-लोक [भूलोक] तृतीय कुण्ड। पुरुषलोक [मनुष्य अथवा किसी प्रकार के नर का लोक] चतुर्थ लोक। योषालोक [किसी योनि की स्त्री का लोक] पाँचवां कुण्ड।

वेद और उपनिषदों के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, कि प्राणी सूक्ष्म-शरीर को धारण कर पहले प्रथम कुण्ड में हवन होता है अर्थात् आकाश की ओर जाता है जिसको उत्क्रमण करना कहते हैं। यह आकाश उलटे कुण्ड के समान ऊपर की ओर औंधा देख पड़ता है इसी कारण इसको श्रुतियों ने कुण्ड से उपमा दी है, जिसमें सूक्ष्म शरीर पहले होकर फिर पर्जन्य लोक अर्थात् मेघमाला रूप दूसरे कुण्ड में हवन होता है। पश्चात् वर्षा हो भूलोकादि तीसरे कुण्ड में हवन होता है। अर्थात् पृथ्वी में गिर कर अन्नों में प्रवेश कर अन्न हो जाता है। तत्पश्चात् वह अन्न पुरुष रूप चौथे कुण्ड में हवन होता है। अर्थात् पुरुष उसको खाता है तब वीर्य बन कर पुरुष के शरीर में स्थिर होता है। तहां से स्त्रीरूप पाँचवें कुण्ड में हवन होकर गर्भ बन जाता है। फिर अपनी अपनी योनि के नियत काल तक स्त्री रूप कुण्ड में निवास कर स्थूल शरीर को लिये हुए गर्भ से बाहर आता है। मुख्य तात्पर्य कहने का यह है, कि शरीर छोड़ने के पश्चात् यह जीव अपनी वृत्ति की दृढ़तानुसार सूक्ष्म शरीर धारण कर आकाश की ओर जाकर भिन्न-भिन्न कुण्डों में होता हुआ पाँचवीं आहुति में अर्थात् स्त्री रूप कुण्ड में स्थूल शरीर पाता है।

इस स्थान पर पाठकों के हृदय में दो प्रकार की शंकायें उत्पन्न हो जावेंगी। प्रथम तो यह कि, जो अन्न किसी जीव ने नहीं खाया, अग्नि से भस्म किया गया वा सड़-गल गया उसमें जो श्रद्धारूप सूक्ष्म-शरीर था वह क्या हो गया ?

दूसरी शंका यह, कि जिस अन्न को स्त्री खाती है वह तो वीर्य नहीं बनता है, जब वीर्य नहीं बना तो उस अन्न में रहने वाला सूक्ष्म शरीर था वह क्या हो गया ?

समाधान प्रथम शंका का—भस्म हो जाने वाले अन्न की तो फिर वही गति हुई, कि धूम के साथ मिल आकाश की ओर जा मेघ माला होता हुआ दुबारा अन्न में आता, पूर्ववत् वीर्य्य होकर गर्व द्वारा स्थूल शरीरों को पाया। पुनर्जन्म के नियमानुसार कोई कोई सूक्ष्म शरीर तो अपने प्रथम ही चक्र में नीचे आ स्थूल शरीर पा जाता है पर किसी-किसी को सहस्रों बार ऐसे चक्र में फिरना पड़ता है। सड़ने वाले गलने वाले अन्न भी घुन, कीट इत्यादि बन कर उष्मज जीव बन जाते हैं।

समाधान दूसरी शंका का—स्त्री ने जो अन्न खाया वह रज होकर वीर्य्य के साथ मिल फिर स्थूल बन कर बाहर आगया।

यदि शंका हो कि इसका क्या कारण है, कि पुरुष ने जो अन्न खाया उसमें वीर्य्य बना और स्त्री ने जो खाया उसके शरीर में वही अन्न रज बना। उत्तर यह है, कि इन अन्नों में दो प्रकार की शक्तियां हैं। किसी में तो पुर्य्यष्टका की पूर्वोक्त आठों शक्तियों का प्रवेश होता है। वासना जो इन आठों में मुख्य शक्ति है, जिसके द्वारा भिन्न भिन्न शरीर बनते हैं तिसका प्रवेश नहीं होता है। अर्थात् जिसके द्वारा शरीर का आकार बनता है तिस शक्ति का प्रवेश नहीं होता। श्रुतियों द्वारा ऐसा अनुभव किया गया है, कि उन्हीं अन्नों को अन्तर्य्यामी सत्ता स्त्रियों के सम्मुख ला रखता है, जिसमें केवल सात शक्तियां रहती हैं। क्योंकि पंचाग्नि की श्रुतियां यों कहती हैं, कि "ॐ देवाः युहुवति" अर्थात् पांचों कुण्डों में जो यह सूक्ष्म शरीर हवन होता है उसे अन्तर्यामी सत्ता जो इन जीवों के पाप पुण्य को जानती है, हवन करती रहती है। वहाँ यह बात संसार में प्रसिद्ध है, कि जिसके भाग्य का जो अन्न होगा वह सहस्रों कोसों से उसके सामने आवेगा और जो उसके भाग्य का नहीं होगा वह बड़े यत्न से तैयार करके उसके सामने ला धरने पर भी उसे प्राप्त न होगा। अर्थात् उसमें कोई ऐसा विघ्न हो जावेगा जिस कारण उसको अपने पास से हटाना पड़ेगा। जैसे सर्व पदार्थ बना कर किसी ने अपने मित्र के आगे ला धरा पर उसके भाग्य का वह नहीं था इसलिये अकस्मात् उसमें छिपकली गिर पड़ी अथवा बन्दर ले गया वा कुत्ते ने झूंठा कर दिया। तात्पर्य यह है, कि जो जिसके भाग्य का नहीं है वह अन्न उसे प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये श्रुति ने सिद्धान्त करके यह कहा है कि "देवाः जुहुवति," अन्तर्य्यामी सत्ता उस अन्न को स्त्री वा पुरुष में हवन करती रहती है।

अब इन रज और वीर्य्य के विषय को एक उत्तम दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे किसी यन्त्रालय (छापा खाना) में अक्षरों के कम्पोज करने वाले कम्पोजीटर टाइपों को टाइपों के घर में फेंकते हैं और स्पेसों को स्पेसों के घर में फेंकते हैं। टाइप और स्पेस इन दोनों में टाइपों में तो आकार होते हैं जो कागज पर अक्षर बन कर उखड़ते हैं और स्पेसों में जो सर्व प्रकार टाइपों के समान ही होते हैं आकार नहीं होते। केवल टाइपों को स्थिर रखने की शक्ति होती है।

इसी प्रकार $अन्तर्य्यामी सत्ता वासना सहित अन्नों को पुरुषों में और वासना रहित अन्नों को स्त्रियों में फैंकती जाती है और इन दोनों के मेल से सृष्टिरूप छापाखाना में भिन्न-भिन्न योनि रूप पुस्तकें छपती रहती हैं। शंका मत करो।

$ इसी अन्तर्यामी सत्ता को सर्व साधारण ब्रह्मा के नाम से पुकारते हैं और कहते हैं कि विधाता अर्थात् ब्रह्मा जीव के कर्मानुसार उसको जिस योनि से उत्पन्न करना चाहता है उस योनिमें उसे अन्नों के द्वारा डाल दिया करता है। जो हो पर यह सिद्धान्त किया हुआ है कि यह सृष्टि की रचने वाली 'अन्तर्य्यामी सत्ता' निरन्तर भिन्न-भिन्न शरीरों की उत्पत्ति में लगी रहती है।

अन्य विविध विवरण-उपनिषदों के आधार पर

जब यह आत्मा निर्बलता में डूबकर मानों❀ अज्ञाताऽवस्था में डूबता है, तब सारे इन्द्रिय इकट्ठे होकर इसके पास आते हैं, और वह इन तेज की मात्राओं $ को इकट्ठा लेकर के हृदय में उतरता है। और जब यह चाक्षुष पुरुष † बाहर वापिस हो जाता है, तब यह रूप को नहीं जानता है।

वह एक हो जाता है ‡ (तब पास के लोग) कहते हैं 'अब देखता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं 'सूंघता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं 'रस नहीं जाना है', एक हो जाता है, कहते हैं 'बोलता नहीं है' एक हो जाता है, कहते हैं "सुनता नहीं है," एक हो जाता है कहते हैं 'सोचता नहीं है,' एक हो जाता है, कहते हैं 'छूता नहीं है,' एक हो जाता है, कहते हैं, 'जानता नहीं है।'

(बृह० ४/४/१—२)

आत्मा शरीर से कब निकलता है और किस अङ्ग से निकलता है ?

(जब इन्द्रियों की शक्तियें हृदय में एक हो जाती हैं तब) उसके हृदय का अग्र[१] प्रकाशवाला होता है, उस प्रकाश से यह आत्मा निकलता है या तो आँख[२] से या मूर्धा[३] (सिर से) या शरीर के दूसरे हिस्सों[४] से। शिरभागों से।

(बृह० ४/४/२)

आत्मा के साथ और क्या जाता है ?

और जब निकलता है, तो मुख्य प्राण उसके पीछे निकलता है, और जब मुख्य प्राण निकलता है तो सारे प्राण (इन्द्रिय) उसके पीछे निकलते हैं[५]।

(बृह० ४/४/२)

तेज उदान है, इसलिये जिसके (शरीर) का तेज ठंडा होगया है, वह पुनर्जन्म (नए जीवन) को प्राप्त होता है, अपनी सारी इन्द्रियों सहित जो उस मन में लीन होगई हैं।

❀ वस्तुतः चेतन आत्मा कभी ज्ञानशून्य नहीं होता, किन्तु बाहर की ओर से अज्ञात होजाता है।

$ तेज की मात्रा = इन्द्रियों की मूल शक्तियें।

† चाक्षुष पुरुष—आँख में का पुरुष, सूर्य का अंश जो आँख में है, जब कि आंख काम करती है, और जो मरने के समय निकल कर सूर्य में जा मिलता है। (शंकराचार्य)

‡ इन्द्रिय जब लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) के एक हो जाता है, पृथक् काम नहीं करता। इसी विषय में कौषी० उप० ३/३ में कहा है 'प्राण एकीभवति' प्राण में एक होता है।

१. वह भाग जहां हित नाड़ियें हृदय से ऊपर जाती हैं, १. जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिए सूर्य लोक की प्राप्ति के साधन होते हैं (शंकराचार्य). ३. जब उसका ज्ञान और कर्म उसके लिये ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन होता है। ४. अपनी २ गति के अनुसार जैसे २ फल भोग के लिए उसने जाना है। ५. पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि यह १७ तत्त्व आत्मा के साथ जाते हैं, यही लिंग शरीर, सूक्ष्म शरीर वा आतिवाहिक शरीर हैं।

वह किस अवस्था में होकर चलता है ?

'सविज्ञानो भवति, सविज्ञान मेवा न्ववक्रामति'। (बृह० ४।४।२)

वह विज्ञान सहित होता है और विज्ञान सहित ही चलता है।[1]

अगले जन्म के कारण क्या हैं ?

उसको उसकी विद्या (उपासना) और कर्म सहारा देते हैं और पहली आज्ञा (बुद्धि) भी[2]। (बृह० ४/४/२)

वह अगले जन्म के लिए सहारा पकड़ कर पिछले को छोड़ता है।

जैसे मुनगा (सुंडी) तिनके के सिरे पर पहुँच कर एक दूसरे सहारे को पकड़ कर अपने आपको खींच लेता हैं, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फेंक कर—अचेतन बना कर, एक दूसरे सहारे[3] को पकड़ कर अपने आपको खींच लेता है। (बृह० ४/४/३)

"अन्त्यमति सोई गति"

'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।'

(प्रश्न० ३/१०)

---

(१) विज्ञान, यहाँ उन वासनाओं से तात्पर्य है जो उसके जीवन भर की कमाई है, जैसे ज्ञान और कर्म उसने सेवन किए हैं, जिनका फल उसको अब परलोक में भोगना है उनके अनुसार उसकी वासनाएँ इस इस अवस्था में जाग पड़ती हैं, और वह उन संस्कारों को साथ लेकर चलता है, इसलिए वह जो अपने इस समय को रमणीय बनाना चाहता है, उसे पहले ही श्रद्धा के साथ परमात्मा की भक्ति और भलाई का संचय करना चाहिये।

(२) विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा, यह तीनों ही परलोक का सहारा बनते हैं, जैसे कर्म हैं और जैसा ध्यान है, तदनुसार उसको उच्च नीच योनि मिलती है। और जो स्वभावतः बच्चों में समझ का भेद पाया जाता है, वह उनकी पूर्व प्रज्ञा के अनुसार होता है। यह स्पष्ट देखने में आता है, कि कई बच्चे थोड़ा सा अभ्यास करने से ही चित्र खींचने आदि में ऐसे चतुर निकलते हैं, कि जैसे दूसरे बहुत अभ्यास से भी नहीं। ऐसे ही सब प्रकार की बातों में किसी में तो कौशल और किसी में अकौशल देखते हैं। यह सब उनकी पूर्व प्रज्ञा के प्रगट होने और न होने के कारण है। अतएव मनुष्य को अपने इस जन्म के सुधार की भांति दूसरे जन्म के सुधार के लिए भी शुभ विद्या शुभ कर्म्म और शुभ प्रज्ञा सम्पादन करनी चाहिये।

(३) यह अभिप्राय नहीं, कि आत्मा जब तक दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं कर लेता, तब तक पिछले शरीर को नहीं छोड़ता, क्यों कि यह असम्भव है। पिछले शरीर को छोड़ कर ही नये में प्रवेश के कर्म से प्रविष्ट होना होता है। इसीलिये यहाँ दूसरे सहारे से अभिप्राय उन वासनाओं से है, जिनके फल उसको अगला देह धारना हैं, वह वासनायें उस समय उसके सामने प्रकट होती हैं, और उनके अनुसार वह नया देह धारता है।

(अब मरने के समय) वह जैसे चित्त वाला है, उस (चित्त) के साथ वह प्राण की ओर आता है, और प्राण तेज (उदान) के साथ युक्त होकर आत्मा के सहित (उस सूक्ष्म शरीर को) अपने लिए निर्माण किये हुए लोक में ले जाता है †।

अब उदान, जो ऊपर को जाने वाला है वह एक नाड़ी (सुषुम्णा) के द्वारा पुण्य से पुण्य लोक (देवलोक) को ले जाता है, पाप से पाप लोक (पशु, कीटादि के जन्म) को और दोनों (पाप-पुण्य) से मनुष्य लोक को (ले जाताहै) (प्रश्न ३/७)

चैतन्य आत्मा जिधर झुकता है वही कुछ बन जाता है।

यह आत्मा ब्रह्म विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, नेत्रमय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है ¶। सो यह जो कि मय वह मय (यह रूप और वह रूप) है। यह जैसा करने वाला और जैसा चलने वाला (चाल-चलन वाला) होता है, वैसा ही बनता है, वैसा ही वह बनता है—नेकी करने वाला नेक बनता है और बुराई करने वाला बुरा बनता है। पुण्य कर्म से पुण्यात्मा बनता है और पाप

---

† यह लोक प्रसिद्ध बात है, कि "अन्त्य मति सो ही गति" मरने के समय जैसे संकल्प होते हैं, वैसे ही पुरुष की गति होती है। यह बात तो ठीक है। पर इसके समझने में भूल नहीं करनी चाहिये। ऐसा कभी भूलकर भी मत समझो, कि पहले चाहे कुछ ही करते रहो अन्त्य समय में चित्त को परमा लगा लो। तुम्हारा चित्त जिन बातों में अब लग रहा है, उसी के संस्कार उस पर पड़ रहे हैं, वही संस्कार अन्त्य समय में तुम्हारे सामने जागेंगे सो यह याद रक्खो, कि जीवित काल में जो जो कर्म और और ज्ञान सम्पादन किये हैं, मरण काल में वैसी ही वासनाएँ प्रकट होती हैं उन्हीं के अनुसार जिस लोक का अधिकारी है उसको जाता है।

¶ आत्मा ब्रह्म के सदृश स्वरूप से चितिरूप है, वह जिसमें लगता है, तन्मय (वही रूपी) हो जाता है। बुद्धि से निश्चय करता हुआ विज्ञानमय (बुद्धिरूप) और मन से विचार करता हुआ मनोमय (मनरूप) बन जाता है। प्राण से जीवन की रक्षा करता हुआ प्राणमय, कान से सुनता हुआ श्रोत्रमय है। वह जिस प्रकार प्राण और इन्द्रियों में तत्तद्रूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार वह इस भौतिक शरीर में भूतमय (शरीररूप) बन जाता है और इसी प्रकार वह हृदय के भावों में और अपनी लग्न में तद्रूप बन जाता है। कामनाओं में पड़ कर वह काममय बनता है और कामना को त्याग कर अकाममय है। एक आत्मा तो इतना कामनाओं में खचित है, कि वह काममय बना हुआ है और दूसरा इतना निष्काम है, कि उसमें कोई कामना ही नहीं। एक तो कौड़ी के बदले धर्म भी हार देता है और दूसरा राज्य पर भी लात मार देता है, यह भेद जिस प्रकार भिन्न भिन्न आत्माओं में है, ठीक उसी तरह एक ही आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भी होता है। इसी प्रकार यह आत्मा क्रोधमय बन जाता है और शान्तिमय भी बन जाता है। धर्म की लग्न में यह धर्ममय हो जाता है और अधर्म की लग्न में अधर्ममय बन जाता है। इस प्रकार यह आत्मा (सर्वमय स्वरूप) है। यह जैसा इस संसार में चलता है, वैसा बन ही जाता है और वैसा ही आगे जा कर फल पाता है।

कर्म से पापात्मा। किञ्च कहते हैं कि यह पुरुष कामनामय ‡ ही है, उसकी जैसी कामना होती है, वैसा विचार होता है, जैसा विचार करता है, वैसा कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा फल लगता है। (बृह० ४/४/५)

आत्मा की लग्न के ओर उसके कर्मों के संस्कार सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं। और वह इन संस्कारों से कई रंगों का बन जाता है।

उस पुरुष (सूक्ष्म शरीर) का रूप (वर्णन करते हैं) केशर के रङ्ग से रंगे हुए वस्त्र की नांई (केशरी), भूसली ऊन की नांई (भूसला), चीच बहूटी की नांई (लाल), श्वेत कमल की नांई (श्वेत), एक दम बिजली की चमक की भांति चमकता हुआ (१)। एकाएक बिजली के चमकने की भांति उसकी शोभा सारे में चमक उठती है, जो इस रहस्य को जानता है। बृह० (२/३/६)

उसी में यह फँसा हुआ (मन लगाए हुए) (अपने उपार्जित) कर्म के साथ जाता है, जहाँ इसका लिंग (शरीर)—मन❀ बंधा हुआ है। वहां उस कर्म के अन्त को पहुँच कर (कर्म फल को समाप्त करके) जो कुछ यहां करता रहा है, उस लोक से फिर इस लोक की ओर कर्म (करने) के लिए आता है।

(बृह० ४/४/६)

स्थावर भी सजवी हैं इसी से उनमें जीवन है।

(उद्दालक का श्वेतकेतु के प्रति उपदेश) हे सौम्य! यदि कोई इस रस (सामने स्थिर) बड़े वृक्ष की जड़ पर चोट दे, तो वह जीता हुआ बहैगा¶। और यदि कोई इसके मध्य पर चोट दे, तो वह जीता हुआ बहेगा, और यदि कोई उसकी चोटी पर चोट दे तो वह जीता हुआ बहेगा। सो यह (वृक्ष) जीते हुए आत्मा(जीवात्मा)

---

‡ जैसा चाहता है वैसा बन जाता है और वैसा ही भोगता है इसीलिये यह काममय (इच्छामय) है।

(१) पुण्य, पाप वा मिश्रित (दोनों मिले जुले)। जिस प्रकार के मनुष्य कर्म करता है, वैसा ही रंग उसके सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता है। जब मनुष्य मरता है, तो यह उसके कर्मों का रंग हुआ, कपड़ा (सूक्ष्म शरीर) उसके साथ जाता है। यह रंग जो ऊपर दिखालाए हैं, यह उदाहरण मात्र है कि मनुष्य के भले बुरे कर्मों से इस इस प्रकार का वह रंगा जाता है, किन्तु उसके रंग इतने ही प्रकार के हों यह नहीं है, क्योंकि असंख्य वासनायें उत्पन्न होती रहती हैं, जिनका रंग सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता रहता है।

❀ सूक्ष्म शरीर में प्रधान मन है, दूसरे इन्द्रियों की शक्तियें सारी इसी के आश्रित होती हैं, और इसी के विचार से बाहरी ज्ञान भले बुरे बताते हैं।

¶ जैसे किसी अंग में चोट लगने पर जीवित पुरुष से रुधिर बह निकलता है, इसी प्रकार इससे रस बहता है, वहाँ रुधिर जीवन का चिन्ह है, वैसे ही यहां रस है। जब जीव शरीर को छोड़ देता है, तो उसमें रुधिर का सञ्चार बन्द हो जाता है, इसी प्रकार जब जीव वृक्ष को छोड़ देता है, तो उसमें रस का सञ्चार बन्द होकर वृक्ष सूख जाता है।

से व्याप्त हुआ (पुष्टिकारक रसों को) पूर्णरूप से पीता हुआ हरा भरा होकर खड़ा रहता है। जब यह जीव इसकी एक शाखा को त्याग देता है, वह सूख जाती है, सारे (वृक्ष) को त्याग देता है, सारा वृक्ष सूख जाता है। इसी प्रकार हे सौम्य! तुम जानो कि जीव से प्रथक् हुआ यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है। (छा० ६/११)

पृथ्वी पर जितनी सजीव सृष्टि है, उसमें क्रमशः चेतनता का अधिकाधिक प्रकाश है और यह सब जन्म कर्मों के अनुसार हैं।

जो आत्मा की अधिक प्रकटता को जानता है, वह अधिक प्रकटता को भोगता है ❀। औषधि और बनस्पति और जो कोई प्राणधारी (जंगम, पशु पक्षी) है, वह आत्मा की अधिक प्रकटता को अनुभव करता है¶, क्योंकि औषधि बनस्पतियों में रस† दीखता है, और चित्त‡ प्राणधारियों में दीखता है।

पर (दोनों इन में से भी) प्राणधारियों में ही आत्मा अधिक प्रकट है, क्योंकि उनमें रस भी दीखता है, (जो जीवन का चिन्ह औषधि बनस्पतियों में है) और चित्त (जो प्राणधारियों में दीखता है) वह दूसरों (औषधि वनस्पतियों) में नहीं (दीखता)।

पर पुरुष में आत्मा और भी अधिक प्रकट है, क्योंकि वह दानाई की सम्पदा से सम्पन्नतम (सब से बढ़ कर धनवान) हुआ अपने जाने हुए को (बोलकर) बतलाता है, जाने हुए को देखता है। भविष्य को जानता है और लोक अलोक (१) को जानता है।

और दूसरे पशुओं को भूख और प्यास का ही ज्ञान है, न वह जाने हुए को बतलाते हैं, न वह जाने हुए को देखते हैं, न भविष्यत् को जानते हैं, और न लोक अलोक को जानते हैं, हैं, बस वह इतने मात्र ही हैं।

यह सारे जन्म अपने २ पूर्व कर्मों क' वासनाओं के अनुसार होते हैं। (ऐत० आ० २/२)

मनुष्य के मरने के पीछे की चार अवस्थाएँ

पहले हम कह आए हैं कि मनुष्य के मरने के पीछे जीव की अनेक गतियां होती हैं उनमें से मुख्यतः चार अवस्थायें बन जाती हैं, यथा—(१) एक वे लोग हैं, जिन्होंने मनुष्य का जन्म पाकर

❀ विद्या, यश और तेज से बड़ा प्रसिद्ध होता है।

¶ अर्थात् इनमें आत्मा अधिक प्रकट है।

† रस स्पष्ट जीवन का चिन्ह है, जो पौधों में पाया जाता है। और जीवन सर्वत्र जीव के सहारे है।

‡ चित्त, चेतन आत्मा जिसके द्वारा किसी वस्तु को चेतता है।

(१) जो कुछ इस लोक वा परलोक के लिये भला और बुरा है।

अपने आप को नहीं संभाला, और इस जन्म को यों ही गवां दिया है, वे मनुष्य जन्म से नीचे (पशु आदि के जन्म में) गिरा दिये जाते हैं, (२) दूसरे वे लोग हैं, जो न ऊँचे गये हैं और न बहुत नीचे गिरे हैं, किन्तु मिले जुले व्यवहारों में अपना जीवन बिता गये हैं, वे फिर मनुष्य जन्म को लाभ करते हैं, (३) तीसरे वे लोग हैं, जो इस लोक में नेकी कमा गए हैं, वे अपनी कमाई का भोग भोगने के लिए चन्द्रलोक में जाते हैं, और वहाँ उसका फल भोग कर फिर इस लोक में पुनः आते हैं, (४) चौथे वे लोग हैं, जो नेकी के साथ अपने स्वामी के प्रेम में मग्न हुए हैं, वे मरने के पीछे प्रकाश का रास्ता लेते हैं, और उत्तरोत्तर प्रकाश में प्रवेश करते हुए ब्रह्मलोक में पहुँच कर मुक्त हो जाते हैं, जब कि दूसरे लोग अंधेरे में जाते हैं, और बस उतने मात्र का फल भोग कर यहीं वापिस आते हैं।

इनसे भिन्न एक पाँचवीं (५) अवस्था है। ये चौथे प्रकार के लोग जो प्रेम में मग्न हुए हैं, यदि वह अपर ब्रह्म की उपासना करते करते ही पर ब्रह्म के साक्षात् दर्शन करने से पहिले ही, इस लोक से चल देते हैं, तब ब्रह्म-लोक में जाकर मुक्त होते हैं, पर यदि वे अपर ब्रह्म की उपासना द्वारा क्रमशः पर ब्रह्म के साक्षात्कार तक जा पहुँचे हैं, तो वे देह छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं, उनके लिए किसी मार्ग और किसी लोक की अपेक्षा नहीं है।

संक्षेप में यों कहिए कि उपासना वाले ब्रह्मलोक का मार्ग लेते हैं, कर्मकाण्डी चन्द्रलोक का और उभय भ्रष्ट दोनों से वञ्चित होकर क्षुद्र योनियों में जाते हैं। परन्तु ज्ञानी को किसी मार्ग या लोक-लोकान्तर में जाना नहीं पड़ता। वह तो प्राण निकलते ही ब्रह्म में लीन हो जाता है।

जो बन में जाकर श्रद्धापूर्वक हिरण्यगर्भ (अपरब्रह्म) की उपासना करते रहे हैं वे वानप्रस्थ या सन्यासी भी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, वे सब उत्तरायण मार्ग को जाते हैं और गृहस्थों में से वे लोग जो इस पञ्चाग्नि विद्या के रहस्य को और पाँच अग्नियों के द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, वे भी उत्तर मार्ग को प्राप्त होते हैं। पर जो गृहस्थ अग्निहोत्र आदि श्रौत्र कर्मों को या दान देना इत्यादि दूसरे भलाई के कर्मों को ही पूरा करते हैं, वे दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं।

ज्ञानी की मृत्यु।

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी, येन वा केन मृत्युना।
यथा सर्व गतं व्योम, तत्र तत्र लयङ्गतः॥ (उत्तर गीता)

अर्थः—ज्ञानवान् कहीं भी तथा कैसी भी मृत्यु से मरे, सर्वगत आकाश के समान वहीं लय को प्राप्त हो जाता है।

तनुं त्यजेत वा काश्यां श्वपचस्य गृहेदवा।
ज्ञान सम्प्राप्ति समये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥ (योग वाशिष्ठ)

अर्थः—ज्ञानी पुरुष चाहे काशीपुरी में शरीर त्यागे अथवा चाण्डाल के घर में त्यागे, परन्तु वह तो ज्ञान प्राप्त होने के समय वासना रहित हो मुक्त हो जाता है।

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुः पतेत्तात् ।
ब्रह्मी भूतस्य यतेः प्रागेव तच्चिदग्निना दग्धम् ॥ (विवेक-चूड़ामणि)

अर्थः—वृक्ष से टूटे हुए पत्तों के समान यह देह जहां कहीं भी मर जाय, ब्रह्मभूत यति ने तो उसे पहले ही ज्ञान-अग्नि से भस्म कर डाला है।

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।
मूर्च्छितो वा त्यजत्येव प्राणात् भ्रांतिर्न सर्वथा ॥

अर्थः—ज्ञानवान् रोग रहित हो अथवा रोग वाला हो, बैठा हो वा पृथ्वी पर लोटता हो, मूर्छित हो वा सचेत हो, प्राणों के त्याग काल में इसको भ्रान्ति किसी भांति से भी नहीं होती है।

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी, परमात्तर वित्सदा ।
पर ब्रह्मणि लीयते न तस्योत्क्रान्ति रिष्यते ॥ (सिद्धान्त रत्नाकर अज्ञान व ज्ञान वि०)

अर्थः—ज्ञानी जहां कहीं प्राणों को त्यागे उसकी प्राण कला लोकान्तर अर्थात् किसी और देह को प्राप्त नहीं होती किन्तु अपने आधार ब्रह्म में लय होती है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता विदेह मुक्त होता है।

ॐ तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् ।
ज्ञानसमकाल मुक्तः कैवल्यं याति हत शोकः ॥
(हंसनाद-गीता पृष्ठ १८८६)

अर्थः—तीर्थ में अथवा श्वपच (डोम) के गृह में नष्ट स्मृति होकर यदि ज्ञानी शरीर छोड़े तो शोक रहित होकर कैवल्य को प्राप्त होता है।

ॐ तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा ।
ज्ञान सम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगतज्वरः ॥

अर्थः—काशी में अथवा श्वपच के घर में ज्ञानी कहीं भी शरीर को छोड़े ज्ञान-प्राप्ति के समय वह प्राणी विगत ज्वर है और मुक्त है। (हंसनाद गीता पृष्ठ १८८६)

सारांश यह है कि ज्ञानी जहां प्राणों को त्यागे उसकी प्राण कला लोकांतर अर्थात् किसी और देह को प्राप्त नहीं होती किन्तु अपने आधार ब्रह्म में लय होती है यानी ब्रह्मवेत्ता विदेह मुक्त होता है।

वर्णाश्रम से अतीत साक्षी आत्मा को विद्वान् ब्रह्मस्वरूप निश्चय करके साक्षात् ब्रह्म होता है। अर्थात् ब्रह्म चैतन्य को अपना स्वरूप जानता है,

अपने प्यारे पुत्र, स्त्री व धन आदि पदार्थों और अप्रिय शत्रु, सर्प, सिंह, आदि जीवों की प्राप्ति का कारण सब कर्मों को ब्रह्म (सत्) अभ्यास द्वारा झूँठे जान कर विद्वान् ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है।

मान व अपमान आदि से रहित व तीनों गुणों से परे और सब काल से अतीत एक रस चैतन्य को निश्चय करके ज्ञानी अभय ब्रह्म को अपना स्वरूप जानता है।

परलोक के विषय में राजा प्रवाहरण के श्वेतकेतु के प्रति पाँच प्रश्न और उनका उत्तर

(१) पहला प्रश्न—क्या तू जानता है, कि ये लोग जब मरते हैं, तो वे किस प्रकार अलग होते हैं (अलग अलग मार्ग लेते हैं)?

उत्तर—दाह संस्कार के पीछे एक तो अर्चि आदि का रास्ता लेते हैं और दूसरे धूम आदि का और तीसरे इन दोनों मार्गों से वञ्चित रह कर यहीं बार बार जन्मते हैं और यह भेद उनकी कमाई से होता है। उपासना वाले ब्रह्मलोक का रस्ता लेते हैं, कर्म-काण्डी चन्द्रलोक का और उभय-भ्रष्ट दोनों से वञ्चित होकर क्षुद्र योनियों में जाते हैं।

(२) दूसरा प्रश्न—क्या तू जानता है, कि किस प्रकार वह फिर इस लोक में आते हैं?

उत्तर—जब उनका पुण्य क्षीण हो जाता है, तो वे आकाश वायु आदि में से होकर नीचे उतरते हुए पुरुष स्त्री के द्वारा फिर इस लोक में जन्म लेते हैं।

(३) तीसरा प्रश्न—इस प्रकार बार २ जाते हुए लोगों से क्यों वह लोक भर नहीं जाता?

उत्तर—बहुत से तो उस लोक में पहुंचते ही नहीं, और जो पहुँचते हैं वे अपने कर्म भोग भोग कर पुनः आते रहते हैं।

(४) चौथा प्रश्न—कितनी आहुति के होम किये जाने पर जल मानुषीवाणी वाले बन कर उठ कर फिर बोलने लगते हैं?

उत्तर—पाँचवीं आहुति में जल पुरुष के रूप में आ जाते हैं।

(५) पाँचवाँ प्रश्न—क्या कुछ करने से देवयान और पितृयान मार्ग को जाते हैं?

उत्तर—जो बन में जाकर श्रद्धापूर्वक हिरण्यगर्भ (अपरब्रह्म) की उपासना करते रहे हैं वे वान-प्रस्थ या सन्यासी भी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, वे सब उत्तर मार्ग को जाते हैं, और गृहस्थों में से वे लोग, (१) जो इस पञ्चाग्नि विद्या के रहस्य को और पाँच अग्नियों के द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, वे भी उत्तर मार्ग

को प्राप्त होते हैं। पर जो गृहस्थ अग्निहोत्र आदि श्रौत कर्मों को या दान देना इत्यादि दूसरे भलाई के कर्मों को ही पूरा करते हैं, वे दक्षिण मार्ग को प्राप्त होते हैं।

पंचाग्नि विद्या

❀ यह लोक (द्यौलोक) हे गौतम ! अग्नि है, सूर्य उसकी समाधि है, किरणें धूम (धुंआ) है, दिन लाट है, दिशाएँ अँगारे हैं, अवान्तर दिशाएँ (कोणें) चिङ्गारियां हैं, (१)

शतपथ ब्राह्मण में यह वर्णन है, कि अग्नि-होत्र के विषय में जनक ने याग्यवल्क्य से छः प्रश्न पूछे थे। [१] यह कि दोनों (अर्थात् सायंप्रातः की) आहुतियां किस प्रकार इस लोक से ऊपर उठती हैं ? [२] किस प्रकार आगे जाती हैं ? [३] कहाँ ठहरती हैं ? [४] क्या वहाँ फल देती हैं ? [५] किस भाँति फिर इस लोक की ओर लौटती हैं ? [६] और इस लोक में आकर फिर कैसे उठती हैं ?

इन प्रश्नों में अग्निहोत्र का वह साधारण फल नहीं पूछा गया, जो इसी लोक और इसी जीवन में मिल जाता है, अर्थात् (१) जो होमा हुआ द्रव्य अग्नि से छिन्न-भिन्न होकर ऊपर उठता है (२) और वह आकाश में आगे को जाता हुआ (३) ऊंचा जा ठहरता है (४) वहाँ वह वायु और उसमें के जल को स्वच्छ और पुष्ट करता है (५) मेघ के रूप में प्रकट होकर बूँदों के रूप में नीचे उतरता है (६) और औषधि वनस्पतियों के रूप में फिर इस लोक में उठता है।

किन्तु अग्नि-होत्र का यहाँ वह असाधारण फल पूछा गया है, जो यजमान को इस शरीर के पीछे परलोक में जाकर मिलता है, अभिप्राय यह है कि होम की हुई आहुतियें जिस प्रकार एक अत्यन्त सूक्ष्मरूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं, उसी तरह एक दूसरा और भी सूक्ष्म रूप धारण करके आहुति देने वाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है, जो श्रद्धा से यथाविधि आहुति देते समय एक आस्तिक पुरुष के चित्त पर उस कर्म्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं, इन्हीं संस्कारों को वासना, अपूर्व और अदृष्ट भी कहते हैं। यही वह धर्म है जो मरने के पीछे मनुष्य के साथ जाता है, जिसके विषय में यह कहा है:—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र-दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
(मनु० ४/२३९)

वहाँ सहायता के लिये, पिता-माता खड़े नहीं होते। न पुत्र और स्त्री, न बन्धु-बांधव, केवल धर्म खड़ा होता है।

अब आहुतियों के दो रूप बन गये, एक जो सूक्ष्मरूप से आकाश में प्रवेश करता है और दूसरा जो

❀ पाँचों प्रश्नों में से चौथे प्रश्न का निर्णय पहले करते हैं, क्योंकि और सारे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है।

संस्कार रूप से अन्तकरण में। इनमें से आकाश सब का सांझा है, इसलिये आकाश में प्रविष्ट हुई आहुतियें सबके लिए सांझा फल उत्पन्न करती हैं, अर्थात् वृष्टि। पर अन्तःकरण अपना २ अलग है, सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियें (संस्कार) उसी के परलोक और पर जन्म को संवारती हैं, जो उनका देने वाला है। यह आहुतियें किस प्रकार उसके परलोक और पर-जन्म को संवारती हैं, उसके लिए यह छः प्रश्न हैं। अर्थात् दी हुई आहुतियें जो संस्कार रूप से यजमान के चित्त में स्थित हैं, वह मरने के पीछे किस प्रकार ऊपर उठती हैं इत्यादि। वहाँ जो उत्तर दिये हैं, उनका सारांश यह है। यह सूक्ष्मरूप (वासनारूप) आहुतियें सूक्ष्म शरीर (जो परलोक में यजमान के साथ जाता है) को लपेटे हुए उसके साथ ऊपर उठता है। जब वह इस लोक से ऊपर उठता है फिर वह यजमान अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है, तो वह उसके साथ अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं, यहाँ वह अन्तरिक्ष को आहवनीय (अग्नि) बना लेती हैं और वायु को समिधा इत्यादि। वहाँ वह अंतरिक्ष में रहकर यजमान को तृप्त करती हैं, फिर जब यजमान अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौलोक में जाता है तो वह उसके साथ द्यौलोक को आहवनीय बनाती हैं (इत्यादि) और फल देकर यजमान को तृप्त करती हैं। फिर वहाँ फल भोग कर यजमान पृथ्वी की ओर लौटता है, और यहाँ आकर जन्म गृहण करता है, इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में इनके सविस्तार उत्तर दिये गये ह।

सो यजमान द्यौलोक से जिस प्रकार लौटता है और जो २ रूप बनाता चला आता है वह सब इस प्रकरण में उसका वर्णन है। यहाँ भी उसी तरह अग्नि-होत्र की ही कल्पना की गई है जैसा कि वह लोक। हे गौतम! अग्नि है, इत्यादि। यहाँ द्यौलोक से उतरने से आरम्भ करके मनुष्य जन्म लेने तक पाँच अग्नियों की कल्पना की गई है, यही पञ्चाग्नि विद्या कहलाती है।

पंच लोक के दो मार्ग

इन दोनों मार्गों के विषय में अनेक विचार प्रकट किये गये हैं।

(१) पहला विचारः—वे कौन लोग हैं, जो देवयान मार्ग से जाते हैं और वे कौन हैं, जो पितृयान से जाते हैं?

उत्तर—वे ग्रहस्थ जो साधारणतया यज्ञों को पूरा तो करते हैं पर उनके वास्तविक रहस्य को नहीं जानते, अथवा वे ग्रहस्थ जो दूसरे शुभ कार्य (दान, तप, में रत हैं, वा कुआँ, तालाब, विद्यालय, अनाथालय आदि का स्थापन) करते हैं। वे पितृयान मार्ग से जाते हैं। पर वे ग्रहस्थ जो पंचाग्नि की विद्या और उनके द्वारा अपने जन्म को जानते हैं जैसा यहाँ वर्णन हुआ है, वे देवयान मार्ग से जाते हैं। दूसरे वे व्यक्ति जो ग्रहस्थ से बन को चले गये हैं, और वहाँ श्रद्धा और तप में रत हैं, अर्थात् वानप्रस्थ, या वे सन्यासी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् नहीं किया है, वे सारे देवयान मार्ग से जाते हैं। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या ब्रह्मचारी भी देवयान मार्ग से जाते हैं? इसका उत्तर भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी यह देते हैं। कि "नैष्ठिक ब्रह्मचारियों (जो सारी आयु ब्रह्मचर्याश्रम में रहें, के लिए जो जो स्मृति और पुराणों में देवयान बतलाया है और उपकुर्वाणक (जो विद्या पढ़ कर गुरु दक्षिणा

देकर घर वापिस आते हैं)। ब्रह्मचारियों ने दूसरे आश्रमों में प्रवेश की योग्यता लाभ करने के लिए इस आश्रम को धारण किया है, सो उनका यह आश्रम अगले आश्रमों को संवार देता है, बस यही उसका फल है, कोई और स्वतन्त्र पारलौकिक फल नहीं।" पर वस्तुतः यह कमाई का फल है, न ब्रह्मचारी के लिए रोक है, न ग्रहस्थ के लिए। देवयान मार्ग उन सब के लिये है जो सबल ब्रह्म के उपासक हैं। और उनके लिए है, जिनका जीवन उदार है और पुण्यमय है। तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति" प्रश्न० १/१६)= "उनके लिए वह धूलरहित ब्रह्मलोक है, जिनमें कुटिलता नहीं, झूँठ नहीं, और छल नहीं।"

(२) दूसरा विचारः—यह किया गया है, कि जब चन्द्र-लोक में एक पुरुष अपने सारे कर्म भोग लेता है, तो वह फिर इस लोक में आकर कैसे जन्म लेता है। जन्म पिछले कर्मों का फल है, जब पिछले सारे कर्म समाप्त हो गये, तो फिर नया जन्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि वे यज्ञादि कर्म जिनका फल चन्द्रलोक में भोगा गया है. उनके अतिरिक्त उसके और भी कर्म हैं, वे यह हैं, जो उसका यहाँ लोगों के साथ बर्ताव रहा है, वे अभी भोगने शेष हैं और उनके अनुसार वह यहाँ नया जन्म ग्रहण करता है, जैसा कि छान्दोग्य ५/१०/७ में चन्द्रलोक से आने वालों के विषय में कहा है। "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनिंवा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं। वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा।" अब वे लोग जिनका कि बर्ताव यहाँ रमणीय (सुहावना शुद्ध) रहा है, वे जल्दी उत्तम जन्म को प्राप्त होंगे। ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को, वा वैश्य के जन्म को। पर वे जो यहाँ नीचे बर्ताव वाले रहे हैं, वे जल्दी नीच योनि को प्राप्त होंगे, कुत्ते की योनि को वा सूअर की योनि को वा चाण्डाल की योनि को।

(३) तीसरा विचारः—चन्द्रलोक से उतरने के विषय में यह विचार है, छान्दोग्य में कहा है "तस्मिन् यावत्-संपात मुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्" वे वहाँ (चन्द्रमण्डल में) उतनी देर रहते हैं, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते, इसके पीछे वे इसी मार्ग को फिर लौटते हैं, जैसे गए थे" इस बचन से यह प्रकट किया है कि जिस मार्ग से ऊपर चढ़े थे उसी से फिर नीचे उतरते हैं। पर जाने में तो महीनों से पितृलोक को और पितृलोक से चंद्रमा को गए थे। (देखो ऊपर और छान्दो० ५/१०/४) और आने में चन्द्रलोक से आकाश में आकाश से वायु में और वायु से वृष्टि के जल में उतरे हैं (देखो ऊपर और छान्दो० ५/१०/५) तब "उसी मार्ग को फिर लौटते हैं जैसे गये थे" यह कैसे कहा?

उत्तर—यह है कि जाने में तो पृथ्वी से चन्द्रलोक को गये थे, अब आने में चन्द्रलोक से पृथ्वी को लौटते हैं, सो जो मार्ग ऊपर जाने का था, वही अब नीचे उतरने का है, भेद केवल इतना है, कि जाते समय चन्द्रलोक में जाकर भोगभोगने के योग्य बनने के लिये जिस २ में से होकर जाना आवश्यक है, उस २ में से होते हुए जाते हैं, और आते हुए पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए जिस २ में होते आना आवश्यक है, उस २ में से होते हुए आते हैं। जाते समय चन्द्रलोक में भोग भोगने के लिए यदि कृष्णपक्ष में से होकर जाने की आवश्यकता थी, तो यह आवश्यकता आते समय नहीं रही। हां आते समय अन्न में प्रवेश करने के लिए वृष्टि में से होकर और की आवश्यकता है, सो बतला ही दिया है। हां, जो (यात्रा) जाने आने में सांझी है, वह दोनों में सांझी बतलाई है। जैसे छान्दोग्य (५/१०/४) के अनुसार पितृलोक से आकाश में और आकाश से चन्द्रलोक को गये थे। (पितृलोकादाकाश माकाशाच्चन्द्रमसम्) आते समय भी वैसे ही चन्द्रलोक से आकाश में आए हैं।

(४) चौथा विचार—यह है कि चन्द्रलोक से पृथ्वी लोक तक ही और वापिस लौटने के विषय में जो छान्दोग्य ५/१० में यह लिखा है "आकाशमाकाशाद्वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमोभवति, धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति ॥५॥ अभ्रं भूत्वा मेघोभवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" ॥ ६ ॥ पहले आकाश को पुनः आगमन होता है, आकाश से वायु को वायु बनकर वह (यजमान) धूम बनता है, धूम बन धुंध बनता है ॥ ५ ॥ धुंध बन कर मेघ बनता है, मेघ बन बरसता है।" इसका का क्या अभिप्राय है, क्या सचमुच ही वायु रूप बन जाता है, धूमरूप, धुंधरूप और मेघरूप बन जाता है, यह अभिप्राय है, अथवा कुछ और अभिप्राय है ?

उत्तर—यह है कि चन्द्र मण्डल में जो उनका शरीर था, वह अब विलीन होकर आकाश में आकाश की तरह अति सूक्ष्म होकर उतरता है, इसी प्रकार नीचे उतरता हुआ वायु और धूम आदि में ऐसा मिल जाता है, कि कोई भेद प्रतीत नहीं होता, इस आशय से वायुरूप धुन्धरूप; और धुआँ मेघरूप बन जाता है, यह कहा है।

(५) पाँचवां विचार—यह है कि आकाश, वायु, धुन्ध और वृष्टि में से तद्रूप होकर वे जल्दी २ नीचे उतरते हैं। वा लम्बा २ काल इन २ रूपों में रह कर नीचे उतरते हैं?

उत्तर—इसका उत्तर यह है, कि थोड़ा २ काल ही इन अवस्थाओं में वर्षा ठहर कर मेंह की धाराओं के साथ इस पृथ्वी पर आ पड़ते हैं। क्योंकि जब वे मेंह की धाराओं के साथ पृथ्वी पर आ जाते हैं, तब इसके आगे उनके विषय में यह कहा है—

"त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिल माषा इति जायन्ते। अतोवै खलु दुर्निष्प्रियतरम्" (छान्दो० ५/१०/६) वे यहां (पृथ्वी में) धान, जौ, ओषधियें, तिल और माष इत्यादि के रूप में जन्म लेते हैं। यहाँ से निकलना बड़ा कठिन है"। सो

यह कठिनाई अब यहाँ आकर बतलाई है, पहले नहीं। इससे प्रकट होता है, कि पृथ्वी पर उतरने तक में उनको कठिनाई नहीं होती। पीछे जब वे औषधियों के रूपों में जाते हैं, तो यहाँ से निकलना उनको कठिन हो जाता है।

(६) छटा विचार— यह है, कि औषधि मनुष्यों में से निकलने में उनको क्या कठिनाई होती है ?

उत्तर—इस पर श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं कि जब वे मेघ द्वारा नीचे उतरते है, और धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल, माष आदि में से पार होकर जन्म ग्रहण करते हैं, इस अन्तर में उनके लिये बहुत कठिनाइयां हैं। सब से पहिली यह है, कि मेघ के बरसने के सहस्त्रों स्थान हैं, यदि यह मेंह के साथ पर्वत की चोटी पर बरसे, और वहाँ से नीचे ढल कर नदी में बहते हुए समुद्र में जा पहुँचे। वा किसी मछली अथवा अन्य समुद्रिय जन्तु ने खा लिया और वे वहाँ ही जब उस जन्तु के साथ समुद्र में विलीन हुए, तब समुद्र के जलों के साथ आकाश में खींचे गये, (सो उनका एक बार का पृथ्वी पर उतरना तो निष्फल ही चला गया)। फिर मेंह की धाराओं के साथ मरुभूमि (रेगिस्तान) में वा पत्थरों पर पड़े रहे। यहाँ वह कदाचित् व्याल और हिरण आदि से पिये गये, उनको किसी दूसरे जन्तु ने खा लिया, और उसको किसी दूसरे ने। इस प्रकार वह एक लम्बे चक्र में पड़ जाते हैं। अब जब वह इन औषधि वनस्पतियों में आते हैं तो उन पहली कठिनाइयों से निकल आते हैं, और नई कठिनाइयों में पड़ते हैं। कदाचित् उन पौधों में आये, जो किसी ने नहीं खाये और सूख गए। कदाचित् उन स्थावरों में आए, जो खाए गए हैं, तथापि यदि वह बच्चों से वा बूढ़ों से खाए गए वा उनसे उनसे खाए गए, जो गृहस्थ नहीं, तो इस प्रकार यह अवसर भी वह अपने नए जन्म का खो देते हैं। यदि किसी युवक गृहस्थ से खाए गए, पर वह बन्ध्य वीर्य्य है, वा स्त्री वन्ध्या है, तो फिर जन्म लेने का यह अवसर भी चूक जाता है, फिर जब कभी जाकर वह समर्थ पुरुष से खाये जाते हैं और समर्थ माता की कुक्षि में जाते हैं, तब वह नया जन्म ग्रहण करते हैं। वैसा जन्म, जैसे पिता के शरीर में गए हैं, और यह उनका जाना कर्मानुसार होता है, इसमें कुछ उलट पलट नहीं होता।

(७) सातवाँ विचार—यह कठिनाइयाँ उन्हीं के लिये हैं, जो चन्द्रमण्डल से उतरे हैं, और स्थावरों (घास वा पौधों) के जन्मों में नहीं जायँगे। हाँ, जो पापी जब इस योग्य हैं, कि वह स्थावर जन्मों में चले जाते हैं। पर यह जो चन्द्रमण्डल से उतर कर स्थावरों में से होकर आए हैं, उनके लिए स्थावरों में जाना उनके किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु आगे जो उनका ब्राह्मण आदि का जन्म कटना है, उसमें जाने के लिए यह उनका मार्ग है। इसीलिये वे उन स्थावरों में आकर कोई सुख दुःख नहीं भोगते। क्योंकि स्थावर उनका शरीर नहीं होता, किन्तु वे जैसे पहले आकाश धुएँ, धुन्ध और मेघ में मिल गए थे, ऐसे ही अब स्थावरों में मिल जाते हैं। और इसीलिए उन अनाजों के कूटने पीसने से वे उनसे निकल नहीं जाते, जब कि वे जीव उस समय उनसे निकल

जाते हैं, जिनका कि देह है। किन्तु यह उस अन्न में ही रह कर भोजन के द्वारा उनके अन्दर पहुँचते हैं जिनके यहाँ उन्होंने जन्म ग्रहण करना है। इसीलिए "य इ ह रमणीयचरणा·····कपूयचरणा·····" शुद्ध बर्ताव वाले·····और मैले बर्ताव वाले·····इत्यादि से ब्राह्मण आदि का जन्म ग्रहण करने में कर्मों का सम्बन्ध बतलाया है, इससे पूर्व नहीं, क्योंकि इससे पूर्व (धान आदि में जाना) उनका मार्ग है, न कि मार्ग कर्मानुसार जन्म। यहाँ यह अभिप्राय नहीं, कि स्थावर जीव योनि (उपभोग का स्थान) नहीं किन्तु यह उनका उपयोग स्थान हैं जो पाप का फल भोगने के लिए स्थावर बने हैं, किन्तु चन्द्रमण्डल से उतरने वालों का यह उपयोग स्थान नहीं है।

(८) आठवाँ विचार—यह है कि चन्द्रमण्डल में वह भोगने के लिये गये हैं, इसलिये वहाँ तो उनको ज्ञान होता है और यह प्रश्नोपनिषद् (५/४) में स्पष्ट लिखा है, कि "स सोमलोके विभूति मनुभूय पुनरावर्तते"। वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य को अनुभव करके वापिस लौटता है, पर जब वे नीचे उतरते हैं, तो ज्ञान से शून्य (बे खबर) रहते हैं, जब तक कि उनको फिर मानुष जन्म देकर ब्रह्म को पहुँचने योग्य बना दिया जाता है।

(९) नवाँ विचार— यह है, कि इन मार्गों के वर्णन में उपनिषदों के भीतर भेद क्यों पाया जाता है ?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि भेद होने पर भी विरोध कोई नहीं, किसी जगह किसी एक प्रसिद्ध बात का ही वर्णन है और किसी जगह सविस्तार वर्णन है। प्रश्नोपनिषद् (१/९, १०, ५/४-५) में पितृयान से चन्द्रलोक की प्राप्ति और देवयान से सूर्यलोक को जीतने का ही वर्णन है। मार्ग नहीं बतलाया। मुण्डक (१/२/११) में भी सूर्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति "यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा" वे निर्मल हुए सूर्य के द्वार से वहाँ पहुँचते हैं, जहां वह अव्यय स्वरूप अमृत पुरुष है।" इसमें देवयान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का वर्णन है। मार्ग का नहीं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक में मार्ग का भी सविस्तार वर्णन है। हां देवयान का अर्चि, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण तक तो दोनों में एक समान वर्णन है। पर छान्दोग्य में उत्तरायण से आगे बरस और उसके आगे आदित्य का वर्णन है। और बृहदारण्यक में उत्तरायण से आगे देवलोक और उससे आगे आदित्य का वर्णन है। छान्दोग्य में देवलोक छोड़ दिया है और बृहदारण्यक में बरस को छोड़ दिया है। व्यवस्था यह है, कि उत्तरायण से बरस को, बरस से देवलोक को, और देवलोक से आदित्य को जाता है। इससे उलटा (अर्थात् उत्तरायण से देवलोक, देवलोक से बरस और बरस से आदित्य को जाता है) यह इसलिए नहीं समझा जा सकता, कि उत्तरायण काल है, उसके साथ ही बरस का वर्णन आना चाहिये। फिर छान्दोग्य में आदित्य से आगे चन्द्र और चन्द्र से आगे विद्युत् का वर्णन है, बृहदारण्यक में आदित्य के आगे विद्युत् का ही वर्णन है चन्द्रलोक को छोड़ दिया है। और पितृयाण के विषय में छान्दोग्य में

पितृलोक से आकाश और आकाश से चन्द्रलोक में जाना लिखा है, बृहदारण्यक के वर्णन में आकाश को छोड़ा हुआ है। और चन्द्रलोक से लौटने के विषय में बृहदारण्यक में वायु के आगे वृष्टि का वर्णन है, छान्दोग्य में वृष्टि बनने की अवान्तर अवस्थाओं अर्थात् धुआँ, धुन्ध और मेघ का भी वर्णन है। सो यह सारा वर्णन का भेद है, विरोध कोई नहीं।

इनके अतिरिक्त और भी कई विचार हैं, जो विस्तार के भय से लिखे नहीं जा सकते। पाठक! वेदान्त में देखलें:—

अर्चिरादि मार्ग
(बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार)

९ ब्रह्मलोक

मानस पुरुष की साथ

८ विद्युत्
|
७ आदित्यलोक
|
६ देवलोक
|
५ उत्तरायण के छः महीने
|
४ आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष)
|
३ अहः— दिन
|
२ अर्चिः—प्रकाश (ज्योति)
|
१ श्रद्धा—सत्योपासना

अर्चिरादि मार्ग
(छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार)

१० ब्रह्मलोक

मानस पुरुष की साथ

९ विद्युत् लोक
|
८ चन्द्रलोक
|
७ आदित्यलोक
|
६ सम्वत्सर
|
५ उत्तरायण के छः महीने
|
४ आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष)
|
३ अहः—दिन
|
२ अर्चिः (ज्योति, प्रकाश)
|
१ श्रद्धा-तप-उपासन

यह मार्ग में बृहदारण्यक में जहाँ देवलोक कहा है वहाँ छान्दोग्य में सम्वत्सर कहा है। तथा आदित्य से विद्युत् में आने का वर्णन बृहदारण्क में है वहाँ छान्दोग्य में बीच में स्थान चन्द्रलोक का एक विश्राम अधिक कहा है। यदि देवलोक का नाम सम्वत्सर माना जाय और आदित्य के पश्चात् चन्द्रलोक का विश्राम करके ही विद्युत् रूप बनना सत्य माना जाय तो दोनों में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती। इस तरह दोनों की संगति हो सकती है। (यह वर्णन छां० ३०४/५/५-६ में इस प्रकार है। इसका नाम यहाँ देव-पथ कहा है।

अब धूम्र मार्ग का विचार करते ह।

धूम्रमार्ग। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार पुनरागमन

९ देवों द्वारा अन्न भक्षण

८ सोम-अन्न
७ चन्द्र (सोम)
६ पितृलोक
५ दक्षिणायन
४ क्षीणपक्ष
३ रात्रि
२ धूम्र
१ यज्ञ

गमन

पुनरागमन

१० आकाश में अवस्थान
११ वायु में ,,
१२ वृष्टि में ,,
१३ पृथ्वी में ,,
१४ अन्न में ,,
१५ पुरुषवीर्य में ,,
१६ स्त्री के गर्भाशय में
१७ मनुष्य रूप में जन्म

धूम्रमार्ग । (छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार)

१० देवों द्वारा अन्न भक्षण → ११ आकाश में अवस्थान

९ सोम—अन्न

८ चन्द्रमाः (सोमः)

७ आकाश

६ पितृलोक

५ संवत्सर

४ दक्षिणायन के ६ महीने

३ अपरपक्ष

२ रात्रि

१ दान

गमन ↑

पुनरागमन ↓

१२ वायु में ,,

१३ धूम में ,,

१४ अभ्र में ,,

१५ मेघ में ,,

१६ वृष्टि में ,,

१७ व्रीहि आदि अन्न में

१८ अन्त खाने वाले पुरुषों में

१९ स्त्री के गर्भाशय में

२० मनुष्य जन्म

शुक्ल और कृष्णगति ।

ये दो शब्द ही इन मार्गों का स्वरूप बता रहे हैं। एक मार्ग से जाने से शुद्धता आती है और दूसरे मार्ग से जाने से कृष्णता, कालिमा आती है। जनता में जो भोगों के पीछे दौड़ रहे हैं वे कृष्णमार्ग से जाने वाले और जो स्वावलम्बन और स्वाधीनता के पीछे जाने वाले हैं वे शुद्ध मार्ग से जाने वाले हैं।

ये दो भिन्न परिणाम इन मार्गों के जानने से होते हैं, एक मार्ग से जाने से स्वाधीनता मिलती है और दूसरे मार्ग से जाने से अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, यह ज्ञान जिसको होता है वह कभी मोहित नहीं होता, अर्थात् कृष्णमार्ग के भोगों में न फंसता हुआ त्याग के शुद्ध मार्ग से उन्नत होता है। वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान से जो पुण्य होता है उससे कई गुणा अधिक फल प्रत्यक्ष त्याग मार्ग का अवलम्बन अर्थात् फल त्याग का आचरण करने से होता है। पाठक इस बात को जानें और इस स्वाधीनता के मार्ग से चल कर परम पद प्राप्त करें।

परलोक और जन्मांतरतत्व ।

(संक्षेप में)

परलोक के विषय में हमने अन्यत्र सविस्तार वर्णन किया है।

भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य—ये सात ऊपर के लोक हैं, जो ऊर्ध्वलोक कहाते हैं। ऐसे ही इनके नीचे भी सात लोक हैं, जो अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नाम से पुकारे जाते हैं। इस प्रकार चौदह लोक हैं। इनमें उपरोक्त प्रथम लोक भू-लोक के अनेक अन्तर्विभाग होने पर भी उसके प्रधानतः चार भाग हैं, यथा मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक। प्रेतलोक हमारे इस पृथ्वी लोक के आस-पास है। शरीर एवं बन्धु बान्धवों के प्रति विशेष आसक्ति रहने से शरीरान्त के बाद प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है। यह एक प्रकार की अज्ञान-जनित मूर्च्छा की अवस्था है। सांसारिक विषयों में विशेष आकर्षण प्रायः सभी स्त्री-पुरुषों को रहता ही है। इस कारण कम या अधिक समय के लिये प्रेतयोनि की प्राप्ति प्रायः सभी को होती है। किसी विरले पुण्यात्मा व्यक्ति को जिसने इस मृत्युलोक के विषयों से अपने मन को मृत्यु के समय हटा लिया हो, नहीं भी होती है। इसी कारण आर्य्य-शास्त्रों में एक वर्ष तक मृतात्मा के निमित्त प्रेत श्राद्ध की विधि पाई जाती है। श्राद्ध के द्वारा प्रेतत्व का नाश होता है। ऊपर के सात लोकों में से भूलोक का एक छोटा सा अंश मृत्युलोक है, जिसमें मनुष्य वास करते हैं, उसके अतिरिक्त सभी में देवपिण्डधारी नाना श्रेणी के देवता वास करते हैं। नीचे के सप्त लोकों में असुरगण वास करते हैं।

श्रीमद्भागवत् के पांचवें स्कन्ध में लिखा है, यथाः—

भूर्लोक के भीतर ही दक्षिण-दिशा में पृथ्वी के नीचे तथा जल के ऊपर अग्निष्वात्तादि पितृगण निवास करते हैं। यही पितृलोक का स्थान है। वहीं पर राजा वैवस्वत यम का भी राज्य है। इसी यमलोक में यमदूतगण मृत्यु के बाद पितृलोक के (जो साधारणतः स्वर्गलोक से) जीवगण को लाते हैं और वहीं से विचार होकर पापपुण्यानुसार जीवों को सुख या सजा मिलती है। वहीं पर २१ नरक भी हैं। इससे सिद्ध हुआ कि, नरकलोक तथा पितृलोक पृथ्वी की दक्षिण-दिशा में हैं और दोनों ही भूलोक के भीतर हैं।

श्रीभगवान् वेदव्यास ने योगदर्शन भाष्य में भी लिखा है:—

उपर के सात लोकों के नीचे अवीचि नामक नरक स्थान है। उस अवीचि से सुमेरुपृष्ठपर्य्यन्त स्थान को भूर्लोक कहते हैं। अवीचि से ऊपर तथा पृथ्वी से नीचे छः नरक के स्थान हैं, जिनके नाम महाकाल, अम्बरीष, रौरव कालसूत्र, और अन्धतामिश्र हैं। इनमें जीव निजकृत पापकर्मजन्य तीव्र दुःख भोगते हुए दीर्घ जीवन व्यतीत करते हैं। अवीचि के नीचे अतल वितलादि सप्त अधोलोक हैं। देवी भागवत् में प्रेतलोक या नरक लोक और पितृलोक के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथाः—

"भूत प्रेत गण भूर्लोक के अन्तर्गत शून्य स्थानों में रहते हैं। इनका शरीर वायवीय होने के कारण जहां तक वायु है, वहां तक वे रह सकते हैं। पितृलोक के विषय में उसी पुराण में वर्णन है:—

"भूर्लोक के भीतर ही दक्षिण-दिशा में पृथ्वी के नीचे तथा अतल लोक के ऊपर अग्निष्वात्तादि नित्य पितृगण और नैमित्तिक पितृगण रहते हैं। पितृलोक के राजा यम भी वहीं रहते और भगवान् की आज्ञानुसार पापियों का दण्ड-विधान करते हैं। उनके दण्ड-विधान २१ या अन्य मतानुसार २८ नरक भी उसी भूर्लोक के अन्तर्गत हैं। इन सब प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट सिद्ध हुआ कि, भूर्लोक के भीतर प्रेत-लोक, नरक-लोक तथा पितृ-लोक हैं। केवल मत्युलोक स्थूल है तथा शेष तीन लोक सूक्ष्म हैं।"

भगवान् यम धर्मराज का अधिकार साक्षात् रूप से प्रेतलोक, पितृलोक व नरकलोक पर है, पर परोक्ष-रूप से उनका अधिकार हमारे संसार पर भी है। संसार अन्यत्र भी कहा है, कि भगवान् यम धर्मराज के दो रूप माने गये हैं। जीव जब मृत्यु के बाद उस लोक में जाते हैं जब पापियों को तो वे यमरूप से और पुण्यात्माओं को धर्मराजरूप से दिखाई पड़ते हैं। उनके दो प्रधान मंत्री हैं। एक का नाम चित्रगुप्त, और दूसरे का नाम विचित्र-गुप्त पापकर्मों के संस्कार का हिसाब रखते हैं। जीवों के कर्म के बीज रूपी संस्कार उनके चित्तकाश और चिदाकाश रूपी आकाश में अङ्कित रहते हैं। उन्ही संस्कारों से ये दोनों मंत्री अपने २ हिसाब का खाता बना लेते हैं। तदनुसार चित्रगुप्त पुण्य के आधार पर पुण्य लोक रूपी नाना स्वर्ग लोकों में और विचित्रगुप्त जीवों के पाप कर्मरूपी संस्कारों के आधार पर पाप भोग करने योग्य नाना नरक लोकों में अथवा प्रेत लोक में जीव को भेजने के लिए भगवान् परम धर्मराज की आज्ञा गृहण करते हैं। भगवान् यम धर्मराज ही हिन्दू शास्त्रों के अनुसार जीव के पुण्य और पाप का हिसाब देखकर जीवों को परलोक की नाना श्रेणी के भोगों को प्राप्त करने की व्यवस्था करते हैं। अर्थात् वे पापियों को दण्ड देने का प्रबन्ध करते हैं और पुण्यात्माओं को पुण्य भोग के लोकों में भेज देते हैं। जब जीव स्वर्गलोकों में पुण्य-भोग करके अथवा प्रेतलोक और नरक लोक में दुःख भोग करके अथवा दोनों श्रेणी के कर्मों का फल भोग करके इस मृत्युलोक में पुनः वापिस होने को होता है, तो देवता गण उसे माता के गर्भ में पहुँचा देते हैं और अर्यमा आदि पितृगण (जो एक प्रकार के देवता हैं) जिस जीव का जैसा कर्म होता है, गर्भ में वैसा ही सुन्दर, कुरूप, विकलाङ्ग या पूर्णाङ्ग,, उत्तम वा अधम स्थूल शरीर बनने में सहायता देते हैं। ये सब बातें दैवी सहायता से ही होती हैं।

प्रेतयोनि तथा प्रेतलोक।

श्री भगवान् मनु ने अपनी संहिता के १२ वें अध्याय में कर्म्म-भ्रष्ट चार वर्ण के मनुष्यों की चार प्रकार की प्रेतत्व-प्राप्ति का वर्णन किया है, यथा—

"स्वधर्म भ्रष्ट ब्राह्मण वमन-भक्षक उल्कामुख प्रेत होता है, कर्म्मभ्रष्ट क्षत्रिय शव तथा विष्टाभक्षक कटपूतन नामक प्रेत होता है, कर्म्म-भ्रष्ट वैश्य पूयभक्षक मैत्राक्षज्योतिक नामक प्रेत होता है और कर्मभ्रष्ट शूद्र कीट चैलाशक नामक प्रेत होता है।"

प्रेत का शरीर वायवीय होता है। इसलिए घर के द्वार बन्द रहने पर भी किसी प्रकार छिद्र या वायु प्रवेश पथ द्वारा प्रेत घर के भीतर प्रवेश कर सकता है। प्रेत का पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर न रहने पर भी वासना के वेग के अनुसार प्रेत स्थूल शरीर धारण कर सकता है और दर्शनपथ में भी आसकता है। जिसके साथ प्रेत के वासना का सन्बन्ध हो उसको दिखाई दे सकता है। यथा—पति रूप धारण करके स्त्री के पास आकर स्त्री पुरुष जैसा बर्ताव भी कर सकता है, सन्तानादि के पास या प्रेमी के पास भी आ सकता है। वासना के अनुसार प्रेत तरह तरह का रूप भी धारण कर सकता है—यथा वायुतत्त्व को आर्कषण करके आंधी के रूप में मनुष्यों को डराना या अग्नि तत्त्व को आर्कषण करके अग्निमय रूप से श्मशानादि में लोगों को डराना आदि प्रेत कर सकता है; किन्तु सब प्रेतों में ऐसी शक्ति नहीं हो सकती है।

जो जिस भाव के आवेश में प्रेत होता है, उसका आचरण प्रेतयोनि में भी ऐसा ही होता है। प्रेत अनेक भाव से होते हैं। काम, मोह धन,-लोभ आदि के आवेश में मरते समय उसी में मूर्छा पाकर सब प्रकार के प्रेत होते हैं। आत्महत्या करके एक प्रकार के प्रेत होते हैं। अकस्मात् वज्रपात या मकान आदि द्वारा दबकर मरने से एक प्रकार के प्रेत होते हैं। युद्ध में भीरु की भांति मर कर एक प्रकार के प्रेत होते हैं। जिघांसा वृत्ति के वशीभूत होकर आत्महत्या करने से एक प्रकार के प्रेत होते हैं। इन सब के अलग अलग आचरण होते हैं। कामुक प्रेत उस योनि में काम चेष्टा ही करता है और ऐसे पुरुष प्रेत, स्त्रियों पर या स्त्री प्रेत, पुरुषों पर आविष्ट होने की चेष्टा करते हैं।

मोहान्ध स्त्री पुरुष प्रेत की मोह की वस्तु पुत्रादि के पास आने की चेष्टा करते हैं, कभी कभी उनको मार कर अपनी योनि में लाने का उद्योग करते हैं। धन लोभी प्रेत अपनी जीवितावस्था में उपार्जित धन की टकटकी लगाये रहते हैं, उसके खर्च हो जाने से उन्हें बड़ा दुःख होता है। आत्मघात द्वारा प्रेतयोनि प्राप्त प्रेत अंधेरे में रहना पसन्द करते हैं और आत्महननेच्छु स्त्री पुरुषों को आत्मघात के लिए उत्तेजित करते हैं। वज्रपात आदि से जो जो प्रेत होते हैं, वे निस्तब्ध होकर बैठे रहना और अफीमची की भाँति झूमते रहना पसंद करते हैं। युद्ध में भीरुता से मृत प्रेत कबन्ध होते हैं। उनके हाथ में अस्त्र रहता है। वे बड़े दुष्ट होते हैं और लोगों को सताना, डराना, आदि इनका काम होता है। इस श्रेणी के मुसलमान प्रेत जिन्द कहलाते हैं। लोगों को भय, प्रलोभन आदि दिखा कर मारना, नाना भयानक दृश्य दिखाना आदि इन लोगों का काम होता है। जिघांसावृत्ति से जो प्रेत बनता है वह बड़ा ही भयानक अत्याचारी होता है। जिस पर जीवितावस्था में उसका क्रोध या द्वेष रहता है, उसको मार ही डालता है। इत्यादि इत्यादि नाना श्रेणियों के प्रेत देखे गये हैं।

सब को प्रेत नहीं दीखता है और सब को प्रेत की बात भी नहीं सुनाई देती है। साधारणतः जिन जन्तुओं में रात को देखने की शक्ति है, वे सब प्रेत देख सकते हैं, यथा—कुत्ते, बिल्ली, घोड़े, शेर इत्यादि। रात को कुत्ते जो प्रायः बोलते रहते हैं, वे केवल मनुष्य देख कर ही नहीं बोलते, परन्तु प्रेत की मूर्ति देख कर भी उसे मनुष्य समझ बोलते रहते हैं। इसी प्रकार अनेक स्त्री पुरुषों में प्रेत देखने की विशेष दृष्टि (Psychic Sight) होती है। वे सब प्रेत देख सकते हैं। इनमें से किसी किसी को प्रेत की बातें भी सुनने में आती हैं। प्रेत की बातें मनुष्य की बातों की भाँति वायु स्पन्दन द्वारा कान तक नहीं

पहुँचती है। प्रेत को जब कुछ कहना होता है, तो वह तदनुरूप श्रोता के मन में प्रेरणा करता है और उसी प्रेरणा के द्वारा भीतर से श्रोता के कानों में टेलीफोन के शब्द की भाँति प्रेत की बातें सुनने में आ जाती हैं। सब प्रेतों की प्रकृति एकसी नहीं होती है; बल्कि उनकी प्रकृति जीवित्तावस्था की प्रकृति जैसी ही प्रायः हुआ करती है। दुष्ट मनुष्य मर कर दुष्ट प्रेत ही होता है, अच्छा मनुष्य किसी कारण प्रेत योनि प्राप्त होने पर भी अच्छा ही रहता है, अत्याचार नहीं करता है। इस रीति के अनुसार कई एक साधु प्रेतों को भजन गाते सुना गया है और भङ्गी प्रेतों को विष्ठा फेंकते, विष्ठा में रहते और विष्ठा की टोकरी शिर पर ले चलते देखा गया है। सूर्य के प्रकाश में प्रेत का बल घट जाता है। उसे प्रकाश सहन नहीं होता है। वह अंधेरे में रहना ही अच्छा समझता है।

निशाचर जन्तुओं की भाँति प्रेत का बल संध्या-काल से बढ़ने लगता है। उस समय प्रेत इधर उधर खाने के खोज में घूमता रहता है। इसलिए संध्या-काल के भोजन पर प्रेत की बड़ी दृष्टि रहती है। यही कारण है कि आर्य्य-शास्त्र में ठीक संध्या के समय भोजन करने को निषेध किया गया है। प्रेत स्थूल रूप से नहीं खाता है। वह वासना, मन के वेग तथा वेगमयी दृष्टि के द्वारा खा कर तृप्त हो जाता है। इस कारण किसी को खाते हुए देख कर, उस अन्न पर दृष्टि लगाने से प्रेत का पेट भर सकता है।

स्थूल वस्तु न देकर केवल मन की भावना द्वारा चांवल, रोटी, मिठाई आदि देने पर भी उसी मनोमय अन्न मनोवेग द्वारा खा कर भी प्रेत तृप्त हो सकता है, प्रेत को देने के नाम से ब्राह्मणादि आदि को खिलाने पर भी उस समय ब्राह्मणों को खाते देख कर प्रेत का पेट भर जाता है। यही सब प्रेत भोजन के प्रकार हैं। प्रेत शुद्ध भोजन से उच्छिष्ट भोजन अधिक पसन्द करता है। इसीलिये उच्छिष्ट पर प्रेत की बड़ी दृष्टि रहती है और आर्य-शास्त्र में उच्छिष्ट भोजन को तामसिक तथा निषिद्ध भोजन कहा गया है। जिस वस्तु पर प्रेत की दृष्टि पड़ जाय, वह श्रेष्ठ हो या उच्छिष्ट हो, उसके भोजन पर मनुष्य के पेट में वह नहीं पचती है। उसको वमन आदि हो जाता है, वृक्ष के फल पर प्रेत की दृष्टि पड़ने से वह फल गिर जाता है, या सूख जाता है। भोजन की भाँति क्षुधा, तृष्णा, मल-मूत्रादि त्याग सभी मानसिक रूप से प्रेतों में उदय तथा मानसिक रूप में ही उनका समाधान हो जाता है।

प्रेत एकान्त स्थान में रहना अच्छा समझता है। इसलिए उजाड़ मकान या स्थान श्मशानादि स्थान, अन्धकारमय गृह, वृक्ष आदि में प्रायः रहता है। जहां पर यज्ञ होता है, वेदध्वनि होती है, शास्त्र चर्चा होती है, शङ्ख घण्टा की ध्वनि या देवता की आरती होती है, वहां से प्रेत दूर भागता है। ऐसा कई बार देखा गया कि, किसी व्यक्ति पर प्रेत आविष्ट होकर बात कर रहा है, इतने में शङ्ख घण्टा का शब्द होते ही प्रेत उसे छोड़ कर भाग गया। इसी प्रकार जल को देख कर भी प्रेत डरता है। इस कारण ही नृसिंह कवचादि प्रेत बाधा साधन मंत्रों को प्रेतावित्ष्ट व्यक्ति के गले में उसको पानी में डुबकी लगवा कर बांधना पड़ता है। जल की भाँति राम-नाम, दुर्गा-नाम, गायत्री मन्त्र आदि से भी प्रेत बहुत डरता है। मन्त्रों के द्वारा तो प्रेत वशीभूत हो जाता है, किन्तु बलपूर्वक वश होने के कारण वश करने वाले पर बहुत ही अप्रसन्न रहता है और थोड़ा अवसर मिलते ही उसको तथा उसके परिवार को मार डालने की चेष्टा करता है। प्रेत वशीभूत होकर रुपया, फल इत्यादि ला सकता है। प्रेत फलों को उठा नहीं लाता

है। किन्तु जहाँ फल हैं वहाँ तुरन्त पहुँच कर, फल देख आता है, पीछे चित्त की तीव्र धारणा से फलादि बना देता है।

इसलिए उन फलों से पेट नहीं भरता है और कभी कभी थोड़ी ही देर में फलों का आकार बदल जाता है जैसा कि, आध घंटे पहिले जो फल था सो राख या मिट्टी बन गया इत्यादि। सब लोगों पर प्रेत का आवेश नहीं हो सकता है, दुर्बल चित्त स्त्री पुरुषों पर तथा पुरुष से अधिक स्त्री पर प्रेतावेश हो सकता है। प्रेत चाहे जीवितावस्था में किसी भाषा का बोलने वाला हो, प्रेत होने पर अन्य भाषा में भी बोल सकता है, जिस पर आविष्ट हो, उसकी भाषा में भी बोल सकता है; क्योंकि वह आविष्ट व्यक्ति के मन में प्रेरणा करके उसकी जिह्वा को यंत्र बना कर बोलता है। मूर्ख पर आविष्ट होकर विद्वान् प्रेत उसके मुख से अच्छी संस्कृत या अंगरेज़ी में बात कर सकता है। इस प्रकार प्रेत दुर्बल चित्त व्यक्ति में स्वप्न भी दे सकता है या स्वप्नावस्था में उठा भी ले जा सकता है।

प्रेतों के अलग अलग प्रान्त होते हैं, जिनके बाहर प्रेत जा नहीं सकते हैं। जिसका जो हलका है उसी के भीतर उस प्रेत को रहना पड़ता है। प्रत्येक प्रान्त में प्रेत का शासक एक एक बैताल होता है। बैताल प्रेत योनि से ही बनते हैं, वे रङ्ग में काले तथा हाथ में दण्ड लिये हुए होते हैं। वे प्रेतों को वृथा घूमने से, अनधिकार प्रवेश से या किसी पर अत्याचार करने से रोकते रहते हैं। शासन का अतिक्रम करने पर बैताल लोग प्रेतों को खूब मारते हैं। इतना होने पर भी दुष्ट प्रेत कुकर्म से निवृत्त नहीं होते हैं। विकृत-मस्तिष्क स्त्री-पुरुषों पर प्रेत का बड़ा ही प्रभाव रहता है। इसलिये पागल स्त्री-पुरुष तथा पागलखाने में बहुत रहते और पागलों के मन पर प्रभाव डाल कर, उनसे अनेक अत्याचार आदि करवाते हैं।

पञ्चतत्त्वों में किसी प्रकार का विकार (Elemental disturbance) होने पर प्रेतों को बड़ा ही कष्ट होता है, जैसा कि प्रबल आंधी चलते समय प्रेतों को बड़ा ही कष्ट होता है, आंधी के ह्रास वृद्धि के साथ साथ वायु शरीर प्रेतों के शरीर में भी सङ्कोच विकास होता रहता है और प्राण निकलने की भांति अत्यन्त कष्ट होता है। प्रेत को अपने पूर्व शरीर पर बड़ा ही मोह होता है इसलिये मृत्यु के पश्चात् श्मशानपर्यन्त उसी के साथ साथ रहता है। उसको आग में जलाते समय प्रेत को बड़ा ही कष्ट होता है। मानो प्रेत का ही शरीर जल रहा हो ऐसा दुःख होता है। वह रोता पीटता रहता है, दुःख से मूर्छित होने लगता है और जब तक शव देह जलकर पूर्ण भस्म नहीं हो जाता है, प्रेत वहीं पर उसे देखता रहता है और कभी कभी जल जाने के पश्चात् भी श्मशान में ही उसी स्थान में ही रह जाता है।

शीत, वर्षा आदि ऋतुओं का प्रभाव प्रेतों पर नहीं होता है। केवल मानसिकरूप से ऋतुओं का अनुभव होता है। वज्रादि पतन के समय उसको भय मालूम होता है। वज्रपात से मृत प्रेत को वज्रपात के समय बड़ा ही भय होता है। जल में डूब कर मरने वाले प्रेत को जल देखकर बड़ा ही भय होता है। अमावस्या की रात्रि को प्रेत बड़ा ही बलीयान होता है। इसलिए प्रेतवशीकरण शव साधन आदि के लिये यही रात्रि प्रशस्त है।

प्रेत जीवन बड़ा ही दुःखमय तथा अशान्तिमय है। प्रेत के हृदय में सदा ही कुछ दाह बना रहता है, जिससे प्रेत कभी एक स्थान में थोड़ी देर तक शान्ति से ठहर नहीं सकता है। रात दिन अज्ञानान्धकार

से भरे हुए मूर्छामय चित्त के साथ रहना भी महा कष्टकर होता है। दाह क्यों हो रहा है इसका भी ठीक ठीक पता प्रेत को नहीं लगता है। इसके अतिरिक्त जिस वासना के वेग से उसे प्रेत-योनि प्राप्त हुई है, वह वासना भी नहीं छुटती है, बल्कि उसकी अग्नि वृद्धिङ्गत ही होती है। इसी वासनाग्नि से दग्धचित्त प्रेत स्थूल संसार में उसकी चरितार्थता के लिये रात दिन प्रयत्न करता है, किन्तु प्रायः ही विफल मनोरथ होकर दुःखानल में और भी व्याकुल हो जाता है।

कामान्ध प्रेत काम की वस्तु के पास, मोहान्ध प्रेत मोह के आधार के पास, धनान्ध प्रेत धनागार के पास आकर उन सबों से मिलने की तथा स्थूल उपभोगों की प्राप्ति की चेष्टा करता है। उन सबों को अपने प्रेत लोक में लाने के लिये भी प्रयत्न करता है किन्तु लाने में नाना कारणों से असमर्थ होकर बड़ा ही दुःखित होता है। किसी की स्त्री मर कर प्रेतिनी हुई, उसके पति ने द्वितीय विवाह किया, नई स्त्री पति के पास आती है, इस दृश्य को देखकर मृत प्रेतिनी स्त्री के चित्त में बहुत ही ईर्ष्याजन्य दुःख होता है। किसी का बहुत धन था, वह मरते समय तक उसी को सोचता हुआ प्रेत बना, उसका धन लोभ नहीं छूटता है, वह जिस घर में धन है, उसी में रहता है, उसको व्यय होते हुए देखकर उसे दारुण कष्ट होता है, इत्यादि प्रेतयोनि प्राप्त जीवों के वासनाजन्य दुःख हैं। इन दुःखों से प्रेत रोता रहता है। अपने बदन को फाड़ता रहता है। उन्मत्त की तरह घूमता रहता है, किन्तु कुछ उपाय उसे सूझता नहीं। श्मशान में एकान्त में ऐसे दुःख से रोते हुए कितने ही प्रेत देखे गये हैं।

इसके अतिरिक्त मृत्यु के समय जिस कष्ट से उसकी मृत्यु हुई थी वह भी कष्ट बराबर बना रहता है। एक कुलटा स्त्री जो छुरी के आघात से मारी गई थी, उसके वदन में प्रेतावस्था में भी छुरे का दाग देखा गया। एक आत्महत्याकारी प्रेत वेतालों के द्वारा बांध कर लाया गया। उस समय देखा गया कि, पागल या बांधे हुए वन्य पशुकी तरह उसकी अवस्था थी। जिसको प्राण निकलते समय जल नहीं मिला था, वह प्रेतयोनि में तृष्णा से अधीर हो जल जल पुकारता रहता है। जिसका दुर्भिक्ष में प्राण गया था, वह हा अन्न, हा अन्न करता रहता है। कदाचित् कोई उसे जल दे दे या आहार दे दे तभी कुछ शान्ति होती है। आर्य-शास्त्र में प्रेतयोनि प्राप्त जीवों के इन्हीं सब दुःखों को दूर करने के लिए तथा प्रेतयोनिगत मूर्च्छा को तोड़ कर उन्हें अन्य योनि में डालने के लिए श्राद्ध क्रिया की विधि बताई गई है। श्राद्ध का ठीक ठीक अनुष्ठान होने पर प्रेतयोनि से जीव की मुक्ति हो जाती है। और गया श्राद्ध से तुरन्त प्रेतयोनि मुक्त देखा गया है। उस समय प्राक्तन कर्मानुसार उसे नरक, स्वर्ग आदि भोग होने के बाद पुनः पृथ्वी में जन्म मिलता है। यही प्रेतयोनि तथा प्रेतलोक के विषय में आर्यशास्त्र का अनुभव से प्राप्त सिद्धान्त है।

प्रेतलोक के निवासियों के विषय में आर्यशास्त्र का सिद्धान्त कह कर, अब नरक-लोक के निवासियों के विषय में आर्यशास्त्र का सिद्धान्त कहा जाता है।

नरकलोक

नरक-लोक कहां पर है और कितने नरक हैं, इस विषय में प्रमाण पहिले ही दिये जा चुके हैं। श्रुति भी कहती है:—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

इस जगत् में आकर जो मनुष्य आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु इसके विपरीत आचरण करते हैं, मृत्यु के अनन्तर वे घोर अंधकारावृत दुःखमय नरकादि लोकों में जाते हैं। श्री भगवान् मनुजी ने अपनी संहिता के द्वादशाध्याय में नरक के विषय में बहुत कुछ वर्णन किया है, (मूलमन्त्र अन्यत्र देखो) यथाः—

विषय सेवा द्वारा भोगेच्छा और भी बलवती होकर जीव को परलोक में दारुण दुःख प्रदान करती है। पाप कर्म के फल से तामिस्त्र, असिपत्रवन, बन्धन-छेदन आदि नरक प्राप्ति, उनमें नाना प्रकार का दुःख भोग, काक, उलूक द्वारा भक्षण, बालुका के ऊपर से गमन, कुम्भीपाक में भीषण दुःख आदि नरक यन्त्रणा पापी को भोगनी पड़ती है। इस प्रकार से बहु बर्ष पर्यन्त दुःख भोग के पश्चात् पुनः जीव का इस संसार में जन्म होता है। नरक में दुःख भोगते समय परलोकगत जीव को शरीर मिलता है, उसको यातना देह कहते हैं। ये देह प्रेत के वायवीय शरीर से एक बार ही भिन्न हैं। प्रेतत्वावसान के पश्चात् वायवीय शरीर नष्ट हो जाता है। तब नरक भोग के लिए जीव को वृद्ध कलेवर यातनादेह या स्वर्ग भोगने के लिए यौवन कलेवर तैजस देह प्राप्त होता है। मृत्यु के अनन्तर यमदूत आकर यातनादेहधारी जीव को किस प्रकार कष्ट देते हुए यमलोक में ले जाते हैं और यमलोक में विचार होने बाद रौरव, कुम्भीपाकादि नरकों में जीव को कैसे कैसे कष्ट दिये जाते हैं, इसके बहुत वर्णन आर्यशास्त्र में मिलते हैं। श्रीमद्भागवत् के पंचम स्कन्ध के २६ वें अध्याय में पूर्व कथित २१ नरकों के वर्णन दिये गये हैं, (मूल श्रीमद्भागवत् में देखो) यथा— (तन्त्र है के भूमयः)—

तामिस्त्र, अन्धतामिस्त्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमि-भोजन आदि २१ नरक हैं और किसी किसी के मत में क्षारकर्दम, रक्षोगण भोजन, शूलप्रोत आदि और भी सात मिलाकर २८ नरक हैं, इनमें से किस किस नरक में किस किस पाप के फल से जीव को दुःख भोगना पड़ता है, इसका वर्णन उसी अध्याय में दिया गया है, यथाः— "(यस्तु···निपतति" पूर्ण मूल श्रीमद्भागवत् में देखो)"—

जो दूसरे के धन, सन्तान या स्त्रियों को चुराता है उसको कालपाश में बांध कर यमदूतगण तामिस्त्र नरक में डालते हैं। जो पर स्त्री के साथ उसके पति को वञ्चना करके काम सेवा करता है, वह अन्धतामिस्त्र नरक में डाला जाता है। जो जीवों को कष्ट देकर अपना कुटुम्ब पोषण करता है उसको सब कुटुम्बों को छोड़ कर रौरव नरक में जाना पड़ता है। इत्यादि रूप से नाना पाप कर्मों के अनुसार नरक भोग के वर्णन आर्यशास्त्र में दिये गये हैं। वे सभी लोग यातना देह में सूक्ष्मरूप से होते हैं तथा वे सब नरक भी सूक्ष्मलोक के अन्तर्गत होने से सूक्ष्म ही हैं। भोग द्वारा नरकों में पाप का प्रायश्चित होने पर अन्यान्य कर्मानुसार जीव का पुनः इस स्थूल संसार में जन्म होता है। अथवा नरक से स्वर्ग में जीव जा सकता है और स्वर्ग से भी नरक में आ सकता है। इस विज्ञान का सिद्धान्त यह है कि, जब पुण्य-भोग थोड़ा होता है, तो पहिले नरक में जाता है और पीछे स्वर्ग में जाता है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त

महाभारत में यह है कि, जब महाराज युधिष्ठिर परलोक में गये थे, तो उन्होंने देखा था कि उनके भीम आदि भ्रातृगण नरक में और दुर्योधन आदि स्वर्ग में थे। उसी पर यमराज से प्रश्न करने पर उनको ऊपर कथित उत्तर मिला था। दूसरी ओर यह भी निश्चय है कि, स्वर्ग अथवा नरक से जीव प्रेतत्व में नहीं आते हैं, क्योंकि प्रेतलोक मृत्युलोक के अति ही निकट है। जीव को यदि प्रेत होना हो, तो प्रथम प्रेतत्व पाकर पश्चात् अन्य सूक्ष्म-लोक में जायगा।

इसी प्रकार के अनेक वर्णन नरक यातना के सम्बन्ध में गरुड़ पुराण में भी हैं। पाठक वहाँ देखलें।

जैसे स्वर्ग सुख भोग के पितृलोक और नाना श्रेणी के स्वर्गलोक हैं, जैसे आसुरी सुख भोग के नाना असुर लोक हैं, वैसे ही दुःख भोग के लिये नाना प्रकार के नरक लोक भी हैं। वे सब लोक भगवान् यम-धर्मराज की राजधानी के पास ही कारागार के तौर पर स्थित हैं। नरकलोक और प्रेतलोक की व्यवस्था और उसका अनुशासन भगवान् यम-धर्मराज के हाथ में रहता है। स्वर्ग का सुख और नरक का दुःख भोग करने के अनन्तर जीव को पुनः इस मृत्युलोक में आकर जन्म लेना पड़ता है। इस मृत्युलोक में भी शेष रहे हुए सुख भोग और शेष रहे हुए दुःख भोग रूपान्तर से प्राप्त होते रहते हैं; क्योंकि मृत्युलोक में सुखी व दुःखी दोनों प्रकार के जीव रहते हैं। मृत्युलोक की विशेषता यह है कि यहाँ सुख और दुःख भोग के साथ ही साथ नये पुरुषार्थ करने को उसको अवसर मिलता है। इस समय को पाकर जीव भविष्यत् के लिये शुभ कर्म का संग्रह करके पुण्यात्मा बन सकता है और अशुभ कर्मों का संग्रह करके पापात्मा भी बन सकता है। यही मृत्युलोक की विशेषता है। इसी कारण मृत्युलोक को कर्म-भूमि भी कहते हैं नरक तथा नरक वासियों का वर्णन करके अब पितृलोक वासियों का वर्णन किया जाता है।

पितृलोक

पितृलोक-निवासी अग्निष्वात्ता, अर्यमादि नित्य पितृगण तथा इहलोक से मृत्यु के अनन्तर पितृलोक प्राप्त नैमित्तिक पितरों के विषय में बहुत कुछ वर्णन आर्य-शास्त्र में पाये जाते हैं, यथा—

अथर्ववेद के अष्टादश काण्ड में:—

"सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः"

अर्थात् दक्षिण भाग में आसीन होकर पितृगण सरस्वती का आह्वान करते हैं।

"सरस्वती या सरभं यथा थोक् थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ति"

(१८-१-१ + १८-२-२)

आह्वान से सन्तुष्ट सरस्वती देवी स्वधा भोजी पितरों के साथ आनन्द से विराजमान होती हैं।

"उदीरतामवर उत परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
अतुम् य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोवन्तु पितरो हवेषु॥

निकृष्ट, उत्कृष्ट तथा मध्यम श्रेणी के पितृगण जो सोम-सम्पादन कारी हैं, यजमान को प्राण देते हैं, अहिंसक तथा सत्यवित् हैं, वे आहूत होकर हमारी रक्षा करें।

"इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास इयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥

जो पितृगण पहिले ही पितृलोक को चले गये हैं, जो अभी पृथ्वीलोक में हैं और जो दश दिशाओं में व्याप्त हैं, सब को नमस्कार है।

"मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु विक्त्वैधस्व यमराजसु॥"

हे प्रेत! तुम्हें वृक्ष बाधा न देवे, पृथ्वी बाधा न देवे, तुम यमराज के लोक में जाकर वहां पर पितृलोक में सुख से रहो।

"सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्तं आयु"

इस यज्ञ में हमारे पूर्वज पितृगण आवें और तृप्त होकर हमें सुख तथा आयु प्रदान करें।

"ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिता।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥"

हे अग्नि! हमारे जो पितर भूमि में गाड़े गये हैं, जो दूर देश में फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं और जो संस्कारोत्तर पितृलोक में स्थित हैं सबको हमारे दिये हुए हविर्भोजन के लिये यहां पर लाओ।

"ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तं तान् वेत्थ यदि ते जातवेद स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्॥"

हमारे जो पितर अग्नि में जलाये गये थे या जो पृथ्वी में गाड़े गये थे, किन्तु अब स्वधापुष्ट होकर द्युलोक में आनन्द करते हैं, उनको हे अग्ने! यदि तुम जानते हो तो कहो वह हमारे प्रदत्त स्वधा से तृप्त होवें। इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण नित्य या नैमित्तिक पितरों के विषय में वेद में मिलते हैं। मनु संहिता में भी पितरों के विषय में अनेक विचार किये गये हैं, यथा तृतीय अध्याय श्लोक १९२ से २०१ तक में (मूल मनुस्मृति में देखो):—

"पितृ लोग क्रोध रहित, शौचपरायण, सदा ब्रह्मचारी और शस्त्र त्यागी, महात्मा तथा देवताओं के भी पूर्वतन हैं। ब्रह्मापुत्र मनु के जो मरीच आदि पुत्र हैं, उन सब ऋषियों के पुत्र सोमपादि पितृगण कहलाते हैं। उनमें से सोमसद नामक विराट के पुत्रगण साध्यगणों के पितृ कहाते हैं; मरीचि के अग्निष्वात्ता नामक पुत्र देवताओं के पितृलोक में विख्यात हैं और अत्रि के बर्हिषद नामक पुत्र दैत्य, दानव, यक्ष, गंधर्व, सर्प,

राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर कहाते हैं। ब्राह्मणों के पितर सोमपा, क्षत्रियों के पितर हविर्भुज, वैश्यों के पितर आजापा और शूद्रों के पितर सुकालिन हैं। भृगु के पुत्र सोमपा, अंगिरा के पुत्र हविष्मन्त अर्थात् हविर्भुज, पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा और वशिष्ठ के पुत्र सुकालिन हैं। अग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्ता और सौम्य; ये सब ब्राह्मणों के पितर कहाते हैं। ये सब मुख्य पितर कहे गये, इनके पुत्र और पौत्र जगत् में अनन्त पितृ गण, हैं। ऋषियों से पितर गण, पितरों से देवगण और मनुष्य और देवताओं से जगत् के सम्पूर्ण चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं। यही सब आर्यशास्त्र कथित पितृलोक निवासी नित्य-नैमित्तिक पितरों के स्वरूप हैं।

नित्य पितृगण का क्या कार्य है, इनके द्वारा स्थूल जगत् की रक्षा, स्वास्थ्य वीर्यादि सम्पादन, ऋतु परिवर्त्तन इत्यादि कार्य कैसे-कैसे होते हैं सो सब पहिले ही कहा जा चुका है। नैमित्तिक पितृगण पितृलोक में जाकर नित्य पितरों के साथ आनन्द करते हैं। पितृलोक आनन्दमय है, इसके अनेक प्रमाण श्रुति में मिलते हैं, यथा—बृहदारण्यक उ० में—

"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैः मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जित लोका नामानन्दः।"

इस संसार में राजा होकर तथा सकल लौकिक भोग के अधिकारी होकर जो सुख होता है, वही मनुष्यलोक के सुख की पराकाष्ठा है, पितृ-लोक में इस सुख का शतगुण अधिक सुख होता है। मृत्युलोक के एक महिने में पितृ-लोक का एक अहोरात्र होता है। यह अहोरात्र क्रम से बहु वर्ष तक पितरों की आयु है, जिसके अन्त में अपना कर्त्तव्य तथा साधना समाप्त करते हुए पितृ-गण देवराज्य में ऐसे ही अभ्युदय को प्राप्त होते रहते हैं, जैसे इन्द्रादि देवगण क्रमशः आगे बढ़ते हैं।

नैमित्तिक पितृगण भोगकाल पर्य्यन्त पितरलोक में रहकर पुनः इस संसार में आजाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, नित्य पितृगण तो एक प्रकार के देवता हैं, अतः कर्म के अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त होते हैं। और नैमित्तिक पितृ-गण इस मृत्युलोक से पुण्य-भोग के लिये पितृ लोक में जाते हैं, इस लिये पुण्य शेष हो जाने पर उन्हें पुनः इस मृत्यु-लोक में आना पड़ता है। यही नैमित्तिक पितरों की गति के विषय में आर्य-शास्त्र का सिद्धान्त है।

परलोक विज्ञान का सारांश।

प्रत्येक ब्रह्माण्ड सात ऊर्ध्वलोक और सात अधोलोक रूप से चौदह भागों में विभक्त है, जैसा कि, ऊपर कहा गया है। इन चतुर्दश विभागों का मध्य विभाग भूर्लोक समझा जाता है। भूर्लोक पुनः चार भागों में विभक्त है, जिसका नाम मृत्युलोक, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक है। इसी चतुर्विभाग युक्त भूर्लोक से यद्यपि उग्र पुण्य करने वाले जीव देवता अथवा असुर बन कर देवलोक के दिव्य भोग और असुरलोक के आसुरी भोग भोगने के लिये यथाक्रम ऊपर के भुवः स्वः आदि छः देवलोक और नीचे के अतल वितलादि सात आसुरी लोकों में जाते हैं, क्योंकि, यह भूलोक सब का केन्द्र है, परन्तु यह असाधारण

नियम है कि, बड़ी तपस्या तथा पुण्य से जीव भूर्लोक के बाहर के लोकों में जा सकता है, ऐसे साधारण नीति से नहीं जा सकता है, इस कारण भूर्लोक के साथ सम्बन्ध युक्त तीन सूक्ष्म लोक साधारण रूप से परलोक कहलाते हैं। और इन्हीं तीनों का वर्णन साधारणतः परलोक नाम से शास्त्रों में पाया जाता है। वस्तुतः हमारे इस मृत्युलोक में जब मनुष्य की आयु का अन्त होता है, तो, वह जीव या तो प्रेतलोक में जाता है या नरक लोक में जाता है या पितृलोक में जाता है, या इन तीनों या दो में जाता है और उसके अनन्तर पुण्य या पाप का भोग समाप्त करके पुनः इस मृत्युलोक में आ मातृ-गर्भ में जन्म लेता है। हमारे इस मृत्युलोक में ही जीव मातृ-गर्भ से प्रकट होता है, अन्य लोकों में ऐसा नहीं होता है। मृत्यु के अनन्तर जीव को तुरन्त ही एक आतिवाहिक देह मिलता है, जो लिफाफे के सदृश होता है। उस आतिवाहिक देह के द्वारा जीव अन्य सूक्ष्म लोकों में पहुँचाया जाता है, वहाँ जाते ही उसका आतिवाहिक देह छूट जाता है, और वहाँ उस लोक के अनुरूप भोग देह शीघ्र प्राप्त हो जाता है। यदि प्रेतलोक में वह जाता है तो वेतालगण उसे ले जाते हैं, यदि नरक लोक में जाता है तो यमदूतगण उसे ले जाते हैं, यदि पितृलोक या अन्यान्य ऊर्ध्वलोक में जाता है, तो देवदूतगण उसे ले जाकर तत्तत् लोकों में पहुँचाते हैं।

पितृलोकादि का वर्णन करके अब प्रसङ्गोपात्त स्वर्गलोक का वर्णन करते हैं।

भुवर्लोक के ऊपर स्वर्लोक है। इसको महेन्द्रलोक कहते हैं। यह देवराज की राजधानी है। इसमें कितने प्रकार के देवता रहते हैं, इसके विषय में योगभाष्य में लिखा है:—

स्वर्ग-लोक

"माहेन्द्र निवासिनः ····कृतपरिवाराः ॥"

अर्थात् महेन्द्र-लोक में छः प्रकार के देवता रहते हैं, यथा त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्य, तुषित, अपनिर्मितवशवर्त्ती और परिनिर्मितवशवर्त्ती। वे सभी संकल्प सिद्ध हैं अर्थात् इच्छानुसार भोग समर्थ हैं, अणमादि ऐश्वर्यों से युक्त हैं, कल्पान्त आयुर्युक्त हैं, पूज्य, कामभोगी और पितृ मातृ सम्बन्ध बिना ही उत्पन्न दिव्य शरीर से युक्त हैं; वे सुन्दरी अनुकूला अप्सराओं के साथ सदा विहार करते रहते हैं। महाभारत के वन पर्व में स्वर्लोक के विषय में वर्णन है यथा:—

" उपरिष्टाच्च स्वर्लोके···संज्ञितः। ऊर्द्ध्वगः···मुने" ॥ ;' नातप्ततपसः···। ···मुदगल ॥'; 'धर्मात्मानो···। दानधर्मरता··· ॥"; तत्र गच्छन्ति···। लोकान्··· ॥"; 'देवःसाध्यास्तथा···। यामाधामाश्च··· ॥'; एषां···। भास्वन्तः··· ॥' 'त्रयस्त्रिंशत्···।' मेरुः··· ॥'; नन्दनादीनि···। न क्षुत्पिपासे ॥'; बीभत्समशुभं···। मनोज्ञाः··· ॥'; 'शब्दाः···न शोको'··· ॥; 'ईदृशः स···। सुकृतेस्तत्र···॥'; तैजसानि···। कर्मजान्येव मातृ पितृ जात्युत ॥'; 'न संस्वेदो···। तेषां···॥'; 'न म्लायन्ति···। संयुज्यन्ते··· ॥; ईर्ष्याशोक···। सुखस्वर्ग ·· ॥'

(पूर्ण श्लोक अन्यत्र दिये हैं वहाँ देखो)

"उद्ध्र्व तृतीय लोक को स्वर्लोक कहते हैं। उसमें तपहीन, यज्ञहीन, असत्य परायण नास्तिक लोग नहीं जा सकते हैं। शान्त, दान्त, दान धर्मशील, जितात्मा, समरवीर पुरुष ही वहाँ जाते हैं। देवता, साध्य, विश्व, महर्षि, याम, धाम, गंधर्व, अप्सरा आदि के तेजोमय लोक समूह स्वर्लोक के अन्तर्गत हैं। यहाँ पर तीस हजार योजन व्याप्त पर्वतराज मेरु पर नन्दन आदि देवोद्यान समूह स्थित हैं, जिनमें देवतागण विहार करते हैं। क्षुधा, पिपासा, ग्लानि, भय, किसी प्रकार का वीभत्स या अशुभ वहां नहीं है। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन तथा श्रुति प्राण मोहन संगीत का आनन्द वहां मिलता रहता है। वहां पर शोक दुःख जरा या आयास लेश मात्र भी नहीं है। पुण्यबल से वहां जाने वाले जीव को कर्मज तैजस शरीर प्राप्त होता है। पिता माता से वहां शरीर नहीं मिलता है। स्वेद, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदि से वहां पर वस्त्र अपवित्र नहीं होता है। स्वर्गवासियों के गले में जो दिव्य गन्धयुक्त माल्य रहता है वह कभी मलिन नहीं होता है। वे दिव्य विमान पर चढ़ कर घूमा करते हैं। ईर्ष्या, शोक, श्रमादि वर्जित तथा मोह मात्सर्य शून्य होकर आनन्द के साथ लोग इस लोक में निवास करते हैं।" आगे और भी लिखा है कि, ऐसे लोकों की अपेक्षा और भी उत्तम अनेक लोक हैं। इस प्रकार अनेक गुण सम्पन्न अनेक दिव्यलोक एक के ऊपर एक अवस्थित हैं। पूर्व दिशा में शुभास्पद परम तेजोमय ब्रह्मलोक विराजमान है। वहां पवित्र स्वभाव ऋषिगण अपने शुभ कर्मों द्वारा गमन करते हैं। अन्यत्र विस्तार से लिखा है, पाठक वहां देख लें।

स्वर्लोक के विषय में कठोपनिषद् में लिखा है—

'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
ऊभे तीर्त्वाऽशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके॥'

स्वर्गलोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, वहां किसी को जरासा भय भी नहीं है, बुभुक्षा, पिपासा तथा शोक से रहित होकर स्वर्गवासी गण सदा आनन्द करते हैं। और भी स्मृति में—

यत्र दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत् सुखं स्वःपदास्पदं॥'

जहां पर सुख दुःख से युक्त नहीं है, जहाँ सुख के अनन्तर भी दुःख नहीं होता है, और जहां इच्छा करते हैं। भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, वही स्वर्ग तथा वही स्वर्ग-सुख है। यही सब स्वर्गलोक के शास्त्र कथित वृत्तान्त हैं।

वेदादि शास्त्रों में स्वर्गलोक के विषय में और भी अनेक प्रमाण मिलता है। यथा अथर्ववेद ४-३२-२ में—

'अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचमपि यान्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्॥'

अस्थि रहित, पवित्र, निर्मल वायु से युक्त, स्वच्छ स्वर्ग में पुण्यात्मागण जाते हैं। वहाँ कामादि

का दाह नहीं होता है, क्योंकि विहार के लिये अप्सराएँ मिलती हैं। और भी—

' घृतह्रदा मधुकूलाः सुरादेकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्नी।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्थिन्वमानाः ॥ ४-३४-६

जिनमें घृत के ह्रद हैं, जिनके किनारों पर मधु हैं, जिनमें अमृत ही जल है, दूध दही से जो भरे रहते हैं, तुम्हारे लिये धारारूप से स्वर्ग में ये सब प्राप्त हों।

'यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लीखा अ गैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥'

जहाँ पर मैत्री से युक्त पुण्यात्मागण निरोग पुण्य शरीर से आनन्द करते हैं वहां हम अपने माता, पिता और पुत्रों को भी देखें। इस प्रकार से स्वर्ग के विषय में वेदादि शास्त्रों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः अर्वाचीन पुरुषों की इस विषय पर शंका मिथ्या है। यही संक्षेप से वर्णित परलोक और जन्मान्तर का गूढ़ तत्त्व है।

शंका—कई लोग तो ऐसा कुतर्क करते हैं कि मनुष्य तो मरने के पश्चात् भी मनुष्य ही होते हैं, मनुष्य कभी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादि हो ही नहीं सकते। अर्थात् जो जिस योनि में उत्पन्न है वह फिर भी उसी योनि में उत्पन्न हुआ करता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—ऐसा कुतर्क केवल नास्तिक लोग ही करते हैं, आस्तिक पुरुष नहीं। अवैदिक दार्शनिक व्यक्तियों का मत भी कहीं कहीं ऐसा पाया जाता है कि, उन्नत जीव मनुष्य पिंड की देवपिंड के अधिकारी पुनः नीचे गिर कर उद्भिज्जादि योनियों को प्राप्त नहीं हो सकते। क्योंकि जब जीव अपने पांचों कोषों, पूर्णता प्राप्त करके पूर्णावयव मनुष्य अथवा देवता हो जाता है तो पुनः उसका नीचे की ओर गिर कर तिर्यगादि योनि में जाना संभव नहीं है। परन्तु यह शङ्का निर्मूल है। मनुष्य अथवा देवतागण असत्कर्म के प्रभाव से वृक्षादि उद्भिज्ज योनि, पक्षी आदि अण्डज योनि और मृग आदि जरायुज योनि को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे उपाख्यान पुराणों में बहुधा आते हैं। वस्तुतः जब उग्र पाप कर्मों के फल से जीव मनुष्य अथवा देवयोनि से तिर्यगादि योनियों में गिरता है, तो वह दण्डार्ह होकर सज़ा पाने के लिए गिरता है। पूर्णावयव जीव यदि अपनी ब्रह्मधारणा द्वारा अलौकिक मुक्ति पद को प्राप्त कर सकता है तो अपने अन्तःकरण की धारणा शक्ति के बल से पाप कर्म निरत अन्तःकरण मृगादि धारणा द्वारा अथवा पक्षि आदि योनि की अन्तिम स्मृति द्वारा इस प्रकार की योनियों को अवश्य ही प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं। परन्तु ऐसे आरूढ़ पतित जीवों का नीचे गिरना केवल थोड़े ही समय के लिये दण्ड रूप से पाप विमुक्ति के लिए ही होता है। पुनः उसको चौरासी लक्ष योनि के क्रम के अनुसार घूमना नहीं पड़ता है। जिस योनि में वह गिराया जाता है। वहां से फिर पूर्व अवस्था में प्राप्त हो जाता है। जैसे यमलार्जुन वृक्ष योनि छोड़ते ही पुनः देवता हो गए थे। दूसरी ओर कर्म ही सृष्टि का कारण है। कर्म का बल सर्वोपरि है। उग्र सत्कर्म जब जीव

को देवता बना सकता है, तो उग्र असत्कर्म उसे तिर्यगादि योनि में गिरा देगा, इसमें आश्चर्य क्या है ? ऐसे आरूढ़ पतित जीव केवल थोड़े समय के लिये गिराए जाने के कारण उनके पिंड की असम्पूर्णता तो रहती ही है, परन्तु कभी २ उनके अन्तःकरण की योग्यता के अनुसार उनमें पूर्व-स्मृति का उदय होना भी संभव है।

भगवान् पतंजलि ने भी अपने योग दर्शन में दर्शाया है कि—

"जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्या पूरात्" ।

इस सूत्र पर भगवान् वेद व्यास जी ने भाष्य भी रचा है कि—

"तत्र कायेन्द्रियाणामन्य जातीय परिणताणां पूर्व परिणामा पाये उत्तर परिणामो यजनस्तेषां पूर्वा वयवानु प्रवेशाद् भवति। कायेन्द्रिय प्रकृतश्च स्वयं विकार ननु गृण्हन्ति आपूरेण धर्मादि निमित्त मद्य येमाणा इति॥"

अर्थात् इन्द्रिय आदि के सहित एक जाति के प्राणी का शरीर अन्य जाति के प्राणी के शरीर में परिणाम को प्राप्त हो सकता है, और अनेक स्थानों में ऐसा हुआ भी है। (ऐसा उन्होंने अपने योग-बल या ब्रह्म शक्ति से प्रत्यक्ष देखा हुआ अनुभव कथन किया।) जब ऐसा परिवर्तन होता है उस समय उसके पहले शरीर के भौतिक पदार्थ और इन्द्रियों की प्रकृति अगली अवस्था में प्रवेश करके सहायता करती है। इस परिवर्तन का मूल कारण भीतरी शक्ति और भीतरी (मन के) धर्म आदि ही हैं। भीतरी धर्म आदि का परिवर्तन होते ही देह, इन्द्रिय आदि भी परिवर्तन हो (बदल) जाते हैं। प्रथम तो भीतरी धर्म आदि का परिवर्तन होता है, फिर जिस जाति वाले प्राणी के धर्म और शक्ति का (मन में) पूरा २ प्रकाश होता है, उस जाति के प्राणी के समान ही शरीर बन जाता है। मनुष्य आदि किसी शरीर में और किसी जाति के धर्म का पूरा २ स्फुरण होने पर शरीर के भौतिक पदार्थ भी उसके अनुगामी होकर उसी जाति के शरीर को बना डालते हैं। क्योंकि चाहे जिस जाति का प्राणी होवे, उसके भीतरी धर्म का उत्तम रूप से पूरा २ परिवर्तन हो जाने पर उसके शरीर की आकृति भी अन्य प्रकार के उत्तम रूप में परिणत हो जाती है, और भीतरी धर्म का बुरा परिवर्तन होने पर अधमरूप में परिणत हो जाती है। इससे उच्च प्राणी नीच हो जाता है, और कीट, पतंगादि भी मनुष्य बन जाते हैं। ये ही नहीं ! पर देवता भी पशु, पक्षी आदि की योनियों में गिर जाते हैं ❀ इस प्रकार उपरोक्त सूत्र और उसके भाष्य

❀ ओंकार जी में एक कुत्ता, चाहे कैसी ही धूप या ठण्ड पड़े तो भी त्रिकाल स्नान नर्मदा का कर सर्वदा अपने आश्रम में ही रहता था, लोग उसको वहीं भोजन देते थे। और बुन्देलखण्ड-कचनेरा गांव में एक कुत्ता एकादशी के दिन कभी भोजन नहीं करता था, ये दो दृष्टान्त श्री शिवानन्द जी महाराज स्वयं कहते हैं कि उनके भी देखे हुए हैं। और खान्देश में एक बैल के दर्शन को कई लोग जाते थे, उससे कइयों का रोगादि दूर हुआ। और विलायत में एक कुत्ते को गणित का कैसा ही प्रश्न किया जाय, यह संकेत से उसका पूरा उत्तर देता है। ऐसे २ अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट जाना जाता है कि वे पूर्व जन्म में मनुष्य ही थे किसी कुसंस्कार से ये योनियां प्राप्त हुईं।

में क्रमावनति और क्रमोन्नति ऐसी दोनों और का संकेत है। और अब भी कई मनुष्यों को गौ, कुत्ते आदि पशु-पक्षी अथवा रावण कंसादि का दृढ़ चिन्तन रहने से स्वप्न में भी उन्होंने अपने को गौ, कुत्ते या रावणादि के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव किया है, तथा कीट भ्रंगी का दृष्टान्त भी सब जानते ही हैं, अथवा कीट से भ्रङ्गी हो जाना ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव भी कई लोग करते हैं। किन्तु भली भाँति ध्यान रहे कि शरीरादिकों का चाहे कितना ही परिवर्तन होता रहता है तो भी आत्मा (कूटस्थ ब्रह्म) ज्यों का त्यों ही रहता है, उसका परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन तो नाम, रूप पदार्थों का ही होता है। क्योंकि जितना नाम रूप है उतना सब माया का कार्य होने से उसमें भेद होता ही है। इसी से सज्जन, दुर्जन, सिंह सर्पादि के शरीर में अपने २ गुण, बीज या भीतरी धर्मादि के अनुसार भेद है। पर सर्व व्यापक श्रीराम रूप पूर्ण ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं है।

मृत्यु का चिन्तन

(१)

बहुत शीघ्र यहाँ पर तुम्हारा अन्त हो जायगा, परलोक में तुम्हारी क्या गति होगी, इस पर विचार करते रहो।

मानव आज यहाँ है, कल वह अन्तर्धान हो जायगा। और दृष्टि से दूर रहने पर वह ध्यान से भी दूर हो जायगा।

हाय री मानवहृदय की कठोरता और मूर्खता! जो केवल मानव वर्तमान चिन्तन करता है और भविष्य की परवा नहीं करता।

अपने विचारों और कार्यों में तुम्हें इस प्रकार लगना चाहिये मानों तुम्हें आज ही मरना है।

यदि तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र है—तब तुम मृत्यु से-विशेष भयभीत नहीं हो सकते।

मृत्यु से दूर रहने की अपेक्षा, पाप से दूर रहना अच्छा है।

यदि तुम आज तैयार नहीं हो तो तुम कल कैसे तैयार हो सकते हो?

कल अनिश्चित है। तुम कैसे जानते हो कि तुम कल तक जीते रहोगे?

दीर्घ जीवन से क्या लाभ, यदि तुम्हारे व्यवहार में तनिक भी संशोधन न हो।

(२)

हाय ! प्राय दीर्घ जीवन हमारे पापों की वृद्धि ही करता है—जीवन का सुधार नहीं।

आह ! यदि हम संसार में एक दिन भी पूर्णोत्तमरूप से व्यतीत कर सकते।

कितने यह गिना करते हैं कि धर्म प्रवेश किये हुए कितना समय बीता किन्तु प्रायः उनकी पवित्रता की उपलब्धि कितनी थोड़ी रहती है।

यदि मृत्यु भयङ्कर है, तो दीर्घ-जीवन, सम्भवतः भयान्वित है।

वही सुखी है जिसके नेत्रों के सम्मुख सदैव मृत्यु की घड़ी नाचती रहती है एवं जो नित्य मरने की तैयारी करता रहता है।

यदि तुम किसी को मरते हुए देखो तो विचारो कि तुम्हें भी मरना है।

(३)

यदि प्रभात हो तो सोचो कि तुम रात्रि के पूर्व मर सकते हो।

जब सन्ध्या आवे तो दूसरे प्रभात तक जीने पर विश्वास न करो।

अतः सदैव तैयार रहो तथा इस प्रकार जीवन-यापन करो ताकि तुम्हें मृत्यु बेतैयार की दशा में उठा न ले जावे।

कितने अचानक मर जाते हैं—जब वे मृत्यु की प्रतिक्षा नहीं करते रहते।

उस अन्तिम घड़ी में, तुम अपने अतीत जीवन पर सर्वथा भिन्न सम्मति रखने लगोगे और अपने को दोषी और लापरवाह देख कर बहुत पछताओगे।

(४)

अहा ! वह कैसा बुद्धिमान् और सुखी है जो अपने जीवन को वैसा बनाने में परिश्रम करता है जैसा वह मृत्यु की घड़ी में अपने जीवन को देखने की अभिलाषा रखता है।

विषयों में पूर्ण घृणा, सदाचार में उन्नति करने की गहरी प्रवृत्ति, संयम से प्रेम, पश्चात्ताप में श्रम, आज्ञा-पालन में तत्परता एवं भगवद्भक्ति के लिये कष्ट सहन—ये हमें अधिक विश्वास देंगे जिससे हम सुख से मर सकेंगे।

जब तुम स्वस्थ हो तब अधिक कल्याण कर सकते हो, किन्तु जब तुम बीमार हो तब तुम क्या करने के योग्य हो सकते हो वह मैं नहीं देखता।

कुछ लोग ज्वर से अच्छे, अधिक सुधरे हो जाते हैं। जो लोग बहुत बाहर यात्रा करते हैं, वे उसके

द्वारा बहुत कम पवित्र होते हैं।

(५)

अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के उदाहरण पर विश्वास न करो और आत्म-कल्याण का ध्यान भविष्य के लिये मत छोड़ बैठो, क्योंकि जैसा तुम समझते हो, उससे अधिक शीघ्रता से लोग तुम को भूल जावेंगे।

समय रहते इस ओर ध्यान देना और पहले से कुछ सत्कर्म करना, अन्य पुरुषों की सहायता पर भरोसा करने से बहुत अच्छा है।

यदि तुम अभी स्वयं अपने पर ध्यान नहीं रक्खोगे तो तुम्हारे लिये यहां के पश्चात् कौन परवा रक्खेगा ?

वर्तमान बड़ा बहुमूल्य है। यही सर्वोत्कृष्ट समय है तथा मुक्ति का दिवस है।
किन्तु हाय ! तुम अपने समय को आलस्य में गँवा रहे हो, जब तुम अनन्त जीवन अपने लिये मोल ले सकते हो।

वह दिन आवेगा जब तुम पश्चात्ताप के लिये एक घंटे या एक मिनट के लिये तरस जावोगे और मैं नहीं कह सकता कि वह समय भी तुमको मिलेगा।

(६)

प्यारे, यदि तुम सदैव मृत्यु का चिन्तन कर डरते रहोगे तो तुम अपने को कितने बड़े डर और कैसे महान् भय से बचा सकते हो।

ऐसा जीवन बिताने का काम करो ताकि तुम मृत्यु की घड़ी में भयभीत होने के बजाय आनन्द लूट सको।

संसार के लिए मरना सीखो, ताकि तुम प्रभु के साथ जीवन का आरम्भ कर सको।

तपस्या और आत्म-त्याग से अपने शरीर को अधीन करो—जिससे तुम्हें पूर्ण विश्वास प्राप्त हो।

(७)

ऐ मूर्ख ! जब तू एक दिन भी जीने का निश्चित् नहीं कर सकता तब तू दीर्घ काल तक जीने का चिन्तन क्यों करता है।

कितने धोखा खाकर अचानक खींचे जा चुके हैं।

कितनी ही बार तूने समाचार सुने हैं। अमुक पुरुष डूब गया, अमुक पुरुष मार डाला गया। एक गिरकर गला टूटने से, दूसरा खाते-खाते, और तीसरा खेलते-खेलते मर गया।

कोई आग से, कोई तलवार से, कोई बीमारी से और कोई डाकुओं से मार डाला गया।

इस प्रकार मृत्यु ही सब का अन्त है और मानव-जीवन छाया की भांति अचानक समाप्त हो जाता है।

(८)

मरने पर तेरी याद कौन करेगा ? और कौन अपनी प्रार्थनाओं में तुझे याद करेगा ?

मेरे प्यारे ! तुमसे जो कुछ हो सके अब ही करते जाओ क्योंकि तुम नहीं जाते कि तुम्हें कब मरना है और मृत्यु के अनन्तर तुम्हारी क्या गति होगी ?

इस समय, जब तुम्हारे पास समय है तुम अक्षय सम्पत्ति का सञ्चय कर लो।

अपनी आत्मा की मुक्ति के अतिरिक्त कुछ मत सोचो और केवल ईश्वरीय वस्तुओं पर विचार करो।

परमेश्वर के नवजीवन प्राप्त गौरववान् भक्तों से मित्रता करो और उनके कार्यों का अनुकरण करो जिससे इस अल्प जीवन में असफल भी हो जाओ तो वे चिरस्थाई निवास स्थानों में तुम्हारा स्वागत करें।

इस पृथ्वी पर अपने को अपरिचित और यात्री के समान रक्खो, और अपने को ऐसा बनाओ कि तुम्हें संसार के व्यवहारों से कोई वास्ता न हो।

अपने हृदय को स्वतन्त्र और ईश्वरोन्मुख रक्खो, क्योंकि यहां तुम्हारा स्थाई नगर नहीं है।

अपनी दैनिक प्रार्थनाएँ और अश्रु पूर्ण आहें वहीं भेजो ताकि मृत्यु के पश्चात् तुम्हारी आत्मा सानन्द प्रभु के समीप जाने के योग्य समझी जाय।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(कल्याण से) (श्री मुरलीधर जी श्रीवास्तव,
बी० ए० ऐल० ऐल० बी०, साहित्य रत्न)

मृत्यु समय के उपचार

हिन्दु-जाति में मनुष्य के मरने के समय घर वाले उसका परलोक सुधारने के बहाने कुछ ऐसे काम कर बैठते हैं जिससे मरने वाले मनुष्य को बड़ी पीड़ा होती है। अतएव निम्निलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये:—

१. यदि रोगी दो तीन मंजिल ऊपर हो तो ऐसी दशा में उसे नीचे लाने की आवश्यकता नहीं।

२. खाट पर सोया हुआ हो तो वहीं रहने देना चाहिये।

३. यदि खाट पर मरने में कुछ भ्रम हो और नीचे उतार कर सुलाने की आवश्यकता समझी जाय तो मृत्यु काल के दो चार दिन पहले से ही उसे खाट से नीचे उतार कर जमीन पर बालू

बिछा कर सुलादे। बालू ऐसी नरम होनी चाहिये जो उसके शरीर में कहीं गड़े नहीं। दो चार दिन पहले का पता वैद्यों से पूछ कर, रोगी के लक्षण देख कर और बड़े अनुभवी पुरुषों से सलाह करके अनुमान लगा ले। रोगी अच्छा हो जाय तो वापस खाट पर सुलाने में कोई आपत्ति होती ही नहीं। यदि अनुमान से पहले उसका प्राणान्त हो गया तो भी कुछ समय पहले ही नीचे सुला देने से उसे आसन्न मृत्युकाल में नीचे उतार कर सुलाने में जो कष्ट होता, उससे वह बच गया। दो चार दिनों पहले रोगी को अनुमान हो जाय तो उसे ही कह देना चाहिये कि मुझे नीचे सुला दो।

४. उस अवस्था में मृत्यु से पहिले उसे स्नान कराने की कोई आवश्यकता नहीं। इससे व्यर्थ में उसका कष्ट बढ़ता है। मल इत्यादि साफ़ करना हो तो गीले गमछे से धीरे धीरे पोंछ कर साफ़ कर देना चाहिये।

५. इस अवस्था में गङ्गाजल तुलसी देना बड़ा उत्तम, परन्तु यदि उसे निगलने में क्लेश होता हो तो तुलसी का पत्ता पीस कर उसे गङ्गाजल में मिलाकर पिलाना चाहिये। १०—१५ मिनट के पश्चात् फिर दिया जा सकता है। गङ्गा-जल बहुत दिनों का विस्वाद न हो, पहले स्वयं चख कर फिर रोगी को देना चाहिये। जिसमें गन्ध आने लगी हो, जो कड़वा हो गया हो, वह नहीं देना चाहिये। नया गङ्गाजल कहीं से ही मंगा लेना चाहिये। गंगाजल में शुद्धि, अशुद्धि या स्पर्शास्पर्श का कोई विधान नहीं है। रोगी मुंह बन्द कर ले तो उसे कुछ भी नहीं देना चाहिये।

६. रोगी के पास बैठ कर घर का रोना नहीं रोना चाहिये और संसार की बातें उसे स्मरण नहीं दिलानी चाहिये। माता, स्त्री, पति पुत्र या और किसी स्नेही को उसके पास बैठ कर अपना दुःख सुनाना या रोना नहीं चाहिये। उसके मन के अनुकूल उसकी हर प्रकार से सेवा करनी चाहिये।

७. रोगी की इच्छा के प्रतिकूल डाक्टरी या जिसमें अपवित्र पदार्थों का संयोग हो ऐसी दवा नहीं खिलाना चाहिये।

८. जहां तक चेत रहे वहां तक श्री गीता का पाठ और उसका अर्थ सुनाना चाहिये। चेतन रहने पर भगवान् का नाम सुनना उचित है। गीता पढ़ने वाला हो तो पहले से ही भगवान का नाम सुनावे।

९. यदि रोगी भगवान् के साकार या निराकर किसी रूप का प्रेमी हो तो साकार वाले भगवान् की छवि या मूर्ति दिखलानी चाहिये और उसके रूप तथा प्रवाह का वर्णन सुनाना चाहिये। निराकार के प्रेमी को निराकार ब्रह्म के शुद्ध, बोधस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्, चित, घन, नित्य, अज, अविनाशी आदि विशेषणों के साथ आनन्द शब्द जोड़ कर उसे सुनाना चाहिये, ये सब ब्रह्म के विशेषण हैं।

१०. यदि काशी आदि तीर्थों में ले जाना हो तो उसे पूछ ले। उसकी इच्छा हो, वहां तक पहुँचने में शङ्का न हो, वैद्यों की सम्मति मिल जाय, उतने रुपये व्यय करने की अपनी शक्ति हो तो वहां ले जाय, नहीं तो कोई आवश्यकता नहीं।

११. प्राण निकलने के पश्चात् भी कम से कम पन्दरह, बीस मिनट तक किसी को सूचना न दे, भगवन्नाम का कीर्त्तन करते रहें, जिससे वहां का वायु मण्डल सात्त्विक रहे। रोने में ध्यान जाना अच्छा नहीं।

१२. घर वाले समझदार हों तो उनको रोना नहीं चाहिये। दूसरे लोगों को भी उनके पास आकर उन्हें केवल सहानुभूति के शब्द सुनाकर रुलाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

१३. शोक चिन्ह बारह दिन तक रखना चाहिये।

१४. बारह वर्ष से कम उमर के लड़के लड़कियों की मृत्यु का शोक न मनावे।

१५. मृतक के लिए शोक सभा न कर अपनी सावधानी के लिये सभा करनी चाहिये। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि इसी प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी।

१६. जीवन्मुक्त पुरुष की मृत्यु पर शोक न करे, ऐसा करना उसका अपमान करना है।

विशेष धर्म

(वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था और कर्त्तव्य)।

गृहस्थादि न्यारे न्यारे आश्रमों के न्यारे न्यारे धर्म कहलाते हैं। मनुष्य योनि में स्वतंत्रता और अहङ्कार के बढ़ जाने से इन्द्रिय लालसा तथा भोग प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रवृत्ति को धीरे धीरे घटा कर मोक्ष फल प्रद निवृत्ति मार्ग की ओर लेजाना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। आश्रम धर्म इसी कर्त्तव्य के उपायों को बतलाता है।

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसी पहेली है जिसे सुलझाने में आधुनिक युग के बड़े बड़े मस्तिष्क असफल हो रहे हैं, व्यक्ति का समाज से क्या सम्बन्ध है? समाज और 'व्यक्ति' में कौन मुख्य है? क्या व्यक्ति का अस्तित्व केवल समाज के लिए ही है। और उसके जीवन का कुछ मूल्य है, तो यही कि वह समाज रूपी मशीन का पुर्जा है जब तक कि वह मशीन में काम दे, उसके पश्चात् उसे निकाल कर बाहर फेंकना अथवा दूसरे पक्ष के अनुसार, जिन व्यक्तियों से समाज बनता है, वही मुख्य हैं। समाज का अस्तित्व यदि सार्थक है, तो केवल इसलिये कि वह व्यक्तियों के जीवन के लिए उपयोगी है।

व्यक्ति के जीवन को लक्ष्य में रखे बिना समाज निरर्थक ही रह जाता है। व्यक्ति की प्रधानता है, अथवा समाज की, यह प्रश्न कदाचित् इतना ही पुराना है जितना कि मनुष्य समाज। हम इतिहास में एक अद्भुत् रोचक दृश्य देखते हैं कि बारी बारी एक एक पक्ष प्रबल होता है। यदि एक बार हम व्यक्ति का प्राधान्य देखते हैं तो दूसरे समय में समाज की प्रधानता बढ़ती दिखाई देती है और फिर अगले युग में व्यक्ति का सिर समाज से ऊपर उठा दिखाई देता है। समाज-शास्त्र के लेखक भी एक मत नहीं। एक व्यक्ति को प्रधान कहता है तो दूसरा समाज को, तो तीसरा फिर व्यक्ति को। इस विषय में अर्वाचीन समय में (अर्वाचीन का अर्थ पश्चिम लिया जाता है क्योंकि इस युग में पश्चिम का राज्य है), पाश्चात्य लेखकों ने इस विषय पर कितने ही पोथे पोथियें लिखी हैं। परन्तु कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर होता नहीं दिखाई देता। ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि मनुष्य और समाज का सम्बन्ध भी कदाचित् एक ऐसी ही उलझन है, जिसे सुलझाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है जिसके विषय में मनुष्य निश्चितता (Definteness) और अंतिमता (Finality) पर कदाचित् पहुँच ही न सकेगा।

व्यक्ति और समाज की समस्या केवल इतनी ही नहीं है। वह समाज शास्त्र से भी कहीं आगे तक पहुँच गई है। उसकी गहराई में राजनीतिशास्त्र (Politics) और आचार शास्त्र भी अन्तर्गर्भित समझने चाहिये। प्रजातंत्र के अर्थों में अथवा एक राजतन्त्र राज्य की द्रष्टि से भी कोई सरकार मनुष्य समाज के सम्मिलित स्वर के अतिरिक्त और क्या है अथवा इसी को दूसरे रूप में लें तो कोई राज-व्यवस्था मनुष्य समाज को बाँधने वाली गांठ ही है। इसलिए राजनीति शास्त्र में भी मुख्य प्रश्न यह है कि राज्य और व्यक्ति में क्या सम्बन्ध है। इस प्रश्न का उत्तर सर्वथा इस पर निर्भर है कि व्यक्ति और समाज का क्या सम्बन्ध है। सच तो यह है कि यदि हम प्रजातन्त्र के व्यापक अर्थ लें तो समाज और राज्य एक ही वस्तु हो जाते हैं। आचार शास्त्र भी मुख्य कर आजकल वह जिस अर्थ में लिया जाता है समाज को लक्ष्य में रख कर ही आचार की व्यवस्था करता है। वह जिस सदाचार का प्रतिपादन करता है, उसका समाज के बिना कोई अर्थ नहीं होता। इसलिये हम आचार शास्त्र की समस्याओं को तब तक सफलतापूर्वक हल नहीं कर सकते जब तक कि हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भली भांति न समझ लें।

पश्चिम के इतिहास में जहाँ कि अभी तक इस पहेली की घुण्डी नहीं खुल सकी है, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध पर द्रष्टिपात करना बहुत रोचक है। पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास का प्रारंभ यूनान से होता है। यूनान में स्पार्टा और एथेन्स दो नगर सभ्यता के केन्द्र थे। स्पार्टा में हम पाते हैं कि व्यक्ति का जीवन समाज के अर्पण है। स्पार्टन लोगों ने इस बात को सीमा तक पहुँचा दिया था कि जो व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी नहीं उसका अस्तित्व निरर्थक है। वे इसीलिये निर्बल बालकों को पहाड़ की चोटी से नीचे को लुढ़का कर मार डालते थे। परन्तु यूनान का मस्तिष्क एथेन्स था। एथेन्स यूनान के दार्शनिक लोगों का क्रीड़ोद्यान था। वहाँ वे लोग जो व्यक्तिगत स्वच्छन्द कल्पनाओं के हिण्डोले में झूल रहे थे, अभी तक राज्य सेवक बनना नहीं सीखे थे उन्होंने व्यक्तिगत जीवन सर्वथा राज्य के नाम पर समर्पण न किया था। यूनान के इतिहास में सम्पूर्णरूपेण जो भावना है वह व्यक्तित्व के प्राधान्य की है, समाज की नहीं। इसीलिये यूनान के भिन्न भिन्न नगरों के प्रजातन्त्र बहुत फूले फले नहीं और व्यक्तित्व की भावना के कारण यह बात असम्भव हो गई कि सारा यूनान मिल कर एक राष्ट्र हो जावे।

यूनान के पश्चात् रोम की बारी आती है, वहाँ हम पाते हैं कि व्यक्ति समाज के द्वारा पूर्णरूपेण पद-दलित है। राष्ट्र के लिये मरना, जीना, सब कुछ करना बस यही व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य है। 'राष्ट्र' और राज्य के नाम से रोमन इतिहास गूंज रहा है और कोलाहल में 'व्यक्तित्व' की आवाज़ सर्वथा दब गई है। इसी लिये यूरोप के इतिहास में जहाँ अन्य सब विज्ञानों और विद्याओं के अग्रसर यूनानी लोग हैं वहाँ राजनीति-शास्त्र, समाज व्यवस्था और विधि (कानून) निर्माण में रोम का मुख्य स्थान है। इन तत्त्वों का सबसे प्रथम प्रचार रोम से ही होता है। रोम के दिनों में व्यक्ति पूर्ण रीति से 'राष्ट्र' का सच्चा सेवक है, 'व्यक्तित्व' का सदा लोप है। यदि व्यक्ति के जीवन का कोई लक्ष्य है, ध्येय है तो 'रोम'। रोम के लिये सिपाही बन कर लड़ना उसका मुख्य कर्त्तव्य है, यदि वह 'खाता' पीता है और जो कुछ करता है वह सब इसलिये है कि वह 'रोम' के काम आ सके। यदि वह सन्तान उत्पन्न करता है तो भी इसीलिये कि रोम के लिये नये सिपाही उत्पन्न हो सकें। 'रोम' के अतिरिक्त उसके जीवन की और कोई आकांक्षा नहीं। इसलिये रोमन इतिहास के बड़े काल में हम पाते हैं कि विशेष कर विधि-न्याय, राज्यावस्था, युद्ध विद्या आदि ऐसी २ बातों की उन्नत्ति हुई है जो रोम की राजनैतिक उन्नति के साथ जुड़ी हुई हैं। जिनका सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य समाज से है न कि व्यक्ति से। हम देखते हैं कि 'व्यक्तित्व' सर्वथा समाज के आधीन हो चुका है।

आगे बढ़िये यूरोप के मध्यकाल पर दृष्टि-पात करें तो एक बार फिर 'व्यक्ति' को हम उठा हुआ पाते हैं। मध्यकाल में हम देखते हैं कि व्यक्तियों ने समझ लिया कि उनके जीवन का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि एक मात्र 'राष्ट्र' की सेवा में अपने को अर्पण करदें। वे राष्ट्र से अलग अपने व्यक्तित्व को अनुभव करते हैं। और अपनी 'व्यक्ति' की परिचर्या में समय लगाते हैं। इसलिये हम देखते हैं कि मध्यकालीन यूरोप में ईसाई धर्म की उन्नति होती है। धर्म का अंकुर 'व्यक्ति' हृदय में ही फूलता फलता है। पर एक अद्भुत दृश्य हमारे सामने आता है, ज्यों ही मनुष्य समाज के राजनैतिक अङ्ग होने की सेवा से मुक्ति पाता है एक दूसरी दासता पकड़ लेती है। मध्यकाल में राजकीय शासन का स्थान चर्च शासन (Ecclesiastical Government) ग्रहण करता है।

मनुष्य धीरे २ अपने व्यक्तित्व को खोकर उसके आधीन होता चला जाता है। जहाँ पहले उसके जीवन का उद्देश्य समाज सेवा थी अब चर्च सेवा रह जाती है। उसका व्यक्तित्व फिर दब गया। वह स्वयं अपने लिये न सोचता है और न विचारता है। जो कुछ चर्च का शासन है वही उसके जीवन में प्रमाण है। इस प्रकार जिस प्रकार रोम के दिनों में मनुष्य समाज राष्ट्र के रूप में व्यक्तित्व का लोप कर रहा था इस नये युग में समाज 'धर्म संघ' बन कर चर्च के नाम पर 'व्यक्ति' की अवहेलना करता है। परन्तु यह अवस्था भी स्थिर नहीं रहती। १६वीं सदी में फिर धार्मिक संशोधन (Religious Reformation) का युग आता है, जर्मनी में मार्टिन ल्यूथर चर्च को और उसके बड़े महन्त को चैलेञ्ज देता है और धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की स्थापना करता है।

ईसाइयों के रोमन कैथौलिक समुदाय के विरुद्ध प्रौटेस्टैण्ट आन्दोलन एक प्रकार से समाजिक संघ रूप से चर्च के द्वारा होने वाले अत्याचार के विरुद्ध व्यक्तिगत धार्मिक स्वाधीनता की क्रान्ति है। मध्यकाल के प्रारम्भ में 'व्यक्ति' ने धर्म का सहारा लेकर समाज के राष्ट्रीय रूप से स्वतन्त्रता पाई थी। परन्तु फिर उसे

धार्मिक दासता ने सताया और अब वह अर्वाचीन युग के प्रारम्भ में धार्मिक संशोधन के साथ २ इस धार्मिक दासता से मुक्ति पाता है।

अर्वाचीन युग में धार्मिक दासता से मनुष्य ने मुक्ति पा ली। पर क्या उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होगया ? सचमुच यह एक अद्भुत पहेली है। 'इतिहास अपने को दुहराता है' (History repeats itself) यह उक्ति कहीं घटती है तो इस विषय में। आधुनिक अवस्था पर दृष्टि डालो तो व्यक्तिगत जीवन की कुत्सित अवहेलना का निराला दृश्य हमारे सामने आता है। इस समय जो राष्ट्रीय प्रथा (System of Nationalities) अर्थात् मनुष्यों का भिन्न २ राष्ट्रों में विभक्त होकर अपने राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रयत्न करने का दृश्य दिखाई देता है इसका यह रूप पिछली शताब्दी में ही हुआ है। इस समय सारी मनुष्य जाति राष्ट्रों में बँटी हुई है और व्यक्ति उस राष्ट्र के अङ्ग हैं।

इन राष्ट्रों में से अमेरिका, फ्रांस आदि कुछ ऐसे हैं जहाँ पूर्ण प्रजातन्त्र है और इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र है और इंगलैण्ड में प्रजा की इच्छानुसार राजा के द्वारा शासन होता है। प्रत्येक दशा में व्यक्तिगत जीवन का सब से महत्वपूर्ण ध्येय राष्ट्र की सेवा करना है। व्यक्ति पर राष्ट्र का कितना आतङ्क है, इसका पैशाचिक दृश्य विगत महायुद्ध से प्रकट हुआ था जब कि लाखों व्यक्तियों को और राष्ट्रों को कलहाग्नि में ईंधन की भांति झोंक दिया गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि व्यक्तियों के जीवन का 'राष्ट्र' के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य ही नहीं। वे राष्ट्र के नाम पर यदि जलती आग में भस्म कर दिये जावें तो भी ठीक है। राष्ट्रों की आज्ञा के आगे बिना 'ननु' 'न च' किये व्यक्ति को शिर झुकाना चाहिये। सच तो यह है कि इस राष्ट्रीयवाद के युग में 'व्यक्ति' को जिस प्रकार राष्ट्र का आधीन बनाया गया है वैसा इससे पूर्व किसी युग में न किया गया था। व्यक्ति ने राष्ट्र की वेदी पर अपने शरीर को ही नहीं अपितु मन और अन्तःकरण की भी बलि चढ़ादी है। जब एक राष्ट्र दूसरे से युद्ध ठानता है तो उसके हजारों व्यक्ति हथियार लेकर हत्या के लिये निकल पड़ते हैं। नृशंसता, क्रूरता और रक्त-पात सब देश भक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अस्तु, यह तो इतिहास की पुरानी कहानी है। परन्तु यह कैसा नारकीय दृश्य है कि युद्ध के समय देश के वैज्ञानिक जो कि ब्राह्मणस्वरूप हैं, जो सरस्वती के मन्दिर के पुजारी हैं, जिसमें कोई जाति या सम्प्रदाय का भेद नहीं, अपनी रसायन शालाओं में बैठकर मनुष्य की घातक—सामग्री तैयार करते हैं और विषैली गैस बनाते हैं। यही राष्ट्र के नाम पर मनुष्य मस्तिष्क का, नहीं सरस्वती देवी का—बलिदान है। यहीं तक नहीं मनुष्य का हृदय, अन्तःकरण और आत्मा भी राष्ट्र का दास ही नहीं प्रत्युत राष्ट्र के लिये बलि चढ़ा हुआ है।

मनुष्य राष्ट्र सेवा के नाम पर छल-कपट का पापमय जीवन व्यतीत करें तो भी सद्गुण हैं ! क्योंकि राष्ट्र के लिये हैं ! कतिपय महिलाएँ अपने राष्ट्र के स्वार्थ के लिए अपने सतीत्व को अर्पण करें यह ऐसा दृष्य है जिससे हृदय कांप उठता है। यह शैतान का पैशाचिक नृत्य है ! इसका नाम राष्ट्र के लिए मानव हृदय की बलि है। सत्य, दया, सदाचार सब कुछ 'राष्ट्रीयता' के लिये अर्पण है। राष्ट्र सबसे बड़ी वस्तु है, राष्ट्र ही सद्गुणों का पैमाना है और राष्ट्र-भक्ति या देश भक्ति स्वयं

सब से बड़ा सद्गुण है। इसलिये 'राष्ट्र के नाम पर महायुद्ध के समय व्यक्तियों ने विवेकशून्य कर घोर से घोर अनर्थ किया।

योरुप की कतिपय, भविष्य को देखने वाली आत्माओं ने, इस रहस्य को समझा, यूरोप के महायुद्ध के समाप्त होते ही रोमाँ रोलाँ ने १९१९ में मानवीय आत्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा, (The Declaration of Independence of Human Mind) योरुप में प्रकाशित की जिसमें राष्ट्रीय-दासता से मनुष्य की आत्मा के मुक्त होने की पुकार थी। मनुष्य की आत्मा ने अब तक बहुत सी दासताओं से मुक्ति पाई है किन्तु बीसवीं सदी में उसे अब राष्ट्रीयता के दासत्व के मुक्ति पानी है। पिछले महायुद्ध की जड़ में यह राष्ट्रवाद ही काम कर रहा था। 'राष्ट्रीयता' और उसके द्वारा व्यक्तित्व के नाश से पश्चिमी सभ्यता को एक ऐसा क्षय लग चुका है कि जिससे वह मरे बिना नहीं बच सकती।

व्यक्ति राष्ट्र का ही गुलाम नहीं है, व्यक्ति 'व्यक्ति' का भी दास बन रहा है। यूरोप में प्रकृतिवाद या जड़वाद का राज्य है जिसका स्वाभाविक परिणाम 'भोगवाद' है। इन्द्रियों का भोग मानव-जीवन का लक्ष्य हो रहा है। मनुष्य की भोग लालसा की कोई समाप्ति नहीं दीखती, वह अपने भोग के लिये दूसरे व्यक्तियों को साधन बनाता है। आधुनिक समाज संगठन में जो रोग हैं उसके बाह्यरूप यान्त्रिक श्रमवाद (Industrialism) और पूंजीवाद (Capitalism) हैं। पुतलीघरों का स्वामी होकर एक व्यक्ति अपनी पूंजी बढ़ाता है, और हज़ारों मज़दूर उसके भोग का साधन बन रहे हैं। लाखों मज़दूरों के जीवन का केवल यही प्रयोजन है कि वे व्यक्ति के भोग और विलास के साधन बने हुए अपना पसीना बहा रहे हैं। जर्मनी के दार्शनिक इमैनुएल काण्ट ने एक बड़ी सच्चाई प्रकट की थी कि जब एक व्यक्ति दूसरे के भोग का साधन बनता है तभी अत्याचार की उत्पत्ति होती है। कहने के लिए आज योरुप में प्रजातन्त्र शासन है, व्यक्तियों की वोटों से सरकार चल रही है, व्यक्तिगत जीवन के महत्व को अनुभव करके दासत्व की प्रथा उठा दी गयी है। पर यह सब होने पर भी वहाँ का जन संमाज त्राहि २ के साथ करुणाक्रन्दन कर रहा है, मज़दूरों की दशा रोमांचकारी है। प्रजातन्त्र सरकार अपनी मशीनगनों से पूंजीपतियों की रक्षा में लगी हुई है। हैरानी तो यह है कि जितना ही प्रजातन्त्र बढ़ता जाता है उतनी ही जन-समाज की अधिक और अधिक दुर्दशा होती जाती है। राज सभाओं में कानून बनते हैं मज़दूरों की रक्षा के लिये, पर उनकी दशा और भी बिगड़ती जाती है। योरुप के प्रजातन्त्र शासनों से ही असन्तुष्ट होकर उस बोल्शेविज्म का जन्म होता है जो जन्म के साथ ही पूंजी का विरोध करती है और श्रम के नाम पर खड़ी है। पर कौन नहीं जानता की बोल्शेविज्म भी मनुष्य समाज की दुर्दशा को दूर करने में असमर्थ हुई है ?

श्रीमान् प्रतिदिन अधिक श्रीमान् होते जाते हैं और निर्धन प्रतिदिन अधिक निर्धन ! पुतलीघरों और कोयले की खानों में बच्चों और स्त्रियों को पीड़ित करके, उन्हें भाँति-भाँति से सता के काम लिया जाता है। इस प्रकार काम करते हुए हज़ारों अंगहीन हो जाते और सैकड़ों जान खोते हैं। भविष्य के इतिहास में यह पाप रक्त के अक्षरों में लिखे जांयगे, मनुष्यता की ऐसी अवहेलना इससे पूर्व कभी नहीं हुई थी। मनुष्य जीवन को इतना तुच्छ कभी नहीं समझा गया था और मानव-हृदय सारे उच्च भावों से शून्य होकर, इस सीमा तक ऐन्द्रिक भोग और धन का दास कभी न बना था।

यह अवस्था शोचनीय है, भयानक है, हृदय विदारक है और तत्काल कोई प्रतीकार चाहती है। पश्चिम जो २ उपाय करता है वे व्यर्थ होते दिखाई देते हैं। निस्संदेह हमारे समाज संगठन में, समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में और व्यक्ति और व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई ऐसी मौलिक त्रुटि है जो इस सब दुरवस्था का और मनुष्य-समाज-व्यापी गड़बड़ का कारण है। पहेली कैसे सुलझे ? समस्या का समाधान कहाँ है ? वह स्वर्गीय समाज, वह युरोपियन आदर्श जिसकी कवियों और दार्शनिकों ने समय २ पर कल्पना की थी क्या कभी चरितार्थ भी होगा ? अथवा मनुष्य जाति यों ही अंधेरे में टटोलती रहेगी ! उसे वह आदर्श समाज - संगठन कैसे प्राप्त होगा जिसमें व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति के सम्बन्ध में समता (harmony) उत्पन्न हो जायगी ? खोजो और खोजो और विचार करो ! सब व्यर्थ है, कोई समाधान नहीं मिलता ! मनुष्य की बुद्धि भी इसे सुलझाने में असमर्थ है।

निराशा के अंधकार के बीच भी प्रकाश है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि की पहुँच नहीं, वहाँ प्रभु का प्रकाश सहारा है। यह बड़ी समस्या है जिसका उत्तर वेद भगवान् ' वर्णाश्रम व्यवस्था ' के द्वारा देते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था का पूरा महत्व तभी समझ में आ सकता है जब कि हम समस्या के निकट रूप का अनुभव करें। इसीलिये इस निबन्ध में इतने विस्तार से समस्या का निरूपण किया गया है।

वर्ण-व्यवस्था समाज की समस्याओं का उत्तर है और आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का उत्तर है। वर्ण और आश्रम के सम्बन्ध को ठीक २ समझने से व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध भी समझ में आजायगा। यहाँ व्यक्ति और समाज में मुख्य और गौण होने का झगड़ा नहीं है, दोनों के बीच एक अपूर्व समन्वय (harmony) विद्यमान है। परन्तु साथ ही में 'व्यक्तित्व' को वह गौरवपूर्ण स्थान मिल रहा है जिसका समर्थन करने में आज पश्चिम के दार्शनिक व्यर्थ ही इतना इतना श्रम कर रहे हैं। क्योंकि जब तक पश्चिमी सभ्यता का ढाँचा ही न बदल दिया जावे या जब तक जड़वाद का स्थान अध्यात्मवाद और भोग का स्थान तपस्या न ले तब तक 'व्यक्तित्व' का चरितार्थ होना असम्भव ही है।

बहुत से पाश्चात्य लेखकों ने भारतीय साहित्य और सभ्यता पर यह दोषारोपण किया है कि उसमें व्यक्तित्व की झलक (Individualistic Nature) बहुत अधिक दिखाई देती है। अधिकतर व्यक्तिगत जीवन के पहलू को लिया गया है। इसीलिये भारत में व्यक्तिगत स्वार्थ के भाव अधिक पाये जाते हैं। व्यक्तित्व को देश और राष्ट्र के नाम पर बलिदान कर देने की बात यहाँ पर पाई ही नहीं जाती। बहुत से भारतीय लेखकों ने इस दोषारोपण का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। परन्तु मैं इस दोष को स्वीकार करता हूँ और बड़े गर्व और अभिमान के साथ स्वीकार करता हूँ। भारतवासिओं में स्वार्थपरता होने और देशभक्ति न होने के जो परिणाम निकाले गये हैं वे चाहे सर्वथा भ्रमपूर्ण हों पर यह सत्य है कि भारतीय साहित्य में 'व्यक्तित्व' की झलक कूट कूट कर भरी है। और निस्संदेह 'व्यक्तित्व' के उद्धार में ही मनुष्य जाति के भविष्य की आशा हो सकती है। परन्तु भारत के 'व्यक्तित्व' के रहस्य को पाश्चात्य लोग नहीं समझ सकते। पश्चिम के इतिहास में जो व्यक्ति और समाज के अधिकारों का संग्राम हुआ है—उस

व्यक्तिगत अधिकार और भारतीय साहित्य में व्यक्तित्व की जो प्रधानता है, उन दोनों में महान् अन्तर है। पश्चिम में बाह्य-सांसारिक दृष्टि है। वह विवाद प्राकृतिक भोग के विषय में है। एक व्यक्ति को देश या राष्ट्र के लिये अपने स्वार्थों को अर्थात् अपने व्यक्तिगत ऐन्द्रियिक या शारीरिक सुख को कहाँ तक छोड़ना चाहिये ? परन्तु भारतीय साहित्य के 'व्यक्तित्व' में आध्यात्मिक दृष्टि है। और आध्यात्मिकता को प्रधानता दी गई है न कि व्यक्ति के शारीरिक सुख अथवा सांसारिक जीवन को। इसे कुछ गहराई तक समझना आवश्यक है:—

भारतीय समाज शास्त्र, राजनीति-शास्त्र या जीवन के प्रत्येक विभाग का स्वरूप निर्णय दार्शनिक बुद्धि से हुआ है। प्रत्येक वस्तु साक्षात् या असाक्षात् रूप से दार्शनिक उद्देश्य तक जो, मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पहुँचाने वाली है इसलिए यदि हम भारतीय दृष्टि से किसी वस्तु की गहरी मीमांसा करना चाहते हैं तो कम से कम एक क्षण के लिए हमें दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। हमारे जीवन का अन्तिम, चरम उद्देश्य क्या व्यक्तिगत है अथवा समाज सम्बन्धी ? इस प्रश्न का निश्चित असन्दिग्ध उत्तर है कि 'व्यक्तिगत', क्योंकि चाहे हम जीवन के किसी क्षेत्र में हों, आर्य-संस्कृति बारम्बार पुकार कर कहती है कि हमारा अन्तिम ध्येय इस सांसारिक जीवन को पार करके परम पद तक पहुँचना है और इसी जन्म में पहुँचना है।

'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'

यदि आत्मा को इसी जन्म में न जाना तो बड़ा कठिन है, यह शब्द हृदय की कैसी तीव्र वेदना को प्रकट कर रहे हैं ! यह परम उद्देश्य और सब उद्देश्य गौण हैं। मनुष्य का सामाजिक जीवन भी इसी महान् उद्देश्य का साधन मात्र है, संसार का सारा जीवन सब-कुछ इसलिए है कि मनुष्य अपनी आत्मा की रक्षा कर सके। एक बहुत सुन्दर रहस्यपूर्ण चाणक्य का श्लोक चला आता है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

अर्थः—एक व्यक्ति के स्वार्थ को परिवार के स्वार्थ के लिए छोड़ दे और परिवार के स्वार्थ को ग्राम के लिए और ग्राम के स्वार्थ को देश के लिए पर आत्मा के लिए सब पृथ्वी को छोड़ दे।

यह कैसा व्यक्तिगत स्वार्थ का सिद्धान्त है ! पर मैं कहता हूँ इसी में आदर्श स्वार्थ त्याग है। 'यहां आत्मा के लिए' इसका अर्थ यह नहीं है कि 'व्यक्तिगत ऐन्द्रियिक भोगों के लिए' प्रत्युत प्रयोजन यह है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए। यह तो बतला दिया गया कि व्यक्ति या परिवार के छोटे २ स्वार्थों को उससे बड़े स्वार्थों के आगे अर्पण कर देना चाहिये परन्तु मनुष्य अपनी 'आत्मा' की रक्षा के लिए सारे भूमण्डल को तिलाञ्जलि दे दे। "नात्मानमवसादयेत्' आत्मा पर चोट न आने दे। यदि मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति अथवा आत्मिक गुण सत्य सदाचार आदि के नाश का प्रश्न हो तो चाहे मनुष्य जाति रसातल को क्यों न चली जावे उसे अपने सत्य की रक्षा करना चाहिये। जो इस प्रकार 'आत्मा' की रक्षा

करने वाला है वही समाज का भी सच्चा उपकारक हो सकता है क्योंकि वह 'आत्मा' के नाम पर अपने ऐन्द्रियिक भोगों और स्वार्थ पर भी विजय पा लेता है। इसलिए आध्यात्मिक रूप में 'व्यक्तित्व' का महत्व केवल समाज के अधिकारों का विरोधी नहीं है प्रत्युत 'समाज के अधिकारों का समर्थक है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज में समन्वय (Harmony) उत्पन्न हो जाता है।

व्यक्तिगत आत्मोन्नति स्वार्थ का सिद्धान्त नहीं किन्तु सच्चा उपकार उसी में हो सकता है। जो मनुष्य प्राणी-मात्र या देश की सेवा करता हुआ भी समझता है कि यह सब मेरी आत्मिक उन्नति के लिये है वही सच्चा परोपकारी है। जो दूसरे की भलाई करते हुए यह समझता है कि यह मैं परोपकार कर रहा हूँ, उसका 'एहसान' रूपी मूल्य लेने के कारण सारा परोपकार नष्ट हो जाता है। बुद्ध भगवान् ने कहा था कि जिस मनुष्य की भलाई करो स्वतः उसका उपकार मानों क्योंकि उसने तुम्हें आत्मिक उन्नति का अवसर दिया। इस प्रकार आत्मोन्नति चाहने वाला रात दिन मनुष्य समाज की सेवा करता है पर साथ ही वह समाज की सेवा उसकी आत्मोन्नति का भी साधन है अतएव व्यक्तिगत स्वार्थ भी है! व्यक्ति और समाज यहाँ एक ही रेखा पर हैं, नहीं, एक नदी के दो किनारे हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। वही काम समाज सेवा है, वही व्यक्तिगत स्वार्थ है। परन्तु यह सब तभी संभव है जब कि 'व्यक्तित्व' को आध्यात्मिक रूप में समझा जावे। जब ऐन्द्रियिक भोग जीवन का उद्देश्य हो जाता है तब यह असम्भव है कि व्यक्ति और समाज किंच व्यक्ति और व्यक्ति में परस्पर विरोध उत्पन्न हो। इसलिए मौलिक सिद्धान्त यह है कि राजनीति, समाज शास्त्र, दर्शन शास्त्र सब की दृष्टि से इस जीवन का महान् उद्देश्य है।

व्यक्तिगत आत्मविकास।

इस आर्य-आदर्श को, इस वैदिक रहस्य को पश्चिम सभ्यता ने भुला दिया है। आज पश्चिमी सभ्यता उन्नति के क्षेत्र में दौड़ रही है। निस्संदेह प्रबल वेग से दौड़ रही है। पर किस ओर? बिना उद्देश्य के एक अँधेरे गढ़े की ओर जिसमें गिर कर मर जायगी? अब और तब गिरना चाहती है, यदि एक साथ उसकी गति न रुकी! भला इन सब आविष्कारों का पारस्परिक युद्धों का रात दिन होने वाली अनर्थक क्रिया शीलता का, जिसके कुत्सित कोलाहल से सारा आकाश भर गया है, उद्देश्य क्या है? एक कल्पित वस्तु राष्ट्र, की उन्नति! उसके धन की उन्नति, जहाजों और सेनाओं की उन्नति! सोने के सिक्कों की उन्नति! यह सब सामान कुछ व्यक्तिओं के थोड़े से पूँजीपतिओं के ऐन्द्रियिक भोग के लिये है। जिसका अर्थ यह है कि विचारे निर्धन जो राष्ट्र के बनाने वाले हैं अपना पसीना बहाते हैं और फिर भी वे रोटी, और कपड़ों के लिए तरस रहे हैं, तड़फ रहे हैं। सारे राष्ट्र के रक्त की आहुति से कुछ पूँजी-पतियों का तर्पण होता है! इसका नाम प्रजातन्त्र है! इसी के लिए देश-भक्ति की याचना है। लाखों मनुष्य युद्ध की आग में कीड़ों की भाँति झोंके जाते हैं। इतिहास में पहिले ऐसा पैशाचिक ताण्डव नृत्य कभी न हुआ था।

आज कौने २ से अशान्ति की कर्कश-ध्वनि सुनाई देती है। राष्ट्र २ परस्पर खून की नदियाँ बहाने को तैयार हैं। समुद्र और व्यापार की समस्यायें हल होती नहीं दिखाई देतीं। धन और पूँजी का युद्ध

लगातार चल रहा है। हेग की शान्ति परिषद् तो व्यर्थ हो ही चुकी थी पर अब करोड़ों मनुष्यों के रक्त की आहुति लग कर जिस 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना हुई थी वह भी व्यर्थ हो चुकी है! आधुनिक राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय समस्याओं का हल होता नहीं दिखाई देता। अशान्त व्याकुल हृदय पूछने लगता है कि क्या मनुष्य जाति का जीवन भूल-भुलैयों में पड़ कर भटकता ही रहेगा या कोई सुनिश्चित कर्त्तव्य रेखा भी मिल सकेगी? यह प्रश्नों का प्रश्न है यह वही पुरानी पहेली है। इसके उत्तर में मुझे—

कोपर्निकस का सिद्धान्त

याद आता है कि जर्मन ज्योतिषी कोपर्निकस से पहिले तारों की गति के जितने समाधान किए थे। उनमें यह माना गया था कि पृथ्वी जिस पर से दर्शक तारों को देखता है स्थिर है और ग्रह गण उसके चारों ओर घूम रहे हैं। यही मान कर टालेमी आदि प्राचीन पश्चिमी ज्योतिषिओं ने अनेक समाधान किये थे पर इनमें से कोई भी संतोषजनक न हो सका, प्रत्येक खंडित होता गया। परन्तु कोपर्निकस ने ज्योतिष की काया ही पलट दी जब कि उसने इस रहस्य को प्रकट किया कि तारे नहीं बल्कि पृथ्वी मण्डल ही (जिस पर से मनुष्य तारों की गति को देखते हैं अथवा कहना चाहिए कि स्वतः मनुष्य ही जो तारों को देख रहा है) घूम रहा है। जिस गति का समाधान बाह्य तार का जगत् में ढूँढ़ा जा रहा था वह गति वस्तुतः पृथ्वी की है। ठीक इसी प्रकार की क्रान्ति मनो-विज्ञान के क्षेत्र में जर्मन दार्शनिक काण्ट ने की थी। उससे पहिले दार्शिनिकों के समय से यह प्रश्न चला आता है कि ज्ञान क्यों कर बाह्य विषयों के अनुरूप होता है? इसका समाधान पुराने दार्शनिक बाह्य दृष्टि से सोचते थे पर कोई संतोष जनक समाधान नहीं हो सका। पर काण्ट ने बतलाया कि समस्या का समाधान बाहर नहीं प्रत्युत् हमारे भीतर ही है। यह नहीं कि बाह्य विषयों के अनुरूप ज्ञान है प्रत्युत् हमारे अपने ज्ञान के अनुरूप ही बाह्य विषय बन जाते हैं। पर हम इस दार्शनिक गहराई में नहीं जाना चाहते। काण्ट अपने मनोविज्ञान सम्बन्धी समाधान को कोपर्निकस का समाधान बतलाया है। मैं कहता हूँ कि आधुनिक युग की बड़ी समस्या का 'कोपर्किस का समाधान वैदिक धर्म में विद्यमान है। आधुनिक अशान्ति और गड़बड़ क़ानूनों और कान्फ्रेंसों से दूर नहीं हो सकती। नई नई योजनायें और प्रस्ताव व्यर्थ हैं। उस पहेली का समाधान एक है और एक ही है और आज भी हमें प्राचीन भारत के अशान्त जङ्गलों से सुनाई दे रहा है:—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः

'आत्मा का दर्शन करो। जब तक हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होगा अशान्ति दूर नहीं हो सकती। मनुष्य समाज में एक भारी क्रान्ति मची हुई है। हम उसे एक जगह रोकते हैं तो वह दूसरा छेद करके फूट पड़ती है। इस क्रान्ति की औषधि व्यक्तिगत जीवन आत्मिक उन्नति में है। पश्चिम को इस समय कान्फ्रेंस की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत् ऐसे 'व्यक्तियों की जिनने आत्मिक उन्नति की हो। जो सच्चे सदाचारी निर्भय और रागद्वेष रहित हो। यह कितना बड़ा भ्रम है कि आधुनिक सभ्यता में व्यक्तिगत जीवन को 'प्राईवेट' समझ कर सामाजिक जीवन से अलग कर दिया गया है। जिस समाज में व्यक्तिगत जीवन उन्नत नहीं वहां

कोई संगठन, कोई व्यवस्था फलीभूत नहीं हो सकती। कच्ची ईंटों का मकान चाहे उसमें कैसा ही मसाला लगाया जावे, कैसा ही चतुर इन्जीनियर हो कच्चा ही रहेगा। ईंटों को भट्टे की आग में पकाया जाता है। समाज-भवन की व्यक्तिरूप ईंटों को भी तपस्या और ब्रह्मचर्य की भट्टी में पकाना आवश्यक है। आधुनिक जगत् भोग के कीचड़ में लिपटा हुआ है। उसे तपस्या और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। तपस्या और ब्रह्मचर्य से व्यक्तिगत जीवन का उद्धार होगा।

ऊपर आधुनिक युग की व्यक्ति और समाज सम्बन्धी कठिन समस्या का विस्तृत वर्णन किया गया है और संक्षिप्त रीति से उस समस्या के वैदिक समाधान की ओर सङ्केत किया है। और अब वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा यह समस्या कैसे हल हो सकती है? उसकी चेष्टा की जायगी। वैदिक धर्म में व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के लिये और सामाजिक संगठन के वर्ण व्यवस्था का विधान है।

आश्रम व्यवस्था

व्यक्तिगत जीवन के विकास में चार भिन्न २ अवस्थायें और चार आश्रम हैं। यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—ये चार आश्रम हैं। इन चार आश्रमों का नियमित पालन करने से व्यक्तिगत जीवन का अधिक से अधिक उच्च विकास तक और अन्तिम आदर्श तक पहुँच सकता है। इन आश्रमों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जीवन की व्यवस्था है। यह आश्रम केवल वाह्य रूढ़ि मात्र नहीं है किन्तु आत्मविकाश की आन्तरिक अवस्था को प्रकट करते हैं जिनमें गहरा तारतम्य है। संसार के सारे साहित्य में या किसी धर्म में आश्रमों जैसी कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। यह आश्रम-प्रणाली वैदिक धर्म की एक बड़ी विशेषता है। इससे पता चलता है कि वैदिक-धर्म में व्यक्तिगत जीवन का कितना गौरव समझाया गया है? मनुष्य के इस जीवन के और परलोक सम्बन्धी दोनों प्रकार कर्त्तव्यों की व्यवस्था आश्रम-प्रणाली में विद्यमान है। एक के पश्चात् दूसरे आश्रम में जो क्रमिक विकास दिखाई देता है उसकी सुन्दरता अद्भुत है। आश्रमों में प्रथम है!

ब्रह्मचर्याश्रम

जन्म से २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का समय है। आधुनिक समय में जो 'शिक्षा' का समय है, उसको आश्रम व्यवस्था में 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। इस आदर्श के अनुसार शिक्षा का प्रारम्भ सात या आठ वर्ष की अवस्था में नहीं होता अपितु जन्म से, नहीं नहीं २ गर्भाधान से ही होता है। गर्भाधान के समय से ही माता पिता को आदेश है कि वे ऐसा जीवन व्यतीत करें जिससे बच्चे पर संस्कार पड़ें। जन्म के पश्चात् बालक की शिक्षा की अध्यक्ष माता और फिर पिता होता है। ५ से लेकर ८ वर्ष की अवस्था के पश्चात् आचार्य बालक का तीसरा शिक्षक होता है। एक प्रकार से जब वह गुरुकुल में प्रवेश करता है तभी उसका उपनयन और वेदारम्भ संस्कार के पश्चात् नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य काल प्रारम्भ होता है।

शिक्षा के स्थान में ब्रह्मचर्य शब्द इतना सुन्दर और सारगर्भित है कि उसका संसार की किसी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल 'वीर्य-रक्षा' ही नहीं है प्रत्युत शारीरिक, मानसिक,

और आत्मिक तीनों विकास 'ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों प्रकार की उन्नति की आधार शिला 'वीर्यरक्षा' है। इसलिये ब्रह्मचर्य शब्द से अधिकतर और उचित रीति पर वीर्य रक्षा का ही ग्रहण होता है 'ब्रह्मचर्य का अर्थ है क्या ? ब्रह्म के लिये आचरण,अथवा ब्रह्म-प्राप्ति के लिये व्रत विशेष अद्भुत बात है कि शिक्षाफल में भी अन्तिम लक्ष्य सामने है। विद्यार्थी ब्रह्म को लक्ष्य में रख कर अपनी शक्ति को बढ़ाता है। 'ब्रह्म' का तेजस् वह धारण करना चाहता है। इसीलिये आचार्य ब्रह्मचारी को अपना गुरुमन्त्र बतलाता है जिसमें यह कामना है कि "हम उस दिव्य पिता के वरणीय तेजस् को ग्रहण करें।" गायत्री मन्त्र अद्भुत है संकल्प शक्ति पूर्वक उसका जाप ब्रह्मचारी के अन्दर प्रति - दिन 'ब्रह्मशक्ति' को बढ़ाने का अद्भुत व्यायाम है। केवल किताबें घोटना उसका लक्ष्य नहीं है प्रत्युत वह अपनी सारी शक्तिओं का विकास करके 'ब्रह्म-शक्ति' प्राप्त करता है। कितना महान् और उच्च आदर्श है।

ब्रह्मचर्य गृहस्थाश्रम की और सामाजिक जीवन की—क्योंकि ग्रहस्थाश्रम से ही सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है—तैयारी का समय है। गृहस्थाश्रम में संसार में ललचाने वाले प्रलोभन सामने आते हैं इसलिये वह कठोर जीवन, तपस्या और संयम का अभ्यास करता है। यह सिपाही की युद्ध की तैयारी है। आधुनिक जीवन में भोग और विलास क्यों बढ़ रहा है ? इसीलिये कि शिक्षा में ब्रह्मचर्य और तपस्या का अभाव है। इसलिये आधुनिक युग में गुरुकुलों और आश्रमों की आवश्यकता है। गुरुकुल में रंक और राजा के सन्तान समान रूप से भाई २ की भाँति रहते हैं। उनका, खाना, पीना, पहिनना एकसा है। मेरी सम्मति में है कि यह समानता, भ्रातृता (Equality and Fraternity) और प्रजातन्त्र का व्यावहारिक जीवन में अभ्यास है। आधुनिक काल में 'प्रजातन्त्र' नाम का इतना कोलाहल होने पर भी सच्चे प्रजातन्त्र का पता नहीं है। क्योंकि वास्तविक जीवन में प्रजातन्त्रता और समानता के भाव आने नहीं पाते। प्राचीनकाल में 'प्रजातन्त्र' की आधार शिला गुरुकुल ही थे। इसलिये कृष्ण और सुदामा का दृष्टान्त संभव था। ऊपर कहा गया है कि आधुनिक क्रान्ति की जड़ में ऐन्द्रियिक भोग हैं, धन का असम विभाग है, श्रम पर पूंजी का अत्याचार है और पूंजीपतियों की असीम भोग लालसा है। इस दशा में समानता और प्रजातंत्र का चरितार्थ होना स्वप्न के समान है। फिर क्या वह कथन ठीक नहीं कि इस सम्पूर्ण क्रान्ति की औषधि ब्रह्मचर्य, और गुरुकुल हैं। गुरुकुल में होने वाला तपस्या का कठोर जीवन और भ्रातृता का आदर्श है। ब्रह्मचर्य के पश्चात् मनुष्य—

गृहस्थाश्रम।

में प्रवेश करता है। यह समय सांसारिक भोग के प्रलोभनों का समय है, संसार के ललचाने वाली शक्तियों से घोर युद्ध होना है। यद्यपि 'तपस्या' और संयम के द्वारा इस आश्रम में शैतान से लड़ने की पूरी तैयारी की गई है फिर भी मैदान में साधारण व्यक्ति के लिये अकेले (Single - handed) स्थिर रहना कठिन है। इसलिये एक साथी की आवश्यकता है, ऐसा वैदिक विवाह का आदर्श प्रतीत होता है। वैदिक विवाह का उद्देश्य भोग तो कदापि है ही नहीं। एक उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है क्योंकि सन्तान के द्वारा पितृऋण को उतरता है। मनुष्य समाज के प्रवाह को स्थिर रखना है। ऋषियों ने सन्तानोत्पत्ति को पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य माना है। परन्तु मेरी समझ में इससे भी बड़ा उद्देश्य आत्मविकास में पति पत्नी का

पारस्परिक सहयोग है। मै समझता हूँ कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं अपितु इस जीवन में जहाँ कि मनुष्यों की वृत्तियों के विक्षिप्त होने का बहुधा अवसर होता है पत्नी ब्रह्मचर्य में सहायक होती है और होनी चाहिये। स्त्री भोग का साधन समझना, इससे बढ़ कर मनुष्यता के इतिहास में कोई घृणित और पाप पूर्ण भाव प्रतीत नहीं होता है।

गृहस्थाश्रम व्यक्ति-जीवन का कर्म क्षेत्र है। इसमें आकर वह सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य की भट्टी में व्यक्तिरूपी ईंटें जब तक पक कर लाल न हो जावें, वे समाज के भवन के योग्य नहीं हो सकती। इसलिये सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के पूर्व ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक था। वे ही व्यक्ति सामाजिक जीवन के अधिकारी थे जिन्होंने ब्रह्मचर्य और तपस्या का अभ्यास किया हो। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वेद में 'दस्यु' का अर्थ ('out-law') अर्थात् समाज की व्यवस्था से वहिष्कृत व्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक जीवन का अङ्ग नहीं बनाया जाता था। जिन व्यक्तियों ने व्रत-पालन और संयम न किया होता था जो यज्ञ-शून्य होते थे और अब्रह्मचारी होते थे वे समाज में प्रवेश न कर सकते थे। वेद कहता है।

"मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः"

जो इन्द्रियों के दास हैं, वे हमारे यज्ञ में अर्थात् हमारे समाज में प्रवेश न करें। कितनी उच्च व्यवस्था है। समाज के बनाने वाले वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जिन्होंने तपस्या और संयम का पालन किया हो। क्या यदि आधुनिक समाज ऐसे व्यक्तियों का बना हुआ हो तो वे समस्यायें जिससे आज विचारकों का मस्तिष्क चक्कर खा रहा है स्वयं न हल हो जावें।

जैसा कि ऊपर कहा गया है गृहस्थाश्रम से ही सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है। इसलिये वर्ण-व्यवस्था जो कि सामाजिक संगठन का ही रूप है गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखती है।

मनुष्य समाज का स्वरूप क्या होना चाहिये, यह समाज-शास्त्र की एक महान् समस्या है। अनेक विचार इस विषय में प्रस्तुत हुए हैं परन्तु कोई संतोषजनक समाधान नहीं दिया जा सका है। पिछले वर्षों में सोशलिज्म का स्वप्न बहुत से पाश्चात्य विचारक ले रहे थे। उसी का विकट और व्यावहारिक स्वरूप में 'बोल्शेविज्म' के रूप में हमारे सामने आया है। रूस में क्रियात्मक रूप से भी समानाधिकार और समविभाग का सिद्धान्त प्रचलित होने पर भी कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला है इसलिये पश्चिम में समाज-संगठन के स्वरूप का अभी तक आदर्श स्थिर नहीं हुआ है। वैदिक धर्म इस बड़ी समस्या का समाधान

वर्ण—व्यवस्था

द्वारा करता है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों के विषय में हम वर्ण-व्यवस्था के पश्चात् लिखेंगे। वर्ण-व्यवस्था की पश्चमीय समाज की सब योजनाओं की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि वह आध्यात्मिक

अर्थात् मानव जीवन के आध्यात्मिक तत्व पर निर्भर है। उदाहरणार्थ पश्चिम के बोल्शेविज्म आदि में केवल शरीर की वाह्य सुख सामग्री को लक्ष्य में रक्खा गया है पर वर्ण-व्यवस्था में मनुष्य के आन्तरिक जीवन की अवस्था पर विचार है। केवल वाह्य सामग्री ही सब कुछ नहीं।

इसके अतिरिक्त बोल्शेविज्म में सब के समान होने की अप्राकृतिक कल्पना की गई है। यह स्पष्ट है सब मनुष्यों को शारीरिक श्रम को आधार मान कर समान लेविल पर ले आना असंभव ही है। वर्ण-व्यवस्थाओं में जैसा कि आगे बतलाया जायगा कि अधिकार सम्बन्धी समानता है और किसी प्रकार मनुष्य २ में उच्चता और नीचता नहीं। पर साथ ही उनके कर्म और आचरण में जो भेद है उसको भी भली भांति समझाया गया है। मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि योग्यता में भेद है। सब मनुष्यों को एक ही तुला से तोलना प्राकृतिक नियमों से बैर करना है।

फिर आधुनिक समाज की भांति सारे मनुष्य जीवन का लक्ष्य 'धन' ही न था। धन का उपार्जन केवल एक 'वर्ण' का कर्त्तव्य था। ब्राह्मण जो कि उच्च वर्ण का समझा जाता था—यद्यपि उच्च होने का यह अर्थ नहीं कि उसे दूसरों से अधिक अधिकार प्राप्त हों—धनोपार्जन से कोई सम्बन्ध न रखता था। इस एक बात से वर्ण-व्यवस्था का आधुनिक समाज संगठन से बड़ा भेद हो जाता है। वर्ण-व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि उसमें विद्या, शक्ति और धन को एक ही जगह एकत्रित नहीं किया गया है। आधुनिक समाज में जो उच्च श्रेणी के लोग हैं सब कुछ उन्हीं के हाथ में है, इसलिये इतना अनर्थ होता है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था में तीन प्रकार की शक्तियों को तीन भिन्न २ स्थानों में रक्खा गया है। अब चारों वर्णों के विषय में कुछ संक्षेप से वर्णन सुनो:—

ब्राह्मण—प्रथम वर्ण है। वह मनुष्य जीवन की सर्वोच्च शक्ति विद्या का प्रतिनिधि है। किन्तु यह विद्या उसके जीवन में चरितार्थ होनी चाहिये। उसका बाह्य जीवन तपस्या और त्याग से युक्त होना आवश्यक है। धन और भोग के पीछे जाते ही उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है।

क्षत्रिय—जाति की भुजाओं के समान है। जाति का शासन और रक्षा दोनों उसके हाथ में है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि किसी दशा में भी धन-संचय करने में अपनी शक्ति नहीं लगा सकता।

वैश्य—वर्ण 'धन' का प्रतिनिधि है। आधुनिक समाज ने अपना आदर्श 'धन' को बना रक्खा है। परन्तु प्राचीन समय में मनुष्यों को केवल एक चौथाई भाग अर्थात् ग्रहस्थाश्रम और उसका भी चौथाई भाग वैश्य-वर्ण धनोपार्जन में लगता था। इस प्रकार जनता का केवल सोलहवां भाग धनोपार्जन के काम में लगता था। फिर भी रोटी कपड़े के लिए इतनी त्राहि २ न मचा करती थी।

शूद्र—के विषय में एक ही बात कही जा जाती है। शूद्र तीनों वर्णों का सहायक है। उसको तीनों वर्णों की कुछ न कुछ योग्यता होनी चाहिये उसकी वर्णों में वही स्थिति है जो वेदों में अथर्ववेद की।

वानप्रस्थाश्रम—वर्ण-व्यवस्था के विषय में इतना कहने के पश्चात् अब कुछ शब्द वानप्रस्थाश्रम के विषय में आवश्यक हैं। ब्रह्मचर्य गृहस्थ की तैयारी है। इसी प्रकार वानप्रस्थाश्रम सन्यासाश्रम की। ब्रह्मचर्य एक विद्यालय है और वानप्रस्थाश्रम भी एक प्रकार का अध्यात्म विद्यालय है। यह सच्चे अर्थों में (Post graduate study) स्नातक होने के अनन्तर का अध्ययन है। ब्रह्मचर्य काल में सब विद्यायें पढ़ाई जाती हैं। गृहस्थ में उनका अनुभव होता है। और तब मनुष्य वानप्रस्थाश्रम में जाकर अध्यात्म-विद्या का अधिकारी होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि आध्यात्म-विद्या में सभी पुरुष पारङ्गत हो जावें। यत्न करने पर भी बहुतों को सफलता नहीं हो सकती इसलिए सन्यासाश्रम में प्रवेश का अधिकार सब को नहीं है। वस्तुतः जिनका बहुत उच्च जीवन होता है वे वानप्रस्थाश्रम के पश्चात् सन्यासाश्रम के अधिकारी होते हैं। बहुत से पुरुषों को मृत्युपर्यन्त वानप्रस्थाश्रम में ही रहना होगा। इसका एक परिणाम निकलता है कि सबसे अधिक पुरुष वानप्रस्थाश्रम में ही होंगे क्योंकि गृहस्थाश्रम से साधारण नियम के अनुसार सभी वानप्रस्थ में आ सकते हैं परन्तु इससे आगे सन्याय में थोड़े से ही जा सकते हैं। परन्तु आजकल अवस्था ठीक उलटी है। सबसे कम वानप्रस्थाश्रम में आते हैं। लोगों ने गृहस्थाश्रम से सन्यास ही में छलांग का सीधा (शार्ट-कट) बना लिया है। इसका परिणाम इतना हानिकारक और दूषित और घृणित हुआ है कि कहा नहीं जा सकता। सन्यास में जाकर सब उपदेशक हो जाते हैं। वानप्रस्थ में रह कर कोई आत्म-चिन्तन नहीं करता। इसलिए आध्यात्मिक जीवन का लोप हो रहा है। प्राचीन आर्यावर्त्त वानप्रस्थियों से भरा हुआ था।

बहुत से पाश्चात्य लेखक प्राचीन भारतियों को जङ्गली कहते हैं। वे तो दूसरे मतलब से कहते हैं, पर बात ठीक है। प्राचीन भारत वासी जङ्गल में रहते ही थे। भारत के मस्तिष्क की सबसे सुन्दर और बहुमूल्य रचना उपनिषद् है और उपनिषद जङ्गल में तैयार हुई थी। उपनिषद् अरण्यकों का भाग है। और आरण्यक 'अरण्य' की बनी पुस्तकें हैं, भारत में नागरिक सभ्यता के साथ २ जङ्गल में आध्यात्मिक विकास हुआ था। आज वानप्रस्थाश्रम की आवश्यकता और भी अधिक है क्योंकि हमारी बाह्य वृत्ति हो रही है।

सन्यासाश्रम—इसके पश्चात् सन्यासाश्रम है। सन्यासाश्रम की उच्चता और महत्त्व के विषय में जो अनुभव हो रहा है शब्दों में प्रकट नहीं हो सकता। हिमालय की ऊंची चोटियां धुँधली २ दीख रही हैं; वह चित्रित नहीं हो सकतीं। जब सन्यास का स्वरूप सोचा जाता है तो 'निटशे' के 'सुपरमैन' का विचार याद आता है। आदर्शवाद की कल्पना में चरम सीमा 'सन्यासाश्रम' है। जब सन्यासाश्रम की कल्पना की जाती है तो उसी आध्यात्मिक सुन्दरता पर हृदय मोहित हो जाता है। इस विश्व के विकास में मनुष्य सर्वोच्च है और मनुष्यता के विकास की पराकाष्ठा सन्यास है इसलिए प्रभु की रचना का सबसे सुन्दर सुगन्धित फूल सन्याश्रम है। एक सन्यासी संसार को हिला सकता है! क्या यह 'सन्यास' वर्णाश्रम व्यवस्था का सर्वोच्च उपहार नहीं है? इस विश्व के विकास में सन्यासाश्रम से बढ़ कर कुछ नहीं है, यदि आज ऐसे परम उच्च-पद तक पहुँचे हुए दो चार भी सन्यासी मिल सकते तो निस्संदेह यह नारकीय भूमण्डल फिर स्वर्ग बन जाता।

इस निबन्ध में केवल संक्षेप से यह बतलाया गया है कि आधुनिक व्यक्ति और समाज की महती समस्या का कैसा सुन्दर समाधान वर्ण-व्यवस्था के द्वारा मिलता है। इससे पता चलता है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं प्रत्युत् समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक सिद्धान्तों का विकास किया था जो अब भी मनुष्य जाति की बड़ी समस्या को हल कर सकते हैं। आज मनुष्य जाति बिखरी, बिगड़ी और तित्तर-बित्तर अवस्था में है, मनुष्य समाज जीर्ण-शीर्ण एक खण्डहर के रूप में दिखाई देता है, उसके स्थान में वर्णाश्रम व्यवस्था का सुन्दर भवन कैसे बन सकेगा? उत्तर केवल एक है कि उस भवन के लिए 'ब्रह्मचर्य की नींव रखनी होगी आज एक नये युग के आरम्भ में पूर्व और पश्चिम में मनुष्य जाति को नई दीक्षा लेनी है तो वह निश्चय यह है:—

ब्रह्मचर्य

संयम

तपस्या

(धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम०ए०)

यह तो हुई प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था। अब प्रचलित व्यवस्था सुनिये:—

वर्ण धर्म।

(१) ब्राह्मण धर्म— निर्वाह के लिए विद्या पढ़ना, पढ़ाना व दान लेना, देना, और यज्ञ करना, कराना तथा परमार्थ के लिए दया, क्षमा, संतोष आदि सद्गुणों की धारणा और वेदान्तार्थ को जान कर ब्रह्मज्ञान को पाना यह धर्म ब्राह्मण का है।

(२) क्षत्रिय धर्म— ऐश्वर्य, पराक्रम, तेज सहित होकर न्याय से जनता का ठीक ठीक हित चाहना और दोनों समयों पर परमात्मा का स्मरण करना क्षत्रियों का धर्म है।

(३) वैश्य का धर्म— व्यापार, खेती आदि सत्य की कमाई से द्रव्य आदि को एकत्रित करके अपना निर्वाह व तीनों वरणों की सहायता और अतिथि व गऊ की सेवा तथा प्रभु का सदा ध्यान करना वैश्य का धर्म है।

(५) शूद्र का धर्म— अहंकार, आलस्य, कपट को त्याग करके उक्त तीनों वर्णों की सेवा और ईश्वर की भक्ति करना शूद्र का धर्म है।

चारों वर्ण अपने अपने २ शुभ कर्मों को करके सुख भोगते हुए अन्त में सद्गति पाते हैं, विपरीत इसके बहुत दुःख भोगते हैं। आलसी लोग प्रारब्ध का बहाना करके पुरुषार्थ से वंचित रहते हैं, प्रारब्ध भी पहिला किया हुआ पुरुषार्थ है।

आनन्ददायक शुभ कर्त्तव्य व आत्म अभ्यास करना पुरुषार्थ है। मनुष्यमात्र में आत्मिक बल इतना है कि पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं ब्रह्म बन सकता है।

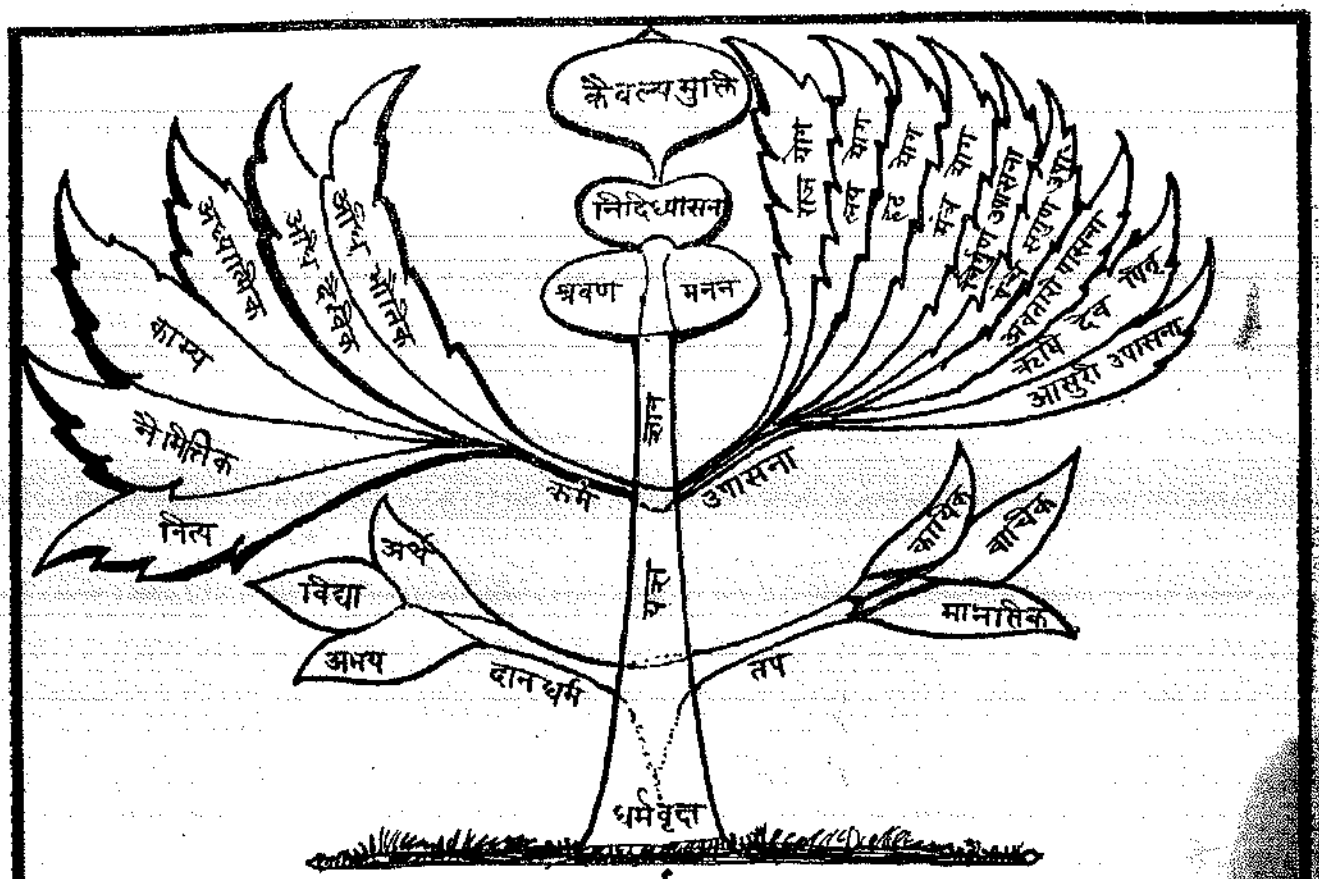
कैवल्यमुक्ति
निदिध्यासन
श्रवण
मनन
ज्ञान
कर्म
उपासना
धर्म
अर्थ
काम्य
नैमित्तिक
नित्य
विद्या
अभय
दान धर्म
तप
कायिक
वाचिक
मानसिक
आसुरी उपासना
धर्मवृक्ष

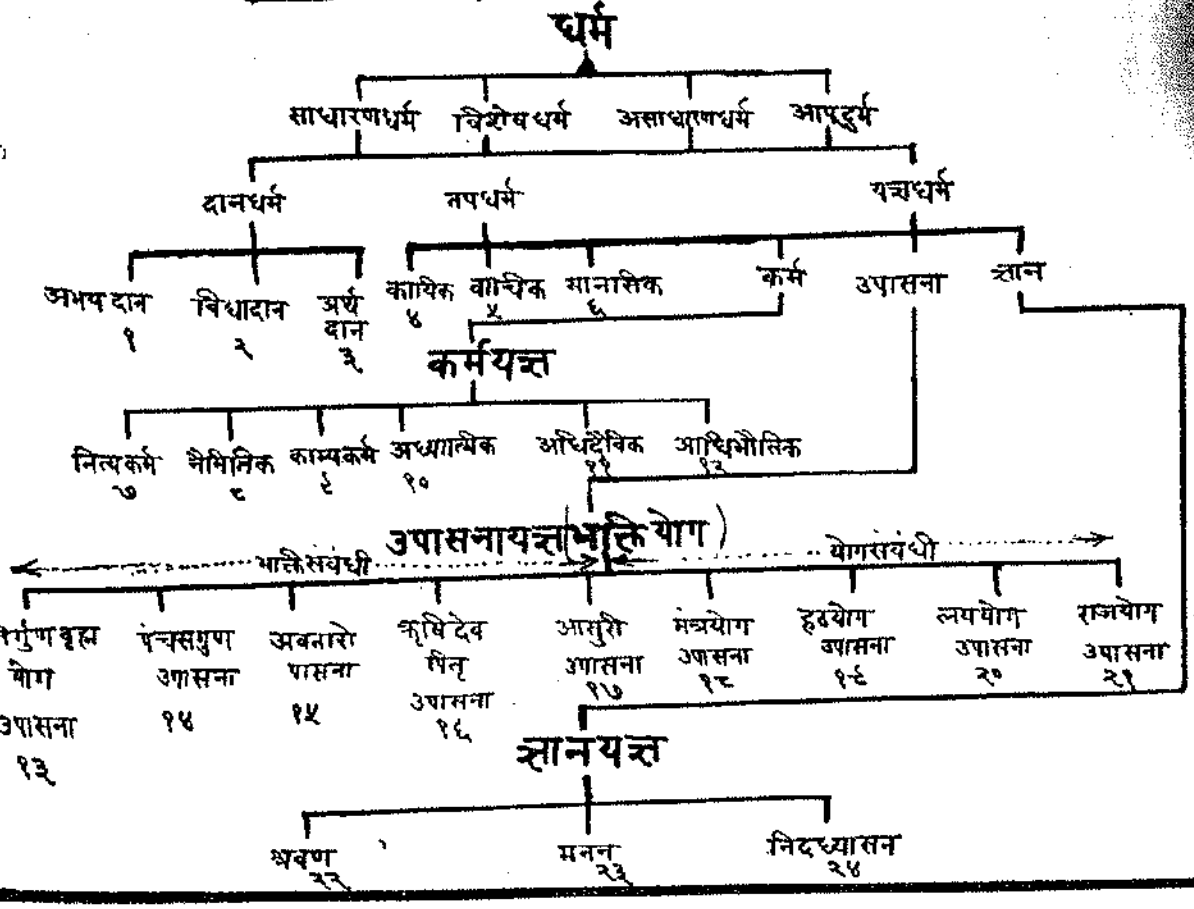
धर्म
साधारणधर्म
विशेषधर्म
असाधारणधर्म
आपद्धर्म
दानधर्म
तपधर्म
यज्ञधर्म
अभयदान १
विद्यादान २
अर्थदान ३
कायिक ४
वाचिक ५
मानसिक ६
कर्म
उपासना
ज्ञान
कर्मयज्ञ
नित्यकर्म ७
नैमित्तिक ८
काम्यकर्म ९
अध्यात्मिक १०
अधिदैविक ११
आधिभौतिक १२
उपासनायज्ञ (भक्तियोग)
भक्तिसंबंधी
योगसंबंधी
निर्गुणब्रह्म योग उपासना १३
पंचसगुण उपासना १४
अवतारोपासना १५
ऋषिदेव पितृ उपासना १६
आसुरी उपासना १७
मंत्रयोग उपासना १८
हठयोग उपासना १९
लययोग उपासना २०
राजयोग उपासना २१
ज्ञानयज्ञ
श्रवण २२
मनन २३
निदिध्यासन २४

आश्रम कर्त्तव्य ।

(१) ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य— ब्रह्मचर्याश्रम में धर्ममूलक प्रवृत्ति के लिए शिक्षा लाभ होता है ।

आलस्य, चंचलता, बहुत निद्रा आदि दुर्व्यसनों को त्याग कर ब्रह्मचर्य सहित स्वाध्याय और गुरु की आज्ञा अनुसार शुभ कर्त्तव्यों को करता हुआ ब्रह्मचारी उत्तम गति पाता है ।

(२) गृहस्थी का कर्त्तव्य— स्त्री का पाणि ग्रहण कर लोकोन्नति के लिए सन्तान की उत्पत्ति और द्रव्य आदि को संग्रह करके अतिथि सत्कार व हवन आदि को करता हुआ गृहस्थी उच्च पद को प्राप्त होता है ।

(३) वानप्रस्थी का कर्त्तव्य— वानप्रस्थ आश्रम निवृत्ति मार्ग का द्वारा है। वन आदि में स्थित हो मन की शुद्धि के लिये सब इन्द्रियों को जीत वृक्षमूल का आश्रय लेकर द्वन्दों का सहन (तप) व भक्ति सहित विचार वाला वानप्रस्थी मोक्ष पाता है ।

पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव से कोई भाग्यशाली व्यक्ति कदाचित् यथार्थ सन्यासी बन सकते हैं; परन्तु ऐसे भाग्यशाली मनुष्य संसार में बहुत ही कम होते हैं, इस कारण वानप्रस्थाश्रम की स्थापना किसी न किसी स्वरूप में अवश्य होनी चाहिये। किसी प्राचीन तीर्थ को अथवा किसी प्राचीन तीर्थ के किसी भाग को सत्सङ्ग व सत्चर्चा के द्वारा आदर्श स्थान बना कर वहीं यदि निवृत्ति-सेवी व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति व निवृत्ति मार्ग में जाने के विचार से प्रतिज्ञा करके गुरु और शास्त्र के आश्रय से उक्त आदर्श तीर्थ में वास करें' और क्रमशः साधुसत्सङ्ग वैराग्य चर्चा, अध्यात्म शास्त्रों का पठन-पाठन और योग साधनादि आध्यात्मिक उन्नतिकारी अनुष्ठानों को करते हुए अपने जीवन को कृतकृत्य करें तो वे इस कराल कलियुग में वानप्रस्थ आश्रम का बहुत सा फल प्राप्त कर सकेंगे। और इस प्रकार से ऐसे निवृत्ति सेवी भागवान् तपस्वी क्रमशः अच्छे सन्यासी बन सकेंगे। और यदि वे कठिन सन्यासाश्रम में नहीं पहुँचना चाहें तो भी अपनी बहुत कुछ आध्यात्मिक उन्नति कर सकेंगे एवं जगत का भी कल्याण कर सकेंगे।

(४) सन्यास का कर्त्तव्य— गृह की सब वासनाओं को त्याग कर वेदान्त के अभ्यास द्वारा जीव ब्रह्म की एकता निश्चय करके सन्यासी मोक्ष का भोगी होता है। ज्ञानी के संचित कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध व प्रारब्ध कर्म भोग कर के निवृत्ति और अहंकार के अभाव हुए आगामी कर्मों का स्पर्श न होने पर ज्ञानी का पुनर्जन्म नहीं होता।

पहिले ब्रह्मचर्य, फिर गृहस्थ, पीछे वानप्रस्थ अन्त में सन्यास-यह क्रम वैराग्यरहित मनुष्यों के लिए है। और वैराग्य होने पर शीघ्र सन्यास को ग्रहण करके सद्गुरु के उपदेश द्वारा ब्रह्म अभ्यास को सदा करना उचित है।

इसी प्रकार पूर्व कर्म बलवान् होने से ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा साधारण रीति के अनुसार प्रवृत्ति मार्ग से धीरे धीरे निवृत्ति मार्ग में जाना चाहिये।

जाबालोपनिषद् में लिखा है:—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा"—जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन गृहाश्रम से ही सन्यासाश्रम ग्रहण करें, क्योंकि सन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

ब्रह्म में अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीन भाव हैं, इसलिये कार्य ब्रह्मरूपी इस संसार की प्रत्येक वस्तु में भी तीन भाव हैं। अतः जीव में भी तीनों भावों की शुद्धि व पूर्णता द्वारा ही साधक ब्रह्मरूप बन सकता है। निष्काम कर्म के द्वारा आधिभौतिक शुद्धि उपासना के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि होती है। इसलिये सन्यासाश्रम में निष्काम कर्म, उपासना और ज्ञान का अनुष्ठान शास्त्रों में बताया गया है।

निष्काम कर्म के विषय में श्री गीता जी में कहा है:—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः॥

अ० ६, श्लोक १.

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

अ० १८, श्लोक २.

कर्म फल की इच्छा न करके जो कर्त्तव्य कर्म करता है वही सन्यासी व योगी है, निरग्नि व अक्रिय होने से ही सन्यासी नहीं होता है। काम्य कर्मों का फल त्याग ही त्याग है। कर्मत्याग त्याग नहीं। इसलिये निष्काम जगत्कल्याणकर कार्य संन्यासी का अवश्य कर्त्तव्य है। जीव भाव स्वार्थमूलक है। जब तक यह स्वार्थभाव नष्ट नहीं होता है तब तक जीव भाव भी नष्ट नहीं हो सकता है। निःस्वार्थ जगत्सेवा द्वारा स्वार्थबुद्धि नष्ट होकर जीव भाव का नाश होता है, तभी संन्यासी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। संन्यासी निष्काम कर्म द्वारा अपनी सत्ता को विराट् की सत्ता से मिला कर ही सद्भाव की पूर्णता को प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि परमात्मा में जब सत्, चित व आनन्द भाव है तो परमात्मा के अंशरूप जीवों में ये तीनों भाव परिच्छिन्न हैं। जब तक ऐसी परिच्छिन्नता है तब तक जीव बद्ध है। मुक्ति के लिये अपनी सत्सत्ता को उदार करके विराट् की सत्ता में विलीन करना पड़ता है, अन्यथा सद्भाव की पूर्णता नहीं हो सकती है। संसार को भगवान् का रूप मान कर निष्काम जगत्सेवा में प्रवृत्त होने से साधक अपने जीवन को विश्व जीवन के साथ सहज ही मिला सकते हैं और इसी से उनकी सत्सत्ता विराट् की सत्ता से मिल सकती है। यही संन्यासाश्रम में मुक्ति का प्रथम साधन है। मुक्ति का द्वितीय साधन उपासना और तृतीय साधन ज्ञान है। उपासना के द्वारा परमात्मा की आनन्द-सत्ता और ज्ञान के द्वारा परमात्मा की चित् सत्ता का अनुभव पुत्र-धन-यशरूपी एषणात्रयमुक्त महात्मा को हो जाता है। तभी वे पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार कर

ब्रह्मरूप हो जाते हैं। यही तुरीयाश्रम का अन्तिम अनुभव है और यही मनुष्य जीवन की अन्तिम चरितार्थता है।

इसी को भगवान् शंकर ने अपने 'पञ्चाश्रम' नामक पुस्तक में जो ५५ श्लोकों में निर्माण हुआ है, एक पांचवाँ आश्रम कथित किया है। यथा—

ब्रह्मचर्य पदंचादौ द्वितीयं गृहस्थाश्रमम् ।
तृतीयं वानप्रस्थं च सन्यासं च चतुर्थकम् ॥
पञ्चमं हंस दीक्षा च साक्षाच्छिव स्वरूपकम् ।
वेद मार्ग विनिर्मुक्त कर्माकर्म विवर्जितम् ॥

(श्लोक ४४, ४३)

टी०—क्रम पूर्वक ये चार आश्रम हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास। पांचवाँ आश्रम तो ब्रह्मात्मैका विवेक है, वही वेद मार्ग से मुक्त पुण्य पाप से मुक्त साक्षात् शिव स्वरूप है।

सहस्रं ब्राह्मणं भुंजीत् यती मेकं समं भवेत् ।
यतीं च नियुतं भुंजीत् हंस मेकं समं खलु ॥ ४७ ॥

टी०—एक सहस्र ब्राह्मणों के भोजन कराने में जो फल होता है, वही फल एक सन्यासी के भोजन कराने में है और जो फल दस लाख सन्यासियों के भोजन कराने से होता है, सोई फल एक ब्रह्मात्म्यैक्य विवेकी (हंस) के भोजन कराने से है।

हंसो यस्य गृहे भुंक्ते तस्य गृहे शिवः स्वयम् ।
यत्र भुक्ते शिवः साक्षात् तत्र भुक्ते जगतत्रयम् ॥ ४८ ॥

टी०—जिसके गृह में ब्रह्मात्मैक्य विवेकी (हंस) ने भोजन किया उसके गृह में स्वयं शिव ने ही भोजन किया जब कि साक्षात् शिव ने ही भोजन किया तो इससे तीनों लोक का भोजन उसके यहाँ हो गया।

सन्यासी विष्णुरूपश्च हंसश्च शिव रूपकः ।
दर्शन स्पर्श मात्रेण बद्धो मुक्तो न संशय ॥

टी०—सन्यास साक्षात् विष्णु का स्वरूप ही है। और हंस तो साक्षात् शिवरूप है इसके दर्शनादि से पुरुष निश्चय ही मुक्त हो जाता है।

सन्यास के प्रकार

आतुर, कुटीचक, बहूदक, हंस व परमहंस यह विविदिषा और विद्वत् दो प्रकार का है। पूर्व से उत्तर उत्तर श्रेष्ठ है।

विविदिषा सन्यास विदेहमुक्ति का और विद्वत्सन्यास जीवन्मुक्ति का हेतु है। विविदिषा में कौपीन, दण्ड आच्छादन वस्त्र का ग्रहण और उनका त्याग विद्वत् सन्यास में कहा गया है।

अपने आश्रम के अनुसार किये कर्त्तव्य बहुत आनन्द देते हैं। परन्तु केवल वर्णाश्रम का व्यर्थ अहंकार अत्यन्त हानि पहुँचाता है।

(१) आतुर सन्यास—आतुर सन्यास का विधान घोर संकट होने पर आसन्न मृत्यु व्यक्ति के लिये है। आतुर सन्यास में किसी विशेष क्रिया अथवा विधि की आवश्यकता नहीं होती—केवल प्रैष (सन्यास ग्रहण करने के समय के विशेष मन्त्र) का उच्चारण ही आवश्यक है।

(२) कुटीचक सन्यास वृत्ति—(तीव्र वैराग्य होने पर और यात्रा आदिक में सामर्थ्य हीन)—जो सन्यासी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि से रहित होकर पुत्रादिकों द्वारा कुटी करवा कर विधिपूर्वक सन्यास ग्रहण करके उस कुटी में नित्य निवास करते हैं, त्रिदण्ड और कषाय (भगुआ) वस्त्र धारण करते हैं, एवं स्नान, शौच, आचमन, जप, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्ययुक्त ध्यान में तत्पर रहते हैं, तथा पुत्रादिकों से ही भिक्षा के समय शरीर निर्वाह मात्र अन्न ग्रहण करके आत्मा को मुक्त करते हैं, उनकी कुटीचक संज्ञा है।

(३) बहूदक सन्यास वृत्ति—(तीव्र वैराग्य होने पर शरीर सामर्थ्य वाला) सन्यास ग्रहण करके जो सन्यासी बन्धु—पुत्रादिकों का संग त्याग कर न तो बंधुजनों से भिक्षा ग्रहण करते हैं और न अन्यत्र ही एक स्थान से, किन्तु केवल ब्राह्मण के सात घरों से भिक्षा लेते हैं और शिक्षा, यज्ञोपतीत एवं त्रिदण्ड¶ धारण करते हैं उनकी बहूदक सन्यासी संज्ञा है।

(४) हंस संन्यास वृत्ति—(तीव्र-वैराग्य होने पर)—जो सन्यासी अपरिग्रह रह कर केवल कन्था, कौपीन, कमण्डलु, एक दण्ड धारण करते हैं और देवताओं में अभेद बुद्धि रखकर ध्यान रत रहते हैं, अर्थात् धर्मानुसार चान्द्रायण व्रत करते हुए वृक्षमूल, पर्वत, गुहा अथवा नदी तट पर निवास करते हैं, उनकी हंस संज्ञा है।

(५) परम हंस सन्यास वृत्ति—(तीव्र वैराग्य होने पर मुक्ति चाहने वाला) परम हंस सन्यास में कौपीन, ओढ़ने का वस्त्र, शीत निवारण के लिये कन्था, (गूदड़ा) अक्ष माला, दण्ड और भिक्षा में

¶ बांसों से बना हुआ दण्ड के सिवा वाग्दण्ड (मौन रहना), २ मनोदण्ड (प्राणायाम) और कर्म दण्ड (अहिंसा) इन तीनों को धारण करना भी त्रिदण्ड धारण है।

माधूकर अन्न का ग्रहण और शिखा यज्ञोपतीत एवं संध्यादि नित्य कर्म का त्याग किया जाता है।

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् जो सन्यास ग्रहण करता है उसका नाम विद्वत्-सन्यास है। और ज्ञान की प्राप्ति के वास्ते जो सन्यास है उसका नाम विविदिषा-सन्यास है। इसलिये दोनों में से विविदिषा-सन्यास को ज्ञान का साधन कहा है और विद्वत्-सन्यास को जीवन्मुक्ति का साधन कहा है। अन्यथा सन्यास का भेद सिद्ध नहीं होता।

यहां यह कह देना भी उचित ही प्रतीत होता है कि ज्ञान में केवल सन्यासी का ही अधिकार नहीं है बल्कि ग्रहस्थ का भी है। उपनिषद्भाग में जनकादि ग्रहस्थ ज्ञानी लिखे हैं। और शास्त्रों में भी वशिष्ठादि अनेक ऋषी ग्रहस्थ ज्ञानी लिखे हैं। यदि सन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार होता तो वेद में जनक, वशिष्ठादिकों को क्यों ज्ञानी लिखा? क्योंकि बिना ही सन्यास के उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई है। और याज्ञवल्क्य के गार्हस्थ्य में ही जाकर उनको उपदेश किया है, गार्हस्थ्य में ही श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को गीता में ज्ञान का उपदेश किया है और ऊधव के प्रति भी उपदेश किया है। और रामचन्द्र के लक्ष्मणादि और हनुमानादि गृहस्थों के प्रति ज्ञान का उपदेश किया है। यदि सन्यासी का ही अधिकार मानोगे, तब इस सब शास्त्र के साथ विरोध आवेगा। इस वास्ते यह नियम नहीं है कि सन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार है, किन्तु मनुष्य मात्र का अधिकार है। और जो सन्यास को ही मोक्ष का साधन मानोगे तब इन्द्र जो बारह हज़ार सन्यासियों का शिर छेदन अज्ञानी जान कर, कर दिया उनको ज्ञान क्यों न हुआ, वे तो सन्यासी ही थे।

और जो—" तस्या पुत्रादाय मुपयंति सुहृदः साधु कृत्या द्विषंतः पाप कृत्यामिति"—उस ज्ञानी का धन उसके पुत्र गृहण करते हैं। और सुहृद उसके पुण्य-कर्मों का ग्रहण करते हैं। और द्वेषी उसके पाप-कर्मों का गृहण करते हैं। यदि सन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार होता तब यह श्रुति क्यों कहती कि जिसके धन को उसके पुत्र ग्रहण करते हैं। क्योंकि सन्यासी के धन पुत्र तो है ही नहीं और गृहस्थ के धन पुत्रादि होते हैं, इसलिये इसी श्रुति प्रमाण से जानते हैं ज्ञान में सब का अधिकार है; केवल सन्यासी का ही नहीं। जैसे गंगाजल के पान करने में सब का अधिकार है, जो यत्न करे वही पान कर सकता है और गंगाजल उसके, पापों को दूर कर सकता है वैसे ज्ञान-रूपी अमृत के पान करने में भी सब का अधिकार है। जो साधन करे वही ज्ञान-रूपी अमृत पान करके मोक्ष-रूपी आनन्द को प्राप्त हो सकता है, अन्य नहीं।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, इन आश्रमियों को किसी निमित्त से सन्यासाश्रम स्वीकार करने में बलवान् रुकावट हो तो, अपने २ आश्रमोचित् धर्मों का पालन करते हुए भी मानस सन्यास का सेवन कर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करें। इसमें कोई विरोध नहीं।

जिस मनुष्य के पहिले साधन ठीक नहीं होते, उनको पुनः मनोनाश, वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान का बारम्बार अभ्यास करना पड़ता है, यही सातों भूमिकाओं का अभ्यास कहाता है। जब तक ज्ञान की

दृढ़ता नहीं होती तभी तक साधन करने पड़ते हैं, यह सातों भूमिकाएँ चित्त की अवस्था हैं, ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता का कारण होती हैं, ज्ञान अचल दृढ़ एक होता है, सात कैसे कहे जावें। सातों भूमिकाओं के विषय में हम पहले ही बहुत कुछ लिख आये हैं।

सातों भूमिकाओं का स्वरूप और प्रयोजन।

ये सातों भूमिकाएँ शब्दों के अर्थों से सफल होती हैं, अर्थात् [१] शुभ की इच्छा (शुभेच्छा), [२] श्रेष्ठ विचार (सुविचार), (३) मन को सूक्ष्म करना (तनुमानसा), [४] सत्त्व की प्राप्ति (सत्वापत्ति), [५] आसक्ति का त्याग (असंसक्ति), [६] पदार्थों की भावना न करना (पदार्थाभाविनी) [७] तुरया की प्राप्ति (तुरयगा), सातों भूमिकाओं का यह क्रम ठीक है।

यथा क्रम से पाँचवीं में आसक्ति दूर होकर, षष्ठी के अभ्यास से जगत् के पदार्थों का अभाव निश्चय करके, सातवीं में तुरयापद (दृढ़ ज्ञान) प्राप्त होता है, यही जीवन्मुक्ति है, भाव यह है कि साधन बहुत काल करते २ अधिकारी के धैर्य बढाने के लिये, नामान्तर से वही अभ्यास पुनः कर्त्तव्य रूप माना है। इसके सदा अभ्यास करने पर ब्रह्मात्मा का अद्वैत ज्ञान दृढ़ होता है, यही मुक्ति पद है।

अज्ञान की सात भूमिकाएँ (संक्षेप में)

१. बीज जाग्रत—जैसे बीज में वृक्ष का सर्वाङ्ग रहता है इसी प्रकार माया सवलित ब्रह्म में संसार कारण रूप में रह कर प्रगट नहीं होता।

२. जाग्रत—(महतत्त्व) जब बीज में बोने पर जगदांकुर उत्पन्न होने को होता है उसे आनन्दमय कोश कहा है। इस अवस्था के साक्षी को ईश्वर कहते हैं, इसी को ईक्षण वा समष्टि अहङ्कार भी कहते हैं।

३.-४. महा-जाग्रत—जब बीज में अंकुर फूट आने पर उसकी पहिचान हो सके इसी प्रकार जब विशेष अहंकार होने लगे—जैसे मैं सुखी हूँ-दुःखी हूँ इत्यादि ये तीन समष्टि अज्ञान की अवस्था हैं—आगे व्यष्टि (जीव) की भी तीन अवस्था होती हैं तब इन्हें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति कहते हैं। यही व्यष्टि (जीव) की जाग्रत अवस्था है।

५. जाग्रत स्वप्न—जब जीव मनोराज्य करता है तो वह जाग्रत काल में स्वप्न है।

६. स्वप्न जाग्रत—स्वप्न के देखे पदार्थ संस्कारों की प्रबलता के कारण जाग्रत में प्रत्यक्ष से दीखें।

७. सुषुप्ति—जब ऊपर की सब अवस्थाएँ नहीं रहतीं तब ७ वीं अवस्था होती है।

"भेद अभेद जिनके सम्पूर्ण गलित हो गये, पुण्य पाप छिन्न हो गये, माया और मोह क्षीण हो गये, संयात्मक वृत्ति नष्ट हो गई जो शब्द से अतीत और त्रिगुण रहित हैं ऐसे वास्तविक स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त होकर त्रिगुणातीत मार्ग पर विचरने वाले, उन विद्वानों को, क्या विधि है और क्या निषेध है?

आत्म-ज्ञान परायण योगी जन, जल से पूर्ण तीर्थों का और मृत्तिका पाषाण के बने हुए देवताओं का आश्रय नहीं लेते हैं।

द्विजातियों का देवता अग्नि है, मुनियों के हृदय में देवता है, स्वल्प बुद्धिवालों के लिये प्रतिमा में देवता है, और आत्म-ज्ञानियों के लिये सर्वत्र ही परमात्म-देव है।

जो जन सर्वत्र स्थित और शान्त जनार्दन भगवान की शरण को नहीं प्राप्त होते हैं, वह ज्ञानरूपी चक्षु से इस प्रकार हीन हैं, जैसे प्रकाशित सूर्य के होते हुए भी चर्म चक्षु से हीन जन होते हैं।

(जीवन्मुक्त विवेकः)

"अणो रणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायाम् निहितोऽ स्यं जन्तो।
तमक्रतुं पश्यति वीत शोको, धातुः प्रसादात्महिमानमीशम्" ॥श्वेता. ३।२०॥

अर्थः—प्रभो ! आप सूक्ष्म से सूक्ष्म हैं। आप महान् से महान् हैं। आप जीवात्मा के भीतर छुपे हुए हैं। दयामय ! आप की दया से ही आपके शुभ दर्शन हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

व्याख्या—यह जो पृथ्वी का अणु देखते हो, इस पृथ्वी के एक अणु के भीतर जल के दश अणु हैं, वैसे जल के एक अणु के भीतर तेज के दश अणु हैं, एक तेज के अणु के भीतर दश वायु के अणु हैं और एक वायु के अणु के भीतर दश आकाश के अणु हैं। अतएव भूतों के भीतर आकाश से सूक्ष्म भूत और कोई नहीं है। इस आकाश के एक अणु के भीतर दश ब्रह्माणु रहते हैं। इसलिये यह पुरुष इन्द्रियों से गृहणीय नहीं है। मन इन्द्रियों का राजा है; जब तक मन रहता है, जब तक इस पुरुष का दर्शन नहीं होता।

सन्यासी का त्याग

घृतं श्च मूत्र सदृशं मधुस्या त्सुरपा समम्।
तैलं शूकर मूत्रंस्यात्सूपं लशुन संमितम् ॥१॥
माषापूपादि गो मांसं क्षीरं मूत्र समभवेत्।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन घृतादीत्ववर्जयेद्यतिः ॥२॥

(सन्यास उपनिषत् ६८ वां मंत्र २१६ पृष्ठ से)

अर्थः— घी कूकर के मूत्र समान, शहद मदिरा, तैल शूकर के मूत्र सम, मसूर की दाल, लहसन, उरद, पूआ, गऊ मांस के तुल्य और दूध मूत्र के तुल्य है। इसलिये यत्न कर घृत आदि सब पदार्थों को यति (सन्यासी) सर्वथा त्याग कर दे।

भगवान् शंकराचार्य स्थापित चारों मठों के दश प्रकार के संन्यासियों के प्रथक् २ लक्षण।

शारदा-मठ (पश्चिम) द्वारिका

तीर्थ [१]

त्रिवेणी संगमे तीर्थे, तत्त्वमस्यादि लक्षणे।
स्नायात्तत्वार्थ भावेन, तीर्थ नामा सा उच्यते ॥

आश्रम [२]

आश्रमः ग्रहणे प्रौढ़, आशा पाश विवर्जितः।
याता यात विनिर्मुक्तः एष आश्रम उच्यते ॥

वनम् [३]

गोवर्धन-मठ
(पूर्व)
जगन्नाथ

सुरम्ये निर्झर स्थाने, वने वासं करोति यः ।
आशा बंध विनि मुक्तो, वन नामा स उच्यते ॥

अरण्य [४]

अरण्ये संस्थितो नित्य, मूखं दे नन्दने वने ।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्व, मरण्य परि कीर्त्यते ॥

गिरि [५]

जोशी—मठ
(उत्तर)
बद्रिकाश्रम

वासो गिरवरो नित्यं, गीताध्ययत तत्परः ।
गम्भीरा निश्चल बुद्धिश्च, गिरि नामा समुच्यते ॥

पर्वत [६]

वसन्पर्वत मूलेषु, प्रौढं ज्ञानं विभर्तियः ।
परि कीर्त्यते सारा सारं, विजानाति पर्वतः ॥

सागर [७]

तत्व सागर गम्भीरो, ज्ञान रत्न परिग्रहः ।
मर्यादां नैव लंघेत, सागरः परिकीर्त्यते ॥

सरस्वती [८]

शृंगेरी—मठ
(दक्षिण)
रामक्षेत्र

स्वरं ज्ञानं रतो नित्यं स्वर वादी कवीश्वरः ।
संसार सागरासार, हन्ता सौहि सरस्वती ॥

भारती [९]

विद्या भारेण सम्पूर्णः, सर्व भारं परित्यजन् ।
दुःख भारं न जानाति, भारती परिकीर्त्यते ॥

पुरी [१०]

पुरी ज्ञान तत्त्वे न, सम्पूर्णः पूर्णं तत्त्वयेद ।
स्थितः य हं ब्रह्मरतो नित्यं, पुरी नामा स उच्यते ॥

३-असाधारण धर्म ।

जिस धर्म के द्वारा एक ही जीवन में योग तपोबल के द्वारा उत्तम वर्ण को प्राप्त होना असाधारण धर्म है । जैसे ऋषभदेव के ८१ पुत्र और विश्वामित्र आदि तप करके क्षत्रिय से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए हैं ।

महर्षि विश्वामित्र के एक ही जीवन में सब धर्मों के उदाहरण घट सकते हैं । यथा - विश्वामित्र के राजधर्म विशेष धर्म का उदाहरण है, आपत्काल में कूकर माँस खाकर शरीर रक्षा करना आपद् धर्म का उदाहरण है तथा यज्ञादि करना साधारण धर्म और प्रबल तपस्या के द्वारा क्षत्रिय से ब्राह्मण होना असाधारण धर्म का अति स्पष्ट उदाहरण है ।

४-आपद्धर्म ।

देश में विद्रोह या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होने से अथवा महामारी या किसी प्रकार की आपत् की उत्पत्ति होने से प्रथम शरीर की रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करना चाहिये ।

आपत्काल में मृदु या दारुण किसी भी उपाय से दीन आत्मा (शरीर) की रक्षा करनी चाहिये, इसके पश्चात् जब सामर्थ्य हो तब धर्मानुष्ठान करना चाहिये । आपत्काल में शौचाचार के विषय में भी कुछ विचार न करना चाहिये । पहिले विपत्ति से अपने को बचाना चाहिये पश्चात् स्वस्थ होकर धर्मानुष्ठान करना योग्य है ।

मृदु उपाय—ऋत, अमृत, प्रमृत और सत्यानृत ये हैं ।

ऋत—खेत या हाठ में अन्न पड़ा रह गया हो, उससे जीविका करने को ऋत कहते हैं ।

अमृत–जो बिना मांगे मिल जाय उसे अमृत कहते हैं ।

मृत— भीख मांग कर लाये हुए अन्न को मृत कहते हैं ।

प्रमृत– खेती करके कमाये हुए धन को प्रमृत कहते हैं ।

सत्यानृत—व्यापार करके खाना सत्यानृत कहलाता है।

दारुण उपाय—यदि निर्दिष्ट मृदु उपायों से निर्वाह होता न देखे तो आपत्काल में उषस्ति और विश्वामित्र की भाँति दारुण उपाय से भी प्राणों की रक्षा करने में कोई दोष नहीं।

ऋषि उषस्ति।

एक समय कुरु देश में ओलों की बड़ी वर्षा होने से और उगते हुए अन्न का नाश हो जाने से भयानक अकाल पड़ गया। अकाल से पीड़ित नर-नारी अन्न के अभाव से देश छोड़ कर भागने लगे। इसीलिये चक्र के पुत्र उषस्ति ने भी अपनी अप्राप्त यौवना पत्नी आटिकी को साथ लेकर देश छोड़ दिया और भटकते-भटकते दोनों एक महावतों के ग्राम में पहुँचे। भूख के मारे उस समय उषस्ति मरणासन्न दशा को प्राप्त हो रहा था। उसने एक महावत को उबले हुए उड़द के दाने खाते देखा और उसके पास जाकर कुछ उड़द देने को कहा। महावत ने कहा—'मैं इस बर्तन में रक्खे हुए जो उड़द खा रहा हूँ इन झूंठे उड़दों के अतिरिक्त मेरे पास और उड़द नहीं हैं। तब मैं तुम्हें कहाँ से दूँ?' महावत की बात सुनकर उषस्थि ने कहा—'मुझे इनमें से ही कुछ देदो।' तब महावत ने उनमें से थोड़े-से उड़द उषस्ति को दे दिये और जल सामने रखकर कहा' लो, इनको खाकर जल पीलो। इस पर उषस्ति ने कहा—'भाई! मैं यह जल पी लूंगा तो मुझे दूसरे की झूंठन खाने का दोष लगेगा।'

महावत ने अचरज से पूछा, 'तो क्या तुमने जो उड़द मुझसे लिये हैं, ये जूँठे नहीं हैं, फिर जूँठे जल ही में कौनसा दोष है?

उषस्ति ने उत्तर दिया—'भाई! यदि मैं यह उड़द नहीं खाता तो मेरे प्राण नहीं रहते (प्राण-संकट में आपद्धर्म समझकर ही मैं उड़द खा रहा हूं) अब जल तो मेरी इच्छानुसार मुझे दूसरी जगह भी मिल जायगा। यदि उड़द की भाँति मैं तुम्हारा जूँठा जल भी पीलूँ तब तो वह स्वेच्छाचार ही होगा। इतना नहीं रहेगा। इसलिये मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा। इतना कह कर उषस्ति ने कुछ उड़द खा लिये और शेष अपनी स्त्री को दे दिये। ब्राह्मणी को पहिले ही कुछ खाने को मिल गया था, इसलिये पति के दिये हुए जूँठे उड़द उसने खाये नहीं अपने पास रख लिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्ति ने प्रातः कृत्य करने के पश्चात् अपनी स्त्री से कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहीं से खाने को मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने के लिये कुछ धन प्राप्त कर सकता हूँ। यहाँ से समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है। वह ऋत्विक् के काम में मेरा भी वरण कर लेगा।

यह सुन कर स्त्री ने कहा—'मेरे पास कल के बचे हुए कुछ उड़द हैं, लीजिये, इन्हें खा कर यज्ञ में शीघ्र चले जाइए।' भूख से व्याकुल हुए उषस्ति ने उड़द खा लिए और स्वस्थ होकर वह राजा के यज्ञ में चले गये। वहां जाकर वे आस्तव में (स्तुति के स्थान में) स्तुति करने वाले उद्गाताओं के पास जाकर बैठ

गये और स्तुति करने वालों की भूल देख कर उनसे बोले—'हे प्रस्तोता ! आप जिन देवताओं की स्तुति करते हैं वे देव कौन हैं ? आप यदि अधिष्ठाता को जाने बिना उनकी स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा' इसी प्रकार उद्गाता से कहा कि 'हे उद्गीथ की स्तुति करने वाले ! यदि आप उद्गीथ भाग के देवता को जाने बिना उनका उद्गान करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।' तदन्तर उन्होंने प्रतिहार का गान करने वाले की ओर भी मुड़ कर कहा कि 'हे प्रतिहार का गान करने वाले प्रतिहर्ता ! यदि आप देवताओं को बिना जाने उसका प्रतिहार करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।' यह सुन कर स्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि सब ऋत्विज्गण मस्तक गिरने के डर से अपने-अपने कर्म को छोड़ कर चुप होकर बैठ गये।

राजा ने अपने ऋत्विजों की यह दशा देख कर कर कहा कि 'हे भगवन् ! आप कौन हैं, मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्ति ने कहा—'राजन् ! मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ।' राजा ने कहा—'ओहो ! भगवन् ! उषस्ति आप ही हैं ? मैंने आपके बहुत से गुण सुने हैं। इसलिए मैंने ऋत्विज् के काम के लिये आपकी बहुत खोज की थी परन्तु आपके न मिलने पर मुझे दूसरे ऋत्विक् वरण करने पड़े। अब मेरे सौभाग्य से आप पधारे हैं तो हे भगवन् ! ऋत्विज्-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करने की कृपा कीजिये।

उषस्ति ने कहा—'बहुत अच्छा ! परन्तु इन ऋत्विजों को हटाना नहीं, मेरी आज्ञानुसार ये ऋत्विज्गण अपना-अपना कर्म करें। और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना।' न तो मैं इन लोगों को निकालना चाहता हूँ, और न दक्षिणा में अधिक धन लेकर इनका अपमान करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेख में ये सब कर्म करते रहेंगे। तदन्तर प्रस्तोता, उद्गाता, आदि समस्त ऋत्विजों ने उषस्ति के पास जाकर विनय पूर्वक उनसे पूछ पूछ कर सब बातें जान लीं और उषस्ति ने उन लोगों को सब समझा कर उनके द्वारा राजा का यज्ञ भली भाँति पूर्ण करवाया।

आपत्काल में महर्षि विश्वामित्र

इसी प्रकार—महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है कि—एक समय द्वादश वर्ष पर्यन्त घोर अनावृष्टि हुई। ऐसे भयानक दुर्भिक्ष के कारण महर्षि विश्वामित्र अत्यन्त क्षुधातुर होकर पुत्र, स्त्री और घर आदि को छोड़ कर—भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार और जप-होम आदि कर्मों को त्याग कर मारे मारे फिरने लगे। एक बन में प्राणि-हिंसक चाण्डालों के घर देख कर गए। उन्होंने देखा कि वहां टूटे हुए घड़े, कुत्ते के चमड़ों के टुकड़े, सुअर और गधों की खोपड़ियां और हड्डियाँ तथा मरे हुए मनुष्यों के कपड़े एकत्र हैं। कुटी और मठों में निर्माल्य और साँपों की केंचुलियां पड़ी हुई थीं। कहीं मुर्गे बांग दे रहे थे और कहीं गधे रेंक रहे थे। चिल्लाते हुए चाण्डाल आपस में लड़ रहे थे। देवालयों में उल्लू बोल रहे थे।

महर्षि विश्वामित्र भूख से व्याकुल तो थे ही, चाण्डालों की उस बस्ती में भोजन ढूँढने लगे। किन्तु बार-बार मांगने पर भी उन्हें मांस, अन्न, फल-फूल आदि कोई खाने की वस्तु नहीं मिली। तब दुर्बलता के कारण 'हाय बड़े दुःख की बात है' यह कह कर वे एक चाण्डाल के द्वार पर गिर पड़े। वे इस अकाल-मृत्यु से बचने और सङ्कट को टालने की चिन्ता करने लगे। कुछ देर पश्चात् उसी चाण्डाल के घर में तत्काल मारे हुए कुत्ते के मांस का एक टुकड़ा दिखाई पड़ा। तब प्रसन्न होकर उन्होंने सोचा कि इस मांस के टुकड़े को किसी प्रकार चुराना चाहिए। इसके अतिरिक्त जीवन की रक्षा का और कोई उपाय नहीं है। आपत्काल में चोरी करने से कोई दोष नहीं लगता। शास्त्र का वचन है कि आपत्काल में ब्राह्मण अपनी रक्षा के लिए चोरी कर ले। पहले नीच पुरुषों के यहां चोरी करे, फिर बराबर वालों के यहां और यदि इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के यहाँ सफलता न हो तो अपने श्रेष्ठ धार्मिक मनुष्यों के यहां चोरी करने में कोई दोष नहीं है। इसलिए मैं पहिले इस नीच मनुष्य की वस्तु चुराऊँगा। यह विचार करके महर्षि विश्वामित्र उसी स्थान पर सो रहे।

कुछ रात बीतने पर जब चाण्डाल सो रहे तब विश्वामित्र जी ने चुपके से उठ कर "श्वान का मांस चुरा कर देव पितृ कार्य करके भोजन कर लिया।" चोरी करते समय चाण्डाल जाग रहा था, उनका बड़ा गम्भीर परस्पर संवाद हुआ वह विस्तार के भय से यहां नहीं लिखा गया।

इसके बाद वे तप के प्रभाव से उस पाप को भस्म करके परम सिद्धि को प्राप्त हुए। बुद्धिमान् मनुष्य घोर विपत्ति के समय, चाहे जिस उपाय से अपना उद्धार करे। जीवित रहेगा तो फिर अनेक प्रकार के मङ्गल और धर्म के कार्य कर सकेगा। समझदार मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रभाव से धर्म-अधर्म का यथार्थ निर्णय कर लेता है।

ब्रह्मज्ञान (मोक्ष प्रकरण)

दर्शन-परिषद्

भारतवर्ष में दार्शनिकों ने आत्मा, प्रकृति और ईश्वर के विषय में जितनी खोज की उनके विषय में जितनी ज्ञातव्य बातें प्रकाशित की संसार की किसी जाति ने नहीं। मनुष्य संसार में जो कुछ करता है सुख प्राप्ति के निमित्त करता है। सांसारिक विषयों में उसको सुख मिलता अवश्य है। परन्तु क्षण भंगुर और दुःख मिश्रित, किन्तु जिस सुख में दुखः नहीं, जिस आनन्द में विषाद नहीं, जिसका आरम्भ नहीं और इसीलिये अन्त में भी नहीं, ऐसा सुख आत्मा को छोड़ कर और कहीं नहीं मिलता। ऐसा सुख जिसको मिल गया हो वह क्षणभंगुर सुख के लिये क्यों चेष्टा करेगा? कदापि नहीं दर्शन क्या है? इसका सबसे श्रेष्ठ उत्तर मुण्डकोपनिषत् में दिया है—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः प्रपच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते, सर्वमिदम् विज्ञातं भवतीति ॥

अर्थः—महागृहस्थी शौनक अङ्गिरा ऋषी की सेवा में उपस्थित होकर कहते हैं, 'हे भगवान्! किस वस्तु के ज्ञात होने पर संसार की सभी वस्तुऐं ज्ञात हो जाती हैं।'

शौनक वास्तविक रूप से महान् दार्शनिक था क्योंकि उसके हृदय में उस महान् तत्व के खोजने की आकांक्षा हुई जिसके जानने पर सर्व कुछ जाना जा सकता है। संसार की भिन्न-भिन्न घटनाओं, भिन्न-भिन्न वस्तुओं और भिन्न-भिन्न दृश्यों में यह समझना कि यह सब अलग-अलग नहीं हैं किन्तु परस्पर सम्बद्ध हैं, कोई एक विशेष नियम है जो इन सब में ओतप्रोत है और जिसके जानने से ही ये वस्तुएँ समझ में आ सकती हैं, दर्शन-शास्त्र की प्रथम श्रेणी है। अंगरेज़ी में इस जगत् को यूनीवर्स (universe) कहते हैं। यूनी शब्द एक का वाचक है। इसलिये यूनीवर्स का शाब्दिक अर्थ होगा ऐक्य (oneness) जगत् बहुत होते हुए भी एक है। देखने में जो यह यूनीवर्स (universe) या ऐक्य नहीं किन्तु मल्टीवर्स (Multi-verse) अर्थात् बहुत्व प्रतीत होता है। परन्तु इस बहुत्व में ऐक्य छिपा हुआ है अर्थात् संसार की यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ असम्बद्ध नहीं है किन्तु सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार से जंज़ीर की कड़ियां बहुत सी हैं परन्तु वे सब मिलकर एक जंज़ीर बनाती हैं, इसी प्रकार संसार की भिन्न-भिन्न घटनाओं और दृश्यों को समझना चाहिये। जो पुरुष इस नानात्व में एकत्व को नहीं देखता वह दार्शनिक नहीं है। तभी उपनिषत् कहती है:—

'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृहद्० ४/४/१९)

अर्थात् यहां कोई नानात्व है ही नहीं। जो वस्तुएँ नाना हैं वह भी सम्बद्ध होकर एक होगई हैं। क्योंकि उनके भीतर एक यह ही सत्ता ओत-प्रोत है। इस सत्ता का पता लगाना ही दर्शन-शास्त्र का एक मात्र उद्देश्य है। तब शौनक ने अङ्गिरा से प्रश्न किया तो अङ्गिरा ने क्या उत्तर दिया ?

द्वे विद्ये वेदतव्ये इति ह स्य यद् ब्रह्मविदो वदन्ति
परा चैवा परा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो—
अथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिष
मिति। अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते ॥मुण्डक १।४-५

(अर्थः)—दो प्रकार की विद्यायें हैं जिनका ब्रह्मविद् अर्थात् दार्शनिकों ने वर्णन किया है, एक अपरा जो धर्म और अधर्म के साधन और तिनके फल को विषय करने वाली विद्या है। जिसके अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा छै अंग शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, आदि विद्यायें और शास्त्र हैं। दूसरी परा अर्थात् दर्शन शास्त्र हैं, जिनके द्वारा अक्षर (ब्रह्म) अर्थात् उस बड़े तत्व का ज्ञान होता है जो उन वस्तुओं में ओत-प्रोत है।

जितनी साइंसें अर्थात् विज्ञान-विभाग हैं वे सब अपने अपने क्षेत्र में वस्तुओं की अलग अलग जांच करते हैं। रसायन एक विद्या है, गणित एक दूसरी विद्या है, व्याकरण एक तीसरी विद्या है। इन सब के क्षेत्र अलग २ हैं। यह संसार के दृश्यमान् पदार्थों की खोज करती हैं। यही अपरा विद्या के नाम से पुकारी गई हैं। परन्तु जहां अपरा विद्यायें कई हैं वहां परा विद्या एक है। वह दृश्यमान पदार्थों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखती। वह विद्याओं की विद्या है। यह उस नियम की खोज करती है जो अन्यान्य विद्याओं के भीतर गुप्त है, जिसके भीतर वे विद्यायें गुप्त हैं। इस नियम को अक्षर अर्थात् न नाश होने वाला बतलाया गया है। दृश्यमान पदार्थ नाश होते रहते हैं

इसके रूपों में परिवर्त्तन होता रहता है। परन्तु वह नियम जो इन दृश्यमान् पदार्थों को दृश्यपथ के भीतर लाता और फिर हटा ले जाता है नाशवान नहीं किन्तु अक्षर है। इसी को ब्रह्म (बड़ा) Great Principle या पुरुष (पुरि शेते इति Underlying Principle) कहा गया है। यह नियम क्या है? यह कहना कठिन है। अङ्गिरा ऋषि इसको स्पष्ट बता नहीं सकते। वह जानते हुए भी नहीं जानते और नहीं जानते हुए भी जानते हैं। वह केवल इतना ही कहते हैं:—

यत् तद् द्रेश्यम ग्राह्यम् गोत्रम वर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदि पाणिपादं नित्यम्।
विभुम् सर्वगतम् सुसूक्ष्मम् तद व्ययम् तद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः॥

अर्थः—वह तत्त्व देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता। वह इन्द्रियों से परे है। उसके आंख कान, हाथ, पैर नहीं हैं। परन्तु फिर भी यह नहीं कहते कि वह है ही नहीं। यदि वह न होता तो यह आंख, कान पैर, कैसे होते?

माला का धागा टूट जाय तो माला नहीं रह सकती। दाने अलग अलग बिखर जांयगे। उनके बिखरते ही माला का ही अभाव हो जायगा किन्तु दाने भी अपने अस्तित्व को खो बैठेंगे। यही हाल इस दृश्यमान् जगत् का है। यह अदृश्य अक्षर ही है जो दृश्य पदार्थों की सत्ता का आधार है। इसी की तो खोज करनी है।

छः शास्त्रों का बनना।

वेदों का उपनिषद् काल ही दर्शन शास्त्रों की उत्पत्ति का आदि काल है। अर्थात् सत्ययुग के आदि में मनुष्य सत्य, ब्रह्मचर्य, तप आदि के कारण दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, स्मरण-शक्ति वाले और धारण शक्ति वाले होने से दिव्य ज्ञानयुक्त होते थे। जब सत्ययुग जाने लगा तो ब्रह्मचर्य तप आदि के क्षीण होने से रज और तप की वृद्धि होकर मनुष्यों का तेज धारणा और स्मृति क्षीण होने लगी। भविष्यत के जानने वाले ऋषियों ने मनुष्यों को अधःपतन के बचाने के लिए ईश्वर, परलोग, जन्म-मरण आदि विषयों में अनेक तर्क वितर्क किये, कुछ समय पश्चात् यही बातें दर्शन शास्त्रों के बीजरूप में परिणित हुई। दर्शन ६ हैं और उनके नाम ये हैं:—यथा, (१) सांख्य, (२) वैशेषिक, (३) न्याय, (४) योगशास्त्र, (५) मीमांसा, और (६) वेदान्त।

इन दर्शनों में कौन पहिला और कौन पिछला है, इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। बहुतों के मत में सांख्य दर्शन सबसे पुराना है।

१—सांख्य दर्शन।

इस दर्शन के आविष्कर्त्ता महर्षि कपिल जी हैं। वेद में भी इनका उल्लेख पाया जाता है। श्री मद्भागवत् पुराण में लिखा है कि महर्षि कपिल आदि ज्ञानी थे। सांख्य-शास्त्र में प्रकृति पुरुष का वर्णन और प्रकृत्ति के विकारों की संख्या महतत्त्वादिकों के आविर्भाव होने का क्रम कथन किया और प्रकृति के पुरुषों के ज्ञान द्वारा दुःखों से मुक्त होने का उपाय बतलाया। उन्होंने सिद्ध किया कि जितना जगत् है इसका उपादान कारण प्रकृति है परन्तु प्रकृति जड़ है और दुःख देने वाली है, अतएव उसके कार्य-जगत् से जितनी प्रार्थना की जावेगी कुछ भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए प्रकृति पुरुष का विवेक करने वाला सांख्य शास्त्र बतलाया और अच्छे प्रकार से इस विषय को सिद्ध किया। यह मत पुरुष-प्रकृति प्रधान है।

२—वैशेषिक-दर्शन

सांख्य के पश्चात् वैशेषिक-दर्शन बना। प्रकृति के महतत्त्वादि विकारों के उत्पन्न हुए पंच महाभूतों में एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है और उनमें क्या क्या विशेषतायें हैं, पुरुष के मन आदि से इनका क्या सम्बन्ध है, इन सब विशेषताओं के ज्ञान को कणाद ऋषि ने अपने वैशेषिक शास्त्र में कह डाला। वैशेषिक दर्शन में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ही निःश्रेयस कहलाती है। यह मत परमाणु प्रधान है।

३—न्याय शास्त्र

इसके अनन्तर सांख्य में और वैशेषिक में कहे हुए विषयों को किस प्रमाण से, किस प्रकार किस विकास क्रम से शुद्ध किया जाय इसको मुख्य रखते हुए गौतम जी ने प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्णन करते हुए आत्मा मन कर्म, जन्म, मरण आदि विषयों के ज्ञान को स्पष्ट किया और "प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः" को सिद्ध करते हुए मनुष्य के कर्माधीन सुख दुःख और 'कर्म निमित्तं जन्म' यह सब 'न्यायदर्शन' में कह डाले। न्यायदर्शन के मत में दुःख का नाश एक मात्र उपाय 'तत्त्व-ज्ञान' है और जीव को तत्त्वज्ञान का उपदेश देना ही न्यायदर्शन का उद्देश्य है।

पर तत्त्वज्ञान से अभिप्राय न्याय-दर्शन का १६ पदार्थों के ज्ञान से है और वे १६ पदार्थ उनके मत में ये हैं:—

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डावाद, १३. हेत्वाभास, १४. छल १५. जाति, और १६. निग्रहस्थान; इन १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान स्वतः और प्रमाण आदि का तत्त्वज्ञान परतः अपवर्ग का है। दुःखों के अत्यन्त नाश को न्याय में अपवर्ग कहते हैं। यह मत द्रव्य-प्रधान है।

४— योग-शास्त्र

परन्तु यह सब कुछ ज्ञान हो जाने पर भी आत्मा को किस प्रयोग से बहुत ऊँचा बनाया जाय और मनुष्य में किस प्रकार अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ आ सकती हैं तथा मनुष्य कैसे परमात्मा में लीन हो सकता है। इस विषय को लेकर भगवान् पतंजलिजी ने योग-शास्त्र का कथन किया और "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदात्मास्वरे वस्थानम्। अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" आदि कह दिया। परन्तु यदि कोई लक्ष्य सन्मुख न रहने से अभ्यास में कठिनाई पड़े तो दूसरा उपाय "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" भी कह डाला। अर्थात् एक उपाय यह भी है कि यदि लक्ष्य रहित अभ्यास से चित् को न टिका सके तो परमेश्वर में चित्त लगाओ। पातञ्जलि ऋषि ने कहा कि संसार में जितने दुःख होते हैं सब चित्त की वृत्तियों के विक्षेप और प्रकृति के पदार्थों को मन जान कर आगे चल देता है जिससे चित्त की वृत्ति एकान्त नहीं होती और चित्त के एकान्त न होने से सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतएव उन्होंने कहा कि योग करके चित्त की वृत्तियों को रोकना चाहिये क्यों कि संसार के समीप पदार्थों से वृत्ति का अनुरोध नहीं हो सकता। अतः अनन्त परमेश्वर के साथ अथवा चैतन्य जीवात्मा का परमात्मा के साथ योग होना चाहिये। इसलिये उन्होंने आठ अङ्ग नियत किये। यथाः—

१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। इस प्रकार से पातंजलि मुनि ने अविद्या को दूर करके जड़ से प्रीति हटाकर चैतन्य परमात्मा से योग करके सुख की प्राप्ति का निश्चय करा दिया। यह मत ईश्वर प्रधान है।

५— मीमांसा-शास्त्र

अब ईश्वर में कैसे मन लगावें और उस सर्व - व्यापक ईश्वर का पूजन, उसकी सृष्टि की शुद्ध सेवा के अतिरिक्त कैसे करें, उसको जैमिनी महर्षि ने मीमांसा शास्त्र में यज्ञ, पूजा आदि कर्म काण्ड के विधान से स्पष्ट करके कह डाला। इनका विचार यह था कि योग से चित्त के रोकने में जो बुरे कर्मों से संसार में पैदा हुए अविद्या के संस्कार विघ्नकारक होंगे उनसे कभी भी मन की वृत्तियाँ रुक न सकेंगी अतएव पहिले मन के मल-रूपी दोष दूर करने के लिये शुभ नैमित्तिक कर्मों को करना चाहिये जिससे चित्त में दोष का लेश न रहे और मन का प्रवाह जो दुष्कर्मों की ओर लग रहा है हट करके अच्छे कर्मों की ओर लग जावे, फिर उस मल दोष के दूर होने के पश्चात् विक्षेप के दूर करने के साधन उपासना योग से काम चल जायगा। उन्होंने व्रत, दान, इत्यादि, बहुत से कर्म, मल, दोष दूर करने के लिये बतलाये और उनकी विधि अपने 'मीमांसा' शास्त्र में अच्छे प्रकार से प्रकाशित कर दी। यह मत कर्म प्रधान है।

६— वेदान्त-शास्त्र

इन बातों के हो जाने के अनन्तर व्यास मुनि हुए जिन्होंने वेदान्त शास्त्र बनाया। इनका विचार यह था कि प्रमाण का भी ज्ञान हो चुका और प्रमेय भी जान लिया और जड़-चेतन अर्थात् प्रकृति-पुरुष को भी पृथक् २ समझ लिया और योग करने का विचार भी ठीक है और योग में जो विघ्न पड़ेगा उसके रोकने को मीमांसा शास्त्र के कर्म भी याद होगये परन्तु जिस चेतन के साथ योग करना है उसको तो वास्तव में जाना ही नहीं, अतएव उन्होंने वेदान्त-शास्त्र बनाया, जिसमें केवल ब्रह्म के यथार्थ रूप का ज्ञान हो जावे, जिससे इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है। इस कारण सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र में ब्रह्मज्ञान बतलाया।

मतलब, आत्म-ज्ञान का परम सुख प्राप्त होकर निर्वैर सम दृष्टि, परम शान्ति प्राप्त होने से मनुष्य सब झंझटों से विमुक्त कैसे हो सकता है यह सब व्यासजी ने 'वेदान्त शास्त्र' में कथन कर दिया। इसीलिये कहा है कि सब वेदों का अन्त (सार) वेदान्त-शास्त्र है। इसमें प्रवेश कराने के लिये और सब शास्त्र तथा साधन नियत हुए हैं, यह अर्थ योगवाशिष्ठ आदि के वाक्यों से स्पष्ट होता है।

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जंबूका विपने यथा।
न गर्जति महा शक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थः—तब तक और शास्त्ररूप जन्तु संसार रूप बन में शब्द करते हैं, जब तक वेदान्त रूप प्रबल (केसरी) सिंह गर्जता नहीं। यह मत ब्रह्म प्रधान है।

इस प्रकार 'सांख्य शास्त्र' कपिल महर्षि ने बनाया। 'वैशेषिक' शास्त्र कणादि मुनि ने रचा, 'न्याय-शास्त्र' गौतम ऋषि ने बनाया, योग-शास्त्र' पातंजलि ने निर्माण किया, 'मीमांसा - शास्त्र' जैमिनी ने और 'वेदान्त-शास्त्र' व्यास जी ने बनाया।

इस प्रकार यद्यपि यह सभी दर्शन मान्य हैं तो भी इन सब में ब्रह्म दर्शन मुख्य है। इसका कारण यह है कि इस दर्शन का मुख्य विषय साक्षात् आत्मस्वरूप-निरूपण ही है। और आत्मज्ञान के बिना मनुष्य और किसी उपाय से सब झंझटों से विमुक्त नहीं हो सकता। सच्छास्त्र की स्तुति और असच्छास्त्र की निन्दा करते हुए महर्षि वशिष्ट जी कहते हैं कि असच्छास्त्र के विचार से निवृत्त होकर सच्छास्त्र के विचार से शान्ति ऐसे प्राप्त होती है जैसे शौर्य, वीर्य और अस्त्र-शस्त्र आदि सब प्रकार की रण-सामग्री से युक्त सेना वाले राजा को रण में जय लक्ष्मी प्राप्त होती है। मनरूपी नदी दोनों ओर बह सकती है, विवेक की ओर भी, अविवेक की ओर भी। जिस ओर यत्न करके इसके बहाव को झुका दिया जाता है वह उसी ओर बह निकलती है। (अध्यात्म) शास्त्र को छोड़ कर अन्य किसी शास्त्र से न किसी का कल्याण हुआ है और न होना है। इस लिये आत्म-बोध के लिये इस (अध्यात्म) शास्त्र का ही विचार करना उचित है (१)। इन उपरोक्त पंक्तियों में सच्छास्त्र से अध्यात्म शास्त्र ही अभिप्रेत है, यह बात उन्होंने स्वयं आगे चलकर स्पष्ट करदी है। देखिये वह क्या कहते हैं—'हे साधो! संसार-बंधनरूप विशूचिका रोग भयानक है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त इसका कोई उपचार नहीं है (२)।

वेद भगवान् भी अध्यात्म विज्ञान की परमावश्यक के अभिप्राय से ही बार बार कहता है कि 'स्वाध्याय (वेद) का अध्ययन करना चाहिये (३)'। 'स्वाध्याय के विषय में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये (४)'। 'स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात वेद का पढ़ना और अधिकारी पुरुषों को पढ़ाना यह एक परमावश्यक धर्म है जिसमें प्रमाद करने से पुरुष पाप का भागी बनता है (५)'। यहाँ पर यह कहना—कि स्वाध्याय शब्द का अर्थ केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदरूप वेदत्रयी ही है और वेदत्रयी का मुख्य

(१) यो० वा० ६/२/२३, २५ (२) यो० वा ६/२/१०३/२८, (३) तै० आ० २/१५/७, (४) तै० उ० १/११/१, (५) तै० उ० १/११/१।

उपयोग कर्म के अनुष्ठान में है न अध्यात्म चिन्तन में। इसलिए स्वाध्याय शब्द अध्यात्म चिन्तन परक नहीं हो सकता—मूल में निस्सार है। कारण यह है कि स्वाध्याय शब्द के अर्थ के संकोच में कोई प्रमाण नहीं है। 'स्वाध्याय' और 'वेद' यह दोनों शब्द पर्याय हैं और 'वेद' जैसे संहिता भाग का वाचक है वैसे ही ब्राह्मण भाग का भी वाचक है। आपस्तम्ब महर्षि कह गये हैं कि 'वेद शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का वाचक है'। इसलिये उसका पर्याय स्वाध्याय शब्द भी दोनों का ही वाचक है। इस प्रकार परम पुरुषार्थ मोक्ष का निरूपण करने वाली ब्रह्मणान्तः पाती उपनिषद भी वेद के अन्तः पाती ही हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी बात है जो ध्यान में रखने योग्य है। आस्तिक पुरुषों की दृष्टि में वेद से बढ़ कर और कोई भी शास्त्र से परम श्रेय का निरूपण नहीं हो सकता। सम्पूर्ण वेद का मुख्य विषय परम श्रेय का निरूपण ही है। इसलिये वेद का स्थल जहाँ पर साक्षात् रूप से इस विषय का निरूपण आया है अलग छांट कर यह कह देना कि वेद का मुख्य उपयोग कर्म के अनुष्ठान में है बिलकुल असंगत और अन्याय है। अतः स्वाध्याय के अध्ययन के विधान से यही तात्पर्य निकलता है कि पुरुष को आत्म-कल्याण के निमित्त कदापि प्रमाद नहीं होना चाहिये।

महर्षि याज्ञवल्क्य 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहते हैं कि 'यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, स्वाध्याय और कर्म इन सब से उत्कृष्ट धर्म, जिस किसी भी उपाय से आत्मज्ञान की प्राप्ति ही है'। (१—८)। यहाँ पर उन्होंने यज्ञादिकों को उपाय और आत्मज्ञान को उपेय कथन किया है। इससे स्पष्ट है कि उनके मन में भी आत्म-ज्ञान का निरूपक शास्त्र ही सर्वोत्कृष्ट है।

अमृतनादोपनिषद् के पहिले मन्त्र में लिखा है कि 'ऋग्वेदादि सम्पूर्ण शास्त्रों को पढ़ कर उनका बार बार अभ्यास करे और जब नित्य निरतिशय ब्रह्म का विशेष करके ज्ञान प्राप्त हो जावे तो विद्वान् पुरुष उनको ऐसे त्याग देवे, जैसे कोई पुरुष प्रकाश साध्य कर्म को करके पश्चात् प्रकाश के साधन भूत प्रदोषादि को त्याग देता है।' अमृत (ब्रह्म) विन्दु उपनिषत् में कहा है कि 'विद्वान पुरुष ग्रन्थों के अभ्यास से ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न हुआ उन्हें इस प्रकार त्याग देवे जैसे धान्य का अर्थी धान्य को निकाल कर भूसे को।' (१८) वृहदारण्यकोपनिषत् में लिखा है कि 'विद्वान पुरुष उस (आत्मा) को जान कर फिर ग्रन्थादिकों के झमेलों में न पड़े, क्योंकि यह केवल वाणी को व्यर्थ श्रम देना ही है इसका फल कुछ नहीं।' (४/४/२१)। विद्वान पुरुषों का भी कथन है कि 'यदि परम तत्व का ज्ञान हो गया तो बस फिर उसके अनन्तर शास्त्र का कुछ प्रयोजन रहता ही नहीं।' ब्रह्मज्ञान के उत्तर सर्व शास्त्र निष्फल हैं इस बात के समर्थ करने वाले इन सब वचनों का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मज्ञान ही सर्व शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस से इन सब का यही अभिप्राय प्रगट होता है कि साक्षात् ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र ही सब शास्त्रों का शिरोमणि मुकुट है।

ब्रह्मदर्शन साक्षात् ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करता है और साथ ही युक्ति प्रमाणादिकों के द्वारा यह भी निश्चय करता है कि सम्पूर्ण वेद का परम तात्पर्य भी इसके निरूपण में ही है। इस कारण ब्रह्मदर्शन के सर्व शास्त्र शिरोमणि में किसी प्रकार कोई भी संशय नहीं हो सकता।

वेदान्त दर्शन का रहस्य ।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त होजाने पर जीवनमुक्त पुरुष के संचित कर्म का विनाश और क्रियमाण कर्म का असंस्पर्श होता है। जिस प्रकार कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार तत्वज्ञानी को भी कर्म स्पर्श नहीं करते । वह पुण्य-पाप दोनों से अलग होता है। केवल प्रारब्ध-कर्म शेष रह जाते हैं, जिनको तत्वज्ञानी जीवनमुक्त लोकदृष्टि में भोग करके क्षय कर देते हैं। ब्रह्मसूत्र में कहा है:—

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्यऽथ सम्पत्स्ये ।'

अर्थात् जब तक प्रारब्ध-कर्म क्षय नहीं होते तब तक जीवन्मुक्त का शरीर रहता है, इसके पश्चात् जीवन्मुक्त शरीर को त्याग कर ब्रह्म में मिल जाते हैं। वास्तव में तो जीवनमुक्त होते ही उसके सारे कर्म संस्कारसहित नष्ट होजाते हैं परन्तु लोकदृष्टि में प्रारब्ध रहता है, ऐसा माना जाता है:—

'विदुष ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धिः, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ।'

तत्वज्ञानी को ऐकान्तिकी कैवल्यसिद्धि होती है, वह ब्रह्म को जानकर ब्रह्म हो जाता है । जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से मिलकर अपने प्रथक् नाम-रूप का परित्याग कर देती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी महापुरुष नामरूपमय जीव भाव का परित्याग कर ब्रह्मानन्दसागर में अपने आत्मा को विलीन कर देते हैं। यही वेदान्त-शास्त्रोक्त मुक्ति है ।

'न तस्य प्राणा उत्क्रान्ति अत्रैव समलीयत'

ब्रह्मज्ञानी का प्राण उत्क्रमण नहीं करता, वह यहाँ ही विलीन होजाता है। वेदान्त-दर्शन का यही रहस्य है।

आत्म विस्मरण

अपुनयो आपुन ही विसरयो ।
जैसे स्वान कांच-मन्दिर में, भ्रमि-भ्रमि भूसि मरयो ॥
हरि सौरभ मृगनाभि बसतु है, द्रुम तृन सूंघि मरयो ।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो, तसकरि अरि पकरयो ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखिकैं, आपुन कूप परयो ।
ऐसे गज लखि फठिक-सिला में, दसननि जाय अरयो ।
मरकट मूठि छांडि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिरयो ।
सूरदास नलिनी को सुवटा, कहि कौने जकरयो ॥

—सूरदासजी

वेदान्त का अष्टांग योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—ये आठ ही अंग मनीषि लोग योग के बताते हैं।

अब तुम्हारी इन्द्रियों की टोली विषयारण्य में पर्यटन के लिए चल पड़े तो तुरन्त इस भावना से उसे रोक लो कि हे मेरी इन्द्रियो ! तुम कहाँ जा रही हो ? यह तो सब कुछ ब्रह्म ही है। जिस विषय को तुम मुझे ला कर दोगी वह भी तो मेरा आत्मा ही है। अज्ञान काल का सा अब तुम्हारा जादू मुझ पर चलने वाला नहीं है, इसलिए तुम शान्त हो जाओ। तुम्हारे दिये हुए सुखाभासों किंवा अशान्त उत्तेजक सुखों से मैं अब ऊब गया हूँ। अब तुम मुझे शान्त सुख का उपभोग ले लेने दो। जब इन्द्रिय-रूपी उन्मत्त घोड़ों को इस उद्बोधन-रूपी रस्सी से दृढ़ता-पूर्वक बांध कर रोक दिया जाय तो इसी को 'यम' कहते हैं। योगार्थी लोगों को ऐसा यम का अभ्यास निरन्तर करना चाहिये।

आत्म-सजातीय विचारों की तो एक ब्रह्म सागर गामिनी अनवच्छिन्न गङ्गा ही बहने लगे तथा विजातीय विषय नदी के भरने को सर्वथा सुखा दिया जाय तो इसी को 'नियम' कहते हैं। उस नियम की बांह पकड़ कर ही बुद्धिमान् लोग अपने विस्मृत परानन्द-पर्वत पर चढ़ जाते हैं।

जिसमें दिन-रात सुख-पूर्वक ब्रह्म चिन्तन चलता रहे, उसी को 'आसन' समझो। सुख-भङ्ग करने वाली क्रिया को आसन मत समझो।

संसार के चित्त आदि सम्पूर्ण पदार्थों में ब्रह्मत्व की दृढ़-भावना करते-करते जब सब वृत्तियों का निरोध हो जाय तो यही 'प्राणायाम' कहलाता है।

दृश्य प्रपंच का निषेध कर देना कि जगत् नाम का कोई पदार्थ ही यहां नहीं है—'रेचक प्राणायाम' कहाता है। मैं ब्रह्म ही हूँ। मुझे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। यह सब कुछ मेरा आत्मा ही है। मैं इस सकल जगत् में व्याप्त हो रहा हूँ। मैं तो एक पूर्ण तत्व हूँ; ऐसा वृहत् तत्व मैं, भला किसे और क्यों चाहूँ ? ऐसी पूर्णता का आविर्भाव जब किसी में हो जाय तो इसी को 'पूरक प्राणायाम' कहते हैं।

जब कोई साधक उक्त प्रकार के पूर्णता के सिंहासन पर बैठना सीख जाय तथा सदा उसी पर बैठा रहे—उस ब्रह्माकार वृत्ति को कभी भी खण्डित न होने दे तो इसी को 'कुम्भक प्राणायाम' कहते हैं। परन्तु इस प्राणायाम को केवल ज्ञानी लोग ही कर सकते हैं। अज्ञानी मूर्ख लोग तो लुहार की धोंकनी के समान प्राण को व्यर्थ ही तंग किया करते हैं। वे प्राणायाम के मर्म को नहीं जानते।

जिन कान्तादि प्रिय विषयों की ओर को साधक का मन चले, उनमें भी लय-चिन्तन की प्रक्रिया से अपने ही व्यापक अखण्ड आत्मा के स्वरूप का दर्शन करके यह कान्त-शरीर मांस का पिण्ड है जो पृथ्वी से बना है। पृथ्वी जल से बनी है—जल अग्नि से—अग्नि वायु से—वायु आकाश से—

आकाश तो साक्षात् मुझ से ही उत्पन्न हुआ है। यों अन्त में यह कान्ता-शरीर मेरा अपना आत्मा ही है फिर मैं इसे कैसे चाहूँ ? तथा-चाह कर इसका क्या करूं ? यों मन रूपी व्याघ्र के मुख से विषयरूपी मांस को छुड़ाकर अपने विषय-विक्षिप्त मन को फिर चित्त सागर में डुबो देना, किंवा विषय-दर्शन के लिये उसे फिर कभी भी शिर न उठाने देना, अथवा विषयरूपी आखेट न मिलने से मनरूपी व्याघ्र का रीते हाथों चित्त-रूपी गुफा में ही जा छिपना 'प्रत्याहार' कहाता है। मुमुक्षु लोगों को ऐसे प्रत्याहार का अभ्यास सदा ही करना चाहिये।

जिन विषयों की ओर साधक का मन चले, उन विषयों के नाम रूप के भीतर छिपे हुए ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप का ही दर्शन करना और मन को उलटे पैरों लौटा लेना ही सर्वोत्तम 'धारणा' कहाती है।

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस सद्-ब्रह्माकार वृत्ति की सहायता लेते-लेते अन्त में जब ऐसी आजाय कि किसी वृत्ति की सहायता के बिना निराधार ही शान्त तथा विस्तीर्ण कोमल ब्रह्म-शय्या पर बैठा जा सके, जब ब्राह्मी स्थिति से उतर कर विषय-दर्शन की चाह न उत्पन्न होती हो, जब संकल्प सर्वथा शान्त हो गये हों, तब ऐसी अद्भुत स्थिति-जिसके होने पर एक शान्त तथा स्पृहणीय पराधीनता का उदय हो जाता है—'ध्यान' शब्द से कही जाती है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर क्षुद्रानन्दों की ओर से विमुखता होती और परमानन्द का उदय हो जाता है।

ध्यान करते २ वृत्ति को निर्विकार रहने का अभ्यास पड़ जाता है। इस निर्विकार वृत्ति के पक जाने पर उसको ब्रह्माकार करने का अभ्यास करना चाहिये कि यह आत्मा ब्रह्म ही है। इस वृत्ति को कभी भी च्युत न होने देना तथा अन्त में जब कि यह ब्रह्माकार वृत्ति भी दृढ़ हो गई हो तो इस ब्रह्माकार वृत्ति सहित सभी वृत्तियों को सम्पूर्णरूप से सदा के लिये इस प्रकार भूल जाना—मानो किसी गहरी निर्वात गुफा में कोई निष्फल अखण्ड दीपक ही जल रहा हो, जिसे न तो अपने जलने का ही ज्ञान हो और न जिसके सामने कोई प्रकाशित पदार्थ ही हो 'उत्तम समाधि' कहाती है। कोई २ इसको ध्यान-नाम से भी कहते हैं। क्योंकि यह ध्यान की ही तो एक उच्च अवस्था है।

(१) आत्मा का विचार न रहना, (२) आत्म-चिन्तन में आलस्य करना, (३) भोगों की इच्छा का प्रबल हो उठना, (४) समाधि करते हुए शरीर-यन्त्र के अद्भुत परिवर्तनों को देखकर अथवा अन्य किसी प्रकार से कोई भय के कारण जिस साधक के अनुभव में आते हों उससे भयभीत हो उठना, (५) तमोगुण के प्रभाव में आजाना, (६) चित्त का विषयों में विक्षिप्त हो जाना, (७) प्रकाश का दर्शन होने लगना, (८) कभी ब्रह्माकार वृत्ति को भूलकर शून्यमनस्क हो जाना इत्यादि और भी अनेक प्रकार के विघ्न समाधि करते समय बलात् उपस्थित हो जाते हैं। उन सब विघ्नों को दूर कर देना चाहिये। हे प्रिय शिष्य ! मेरी शुभ सम्मति मानो तो ब्रह्माभ्यासियों के मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को दूर करके सावधान होकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रख कर, समाधि भावना में तत्पर होकर तुम भी साक्षात् ब्रह्म ही हो जाओ।

(कल्याण से)

श्री रामावतारजी शास्त्री
(सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह से)

यह ब्रह्म-दर्शन भी अन्य दर्शनों की भांति सूत्ररूप है। जिस प्रकार रूई से तैयार किये हुए थोड़े से सूत्र में रूई की महान् राशि विद्यमान् रहती है, इसी प्रकार इन छोटे छोटे सूत्रों में भी महान् अर्थ सूत्रकर्त्ता ने भर रक्खा है। इस पर भी विशेषता यह है कि भगवान् व्यास ने सम्पूर्ण ब्रह्म-दर्शन के सार को पहिले चार सूत्रों में उपक्षिप्त कर दिया है। यही कारण है कि जब तक पहिले चार सूत्रों का भावार्थ हृदय में भली प्रकार न बैठ जावे तब तक शेष दर्शन का भाव समझ में नहीं आता और जब इन चार सूत्रों के आशय को भली प्रकार हृद्गत कर लिया जावे तो फिर अवशिष्ट दर्शन के समझने में कोई कठिनाई नहीं रहती। इसी लिये भगवान् शंकर के अवतारभूत श्रीशंकराचार्य से लेकर जितने भी इस ग्रन्थ के या इस ग्रन्थ के भाष्यादिकों के व्याख्यान हुए हैं उन सब ने जितना इन चार सूत्रों के भावार्थ को खोलने का यत्न किया है किसी भी अन्य चतुः सूत्री के व्याख्यान में उतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं समझी।

वेदान्त निम्न-लिखित सिद्धान्त प्रतिपादन करता है:—

१. जगत् मिथ्या और कल्पित पदार्थ है और ब्रह्म ही सत्य वस्तु है।

२. जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, यद्यपि देखने में इतर दिखाई देता है।

३. ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण, निर्विशेष, निरुपाधि और अकथनीय है और बाह्य वा व्यावहारिक दृष्टि से सगुण, सविशेष और सोपाधिक कहा जाता है।

४. ब्रह्म प्राप्ति का सीधा व मुख्य उपाय ज्ञान, निर्गुण उपासना, अथवा परा भक्ति है। और गौण उपाय सगुण उपासना, अपरा भक्ति व विहित कर्म हैं, जो यदि अविधि पूर्वक किये जाँय तो उस प्राप्ति से विमुख ही करा देते हैं।

५. निर्गुण उपासना, परा भक्ति वा ज्ञान का फल तो कैवल्य मुक्ति व परमानन्द की प्राप्ति है। और सगुण उपासना, अपरा भक्ति व विहित कर्म का फल क्रम मुक्ति है। जिससे कल्पान्त में पुनःजन्म लेना पड़ता है। और यदि कोई कर्म या पुरुषार्थ अच्छा किया हुआ हो तो वह ब्रह्मलोक में ही तत्वज्ञान पाकर कल्प पाकर कल्प के अन्त में ब्रह्म के साथ-साथ ब्रह्म में विलीन होकर कैवल्य मुक्ति लाभ कर लेता है।

ब्रह्मविद्या (ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान) सभी आश्रमों में हो सकता है। महर्षि वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, व्यास, जनक, अश्वपति और रैक्व आदि महापुरुषों ने ग्रहस्थाश्रम में रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त किया था। पूर्व काल में पूर्ण गृहस्थी प्रवाहण राजा के पास नम्रतापूर्वक जाकर के गौतम ब्राह्मण (न्याय दर्शन के रचयिता) ने ब्रह्मविद्या सीखी थी। इसी प्रकार रैक्व के पास नम्रतापूर्वक जाय करके पूर्ण ग्रहस्थी राजा जनश्रुति ने ब्रह्म-विद्या पाई। (छा० उ०)।

प्रश्न——वेदान्त कहता है कि जगत् मिथ्या है तो फिर अज्ञानियों को यह जगत् सत्य क्यों भासता है?

उत्तर——अविवेकियों को इस जगत् के सत्य भासने में जो पाँच प्रकार का मिथ्या भ्रम हो रहा है वह जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी ने यह दर्शाया है कि:—

१. जीवात्मा, परमेश्वर से भिन्न है।

२. आत्मा में कर्तापन जो प्रतीत होता है वह वास्तव में सत्य ही है।

३. तीनों शरीरों में मिला हुआ आत्मा संगवाला है।

४. जगत् का कारण होने से ब्रह्म को विकार भाव है।

५. कारण से भिन्न हुए प्रपंच (जगत्) की भी सत्यता है।

इस पाँच प्रकार के भ्रम को युक्तिपूर्वक निवृत्त करने का उपाय भी उन्होंने यह दर्शाया है कि:—

१. सूर्य बिम्ब से जल में गिरा हुआ प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं है, इस दृष्टान्त से भेद भ्रम दूर करना चाहिये।

२. स्फटिक में नाना प्रकार के नील पीतादि रङ्ग भासते हैं, पर वे रङ्ग उसके समीप की रखी हुई वस्तु के होते हैं इस कारण स्फटिक में कर्तृत्व नहीं है इस दृष्टान्त से कर्तृत्व भ्रम दूर करना चाहिये।

३. घट के आकाश में महाकाश बँधा हुआ नहीं। इस दृष्टान्त से संगत्व का भ्रम दूर करना चाहिये।

४. जैसे सूर्य और सूर्यकान्त (आतिशी) शीशे के योग से अग्नि उत्पन्न होता है पर यहाँ सूर्य जो कारण है वह विकार रहित है; विकारवान तो शीशा ही है, ऐसी माया ही विकार वाली है। इस दृष्टान्त से विकारित्व भ्रम दूर करना चाहिये।

५. सुवर्ण के कुण्डल और लोहे की तलवार, सुवर्ण और लोहे से भिन्न नहीं है। इस दृष्टान्त द्वारा कारण से भिन्न प्रतीत होते हुए जगत् का सत्यत्व भ्रम दूर करना चाहिये। क्योंकि जैसे सीपी में चांदी, रस्सी में सर्प, स्थाणु (स्तम्भ) में पुरुष, आकाश में नीलवर्ण, मृगतृष्णा में जल, ये भ्रममात्र मिथ्या भासते हैं, ऐसे ही जगत् भी भ्रान्तिमात्र मिथ्या ही है।

ज्ञान कुल्हाड़ा।

(१) "नेह नानास्ति किंचन"। (ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है)।

(२) "तरति शोक मात्मवित्"। (आत्मा के जानने वाला शोक रूपी सागर से तर जाता है)।

(३) "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म"। (ब्रह्म एक ही है, अद्वैतमात्र है, उसका कोई दूसरा नहीं है)।

(४) "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति"। (ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है)।

(५) "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति"। (मुक्ति ज्ञान से ही होती है)।

(६) "वासुदेवः सर्वमिति"। (दृश्यमात्र वासुदेव है)।

(७) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। (यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है)।

(८) "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति"। (एक ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है)।

(९) "एकोऽहं बहुस्यां"। (मैं एक ही बहुत हो गया हूँ)।

(१०) "द्वितीया द्वै भयं भवति"। (द्वैत में ही भय है)।

(११) "असंगोऽह्यं पुरुषः"। (वह पुरुष सब संगों से रहित है)।

(१२) "देहो देवालयः प्रोक्तः सजीवः केवलः शिवः।
त्यजेत् अज्ञान निर्माल्यं, सोऽहं भावेन पूजयेत्" ॥

अर्थः—यदि तुम अज्ञान छोड़ दोगे तो तुम्हारी आत्मा शिव, देह मन्दिर हो जावेगा, तुम्हारी पूजा सोऽहं सोऽहं होगी।

ये उपुर्युक्त वाक्य कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। ये आत्म चिन्तन में बड़े उपयोगी हैं। इसी प्रकार निम्न लिखित महावाक्य भी कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। ये ज्ञान प्राप्ति में अत्योपयोगी हैं।

महा-वाक्य

[१]

"ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म ॐ"

(ऋग्वेद एत० ३०)

तू प्रज्ञा (स्वरूप चैतन्य) ब्रह्म है।

ॐकारः सर्व वेदानां, सारतत्व प्रकाशकः।
तेन चित्त समाधानं, मुमुक्षुणां विधीयते ॥

[२]

"ॐ तत्वमसि ॐ"

(सामवेद छा० प्र० ६)

सो ब्रह्म तू है अथवा तू ब्रह्म है।

सच्चिदानन्दरूपाय विन्दु नादान्त रात्मने।
आदिमध्यान्त शून्याय, गुरूणां गुरवे नमः ॥

[३]

"ॐ अयमात्मा ब्रह्म ॐ"

यह आत्म ब्रह्म है।

सकारंच हकारंच, लोपयित्वा प्रयोजयेत्।
सन्धिवै पूर्वरूपाख्यं, ततोसौ प्रणवो भवेत् ॥

[४]

"ॐ अहं ब्रह्मास्मि ॐ

मैं ब्रह्म हूँ।

एक विंशति साहस्रं षट्शतं श्वांससंख्यया।
सोहमित्युच्चरत्यात्मा, मत्रं प्रत्यहमायुषे ॥

विवरणः—उपरोक्त चार महावाक्य चारों वेदों के हैं। और इन वाक्यों का आपस में कुछ भी भेद नहीं; क्योंकि जब गुरु शिष्य को उपदेश करता है कि (तत्वमसि) अर्थात् सो तू है। इतना वाक्य शिष्य को श्रवण होते ही शिष्य को ऐसा बोध होता है कि (अहं ब्रह्मास्मि) अर्थात् सो ब्रह्म मैं हूँ। किन्तु इससे शिष्य को विपरीत बोध नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि) आदि महावाक्यों में कुछ भी भेद नहीं। केवल इतना ही भेद है कि शिष्य को उपदेश करने के वास्ते तो "तत्त्वमसि" वाक्य है और अपने विचार ने के वास्ते "अहं ब्रह्मास्मि" महावाक्य है। परन्तु दोनों के अर्थ में कुछ भी भेद नहीं।

चेतन हो!

(१) मांसाहारी— आत्म-ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता, उसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।
(२) मादक पदार्थका व्यसनी— कोई मादक पदार्थ का व्यसनी ध्यान नहीं कर सकता, ध्यान बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान बिना मोक्ष नहीं मिलता।

सृष्टि की उत्पत्ति।

जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से उसी भाँति है जैसे मकड़ी के जाले की उत्पत्ति मकड़ी से। मकड़ी जाले का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। तन्तु को बनाती हुई निमित्त कारण है और तन्तुओं का उसके शरीर से उत्पन्न होना, उपादान-कारण है। ऐसे ही आवरण और विक्षेप नामक शक्तिओं द्वारा अज्ञानयुक्त चैतन्य अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्त-कारण है और अपनी उपाधियों की प्रधानता से उपादान कारण है।

उत्पत्ति–क्रम ।

प्रलय काल में माया के तीनों गुण, अर्थात् सत्व, रजः और तमः साम्यावस्था में रहते हैं। जब इनमें क्षोभ उत्पन्न होता है (वह चाहे ईश्वर की इच्छा से हो, ❀ चाहे जीवों के कर्मों की परिपक्वता की प्रेरणा से) तब इनकी साम्यावस्था दूर हो जाती है और ये गुण आपस में विषम भाव को प्राप्त होते हैं। इनके आपस में विषम होने से जब यह दशा हो जावे कि माया का कुछ भाग तमोगुण प्रधान हो जावे, तब अपनी विक्षेप—शक्ति के द्वारा पहले आकाश को उत्पन्न करता है। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होने लगती है, ये पञ्च-तत्व कहलाते हैं और इनके निज के गुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। प्रत्येक तत्त्व में एक गुण अपना है और शेष के गुण उन तत्त्वों के हैं, जो उसके पहले उत्पन्न हुए हैं। नीचे का लेख (नक्शा) देखोः—

तमोगुण–प्रधान विक्षेप–शक्तियुक्त माया।

	गुण
आकाश	शब्द,
वायु	स्पर्श, शब्द
तेज	रूप, स्पर्श, शब्द
जल	रस, रूप, स्पर्श, शब्द
पृथ्वी	गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द

जिन गुणों के नीचे रेखायें खिंची हैं, वे तत्त्वों के निज गुण हैं और शेष दूसरे तत्त्वों के, जो उनसे पहले उत्पन्न हुए थे। प्रत्येक तत्त्व में माया के सत्त्व, रजः और तम के अंश भी हैं। इन सब के सत्त्व-अंशों के मिलने से अन्तःकरण हुआ। जिसकी चार वृत्तियां हैं—

बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार।

अन्तःकरण की वृत्ति जो निश्चय करती है, वह बुद्धि है।

अन्तःकरण जिसमें संकल्प—विकल्प होते हैं, मन है।

अन्तःकरण अनुसन्धान और अभिमान युक्त है।

इन्हीं पञ्च भूतों के रजोगुण के अंशों से पाँच प्राण उत्पन्न हुए हैं। पाँचों प्राणों के नाम ये हैं।

❀ 'एको ऽहं बहुस्याम'।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ।

एक २ भूत के सत्त्वगुण अंश से एक २ ज्ञानेन्द्रिय बनी है जैसे आकाश के सत्त्वगुण अंश से श्रोत्र वायु के उसी अंश से त्वक् , तेज के उसी अंश से नेत्र, जल के उसी अंश से रसना और पृथ्वी के उसी अंश से घ्राण ।

एक २ भूत के रजोगुण अंश से एक-एक कर्मेन्द्रिय बनी है, जैसे आकाश के रजोगुण अंश से वाक्, वायु के रजोगुण अंश से पाणि, तेज के उसी रजोगुण अंश से पाद; जल के उसी अंश से उपस्थ और पृथ्वी के उसी अंश से गुदा ।

अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रिय और प्राण — ये सब मिल कर शूक्ष्म शरीर कहलाते हैं अर्थात् सूक्ष्म शरीर के १७ अवयव हैं; अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां; ५ कर्मेन्द्रियाँ; ५ प्राण ; ५ वायु, मन और बुद्धि

सूक्ष्म शरीर बनने के पीछे तत्वों का पञ्चीकरण हुआ , अर्थात् प्रत्येक तत्व में आधा तत्व अपना रहा और बाकी आधे में दूसरे तत्वों के आधे भागों के चतुर्थांश रहे । जैसे उदाहरण के लिये, एक आकाश-तत्व का ही पञ्चीकरण देखो ।

पञ्चीकरण आकाश तत्व

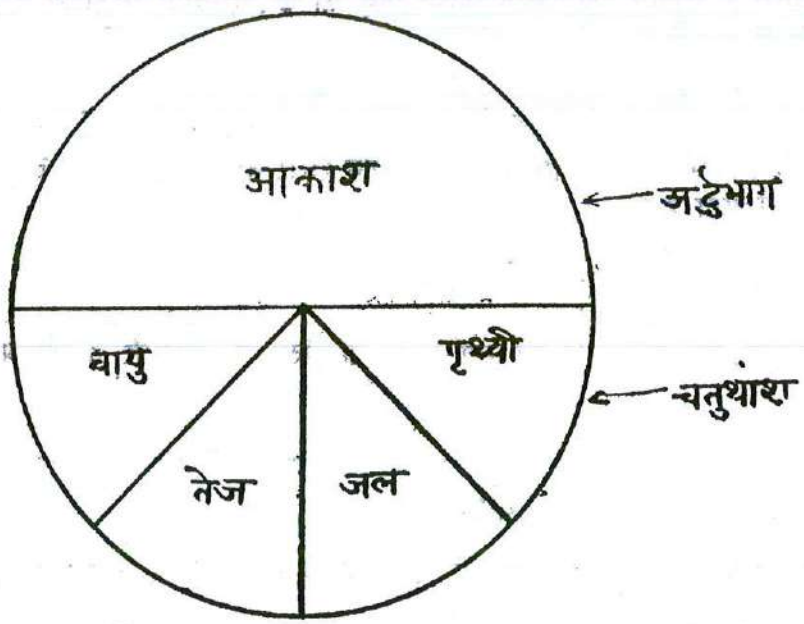

इसी प्रकार दूसरे तत्वों का भी पंचीकरण समझिये । इन पंचीकृत तत्वों से चौदहों लोक, उनमें देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, जड़, चेतन आदि चार प्रकार के शरीर और उसके जीवन के भोग योग्य अन्नादि पदार्थ बने ।

चौदह लोक ये हैं—

१. अतल; २. वितल; ३. सुतल; ४. तलातल; ५. रसातल; ६. महातल, ७. पाताल, और ८. भूर्लोक; ९. भुवर्लोक; १०. स्वर्गलोक; ११. महर्लोक; १२. जन-लोक; १३. तपलोक और १४. सत्यलोक।

इनमें से पहले सात लोक पृथ्वी से नीचे हैं। और पिछले पृथ्वी समेत सात लोक ऊपर ❀।

चार प्रकार के शरीर ये हैं:—

१—जरायुज, २—अण्डज, ३—स्वेदज, और उद्भिज।

(१)—जो गर्भ से उत्पन्न हों, उन्हे जरायुज कहते हैं। जैसे मनुष्य।

(२)—जो अण्डों से उत्पन्न हों, वे आण्डज कहलाते हैं। जैसे पक्षी।

(३)—जो पसीने से उत्पन्न हों, वे स्वेदज कहलाते हैं। जैसे जूं।

(४)—जो पृथ्वी फोड़ कर निकलें वे उद्भिज कहलाते हैं। जैसे वृक्ष।

इस प्रकार जो शरीर पंचीकृत तत्वों से बनते हैं। वे स्थूल शरीर कहलाते हैं।

सूक्ष्म शरीर के सिवाय एक कारण-शरीर और है, जो इन दोनों से पहिले है। यह शरीर वासना सहित अज्ञान का ही बना है।

जब चेतन का तमोगुण-प्रधान माया या अज्ञान से सम्बन्ध हुआ, तब वह अज्ञान जिसमें अभी अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और प्राण यानी सूक्ष्म शरीर नहीं हुआ और न स्थूल शरीर ही उत्पन्न हुआ, कारण-शरीर कहलाता है।

इन तीनों शरीरों के दो रूप हैं—

(१) समष्टि रूप और (२) व्यष्टि रूप। उनके चेतन, कोश और उनकी अवस्थाएँ भी पृथक् पृथक् हैं।

❀ सबसे नीचे निम्न लिखित सात नरक हैं, यथा:—

१ अंधतामिश्र, २ कालसूत्र, ३ महारौरव, ४ रौरव, ५ अंबरीश; ६ महाकाल और ७ अवीचि।

इस एक पाद विभूति अर्थात् ब्रह्म के अधस्तन अविद्यापाद में ही सर्वत्र अविद्या प्रपंच संकोच विकासात्मक रूप से सदा सर्वदा प्रवाहित होता रहता है। एक पाद विभूति में अर्थात् अविद्यापाद में १—कारण, २—सूक्ष्म इस प्रकार की त्रिविध सृष्टि है, जिनमें चौदह लोकों और सात नरकों का एक ब्रह्माण्ड ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड बने हुए हैं। विशेष वर्णन 'परलोक-तत्व' के विषय में देखो।

कोश पाँच हैं:—

(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनन्दमय।

कोश तलवार की म्यान वा द्रव्य के भण्डार को कहते हैं। जैसे तलवार और द्रव्य को म्यान और भण्डार ढाँके रहते हैं। उसी प्रकार ये पाँच कोश आत्मा को ढाँके रहते हैं। इसलिये अन्नमयादि की कोश संज्ञा हैं।

(१) अन्न मय कोश—अन्न के रस से उत्पन्न होकर और अन्न के इससे ही वृद्धि को प्राप्त होकर, पीछे अन्नरूप पृथ्वी के विषय लीन होता है, ऐसा स्थूल शरीर उसको अन्नमय कोश कहते हैं।

(२) प्राणमय कोश— पाँच कर्मेन्द्रियों सहित पाँच प्राण को प्राणमय कोश कहते हैं।

(३) विज्ञानमय कोश—पाँच ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।

(४) मनोमय कोश —पाँच कर्मेन्द्रियों सहित मन को मनोमय कहते हैं।

(५) आनन्दमय कोश—कारण शरीर रूप जो अविद्या उस विषै स्थित जो प्रिय, मोद, प्रमोदरूप वृत्तियां उसका नाम आनन्दमय कोश है।

ये तीन अवस्थायें हैं:—यथा—

(१) जाग्रत अवस्था, (२) स्वप्न अवस्था और (३) सुषुप्ति अवस्था।

(१) जाग्रत अवस्था—चौदह त्रिपुटिओं ❀ से जिस विषय व्यवहार हो, वह जाग्रत अवस्था है। जाग्रत विषै जीव का स्थान नेत्र है; वैखरी वाचा है; स्थूल भोग है; त्रिधा शक्ति है; रजो गुण है। स्थूल शरीर का अभिमानी होने से विश्व नाम है।

(२) स्वप्न अवस्था — जाग्रत अवस्था विषे जो पदार्थ देखे, सुने, भोगे हों, उनका संस्कार हिता नामक नाड़ी जो कंठ विषे है उसमें पँच विषय आदि पदार्थों का निद्रा समय ज्ञान उत्पन्न होता है, सो स्वप्न अवस्था है।

स्वप्न अवस्था में जीव का कण्ठ स्थान है; मध्यमा वाचा है; (सूक्ष्म वासनामय) भोग है, ज्ञान शक्ति है; सत्वगुण है। सूक्ष्म शरीर का अभिमानी होने से तेजस् नाम है।

(३) सुषुप्ति अवस्था—जब मनुष्य गाढ़ निद्रा से उठता है तब कहता है कि रात को मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् मैं कौन हूँ और कहाँ शपन कर रहा हूँ। ऐसी घोर निद्रा आई कि

❀ चौदह इन्द्रिय अध्यात्म हैं और उनके १४ देवता अधिदैव हैं और उनके १४ विषय अधिभूत हैं, इन तोनों के मिलान का नाम चौदह त्रिपुटी है।

मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा, मैं बड़े आनन्द से सोया। इस प्रकार आनन्द कोश के अनुभव का नाम सुषुप्ति अवस्था है।

सुषुप्ति एक उत्तम अवस्था है, जहां संकल्पों की निवृत्ति, परम आनन्द की बिना यत्न प्राप्त है परन्तु इतना दोष है कि अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता।

सुषुप्ति में जीव का हृदय स्थान है; पश्यन्ति वाचा है; आनन्द भोग है; द्रव्य शक्ति है; तमोगुण है। कारण का शरीर अभिमानी होने से प्राज्ञ नाम है।

तीनों शरीरों के समष्टि रूप और व्यष्टि रूप, उनके चेतन, कोश और उनकी अवस्थायें।

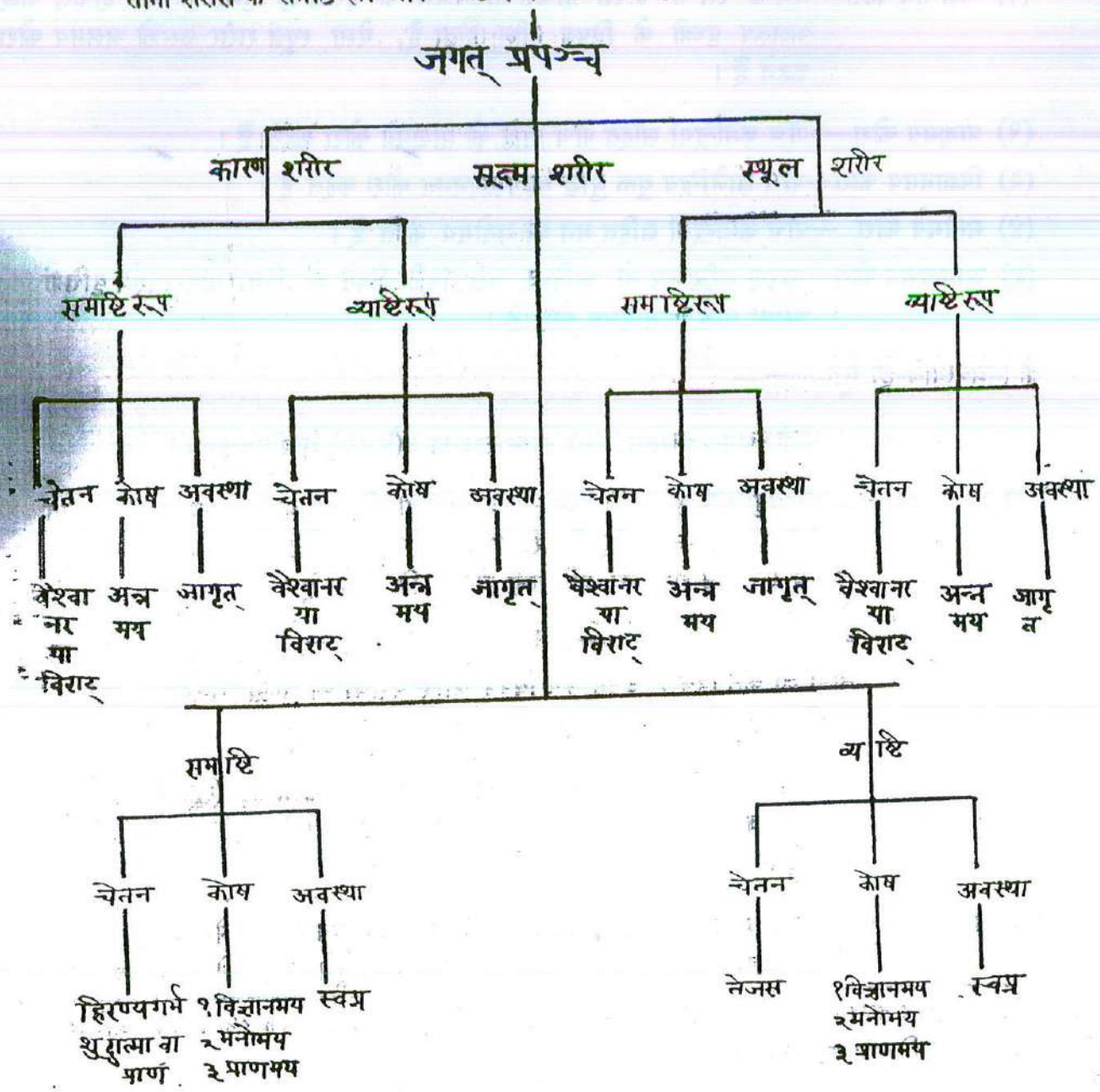

अवस्था और पंच कोश से आत्मा अत्यन्त भिन्न है। इस प्रकार जैसे, धन, जन, स्त्री, ग्रह आदि से मनुष्य भिन्न (जुदा) है अर्थात् यह मेरे हैं ऐसा मानता है। इसी प्रकार पंच कोशादि से भिन्न है अर्थात् मेरा शरीर है, मेरे प्राण हैं, मेरा मन है, मेरी बुद्धि है, मेरा सुख है, मेरा ज्ञान है, इत्यादि पंच कोश से आत्मा भिन्न प्रतीत होता है।

आनन्दमय कोश आनन्द का स्थान है। अन्नमय कोश अन्नादि के कारण कहा है। विज्ञानमय कोश में बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। यही जीव है, जिसे आवागमन होता रहता है। मनोमय कोश में मन और पांच कर्मेन्द्रियां हैं। प्राणामय कोश में पांच कर्मेन्द्रियां और पांच प्राण हैं। ईश्वर के सूक्ष्म शरीर में १४ देवता और समष्टि वायु हैं।

चौदह देवता ये हैं:—

(१) सूर्य (नेत्र); (२) दिक् (श्रोत्र); (३) अश्विनीकुमार (घ्राण); (४) वरुण (जिह्वा); (५) मरुत (त्वक्); (६) इन्द्र (हस्त); (७) विष्णु (पाद); (८) सरस्वती (वाक्) (९) प्रजापति (लिङ्ग); (१०) यम (गुदा); (११) ब्रह्मा (बुद्धि); (१२) शिव (अहंकार); (१३) चन्द्रमा; (१४) वासुदेव (चित्त)।

अध्यात्म (आत्मा का आश्रय लेकर वर्त्तमान इन्द्रियादिक) और अधिभूत (स्व संघात से भिन्न, पर चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय) व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर में हैं और अधिदेव (संघात से भिन्न और चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं) ईश्वर के सूक्ष्म-शरीर में है।

चौदह त्रिपुटियां।

(१) ज्ञानेन्द्रियों की त्रिपुटी।

इन्द्रिय (अध्यात्म)	देवता (अधिदेव)	विषय अधिभूत (आकाश तत्त्व)
श्रोत्र	दिक् (दिशा)	शब्द (आकाश तत्त्व)
त्वक्	वायु	स्पर्श (वायु ,,)
चक्षु	सूर्य	रूप (तेज ,,)
जिह्वा	वरुण	रस (आप ,,)
घ्राण	अश्विनी कुमार	गंध (पृथ्वी ,,)

(२) कर्मेन्द्रियों की त्रिपुटी।

वाक्	अग्नि	वचन (क्रिया)
हस्त	इन्द्र	लेना-देना
पाद	वामदजी	गमन

उपस्थ	प्रजापति	रति-भोग
गुदा	यम	मल-त्याग

अन्तःकरण की त्रिपुटी

इन्द्रिय	देवता	विषय
(अध्यात्म)	(अधिदेव)	(अधिभूत)
बुद्धि	ब्रह्मा	निश्चय
मन	चन्द्रमा	संकल्प-विकल्प
चित्त	वासुदेव	चेतना
अहंकार	रुद्र	अहंपना

इन चौदह त्रिपुटियों का यह स्वभाव है कि जो इन में तीन २ पदार्थ हैं यदि इनमें का कोई एक नहीं होवे तो व्यवहार नहीं चलता। जैसे इन्द्रिय और देवता होंवे और विषय न हो तो व्यवहार नहीं चलता। इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय हों और देवता न हों तो भी व्यवहार नहीं चलता। ऐसे ही त्रिपुटिओं को समझो।

पूर्वोक्त सृष्टि के उत्पत्ति क्रम से यह बात प्रमाणित है कि जगत्-प्रपंच तमोगुण प्रधान माया का बना हुआ है और यह माया अनिर्वचनीय है।

जो पदार्थ या यथार्थ भाव होने न दे और उसी के बदले दूसरे पदार्थ का भाव करा कर उसी में बर्ताव भी करावे उसी का नाम माया है। उसी को प्रकृति भी कहते हैं, अविद्या भी वही है। "है" इस प्रकार के प्रमाण सिद्ध भूत भौतिक सम्पूर्ण जगत् जिसका कार्य है और जो जगत का कारण है वह माया है। माया परब्रह्म के आश्रय में है इसी से परब्रह्म का अस्तित्व माया में और माया के कार्य में प्रतीत होता है। उसे सच्ची या झूंठी नहीं कह सकते, सच्ची झूंठी मिली हुई भी नहीं कह सकते, परब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है और भिन्ना-भिन्न मिली हुई है ऐसी भी नहीं कह सकते। अंग वाली है अथवा अंग रहित है या अंग और अनंग दोनों मिली हुई है ऐसी भी नहीं कह सकते, ऐसा महान् अद्भुत अनिर्वचनीय उसका रूप है। उसकी आवरण शक्ति पदार्थ के ऊपर परदा कर देती है। जिससे पदार्थ का भान यथार्थ नहीं होता, दूसरी विक्षेप शक्ति से जो नहीं है ऐसे अनेक पदार्थ का भान होता है। विक्षेप शक्ति की उत्पत्ति आवरण शक्ति से है, विक्षेप शक्ति रजोगुण वाली है। काम, क्रोध, लोभ, दंभ, अहंकार, ईर्षा आदिक और सम्पूर्ण जगत् लिंग (सूक्ष्म-शरीर) से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त उसी से उत्पन्न होता है। जो पुरुष उसके संसर्ग में आता है उसको उल्टा निश्चय कराती है और संशय में सर्वदा रखती है, सब किसी के अधःपतन का कारण भी विक्षेप राशि है।

ईश्वर की माया

मन और इन्द्रियों की जहां तक पहुँच है, वहां तक माया ही माया है। ब्रह्म तक मन, वाणी और इन्द्रियों की गति ही नहीं 'यतो वाचो निवर्न्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'— (श्रुतिः)

शास्त्रों में माया की अनेक प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

१. जो वस्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही काल में है ही नहीं, उसको 'है' ऐसा मानना, इसी का नाम माया है।

२. जीव के आत्मस्वरूप को जो अपने आवरण से आच्छादित करती है, वह माया है।

३. जो वस्तु यथार्थ ज्ञान होने के उपरान्त समूल निवृत्त हो जाती है, उसका नाम माया है।

४. कार्य—कारण (जगत् कार्य और परमात्मा उसका कारण है) के भेद का कारण अर्थात कार्य कारण के भेद को उत्पन्न करने वाली जो वस्तु है वही माया है।

५. माया वास्तव में कुछ भी नहीं है, परन्तु वेद में आत्मा को जगत् का कारण तथा सर्व जगत्रूप कहा है, उससे जगत का कारण सिद्ध होने के लिए अर्थात् जगत् के उत्पन्न होने में परमात्मा आदि कोई भी कारणभूत है—ऐसा निश्चय होने के लिए माया ही केवल कल्पना मात्र की गई है।

६. अपने अधिष्ठान में जो आत्मा है उसके साक्षात्कार द्वारा जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब सर्वत्र परब्रह्म-ही परब्रह्म भासमान होता है, वह जो अज्ञान है, उसी का दूसरा नाम माया है।

७. परात्पर भगवान् की उस आदि-शक्ति महामाया का नाम माया है, जो भगवान की सत्ता पाकर समस्त जगत्-विलास को रचती है।

वह माया कैसी है ?

१. इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त से दिया जाता है, जो इस प्रकार है:—

एक दिन धर्म-धुरन्धर महाराज युधिष्ठिर राजसभा से निवृत्त होकर जब अन्तःपुर में गये तो वहां महारानी द्रौपदी को नहीं देखा। 'आज मेरे आने के समय सती द्रौपदी कहां गई। आज तक तो कभी ऐसा नहीं हुआ' ऐसा विचार करते हुए वे शून्य पलङ्ग पर उसकी प्रतीक्षा करते हुए बैठ गये। थोड़ी ही देर में द्रौपदी आ पहुँची और सती-धर्मानुसार नित्य की भांति पतिदेव को नमन किये बिना ही उनकी आज्ञा की कोई अपेक्षा न कर पलंग पर बैठ गयी। धर्मराज (युधिष्ठर) स्वयं तत्त्वज्ञ विद्वान् थे, वे द्रौपदी के गुह्य प्रताप को जानते थे, इससे वे मन-ही-मन रहस्य को समझ कर पलंग से उठ खड़े हुए। तब महारानी

द्रौपदी पलंग पर लेट गयीं और तुरन्त ही महाराज से अपने पांव दबाने के लिए कहा। बिना ही कुछ कहे सुने महाराज युधिष्ठिर चुपचाप द्रौपदी के चरण चांपने लगे। द्रौपदी ने कहा कि 'महल के सब दर्वाजे और खिड़कियां खोल दो !' तुरन्त ही ऐसा करके धर्मराज पुनः चरण दबाने बैठ गये। इतने में महाराज के छोटे भाई भीमसेन बाहर से आये और यहां का यह विपरीत ढंग देख कर चकित रह गये।

भीमसेन अलग हट कर मन-ही-मन सोचने लगे 'आज यह क्या हो गया जो धर्मराज देवी द्रौपदी की पगचम्पी कर रहे हैं ! क्या इन दोनों को बुद्धि भ्रम हो गया या ये पागल हो गये हैं ? अथवा क्या आज इनमें अधर्म का प्रवेश हो गया है ? यह तो बड़े दुःख की बात है। द्रौपदी के साथ जब मेरे रहने की बारी आवेगी तब क्या मुझको भी ऐसा ही करना पड़ेगा ? नहीं नहीं, यह कार्य मुझसे कदापि न होगा। भीम के हाथ तो रण में शत्रुओं का मर्दन करने के लिए हैं, वे स्त्री की पदचम्पी कभी नहीं कर सकते। आश्चर्य है धर्म-तत्त्वज्ञ होकर भी धर्मराज ने यह प्रथा क्यों चलाई, इसको में तोड़ूंगा भी कैसे ? अब मुझे क्या करना चाहिए ? इस बात का मर्म किससे कहना चाहिये ?' कुछ भी निश्चय न कर सकने के कारण विषादयुक्त भीमसेन ने श्रीकृष्ण परमात्मा के पास जाने का निश्चय किया। वे श्रीकृष्ण भगवान् के भवन पर गये। श्रीकृष्ण जी नित्य-कृत्य से निपट कर सुन्दर आसन पर विराजमान थे। भीम ने उनसे मिलकर धर्मराज तथा द्रौपदी के सम्बन्ध का सारा वृत्तान्त आदि से अन्त तक निवेदन किया तथा प्रार्थना करके कहा—'भगवन् ! आप कृपा करके महाराज युधिष्ठिर को समझाइये कि जिससे अपनी यह मनोनीति छोड़ दें, धर्मराज केवल आपका ही कहना मानेंगे।

श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा—'भाई भीमसेन ! मैं इस बात के बीच में पड़कर धर्मराज को इस विषय में कुछ भी कहना नहीं चाहता, प्रेम ऐसा ही होता है। किसी समय तुमको भी ऐसा ही करना होगा।' भीमसेन ने कहा—'प्रभो ! तो क्या पुरुष को स्त्री के वश में होकर उसकी पद सेवा करनी चाहिये ?'

इस प्रकार भीमसेन ने बहुत कुछ कहा-सुना; परन्तु भगवान् ने तो केवल यही उत्तर दिया कि 'भीम ! इस बात के छेड़ने में कोई सार नहीं, जैसा धर्मराज करें वैसा ही तुम भी करो।' इस प्रत्युत्तर से भीमसेन का समाधान नहीं हुआ, वह पछताता हुआ वहां से लौट आया। परन्तु जब - जब उसको यह बात स्मरण आती, तभी वह उदास हो जाता। दिनों - दिन उसकी चिन्ता बढ़ने लगी, शरीर दुर्बल हो गया। एक दिन कुन्ती माता ने उससे पूछा—बेटा भीम ! तेरे शरीर की क्या दशा होती जा रही है ? क्या तेरे खाने पीने का कोई प्रबन्ध ठीक नहीं है, क्या तुझको किसी से भय होने लगा है ?' भीमसेन ने कहा—'माता ! मुझको एक प्रकार की बीमारी हो गई है। इस रोग की औषधि श्री कृष्ण के पास है; परन्तु वे मुझको देते नहीं, आप उनसे कह दें तो अच्छा हो।' तुरन्त ही कुन्ती माता ने श्री कृष्ण के पास जाकर भीम को दवा देने को कहा ! भगवान् बोले, 'बुआ जी इस छोटी सी बात के लिये आपने इतना कष्ट क्यों उठाया ? ठीक है, आज ही अमावस और शनिवार है, मैं उसको औषधि दे दूंगा। भीमसेन से कह दीजियेगा, रात को मेरे पास आ जाय।'

माता के कहने से भीम श्री कृष्ण के पास गया, भगवान् ने कहा—'भीमसेन ! जहां मैं कहूँ वहां तुम जाओगे ? भीम ने कहा—'आप जो आज्ञा करेंगे वही करने को दास तैयार है।' श्रीकृष्ण ने

कहा—'तो उत्तर दशा को चले जाओ, नगर से बाहर कुछ दूर पर एक अश्वत्थ का वृक्ष दिखाई देगा। उस पर चढ़कर तुम छिपकर बैठ जाओ और वहां जो कुछ हो, छिपे - देखते रहो।' तत्काल भीम उस पीपल के पेड़ के पास पहुँच गया। वहां व्याघ्र, सिंह, भूत, पिशाच वेताल इत्यादि नाना प्रकार के डरावने शब्द कर रहे थे, पर भीम को उनकी क्या परवा थी। वह झटपट चढ़कर पीपल पर बैठ गया। डेढ़ पहर रात बीत गई। अब भीमसेन को एक-से-एक बढ़कर चमत्कार दिखाई देने लगे।

सबसे पहले एक जगमगाता हुआ दिव्य प्रकाश दिखाई दिया। थोड़ी देर में एक सपाट मैदान-सा हो गया। तदनन्तर दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा ने आकर तुरन्त एक अति सुन्दर मणियों और रत्नों से जटित विशाल मण्डप रचा। उसके बीच में एक चमकता हुआ सुन्दर सिंहासन बिछाया गया, उसके आसपास कई सुन्दर-सुन्दर आसन और बिछाये गये।

इस प्रकार मण्डप के तैयार होने पर एकादश रुद्र, दसों दिक्पाल तथा इन्द्रादि समस्त देवता वहाँ आ गये। नारद मुनि ने, जो पहले ही से आकर व्यवस्था का कार्य कर रहे थे, उनको यथायोग्य आसनों पर बैठाया। तब छप्पन कोटि यादवों को लेकर श्रीकृष्ण परमात्मा भी वहाँ पहुँचे। उनके साथ पाँचों पाण्डव भी आये, उनमें अपने समान ही दूसरे भीम को देखकर, अश्वत्थ वृक्ष पर बैठे हुए भीमसेन को बड़ा आश्चर्य हुआ कि—अरे यह पाण्डव कौन और भीम वह कि मैं? दोनों में सच्चा कौन? इसी अवसर पर भगवान् शङ्कर, विष्णु और ब्रह्मा भी आ पहुँचे। इनको नारद ने उच्च सिंहासन के दोनों ओर बिठाया। इस प्रकार धीरे - धीरे सारा मण्डप त्रिलोकी के कार-बार करने वाले देवता और ऋषियों से खचाखच भर गया। परन्तु मुख्य सिंहासन तो अब तक रिक्त ही पड़ा था। यह देखकर भीमसेन ने मन में सोचा कि—'इस सारी देवसभा का मुख्य अधिपति तो अभी तक आया ही नहीं, न जाने वह कौन होगा? ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर—ये तीनों ईश्वर भी उस सिंहासन के नीचे ही बैठे हैं तो इनसे भी श्रेष्ठ और कोई है?' भीम ऐसा विचार कर ही रहा था कि इतने में ही एक महान् तेजोमयी दिव्य देवी छमछम करती हुई दूर से आती दीख पड़ी। उसके अङ्गों की द्युति के सामने सभा मण्डप में स्थित समस्त देवगण छविहीन हो गये थे; उसके केश खुले हुए थे और ठेठ पाँव की एड़ी तक लटक रहे थे। वह ललाट में कुमकुम, हाथ में त्रिशूल तथा पाश धारण किये हुए थी। उसके मण्डप के द्वार के निकट आते ही सभा के सब देवगण एक ही साथ उठ खड़े हुए और महामाया आदि-शक्ति की जय बोलने लगे। वह महादेवी उस मण्डप में जाकर उस परम दिव्य सिंहासन पर जा विराजमान् हुई। अनन्तर उसकी आज्ञा से सब देवता गण बैठ गये।

भीमसेन की दृष्टि उस महामाया के दिव्य तेज से चकाचौंध हो रही थी, परन्तु बड़ी देर तक दृष्टि जमा कर देखने से जान पड़ा कि—'अरे! यह तो देवी द्रौपदी है। क्या इसका ऐसा प्रताप है कि इसको ब्रह्मा, विष्णु आदि नमन करते हैं?

अहो! द्रौपदी तो साक्षात् आदि-माया है! भला देखें तो आगे क्या होता है?

पहले ब्रह्मदेव उठे और हाथ जोड़ कर विनती करने लगे, तब महामाया ने पूछा—'कमलभू ब्रह्मदेव! सृष्टि क्रम बराबर चला जाता है न? 'हां माता! आपकी आज्ञा के अनुसार दास निरन्तर बर्त रहा है' ऐसा कह कर आज्ञा होने से ब्रह्मदेव अपने स्थान पर बैठ गये, तब महादेवी ने विष्णु और शिव से पूछा—'हे चक्रपाणि! अपने पद के अनुसार आप सृष्टि का यथार्थ पालन करते हैं? हे शूलपाणि (शङ्कर)!

नियमपूर्वक सृष्टि के संहार कार्य को चलाये जाते हैं ?' दोनों ने नमनपूर्वक कहा 'आपकी आज्ञानुसार सब करते जाते हैं।' तदनन्तर इन्द्रादि देवों तथा दिक्पालों से उनके नियमित कामों के लिये पूछ-ताछ हुई। सबसे पीछे यमराज ने आकर नमस्कार किया और रुधिर से भरे हुए छः घड़े और एक रीता घड़ा सामने रखकर कहा कि—हे जगदम्बिके ! ये छः घड़े सृष्टि के आरम्भ से लेकर, यह कल्प आरम्भ हुआ तब से अभीतक महिषासुरादि अनेक दैत्यों और योद्धाओं के रक्त से भरे हैं; परन्तु सातवां घड़ा रिक्त है। वह अब होने वाले कौरव-पाण्डवों के युद्ध में मरने वाला है।' यह सुनकर देवी द्रौपदी ने पूछा—'वह किसके रक्त से भरने वाला है ? दोनों पक्ष के योद्धाओं में जिसके प्रतापी रक्त से यह घट परिपूर्ण हो, ऐसा वह योद्धा कौन है ? यमराज ने कहा—' हे जननी ! भीम योद्धा अपने बल का बड़ा अभिमान करता है, उसी के रक्त से यह घट भरा जायेगा और यदि वह यहां आजाय तो अभी मैं उसके रुधिर से उस सातवें घड़े को भी भरदूं। इतने में नारदजी बोल उठे—'अरे यमराज। वह भीम तो उस पीपल-वृक्ष पर छिपा बैठा है, अपने दूतों को भेज कर पकड़ मंगवा !'

भीमसेन, जो यह सब लीला देख रहा था, अब थर-थर काँपने लगा; ऐसी दशा हुई कि काटे तो खून न निकले। उसने जाना कि 'अब तो मृत्यु आगई। पर क्या यमदूत मुझे लेने आवेंगे ? जब मुझको ऐसे भी मरना है और वैसे भी मरना है, तब फिर यमदूतों के हाथ पड़ने से तो यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही जाकर देवी द्रौपदी के चरण स्पर्श क्यों न करूं ? यह तो मेरी स्त्री नहीं, बल्कि साक्षात् आदि-माया है। इसकी पगचम्पी क्या, बल्कि जो यह कहे वही मैं करने को तैयार हूँ'। ऐसा दृढ़ निश्चय करके द्रौपदी को प्रणाम करने के लिये भीमसेन वृक्ष पर से धड़ाम से नीचे कूद पड़ा। कूदते ही देखता है कि सारी माया जहां की तहां अदृश्य होगई।

यह देख भीम को बड़ा भय हुआ, उसका शरीर थर-थर कांपने लगा, कलेजा धड़कने लगा। कुछ देर पश्चात् सचेत हुआ तो सामने श्रीकृष्ण दिखाई दिये। श्रीकृष्ण ने उसको धीरज देकर कहा—'हे वृकोदर। मैं परमात्मा इस जगत् में क्षर और अक्षर—इन दोनों पुरुषों से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ और जिसको तूने देखा वह महाशक्ति मेरी माया है। वह मेरे अधीन है पर मैं किसी के अधीन नहीं हूँ। मेरी इस माया के पाश से सारा जगत् बँधा हुआ है और मेरी प्रेरित की हुई माया सब कुछ कर सकती है इसी कारण मेरी कृपा के बिना कोई इसे जीत नहीं सकता। वह कृष्णा (द्रौपदी का दूसरा नाम) है और मैं श्रीकृष्ण के नाम से जगत् में प्रकट हूँ। इसलिये जब-जब द्रौपदी के शरीर में मेरी माया का आवेश हो तब-तब उसको तू अपनी स्त्री न मान कर उसकी सेवा करना परन्तु भीम ऐसा प्रतिदिन नहीं होता। यह तो मैंने अपनी माया की महिमा तुमको दिखलाई है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्मा ने भीम को आश्वासन दिया, भीमसेन के मनकी शङ्का और अभिमान मिट गया और वह प्रेमपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण को बारम्बार नमस्कार कर अपने घर लौट आया।

(२)—किस उपाय से माया की बाधा मिट सकती है ? भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता अ० ७, श्लो० १४)

अर्थः—यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योग-माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरे को निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं, अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

भगवान् के इस वचन से पता लगता है कि मनुष्य चाहे कैसा ही उपाय क्यों न करे परन्तु प्रभु की माया उसे भुलावा देने में नहीं चुकेगी। इसलिये यह जिसके अधीन है, उसी की कृपा सम्पादन करने से यह हमको बाधक नहीं होगी। अतएव हमको भगवान् का प्रेमपूर्वक एकाग्र चित्त से सेवन करना चाहिये, उसके पवित्र नामों का अनुराग सहित जप या स्मरण करना चाहिये। भगवान् की शरण होने पर वह अपनी माया को अवश्य ही खींच लेते हैं। ईश्वर की सहायता के बिना स्वाभिमान से कोई भी जीव माया को नहीं जीत सकता, अपने बल के अभिमान पर चलने वाला उसमें अधिकाधिक लिप्त होता जायगा और सदा दुःख ही पाता रहेगा। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं:—

दोहा।

हरिमाया कृत दोष-गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं।
रात रहे दिन उड़ि गये, त्यों कुटुम्ब सब जान॥

और भी—

एक ऋषि ने तप करके परमेश्वर से वर मांगा हे परमेश्वर! आप की माया देखूं। परमेश्वर ने कहा जो दृश्य पदार्थ हैं सब माया है। ऋषि को यह निश्चय रहा कि माया शब्द करके कोई और पदार्थ है। फिर परमेश्वर से प्रार्थना की "महाराज! नहीं घटने के योग्य यह पदार्थ उस के घटाने में जो चतुर" वह माया देखा चाहता हूँ। महाराज ने वर दे दिया कि, देखोगे।

एक दिन वह ऋषि हृषीकेश स्थान में गंगाजी में स्नान करते थे, गंगाजी के तीर आसन पूजादि रख दिये। ऋषि ने जल में जो डुबकी मारी फिर वह ऋषि अपना ऋषिपना तो भूल गये, किसी धीवर की लड़की हो गये। काल पाकर उस लड़की का विवाह हो गया। ४० वर्ष की अवस्था में कई लड़के वा लड़की उसके उत्पन्न हुए और अपने पति के संग में जो आनंद, और संग करके दुःख, और संसार के अनेक ताप और बालकों के खिलाने में जो आनन्द और मल-मूत्र धोने में जो दुःख सब को वह ऋषि स्त्री होकर अनुभव करते रहे। एक दिन वह स्त्री (ऋषि) उसी जगह जहां ऋषि ने डुबकी मारी थी जल भरने के लिये गई। घट को गंगाजी के तीर रख कर गंगाजी में स्नान करने लगी। जब नीचे को डुबकी मारी तब तो वह स्त्री थी; जब ऊपर को मुंह उघाड़ा तब अपने शरीर को देखे तो ऋषि का शरीर हो गया और गंगाजी के तीर घट भी रक्खा दीखता है, आसन

पूजा भी रक्खी हुई दीखती है। यह भी स्मरण होता है मैं अमुक ऋषि हूँ नित्य यहां स्नान करने के लिये आता हूँ" और यह भी स्मरण होता है "मैं अमुक पुरुष की स्त्री हूँ यहां जल भरने के लिये आई थी"। पहले घर का भी स्मरण होता है, पिछले घर का भी व्यवहार स्मरण होता है; दोनों घरों में प्रीति है, स्पष्ट यह निश्चय नहीं हो सकता है कि मैं ऋषि या स्त्री हूँ। उसी काल में उस स्त्री का पति अपने लड़के को गोद लिये हुए उसी जगह आया। ऋषि ने देखा कि, निश्चय यही मेरा पति है। फिर भले प्रकार निश्चय हो गया कि, मैं गंगाजी में स्नान करने से ऋषि हो गया। उस पुरुष ने ऋषि से पूछा महाराज! मेरी स्त्री यहां जल भरने आई थी घट उसका यह रक्खा है वह कहां गई? आपने भी उसे देखी है? उसका वाक्य सुनकर और बालक लड़के को देखकर मोह हो गया, ऋषि रोने लगा। उस पुरुष ने प्रार्थना करके पूछा महाराज! क्या वह स्त्री गंगाजी में डूब गई? वा किसी सिंहादि ने खा लिया? तुम क्यों रोते हो? ऋषि कहते हैं कि वह स्त्री तो मैं हूँ, गंगाजी में स्नान करने से ऋषि हो गया। बात की सिद्धि के लिये समस्त व्यवस्था पिछले घर की और लड़के लड़कियों के नामादि कह दिये। उस पुरुष को निश्चय हो गया कि, निस्संदेह यह मेरी स्त्री है। ऋषि उस पुरुष से कहते हैं—इस लड़के को भले प्रकार पालना, यह करना, वह करना। उसने कहा कि, तुम घर को चलो जो हुआ सो हुआ। बालकों को खिलाते रहना और घर के काम करते रहना। ऋषीजी उसके साथ साथ हुए। उसी समय वह परमेश्वर की माया दूर होगई। यह व्यवस्था कोई एक पल में बीती, जितनी देर जल में डुबकी मारी; जब ऋषि ने ऊपर को शिर उठाया, देखते हैं महीना, वही मुहूर्त्त, न वह पुरुष न घट है। ऋषिजी को निश्चय हुआ यह परमेश्वर की माया देखी।

स्कन्दपुराण के केदारखण्ड में यह कथा भले प्रकार लिखी हुई है और वासिष्ठादि ग्रन्थों में ऐसी बहुत कथा हैं और प्राणियों को यह बात प्रत्यक्ष है कि, स्वप्न तो घड़ी वा दो घड़ी रहा और राज्यादि १०० वर्ष किये। भले प्रकार विचारो—माया में क्या नहीं बन सकता? और यह जाग्रत् निश्चय स्वप्न की बराबर है; क्योंकि जाग्रत् के पदार्थ दुःख सुख के हेतु से हैं और अनित्य हैं। ऐसे ही स्वप्न के पदार्थ हैं, और जैसे जाग्रत् में स्वप्न का निश्चय करते हैं ऐसे स्वप्न में भी स्वप्न का निश्चय करते हैं। तात्पर्य जाग्रत् में प्रपञ्च दीखता है, समस्त स्वप्न की बराबर है। माया है, इससे सिवाय और क्या माया होगी? कि, गर्भ में ठहर कर वीर्य चेष्टा करने लगता है और बहने वाला जो पदार्थ वीर्य है उसका कार्य कैसा कठिन हो जाता है। फिर उसी वीर्य में देखो कैसे हाथ पैरादि बन जाते हैं, फिर वही ब्राह्मण, साधु, चोर जार कहा जाता है। किसी काल में तो वह लाड़ करने योग्य, कभी भोग करने योग्य, किसी काल में पूजन करने योग्य होता है, किसी काल में उसको देखकर प्राणी ग्लानि मानते हैं; किसी काल में उसके पुत्रादि चाहते हैं कि यह मर जावे तो सुन्दर है; किसी काल में उस शरीर के स्पर्श करने से पातक लगता है, मकान, वस्त्रादि अपवित्र हो जाते हैं। विचारो, एक पदार्थ में कितनी कितनी २ अवस्था बीतती हैं। जो एक रस पदार्थ नहीं, सबको एक प्रकार का न दीखे सोई माया है। 'प्रकृति' महामाया इसीके चक्र में पड़ कर सच्चिदानन्द स्वरूप जीव आत्मदृष्टि भूल गया है।

मार्कण्डेय ऋषि का माया को देखना।

एक समय मार्कण्डेय ऋषि ने नारायण की बहुत स्तुति की। तब नारायण प्रसन्न होकर प्रकट स्वरूप से कहने लगे— हे ब्रह्मर्षिवर्य ! तप, स्वाध्याय और संयम करने से तुम मेरी दृढ़ भक्ति को प्राप्त हुए हो और चित्त की एकाग्रता से सिद्ध हुए हो, तुम्हारे इस प्रकार के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को देख कर में अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ, मुझसे जो चाहो सो वर मांग लो।

मार्कण्डेय बोले, हे देवेश ! ब्रह्मादिक के भी ईश्वर, दुःखी शरणागत के कष्ट नष्ट करने वाले, अच्युत! आप के दर्शन से ही मेरी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो गईं, अब मैं और कुछ नहीं चाहता। दीर्घकाल के योगाभ्यास से शुद्ध मन द्वारा जिसके चरणकमल के दर्शन द्वारा साधारण मनुष्य भी परब्रह्म को प्राप्त होते हैं वे ही आप मेरे नेत्र के सन्मुख खड़े हैं इससे बढ़ कर और वर मैं क्या मांगूं ? हे कमलनयन जिसमें मोहित होकर सम्पूर्ण लोक और लोकपालगण सत वस्तु में भेद भावना करते हैं ऐसी आपकी अद्भुत माया को मैं देखना चाहता हूँ। तब नारायण ने कहा "तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी" और मुसकराते हुए नारायण बद्रिकाश्रम को चल दिये।

मार्कण्डेयजी अपने आश्रम में भगवान् की भक्ति करते हुए भगवान् की माया देखने के समय की राह देखा करते थे। एक दिन नित्य नियम के अनुसार संध्या के समय पुष्पभद्रा नदी के किनारे बैठ कर हरि की उपासना कर रहे थे। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश और अपने में सर्वत्र भगवान् की भावना करके मानसिक पूजन कर रहे थे। तब अकस्मात् बड़े वेग से आँधी चली और वायु के थपेड़े से भारी शब्द होने लगा, काले काले बादलों ने आकाश मंडल घेर लिया, मेघ गर्जना सहित बिजलियाँ चमकने लगीं, और तुरंत ही मूसलधार पानी बरसने लगा। भयानक जल जन्तुओं से पूर्ण समुद्र उमड़ कर चारों ओर से पृथ्वी को जल मग्न करने लगा। पृथ्वी को जल में डूबती हुई देख मार्कण्डेयजी शारीरिक और मानसिक अत्यन्त क्लेश को प्राप्त हुए। ज्ञानी होने पर भी व्याकुल और अत्यन्त भयभीत हुये।

मुनि के देखते ही देखते समुद्र से प्रचण्ड लहरों और मूसलाधार वर्षा के जल ने बढ़ कर द्वीप खंड और पर्वत सहित सम्पूर्ण पृथ्वी को जल मग्न कर दिया। पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और सब दिशाएँ और तीनों लोक जल में डूब गये, मार्कण्डेयजी बच रहे। मुनि की जटायें फैल गईं, और वे जड़ और अंध के समान इधर से उधर बहने लगे। मुनि प्रलय सागर के जल में अन्धकार में कभी ऊपर और कभी नीचे भ्रमण करने लगे। उनको यह नहीं जान पड़ता था कि कौन दिशा किधर है, आकाश कहाँ है और पृथ्वी कहां, कभी जल में डूब कर गहरे में चले जाते थे, कभी तरङ्गों की टक्कर से टकराते थे, और कभी जल के घोर जन्तुओं के पेट में चले जाते थे। इसी प्रकार विष्णु की माया से आत्मा आवृत्त होने से मार्कण्डेयजी दश हजार लाख वर्ष पर्यन्त उस महासागर के जल में बहते हुए गोते खाते रहे।

एक समय बहते हुए मुनि ने एक छोटा सा टापू देखा और उस टापू में एक छोटा बरगद का प्रफुल्लित पेड़ देखा, उस वृक्ष के ईशानकोण में एक शाखा में एक सुन्दर बालक सोया हुआ था। बालक

अत्यन्त प्रकाश वाला था। इसी से वहां अंधेरा दूर होगया था। पन्ना के समान श्याम वर्ण बालक का मुख कमल के समान श्री से सम्पन्न है, ग्रीवा शंख के समान है, वक्षस्थल विशाल है, नासिका ऊंची और सुन्दर है, भृकुटि कमान जैसी मनोहर है, दोनों कान शंख के भीतरी भाग के समान हैं और उसमें अनार के फूल शोभा दे रहे हैं, मधुर मुस्कान की कान्ति है, कोमल चरण के अंगूठे को मुख में डाले हुए ललाई लिये हुए हैं, ऐसे सुन्दर बालक को देख कर मुनि बहुत विस्मित हुए और परम आनन्द को प्राप्त हुए। मुनि का हृदय प्रफुल्लित हो गया। तुम कौन हो ऐसा प्रश्न करने के विचार से आगे बढ़े, पास पहुँचते ही मुनि एकाएक बालक के श्वाँस के साथ मच्छर के समान उड़कर उसके उदर में चले गये। वहाँ जाकर मुनि ने देखा कि प्रलय के प्रथम जैसा जगत् देख पड़ता था वैसा ही उस बालक के पेट में स्थित है। मुनि के आश्चर्य की सीमा न रही और मोहित होकर निश्चय न कर सके कि वास्तक में यह क्या है।

आकाश, अन्तरिक्ष, तारागण, पर्वत समूह, सम्पूर्ण सागर, सब द्वीप, सब खंड, देवगण, असुर गण, सब बन, सब देश की नदियां, नगर, पाषाण, चारों आश्रम, वहाँ, उनकी सब वृत्तियाँ; पाँचों तत्त्व सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ, खेत, पुर, गाँव, युग कल्प आदि अनेक भेद सम्पूर्ण भिन्न २ संज्ञाओं को प्राप्त सब प्रकार का काल और लोक व्यवहार का हेतु अनेक पदार्थों सहित ठीक २ ज्ञात हो रहा है। वहाँ मुनि ने हिमाचल पर्वत, पुष्पभद्रा नदी जहाँ नर नारायण के दर्शन प्राप्त हुए थे वह स्थान और अपने आश्रम के स्थान को भी देखा, इस प्रकार विश्व को देखते मुनि बालक के उदर से श्वाँस के साथ बाहर निकल पड़े और उसी प्रलय सागर के जल में गिर पड़े। उसी पृथ्वी के उच्च प्रदेश में खड़े हुए उस वृक्ष की शाखा में पत्रपुट पर शयन कर रहे बालक मुकुन्द को देखकर और नयन द्वारा हृदय में बैठाकर संतुष्ट चित्त होकर आलिगंन करने के विचार से पास जाने के लिये जैसे मुनिवर चले वैसे ही योगेश्वरों के अधिष्ठान लीला शरीर-धारी अन्तर्यामी बाल स्वरूप साक्षात् नारायणदेव ऋषि के सामने से अन्तर्धान हो गये, ऋषि का उद्यम निष्फल गया।

बाल मुकुन्द के अदृश्य होते ही वट, वृक्ष, जल मय महासागर और लोकों का प्रलय सब क्षण में अदृश्य हो गया। मुनि ने अपने को पहले की भाँति अपने आश्रम में नदी तट पर बैठे हुए देखा। मार्कण्डेय जी बहुत आश्चर्यको प्राप्त हुए, तुरंत ही स्मृति हो आई कि अहा हा! भगवान् ने मुझे माया दिखलाने का वर-दान दिया था सो ही माया मैंने देखी। कैसा आश्चर्य है सब कुछ दुःखादिक होते हुए भी कुछ नहीं हुआ। यह विश्व भी नारायण की इसी माया द्वारा निर्माण हुआ है। दुःखमय माया से निवृत्त होने के लिये विष्णु के शरण में ही जाना चाहिये। हे हरि! दुःखी जनों को अभयदान देने वाले, मैं आपकी शरण में आया हूँ! मुझ पर कृपा करो, आपके भजन बिना आपकी शरण में आया हूँ मुझ पर दया करो। आपके भजन बिना आपकी ज्ञान-वत् भासती इस अज्ञान-मयी माया में अपने को ज्ञानी मानने वाले देव गण भी मोहित होते हैं। इस योग-माया के प्रभाव को मैं मन्द-मति किस प्रकार कह सकता हूँ।

इस प्रकार मार्कण्डेयजी ने माया का अनुभव भगवान् का वरदान पाकर किया। माया वास्तविक कुछ न होती हुई भी सब कुछ करती है, जन्म-मरण सुख दुःख को भुगवाती है। जिसमें कार्य कारण का

कोई वास्तविक सम्बन्ध न हो ऐसी यह माया है। भूल में पटक कर अन्य का अन्य अनुभव करा देने वाली माया है। सच्चे को झूंठा और झूंठे को सच्चा दिखलाना इसका स्वाभाविक कार्य है। अधिष्ठान के अज्ञान में रही हुई अविद्या ही माया है। वह अधिष्ठान के पूर्णबोध में निवृत्त हो जाती है। सम्पूर्ण भूत प्राणी संसार और संसार की प्रतीति अनिर्वचनीय महान् शक्तिवाली अद्भुत माया से है। जो माया के पति के शरण में जाता है, उसकी माया निवृत्त हो जाती है। ईश्वर के शरण में जाने के अतिरिक्त माया की निवृत्ति का और कोई उपाय नहीं है।

माया का खेल

परम संत कबीर साहब का एक भजन और उसकी व्याख्या

१ २
टेकः—ठगनी क्या नैना झमकावै, तोरे कबीरा हाथ न आवै

३ ४
कद्दू काट मिरदङ्ग बनाया, नींबू काट मजीरा।

५ ६
पांच तुरइया मङ्गल गावें, नाचे बालम खीरा ॥ १ ॥

७ ८ ९
भैंस पदमनी चूहा आशिक, मैंढक ताल बजावे।

१० ११
चोला पहर गधइया नांचे, ऊँट विशन पद गावे ॥ २ ॥

१२ १३
रूपा पहरे रूप दिखावे, सोना पहर रिझावे।
गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे ॥ ३ ॥

१४ १५ १६
आम चढ़े मछली फल तोड़े, कछुवा चुन २ लावे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बिरला अर्थ लगावे ॥ ४ ॥

१. (१) माया (२) आँख दिखाना=मोहित करना (३) गोलाकार ब्रह्माण्ड जड़, चेत्तन के दो अर्धभाग जो दोनों बांये ओर से जुड़े हैं—पुरुष प्रकृति (४) पिण्ड-मनुष्य शरीर—जड़ चेतन के दो भाग, स्त्री पुरुष के रूप में जो दांये बांये स्थित हैं।

२. (५) (एक प्रकार की हरी तरकारी) पाँच ज्ञानी इन्द्री जो इन्द्री ज्ञान के गीत गाती रहती हैं। (६) बड़ा खीरा—जीव आत्मा अहंकार के साथ जो मान बड़ाई का अभिमानी है। (७) स्थूल माया—बड़ी स्याह रङ्ग वाली माया—काली कराली। (८) मनुष्य का चंचल मन। (९) चंचल चित्त।

३. (१०) बिना विवेक विचार व विद्या, बुद्धि रहित भक्ति जो माया का एक रूप है। (११) अहंकार का रूप जो मन की विशेष वृत्ति है। (१२) सगुन भक्ति जो माया के साथ है। (१३) निर्गुण भक्ति जो माया के साथ है।

४. (१४) अमृत का फल—भक्ति का मिठास। (१५) मन की वह चंचल वृत्ति जो कल्पित एकाग्रता के भाव से योग का साधन करती है। (१६) एकाग्र वृत्ति।

माया नाना प्रकार के रूप वाली होती है। केवल सन्तों में ही यह सामर्थ्य है जो इसके मन लुभाने वाले चरित्रों अथवा भरमाने वाली लीलाओं के जाल में नहीं आते। जो कुछ इस संसार में हो रहा है यह केवल माया की ही चतुराई है। और माया "अनहुई" होती हुई भी भांति भांति के नाच नाचती, नचाती और भरमाती रहती है।

माया का प्रथम खेल यह है कि उसने कुछ कद्दू रूपी ब्रह्म के दो रूप बनाये। एक पुरुष दूसरा प्रकृति और सारे जगत् में इन्हीं दोनों की दुहाई दी जाती है।

माया का दूसरा चरित्र यह है कि नीबू के रूप वाले जीवात्मा को पुरुष और स्त्री के दो रूपों में प्रकट किया। और वह मंजीरे की तरह टनटनाने लगे।

माया का तीसरा खेल यह है कि उसने पाँच इन्द्रियों को रच कर उनको मङ्गल गाने के निमित्त उत्पन्न कर दिया और उनके बीच अहंकार युक्त जीवात्मा नाचने लगा, रागरङ्ग की लीलाएँ होने लगी।

माया का चौथा खेल यह है कि वह भैंस यानी स्थूल जगत्रूप और इसकी सामग्री भोग विलास इत्यादि उत्पन्न करके मनुष्य के चंचल स्वभाववाले 'मन' रूपी चूहे को अपना प्रेमी बनाया और मेंढक की तरह फुदकने वाला 'चित्त' रह रह कर ताल बजाने लगा। और जो प्राणी विषयासक्त थे, उसके माया जाल अथवा उसके प्रेम में बद्ध हो गये। कहां भैंस! और कहां चूहा। कहाँ जीव का क्षुद्र हृदय और कहाँ माया के अपरम्पार आडम्बर! परन्तु वह तो इस भैंस के पीछे पड़ा ही रहता है।

माया का पांचवाँ खेल यह है कि उसने बेष्ठी माया अथवा अविद्या का स्वरूप धारण कर अविवेक और ज्ञान के रूप में भक्ति का जाल फैलाया। और तरह तरह के चोले बदल कर गधी की तरह हाथ पाँव मारने लगी। और अहंकार मुक्त जीवात्मा उसका अभिमानी बन कर 'विशन पद' भजन कर मस्त होकर गाने लगा। इस प्रकार की भक्ति अति अधम है अथवा निकृष्ट है।

माया का छटा चरित्र यह है कि चाँदी के आभूषण पहन कर रूपवती बन गई और सगुण भक्ति कर प्रचार किया। लोग उस पर रीझ गये।

माया का सातवां खेल यह हुआ कि उसने निर्गुण रूप बनकर निर्गुण भक्ति का साज सजाया और सोने के वस्त्र पहन कर सब को मोहित कर लिया। गले में तुलसी की माला डाल ली। बाहरी स्वांग बनाया, और तीनों लोकों को जाल में फाँस लिया। तीन प्रकार की भक्ति केवल माया के खेल हैं। और कुछ नहीं, न जीवों को ज्ञान होता है न अपने और माया के रूप को ही समझते हैं—और इसी कारण स्थूल और सूक्ष्म रूपों पर जी जान से अपने को न्यौछावर कर देते हैं, यह सब तो खेल हुए।

माया ने आठवां खेल रचा—जोग जुगत की रीत चलाई, जीव उसकी ओर चला। योग साधन में लगा इससे दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न हुईं। एक तो मछली की भांति चंचल जो एकाग्रता के मिठास की वासना को लेकर आम के वृक्ष पर फल तोड़ने को दौड़ी, आम और आम के फल का मिठास एकाग्रता का आनन्द है और दूसरी वृत्ति कछुए के रूप वाली एकाग्रता की वृत्ति है। जो इस मिठास में लीन होती है। फिर उट्ठान (उठान) के समय फिर हाथ पांव निकालता है, और जन्म मरण के चक्र से नहीं छूटता। यह आठ प्रकार के माया के खेल है। इसी कारण पुराणों में इसको अष्टांगना गौरी कहा है। सारांश यह है कि जब तक ज्ञान न हो तब तक जीव इसी प्रकार के आठों चरित्रों में फंसे रहते हैं।

सृष्टि की आयु।

आर्यावर्त्त के विद्वानों और बुद्धिमानों ने सृष्टि की आयु को १४ मन्वन्तरों में बांटा है, (इनमें से ६ मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवां अब बीत रहा है।) और एक मन्वन्तर में ७१ चर्युतुगी होती हैं अर्थात् चारों युग ७१ बार बीतते हैं। प्रत्येक की आयु नीचे लिखी है:—

१. सत्ययुग — १७, २८, ००० वर्ष
२. त्रेतायुग — १२, ९६, ००० ,,
३. द्वापरयुग — ८, ६४, ००० ,,
४. कलयुग — ४, ३२, ००० ,,

चारों का योग = ४३, २०, ००० तेतालीस लाख बीस हज़ार वर्ष।

इनको दिव्य युग कहते हैं। इस देवताओं के समय का परिमाण हमारे समय के परिमाण से तीन सो साठ गुना अधिक माना जाता है अर्थात् हमारा एक वर्ष देवताओं का (चौबीस घंटे का) ६० घड़ी का

एक दिन-रात, हमारे तीन वर्ष, देवताओं का एक महीना और और तीन सौ साठ वर्ष उनका एक दिव्य वर्ष होता है। ऐसे बारह हज़ार दिव्य वर्षों का एक "दिव्य-युग" होता है। इसे महायुग और चतुर्युगी भी कहते हैं। दिव्य वर्षों के हिसाब से बारह सौ दिव्य वर्षों का हमारा कलियुग, चौबीस सौ का द्वापर, छत्तीस सौ का त्रेता और अड़तालीस सौ वर्षों का सत्ययुग होता है। कुल मिलाकर १२,००० वर्ष होते हैं। यह एक दिव्ययुग है। ऐसे हज़ार दिव्य युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने युगों की एक रात्रि होती है।

इससे प्रकट है कि हर चतुर्युगी की आयु सौरमान से ४३, २०, ००० वर्ष की अथवा देवयान से १२,००० वर्ष की होती है। इसी को महायुग कहते हैं और अगर इसको ७१ से गुणा किया जावे तो एक मन्वन्तर हो जाता है। इस प्रकार के १४ मन्वन्तर व्यतीत हों तो दुनियाँ की आयु सम्पूर्ण होगी। परन्तु अब १४ मन्वन्तर में से केवल ६ मन्वन्तर और २७ चतुर्युगी बीती हैं, २८ वीं चतुर्युगी अब बीत रही है, जिसमें से तीन युग, सत्ययुग, त्रेता और द्वापर बीत चुके हैं और चौथा कलियुग अब बीत रहा है। कलियुग में सन् १९४२ तक ५०४३ वर्ष बीत चुके हैं इसलिए सृष्टि की उत्पत्ति का हिसाब इस प्रकार है:—

१. चतुर्युगी	४३, २०, ०००
१. मन्वन्तर	७१
	३०, ६७, २०, ०००
	६
६. मन्वन्तर	१, ८४, ०३, २०, ०००
७. वें मन्वन्तर में से २७ चतुर्युगी बीत चुकीं	११, ६६, ४०, ०००
अब २८ वीं चतुर्युगी है जिसके तीन युग बीत चुके हैं	३८, ८८, ०००
कलयुग में से जो वर्ष बीत चुकीं	५, ०४३
सम्पूर्ण योग—	१, ८६, ०८, ५३, ०४३ वर्ष बीत चुके हैं,

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति को १, ९६, ०८, ५३, ०४३ वर्ष हो चुके हैं।

यह चारों युग जब सहस्र बार व्यतीत होते हैं उसका नाम "ब्रह्मदिन" और इसी प्रकार इतने ही युगों की "ब्रह्मरात्रि" होती है! इस रात्रि दिन के गणित से मास पक्ष गिन कर ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु होती है, उसमें से पचास वर्ष को प्रथम परार्द्ध और दूसरे पचास वर्षों को द्वितीय परार्द्ध कहते हैं। इस रात्रि-दिवस गिनने का यह उपयोग था। एक ब्रह्म दिन भर इस सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति होती है, और ब्रह्म रात्रि भर प्रलय रहती है।

स्वामी रामदास कृत 'दासबोध' में लिखा है कि ऐसे जब हज़ार ब्रह्म हो जाते हैं तब विष्णु की एक घड़ी होती है। ऐसे जब हज़ार विष्णु हो जाते हैं तब महेश का एक पल होता है और ऐसे जब हज़ार महेश हो जाते हैं तब कहीं व्यक्ति (प्रकृति या माया) का आधा पल होता है—ऐसा माया का विस्तार है।

जिज्ञासु को सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में वाद-विवाद नहीं करना चाहिये, प्रतीत होने वाला जगत् मिथ्या है और उसका अधिष्ठानरूप ब्रह्म सत्य है, यह बात यदि अन्त में स्वीकार करनी है तो कल्पित की चाहे जिस प्रकार से उत्पत्ति मान लेने में विरोध नहीं है। अपने को जिज्ञासु मानने वाला अपने थोड़े से रहने वाले जीवन में बिना प्रयोजन की बातें करने में ही उस समय को बितादे और अवश्य जानने योग्य बातों को जानने में तथा प्राप्त करने योग्य की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले कर्त्तव्य में ध्यान नहीं दे तो वह अपनी हानि करता है। जैसे कोई मनुष्य जंगल में चला जाता है और उसके कोई विष का बुझा हुआ तीर मार दे उससे वह घायल हो जाय और उसको उसके सम्बन्धी समीप के गांव में लेजाकर उसको निकलवाने के लिये तथा उसको अच्छा करने के लिये किसी वैद्य को बुलावें। वह वैद्य आकर जब तीर निकालने लगे उस समय जिसके तीर लगा है वह पुरुष वैद्य से कहे कि—मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर पीछे से तीर निकालना और उपाय करना, मेरे प्रश्न ये हैं—"मेरे तीर मारने वाला ब्राह्मण था या और कोई जाति का था? वह शरीर से मोटा था या सांवला था? वह दुबला था या हृष्ट-पुष्ट था? उसका शरीर लंबा था या ठिगना था? उसका धनुष कौन से बन में से बांस का, कब और किसने बनाया था? उसकी मूंठ किसने कब और किस में से बनाई है? उसका फलका कब और किसने बनाया है। तथा इस फलके में विष किस प्रकार का किसने और कब लगाया? मुझसे कितनी दूर रहकर उसने तीर फेंका? वह मनुष्य इस समय कहाँ होगा? वह मनुष्य जिस ग्राम में रहता है वह ग्राम कब और किसने बसाया था? और उसकी इस समय कितनी बस्ती है? वैद्य उसके इन प्रश्नों के उत्तर देने को बैठे तो ठीक? या उसके शरीर में घुसे हुए तीर को निकाल कर उस घाव पर विषय को दूर करने वाली और घाव को भरदेने वाली औषध लगावे तो ठीक है? समझदार मनुष्य तो यही कहेगा कि उस घायल पुरुष के पूछे हुए सब प्रश्न व्यर्थ हैं, उसको तो केवल यही चाहिये था कि तीर निकाल कर उचित औषधि लगा देता। यहां सिद्धान्त में भी साधक को अपने, हृदय में जो अज्ञान रूपी तीर लगा हुआ है, उसको सद्गुरुरूप वैद्य के द्वारा निकलवा डालना चाहिये, निरर्थक प्रश्न करके काल क्षेप नहीं करना चाहिये?

सत्तायें।

सत्तायें तीन प्रकार की होती हैं:—यथा—

(१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक और (३) प्रतिभासिक।

१. पारमार्थिक सत्ता—जिस सत्ता का तीनों कालों में बाध न हो वह पारमार्थिक सत्ता है। जैसे ब्रह्म की सत्ता।

२. व्यावहारिक सत्ता—जो सत्ता केवल व्यवहार मात्र है अर्थात् जो न पारमार्थिक सत्ता है और न प्रतिभासित सत्ता, वह व्यावहारिक सत्ता है। यह ऐसी सत्ता है कि जिसे हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। सत् तो वह है जिसका कभी बाध न हो। व्यावहारिक सत्ता का ज्ञान से बाध होता है, इसलिये यह सत नहीं है। असत् वह है जिसकी तीनों कालों में प्रतीत न हो। जैसे आकाश—पुष्प; बंध्या-पुत्र; शश-शृंग। व्यावहारिक सत्ता की प्रतीति जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में होती है।

इसलिए यह असत् भी नहीं है। यह सत्ता अनिर्वचनीय है, अर्थात् इसके विषय में हम निश्चयरूप से कुछ भी नहीं कह सकते। यह व्यावहारिक सत्ता इस जगत् की है।

३. प्रतिभासिक सत्ता—प्रतिभासिक सत्ता केवल भ्रम-रूप है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति अथवा स्वप्न के दृश्य। रज्जु में सर्प नहीं है, लेकिन अन्धकार में रज्जु को देख कर सर्प की प्रतीति होने लगती है।

वास्तव में सत्ता तो एक पारमार्थिक ही है, व्यावहारिक और प्रतिभासिक सत्तायें उस सत्ता के आभास-मात्र हैं। यदि पारमार्थिक सत्ता न होती तो ये आभास भी प्रतीत न होते। ये दोनों सत्तायें मिथ्या हैं। प्रतिभासिक सत्ता, जो जगत् है, वह मिथ्या नहीं दिखाई देती। इसके मिथ्या होने का ज्ञान हो जाना ही वेदान्त के रहस्य को समझ लेना है।

अब प्रश्न यह है कि यदि यह जगत् मिथ्या है और है ही नहीं, तो यह प्रत्यक्ष क्यों प्रतीत होता है? इसका उत्तर यह है कि इसकी प्रतीति आत्मा के अज्ञान से है। जैसे स्वप्न के पदार्थ, आकाश में नीलिमा और रज्जु में सर्प का भास परमार्थ में नहीं है, तब भी अज्ञान से प्रतीत होते हैं। फिर प्रश्न यह है कि ये पदार्थ अज्ञान से कैसे प्रतीत होते हैं अर्थात् भ्रम कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर कई तरह से दिया गया है। भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने पृथक् पृथक् उत्तर दिये हैं। अज्ञान से पदार्थों का भान या प्रतीत होना ही ख्याति कहलाती है।

ख्याति के भेद।

ख्याति छै प्रकार की है:—यथा

[१] सत्-ख्याति, [२] असत् ख्याति, [३] आत्म-ख्याति, [४] अन्यथा-ख्याति, [५] अख्याति और [६] अनिर्वचनीय ख्याति।

१. सत् ख्याति— इस सिद्धान्त में भ्रम दिलाने वाली वस्तुओं के अवयव सत्य माने हैं। सीप में चांदी दिखाई देती है, जो भ्रम है। पर इस मत में कहा गया है, कि सीप में चांदी के अवयव हैं, जिससे सीप में चांदी दिखाई देती है। यह बात सर्वथा असत् (निरर्थक) है; क्योंकि यदि सीप में चांदी होती, तो सीप के जलाने पर चांदी का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य मिलता लेकिन यह बात नहीं है। सत् ख्याति के मत से जगत् मिथ्या प्रमाणित नहीं होता।

२. असत्-ख्याति— इसके दो भेद हैं, [१] शून्यवादी नास्तिकों की असत् ख्याति और [२] तांत्रिक असत् ख्याति।

[१]—शून्यवादी नास्तिकों की असत् ख्याति—शून्यवादी के मत में सारे पदार्थ असत्-रूप हैं; अतः सीपी में चांदी भी असत् है; सीपी भी असत् है। इसका अर्थ हुआ कि असत् अधिष्ठान में चांदी असत् है; इसलिए भ्रम निरधिष्ठान है। इसी प्रकार ज्ञाता का ज्ञान भी असत् है, यह मत अनुभव-विरुद्ध है; क्योंकि इसकी दृष्टि से सर्व स्थान में शून्य है। इसलिए कोई व्यवहार ही सिद्ध नहीं है। यदि यह कहो कि, व्यवहार का कर्त्ता विशेष है; तो शून्यता की हानि हुई। शून्य कहें, तो विशेषता नहीं हो सकती और विशेषता कहें तो शून्यता नहीं हो सकती।

[२]—तांत्रिक असत्-ख्याति में सीपी तो असत् नहीं है; पर सीपी में चांदी असत् है। चांदी अपने व्यवहारिक देश में तो है; पर उसका सीपी से कोई सम्बन्ध नहीं है और सीपी में चांदी प्रतीत भी नहीं होती। इस मत में शून्यवादी के मत के अनुसार ज्ञाता का ज्ञान असत् नहीं है; बल्कि शुक्ति ज्ञान का ज्ञाता-सत् है।

३. आत्म-ख्याति— इस मत में बाहर चांदी नहीं है। आत्मा का धर्म चांदी है और क्षणिक विज्ञान का नाम आत्मा है। सीपी में चांदी बराबर नहीं है, आत्मा में है; पर दोष-बल से बाहर दिखाई देती है। इस रजत यानी सीप की चांदी आन्तरिक सत्य है। उसकी बाह्यदेश में प्रतीति भ्रम है। रजत को आन्तरिक मानना अनुभव विरुद्ध है। सुखादि तो आन्तरिक अवश्य हैं; लेकिन रजतादिक पदार्थ आन्तरिक नहीं, बाह्य हैं।

४. अन्यथा ख्याति— इस मत में अन्य स्थान में देखी हुई वस्तु की तत्सदृश पदार्थ देखने पर स्मृति होती है, पर नेत्रों के दोष से वही दिखाई देने लगती है। अन्य रूप से प्रतीति का नाम अन्यथा-ख्याति है। शुक्ति में शुक्तित्व-धर्म है, रजतत्व नहीं है। पर शुक्ति की रजत-रूप से प्रतीति होना अन्य रूप से प्रतीति होना है और इसी का नाम अवस्था ख्याति है। एक देश की वस्तु दूसरे देश में दिखाई देना; जैसे बाजार में देखी हुई चांदी का सीप में दिखाई देना। कोई कोई अन्यथा याति का यह अर्थ समझते हैं कि अन्य देश की वस्तु नहीं दिखाई देती; किन्तु वही वस्तु, जैसे सीप दोष रहित नेत्रों से अन्यथा दिखाई देती है।

५. अख्याति— इस मत में दो ज्ञान माने गये हैं। १. प्रत्यक्ष ज्ञान और २. स्मृति ज्ञान। शुक्ति में रजत दिखाई देता है; इस वाक्य में शुक्ति तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और रजत स्मृति ज्ञान है। नेत्र-दोष से स्मृति ज्ञान प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है।

६. अनिर्वचनीय ख्याति— अन्तःकरण की वृत्ति नेत्रादि द्वारा निकल कर विषय के समान आकार को प्राप्त करती है। इससे विषय का आवरण नष्ट हो कर उसकी प्रतीति होने लगती है। इसमें प्रकाश भी सहाय होता है। प्रकाश के बिना पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। जब रज्जु में सर्प-भ्रम हो, तब अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा निकली भी और रज्जु से

उसका सम्बन्ध भी हुआ; परन्तु तिमिरादि - अन्ध अंधकारादि - दोष प्रतिबन्ध हैं, इससे रज्जु के समानाकार वृत्ति का स्वरूप नहीं होता और न रज्जु का आवरण टूटता है। ऐसी दशा में रज्जु चेतन में स्थित अविद्या में क्षोभ होकर वह अविद्या सर्पाकार परिणाम को प्राप्त होती है।

कल्पना करो कि अंधकार में लोहे का पात्र कुण्डे पर टका हुआ है। यदि दण्ड से कुण्डे को फोड़ भी डालें तो दीपक बिना उस निरावरण पात्र का प्रकाश नहीं होगा; अर्थात् दीपक से ही प्रकाश होगा। वैसे ही अज्ञान से आवृत घट के आवरण को वृत्ति यदि तोड़ भी दे, तथा घट का प्रकाश नहीं होगा; क्योंकि घट और वृत्ति, दोनों जड़ हैं, वृत्ति का प्रयोजन तो आवरण-भङ्गमात्र है, प्रकाश करना नहीं, इसलिये उससे प्रकाश नहीं होगा। प्रकाश होगा आभास से।

घट को देखने के लिये अन्तःकरण की आभास सहित वृत्ति को घटाकार होना चाहिये; जिसमें वृत्ति से तो घट का आवरण भङ्ग हो जाए और आभास से वह प्रकाशित हो - दिखाई देने लगे। वृत्ति और घट, दोनों के एक देश में स्थिर न होने से घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और दोनों के एक देश में न होने से घट का परोक्ष ज्ञान होता है; अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति तो घटाकार हो लेकिन वृत्ति के साथ घट का संयोग न हो।

जब प्रमातृ-चेतन की वृत्ति-चेतन के द्वारा विषय - चेतन से अभेद होता है— जैसे तड़ाग के जल का नली के जल द्वारा खेत के जल से अभेद होता है—तब विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि वृत्ति-चेतन द्वारा ये दोनों चेतन अभिन्न न हों, तो परोक्ष-ज्ञान होता है।

पूर्व-मीमांसा, सांख्य और योग ये (आख्याति) को मानते हैं। वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति को मानता है। शून्यवादी असत् - ख्याति को मानता है। क्षणिक विज्ञान-वादी आत्म-ख्याति को और जड़-वादी सत् ख्याति को मानता है।

—०:०:०—

शान्ति का परम उपाय।

आप असंग रहना और अपने को सदा असंग ही समझना चाहिये, हम दोनों साथ चलते हैं, तब दो निश्चय होता है और अकेले चलते हैं तब एक निश्चय होता है, इसी प्रकार अपने आप को सर्वदा असंग समझो, कोई कर्त्तव्य अपने में न आरोप करो यही शान्ति का परम उपाय है। जिस प्रकार सीपी में जब रजत भ्रम होता है तब उसमें प्रवृत्ति होती है, बिना भ्रम हुए कल्पित रजत के उठाने में प्रवृत्ति नहीं होती और जैसे, रज्जु में सर्प के भ्रम से उसी से पलायन करते हैं और उससे आवश्यकता निवृत्ति होती

है। यदि सर्प भ्रम न होवे तो भागने की क्या आवश्यकता है, ऐसे ही संसार में विधि निषेधरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति आश्रय भ्रम है।

जब तक द्वैत में मिथ्यात्व बुद्धि नहीं हुई, देह जगत् की सत्यता का भ्रम निवृत्त नहीं हुआ तब तक विधि निषेध है क्योंकि मिथ्या ज्ञान निवृत्त हुए पीछे प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दोनों क्रिया नहीं होती हैं। इसी हेतु से, तत्त्व निश्चय करके, प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों में कर्त्तव्य रहित होकर, अपने आपको अद्वितीय शिव समझो, यह दृढ़ निश्चय ही शान्ति का परम उपाय है।" असंगोऽह्यं पुरुषः" श्रुति। यह पुरुष सब संगों से रहित है। नत्य निरन्तर अद्वितीय निर्विशेष, असंग ही, स्वस्वरूप चिन्तन करते रहना चाहिये, अज्ञात ब्रह्म में दृश्य का अध्यास है, जब ज्ञात हुआ तब अध्यास कहां? आनंद ही आनंद है।

अथ अध्यास निरूपण।

अध्यास— भ्रान्ति ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु और भ्रान्ति ज्ञान उसका नाम अध्यास है। जैसे, रज्जु में सर्प और सर्प का भ्रान्ति-ज्ञान।

आत्मा में जन्म-मरण रूप प्रपंच का जो भ्रम है सो मिथ्या अध्यास रूप है। ज्ञान, वस्तु के विषय में अध्यास और उसके अज्ञान को दूर करता है। जैसे, रज्जु का ज्ञान रज्जु के विषय में सर्प के अध्यास को और रज्जु के अज्ञान को दूर करता है।

अध्यास दो प्रकार का है:—(१) अर्थाध्यास और (२) ज्ञानाध्यास।

(१) अर्थाध्यास— भ्रान्ति ज्ञान का विषय जो जो सर्पादिक मिथ्या वस्तु है, वह अर्थाध्यास है।

(२) ज्ञानाध्यास— जो मिथ्या वस्तु का मिथ्या ज्ञान है, वह ज्ञानाध्यास है।

(१) अर्थाध्यास

अर्थाध्यास छै प्रकार का है:—यथा

(१) केवल सम्बन्धाध्यास, (२) सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास, (३) केवल धर्माध्यास, (४) धर्म सहित धर्मों का अध्यास, (५) अन्योन्याध्यास, और (६) अन्तराध्यास।

१. केवल सम्बन्धाध्यास—अनात्मा में आत्मा का अध्यास होता है, वही आत्मा का अनात्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध अध्यास है, आत्मा की स्वरूप अध्यस्त नहीं, इससे अनात्मा में आत्मा केवल सम्बन्धाध्यास है।

२. संबंध सहित सम्बन्धी का अध्यास—आत्मा में अनात्मा का सम्बन्ध और स्वरूप दोनों अध्यस्त हैं, इससे आत्मा में अनात्मा का सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास है।

३. केवल धर्माध्यास—स्थूल देह के गौरतादिक और इन्द्रियन के—दर्शनादिक धर्मों का ही आत्मा में देह और इन्द्रियन का केवल धर्माध्यास है।

४. धर्म सहित धर्मों का अध्यास—अन्तःकरण के कर्त्तापना आदि धर्म और स्वरूप दोनों आत्मा में अध्यस्त है, इससे अन्तःकरण का आत्मा में धर्म सहित धर्मों का अध्यास है।

५. अन्योन्याध्यास— लौह और अग्नि की न्याईं आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का जो अध्यास है, सो अन्योन्याध्यास है।

६. अन्तराध्यास— अनात्मा में आत्मा का स्वरूप अध्यसत् नहीं किन्तु आत्मा में अनात्मा का स्वरूप अध्यस्त है, यही अन्तराध्यास है। यह दो प्रकार का है। (१) आत्मा में अनात्माध्यास और (२) अनात्मा में आत्माध्यास।

दूसरी रीति से अध्यास दो प्रकार का है:—(१) स्वरूपाध्यास और (२) संसर्गाध्यास। उनके अन्तर्गत उपर्युक्त छै भेद हैं और भेद भ्रान्ति आदि पंच प्रकार के भ्रम भी इसके अन्तर्गत हैं।

(१) स्वरूपाध्यास— शुक्ति में रजत का स्वरूपाध्यास है, अर्थात् रजत का स्वरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न हो, उसे स्वरूपाध्यास कहते हैं।

(२) संसर्गाध्यास— दर्पण में मुख का सम्बन्ध प्रतीति होता है और वह सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। अतः दर्पण में मुख की प्रतीति संसर्गाध्यास है। जिस पदार्थ का स्वरूप प्रथम सिद्ध हो (चाहे व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक) और अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न हो वह संसर्गध्यास है।

दोनों में एक का अध्यास अन्यतराध्यास है, ज्ञान से बाध होने योग्य वस्तु अधिष्ठान में स्वरूप से अध्यस्त होती है, देहादि अनात्मा का अधिष्ठान के ज्ञान से बाध होता है, इससे उसका आत्मा में स्वरूपाध्यास है, बाध के अयोग्य वस्तु का स्वरूप अध्यस्त होता नहीं। किन्तु उसका सम्बन्ध अध्यस्त होता है। इससे अनात्मा में आत्मा का संसर्गाध्यास है। इसी को सम्बन्ध्यास भी कहते हैं।

केवल धर्माध्यास, धर्म सहित धर्मों का अध्यास और अन्तराध्यास ये तीन स्वरूपाध्यास के अन्तर्गत हैं, केवल सम्बधाध्यास संसर्गाध्यास ही है, सम्बन्ध-सहित सम्बन्धी का अध्यास संसर्गाध्यास स्वरूपाध्यास दोनों हैं, क्योंकि आत्मा का स्वरूप तो सत्य है, इसीसे अध्यस्त नहीं; किन्तु उसका संसर्ग यानी तादात्म्य सम्बन्ध अनात्मा अध्यस्त है, इससे उसका संसर्गाध्यास है और अनात्मा का स्वरूप ही आत्मा में अध्यस्त है, इससे उसका स्वरूपाध्यास है, इससे अन्योन्याध्यास दोनों के अंतर्गत है।

पाँच प्रकार की भेद भ्रान्ति ये हैं:—यथा (१) जीव-ईश भेद, (२) जीवों का

परस्पर भेद, (३) जड़-जड़ का भेद और (५) जड़—ईश का भेद। यह एक ही भेद भ्रान्ति पाँच प्रकार की है उसकी निवृत्ति में दृष्टान्त। (१) जीव-ईश का भेद कल्पित है। अविद्या माया उपाधि कृत होने से घटाकाश महाकाश के भेद की भांति (२) जीवों का परस्पर भेद कल्पित है, साभास, अन्तःकरण रूप उपाधि कृत होने से नाना घटाकाश की भेद की भांति (३) जड़-जड़ का भेद कल्पित नाम रूप मय उपाधि कृत होने से रज्जु में कल्पित सर्प दण्डादिक के तुल्य (४) जीव जड़ का भेद कल्पित है। साभास अन्तःकरण और निराभास नाम रूप मय उपाधिकृत होने से स्वप्नगत चर अचर की भांति और (५) ईश जड़ का भेद कल्पित है, साभास माया और नाम रूप उपाधि कृत होने से साक्षी और स्वप्न प्रपंच के भेद तुल्य।

इनमें संग भ्रान्ति को छोड़ के चार प्रकार के भ्रम स्वरूपाध्यास के अन्तर्गत हैं। पाँचवीं संग भ्रान्ति संसर्गाध्यास के भीतर है।

अन्योन्याध्यास भी संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास के अन्तर्गत है और द्वैत सहितपना इन दोनों विशेषणों ने आत्मा के आनन्द और आत्मा के अद्वैतपना को ढका, है इससे आत्मा में 'आनन्दरूप और अद्वैतरूप, ऐसी प्रतीति होती नहीं, किन्तु मैं दुःखी और ईश्वरादि से भिन्न हूँ ऐसी प्रतीति होती है। आत्मा के सत् और चित्, इन दो विशेषणों ने अनात्मा के असत् और जड़पने को ढका है, ऐसी प्रतीति होती नहीं, किन्तु विद्यमान है और भासता चेतन है, ऐसी प्रतीति होती है। इस रीति से आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास है।

(२) ज्ञानाध्यास।

ज्ञानाध्यास दो प्रकार का है, (१) परोक्ष और (२) अपरोक्ष।

(१) परोक्ष-भ्रम— जिस स्थान में अग्नि नहीं, वहां अग्नि का ज्ञान अनुमिति से हो, वह परोक्ष भ्रम है। जैसे रसोई घर में अग्नि का भ्रम ज्ञान।

(२) अपरोक्ष-भ्रम—मरुस्थली में जल की प्रतीति, जिसे मृग-तृष्णा कहते हैं, अपरोक्ष—भ्रम-ज्ञान है।

अध्यास की सामग्री

सजातीय वस्तु के ज्ञान के संस्कार अध्यास के हेतु हैं; जैसे जिसने पहले सर्प देखा होगा, उसी को रज्जु में सर्प का अध्यास होगा, अन्य को नहीं। ज्ञान चाहे सत्य वस्तु का हो चाहे मिथ्या वस्तु का, अहंकार से लेकर अनात्म वस्तु और उसका ज्ञान बंध कहलाता है। इसलिये बन्ध का अध्यास भी हो सकता है। पहले जन्म के संस्कारों से दूसरे जन्म के बन्ध का अध्यास होता है।

पूर्वोक्त विषय का सारांश यह है कि यह जगत्-प्रपंच, जो माया का उत्पन्न किया हुआ है, आत्मा का अध्यास है किन्तु जीव पहले जन्म के संस्कारों के कारण दूसरे जन्म में भी अपने बन्ध का अध्यास देखता है। जगत्, जीव या आत्मा का अध्यास और ब्रह्म का विवर्त है। अध्यास तो देखने वाले की दृष्टि से है। और विवर्त उस वस्तु की दृष्टि से है, जिस पर भ्रम आरोपित किया जाता है। उदाहरण—रज्जु में सर्प का भाव है। यहां रज्जु पर सर्प-भ्रम आरोपित है। रज्जु के लिये सर्प-भ्रम विवर्त है; लेकिन देखने वाले के लिये यह भ्रम अध्यास है।

अध्यारोप और अपवाद।

अध्यारोप-अपवाद इन दोनों करके ही अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान होता है। उनके बिना उस ब्रह्म का ज्ञान होता नहीं।

अध्यारोप-- सच्चिदानन्द-ब्रह्म-वस्तु में माया-पुञ्ज-अवस्तु का आरोप करना—अध्यारोप है। अर्थात् वास्तव में द्वैत प्रपंच से रहित ब्रह्म में जो द्वैत प्रपंच का आरोप है, उसका नाम अध्यारोप है।

उदाहरण—किसी रस्सी के टुकड़े को अंधेरे में सर्प समझना, अर्थात् रस्सी के वास्तविक रूप को नहीं जानकर उसमें सर्प की मिथ्या कल्पना करना। इसी प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म में संसार की कल्पना करना अध्यारोप है।

अंग्रेजी में अध्यारोप को Synthetical Method कहते हैं।

अपवाद—उस आरोपित का जो 'नेह नानास्ति किञ्चन्' इत्यादि श्रुतिओं से निषेध है उसका नाम अपवाद है, अर्थात् अध्यारोप के विपरीत, अर्थात् असत्य को हटाकर सत्य-वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना, अपवाद है। इस नियम से यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि संसार असत्य है और केवल ब्रह्म ही सत्य है।

संसार, सत्य-वस्तु ब्रह्म का विकार नहीं, किन्तु विवर्त है, जो देखने—भर को ही है—वास्तव में कुछ भी नहीं है। अध्यारोप से संसार की उत्पत्ति आदि का भाव प्राप्त होता है और अपवाद से ब्रह्म का।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रह्म से मिली त्रिगुणात्मिका माया से ही संसार उत्पन्न हुआ है। पहले आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी और इसी प्रकार और भी क्रम है। यह अध्यारोप का नियम है—अर्थात् ब्रह्म में अवस्तु का आरोप करना है। इसके विपरीत यह समझना कि पृथ्वी जल से उत्पन्न हुई, जल अग्नि से हुआ, और अग्नि वायु से, वायु आकाश से हुई और आकाश माया से उत्पन्न हुआ और माया असत्य है—केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है, यही अपवाद है। अंग्रेजी में अपवाद को Analytical Method कहते हैं।

अविद्या–भ्रम दूर करने का उपाय

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँच भेद वाली अविद्या को पांच क्लेश भी कहते हैं।

अविद्या– किसी वस्तु में उसके विपरीत अन्य वस्तु का ज्ञान अविद्या कहलाती है।

अस्मिता———इस अविद्या से ही पुरुष को देह आदि जड़ पदार्थों में आत्मा की बुद्धि, स्त्री आदि के अपवित्र शरीर में पवित्रता की बुद्धि, स्वर्ग आदि अनित्य पदार्थों में नित्यता की बुद्धि और दुःखदायक विषयों में सुख की बुद्धि होती है और बुद्धि आत्मा के अभेद की भ्रान्ति अस्मिता कहलाती है।

राग—— विषयों से होने वाले सुख और सुख के साधनों में प्रीति राग कहलाती है।

द्वेष——-दुःख और दुःख के साधनों की ओर क्रोध द्वेष कहलाता है।

अभिनिवेश—मरण का अत्यन्त भय अभिनिवेश कहलाता है।

इन पाँच भेदों वाली अविद्या के सद्भाव से ही पुरुष तीन प्रकार के तापों का अनुभव करता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों तापों के नाम हैं। स्थूल शरीर में ज्वर आदि रोग उत्पन्न हो जाने से और सूक्ष्म शरीर में काम, क्रोध आदि विकार उत्पन्न हो जाने से जो पीड़ा हो जाती है उसका नाम आध्यात्मिक ताप है; चोर, सिंह आदि अन्य प्राणियों से पीड़ा होती है वह आधिभौतिक ताप है; अति-वृष्टि, अनावृष्टि आदि से जो पीड़ा होती है वह आधिदैविक ताप कहलाती है। पुरुष को जब कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है तब अविद्या का अत्यन्त लय हो जाने से पुरुष के इस त्रिविध ताप का अत्यन्त नाश हो जाता है।

हम पहले कह आये हैं कि आत्मा ब्रह्म ही है, अन्य नहीं, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। अविद्या की उत्पन्न की हुई उपाधियों से उसका वास्तविक रूप छिपा हुआ है। यदि विचार द्वारा उपाधियाँ हट जांय, तो शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म रह जावे। इन उपाधियों के हटाने का नाम ही आत्म-शुद्धि है। अविद्या का विलय केवल एक मात्र परा विद्या के प्रभाव ही से हो सकता है। ज्ञान जननी विद्या के उदय होने पर अज्ञान प्रसविनी अविद्या प्रकाश के सन्मुख अंधकार के समान लय हो जाती है। अविद्या के दूर करने में और कोई दैवी शक्ति कार्य कारिणी नहीं होती है।

धार्मिक ग्रन्थों की सूची

हिन्दू धर्म के प्रतिपादक सब शास्त्र निम्न लिखित हैं:—

चार वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म शास्त्र, ये चौदह ❀ विद्या और धर्म के स्थान हैं। इन चतुर्दश प्रकार की विद्याओं से सनातन धर्म जाना जाता है। इन्हीं चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत समस्त शास्त्र आ जाते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। चार वेदों की ११३१ शाखा, प्रत्येक शाखा के साथ ११३१ ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्प वेदाङ्ग के ११३१ श्रौत सूत्र, तथा ११३१ गृह्य सूत्र, ४ वेदों की चार शिक्षा, एक व्याकरण, एक निरुक्त, एक छन्द, एक ज्योतिष, बीस २० धर्मशास्त्र (मनु आदि स्मृति), दो मीमांसा(पूर्व और उत्तर मीमांसा), ४ न्याय (न्याय; वैशेषिक, साँख्य, योग) ये चारों एक एक प्रकार से अपने उद्दिष्ट विषय का न्याय नाम निर्णय (फैसला) करने वाले हैं, २० इतिहास पुराण ये सब कम से कम सनातन धर्म तथा विद्या के भण्डार ४५७८ चार हजार पाँच सौ अठहत्तर विद्या धर्म की पुस्तकें पूर्व काल में विद्यमान थीं। इनसे भिन्न उपवेद तथा उप पुराणादि अन्य भी ग्रन्थ शेष रहते हैं। उप-वेदों का वेदों में और उप-पुराणों का पुराणों में अंतर्भाव हो सकेगा। परन्तु मुख्य कर यही चौदह प्रकार की विद्या मनुष्य को संसार समुद्र से पार करने वाली हैं। उपनिषद् पुस्तक; शाखा तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत आजाने से पृथक् नहीं गिने गये हैं तथा उस २ वेद के उपनिषद् भी उसी २ वेद के अन्तर्गत माने जाते हैं।

इन चौदह विद्याओं का आदि कर्त्ता जगन्नियन्ता परमेश्वर है। जैसे कि श्रुति † में लिखा है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या उपनिषद् मन्त्र, सूत्र व्याख्यान इत्यादि सब शास्त्र ईश्वर के श्वाँस हैं, अर्थात् सब शास्त्रों का आदि कारण ईश्वर है। "शास्त्र योनित्वात्" वेदान्त-दर्शन।)

वेद विषय

प्र० —वेद क्या है ?

उत्तर—वेद ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान है।

प्रश्न— वेद कितने और कौन २ हैं ?

उत्तर—[१] ऋग्, यजुः, [३] साम, [४] अथर्व यह चार वेद हैं।

प्रश्न —वेदों में क्या लिखा है ?

उत्तर—वेदों में ज्ञान, विज्ञान, ब्रह्मविद्या और धर्म का उपदेश है। वेद सकल ज्ञान का भण्डार है।

❀ पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ (याज्ञ० अ० १-३)

† अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराण विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि॥ (बृ० ३०४/५/११)

सब शास्त्र वेद से ही उत्पन्न हुए हैं। मुख्य कर वेद में तीन विषय हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। वेदत्रयी रूप से ‡ प्रसिद्ध हैं।

प्रश्न —ईश्वर निराकार है तो फिर उसने वेद कब और कैसे बनाये ?

उत्तर—वेद अनादि अपौरुषेय हैं। ब्रह्माजी द्वारा प्रकट हुए और ऋषियों द्वारा प्रचारित हुए। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने चार वेदों का ज्ञान चार ऋषियों के हृदयों में अपनी सामर्थ्य से प्रकट किया।

प्रश्न —किन २ ऋषियों के हृदय में किन २ वेदों का ज्ञान दिया ?

उत्तर—ऋग् का अग्नि ऋषि के, यजु का वायुः ऋषि के, साम का आदित्य ऋषि के, अर्थव का अङ्गिरा ऋषि के हृदय में ज्ञान प्रकट हुआ।

प्रश्न —इन चारों पर ही वेद क्यों प्रकट हुए।

उत्तर—क्योंकि पूर्व कल्प कर्मों के के अनुसार इनकी आत्मा सब से पवित्र थी।

प्रश्न —चारों वेदों में क्या लिखा है ?

उत्तर—ऋग्वेद में ज्ञान अर्थात् पदार्थों के नाम और गुण की व्याख्या है, सारे यजुर्वेद में यज्ञ अर्थात् सारे पदार्थों के उपयोग (काम) में लाने की विधि, सामवेद में उपासना अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करने का ज्ञान, और अथर्ववेद में विज्ञान अर्थात् साईन्स है।

प्रश्न —ईश्वर ने वेद किस लिए बनाये ?

उत्तर - संसार को सत्य विद्या सिखाने के लिए। जिनके ज्ञान को सुनकर, पढ़ कर और उसके अनुसार आचरण करने से मनुष्य मोक्ष पा सकता है।

उपवेद-विषय

प्रश्न—उपवेद कितने और कौन हैं ?

उत्तर—उपवेद चार हैं (१) आयुर्वेद (ऋग्वेद का) अर्थात् वैद्यक, (२) धनुर्वेद (यजुर्वेद का), (३) गांधर्ववेद (साम वेद का) अर्थात् संगीत शास्त्र और (४) अर्थवेद (अथर्व वेद का) अर्थात् शिल्प-विद्या वा वास्तु।

प्रश्न—आयुर्वेद के रचयिता कौन हैं और इसका विषय क्या है ?

उत्तर—आयुर्वेद के प्रकट कर्त्ता ब्रह्म प्रजापति अश्विनी कुमार, धनवंतरि आदि हैं और उसमें शारीरिक चिकित्सादि (स्वास्थ्य रक्षा) विषय है।

---

‡ उपास्ति ज्ञान कर्माख्यै स्त्रिकाण्डैर्विश्रताश्रुति ॥ (शर्गा०४/५४)

प्रश्न—आयुर्वेद सम्बन्धी कौन २ ग्रन्थ हैं।

उत्तर—चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, हारीत इत्यादि।

प्रश्न—धनुर्वेद के कर्त्ता कौन हैं और इसमें क्या विषय है ?

उत्तर—धनुर्वेद के रचयिता विश्वामित्रादि हैं और उसमें मुक्त (चक्रादि), अमुक्त (खड्गादि) मुक्तामुक्त (बरछी आदि) और यन्त्र मुक्त (सर गोली आदि) ये चार प्रकार की आयुधरूपी विद्या का विषय है।

प्रश्न—गांधर्ववेद के रचयिता कौन हैं, और इसमें क्या विषय है ?

उत्तर—गांधर्व वेद के प्रकटकर्त्ता भरत, नारदादि हैं और इसमें स्वर ताल, वाद्य, मूर्छनादि (गान) विद्या का विषय है।

प्रश्न—अर्थ वेद किसने प्रकट किया है ?

उत्तर—अर्थ वेद के रचयिता विश्वकर्मादि हैं।

प्रश्न—अर्थ वेद सम्बन्धी कौन २ शास्त्र हैं ?

उत्तर—अर्थ वेद सम्बन्धी अनेक शास्त्र हैं यथा—नीति शास्त्र, अश्व शास्त्र, शिल्प शास्त्र, सूर्य शास्त्र, इत्यादि हैं और इनमें धनोपार्जनादि विषय हैं।

वेदांग-विषय

प्रश्न—वेदाङ्ग कितने और कौन हैं ?

उत्तर—वेदाङ्ग † छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष।

प्रश्न—शिक्षा में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—इसमें वर्णोच्चारादि अर्थात् उदात्त (उच्चस्वर), अनुदात्त (नीच-स्वर), स्वरित (समान स्वर) उच्चारणादि ज्ञान का विषय है और कर्त्ता पाणिनीयादि मुनि हैं। अर्थात् वेद के पढ़ने की विधि को शिक्षा कहते हैं।

प्रश्न—कल्प में क्या विषय है और किसने प्रकट किया है ?

उत्तर—इसमें यज्ञ विषय है और प्रकटकर्त्ता कात्यायन, आश्वलायनादि ऋषि हैं अर्थात् कल्प उसे कहते हैं जिसमें सब कर्मों के करने की रीति लिखी है।

---

† छन्दः पादौतु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्र मुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

प्रश्न—व्याकरण शास्त्र में क्या विषय है और उसका प्रकटकर्त्ता कौन है ?

उत्तर—इसमें शब्द विचार विषय (अर्थात् वेद के शब्दों की शुद्धता का ज्ञान) है और कर्त्ता पाणिन्यादि हैं।

प्रश्न—निरूक्त में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—इसमें वैदिक शब्दों की निरूक्ति (अर्थात् वेद के मंत्रों में अप्रसिद्ध पदों के अर्थ का बोध) विषय है और यास्कादि ऋषि कर्त्ता हैं। अर्थात् जिसमें वेद के कठिन शब्दों का अर्थ लिखा हुआ है उसे निरूक्ति कहते हैं।

प्रश्न—छन्द में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—इसमें वैदिक तथा लौकिक छन्दों के जानने की रीति है और पिङ्गलाचार्य आदि ऋषियों ने प्रकट किया है। जिसमें अक्षर मात्रा वृत्त का ज्ञान हो, उसे छन्द कहते हैं।

प्रश्न—ज्योतिष में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—ज्योतिष शास्त्र में गणित और फलित दो विषय हैं। अर्कांश पुरुष तथा मय आदि कर्त्ता हैं।

(वेद शाखा-विषय)

प्रश्न—वेद की कुल कितनी शाखाएँ हैं।

उत्तर—ग्यारह सौ इकत्तीस कुल शाखा हैं।

प्रश्न—कौन २ वेद की कितनी २ शाखाएँ हैं ?

उत्तर—ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० अथर्व वेद की ९ शाखाएँ हैं। कोई २ यजुर्वेद की १०९ और अथर्व वेद की ५० शाखाएँ बतलाते हैं, इस प्रकार शाखाएँ ११८० हो जाती हैं।

उपनिषद्-विषय

प्रश्न—उनिषद् कितने और कौन हैं ?

उत्तर—उपनिषद् १०८ हैं, ईश, केन, कठादि।

प्रश्न—उपनिषद् में क्या विषय है ?

उत्तर—उपनिषदों में ब्रह्मविद्या और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा के ज्ञान का विषय है। इनका विशेष विवरण अन्यत्र दिया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ-विषय।

प्रश्न—ब्राह्मण ग्रन्थ कितने और कौन २ हैं।

उत्तर—ऐतरेय, शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्डय, कौषीतकि आदि अनेक हैं।

प्रश्न—ब्राह्मण ग्रन्थों में क्या विषय है और किसने बनाये।

उत्तर—यज्ञादि विषय और अपौरुषेय (ईश्वर निःश्वसित) हैं।

स्मृति-विषय।

प्रश्न—स्मृति कितनी और कौन २ हैं तथा इनके कर्त्ता कौन हैं?

उत्तर—स्मृति २० हैं। मनु याज्ञवल्क्य अत्रि आदि, उन २ स्मृतियों के नाम धारी ऋषियों ने बनाई हैं जैसे मनुस्मृति मनु महाराज ने, अत्रि-स्मृति अत्रि ऋषि ने बनाई है।

प्रश्न—स्मृतियों में क्या विषय है और मुख्य कौन स्मृति है?

उत्तर—स्मृतियों में धर्माधर्म का ज्ञान एवं वर्णाश्रम विज्ञान और लोक व्यवहार की व्याख्या इत्यादि विषय, तथा मनु-स्मृति, याज्ञवल्क्य, पराशर, वशिष्ठ और गौतम ये सब में मुख्य हैं।

दर्शन शास्त्र-विषय

दर्शन शास्त्र के विषय में अन्यत्र विशेष विवरण दिया गया है।

प्रश्न—दर्शन शास्त्र कितने और कौन २ हैं?

उत्तर—दर्शन शास्त्र छः हैं। मीमांसा, सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय और वैशेषिक।

प्रश्न—मीमांसा में क्या विषय है और किसने बनाया?

उत्तर—इस में कर्म काण्ड विषय है, जैमिनि आचार्य ने बनाया है।

प्रश्न—सांख्य में क्या विषय और किसने बनाया?

उत्तर—इस में प्रकृति पुरुष का भेद विषय है, और कपिल देव जी ने बनाया।

प्रश्न—योग क्या विषय है और किसने बनाया?

उत्तर—इस में योग क्रिया विषय है और पतंजलि मुनि ने बनाया।

प्रश्न—वेदान्त क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—इसमें जीव ब्रह्म ऐक्य विषय है और श्री वेद व्यासजी ने बनाया ।

प्रश्न—न्याय में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—तत्वज्ञान विषय है और गौतम ने बनाया ।

प्रश्न—वैशेषिक में क्या विषय है और किसने बनाया ?

उत्तर—इस में निःश्रेयस विषय है और कणाद मुनि ने बनाया ।

पुराण–विषय

प्रश्न—पुराण कितने और किसने बनाये ?

उत्तर—पुराण १८ हैं (ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, लिङ्ग पुराण, गर्ग पुराण, नारद पुराण, श्री मद्भागवत, अग्नि पुराण, स्कन्द पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, वैवस्वत पुराण, मार्कण्डेय पुराण, वामन पुराण, वाराह पुराण, मत्स्य पुराण, कूर्म पुराण) श्री वेद व्यास भगवान् ने बनाये हैं ।

प्रश्न—पुराणों में क्या २ विषय और मुख्य कौन पुराण हैं ?

उत्तर—मानसिक और मैथुनिक सृष्टि-रचना उत्पत्ति, प्रलय तथा निराकार साकार ईश्वर विषय, ईश्वरावतार, मूर्ति पूजा 'पातिवृत्य धर्म' नित्य कर्मादि इत्यादि विषय हैं । और श्री मद्-भागवत् पुराण मुख्य है । जिसमें पांच वस्तुओं का वर्णन हो, सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित्र वह पुराण । और जिसमें १० लक्षण हों वह महा पुराण जैसे—भागवत् ।)

इतिहास-विषय ।

प्रश्न—इतिहास कितने और कौन २ हैं ?

उत्तर—महाभारत और बाल्मीकीय रामायण, यह दो हैं ।

प्रश्न—महाभारत में क्या लिखा है और किसने बनाया ?

उत्तर—महाभारत में सृष्टि रचना से लेकर बड़े २ नामधारी, तपधारी, बलधारी, युद्धधारी, यती, सती शूरमाओं का इतिहास वर्णन है । विशेष कर कौरवों की क्रूरता, लम्पटता, हीनता का और पांडवों के कर्म, धर्मज्ञान, ध्यान, वीरता, धीरता आदि अनेक गुणों का वर्णन और तत्काल फल का लेख भी है, वेद व्यास भगवान् ने बनाया ।

प्रश्न—बाल्मीकीय रामायण में किसका इतिहास है और किसने बनाया ?

उत्तर—इसमें श्री रामचन्द्र भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम का इतिहास है और श्री वाल्मीकि ऋषि ने श्री रामचन्द्र जी के जन्म के १०,००० वर्ष पहिले बनाया तथा तुलसीदास की और अन्य सब रामायण वाल्मीकीय रामायण की छाया रूप होने से उसी के अन्तर्गत जानो ।

प्रश्न—सब शास्त्रों के सारभूत शास्त्र कौन से हैं ?

उत्तर—सब वेदादि शास्त्रों का सार श्री मद्भगवद्गीता है। यथाः—

"यस्मात् धर्ममयी गीता सर्व ज्ञान प्रयोजिका ।
सर्व शास्त्र मयी गीता तस्मात् गीता विशिष्यते ॥"

जिससे गीता धर्ममयी अर्थात् सनातन धर्म के सर्व अङ्ग उपाङ्गों से पूर्ण एवं कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के उपदेशों से भरी हुई सर्व प्रकार के ज्ञानों में उपयोगी और सर्व शास्त्रमयी अर्थात् जिसमें सब शास्त्रों का सार भरा है, इस हेतु से गीता शास्त्र सर्वोत्तम है। इसका विशेष विवरण अन्यत्र किया है ।

उपनिषत्सिद्धान्त ।

(१) उपनिषदों का महत्त्व— मनुष्य जाति ने अपने लम्बे इतिहास में सब से महत्त्वपूर्ण यदि कोई चीज़ अपने दिमाग़ से पैदा की है तो वह उपनिषद् है। हज़ारों वर्षों तक हमारे ऋषियों ने सांसारिक भोग विलास और चहल पहल से अलग कर अपनी तपश्चर्य्या और ध्यान से जो कुछ रहस्य समझाया वह उपनिषदों में वर्णित है। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक मनुष्य के मस्तिष्क ने उपनिषदों से बढ़कर ऊँचा और रहस्यपूर्ण कोई विषय नहीं सोचा है। संसार के पुस्तकालय के किसी अन्य ग्रन्थ में आत्मा का इतना विस्तृत और गहरा निरूपण नहीं पाया जाता। उपनिषदों के विषय में जर्मन दार्शनिक शोपनहोर की यह उक्ति अमर हो गई है कि 'उपनिषदों ने मुझे जीवन में शान्ति दी है और उपनिषद् ही मुझे अन्त समय में शान्ति देने वाले होंगे।'

(२) उपनिषद् शब्दार्थ— उपनिषद् का शब्दार्थ है (उप=समीप, निषद=बैठना) समीप बैठना, अर्थात् आत्मा के पास बैठना, उस अदृश्य शक्ति के सामने होना या उसका साक्षात्कार करना। इसी प्रकार 'करण' में प्रत्यय करने से यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा हम आत्मा का साक्षात्कार करें उस विद्या का नाम 'उपनिषद्' है। किन्हीं ग्रन्थ विशेषों का नाम ही उपनिषद् नहीं। कोई लोग 'समीप बैठने' से यह भी तात्पर्य लेते हैं कि गुरू के समीप बैठ कर ही सीखी जावे, वह विद्या उपनिषद् है अर्थात् अध्यात्म विद्या गुरू के चरणों में बैठ कर ही सीखी जाती है। शब्दार्थ से यह स्पष्ट है कि उपनिषद् और उपासना का एक ही शब्दार्थ—समीप बैठना है। इस प्रकार उपासना या ध्यान ही उपनिषदों का मुख्य विषय है। हमें इस दृश्यमान जगत् से अध्यात्म जगत् की ओर से जाने का एक बड़ा साधन उपनिषदों का पाठ है।

(३) श्रेयस् और प्रेयस्— उपनिषदों ने अध्यात्म मार्ग और सांसारिक भोग मार्ग को अलग २ बतलाने के लिये 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' शब्द का प्रयोग किया है।

'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्य मेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते'।

अर्थात् श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मार्ग मनुष्य के समीप आते हैं। धीर पुरुष परीक्षापूर्वक उनका विवेक करता है और प्रेयोमार्ग (प्रियमार्ग) की अपेक्षा श्रेयोमार्ग (कल्याण मार्ग) को स्वीकार करता है परन्तु मन्द बुद्धि वाला कल्याण मार्ग (श्रेयस्) को छोड़कर प्रिय मार्ग (प्रेयस्) को ही स्वीकार करता है। इनमें प्रेयो मार्ग सांसारिक भोग और सुख (Pleasure) का है जो मनुष्य को प्रिय लगता है। यह मार्ग आत्मिक

प्रवृत्ति से हटा कर सांसारिक सुखों की ओर ले जाने वाला है। दूसरा श्रेयो मार्ग है जो सांसारिक भोग और विषय तृष्णा पर विजय पाने के पश्चात् आत्मा की ओर प्रवृत्त करता है। यह श्रेय अथवा कल्याण (Good) का मार्ग है। इस प्रकार यथार्थ कल्याण और ऐन्द्रियिक सुख के दो अलग २ मार्ग हैं। उपनिषद् कहती है कि आध्यात्मिक सुख के लिये आवश्यक यह है कि मनुष्य प्रेयो मार्ग छोड़ कर श्रेयो मार्ग स्वीकार कर ले।

(४) आत्मविषयक सिद्धान्त— आत्मा के सम्बन्ध में सब से महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसको आज तक मानव बुद्धि ने समझा है, उपनिषदों में वर्णित है। तर्क का अन्तिम सिद्धान्त यह है कि आत्मा की सत्ता है परन्तु वह ऐन्द्रियिक जगत् से परे है और उसे हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते, केनोपनिषद् में आया है:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतद नुशिष्या दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥

चक्षु अर्थात् सारी ज्ञानेन्द्रियें, वाणी अर्थात् सारी कर्मेन्द्रियें उस तक नहीं पहुँच सकतीं, और न मन उस तक पहुँच सकता है। हम उसे नहीं जानते। न यह जानते हैं कैसे उसे बतलाया जाय। वह जाने हुए से परे है और न जाने हुए से भी परे है (न जाने हुए से परे कहने से यह अभिप्राय है कि प्राकृतिक जो पदार्थ हमने नहीं जाने उनसे भी वह परे है)।

यह वाक्य स्पष्ट रूप से बतलाता है कि आत्मा इन्द्रिय क्षेप नहीं, फिर क्या उपनिषद् भी अज्ञेयवाद को बतलाती है, अथवा आत्मा जाना ही नहीं जा सकता? पर उपनिषदों में अज्ञेयवाद का सिद्धान्त सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा के ज्ञान के लिये ही उपनिषदों का प्रारम्भ है और जगह २ आत्मज्ञान की प्रशंसा की गई है। इसी केन उपनिषद् में कहा है:—

इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेदिहावे दीन्महती विनिष्टिः।

'अर्थात् इस जन्म में यदि आत्मा को जान लिया तो अच्छा है नहीं तो बड़ी भारी हानि है'। दूसरी जगह इसी केन उपनिषद् में आत्मा के विषय में एक पहेली लिखी है जो हमें चक्कर में डाल देती है—

यस्यामतं तस्यमतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम विजानताम् ॥

जिसका (आत्मा) न जाना हुआ है उसका जाना हुआ है और जिसका जाना हुआ है वह जानता। जानते हुओं का न जाना हुआ है और न जानते हुओं का जाना हुआ है। यह कठिन है, कि हम यहाँ इस पहेली का अर्थ समझा सकें। इसका अर्थ 'असम्प्रज्ञात' के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है (पृष्ठ देखो)।

उपनिषदों ने आत्मा के ज्ञान को स्वीकार किया है। उपनिषद् इस जगत् का सार और असलियत (मूल) सूक्ष्म आत्मा को ही बतलाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में आता है—

एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं त्वमसि श्वेतकेतो।

यह आत्मा सूक्ष्म है, यह आत्मा सारे प्राकृतिक जगत् का सार है, वह आत्मा तू है।

साथ ही उपनिषदों ने इस बात को भली भांति बतलाया है कि हम आत्मा के विषय में जो कुछ सोच सकते हैं वह केवल निषेधात्मक (Negative) है अर्थात् आत्मा ऐसा २ प्राकृतिक नहीं इत्यादि।

"स होवा चैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्रह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्वस्वम दीर्घमलोहितम स्नेहमच्छाय मतयोऽवाण्य नाकाशमसङ्ग मरसमगंधमचक्षुष्कम श्रौत्रमवागमनोऽस्तेजस्कम प्राणत्ममुखममात्र मनन्तर बाह्यं न तदश्नाति किंचन—

इस वाक्य में बतलाया है कि यह न क्षीण होने वाली आत्मा स्थूल नहीं, दीर्घ नहीं, ह्रस्व नहीं···। (ऐसी नहीं ऐसी नहीं) इत्यादि अर्थात् आत्मा के स्वरूप के विषय में हम 'नहीं, 'नहीं" (नेति २) ही कह सकते हैं। उपनिषद् ने अन्तिम परिणाम को इस वाक्य में रख दिये हैं:—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुम् शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन से उसके स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। 'वह है' ऐसा कहने के अतिरिक्त और उसके विषय में हमें क्या ज्ञान हो सकता है?

(५) **उपनिषदों में आत्मद्वैताद्वैत**—उपनिषद् के बहुत से वाक्यों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है। कोई उन्हें आत्मा की ओर लगाते हैं और कोई जीवात्मा की ओर। और इससे उपनिषदों में द्वैत अद्वैत वाद का झगड़ा भी चल देता है। हमारे विचार में उपनिषदों में प्राकृतिक जगत् से पृथक् सामान्य आत्मा का वर्णन है जो जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ही लिए हैं। उपनिषदों ने बहुधा आत्मा परमात्मा का पृथक् अलग २ वर्णन नहीं किया है, परन्तु उपनिषदों ने आत्मद्वैत (जीवात्मा और परमात्मा) स्वीकार किया है। 'भोक्ता भोग्यं प्रेहितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।'

'भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) प्रेहिता (परमात्मा) यह तीन प्रकार का ब्रह्म है। उपनिषदों के बहुत से ऐसे वाक्य है। उनमें जीवात्मा को सर्वथा पृथक् २ माना है परन्तु हमें यह बात उसी प्रकार अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए—यद्यपि टीकाकारों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया—कि उपनिषदों में अधिकतर आत्मा परमात्मा का वर्णन एक साथ ही किया है क्योंकि उपनिषद् इस दृश्यमान जगत् से परे पृथक् आत्मसत्ता को बोध करना चाहती हैं और एक साथ वर्णन करने के कारण ही बहुधा यह प्रतीत होता है कि ये उपनिषद् अद्वैत आत्मा को स्वीकार करती हैं।

(६) आत्म-साक्षात्कार उपनिषद् और योग—हमने ऊपर बतलाया है कि उपनिषदों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि आत्मा हमारे सारे अनुभव से परे है। हम केवल उसे इतना ही जान सकते हैं। साथ ही हमने यह भी कहा है कि उपनिषदों में आत्म विषयक अज्ञेयवाद (Agnosticism) नहीं फिर अनुभव से परे होने पर भी आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो सकता है? इन सारे संशयों की गांठ उपनिषद् के एक वाक्य से खुल जाती है, आत्म-दर्शन का रहस्य बताने वाला ऐसा वाक्य संसार के सारे तत्व-शास्त्र में मिलना कठिन है। उपनिषदों में योग का सारा रहस्य इसी एक वाक्य में पाया जाता है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्ग पश्यतिनान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षेदावृत्तचक्षुरमृत त्वमिच्छन्—

अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने:—

[१] हमारी इन्द्रियों को बाह्य विषयों में जाने वाला बनाया है इसलिये मनुष्य बाह्य बिषय को देखता है अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर अमृत (मोक्ष) को चाहता हुआ आंख मूंद कर अन्दर की ओर आत्मा को देखता है।

वाक्य के प्रथम भाग में केवल इतना बतलाया है कि हमारा ऐन्द्रियिक अनुभव बाह्य जगत् तक सीमित है। हमें वह उसके आगे नहीं ले जा सकता। परन्तु अगले भाग में एक निश्चित रीति ऐन्द्रियिक अनुभव से आत्मा तक पहुँचने की ततलाई गई है और वह यह है कि:—

आंखों को मूंद लो।

आंखों को मूंदने से अन्तरात्मा का दर्शन हो सकता है। इसका क्या अर्थ है? पहिली बात यह है कि यहां पर 'आंख' सब इन्द्रियों के लिए उपलक्षण + है अर्थात् सब इन्द्रियों के विषयों को बन्द कर दो, पर इन्द्रियों के सारे विषय हम कैसे बन्द कर सकते हैं? यदि सारी इन्द्रियों को हम बाहर से मूंद भी लें तब भी हमारे अन्दर विषयों की भावना उनकी स्मृति बनी रहती है। सारे ऐन्द्रियिक विषयों को अपने अन्तःकरण से निकाल देना हमारे लिए कितना कठिन है! ऐन्द्रियिक विषयों को रोक देना ही जिसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' भी कहते हैं योगशास्त्र सिखाता है। अन्तःकरण की सारी वृत्तियों को—सारे विषयों को रोकने की व्याख्या 'राजयोग' के प्रकरण में पहिले कर दी गई है, उपनिषद् बतलाती है कि जब अन्तः-करण में कोई अन्य विषय नहीं रहता तभी आत्मा का साक्षात्कार या आत्मदर्शन होता है। कहा है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

+ बहुत से पदार्थों में एक को कह कर शेष का भी ग्रहण कर लेना उपलक्षण कहाता है। इस प्रकार यहां आंख कहने से सब इन्द्रियों का ग्रहण हो जायगा।

अब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती हैं (अर्थात् उनके सब विषय रुक जाते हैं— वे अपने २ विषयों को ग्रहण नहीं करतीं) और बुद्धि चलायमान नहीं होती, भांति भांति के विषयों को ग्रहण न करने के कारण स्थिर हो जाती है तब परम गति होती है अर्थात् आत्मदर्शन होता है।

उपनिषद् ।

वेद के पहिले भाग न थे परन्तु समय के परिवर्त्तन से मनुष्यों की वृत्ति में हेर फेर पड़ जाने से भगवान् व्यास ने ४ भागों में विभाग किये और उनमें ११३१ शाखाएँ व उपनिषद् भाग कर दीं। यथाः—

१. ऋग्वेद— २१ शाखायें (उपनिषद्)
२. यजुर्वेद— १०९ ,, ,,
३. सामवेद—१००० ,, ,,
४. अथर्ववेद— ५० ,, ,,
११३१

पहिले प्रत्येक कोई अपनी २ शाखा आप ही निकाल लेता था, परन्तु पीछे मनुष्यों में कठिनाई मालूम होने लगी तब ११८० शाखाओं (उपनिषदों) में विभाग किया।

सब वेद, उपवेद, शास्त्र, पुराणादिक के पढ़ने में ३२ वर्ष या उससे अधिक समय चाहिए परन्तु साधारण पुरुष किसी प्रकार भी नहीं पढ़ सकता। तब भगवान् ने सब उपनिषदों का निचोड़ 'गीता' में कर डाली, जिसमें चारों वर्णों का अधिकार हो गया।

चारों वेदों के दो भाग हैं:—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड का विषय वेदों के ब्राह्मणों में सम्यक् प्रकार से वर्णित है और इन्हीं के आधार पर जैमिनि-सूत्र, जिन्हें पूर्व—मीमांसा कहते हैं, लिखे गये हैं। ज्ञान का विषय उपनिषदों में बतलाया गया है औ इन्हीं के आधार पर व्यास ने वेदान्त-सूत्र रचे हैं। भगवद्गीता में कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड दोनों का निर्देश है—ज्ञान-काण्ड का अधिकतर। गीता में ज्ञान का विषय उपनिषदों से ही लिया गया है, क्योंकि गीता के बहुत से श्लोक अक्षरशः उपनिषदों में मिलते हैं।

१०८ उपनिषद् छपी हुई मिलती हैं परन्तु इन में से मुख्य और प्राचीन उपनिषदें ग्यारह हैं; अर्थात् ईश, केन, कठवल्ली, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। आत्मा क्या है? कैसे रचा गया? संसार दुःख से कैसे निवृत्त हो सकता है? ये सब प्रश्न इन उपनिषदों में उठे हैं और इनके उत्तर बड़ी विद्वत्ता और गम्भीर गवेषणा के साथ दिये गये हैं। गीता में भी ज्ञान—सम्बन्धी विचार इन्हीं उपनिषदों के आधार पर हैं।

उक्त ११ उपनिषदों का विषय

१—ईश (यजुर्वेदीय वाजसनेय) इसमें यावत् नाम-रूपात्मक जगद्भाव है, सब ईश में ही घटित किया गया है।

२—केन (सामवेदीय ब्राह्मण-भाग) इसमें ब्रह्मा व प्रजापति ने अपने पुत्र व शिष्य मुमुक्षु को आत्म-विद्या का उपदेश किया है।

३—कठवल्ली (यजुर्वेदीय) इसमें उद्दालक के विश्वजीत यज्ञ एवं नचिकेता के यमालय-गमन का वृत्तान्त वर्णित है।

४—प्रश्न (अथर्ववेदीय) इसमें कबन्धी आदि ६ ऋषियों के प्रश्नों के आचार्य पिप्पलाद्-कृत उत्तर हैं।

५—मुण्डक (अथर्ववेदीय) इसमें ब्रह्म-निर्णय, जगदुत्पत्ति, आत्मादि संभव तथा अग्नि होत्रादि।

६—माण्डूक्य (अथर्वेदीय) इसमें ॐकार ब्रह्म और आत्मा की अभेदता का निरूपण है।

७—तैत्तरीय (कृष्ण यजुर्वेदीय) इसमें तैत्तरीय शाखा के प्रकट होने, स्वर मात्रा और वर्णोचारण तथा जप हवनादि की क्रियाएँ वर्णन हैं।

८—ऐतरेय (ऋग्वेदीय) इसमें आत्मा और ब्रह्म का निरूपण, प्रणव, उपासना और सन्यास धर्म वर्णित है।

९—छान्दोग्य (सामवेदीय) इसके पूर्वार्द्ध में सगुण ब्रह्म की उपासना और उत्तरार्द्ध में प्रणवोपासना, पंचाग्नि विद्या, वैश्वानर विवरण, भूमाविवरण और दहरा विद्या का वर्णन है।

१०-बृहदारण्यक (यजुर्वेदीय) इसके पूर्वार्द्ध में निष्काम कर्म यागादिक और उत्तरार्द्ध में आत्म-ज्ञान का निरूपण है।

११—श्वेताश्वतर (यजुर्वेदीय) इसमें ब्रह्मचक्र, योग साधन का स्थान, योग सिद्धि के चित्त आदि वर्णित हैं।

श्री मद्भगवद्गीता।

गीता मोक्ष ग्रन्थ है। संसार समुद्र में पड़े हुए विकल जीवों के उद्धारार्थ यह दृढ़ नौका है और सद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं केवट हैं। गीता सर्व शास्त्रमयी है। यह सब उपनिषदों का सार है।

ज्ञान-विज्ञान का अपूर्व कोश हमारा गीता शास्त्र आज विश्व गीता नाम से प्रसिद्ध है। परमेष्ठी कृष्ण के पूर्णावतार महा-पुरुष भगवान् वासुदेव कृष्ण के मुख-पङ्कज से तात्त्विकरूप से विनिसृत, एवं कृष्ण-

द्वैपायन महा मुनि व्यासदेव की लेखिनी से छन्दोबद्ध बने हुए इस गीता शास्त्र का "भगवद्गीतोपनिषत्" यह पूरा नाम है। यही नाम संकोच भाव के कारण आगे जाकर "गीता" इन दो अक्षरों में परिणित हो गया है। उक्त नाम में भगवत्—गीता—उपनिषत् यह तीन विभाग हैं।

गीता पर भाष्यों का तो अन्त ही नहीं है और टीका टिप्पणियों का भी अन्त नहीं है। गीता विषय बड़ा ही गहन और रहस्यपूर्ण है। साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या इसमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। कोई २ तो अपने आशय के अनुसार ही इसका अर्थ कर लेते हैं। उन्हें अपने मत के अनुसार इसमें सामग्री भी मिल जाती है। क्योंकि इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान सभी विषयों का समावेश है और जहाँ जिस विषय का वर्णन आया है वहाँ उसकी भगवान् ने वास्तविक प्रशंसा की है। अतः अपने २ मत को पुष्ट करने के लिये इसमें सभी विद्वानों को अनुकूल सामग्री मिल जाती है। इसलिये ये अपने सिद्धान्त के अनुसार मोम के नाक की भाँति खींचा-तानी करके इसे अपने मन की ओर ले जाते हैं।

श्रीभगवान् शंकराचार्य ने प्रखर पांडित्य के शास्त्रार्थ द्वारा यही निर्णय किया है कि ज्ञान कर्म का समुच्चयवाद गीता का तात्पर्य नहीं है किन्तु ईश्वरार्पण बुद्धि के साथ नित्य नैमित्तिक कर्म करते २ जब चित्त शुद्धि हो जाती है तब कर्म छोड़ कर आत्मरति होजाना और अन्त में ज्ञान द्वारा निश्रेयस् लाभ कर लेना यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। उनके इस प्रकार शास्त्रार्थ के द्वारा यह अनायास ही समझ में आजाता है कि पूर्व काल में ज्ञान-कर्म-समुच्चय-प्रतिपादक भाष्यादि ग्रन्थ गीता पर प्रचलित थे, जिनका मिथ्यात्व प्रदर्शन उन्होंने अपने भाष्य में किया है। भगवान् भाष्यकार का पदाङ्क अनुसरण करके श्रीमत् आनन्दगिरि, श्री स्वामी मधुसूदन सरस्वती कृत टीका ग्रन्थ बहुत ही उपादेय तथा उपयोगी है।

श्री भगवान् शंकराचार्य के पश्चात् कई एक वैष्णवाचार्यों ने गीता पर अलग २ भाष्य लिखे हैं उनमें से विशिष्टाद्वैत मत के श्रीरामानुजाचार्य, तथा द्वैताद्वैत मत के श्री निम्बकाचार्य के भाष्य मुख्य हैं। इन सभी आचार्यों ने अपने मत के लक्ष्य को प्रधान रखते हुए भक्तिभाव मूलक भाष्य भगवद्गीता के ऊपर लिखे हैं। इनके इस प्रकार मतवाद में प्रधान युक्ति यह है कि समस्त गीता कह डालने के अनन्तर जब भगवान् ने "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज," सब धर्मों को छोड़ कर मेरी ही शरण लो, यह कह कर अपनी ही ओर भक्त को आकर्षण किया है तो उपास्य—उपासक भाव प्रधान भक्तिमार्ग का ही उपदेश करना उनका लक्ष्य था, यह गीता का तात्पर्य प्रकट होता है। भक्तिपक्ष-प्रतिपादक इन भाष्यों के अवलम्बन से भी अनेक प्रकार की टीका टिप्पणियां गीता के ऊपर प्रकाशित हुई हैं जिनमें से श्रीधर स्वामी कृत टीका सर्वोत्कृष्ट है।

अब वर्त्तमान काल में, स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय ने भी भगवद्-गीता रहस्य अथवा कर्मयोग-शास्त्र नामक एक अति ही विस्तृत टीका भगवद् गीता पर लिखी है। इसमें उन्होंने ज्ञान प्रतिपादक तथा भक्ति प्रतिपादक प्राचीन मतों का निराकरण करके गीता को कर्मयोगशास्त्र बताया है और 'कर्मयोग' ही इसका अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है, ज्ञान तथा भक्ति केवल कर्मयोग का सहायक मात्र

है यही विचार किया है। इस प्रकार मत वाद करने में तिलक महोदय की प्रधान युक्ति यह है कि जब युद्ध के समय अर्जुन को युद्ध कार्य में प्रवृत्त करने के लिये गीता का उपदेश किया था, संसार छुड़ा कर बनवासी बनाकर मोक्ष प्रदान के लिये नहीं किया गया था तो गीतोपदेश का अन्तिम लक्ष्य ज्ञानयोग या भक्तियोग नहीं हो सकता है, प्रत्युत कर्मयोग ही होगा। इसमें ज्ञान-पक्ष या भक्ति-पक्ष का प्रतिपादन केवल साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने २ सम्प्रदायों की पुष्टि के लिये ही किया है। इस प्रकार से श्रीमद्भगवद् गीता पर प्रचुर भाष्य तथा टीका टिप्पणियां देखने में आती हैं। उचित तो यह है कि जैसा प्रसंग वर्त्तमान हो वैसा वक्तव्य करना चाहिये। यह क्रम ज्ञानेश्वरी गीता में यथार्थ है। वह उत्तम अर्थों सहित सब को उपयोगी है।

महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज गीता के विषय में कहते हैं कि—"गीता विवेकरूपी वृक्षों का एक अपूर्व बगीचा है। यह सब दुःखों की नींव है। सिद्धान्त—रत्नों का भंडार है। नवरसरूपी अमृत से भरा हुआ समुद्र है। खुला हुआ परमधाम है। सब विद्याओं की मूल भूमि है। अशेष शास्त्रों का आश्रय है। सब धर्मों की मातृभूमि है, सज्जनों का प्रेम स्पद मित्र है। सरस्वती के लखण्य रत्नों का भाण्डार है·····यह गीता ज्ञाना-मृत से भरी हुई गंगाजी है, विवेकरूपी क्षीर सागर की नव-लक्ष्मी है।"

गीता १८ अध्यायों में विभक्त हुई है, जिसमें ७०० श्लोक हैं। कोई २ आचार्य कहते हैं कि इसके प्रथम छः अध्यायों में कर्म का, द्वितीय खण्ड में उपासना का और तृतीय में ज्ञान का विषय वर्णित है। उनका यह कथन किसी अंश में माना जा सकता है पर वास्तव में ध्यानपूर्वक देखने से यह पता लगा सकते हैं कि द्वितीय अध्याय से अठारवें अध्याय तक सभी अध्यायों में न्यूनाधिक रूप में कर्म, उपासना और ज्ञान विषय का प्रतिपादन किया है अतः गम्भीर विचार के साथ इसका विभाग इस प्रकार किया जाना उचित है।

[१] प्रथम अध्याय—में मोह और स्नेह के कारण अर्जुन के शोक और विषाद का वर्णन होने से उसका नाम अर्जुन-विषाद योग पड़ा। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञान के उपदेश का विशेष विषय नहीं है। इस अध्याय का उद्देश्य अर्जुन को उपदेश का अधिकारी सिद्ध करना ही है।

[२] दूसरे अध्याय में भगवान् अत्यन्त उच्च ज्ञान का उपदेश करते हैं। अर्थात् इस अध्याय में सांख्य और निष्काम कर्म-योग-विषय का वर्णन हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं—देख भाई! जीवन का उद्देश्य आत्म-ज्ञान है। आत्मा तो 'न जायते न म्रियते' 'अजो नित्यः' 'न हन्येत न हन्यमाने शरीरे' अर्थात् आत्मा अमर है, शरीर के विनाश से नाश नहीं प्राप्त होता। कर्त्तव्यपालन कर्त्तव्य के लिये करना चाहिये न कि सांसारिक क्षणभंगुर सुखों के लिये। यही सांख्य-योग का प्रतिपादन है।

[३] तृतीय अध्याय—इस पर अर्जुन को शंका होती है, यदि आत्म-ज्ञान ही सार वस्तु है तो क्या शारीरिक कर्म त्याग देना चाहिये? भगवान् कहते हैं—'नहीं,' यह असम्भव है। और यदि संभव भी है तब

भी ऐसा त्याग अनुचित है, क्योंकि त्याग से श्रेष्ठ पुरुषों के अनुकरण का समाज को कोई लाभ न होगा। अपना कर्त्तव्य-कर्म न करने से समाज का विध्वंस हो जायगा। अतएव कर्म अवश्य करो, पर आसक्ति और फल को छोड़ कर। यही कर्म योग के नाम से प्रसिद्ध है।

[४] चौथे अध्याय—में भगवान् कहते हैं कि कर्म उद्देश्य जान कर करना चाहिये। अतएव ज्ञान की आवश्यकता है, इससे कर्म बन्धन छूट सकते हैं। क्या उचित है क्या अनुचित है, जाने बिना बड़ा प्रमाद होने की सम्भावना रहती है। यही ज्ञान-कर्म-विभाग योग है।

[५] पाँचवें अध्याय में भगवान् कर्म-योग और ज्ञानयोग की उलझन को दूर करते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों मार्ग हैं, दो प्रकार के पथिकों के लिये। वास्तव में किसी एक पर चलने से वही एक फल परब्रह्म-प्राप्ति होती है; आवश्यकता तो आत्म-संयम तथा कर्म-फल में त्याग बुद्धि की है। यह सन्यास-योग है।

[६] छठे अध्याय—में यह बतलाया गया है कि सफलता-पूर्वक फल की इच्छा को त्याग कर कर्त्तव्य पालन में ईश्वर का ध्यान अत्यन्त सहायक होता है। इसी कारण से कुछ ध्यान, प्राणायाम और विशेष आसनों के अभ्यास बतलाये गये हैं। यही अध्यात्म-योग है।

इन छः अध्यायों में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यही उपदेश मिलता है कि कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर होना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह अर्थ तो हो सकता है, फल त्याग कर अथवा फल को भगवान् की सेवा में अर्पण कर मनुष्य अपना कार्य करे, इसी से आत्मोन्नति संभव है।

इन्हीं छः अध्यायों में 'तत्वमसि' महावाक्य के त्वंपद के अर्थ का भी निरूपण किया है।

[७] सातवें अध्याय—में भगवान् ने बताया कि ब्रह्मज्ञान का उपाय ब्रह्म के गुणों का ज्ञान तथा प्रकृति में उसके दर्शन पाना है। बिना ज्ञान भक्ति अधूरी है, अतएव 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' भक्तों में ज्ञानी-भक्त सर्व श्रेष्ठ है। यही ज्ञानयोग प्रसिद्ध है।

[८] आठवें अध्याय—में भगवान् कहते हैं— सृष्टि में भगवद् गुणों का आविर्भाव देखने से यह पता लगता है कि इस क्षणभंगुर संसार में स्थायी वस्तु ब्रह्म ही है। उसकी प्राप्ति का मार्ग देवयान है, जिसमें फलासक्ति छोड़ कर कर्म करते हुए भगवद्भक्त जाते हैं और ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इसी ज्ञान का नाम अक्षर-ब्रह्म योग है।

[९] नवें अध्याय—में परब्रह्म-प्राप्ति का उपाय, उसकी भक्ति तथा भगवान् को सब सृष्टि का कर्त्ता, जो कुछ दृष्टिगोचर होता है उसका प्रधान कारण बतलाया गया है। वह भक्ति चाहे किसी विशेष मूर्त्ति अथवा अवतार में जाय अथवा आत्मा में, पर अन्तर्दृष्टि एक परमात्मा में ही लगाई जानी चाहिये। यह गुह्य ज्ञान ऋषियों द्वारा परम्परा से चला आता है। और इसी का नाम राजविद्या राजगुह्य योग है।

[१०] दसवें अध्याय—में यह दिखलाया गया है कि यह संसार अपने प्रत्येक कण में प्रभु की सत्ता प्रकट

करता है। उनमें से भक्तों के ध्यान के लिये कुछ उदाहरण दिये गये हैं।' आदित्यानामहं विष्णुः' से प्रारम्भ कर 'यद्यद्विभूतिमत्सर्वं' कह कर यह प्रसंग समाप्त किया है, इतना कह कर सारांश रूप से भगवान् ने यह भी बतला दिया कि 'एकांशेन स्थितो जगत्' है। यही विभूतियोग कहलाता है।

[११] ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने अपने विश्वरूप का दर्शन देकर यह दिखला दिया कि सब जगह भगवत् सत्ता ही है, अतएव जीवन का उद्देश्य भगवत्-आज्ञा पालन करना ही होना चाहिये। यही विश्वरूप दर्शन योग कहलाता है।

[१२] बारहवें अध्याय—में सच्चे भक्त के लक्षण और सच्ची भक्ति की कसौटी दिखलाई गई है। भगवान् ने यह भी बतलाया है कि निराकार और साकार दोनों उपासना ही श्रेयस्कर है पर साकार सुलभ और निराकार कष्टसाध्य है। यही भक्ति योग कहलाता है।

इन छः अध्यायों में (७ से १८ तक) यही दिखलाया गया है कि भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का सुलभ मार्ग है। इन्हीं छः अध्यायों में 'तत्त्वमसि' महावाक्य 'तत्पद' के अर्थ का निरूपण किया है।

[१४] तेरहवें अध्याय से यह पता लगता है कि सच्ची भक्ति से भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है। यह प्रेम ज्ञानपूर्ण होता है। प्रेमी भक्त अपने भगवान् को सब जगह देखता है। उसी प्रभु के दो रूप आत्मा तथा प्रकृति करके देखता है। इन्ही दो से सब वस्तुओं की उत्पत्ति है। इन्हीं के ज्ञान से प्रभु का ज्ञान होता है। आत्मा और प्रकृति को एक समझना अज्ञान है और अलग २ देखना ही यथार्थ ज्ञान है। इसी को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग कहते हैं।

[१४] चौदहवें अध्याय में अज्ञान का कारण सत्त्व, रज, तम यही तीन गुण बतलाये गये हैं। भगवत् प्राप्ति के लिये इन तीनों गुणों के पार जाना आवश्यक है। यही गुण त्रय विभाग योग है।

[१५] पन्दरहवें अध्याय में ज्ञानदृष्टि से दो बातें मालूम होती हैं:-

(१) परमात्मा प्रकृति से परे है। प्रकृति नाशवान् है, (२) जीवात्मा परमात्मा का अंश भूत है पर पूर्ण पुरुषोत्तम दूसरा है और कोई विशेष भेद नहीं है। यही पुरुषोत्तम योग कहलाता है।

[१६] सोलहवें अध्याय में ऊपर कहे हुए ज्ञान की प्राप्ति उन्हीं को बताई गई है जो संयम, क्षमा, सत्य, पवित्रता उदारता, आदि २ गुणों से विभूषित हों, न कि उनको जो काम, क्रोध, लोभ युक्त हैं। यह दैवासुर-सम्पत्ति योग कहलाता है।

[१७] सत्रहवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि सात्त्विक गुण दैवी गुण हैं। इसी से आत्मदृष्टि हो सकती है। राजसिक और तामसिक गुणों से कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। अतएव भोजन, पूजन, तप और दान में सात्त्विक पथ का अनुयायी होना चाहिये। इसी से सात्त्विक श्रद्धा प्राप्त होती है। यही श्रद्धा-त्रय-विभाग-योग कहलाता है।

[१८] अठाहरवां अध्याय गीता का अन्तिम अध्याय है। इसमें पिछले अध्यायों के उपदेश की पुनरावृत्ति की गयी है। पुनरावृत्ति करते हुए फलासक्ति-रहित कर्म करने का विशेष उल्लेख है। निष्काम कर्म ही के द्वारा मन पवित्र होकर भक्ति में लग सकता है। भक्ति ही भगवद्प्राप्ति में आवश्यक शक्ति बतलाई गई है। भक्ति द्वारा पथिक परब्रह्म की प्राप्ति करता है। ऐसा करते हुए जब भगवान् ने देखा कि इतना ज्ञान देने पर भी अर्जुन का विषाद पूर्ण रूप से दूर नहीं हो रहा है और वह अज्ञान के चक्कर में घूम रहा है तो आप कृपा पूर्वक अपना अमोघ उपदेश, परम मंत्र बतलाते हैं, आप कहते हैं अच्छा अर्जुन :—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिस्यामि मा शुचः ॥

अर्थः—सब धर्म-अधर्म को छोड़ कर केवल मेरी शरण आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा; शोक मत कर। 'यह अमोघ बाण छूटा ही था' ध्यान रहे, भगवान् के उपदेश-तरकस का यह अन्तिम बाण था—कि अर्जुन के मुख से उत्तर निकला—

'स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव'

प्रभो! अब निस्संदेह आपकी आज्ञा का पालन करने को उद्यत हूँ। यही मोक्षयोग कहलाता है।

इस प्रकार अन्तिम छः (१३ से १८ तक) अध्याय में दुःखी जीवों के लिए—अर्जुन के निमित्त से यही उपदेश मिला, 'सब छोड़ो, प्रभु की शरण लो। बस, तुरन्त अभीष्ठ की प्राप्ति होगी।' अर्जुन, जिसका ज्ञान संशयात्मक हो रहा था, जो भ्रमयुक्त होकर भंवरा रहा था, इस वर मन्त्र का उपदेश पाते ही कृतार्थ होकर कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर हो गया।

अब विचार कीजिये—क्या भगवान् को इस अमोघ बाण का ध्यान नहीं था जो पहले ही इसका प्रयोग न करके कर्म, भक्ति और ज्ञान के इतने गीत गा डाले? नहीं, ध्यान अवश्य था। शिष्य की पूर्ण परीक्षा किये बिना गुरुमंत्र का उपदेश नहीं करते। अधिकार की जब तक पूर्ण परीक्षा न हो जाय, तब तक उसे गुरु-मन्त्र देना अनुचित है। फिर भला साक्षात् भगवान् गुरु-मन्त्र दे रहे थे तो बिना कसौटी पर कसे क्यों कर उपदेश देते? हमारे समाज में ही देखा गया है कि एक मनुष्य जो एक काम करने को योग्य है, वह यदि दूसरा करता है तो असफल होता है। इसी प्रकार आत्म-सम्बन्धी कार्यों में योग्यता जाने बिना कार्य देना अनुचित है। जिस प्रकार रोगों की भिन्न-भिन्न औषधियां चतुर वैद्य बतलाता है—उद्देश्य सब औषधियों का एक आरोग्य प्रदान करना है—इसी प्रकार गीता में अनेक पथ बतलाने का उद्देश्य एक ब्रह्म प्राप्ति होने पर भी नाना प्रकार के अधिकारियों के लिए भिन्न भिन्न उपदेश हैं। इन सब मार्गों का दो विशेष भागों में विभाग किया जा सकता है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। पर निवृत्ति मार्ग बहुत थोड़े मनुष्यों के अनुकूल हो सकता है। अर्जुन प्रवृत्ति मार्ग के अधिकारी का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। पर अर्जुन एक वीर योद्धा धर्म-युद्ध के लिए युद्ध-क्षेत्र में आता है, वह अपने बांधवों को देख कर घबड़ाता है और मूढ़ता वश निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेना चाहता है। भगवान् ने गीता द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों

ही मार्गों का स्पष्टया निरूपण किया, पर उसकी बुद्धि चक्कर में पड़ी रही, अन्त में अर्जुन के जिस संशय भ्रम को भगवान् का विश्वरूप दर्शन दूर न कर सका, उसे उसके चरम-मंत्र (गीता का सार भूत)

'सर्व धर्मान्यपरित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहंत्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिश्यामि मा शुचः ॥'

ने सुलभता से दूर किया ।

इन छः अध्यायों में (१३ से १८ तक) 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्पद' और 'त्वपद' के अखण्डार्थ यानी अभेद अर्थ का भी निरूपण किया गया है । बिना जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान के पुरुषों का मृत्यु से तरना नहीं होता है । इसी वास्ते भगवान् ने जीवों के उद्धार के लिए 'तत्पद' और 'त्वंपद' के लक्ष्यार्थ के अभेद ज्ञान को कहा है और अभेद ज्ञान का नाम ही आत्मज्ञान है । भेदज्ञान का नाम ही अज्ञान है, अभेद ज्ञान मुक्ति का कारण है और भेद ज्ञान बन्धन का कारण है ।

ऊपर कही हुई संक्षिप्त गीता से यह प्रकट है कि प्रत्येक अध्याय को योग नाम दिया गया है । योग का अर्थ प्राप्ति है । प्रत्येक अध्याय में उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति का उपाय दिखलाया गया है । विशेषरूप से मुख्य तीन उपाय बतलाये गये हैं । (१) कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म, (२) भक्ति-योग अर्थात् भगवत् भक्ति, (३) ज्ञानयोग अर्थात् ब्रह्मज्ञान । पर वास्तव में यह तीनों एक होकर ही ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं । जिस प्रकार हमारे मस्तिष्क में ज्ञान, अनुभव और इच्छा यह तीनों एक साथ काम करते हैं, उसी प्रकार भगवत् प्राप्ति में ज्ञान, भक्ति और कर्म एक साथ ही काम करते हैं ।

अब यदि यह पूछा जाया कि गीता में ऐसे कौन से श्लोक हैं जिनमें से केवल एक ही को काम में लाने पर मनुष्य का कल्याण हो जाय, इसका ठीक ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि गीता के प्रायः सभी श्लोक ज्ञानपूर्ण और कल्याणकारी हैं । फिर भी सम्पूर्ण गीता में एक तिहाई श्लोक तो ऐसे दीखते हैं कि जिनमें से एक को भी भली भांति समझ कर काम में लाने से अर्थात् उसके अनुसार आचरण बनाने से मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है । उन श्लोकों की पूर्ण संख्या विस्तार भय से न देकर कतिपय श्लोकों की संख्या नीचे लिखी जाती है:—

अ० २ श्लोक २०, ७१; अ० ३ श्लोक १७-३०; अ० ४ श्लोक २०-२७; अ० ५ श्लोक १०, १७, १८, १९; अ० ६ श्लोक १२, १४, ३०, ३१, ४७; अ० ७ श्लोक ७, १४, १९; अ० ८ श्लोक ७, १४, २२; अ० ९ श्लोक २६, २९, ३२, ३४; अ० १० श्लोक ९, ४२; अ० ११ श्लोक ५४, ५५; अ० १२ श्लोक २, १३, १४; अ० १३ श्लोक १५, २४, २५, ३०; अ० १४ श्लोक १९, २६; अ० १५ श्लोक ५, १५; अ० १६ श्लोक १-३; अ० १७ श्लोक १६ और अ० १८ श्लोक ५६, ५७, ६८, ६५ और सर्व श्रेष्ठ श्लोक ६६ ।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों में से एक श्लोक को भी भली भांति काम में लाने से पुरुष मुक्त हो सकता है । जो सम्पूर्ण गीता को अर्थ और भाव सहित समझ कर श्रद्धा प्रेम से अध्ययन करता हुआ जो उसके

उसके अनुसार चलता है। उसके रोम-रोम में गीता ठीक उसी प्रकार रम जाती है जैसे परम भगवान् श्री हनुमान जी के रोम-रोम में 'राम' रम गये थे। जिस समय वह पुरुष श्रद्धा प्रेम से गीता का पाठ करता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके रोम-रोम से गीता का सुमधुर संगीत स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है।

स्वामी जी श्री भोले बाबाजी एक लेख में लिखते हैं कि गीता का मुख्य लक्ष्य राग-द्वेष का त्याग और समता की प्राप्ति है। जो अपने सुख-दुःख के समान दूसरों के सुख-दुःख को समझता है उसको भगवान् ने परमयोगी कहा है। भगवान् का वाक्य है:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

(गीता० ६/३२)।

ऐसे परम योगी का दृष्टान्त इस प्रकार है:—

मौजीराम नाम का एक परम हंस योगी अलिङ्ग वेष में विचरण करता था। एक दिन वह गङ्गा किनारे बैठा हुआ था। दैवयोग से एक राजा नाव में बैठा हुआ कहीं जा रहा था। राजा के मनुष्यों ने मौजीराम को नाव पर चढ़ा लिया। बात यह थी कि राजा के भांड़ों की मण्डली थी, भांड़ों का एक मनुष्य बीमार हो गया था, मौजीराम ने उसी दिन हजामत बनाई थी। घुटी हुई चांद देख कर बारम्बार चपतें पड़ने लगीं। भक्तवत्सल भगवान् से अपने भक्त की ऐसी दुर्दशा देखी न गई। तुरन्त ही आकाश वाणी हुई कि 'हे मौजीराम! तेरा यह दुःख मुझ से देखा नहीं जाता, यदि तू कहे तो मैं इस नाव को डुबादूँ।' मौजीराम बोला—'हे भगवान्! इन का क्या अपराध है? ये लोग मुझे जानते नहीं हैं इसलिए ऐसा कर रहे हैं, जानते होते तो ऐसा क्यों करते? यदि आप ऐसा नहीं देख सकते तो इन के अन्तःकरण को शुद्ध कर दीजिये।' यह सुन कर भगवान् ने प्रसन्न हो कर सब के मन शुद्ध कर दिये, जिससे सब के विज्ञान-चक्षु खुल गये। भांड-मण्डली सहित राजा महात्मा के चरणों पर गिरा और अपना अपराध क्षमा करने की प्रार्थना करने लगा। पश्चात् राजा और सब मण्डली भगवत् भक्त हो गई। सब ने असभ्य तमाशे न करने और न देखने की प्रतिज्ञा की। महात्मा ने सब को गीता—अध्ययन की आज्ञा दी और सब ऐसा ही करने लगे। अन्त में सभी शुभ गति को प्राप्त हुए। सच है, सत्सङ्ग की महिमा ऐसी ही है। महात्माओं का हृदय इन्हीं महात्मा के समान शुद्ध और द्वेष रहित होना चाहिये। जिस को गीता-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, उसके सामने ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य भी तुच्छ है। ऐसे भक्त के लिए ही भगवान् ने कहा है:—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६/३०)

अर्थः—जो मुझ को सब जगह देखता है उसका मैं अविषय नहीं होता हूँ यानी वह मुझको देखता है और वह मेरा अविषय नहीं होता अर्थात् मैं उसको देखता हूँ, भावार्थ यह है कि जो योगी सम्पूर्ण जगत् का कारण मुझ ईश्वर को ही सब में व्यापक देखता है, उस योगी के परोक्ष ज्ञान का विषय मैं नहीं होता हूँ, किन्तु उसके अपरोक्ष ज्ञान का विषय मैं होता हूँ और वह मेरे परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता, किन्तु सदैव मेरे अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है ।

ब्रह्म-सूत्र तथा गीता दोनों आपस में एक हैं, एक ही वृत्ति है । एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले हैं, एक (ब्रह्मसूत्र) जिस तत्व का संकेत से प्रतिपादन करता है, दूसरी (गीता) उसी तत्व को स्पष्टतया विस्तृति भाव से दर्शाती है जिससे दोनों में किंचित् भी विरोध नहीं । इसीलिये उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र इन तीनों को प्रस्थानत्रय कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि संसार सागर के यात्री को निजधाम में ले जाने के वास्ते तीन ध्रुव हैं जिनको लक्ष्य करके यात्री अपने परमधाम की ओर प्रस्थान करता है ।

फुटकर विषय

प्रातः स्मरण स्तोत्रम्

[श्री शंकर सूक्ति सुधा]

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्वम्,
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयं ।
यत्स्वप्नाजागरसुषुप्तमवैति नित्यम् ,
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥ १ ॥

हृदय में प्रकाशमान सत् चित् सुखरूप परम हँसों की गति (प्राण) जो तुरीय आत्मतत्व है उसको मैं प्रातःकाल स्मरण करता हूँ। जो नित्य है, स्वप्न, जाग्रत और सुषुप्ति को जानता है, वह निरवयव ब्रह्म मैं हूँ, भूतों का समूह मैं नहीं हूँ।

प्रातः भजामि मनसो वचसामगम्यम्,
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण।
यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचुः ,
तं देव देवमजमच्युत माहुरग्यम् ॥ २ ॥

मन और वाणी के अगम्य को मैं प्रातःकाल भजता हूँ, जिसके अनुग्रह से सब वाणियां प्रतीत होती हैं। वेदों ने जिसको "नेति नेति" वचनों से कहा है, उसे देव देव, अजन्मा, अविनाशी, और श्रेष्ठ कहते हैं।

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णम् ,
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।

यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्त्तौ ,
रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ३ ॥

मायारूपी अन्धकार से परे, सूर्य के सदृश वर्ण वाले (अर्थात् प्रकाश स्वरूप), पुरुषोत्तम नाम वाले, पूर्ण, सनातन पद को मैं प्रातःकाल नमस्कार करता हूँ, जिस सर्वरूप में सारा जगत्, रज्जु में सर्प की भांति भासा हुआ है।

श्लोक त्रयमिदं पुण्यं, लोकत्रयविभूषणं।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु स गच्छत्परमं पदम् ॥

तीनों लोकों के भूषणरूप, इन पवित्र तीन श्लोकों को जो प्रातःकाल में पढ़ता है, वह ब्रह्मनिर्वाणरूपी परम पद को प्राप्त होता है।

इति प्रातः स्मरणस्तोत्रं समाप्तम्।

श्रीहरिशरणाष्टकम्

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये,
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै।
सूर्यैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ॥१॥

कोई शिव ही को ध्येय अर्थात् उपास्य कहते हैं, कोई शक्ति-भगवती को, कोई गणेश को एवं कोई सूर्य नारायण को ध्येय बताते हैं। परन्तु हे नाथ! आप एक ही उन शिवादि रूपों से प्रकट होते हैं। इसलिये हे हाथ में† शङ्ख को धारण करने वाले प्रभो! मुझ अशरण की एक आप ही शरण हैं, अर्थात् मुझ निराधार-असहाय का आधार हैं, सहायक हैं, अथवा आप ही मेरे रक्षा करने वाले हैं।

नो सोदरो न जनको जननी न जाया,
नैवात्मजो न च कुलं विपुलं बलं वा।
संदृश्यते न किल कोऽपि सहायको मे,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे! ॥२॥

इस संसार में न भाई सहायक दीखता है, न माता, न पिता, न स्त्री, न पुत्र, न कुल, न अधिक बल मेरा सहायक दीखता है; इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

नो पासिता मदमयास्य मया महान्तः,
तीर्थानि चास्तिकधिया नहि सेवितानि।
देवार्चनं च विधिवन्न कृतं कदापि,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे! ॥३॥

---

† शङ्खपाणि साकार-मूर्ति विष्णु भगवान् का नाम है। शङ्खपाणि का आध्यात्मिक भाव इस प्रकार है—शङ्ख ॐकार रूप है। ॐकार में जैसे तीन मात्राएँ और एक अमात्र—अर्द्ध बिन्दु है, ऐसे ही शङ्ख में साढ़े तीन चक्र होते हैं। शङ्ख में स्वभाव से ही ॐकार की ध्वनि होती है। इसलिए शङ्ख ॐ का रूप है, और ॐकार सर्व जगत् रूप है। हाथ से सभी वस्तु नापी जाती हैं, जो ॐकार रूप सब जगत् को नाप लेता है—यानी जो सर्व जगत् में व्यापक है, वही हाथ में शङ्ख को धारण करने वाला, अमात्र ॐकार का लक्ष्य शुद्ध सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है।

हा ! बड़े ही खेद एवं लज्जा की बात है—मैंने मद (गर्व) को छोड़ कर महापुरुषों की उपासना(संगति) न की। आस्तिक बुद्धि से काशी आदि तीर्थों का सेवन भी नहीं किया। न तो विधिपूर्वक शिवादि देवों का पूजन ही किया, इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले ! आप मेरी रक्षा करने वाले हैं।

दुर्वासना मम सदा परिकर्षयन्ति,
चित्तं, शरीरमपि रोगणा दहन्ति।
संजीवनं च परहस्तगतं सदैव,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥४॥

अनेक प्रकार की बुरी-बुरी वासनाएँ मेरे चित्त को सदा दुःख देती हैं, अनेक रोगों का समुदाय शरीर को सदा जलाता रहता है। इस प्रकार मेरा यह क्षण भंगुर जीवन परतंत्र हो रहा है, इसलिये हे हाथ में शङ्ख धारण करने वाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

पूर्वं कृतानि दुरितान मया तु यानि,
स्मृत्वाऽखिलानि हृदयं परिकम्पते मे।
ख्याता च ते पतित पावनता तु यस्मात्,
तस्यात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥५॥

प्रथम मैं जो-जो पाप कर चुका हूँ, उन सब को स्मरण करके मेरा हृदय कांपता है, परन्तु हे प्रभो ! आपकी पतित-पावनता संसार में प्रसिद्ध है, आपने बहुत से पतितों को पावन किया है, अतः मुझ पतित को भी आप अवश्य ही पावन करेंगे, इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

दुःखम् जराजननं विविधाश्च रोगाः,
काकश्व सूकर जनिर्निरये च पातः।
ते विस्मृतेः फलमिदं विततं हि लोके,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥६॥

मैं वृद्धावस्था एवं अनेक जन्मों के द्वारा महा दुःख भोग चुका हूँ, अनेक प्रकार के रोगों का कष्टमय अनुभव, मुझे हो चुका है, काक-कूकर-शूकर आदि अधमं योनियों में भी मैं उत्पन्न हो चुका हूँ, महापाप कर्म के प्रभाव से नरक में भी गिर चुका हूँ। हे प्रभो ! यह सब कष्टमय फल, एक मात्र आप को भूल जाने से ही हुआ है, संसार के सभी मनुष्यों को यह बात विदित है—प्रसिद्ध है, इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले है।

नीचोऽपि पापवलितोऽपि विनिन्दितोऽपि
ब्रूयात्तवाहमिति यस्तु किलैकवारम्।
तं यच्छसीश ! निज लोकमिति व्रतं ते,
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥७॥

हे प्रभो ! चाहे नीच हो, पापी हो, या संसार में विशेष रूप से निन्दत भी हो, परन्तु यदि वह 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ' ऐसा एक बार भी कहता है, तो हे ईश ! आप उसे अपने परम-धाम में ले जाते हैं, ऐसी आपकी प्रतिज्ञा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

वेदेषु धर्म वचनेषु तथाऽगमेषु,
रामायणेऽपि च पुराणकदम्बके वा।
सर्वत्र सर्वविधिना गदितस्त्वमेव,
तस्यात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ! ॥८॥

वेदों में, मन्वादि-धर्म शास्त्रों में, तथा वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों में, रामायण में तथा भागवत आदि सम्पूर्ण पुराणों में सर्व विधि से एक मात्र आप ही जानने योग्य हैं। अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्र एक मात्र आप का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, इसलिये हे हाथ में शङ्ख को धारण करने वाले ! आप ही मेरी रक्षा करने वाले हैं।

॥ इति श्री हरिशरणाष्टकं समाप्तम् ॥

श्री गुर्वष्टकम्

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं,
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ।
मनश्चेन्न लग्नं हरेरङ्घ्रिपद्मे,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥१॥

यदि शुद्ध एवं एकाग्र भाव से जगद्गुरु प्रभु श्री हरि के चरण कमलों में मन नहीं लगा है तो शरीर सुन्दर एवं आरोग्य युक्त हुआ तो उससे क्या ? सुन्दरी सती स्त्री प्राप्त हुई तो उससे भी क्या ? निर्मल अद्भुत एवं विस्तृत कीर्ति और सुवर्णमय सुमेरु पर्वत के समान विपुल धन प्राप्त हुआ तो भी उससे क्या ? कुछ नहीं । यानी श्री हरि-भक्ति के बिना यदि संसार के सब वैभव प्राप्त हों तो भी वे सब व्यर्थ हैं, भाररूप हैं, शोक एवं दुःख के साधन हैं । नारायण स्वामी ने क्या ही अच्छा कहा है—

'विद्या वित्त सुरूप गुण, सुत दारा सुख भोग ।
नारायण हरि भक्ति बिन, ये सब ही हैं रोग ॥'

कलत्रं धनं पुत्र पौत्रादि कीर्तिः,
गृहं बांधवाः जातिमेतद्धि सर्वम् ।
हरे रङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किं ॥२॥

यदि हरिरूप श्री गुरुदेव के चरण-कमल में मन न लगा तो स्त्री, धन, पुत्र-पौत्रादि, कीर्ति, गृह, बन्धुवर्ग, उत्तम-जाति इत्यादि सब होने पर भी, उन सब से क्या ? अर्थात् कुछ नहीं । हरि-गुरु-भक्ति बिना का जीवन निष्फल है, निःसार है ।

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्र विद्या
कवित्वादि गद्यम् सुपद्यम् करोति ।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किं ॥३॥

यदि जगद्गुरु परमेश्वर श्री हरि के चरण-कमलों में मन नहीं लगाया और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिषादि छः अङ्ग सहित ऋगादि वेद, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, तथा वैशेषिक आदि शास्त्र, एवं चौदह विद्याओं को कण्ठस्थ भी कर लिया हो, तो उससे क्या ? और

गद्यपद्यात्मक काव्यादि रचना का सामर्थ्य भी हो, तो उससे क्या ? अर्थात् कुछ नहीं। हरि-भक्ति बिना सम्पूर्ण विद्या की प्राप्ति निष्फल है, वेद-शास्त्रादि की विद्या का फल, हरि-भक्ति है। हरि-भक्ति रहित पण्डित का जीवन पशु के समान है। हरि-भक्ति से ही पाण्डित्य शोभा पाता है।

विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः,
सदाचार वृत्तेषु मत्तो न चान्यः।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥४॥

विदेश में मान है एवं स्वदेश में प्रशंसा है और अपनी सदाचार परायणता का इतना बड़ा गर्व है कि—मुझ से अधिक सदाचारी दूसरा कोई है ही नहीं, यह सब होने पर भी यदि श्री हरि-रूप गुरुदेव के चरण-कमल में निष्कपट भाव से मन नहीं लगा है तो इन सब से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

क्षमामण्डले भूप भूपाल वृन्दैः,
सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम्।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥५॥

जिसके चरण-कमलों की सेवा पृथ्वी मण्डल के सब राजा महाराजा लोग सदा करते हों, तथापि यदि उसका चित्त श्री हरि के चरण-कमलों में एकाग्रता से नहीं लगा है, तो हरि-विमुख मनुष्य का इतना बड़ा सम्मान नितान्त निष्फल ही है। अर्थात् हरि-भक्ति-शून्य मनुष्य का दंभादि से राजाओं के द्वारा सम्मान हो तो भी उससे क्या ? कुछ भी नहीं।

यशो मे गतं दिक्षु दान प्रतापात्,
जगद्वस्तु सर्वं करे यत्प्रभावात्।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥६॥

'दान के प्रताप से मेरा यश सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त है, जिसके प्रभाव से संसार के तमाम पदार्थ मेरे हाथ में हैं, ऐसा समझने वाले दानशील उदार पुरुष का दान भी निष्फल है, यदि उसका हरिरूप श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में निष्कपट भाव से मन नहीं लगा है।

न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ
न कान्ता मुखे नैव वित्तेषु चित्तम्।

हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं, ततः किं, ततः किं ततः किम् ॥ ७ ॥

यदि कोई ऐसा जितेन्द्रिय-विचारशील-महापुरुष है कि जिसका चित्त, न तो भोग-विलास में, न हठ-योगादि में, न उत्तम घोड़ों में, न चन्द्रमुखी कामिनी में, और न धन धान्यादि के संग्रह में आसक्त हुआ है, परन्तु ऐसी अनासक्ति एवं वैराग्य के होते हुए भी यदि जगद्गुरु श्री हरि के चरण-कमलों में एकाग्रता से मन लगाया है, तो उसकी जितेन्द्रियता से एवं वैराग्य से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये,
न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ८ ॥

यदि कोई ऐसा विरक्त है कि—जिसकी मनोवृत्ति, निज परिवार से पूरित सम्पत्तिशाली घर में, व्यापार में, शरीर के पालन-पोषणादि में तथा अमूल्य पदार्थों के संग्रहादि रूप किसी भी कार्य में नहीं लगी है किन्तु एकान्त अरण्य में लगी है, परन्तु श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में उसका मन लगा नहीं है तो उसका यह वैराग्य निरर्थक है।

अनर्घ्याणि रत्नानि भुक्तानि सम्यक्,
समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु।
हरेरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥ ९ ॥

यदि जगत्-गुरु श्रीहरि के चरणकमलों में एकाग्रता से मन नहीं लगा है, तो अमूल्य रत्नों का उपभोग एवं रात्रि में कामिनी का आलिङ्गन आदि प्राकृत-तुच्छ सुख होने पर भी क्या हुआ? कुछ भी नहीं।

गुरोरष्टकं यः पठेत्पुण्यदेही,
यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं,
गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नं ॥ १० ॥

जो पुण्यात्मा संन्यासी, नृपति, ब्रह्मचारी, तथा ग्रहस्थ इस श्री गुर्वष्टक को पढ़ता है एवं जिसका मन श्रीगुरुदेव के कहे हुए वाक्यों में लगा है, यानी गुरु के उपदेश को जो शुद्ध-श्रद्धा से अंगीकार करता है, वह अभिलषित-वस्तु-परमानन्दरूप-ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त होता है।

॥ इति श्री गुर्वष्टकं समाप्तम् ॥

श्री दक्षिणामूर्ति-स्तोत्रम्

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यं निजान्तर्गतं,
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयम्,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ १ ॥

जैसे निद्रादोष से स्वप्न का जगत् बाहर प्रकट हुआ सा प्रतीत होता है इसी प्रकार जो पुरुष दर्पण में दृश्यमान नगरी के समान् अपने भीतर स्थित इस जगत् को माया से बाहर प्रकट हुआ सा देखता है और जो ज्ञान के समय अद्वितीय आत्मा को ही साक्षात्कार करता है, उसी गुरुमूर्ति दक्षिणा-मूर्ति "शिव" को यह नमस्कार हो।

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राग् निर्विकल्पं पुन,
र्मायाकल्पितदेशकाल कलनावैचित्र्यचित्री कृतम्।
मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ २ ॥

यह जगत् बीज के अन्दर अंकुर के समान पहले निर्विकल्प था, फिर माया से कल्पित देश काल आदि की नानाविध कल्पना द्वारा अनेक प्रकार से इसका विभाग करके जो परमात्मा मायावी अथवा महायोगी के समान अपनी इच्छा से इसे उत्पन्न करता है, उस श्री गुरुमूर्ति दक्षिणामूर्ति (शिव) को यह नमस्कार हो।

यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थकं भासते,
साक्षात्तत्त्वमसीतिवेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
यतसाक्षात्करणाद्भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये ॥ ३ ॥

जिस परमेश्वर का स्वरूपभूत सद्रूप चैतन्य ही असत् आकाशादिक पदार्थों को प्रकाशित करता है, जो अपने आश्रितों को साक्षात् "तत्वमसि" इस वेद-वचन से बोध कराता है और जिसके साक्षात्कार से संसार समुद्र में पुनरावृत्ति नहीं होती, उस श्री गुरुमूर्ति दक्षिणामूर्ति (शिव) को यह नमस्कार होवे।

नानाछिद्रघटोदर स्थित महादीपप्रभाभास्वरं,
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते।

जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग ,
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ४ ॥

अनेक छिद्र वाले घड़े में स्थित महा प्रदीप का प्रभा के समान प्रकाशवान जिस परमात्मा का ज्ञान, चक्षु आदिक इन्द्रियों द्वारा बाहर फैल रहा है और "मैं जानता हूँ". इस प्रकार प्रतीत होते हुए जिस परमात्मा से यह सारा जगत् प्रतीत हो रहा है, उस श्री गुरुमूर्ति (शिव) को नमस्कार ।

देहप्राणमयीन्द्रियाण्यपि चलं बुद्धिं च शून्यं विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमितिभ्रान्ता भृशं वादिनः ।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे ,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ५ ॥

जो स्त्री के समान विवेकहीन हैं, बालक से समान दुराग्रही हैं, एवं उन्मत्त के समान बुद्धिहीन हैं, ऐसे विषयासक्त मूढ़ लोग देह, प्राण, इन्द्रिय, चञ्चल-बुद्धि एवं शून्य को ही "अहम्" (मैं) कहते हैं इसलिये वे लोग भ्रान्त होने के कारण मिथ्या बकवादी माने जाते हैं। इस प्रकार माया की शक्ति से कल्पित जो देहादिकों में आत्मा का भ्रम है, उस भ्रम का नाश करने वाले उस श्री गुरुमूर्ति दक्षिणामूर्ति महादेव को यह नमस्कार हो ।

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात् ,
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत्सुषुप्तः पुमान् ।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते ,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ६ ॥

जैसे राहु से सूर्य और चन्द्रमा आच्छादित होता है; तद्वत् सन्मात्र चेतन आत्मा भी माया से आच्छादित होता है। इसलिये वही आत्मा चक्षुरादि बाह्यकरण एवं बुद्धियादि आभ्यान्तर करण का विलय करके सुषुप्त होता है, अर्थात् अज्ञान की गोद में सो जाता है। और वही आत्मा जाग्रत होकर "मैं पूर्व में सोया था, अब जाग रहा हूँ" ऐसा पूर्वा पर का अनुसन्धान करके स्वयं जानता है एवं अन्य से कहता भी है। ऐसे श्री गुरुमूर्तिरूप श्री दक्षिणा मूर्ति भगवान् श्री महादेव को यह मेरा श्रद्धाभक्तियुक्त नमस्कार है !

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि ,
व्यावृत्तास्वनुवर्तमान महमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा ।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो भद्रया मुद्रया,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ ७ ॥

बाल्य, कौमार, आदि एवं जाग्रत, स्वप्न आदि समस्त परस्पर अभिचारी अवस्थाओं में जो अनस्यूत है, यानी जो इन समस्त अवस्थाओं का साक्षी है, और इन विकारी अवस्थाओं के आने जाने पर भी जो कूटस्थ, एक रस एवं निर्विकार रहता है। जो बुद्धिरूपी गुहा के भीतर 'अहं' (मैं हूँ) इस प्रकार के अनुभव से सदा प्रकाशित है। जो श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक एकाग्रता से भजन करने वाले महानुभाव हैं, उनके लिये भगवान् श्रीशङ्कर भद्रा मुद्रा के द्वारा उपदेश से अपने सर्वात्मस्वरूप को प्रकट करते हैं, ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेव को यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

विश्वं पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामि सम्बन्धतः,
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो माया परिभ्रामितः,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥८॥

शरीररूपी पुरी में शयन करने वाला यह जीव, माया के वश होकर चारों तरफ रात्रि-दिन भ्रमण करता रहता है, कभी स्वप्न में जाता है तो कभी जाग्रत में। और कार्य-कारण के भाव से, स्वस्वामी के सम्बन्ध से शिष्य-आचार्य के भाव से तथा पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि, के भेद से इस चराचर विश्व को देखता है, ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेव को यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

भूरंभास्य नलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमान्,
इत्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम्।
नान्यत्किञ्चन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्माद्विभोः,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥९॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और पुरुष (आत्मा) चर-अचर (स्थावर-जंगम) स्वरूप जो आठ मूर्तियां हैं, उनके द्वारा जो सदा प्रकाशित हो रहा है। और ब्रह्मनिष्ठ—गुरुओं के द्वारा जो आत्मा-अनात्मा के विचार करने वाले हैं, उनको उस परात्पर-व्यापक-परमात्मा से भिन्न कुछ भी विद्यमान नहीं दीखता है। ऐसे श्रीगुरुमूर्तिरूप श्रीदक्षिणामूर्ति भगवान् श्रीमहादेव को यह मेरा श्रद्धा-भक्तियुक्त नमस्कार है।

सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिंस्तवे,
तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च संकीर्तनात्।
सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः,
सिद्ध्येत्तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम् ॥१०॥

इस दक्षिणामूर्ति—स्तोत्र में मुमुक्षुओं के लिये सर्वात्मभाव स्पष्ट किया है। अतः इसके श्रवण से, अर्थ के मनन से, ज्ञेय वस्तु के निरन्तर ध्यान (अनुसन्धान) से और योग्य अधिकारियों के लिये इसका उपदेश करने से सर्वात्मभाव रूपी महाविभूति सहित ईश्वरभाव स्वतः सिद्ध प्राप्त हो जाता है, और पुनः अष्ट सिद्धि एवं अष्ट ऋद्धि रूप में परिणत हुआ अप्रतिहत ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है।

॥ इति श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्रं समाप्तम् ॥

अच्युताष्टकम्

अच्युतं केशवं रामनारायणं, कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं, जानकी नायकं रामचन्द्रम् भजे ॥१॥

जो अच्युत, केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिका के वल्लभ, परमप्रिय जानकी के स्वामी श्रीरामचन्द्र हैं, उनको मैं भजता हूँ।

अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं, श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरा मन्दिरं चेतसा सुन्दरं, देवकीनन्दनं नन्दजं सन्दधे ॥२॥

जो अच्युत, केशव, सत्यभामा के प्रियपति, लक्ष्मी को धारण करनेवाले, श्रीराधिकाजीसे आराधित, शोभा के धाम, सुन्दर-मनमोहक देवकी को आनन्द देनेवाले हैं, उस नन्दलाल भगवान् का मैं एकाग्र चित्त से निरन्तर ध्यान करता हूँ।

विष्णवे जिष्णवे शंखिने चक्रिणे, रुक्मिणीरागिणे जानकी जानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने, कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥३॥

जो विष्णु-व्यापक स्वरूप हैं, सर्वदा जयशील हैं, शङ्ख एवं चक्र को धारण करने वाले हैं, रुक्मिणी देवी में जिनका अनुराग है, जो जानकी भगवती के प्राणप्रिय स्वामी हैं, गोपिकाओं के प्राणाधार हैं, कंस के मारने वाले, बन्शी के बजाने वाले, सब जगत् के पूज्य, आत्म-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को सदा नमस्कार है।

कृष्ण ! गोविंद ! हे राम ! नारायण ! श्रीपते ! वासुदेवाजित ! श्रीविधे !
अच्युतानन्त ! हे माधवाधोक्षज ! द्वारका नायक ! द्रौपदीरक्षक ! ॥४॥

हे कृष्ण ! हे गोविंद ! हे राम ! हे नारायण ! हे लक्ष्मी के प्राणपति ! हे वासुदेव ! हे अजित ! अर्थात् किसी से भी पराजित नहीं होने वाले ! हे शोभा के समुद्र ! हे अच्युत। हे अनन्त और देश काल से एवं वस्तु से भी जिसका अन्त-परिच्छेद नहीं है, हे माधव ! हे माया के रचयिता, हे अधोक्षज ! अर्थात् इन्द्रियजन्य-तुच्छ ज्ञान जिसने तिरस्कृत किया है, हे द्वारका के स्वामी ! हे द्रौपदी के रक्षक ! आपको सदा नमस्कार है।

राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो, दण्डकारण्य भू पुण्यता कारणम् ।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसन्पूजितो राघवः पातुमाम् ॥५॥

जो रावणादि—राक्षसों द्वारा क्षोभ (कोप) को प्राप्त हुए हैं। सीता भगवती से सुशोभित हैं, जो दण्डकारण्य की पृथ्वी की पवित्रता के कारण हैं, अर्थात् जिनने दण्डकारण्य को पवित्र किया है, जो लक्ष्मणजी से अन्वित (युक्त), हनुमान आदि बानरों से सेवित, अगस्त्य महर्षि से पूजित, रघुवंश-भूषण श्रीरामचन्द्र हैं, वे मेरी रक्षा करें।

धेनुकारिष्टकोऽनिष्टकृद्द्वेषिणां केशिहा कंसहृद्वंशिकवादकः ।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो, बालगोपालकः पातु मां सर्वदा ॥६॥

जो धेनुकासुर के नाशक, एवं द्वेषी-असुरों के अनिष्ट करने वाले हैं, जो केशी राक्षस एवं कंस के मारने वाले हैं। एवं बन्शी के बजाने-वाले हैं। जो कोपावेश से पूतना राक्षसी को मारने वाले, एवं देवों के अंश से अवतीर्ण हुए गोप-बालों से खेलने वाले हैं, ऐसे बाल-गोपाल श्रीकृष्ण, सर्वदा मेरी रक्षा करें।

विद्युदुद्योतवस्प्रस्फुरद्वाससं, प्रावृडम्भो दवत्प्रोल्लसद्विग्रहम् ।
वन्यया मालया शोभितोरः स्थलं, लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे ॥७॥

बिजली के चमक की तरह जिनके पीले वस्त्र सुशोभित हैं, वर्षाकाल के मेघ की तरह जिनका श्याम-सुन्दर शरीर अत्यन्त शोभायमान है, एवं बन-तुलसी की माला से जिनका वक्षस्थल सुशोभित है, जिनके कमल के समान सुन्दर नेत्र हैं, एवम् लाल-लाल चरण-कमल हैं, ऐसे भगवान् का मैं भजन करता हूँ।

कुञ्चितैः कुन्तलै र्भ्राज मानानम्, रत्न मौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः ।
हारकेयूरकं कंकणप्रौज्ज्वलं, किंकिणी मञ्जुलं श्यामलं तं भजे ॥८॥

घुंघराले-काले-काले टेढ़े बालों से जिनका मुख कमल अत्यन्त सुशोभित है एवं जिनके मस्तक में अनेक प्रकार के वेशकीमती रत्न चमक रहे हैं। जिनके लाल लाल कपोलों में रत्नजड़ित-कुण्डलों की द्युति शोभा पा रही है। जिनने हार एवं केयूर धारण किये हैं, कङ्कणों (हाथ के आभूषण) की और किङ्किणी (क्षुद्रघण्टिका से युक्त पाद का आभूषण) की द्युति एवं ध्वनि से अतीव मन-मोहक प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे श्यामसुन्दर भगवान् को मैं निरन्तर भजता हूँ।

अब अच्युताष्टक स्तोत्र के पढ़ने का फल बतलाते हैं:—

अच्युताष्टकं या पठेदिष्टदं, प्रेमतः प्रत्यहं पुरुषः सस्पृहम् ।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृविश्वम्भरः, तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम् ॥९॥

जो मनुष्य, एक मात्र प्रभु-प्राप्ति की अभिलाषा को रख कर, प्रति दिन बड़े प्रेम से इस अति-सुन्दर छन्द वाले अच्युताष्टक स्त्रोत्र को पढ़ता है, विश्वम्भर—विश्वकर्त्ता श्री हरि शीघ्र ही उसके वशीभूत हो जाते हैं।

॥ इति अच्युताष्टकं समाप्तम् ॥

—श्री गङ्गाष्टकम्—

भगवति ! तव तीरे नीरमात्रा शनीऽहं, विगतविषयतृष्णाः कृष्णमाराधयामि।
सकल कलुषभंगे ! स्वर्गसोपान संगे, तरलतरतरंगे ! देवि ! गङ्गे ! प्रसीद ॥१॥

हे सम्पूर्ण एश्वर्यादि षड्विध भग से सम्पन्ना भगवती भागीरथी ! हे सम्पूर्ण पापों को ध्वंस करने वाली ; हे स्वर्ग की सीढ़ी से सम्बन्ध कराने वाली ! हे अत्यन्त चञ्चल लहरों वाली ! तुम्हारे पवित्र-एकान्त तट पर बैठ कर मैं केवल जल-पान करता हुआ, विषय-भोग की लालसा से रहित होकर भगवान् श्री कृष्ण परमात्मा की आराधना करता हूँ। हे दिव्य-स्वरूप वाली देवी गङ्गे ! मुझ पर प्रसन्न होइये, आपके विमल प्रसाद से ही मेरा श्रीकृष्णाराधन सफल होगा।

भगवति ! भवलीला मौलिमाले ! तवाम्भः, कणमणु परिमाणं प्राणिनो ये स्पृशन्ति।
अमर नगर नारी चामर ग्राहिणीनां, विगतकलिकलङ्कातङ्रमङ्के लुठन्ति ॥२॥

हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यादि षड्विध भगयुक्त ! भगवान् महादेव के जटा-मुकुट में मालारूप आभूषण के समान सुशोभित देवी गंगे ; जो प्राण बूंद के समान थोड़ा सा भी तुम्हारे जल का स्पर्श करते हैं, वे कलि-काल के पापमय-कलङ्क रूपी मन के उपद्रव से रहित होकर देव-नगरी अमरावती की चामर-ग्रहण करने वाली देवाङ्गना—अप्सराओं की गोद में लेटते हैं।

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती,
स्वर्गलोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूर्निर्भरं भर्त्सयन्ती,
पापोधिं पूरयन्ती सुरनगर सरित्पावनी नः पुनातु ॥ ३ ॥

ब्रह्माण्ड को फोड़ कर निकलती हुई, भगवान् श्री महादेव के मस्तक रही हुई जटारुपिणी लता को प्रफुल्लित करती हुई, स्वर्गलोक से नीचे गिरती हुई, सुमेर पर्वत की गुफा एवं पर्वतमाला की विविध शिलाओं से बहती हुई, पृथ्वी प्रष्ट भाग पर लौटती हुई पाप समूह की सेना को कड़ी फटकार देती हुई, समुद्र को भरती हुई, देवलोक की पवित्र नदी भगवती—भागीरथी गंगा हमें पवित्र करे।

मञ्चन्मातङ्गकुम्भच्युत मद मदिरा मोद मत्तालिमालं,
स्नानैः सिद्धाङ्गनानां कुच युगविगलत्कुंकुमासंगपिङ्गलम् ।
सायं प्रातर्मुनीनां कुशकुसमचयैश्छन्न तीरस्थ नीरं,
पायाको गाङ्गमम्भः करिकलभ कराक्रांतरं हस्तरङ्गम् ॥४॥

स्नान करते हुए हाथियों के कपोलों से झरती हुई मदरूपी मदिरा की सुगन्ध पाकर आनन्दित हुए भ्रमर-समूह से युक्त, स्नान के समय सिद्धों की स्त्रियों के स्तनद्वय से बहे हुए केसर के सम्बन्ध से पीला रङ्ग वाला, प्रातःकाल व सायंकाल सन्ध्या-वंदन के समय मुनियों द्वारा अर्पित कुश और पुष्पों के समूह से ढका हुआ तट के निकट का जल, तथा हाथिओं के बच्चों की सूण्डों से रोके जाने के कारण वेग से बहने वाला, तरङ्ग युक्त परम पावन गंगाजल, हमारा कल्याण करे ।

आदावादि पितामहस्य नियमव्यापार पात्रे जलं,
पश्चात्पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम् ।
भूपः शम्भु जटाविभूषण मणिर्जह्नोर्महर्षेस्यिं,
कन्या कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी दृश्यते ॥ ५ ॥

जो गंगा आरम्भ में प्रथम आद्य शरीरी पितामह—ब्रह्मा के कमण्डलु में जल रूप से विद्यमान थी । तत्पश्चात् शेष शैय्या पर शयन करने वाले भगवान् विष्णु के चरण कमलों का प्रक्षालन करने पर विष्णु-पादोदकी बनी । फिर भगवान् श्री शङ्कर की जटाओं का श्रेष्ठ आभूषण-मणि के समान सुशोभित हुई । तत्पश्चात् जह्नु महर्षि की जंघा से निकलने के कारण जह्नु कन्या-जाह्नवी हुई । इस प्रकार अनेक रूपों में प्रकट होने वाली , सकल पापों का नाश करने वाली, भगवती, भागीरथी, पुण्यशाली मनुष्यों से देखी जाती है ।

शैलेन्द्रादवतारिणी निज जले मज्ज्जनोत्तारिणी,
पारावार विहारिणी भव भय श्रेणी समुत्सारिणी ।
मेषाहेरनुकारिणी हरशिरोवल्लीदला कारिणी,
काशीप्रान्त विहारिणी विजयते गंगा मनोहारिणी ॥६॥

पर्वतराज—हिमाचल से उतरने वाली, अपने जल में स्नान करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने वाली, महासागर में विहार करने वाली, संसार के जन्म-मरणादि भय-समुदाय का ध्वंस करने वाली,

शेषनाग के समान तिरछी चाल से चलने वाली, भगवान् श्री शङ्कर के मस्तक पर लता-पत्र के समान आकार वाली, परम पावनी—श्री काशीजी के प्रदेश में उत्तरवाहिनी होकर बहने वाली, मन को हरने वाली श्री गंगा-भगवती विजयिनी हो रही है, अर्थात् श्री गंगाजी की सदैव जय है।

कुतो वीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचन पथं,
त्वमापीता पीताम्बर पुर निवासं वितरसि।
त्वदुत्संगे गंगे! पतति यदि कायस्तनुभृतां,
तदा मातः! शातक्रतवपदलाभोऽप्यति लघुः ॥७॥

हे मातः गंगे! यदि किसी-पुण्य के प्रभाव से आपके मनोहर-तरङ्ग की शोभा नेत्रों के समक्ष आ जाय, तो पुनः संसार सागर के संकटमय तरङ्ग का दर्शन कैसे हो सकता है? हे देवी! तुम्हारे पवित्र-जल का पान करने मात्र से आप पीताम्बरधारी भगवान् श्री विष्णु का पुर-वैकुण्ठधाम का निवास देती हो। हे मातः! यदि शरीर धारियों के शरीर, आपकी परम-पाविनी गोद में छूट जाते हैं, तो उस समय उस—आनन्द के समक्ष देवराज इन्द्र के पद की प्राप्ति भी अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती है।

गंगे! त्रैलोक्यसारे! सकलसुरवधूधौतविस्तीर्ण तोये!
पूर्ण—ब्रह्मस्वरूपे! हरिचरणरजोहारिणि! स्वर्गमार्गे!।
प्रायश्चित्तं यदि स्यात्तव जलकणिका ब्रह्महत्यादिपापे,
कस्त्वां स्तोतुं समर्थस्त्रिजगदघहरे! देवि! गंगे! प्रसीद ॥८॥

हे मातः गंगे! हे तीनों लोकों में सारस्वरूपिणी! समस्त देवाङ्गनाओं के स्नान से सुगन्धित विस्तीर्ण—निर्मल जल वाली! हे पूर्ण ब्रह्मस्वरूपिणी! हे भगवान् विष्णु के चरणों की रज (धूलि) को धोने वाली! हे स्वर्ग के मार्ग रूपिणी! जब ब्रह्महत्यादि-पापों के प्रायश्चित के लिये आपके जल का छोटा सा कण मात्र ही पर्याप्त है। अतएव हे तीनों तापों को ध्वंस करने वाली! देवी गङ्गे! तब आपकी स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है? अतः हे मातः! आप हम पर प्रसन्न होइये।

मातर्जाह्नवि! शम्भुसंगवलिते! मौलौ निधायाञ्जलिं,
त्वत्तीरे वपुषोऽवसानसमये नारायणङ्घ्रिद्वयम्।
सानन्दं स्मरतो भविष्यति मम प्राणप्रयाणोत्सवो,
भूपाद्भक्तिरविच्युता हरिहराद्वैतात्मिका शाश्वती ॥९॥

हे मातः जाह्नवी ! हे भगवान शंकर की जटाओं में वलय (कंकण) के समान आकार वाली, देहावसान के समय मस्तक नवाकर हाथ जोड़ कर तुम्हारे तट पर श्रीमन्नारायण भगवान् के दोनों चरण कमलों का आनन्दपूर्वक एकाग्रता से स्मरण करता हुआ मेरे प्राण-प्रयाण का उत्सव हो, उस समय मेरी हरि-हर में अभेद-भाव वाली, अद्वैतात्मिक अविचल—अनन्या विशुद्ध प्रेम भक्ति बनी रहे।

गंगाष्टकमिदं पुण्यं, यः पठेत्प्रयतो नरः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो, विष्णुलोकं स गच्छति ॥१०॥

जो मनुष्य शुद्ध होकर इस पवित्र गङ्गाष्टक का पाठ करता है, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर विष्णु लोक में जाता है।

॥ इति श्रीगङ्गाष्टकं समाप्तम् ॥

श्री गंगाजी की उत्पत्ति

एक समय ब्रह्मा, विष्णु इन्द्रादि देव नारदादि देव ऋषियों सहित महादेवजी का ताण्डव नृत्य देखने और गान सुनने के निमित्त कैलाश पर्वत को पधारे, मार्ग में नारद जी को अभिमान हुआ कि सर्व देवता व्यर्थ ही शंकर भगवान् के पास जा रहे हैं, मेरे से कहें तो मैं यहाँ ही श्री महादेवजी से अच्छा गान सुना दूँ; क्योंकि नाद विद्या का आचार्य मैं ही हूं, मेरे से अच्छा कौन गान कर सकता है। ऐसा विचार होते ही अन्तर्यामी विष्णु भगवान् जान गये और उसी समय देव मण्डली एक पर्वत पर उतर विराजमान हो गयी, नारद जी को कहीं एक ओर एक नवीन लोक दिखाई पड़ा, तभी नारदजी ने विष्णु भगवान् से कहा हे महाराज! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इस पर्वत का भ्रमण कर आऊँ, भगवान् तो यह चाहतें ही थे, उन्होंने कहा जाओ, तब तक हम यहीं विचरते हैं, नारद जी ने जाकर देखा तो बड़े बड़े सुन्दर स्वरूपमान बालक-बालिका-स्त्री-पुरुष वहां निवास करते हैं परन्तु हैं सब अङ्ग-भङ्ग किसी के नाक नहीं तो किसी के दोनों हाथ नहीं, किसी के एक पैर नहीं तो किसी के दोनों पैर नहीं, एक पेट के ही बल चल रहा है। इस प्रकार सब की दशा देख कर नारद जी बड़े आश्चर्य को प्राप्त हो उनसे पूछने लगे, क्यों भाई आप लोगों को देख कर मुझे बड़ी दया आती है। आप कौन हैं और यह दशा आप लोगों की कैसे हुई? वह बोले महाराज! हम सब रागिनी हैं और हमारी इस दुर्दशा का कारण महा मूर्ख नारद ही है। क्योंकि वह अपने को मानते तो गायना चार्य हैं परन्तु उनको राग-रागिनी का बिलकुल ज्ञान ही नहीं है सो न समय देखते हैं न असमय जब प्रेम-भक्ति में निमग्न होते हैं तभी चाहे जिस समय चाहे जिस राग-रागिनी को अलापने लगते हैं। इसी से हमारे में से कोई काना हो गया है और कोई अन्धा हो गया है, कोई लङ्गड़ा हो गया है। हमारी सब की दुर्दशा हो रही है, कदाचित् वह नारद हमको मिल जाय तो इसका फल उनको यहाँ ही चखा दें। बस फिर क्या था अभिमान तो कपूर की भांति उड़ गया, नारद जी चुपके से दबे पाँव पीछे को लौट आये। भगवान् ने मुसकराते हुए पूछा—कहिए मुनि जी! नवीन लोक का भ्रमण कर आये, नारद जी ने कहा हां महाराज! आपकी कृपा से हो गई यात्रा, अब चलिये। श्री शङ्कर भगवान् की सेवा में, सब चल दिये और कैलाश में पहुँच गए। महादेव जी ने सबका आदर सत्कार कर यथा योग्य आसनों पर बैठा कर पूछा कहिये भगवन्! क्या आज्ञा है? श्री विष्णु भगवान् ने कहा कि हम सब लोग आपका तांडव नृत्य देखने और गान सुनने को आये हैं। उसी समय सभा लगी यथा योग्य सिंहासनों पर सब विराजमान हुए। और श्री महादेव जी वीणा, डमरू धारण कर सभा में खड़े हो, नृत्य गान करने लगे। यह नियम है कि गान विद्या से चित्त की एकाग्रता बहुत शीघ्र होती है, बस सब की समाधि लग गई, सुधि-बुधि सब भूल गये, यहां तक कि विष्णु भगवान् तो प्रेम विवश हो द्रवीभूत होगये अर्थात् जल रूप होकर

सभा में स्थित हुए। जब नृत्य गान समाप्त हुआ तब सब देवों ने देखा कि विष्णु भगवान् का सिंहासन रिक्त पड़ा है और जल ही जल दिखाई पड़ रहा है। तब चिन्तातुर हो महादेव जी से प्रार्थना करने लगे कि अब कैसे होगा? विष्णु भगवान् बिना हमारी रक्षा कौन करेगा? महादेव जी ने कहा घबराने का काम नहीं है सर्व आनन्द-मङ्गल होगा, हे ब्रह्मा जी! आप अपना कमण्डल भर कर सिंहासन पर स्थापन करिये। और आओ हम आप सब मिल कर विष्णु भगवान् की स्तुति करें, ब्रह्मा जी ने ऐसा ही किया, जब सब ने मिल-कर विष्णु भगवान् की स्तुति करी तभी कमण्डल का जल विष्णु हो गया। सो विष्णु भगवान् हैं, और शेष जल गङ्गाजल है, इसी से कहा है कि निराकार-साकार ब्रह्म ही नीराकार हुआ है और इसी से वेद में श्री गङ्गाजी को ब्रह्म द्रव अर्थात् ब्रह्म ही द्रव (जल) रूप हुआ है और यह नियम है कि जो चीज़ पिघलती है सो नीचे से पैरों की ओर से ही पिघलती है इसी से विष्णु भगवान् भी चरणों की ओर से पिघलने से श्री गङ्गाजी विष्णु पादोदक कहलाती हैं, इसी से ब्रह्म रूप श्रीगङ्गाजी में सर्व आत्मा होने से आकर्षण शक्ति है अर्थात् सब के मन को बरबस खेंचती है।

विष्णु के चार हस्त और शिव के चार हस्त।

लौकिक अर्थ यह है:—

विष्णु के चार हस्त—धर्म की मूर्ति विष्णु मूर्ति है, इसलिये उनके चार हाथ होते हैं। उनका चक्रयुक्त हाथ—धर्म का; गदायुक्त हाथ—अर्थ का; कमलयुक्त हाथ—काम (शिल्पकला) का और शङ्खयुक्त हाथ—मोक्ष का देने वाला है।

शिव के चार हस्त—शिवरूप में "परशुमृगवराभीति" हस्तों से भगवान् चतुर्वर्ग (काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष) ही देते हैं।

परशुधारी हस्त—अर्थ प्रद है; मृगयुक्त हस्त—काम प्रदाता है; वरमुद्रा-युक्त हस्त—वरणीय धर्म का देने वाला है और अभय मुद्रायुक्त हस्त से भवभय नाशकारी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कुम्भ पर्व और महावारुणी पर्व।

कुम्भ के मेले चार स्थानों पर होते हैं।

(१) हरिद्वार, (२) प्रयागराज, (३) उज्जैन, और (४) नासिक त्र्यम्बक।

जिस समय देवों और दैत्यों ने मिलकर समुद्र को मथा है उस समय उनमें से अमृत के कुम्भ (कलश-घट) सहित चौदह रत्न निकले। थे उस अमृत को पीकर अमर होने के वास्ते देवता और दैत्यों में परस्पर कलह होने लगा, तब इन्द्र के पुत्र जयन्त उस कुम्भ को लेकर आकाश मार्ग से भाग चले और दैत्य भी उसको छीनने के वास्ते-उनके पीछे २ चले। गुरु, चन्द्रमा, सूर्य और शनि जयन्त की सहायता करके कुम्भ की रक्षा करने चले और गुरु (वृहस्पति) ने दैत्यों को निवारण कर कुम्भ की रक्षा करी, चन्द्रमा ने कुम्भ की गिरने से रक्षा करी, सूर्य ने कुम्भ की फूटने से रक्षा करी, और शनि ने जयन्त का भय दूर करके कुम्भ की रक्षा करी।

इस प्रकार देवता-दैत्यों में बारह दिन कलह हुआ था, सो मनुष्यों के बारह वर्ष होने बारह कुम्भ होते हैं, सो इनमें से आठ कुंभ तो अन्य लोकों में देवों द्वारा गम्य हैं और चार कुम्भ मर्त्यलोक में हैं। जिस २ समय जिस २ ग्रह ने जिस २ तीर्थ पर रक्षा करी है उसी २ समय की वर्त्तमान राशिओं पर जब २ रक्षा करने वाले सूर्यादि ग्रह आते हैं उसी २ समय उसी २ तीर्थ पर कुम्भ का योग होता है। जैसे, जयन्त के पीछे दैत्य आये और हरिद्वार में आकर कुम्भ को छीनने लगे, उस समय दोनों की छीना झपटी में कुछ बून्द अमृत की ब्रह्मकुण्ड में गिरीं और ग्रहों की रक्षा से कुम्भ बच गया, वही हरिद्वार का कुम्भ हुआ जैसे:—"पद्मिनी नायको मेषे कुम्भराशि गतोगुरुः। गंगाद्वारे भवेत् योगः कुम्भनामा तदोत्तमः"॥ अर्थात् मेष में सूर्य और कुम्भराशि में गुरु होने से हरिद्वार का कुम्भ जानना ॥१॥ "मकरे च दिव्य नाथे अजगरे च ब्रहस्पतौ। कुम्भयोगो भवेत्तत्र प्रयागे हृत दुर्लभः"॥ अर्थात् मेष में गुरु और मकर में सूर्य का योग होने से प्रयागराज का कुम्भ होता है॥ "घटे सूरी शशी सूर्यः कुह्वां दामोदरे यदा। धारायां च तदा कुम्भो जायते खलु मुक्तिदः"। अर्थात् तुलाराशि में सूर्य, गुरु और चन्द्रमा का योग अमावस्या में होने से उज्जैन का कुम्भ जानना ॥३॥ "तद्दिनं हि समारभ्य सिंहस्थे च वृहस्पतौ। आयान्ति सर्व तीर्थानि क्षेत्राणि दैवतानि च"। अर्थात् सिंह राशि में गुरु आने से गोदावरी का कुम्भ होता है ॥४॥ उस समय सब तीर्थ और सब देवता इस तीर्थ में आते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त राशियों में ग्रहों का योग होने से कुम्भ का योग होता है। राशियों की संख्या बारह होने से ग्रहों का योग भी बारह ही वर्ष में होता है और उस २ समय वहां अमृत के बिन्दुओं के प्रभाव से वहां वहां के तीर्थ में लोग स्नान करने को एकत्र होते हैं। इसी कारण से अनायास ही सन्तों का दर्शन सत्संग हो जाता है। प्रथम तो षड्दर्शन (सन्त-ग्रहस्थ) एक साथ ही स्नान करते थे फिर जैसे सन्तों के अखाड़े पंक्ति बन गये, जमात नियत होगई वैसे ही वैसे सर्व सम्प्रदाओं के महन्त सन्त नम्बर वार, अपनी २ जमात बांध २ कर प्रथक् स्नान करने लगे। फिर समयानुसार जैसे २ रजोगुण की वृद्धि होने लगी तैसे ही तैसे राज्य वैभव, हाथी, घोड़े, पालकी, तरह २ की वस्तु) सहित अपने २ इष्टदेव की शोभा बढ़ाने के वास्ते नाना प्रकार

की रचना करने लगे, इसीसे उस दृश्य को लोग भी शाही नाम से पुकारने लगे हैं और बहुत से लोग तो उसी के देखने दिखाने को ही कुम्भ-पर्व का मेला समझने लगे हैं। वास्तव में तो "ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" वाले पुराणपुरुषरूप वृक्ष की शाखा पर उन्हें काररूप ज्ञानमय रत्नहार का श्रीगंगाजी में अमृत-विन्दुरूप प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी को सब लोग कूदते फांदते, गोता मार २ कर ढूंढ़ते हैं परन्तु प्रतिविम्ब हाथ नहीं आता क्योंकि विम्ब के ग्रहण से प्रतिविम्ब अपने आप हाथ आ जाता है, और जिसके हाथ आजाता है, उसके साम्प्रदायिक सब झगड़े हट जाते, मानापमान मिट जाता और रागद्वेष के बादल भी विला जाते हैं, सोई कृतकृत्य वो तरण तारण होजाता है, सो कोई विरला ही होता है। शेष गंगास्नान और सन्त समूह के दर्शन करने वाले तो सभी हैं, वे भी धन्य हैं, वे भी किसी समय कृतकार्य होंगे ही क्योंकि सन्तों का संग ही वास्तव वस्तु का लाभ कराने वाला है।

"संगः सर्वत्मना त्याज्यः स चेत्यक्तं न शक्यते।
सद्भिस्स सः कर्त्तव्यः, सत्संगोहि भैषजम्॥ (पो० वा०)

अर्थः—मोक्षार्थी पुरुष संगमात्र का त्याग करे। यदि सर्वथा संग त्यागने में असमर्थ हो तो सन्तों का का संग करे क्योंकि संसाररूप रोग की औषधि सत्संग ही है, वही तीर्थ स्नान का फल और महत्व है। श्रीगंगाजी के स्नान का फल तो अनन्त है जैसे कि महाभारत में नारद मुनि ने कहा है। महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्री गंगाजी में सब लोग यज्ञान्त-स्नान कर रहे थे और नारदजी पृथक् तट पर बैठे थे। युधिष्ठिर ने कहा मुनिजी सब लोग स्नान करते हैं, आप क्यों नहीं करते? तब नारद मुनि ने कहा "गंगे! तव दर्शनात्मुक्तिः न जाने स्नानजं फलम्"। हे गंगे! तुम्हारे दर्शन से ही मुक्ति होती है न जाने स्नान का फल क्या होगा? अर्थात् स्नान का फल तो अकथनीय है। वेद, शास्त्र, पुराण और इतिहासादि में श्रीगंगाजी की महिमा का वर्णन है तो भी महात्म्य का अन्त नहीं है, विशेष कहां तक कहें। निराकार ब्रह्म ही नीराकार है। इसी कारण वेद में इसको ब्रह्म-द्रव कहा है।

(श्री स्वामी केशवाचार्य्यजी)

अथ यजुर्वेदीय-शिवाष्टक

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैत दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योति रेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥ १ ॥

ओ३म् येन कर्माण्ययसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यद् पूर्वे यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु ॥ २ ॥

ओ३म् यत् प्रज्ञानयुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतम् मृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

ओ३म् यस्मिन् ऋचः साम यजू ँ यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिन चित ँ सर्व मीतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥

ओ३म् सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने नीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु ॥ ६ ॥

ओ३म् नमः शमवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ७ ॥

ओ३म् नमस्ते भगवन् ! अस्तु नमस्ते भगवन् ! अस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जाग्रतावस्था में दूर देशों में भ्रमण करने वाला सुषुप्ति में निज स्थान में बैठने वाला, बाहर घूमने की जिसमें अद्भुत शक्ति है तथा जो ज्योतियों में एक ज्योति है ऐसा मेरा यह मन शुभ कल्पना वाला बने ॥ १ ॥

जिस मन के द्वारा कर्म काण्डी यज्ञ कर्मों में, और शूरवीर युद्धों में तथा राज सभाओं में अनेक कार्य करते हैं। सारे प्राणियों के भीतर जो एक अपूर्व वस्तु है वही मेरा मन शुभ संकल्प वाला बने ॥ २ ॥

जो ज्ञान का साधन है, जो चिन्तन शक्ति का आधार है, शान्ति और धैर्य जिसमें निवास करते हैं, जो प्राणियों में एक अमर ज्योति है, जिसके बिना हम सांसारिक वा पारमार्थिक कोई भी काम नहीं कर सकते, हे कल्याणकृत जगदीश्वर ! वह हमारा मन शुभ संकल्प वाला हो ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! जिस मन ने भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों को घेर रक्खा है, जिसके द्वारा ही इस शरीर का कार्य चला करता है वही मेरा मन शुभ संकल्प वाला बने ॥ ४ ॥

जिस मन में रथ के आरों की नाईं सारी विद्यायें भरी हुई हैं तथा जिसमें प्राणियों का सारा ज्ञान और शक्ति रहती है वही मेरा मन शुभ संकल्प वाला बने। ॥ ५ ॥

सारथी जिस प्रकार घोड़ों को जिधर चाहता है ले जाता है वैसे ही यह मन इन्द्रियों को विषयों में ढकेलता रहता है। जो अत्यन्त वेगवान है, जो हृदय में गुप्तरूप से निवास करता है, कभी बूढ़ा नहीं होता वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला बने ॥ ६ ॥

हे कल्याणस्वरूप ! हे परम कल्याणस्वरूप ! आपकी कृपा से सुख, शान्ति, तथा मोक्ष प्राप्ति हो सकती है, इसलिए आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ ७ ॥

हे परमपूज्य भगवन् ! आपको नमस्कार है। आपको नमस्कार है ॥ ८ ॥

ओ३म् शम्

उपदेश-पंचकम् ।

जिस समय महेश्वर-परावतार भगवान् आचार्य श्रीशंकर स्वामी जी का वैदिक-धर्म का उद्धार एवं अवैदिक-धर्म का मर्दनरूपी अवतार-कार्य समाप्त हुआ। और श्रीशंकर स्वामी जी महा-कैलाश का प्रस्थान करने के लिए उद्यत् हुए, उस समय श्री स्वामी जी के समीप अनेक ग्रहस्थ, ब्रह्मचारी एवं सन्यासी शिष्य-मण्डली विशेषरूप से उपस्थित थी, क्योंकि-प्रथम से ही उन लोगों को श्रीस्वामी जी ने अपने प्रस्थान का समय बतला दिया था। उस सभी प्रकार की शिष्य-मण्डली की विनम्र प्रार्थना से श्रीशंकर स्वामी जी अन्तिम उपदेश देने लगे, जो पांच श्लोकों में संक्षिप्त है—

वेदो नित्ययधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्,
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता—
मामेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम् ॥ १ ॥

नित्य वेद को पढ़ो, उसमें कहे गये याग, दान, होम, तप, जप आदि शुभ कर्मों का श्रद्धा-भक्ति के साथ अच्छे प्रकार अनुष्ठान करो, कर्मफल को भगवदर्पण करके इसी कर्मानुष्ठान से ईश्वर की पूजा करो, काम्य-कर्मों की इच्छा का त्याग करो, पाप समूह को दूर करो, संसार सुख में दोष का चिन्तन करो, आत्मविषयक इच्छा को दृढ़ करो और अधिकार परिपक्व होने पर ममतास्पद गृह का शीघ्र ही त्याग कर दो अर्थात् संन्यास ग्रहण करो।

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो, भक्तिर्दृढाऽऽ धीयताम्,
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढ़तरं कर्माशु संत्यज्यताम् ।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुके सेव्यताम्,
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम् ॥२॥

सत् पुरुषों का सङ्ग करो, भगवान में दृढ़ भक्ति धारण करो, शान्ति आदि को दृढ़तापूर्वक बढ़ाओ, कर्म को झटपट छोड़ दो, श्रेष्ठ विद्वानों के पास जाओ, प्रतिदिन उनके चरणों की सेवा करो, ॐरूप-एकाक्षर,

ब्रह्म का अर्थानुसंधानपूर्वक निरन्तर चिन्तन करो। और वेदों का सर्वोत्तम—शिरोभागरूप-उपनिषद् के महावाक्यों का अर्थ सहित उन महापुरुषों से श्रवण करो।

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः पक्षः समाश्रीयतां,
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोनु सन्धीयतां।
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यता महरहर्गर्वः परित्यज्यतां,
देहेऽहंमतिरुच्छ्रितां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम् ॥३॥

'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि महावाक्यों के अर्थ का विचार करो, वेदान्त पक्ष का आश्रय लो, कुतर्क से बचो, श्रुति सम्मत तर्क से विचार करो, रात दिन "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसा विचार करो, अहंकार छोड़ दो, देह में 'अहं बुद्धि का त्याग कर दो और विद्वान् लोगों के साथ विवाद मत करो।

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतांप्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जन कृपा नैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥४॥

भूखरूपी रोग की चिकित्सा करो, प्रतिदिन भिक्षारूपी औषधि खाओ, स्वादु अन्न मत खाओ, भाग्य से जो प्राप्त हो उसी से संतुष्ठ रहो, शीत उष्ण का सहन करो, व्यर्थ बातों का उच्चारण मत करो, उदासीनता की इच्छा करो, अर्थात् असङ्ग—निर्विकार—शान्त अवस्था हर दम धारण करो। और अन्य मनुष्यों की कृपा की इच्छा तथा निष्ठुरता का परित्याग करो।

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयताम्,
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यताम् ॥५॥

एकान्त में सुखपूर्वक बैठो, परमात्मा में चित्त को समाहित करो, पूर्ण आत्मा का साक्षात् करो, इस जगत् को उससे बाधित समझो, आत्मा में ज्ञान बल से सञ्चित कर्म को लीन कर दो, भावी

कर्मों से सम्बन्ध मत करो, प्रारब्ध का इस जन्म में भोग कर लो और उससे सदा सर्वदा अपने आत्मा परमब्रह्ममय स्थिति सम्पादन करो अर्थात् परब्रह्मरूप से स्थिर हो जाओ।

यः श्लोक पञ्चकमिदं पठते मनुष्यः,
सञ्चिन्तयनुदिनं स्थिरतामुपेत्य ।
तस्याशु संसृति दवानल तीव्रघोर,-
तापः प्रशान्ति मुपयाति चितिप्रसादात् ॥

जो पुरुष इन पांच श्लोकों को पढ़ता है और प्रतिदिन शान्तिपूर्वक विचार करता है उसका संसाररूप-दावानल का तीव्र और घोर ताप चेतन की कृपा से झटपट शान्त हो जाता है।

॥ इति उपदेश पञ्चकम् समाप्तम् ॥

काशी-पंचकम्

मनोनिवृत्तिः परमोपशान्तिः, सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च ।
ज्ञानप्रवाहा विमलादि गंगा, सा काशिकाऽहं निज बोधरूपा ॥१॥

संकल्प-विकल्प रूप मन की निवृत्ति रूप जो संसार की परम उप-शान्ति है, वही सब तीर्थों में श्रेष्ठ मणिकर्णिका तीर्थ है। और "अहं ब्रह्मास्मि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्म" इत्यादि ब्रह्माकार ज्ञानरूप वृत्तियों का सतत प्रवाह ही निर्मलता आदि गुणों वाली श्री भगवती गंगाजी है। और अखण्ड अद्वितीय स्वस्वरूप का अपरोक्ष अनुभव ही श्री काशीजी है। वही स्वप्रकाश ब्रह्मरूप काशी मैं हूँ।

यस्यामिदं कल्पितमिन्द्रजाल, चराचरं भाति मनोविलासम् ।
सच्चित्सुखैका परमात्मरूपा, सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥२॥

जिस सर्वाधिष्ठान ब्रह्मारूप काशी में यह समस्त नामरूपात्मक जगत् इन्द्रजाल के समान कल्पित है। यानी रस्सी में सर्प की भांति अध्यस्त है। इसलिये वस्तुतः न होता हुआ भी यह चराचर विश्व केवल मन की अविद्यामयी कल्पनाओं से दिखाई दे रहा है। सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप एक-अद्वितीय, परमात्मतत्त्व-अखण्ड अनुभवरूप, जो स्वप्रकाश काशी है, वही मैं हूँ।

कोशेषु पंचस्वधिराजमाना, बुद्धिर्भवानी प्रति देहगेहम् ।
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा, सा काशिकाऽहं निजबोधरूपा ॥३॥

प्रत्येक प्राणी के देहरूपी ग्रह के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, एवं आनन्दमय रूपी पांच कोशों में विवेक विचार वाली जो बुद्धि विराजमान है, वही साक्षात् भवानी-पार्वती है। और सर्वत्र सदा परिपूर्ण सब का अन्तरात्मा साक्षी - कूटस्थरूप जो शिव है, वही स्वप्रकाश अखण्ड - साक्षात्काररूप काशी है, वही मैं हूँ।

काश्यां हि काश्यते काशी, काशी सर्व प्रकाशिका ।
सा काशी विदिता येन, तेन प्राप्ता हि काशिका ॥४॥

आत्मरूपी काशी में भौतिक काशी प्रकाशित हो रही है, जो काशी (आत्मा) सबको प्रकाशित कर रही है, वह काशी जिसने जान ली है, उसी ने पारमार्थिक काशी को पाया है।

काशीक्षेत्रं शरीरं त्रिभुवनजठरे व्यापिनी ज्ञानगंगा,
भक्तिः श्रद्धा गयेयं, निजगुरुचरणध्यानयोगः प्रयागः।
विश्वेशोऽयं तुरीयाः, सकल-जनमनः साक्षीभूतोऽन्तरात्मा,
देहे सर्वं मदीये यदि, वसति पुनस्तीर्थमन्यत्किमस्ति ॥५॥

शरीर काशी क्षेत्र है, ज्ञान ही त्रिभुवन जननी सर्व व्यापिनी गंगा है, भक्ति और श्रद्धा गया के समान हैं। अपने गुरु के चरणों में ध्यान लगाना प्रयाग है, और सकल मनुष्यों के मन का साक्षीभूत तुरीया अन्तरात्मा विश्वेश्वर के समान है। इस प्रकार यदि मेरे शरीर में सब तीर्थ निवास करते हैं तो फिर मेरे लिये और कौन सा तीर्थ चाहिये ? यानी स्थूल तीर्थ का सेवन सूक्ष्म तीर्थ के साक्षात्कार के लिये है, जब सूक्ष्म तीर्थ का साक्षात्कार हो जाता है, तब स्थूल तीर्थों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे भोजन जन्य तृप्ति के लिये ही प्रथम पत्तल, दोना आदि का ग्रहण किया जाता है, जब तृप्ति हो जाती है, तब उन पत्तल आदि को फेंक दिया जाता है, उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न—तब क्या प्रसिद्ध काशी आदि तीर्थरूप नहीं हैं।

उत्तर—लौकिक स्थूल काशी आदि तीर्थ, प्रपञ्चासक्त मनुष्यों के लिये ही तीर्थरूप हैं, उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिये अवलम्बन हो जाते हैं। विरक्त विद्वान् महापुरुष उन स्थूल तीर्थों से ही सन्तुष्ट नहीं होते। जो स्थूल-स्थानों को ही तीर्थ मानता है उसको स्थूल ही फल होता है। प्रत्येक स्थूल-तीर्थों का भाव (रहस्य) सूक्ष्म आध्यात्मिक तीर्थों में ही निहित होता है। जैसे शास्त्र में कहा है—काशी को श्रीशंकर ने त्रिशूल के ऊपर रक्खा है, इसलिये उसका प्रलय में भी नाश नहीं होता, इत्यादि। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य, उसका आध्यात्मिक-रहस्य समझे बिना 'केवल स्थूल काशी प्रलय में भी नाश रहित है, ऐसा कैसे मान सकता है ? स्थूल काशी ऐसी किस प्रकार हो सकती है ? उसका आध्यात्मिक रहस्य इस प्रकार है—भगवान् श्रीशंकर कल्याण स्वरूप हैं, सर्व के आत्मा हैं, स्वयं-प्रकाशमान साक्षी हैं। उनका त्रिशूल, माया के सत्त्व रजः और तमोरूप तीनों गुण हैं। उनके ऊपर अर्थात् गुणातीत-भाव में काशी को रक्खा गया है, गुणातीत का ही प्रलय में नाश नहीं होता, अतः वह काशी चेतन स्वरूप है। जैसे स्थूल काशी में स्थूल गंगा का प्रवाह है वैसे उस चेतन काशी में ब्रह्माकार वृत्ति का प्रवाह रूप ज्ञानमयी गंगा है।

जैसे स्थूल गंगा निर्मल होने के कारण दूसरों को भी निर्मल करती है, वैसे ही ज्ञान - गंगा भी परम पवित्र होने से अन्यों को भी परम-पवित्र बना देती है। भगवान् ने गीता में कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (४/३८)

अतः जिस महापुरुष को सर्वोत्तम विशुद्ध - आत्म - तीर्थ का पूर्णरूप से साक्षात्कार हो जाता है, तब उसको लौकिक तीर्थों से कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। लौकक - तीर्थ वैराग्य, तितिक्षा, सत्संगति आदि के द्वारा आत्म - तीर्थ की प्राप्ति में सहायक हैं। जब तीर्थों के भी तीर्थरूप महान् सर्वव्यापक विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है, तब स्वभाव से ही सारे स्थूल-परिच्छिन्न-तीर्थों का उस अपरिच्छिन्न तीर्थ में समन्वय हो जाता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यावानर्थ उदपाने, सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु, ब्राह्मस्य विजानतः ॥ (गी० २।४६)

जैसे सब ओर से परिपूर्ण बड़े जलाशय के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य को जल के लिये छोटे क्षुद्र जलाशयों की आवश्यकता नहीं रहती है, वैसे ही ब्रह्म जानने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होने पर आनन्द के लिये वेदों की एवं वेदोक्त कर्म, उपासना एवं तीर्थादिकों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती है।

॥ इति श्री काशी पंचकं समाप्तम् ॥

हस्तामलक-स्तोत्रम् ।

दक्षिण—प्रदेश के 'श्रीबली' नामक ग्राम में 'प्रभाकर' नाम का एक धर्मज्ञ एवं शास्त्रज्ञ ब्राह्मण रहता था। उसके यहां पुत्ररूप से 'हस्तामलक' का जन्म हुआ था। जन्म से ही वह बालक जड़ के समान था। जब आचार्य श्री शङ्कर स्वामी, अपनी मण्डली सहित भ्रमण करते हुए उस ग्राम में पहुंचे। तब प्रभाकर अपने उस जड़ पुत्र को लेकर आचार्य श्री के पास पहुँचा। और उस बालक का शिर पकड़ कर आचार्य के चरणों में झुका दिया। पुत्र, चरणों पर पड़ा रहा, उठा नहीं। जब श्री शंकर स्वामी ने बालक को हाथ पकड़ कर उठाया, तब प्रभाकर कहने लगा—

हे भगवन्! इस मेरे पुत्र को जड़ता क्यों प्राप्त हुई है? इसका जन्म हुए तेरह वर्ष हो गये हैं, तथापि यह अभी तक कुछ समझता ही नहीं है। इसने न तो वेदादि पढ़े हैं, और न कोई अक्षर ही लिख सकता है। तथापि मैंने इसका यज्ञोपवीत कर दिया है। जब साथ के लड़के इसे खेलने की इच्छा से बुलाते हैं, तो यह खेलने को नहीं जाता। बहुत से लड़के इसे जड़ देख कर मारते हैं, तो भी इसे क्रोध नहीं आता। सदा प्रसन्न रहता है क्रुद्ध कभी नहीं होता। कभी भोजन करता है, और कभी नहीं भी करता। मेरा कहा नहीं मानता, स्वेच्छाचारी—मस्त रहता है, और प्रारब्ध से बढ़ता है।

बालक की मौन, प्रसन्न एवं योगमयी मुखमुद्रा को देख कर श्री शङ्कर स्वामी ने उसको सम्बोधन करके पूछा—

"कस्त्वं शिशो कस्य कुतोसि गन्ता किं नाम ते त्वं कुत आगतोसि।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक त्वं यत्प्रतिथे प्रीतिविवर्धनोसि ॥१॥

श्री शंकर उवाच॥ हे बालक! तू कौन है? किसका है? कहां जायगा? तेरा नाम क्या है तथा कहां से आया है? जो मैं ने तुझसे पूछा है तू मुझे मेरी प्रीति के लिये बता, क्योंकि तू प्रीति को बढ़ाने वाला है।

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो, न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निज बोधरूपः॥

शिष्य उवाच—मैं न मनुष्य हूं न देव, न यक्ष, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र, न ब्रह्मचारी, न गृही, न वनवासी और न सन्यासी हूँ, मैं नित बोध रूप हूँ।

य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः, प्रकाशस्वरीयोपि नानेव धीषु ।
शरावोदकस्थो यथा भानुरेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा ॥

जैसे एक सूर्य प्यालों के जलों में प्रतिबिम्बित होकर नाना रूप से प्रतीत होता है, वैसे ही जो एक स्वतः शुद्ध प्रकाश स्वरूप होकर भी बुद्धि वृत्तियों में अनेकाकार प्रतीत होता है, वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूं ।

यथा सूर्य एकौप्स्वनेकश्चलासु स्थिरास्वप्य नन्यद्वि भाव्यस्वरूपः ।
चलासु प्रभिन्नासु धष्विके एवं, स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा ॥

जैसे एक सूर्य बहते हुए और स्थिर जलों में अनेक रूप का प्रतीत होता है; ऐसे ही दूसरों से जिसके स्वरूप का प्रकाश नहीं हो सकता, जो एक आत्मा चल और स्थिर बुद्धियों में अनेक रूप होकर प्रतीत होता है, वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

यथानेक चक्षुः प्रकाशो रविर्न, क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम् ।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा ॥

जैसे अनेक नेत्रों का प्रकाश करने वाला सूर्य एक बार ही दृश्यों को प्रकाशित करता है, वैसे ही जो एक ज्ञान अनेक बुद्धियों को एक बार ही प्रकाशन करता है, वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

विवस्वत्प्रभातं यथा रूपमक्षं प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान् ।
यदाभातमाभासयत्पक्षमेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा ॥

जैसे सूर्य से प्रकाशित नेत्र रूप को ग्रहण करता है अप्रकाशित नहीं, वैसे ही सूर्य जिसके प्रकाश से प्रकाशित होकर नेत्रों को प्रकाशन करता है, वह एक नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं, समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सता शुद्धमच्छस्वरूपं सनित्योपलब्धि स्वरूपोहमात्मा ॥

जो एक सब वस्तुओं में अनुगत है और सब वस्तुएँ जिसको स्पर्श नहीं करती हैं, आकाश के समान शुद्ध स्वच्छ नित्य और ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथाबद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः, स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा ॥

जैसे मूर्ख पुरुष मेघ के कारण दृष्टि रुक जाने से सूर्य को ढका हुआ तथा आकाश रहित समझता है वैसे ही मूढ़-बुद्धि पुरुष को जो आत्मा बद्ध सा प्रतीत होता है। वह नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ।

उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां, यथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेपि ।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं, तथा चञ्चलत्वं तवामीह विष्णो ॥

हे विष्णु ! जैसे उपाधियों से स्वच्छ मणि का भेद प्रतीत होता है, वैसे ही बुद्धियों के भेद से तेरा भेद प्रतीत होता है। जैसे जल की चञ्चलता से चन्द्र किरणों की चञ्चलता भासती है, उसी प्रकार बुद्धि की चञ्चलता से तेरी भी चञ्चलता भासती है।

॥ इति हस्तामलकं स्तोत्रं समाप्तम् ॥

॥ ॐ ॥

"आत्मषट्कम् ।"

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि नाहं,
नच श्रोत्रजिह्वे नच घ्राणनेत्रे ।
न च व्योम भूमी न तेजो न वायु,
श्चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥१॥

मैं मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, नेत्र, आकाश, पृथ्वी, तेज और वायु रूप नहीं हूँ, केवल चिदानन्द रूप शिव मैं हूँ, शिव मैं हूँ।

अहं प्राणवर्गो न पञ्चानिलामे,
न तोयं न मे धातवो नैव कोशाः ।
न वाक् पाणिपादौ न,
चोपस्थपायु चिन्दानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥२॥

मैं प्राणों का समूह नहीं हूँ, पाँच प्राण मेरे नहीं है, मैं जल नहीं हूँ, न धातु मेरे हैं न कोश मेरे हैं, न मैं वाणी हूं, न मैं हाथ हूँ, न पैर हूँ, न लिङ्ग हूँ और न गुदा हूँ, मैं चिदानन्द रूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ,
मदो नैवमे नैव मात्सर्यभानम् ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष,
श्चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥३॥

मुझे द्वेष नहीं, राग नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, न मद है, न मत्सर, न मेरा धर्म है, न अर्थ, न काम है, न मोक्ष, मैं चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,
चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥४॥

न पुण्य है न पाप, न सुख न दुःख, न मंत्र है न तीर्थ, न वेद है न यज्ञ, न मैं न भोजन हूँ न भोज्य तथा न भोक्ता हूँ, मैं चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः,
पिता नैव ये नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य,
श्चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥५॥

न मुझे मृत्यु की शङ्का है न मेरा जाति भेद है, न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न शिष्य है, मैं चिदानन्द रूप शिव हूँ, मैं शिव हूं।

अहंनिर्विकल्पो निराकाररूपो,
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्ध,
श्चिदानन्दरूपः शिवोहं शिवोहम् ॥६॥

मैं निर्विकल्प हूँ, मैं निराकार रूप हूं, सर्वत्र सर्व इन्द्रियों को व्याप्त करके स्थित हूं मुझे सदा समता है, न मुक्ति है न बन्ध है, मैं चिदानन्दरूप शिव हूं, मैं शिव हूं।

॥ इति आत्मषट्कं स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

अथ सप्तश्लोकी गीता ।

॥ श्री गणेशायनमः ॥ ॥ श्री सरस्वतैनमः ॥ ॥ श्री गुरुभ्योनमः ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं, स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥
(८/१३)

जो पुरुष, ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरे को चिन्तन करता हुआ, शरीर को त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है ।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या, जगत्प्रष्यत्यनुरज्यतेच ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति, सर्वेनमस्यन्ति न सिद्धसङ्घाः ॥२॥
(११-३६)

हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है, कि जो आपके नाम और प्रभाव के कीर्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षस लोग दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार करते हैं ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥
(१३/१३)

परन्तु वह सब ओर से हाथ पैर वाला एवं सब ओर से नेत्र, सिर और मुख वाला तथा सब ओर से श्रोत्रवाला है, क्योंकि वह संसार में सब को व्याप्त करके स्थिर है । †

कविं पुराण मनुशासितार, मरणोरणोयांस मनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूप, मादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ॥ ४ ॥
(८/९)

† आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का कारणरूप होने से उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सब का कारणरूप होने से सम्पूर्ण चराचर जगत् को व्याप्त करके स्थित है ।

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता ¶ सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप, अविद्या से अति परे, शुद्ध,सच्चिदानन्द घन परमात्मा को स्मरण करता है ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाख मश्वत्थं प्राहुर व्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तंवेद स वेदवित् ॥ ५ ॥

(१५/१)

उसके उपरान्त, श्री कृष्ण भगवान् फिर बोले, कि हे अर्जुन ! आदि पुरुष, परमेश्वररूप, मूल वाले ‡ और ब्रह्मारूप मुख्य शाखा वाले ⁂ जिस संसाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी ♆ कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते ❀ कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्व से जानता है वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है ⁝ ॥ १ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञान मपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

(१५/१५)

¶ अन्तर्यामीरूप से सब प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार शासन करने वाला ।

‡ आदि पुरुष नारायण वासुदेव भगवान् ही नित्य और अनन्त तथा सब के आधार होने के और सब से ऊपर नित्यधाम में सगुणरूप से वास करने के कारण, ऊर्ध्व नाम से कहे गये हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर ही इस संसार रूप वृक्ष के कारण हैं, इसलिये इस संसार वृक्ष को 'ऊर्ध्वमूलवाला' कहते हैं ।

⁂ उस आदि पुरुष परमेश्वर से उत्पत्ति वाला होने के कारण तथा नित्यधाम से नीचे ब्रह्मलोक में वास करने के कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्म को, परमेश्वर की अपेक्षा अधः कहा है और वही इस संसार का विस्तार करने वाला होने से इस की मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसार वृक्ष को 'अधः शाख वाला' कहते हैं ।

♆ इस वृक्ष का मूल कारण परमात्मा, अविनाशी है तथा अनादि काल से इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसार वृक्ष को 'अविनाशी' कहते हैं ।

❀ इस वृक्ष की शाखारूप ब्रह्म से प्रकट होने वाले और यज्ञादिक कर्मों के द्वारा इस संसार वृक्ष की रक्षा और वृद्धि के करने वाले एवं शोभा बढ़ाने वाले होने से, वेद, 'पत्ते' कहे गये हैं ।

⁝ भगवान् की योगमाया से उत्पन्न हुआ संसार क्षण भंगुर, नाशवान और दुःखरूप है, इसके चिन्तन को त्याग कर, केवल परमेश्वर का ही नित्य, निरन्तर, अनन्य प्रेम से चिन्तन करना 'वेद के तात्पर्य को जानना है ।'

और मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ तथा मेरे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (१) होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य (२) हूं तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ ॥ १ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव, मात्मानं मत्परायणः ॥ ७ ॥

केवल मुझ सच्चिदानन्द घन वासुदेव परमात्मा में ही अनन्य प्रेम से नित्य, निरन्तर अचल मन वाला हो और मुझ परमेश्वर को ही श्रद्धा प्रेम सहित, निष्काम भाव से नाम, गुण प्रभाव के श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन पाठन द्वारा निरन्तर भजने वाला हो तथा मुझ शङ्ख, चक्र, गदा पद्म और किरीट, कुण्डलादि भूषणों से युक्त पीताम्बर, बनमाला और कौस्तुभ मणिधारी विष्णु का मन, वाणी और शरीर के द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से विह्वलतापूर्वक पूजन करने वाला हो और मुझ सर्व शक्तिमान, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणों से सम्पन्न सब के आश्रयरूप वासुदेव को विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित, साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्मा को मेरे में एकीभाव करके, मेरे को ही प्राप्त होवेगा ॥ ७ ॥

इति श्री मद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग शास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे सप्त श्लोकी गीता समाप्त ॥

॥ श्री कृष्णर्पणमस्तु ॥

---

(१) विचार के द्वारा, बुद्धि में रहने वाले संशय विपर्यय आदि रोगों के हटाने का 'अपोहन' है।

(२) सर्व वेदों का तात्पर्य परमेश्वर को जानने का है, इसलिये सब वेदों द्वारा 'जानने योग्य' एक परमेश्वर ही है।

चतुःश्लोकी भागवत

[नाथ वाणी का प्रसाद]

चतुःश्लोकी भागवत् मूल श्री मद्भागवत् के द्वितीय स्कंध के नवें अध्याय में है। सृष्टि के मूलारम्भ का प्रसङ्ग है। ब्रह्मदेव सोचने लगे कि 'प्रपञ्च निर्माण विधिः कथं भवेत्' प्रपञ्च कैसे रचा जाय? पर उनकी बुद्धि चली नहीं, गति कुण्ठित हो गई, तब उदक में से एक ही ध्वनि निकली, 'तप करो, तप करो'। यह ध्वनि किसने की, यह उन्होंने नहीं जाना, पर उन्होंने इतना समझा कि यह आदि नारायण की आज्ञा है। इस आज्ञा को मान कर उन्होंने कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम करके कठोर तप किया। उस दिव्य तप से भगवान् प्रसन्न हुए और अपना दर्शन देकर भगवान् ने उन्हें दिव्य लोक दिखाया। भगवान् उच्च सिंहासन पर आरूढ़ हैं, उनके चारों ओर चार, सोलह और पांच शक्तियां खड़ी हैं (चार अर्थात् प्रकृति, पुरुष महत्तत्व और अहंकार; सोलह अर्थात् पंच कर्मेद्रिन्य, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच महाभूत और मन अथवा एकादश इन्द्रिय और पंच महाभूत; पंच तन्मात्रा) और अन्यत्र कभी स्थिर न रहने वाले सब प्रकार के ऐश्वर्य वहां स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं तथा भगवान् अपने स्वरूप में रममाण हैं।

भृत्य प्रसादाभिमुखं द्रगासवं, प्रसन्नहासारुणलोचनाननम्।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं, पीताम्बरं वक्षसि लक्षित त्रिया॥ (भा० २/६/१५)

भगवन्मूर्ति चतुर्भुज दिखाई देती थी, भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये उत्सुक थी, दृष्टि अत्यन्त मोहक थी, मुख पर किंचित् हास्य विराज रहा था, नेत्र आरक्त थे, मस्तक पर किरीट और कानों में कुण्डल चमक रहे थे। पीताम्बर परिधान किया था, वक्षस्थल पर लक्ष्मी का चिन्ह था। ब्रह्मदेव ने प्रभु को प्रेमाश्रु-लोचनों के साथ वन्दन किया। भगवान् ने कहा, 'मैं तुम्हारे तप से प्रसन्न हुआ हूँ।'

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्म विमोहिते।
तपो मे हृदयं साक्षात् आत्माऽहं तपसोऽनघ॥२२॥
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥२३॥

'सृष्टि-कर्म में जब तुम्हें मोह हुआ तब मैंने ही 'तप करो, तप करो' की ध्वनि की थी। हे अनघ! तप साक्षात् मेरा हृदय है, तप स्वयं मैं ही हूँ। मैं विश्व का सृजन तप से करता हूँ, फिर तप से ही संहार करता हूँ और तप से ही विश्व का पालन करता हूँ। तप मेरी अमोघ शक्ति है।'

अनन्तर भगवान् ने ब्रह्मदेव को चार श्लोकों में अपना परम गुह्य ज्ञान बताया। वही चतुःश्लोकी भागवत् के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर श्रीएकनाथ महाराज का ओवी-वृत्त में बड़ा ही सुन्दर भाष्य है।

चतुःश्लोकी भागवत् का प्रथम श्लोक इस प्रकार है:—

अहमेवासमेवाऽग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥१॥

(भा० २/९/३२)

अर्थात्—सृष्टि के पूर्व में मैं ही था। सत् अथवा असत् के परे कारण रूप से और कुछ भी नहीं था। सृष्टि के होने पर यह सारा जगत् मेरा स्वरूप है। प्रलय होने पर जो कुछ रह जाता है वह भी मैं ही हूँ।

इस पर एक नाथ महाराज का भाष्य है—

'सृष्टि के पूर्व में मैं निजस्वरूप, शुद्ध निर्विकल्प स्वानन्द कन्द स्वरूप अनूप पूर्ण ब्रह्म था। उस पूर्ण में न सत् था, न असत् था। सत् अर्थात् सूक्ष्म मूल, असत् अर्थात् नश्वर मूल। सृष्टि के पूर्व में मैं इन सदसत् के परे निर्मल स्वरूप में था। (८०, ९६, ९७, १०८)

और फिर यह सृष्टि भी 'मैं' ही कैसे हूँ, यह एक नाथ महाराज बतलाते हैं:—

'जो चीनी की मिठास है वही चीनी है। वैसे ही चिदात्मा जो है वही यह लोक है। संसार में मुझसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।'

'सुवर्ण ही सुवर्णालङ्कार बनता है, तन्तु से भिन्न पट नहीं रहता, मृतिका से भिन्न घट नहीं रहता, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म संसार मेरी चित्सत्ता से भिन्न नहीं रहता। जैसे वट और वट की जड़ें हैं वैसे ही मैं परमात्मा और ये लोक हैं। प्रलय के पश्चात् भी मैं कैसे हूँ, यह देखो। कछुआ अपने अवयव बाहर फैलाता और फिर समेट लेता है। दोनों अवस्थाओं में कछुआ कछुआ ही है, वैसे ही माया के फैलाव में भी और माया के सिमटने में भी मैं ही एक परमात्मा हूँ। तात्पर्य, सृष्टि के आदि मध्यान्त में एक नारायण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वैसे ही सब नाम-रूप सम्बन्ध हैं, भूत-भूतादि भेद हैं। उनके लय होने पर मैं ही स्वानन्दकन्द परमानन्द निज रूप में रह जाता हूँ। जिसे वस्त्र कहते हैं, यथार्थ में वह तन्तु ही है। वैसे ही यह जगत् यथार्थ में चिद्रूप है। इसलिये सृष्टि के आरंभ में मैं हूँ, अन्त में सृष्टि का नाश होने पर मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्द रह जाता हूँ।' (१२०, १२५, १२६)

यह प्रथम श्लोक का भाष्य हुआ। अब दूसरा श्लोक देखिये:—

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयते न प्रतीयते चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः ॥२॥

अर्थात् 'सत्यार्थ को छोड़ने से जिसकी प्रतीति होती है, आत्मा में जिसकी प्रतीति नहीं होती वही माया है, (वस्तु नहीं) भास है, (प्रकाश नहीं) अन्धकार है।'

नाथ भाष्य:—

'मैं परमात्मा अधिष्ठान हूँ। इस मुझ सत्यार्थ को न देखकर जो-जो कुछ द्वैत भान होता है वही माया है। कनक-बीज (अर्थात् धतूरे का बीज) खाने से मनुष्य जैसे सुधबुध खो देता है और फिर जहां

कुछ भी नहीं होता, वहां खरगोश, व्याघ्र, वानर, शश, मत्स्यादि नाना प्रकार देखता हैं, वैसे ही मोह में माया का यह भास है। (१३६-१३७)

सूर्य के अस्त होने से तम प्रबल होकर बढ़ता है पर सूर्योदय होते ही तम अन्धकार कहीं भी नहीं रह जाता। माया की भी वैसी ही बात है।

आत्म-स्वरूप स्वयं आनन्दघन है, नित्य है, निर्धर्म है, निर्गुण है। उस स्वरूप में जो 'मैं पन' स्फुरित होता है वही माया का जन्म-स्थान है।' (१४५)

एक नाथ महाराज आगे समझाते हैं:—

'देह मिथ्या छाया है। स्वरूप-प्राप्ति मिथ्या माया है। यह सच जानो कि छाया-माया समान है। यह भी जानो कि निजात्म-प्राप्ति के बिना निज माया नहीं छूट सकती। उस आत्म प्राप्ति के लिये सद्गुरु चरणों की सेवा करनी चाहिये।

दूसरे शब्दों में अर्थः—वास्तव अर्थ बिना भी जो प्रतीत होता है और वास्तव अर्थ होने पर भी जो प्रतीत नहीं होता, यह मेरी माया का स्वरूप जानना चाहिये, जैसे आभास अर्थात् प्रतिविम्ब वास्तविक अर्थ बिना भी प्रतीत होता है, और जैसे राहु ग्रह मंगल में रहने पर भी प्रतीत नहीं होता, जैसे जड़ शरीर में आत्मबुद्धि जो होवे है सो वास्तविक अर्थ बिना प्रतीत होवे है तथा सर्व प्रपंच ईश्वर मय होने पर भी जो ईश्वर बुद्धि का न होना है ये वास्तविक अर्थ के होने पर भी प्रतीति का नहीं होता है।

अब तीसरा श्लोक देखिये।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषुच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३॥

अर्थात् जिस 'प्रकार पृथ्वी आदि महाभूत अपने छोटे बड़े ऊंच-नीच सभी कामों में घुसे हुए हैं, वे उन कामों में दिखाई देते हैं, परन्तु तत्वतः देखा जाय तो वह घुसे हुए नहीं हैं। क्योंकि ये कार्य होने के पूर्व ही कारणरूप से वे वहां प्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार (भगवान् कहते हैं कि) मैं ने इस संसार में प्रवेश किया ऐसा मालूम होता है, क्योंकि इस विश्व में मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ और सर्वत्र मिलता हूँ, परन्तु तत्वतः मैं ने इस संसार में कभी प्रवेश किया हो ऐसा नहीं है। कारण संसार-निर्माण होने के पूर्व कारणरूप से मैं मौजूद ही था।'

नाथ महाराज कहते हैं:—

'मैं—परमात्मा हृषीकेश—ने इस सृष्टि में प्रवेश न करके भी प्रवेश किया है। स्वयं न चल करके भी म संसार को चलाता हूँ, इसके लिये दृष्टान्त बतलाते हैं। यहां छोटे-बड़े शरीरों में महाभूत कार्यरूप में घुसे हुए दिखाई देते हैं, पर कारणरूप में घुसे हुए नहीं, हैं (क्योंकि पहले से ही हैं) समुद्र को देखिये तो उसमें करोड़ों कल्लोल दिखाई देते हैं। पर इन कल्लोलों के भीतर सागर कैसे समा सक्ता है? (१८६, १८७, १८८)

'मुझ से भिन्न और क्या है जिसमें जाकर मैं बैठूं या जिसमें मेरा प्रवेश न हो और मैं उससे अलग रहूँ ? मेघमुख से गिरने वाले ओले क्या हैं, अतिरिक्त इसके कि जल-बिंदु जमे हुए हैं । उनके गलते ही उनके सर्वाङ्ग से जल-ही जल निकलेगा, उसी प्रकार जन जो है वही जनार्दन है, जनार्दन जो है स्वयं वही जन है। ऐसे अभिन्न जनार्दन जगत् में प्रवेश करके भी अप्रविष्ट हैं। समा कर भी समाये हुए नहीं हैं।'

(दूसरे शब्दों में अर्थ):—जैसे उत्तम मध्यम शरीर में पंच—महाभूत सृष्टि हुए। पीछे उस में प्रवेश करके रहे हों वैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु वे कार्य की उत्पत्ति के प्रथम ही उसमें कारणरूप से रहे हैं तो पीछे से उनका प्रवेश होना संभव नहीं, वैसे मैं भी सफल प्रपंच में पीछे से प्रवेश नहीं करता, किन्तु उसके कारण रूप से प्रथमतः प्रवेश करके रहा हूँ।

अब चौथा श्लोक देखिये:—

एतावदेव जिज्ञासं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः ।
अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥४॥ भा० (२।९।३५)

अर्थः—तत्त्व जिज्ञासु पुरुष को इतना ही जानना चाहिये कि कार्य में कारण द्वारा अनुवृत्तिरूप जो अन्वय और कारण अवस्था में कार्य से व्यावृत्तिरूप जो व्यतिरेक इन दोनों करके जिसकी सदा सब ठौर प्रतीति है वह आत्मा है।

अर्थात् 'आत्मा-तत्व के जिज्ञासु द्वारा जानने की वस्तु वही है जो अन्वय और व्यतिरेक से सदा सर्वत्र है।'

नाथ महाराज समझाते हैं:—

'कारण से कार्य अभिन्न है, इसका नाम है अन्वय।

कार्य मिथ्या और कारण सत्य है, इस लक्षण का नाम है व्यतिरेक।'

'जो साधक अन्वय से मेरी पूर्ण और व्यतिरेक से शुद्ध स्वरूप स्थिति साधते हैं, वे ही अविनाशी स्वरूप को प्राप्त होते हैं (२६६)

सम्पूर्ण कथा का यह सार है।

यह सारभूत पूर्णज्ञान भगवान् ने ब्रह्मदेव को बताया। इस ज्ञान के अनुष्ठान से निरभिमान होकर ब्रह्मदेव ने सृष्टि रची। ब्रह्मदेव से यह देवर्षि नारद को मिला। नारद ने यह ज्ञान महामुनि व्यास को दिया, व्यास ने शुकदेव को दिया और शुकदेव से संसार उपकृत हुआ। इस चतुःश्लोक को अधिक स्पष्ट करने के लिये भगवान् वेद व्यास ने भागवत् ग्रन्थ लिखा।

परम एकाग्र चित्त होकर इस मत को धारण करो, जिससे कल्पसम्बन्धी सृष्टि रचना में तुमको कदापि मोह न होवेगा।

अष्टादशश्लोकी गीता ।

(१)

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ (१।३२)

अर्थ—'मुझे जय की इच्छा नहीं, राज के सुख की भी नहीं, हे गोविंद ! राज्य, भोग वा जीवन से भी मुझे क्या काम है ।'

(२)

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽहं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (२।२०)

अर्थ—'कभी भी न जन्मता है, न मरता है—वह होकर भी फिर होने वाला नहीं है । अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, शरीर के हत होने पर भी नष्ट नहीं होता ।'

(३)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषु वर्तन्त मत्वा न सज्जेत ॥ (३।३८)

अर्थ—'किन्तु गुण-कर्म-विभाग के तत्व को जानने वाला, गुण ही गुण में रहते हैं यह मानकर आसक्त नहीं होता ।'

(४)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ (४।२४)

अर्थ—'यज्ञपात्र, हविष्, अग्नि और यजमान ये सब ब्रह्मरूप हैं, इस प्रकार जिसकी चित्तवृत्ति ब्रह्म में लगी है उसको फल भी ब्रह्म प्राप्ति रूप ही होता है ।'

(५)

विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (५।१८)

अर्थ—'विद्या—विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ति, श्वान अथवा श्वपच इन सब के प्रति पण्डित समदर्शी होता है।'

(६)

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (६।२५)

अर्थ—'धृतिग्रहीत बुद्धि से धीरे-धीरे, उपराम प्राप्त करना, मन को आत्मसंस्थ कर किसी बात का चिन्तन न करना।'

(७)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अर्थ—भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश, मन और बुद्धि तथा अहंकार ये इतनी मेरी भिन्न प्रकृति आठ प्रकार की हैं।

(८)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (८।१३)

अर्थ—'जो ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म को जपता तथा मेरा स्मरण करता हुआ देह तज कर जाता है वह परम गति को पाता है।'

(९)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

अर्थ—जो अनन्य होकर होकर मेरा ही चिन्तन करता है, मुझे ही सब प्रकार से भजता है, ऐसे नित्य अभियुक्त को मैं योगक्षेम देता हूँ।'

(१०)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (१०-४२)

अर्थ—अथवा यह बहुत जानने से भी क्या लाभ है? हे अर्जुन! मैं एक मात्र अंश से इस निखिल जगत को धारण कर रहा हूँ।'

(११)

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ (११-३६)

अर्थ—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है, कि जो आपके नाम और प्रभाव के कीर्त्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षस लोग दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय नमस्कार करते हैं।

(१२)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी योमद्भक्तः स मे प्रियः॥ (१२-१६)

अर्थ—जो पुरुष आकांक्षा से रहित तथा बाहर भीतर से शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस काम के लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भों का त्यागी अर्थात् मन, वाणी, और शरीर द्वारा प्रारब्ध से होने वाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्यागी, मेरा भक्त मेरे को प्रिय है।

(१३)

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ (१३-३२)

अर्थ—'जैसे सर्वगत आकाश अति सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे सर्वत्र देह में स्थित आत्मा लिप्त नहीं होता।'

(१४)

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ (१४-२२)

अर्थ—'प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह इनकी संप्रवृत्ति का, हे पाण्डव! वह द्वेश नहीं करता, और न इनकी निवृत्ति की इच्छा करता है।'

(१५)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नम् चतुर्विधम् ॥ (१५-१४)

अर्थ—'मैं वैश्वानर बन कर प्राणियों के देह में रहता हूँ, और प्राणायाम समायुक्त होकर चतुर्विध अन्न का परिपाक करता हूँ।

(१६)

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (१६-२३)

अर्थ—जो शास्त्र की विधि को त्याग कर अपनी इच्छा से बर्तता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को ॥ (१६/२३)

(१७)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तम् उच्यते ॥ (१७-१५)

अर्थ—जो उद्वेग को न करने वाला, प्रिय, और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह निस्सन्देह वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

(१८)

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८-७३)

अर्थ — 'हे अच्युत ! तुम्हारे प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हुआ, स्मृति प्राप्त हुई, गतसन्देह होकर मैं तुम्हारे पास खड़ा हूँ । तुम्हारे वचनों के अनुसार करूंगा ।

॥ ॐ ॥

"अथ श्रीकबीर साहब की ज्ञान गूदड़ी।"

अलख पुरुष जब किया बिचारा। लख चौरासी धागा डारा ॥१॥
पांच तत्त्व की गुदड़ी बीनी। तीन गुनन से ठाड़ी कीनी ॥२॥
तामें जीव ब्रह्म और माया। समरथ ऐसा खेल बनाया ॥३॥
जीवन पांच पचीसो लागे। काम क्रोध मोह मद पागे ॥४॥
काया गुदड़ी का विस्तारा। देखो संतो अगम सिगारा ॥५॥
चांद सुरज दोउ पेबंद लागे। गुरु प्रताप से सोवत जागे ॥६॥
शब्द की सुई सुरत का डोरा। ज्ञान के डीभन सिरजन जोरा ॥७॥
अब गुदड़ी की करु हुशियारी। दाग़ न लागे देख विचारी ॥८॥
सुमति के साबुन सिरजन धोई। कुमति मैल सब डारो खोई ॥१०॥
धीरज धूनो ध्यान को आसन। सत कोपीन सहज सिंहासन ॥ ११ ॥
युगति कमंडल करि गहि लीन्हा। प्रेम फावरी मुरशिद चीन्हा ॥१२॥
सेली सील विवेक की माला। दया की टोपी तन धर्म शाला ॥१३॥
मेहर मतंगा मत वैसाखी। मृगछाला मन ही की राखी ॥ १४ ॥
निश्चय धोती पवन जनेऊ। अजपा जपै सो जानै भेऊ ॥ १५ ॥
रहै निरन्तर सतगुरु दाया। साधु संगत कर सब कुछ पाया ॥१६॥
लौ की लकुटी हिरदा झोरी। छिमा खड़ाऊं पहिर बहोरी ॥ १७ ॥
मुक्ति मेखला सुकृत सुमिरनी। प्रेमप्याला पीवै मौनी ॥ १८ ॥
उदास कूबरी कलह निवारी। ममता कुतिया को ललकारी ॥ १९ ॥
युक्ति जंजीर बांधि जब लीन्हा। अगम अगोचर खिड़की चीन्हा ॥ २० ॥
विराग त्याग विज्ञान निधाना। तत्त तिलक दीन्ही निरबाना ॥ २१ ॥

गुरगम चमक मनसम तूला। ब्रह्म अग्नि परगट कर मूला ॥ २२ ॥
संसय शोक सकल भ्रम जारा। पांच पचीसो परगट मारा ॥ २३ ॥
दिलका दर्पन दुविधा खोई। सो वैरागी पक्का होई ॥ २४ ॥
सुन्न महल में फेरी देई। अमृत रस की भिच्छा लेई ॥ २५ ॥
दुःख सुख मैला जगत का भाऊ। तिरवैनी के घाट नहाऊ ॥ २६ ॥
तन मन सोध भया जब ज्ञाना। तब लख पावै पद निरबाना ॥ २७ ॥
अष्ट कंवल दर चकर सूझा। जोगी आप आप में बूझा ॥ २८ ॥
इंगला पिंगला के घर जाई। सुखमन सेज जाय ठहराई ॥ २९ ॥
ओअं सोहं तत्त विचारा। बंक नाल किया संभारा ॥ ३० ॥
मन को मारि गगन चढ़ि जाई। मान सरोवर पैठ अन्हाई ॥ ३१ ॥
अनहद नाद नाम का पूजा। सत्त पुरुष बिन देख न दूजा ॥ ३२ ॥
छुटिगये कलमल कर्म लेखा। इन नैनन साहब को देखा ॥ ३३ ॥
अहंकार अभिमान विडारा। घट का चौका करि उजियारा ॥ ३४ ॥
चितकर चंदन तुलसी फूला। हितकर संपुट करले मूला ॥ ३५ ॥
सरधा चंवर प्रीति कर धूपा। नौ तन नाम साहब कर रूपा ॥ ३६ ॥
गुदड़ी पहिरे आप अलेखा। जिन यह पगट चलायो भेखा ॥ ३७ ॥
साहब कबीर बकस जब दीन्हा। सुर नर मुनि सब गुदड़ी लीन्हा ॥ ३८ ॥
ज्ञान गूदड़ी पढ़ै प्रभाता। जन्म जन्म के पातक जाता ॥ ३९ ॥
ज्ञान गूदड़ी पढ़ै मध्याना। सो लखि पावै पद निर्वाना ॥ ४० ॥
संझा सुमिरन जो जन करहीं। जरा मरन भवसागर तरहीं ॥ ४१ ॥
कहै कबीर सुनो धर्मदासा। ज्ञान गूदड़ी करो प्रकासा ॥ ४२ ॥

॥ इति श्री ज्ञानगूदडी समाप्तम् ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका

प्रश्न

कः खलु नालंक्रियते, दृष्टादृष्टार्थसाधनपटीयान् ।
अमुया कण्ठस्थितया, प्रश्नोत्तररत्नमालिकया ॥१॥

हे गुरुदेव ! कण्ठ में की हुई इस प्रश्नोत्तर रत्नमालिका से कौन शोभा को नहीं पाता है ?

उत्तर

इस लोक एवं परलोक के विषय-भोगों के साधन में कुशल मनुष्य अर्थात् संसार विषयभोगासक्त मनुष्य आत्मकल्याणमय सपुदेश धारण नहीं कर सकता ।

भगवन् ! किमुपादेयं गुरुवचनं, हेयमपि च किमकार्यम् ।
को गुरुधिगततत्वः, शिष्यहितायोद्यतः सततम् ॥२॥

प्र०—हे भगवन् ! उपादेय (ग्रहण करने योग्य) क्या है ?
उ०—गुरु का वचन ।
प्र०—हेय (त्याग करने योग्य) क्या है ?
उ०—बुरा कर्म ।
प्र०—गुरु कौन है ?
उ०—जिसने परमात्मतत्व का साक्षात्कार कर लिया है, एवं जो शिष्यों के कल्याण के लिए निरन्तर यत्नशील रहता है, वह गुरु है ।

त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषां, संसार संततिच्छेदः ।
किं मोक्षतरोर्बीजं, सम्यग्ज्ञानं क्रियासिद्धम् ॥३॥

प्र०—विद्वानों को अति शीघ्र क्या करना चाहिये ?
उ०—संसार के जन्म-मरण रूपी प्रवाह का उच्छेद (विनाश) ।
प्र०—मोक्षरूपी वृक्ष का बीज क्या है ?
उ०—निष्ठा (धारणा) से युक्त यथार्थ आत्मज्ञान ।

कः पथ्यतरो धर्मः कः, शुचिरिह यस्य मानसं शुद्धम् ।
कः पंडितो विवेकी किं, विषमवधीरणा गुरुषु ॥४॥

प्र०—अतिशय पथ्य (पालने योग्य) क्या है ?
उ०—सनातन धर्म ।

प्र०—इस लोक में पवित्र कौन है ?
उ०—जिसका मन शुद्ध है ।
प्र०—पण्डित कौन है ?
उ०—जो सत् और असत् का विवेकी है ।
प्र०—विषय क्या है ?
उ०—गुरुओं में अश्रद्धारूपी तिरस्कार ।

किं संसारे सारं बहुशोऽपि, विचिन्त्यमानमिदमेव ।
किं मनुजेष्विष्टतमं, स्वपरहितायोद्यतं जन्म ॥५॥

प्र०—इस असार संसार में सार क्या है ?
उ०—बार बार चिन्तन किया हुआ परमात्मतत्त्व ।
प्र०—मनुष्यों से अतिशय करके अभिलषित क्या है ?
उ०—अपना और अन्य का कल्याण के लिये सदा प्रयत्नशील जीवन ।

मदिरेव मोहजनकः कः स्नेहः के च दस्यवो विषयाः ।
का भववल्ली तृष्णा, को वैरी यस्त्वनुद्योगः ॥ ६ ॥

प्र०—मदिरा की भांति मोह जनक (अचेतन) विमूढ़ करने वाला कौन है ?
उ०—शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादिक में स्नेह ।
प्र०—दस्यु (डाकू) कौन हैं ?
उ०—शब्दादि पाँच विषय ।
प्र०—संसार की जड़ क्या है ?
उ०—तृष्णा ।
प्र०—बैरी कौन है ?
उ०—अपने कल्याण के लिये पुरुषार्थ न करने वाला ।

कस्माद्भयमिह मरणा दीशादिह को विशिष्यतेऽरागी ।
कः शूरो यो ललना, लोचन वाणैर्न च व्यथितः ॥ ७ ॥

प्र०—किससे भय रखना चाहिये ?
उ०—मरण से एवं ईश्वर से ।
प्र०—इस संसार में श्रेष्ठ कौन है ?
उ०—विरक्त महात्मा ।
प्र०—शूरवीर कौन है ?
उ०—जो स्त्रियों के कटाक्षरूपी वाणों से व्यथा को न प्राप्त हो ।

पातुम् कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिह युज्यते सदुपदेशः।
किं गुरुताया मूलं, यदेतद् प्रार्थनं नाम ॥ ८ ॥

प्र०—कौन कानरूपी अञ्जलि से पान करने योग्य अमृत है ?
उ०—यथार्थ उपदेश।
प्र०—बड़प्पन की जड़ क्या है ?
उ०—किसी से कुछ भी न माँगना।

किं गहनं स्त्रीचरितं, कश्चतुरो यो न खण्डितस्तेन।
किं दुःखमसंतोषः, किं लाघवमधमतो याञ्चा ॥ ९ ॥

प्र०—गहन (जानने के लिये असंभव) क्या है ?
उ०—स्त्रियों का चरित्र।
प्र०—चतुर (कुशल) कौन है ?
उ०—जो स्त्रियों से खण्डित नहीं हुआ है।
प्र०—दुःख क्या है ?
उ०—असंतोष।
प्र०—छोटापन क्या है ?
उ०—अधम-संसारियों से याचना करना।

किं जीवितमनवद्यं किं जाड्यं पाठतोऽप्यनभ्यासः।
को जागर्ति विवेकी, का निद्रा मूढ़ता जन्तो ॥ १० ॥

प्र०—जीवन क्या है ?
उ०—दोष रहित (निन्दा का न होना)
प्र०—जड़पना क्या है ?
उ०—पढ़ लेने पर भी अभ्यास न करना।
प्र०—जागता कौन है ?
उ०—विवेकी।
प्र०—प्राणी की निद्रा क्या है ?
उ०—मूढ़पना।

नलिनीदलगतजलवत्तरलं किं यौवनं धनं चायुः।
कथय पुनः के शशिनः, किरणसमाः सज्जना एव ॥११॥

प्र०—कमल के पत्ते के ऊपर रहे हुए जल की भांति चंचल कौन है ?
उ०—यौवन, धन और आयु।

प्र०—चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल एवं शान्त कौन हैं ?
उ०—सज्जन महापुरुष ।

को नरकः परवशता किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्या ।
किं सत्यं भूतहितं प्रियं च किं प्राणिना मसवः ॥१२॥

प्र०—नरक क्या है ?
उ०—परतन्त्रता ।
प्र०—सुख क्या है ?
उ०—जिससे सारे प्राणियों का कल्याण हो ?
प्र०—प्राणियों को प्रिय क्या है ?
उ०—प्राण या प्रेरक आत्मा ।

कोऽनर्थफलो मानः का सुखदा साधुजनमैत्री ।
सर्वव्यसनविनाशे को दक्षः सर्वथा त्यागी ॥१३॥

प्र०—अनर्थ फलवाला कौन है ?
उ०—(अभि) मान ।
प्र०—सुख देनेवाली कौन है ?
उ०—साधु पुरुषों के साथ मित्रता ।
प्र०—सब प्रकार के कामादि व्यसनों के नाश करने में कौन कुशल है ?
उ०—जो हर प्रकार से त्यागी है ।

किं मरणं मूर्खत्वं किं चानर्घं यदवसरे दत्तम् ।
आमरणात्किं शल्यं प्रच्छन्नं यत्कृतं पापम् ॥१४॥

प्र०—मरण क्या है ?
उ०—मूर्खपना ।
प्र०—अमूल्य क्या है ?
उ०—समय पर योग्य अधिकारी को शक्ति-अनुसार कुछ न दिया जाय ।
प्र०—मरणपर्यन्त शूल की भांति चुभने वाला कौन है ?
उ०—छिपकर किया हुआ पापकर्म ।

कुत्र विधेयो यत्नो विद्याभ्यासे सदौषधे दाने ।
अवधीरणा क्व कार्या खलपरयोषित्परधनेषु ॥१५॥

प्र०—कहां प्रयत्न करना चाहिये ?
उ०—विद्याभास में, सच्ची औषधि में एवं सत्पात्र के दान में ।

प्र०—उपेक्षा कहां करनी चाहिये ?
उ०—खल (दुष्ट) मनुष्यों में, पराई स्त्रियों में तथा अन्य के धन में।

काऽहर्निशमनुचिन्त्या, संसारासारता न तु प्रमदा ।
का प्रेयसी विधेया करुणा, दीनेषु सज्जने मैत्री ॥१६॥

प्र०—दिनरात चिन्तन करने योग्य क्या है ?
उ०—संसार की असारता।
प्र०—कौन चिन्तन करने योग्य नहीं है ?
उ०—स्त्री ।
प्र०—आनन्द करने वाली कौन है ?
उ०—दीन-दुःखियों के ऊपर की हुई करुणा (दया) और सज्जन महापुरुषों के साथ की हुई मित्रता ।

कण्ठगतैरप्यसुभिः कस्य ह्यात्मा न शक्यते जेतुम् ।
मूर्खस्य शंकितस्य च विषादिनो वा कृतघ्नस्य ॥१७॥

प्र०—कण्ठगत प्राण होने पर भी किसके मन का जप नहीं कर सकते हैं ?
उ०—मूर्ख, संशयग्रस्त, खेदयुक्त और कृतघ्न मनुष्यों के मन का।

कः साधुः सद्वृत्तः कमधममाचक्षते त्वसद्वृत्तम् ।
केन जितं जगदेतत्सत्यतितिक्षावता पुंसा ॥१८॥

प्र०—साधु कौन है ?
उ०—सदाचारी।
प्र०—अधम (नीच) किसको कहते हैं ?
उ०—दुराचारी को।
प्र०—इस जगत् को किसने जीत लिया है ?
उ०—सत्यतत्त्व में निष्ठा रखने वाला तितिक्षु (सहनशील) पुरुष ने।

कस्मै नमांसि देवाः कुर्वन्ति दयाप्रधानाय ।
कस्मादुद्वेगः स्यात्संसारारण्यतः सुधियः ॥१९॥

प्र०—देवता भी किसको नमस्कार करते हैं ?
उ०—जिसके हृदय में विशेषरूप से दया रहती है, उसको।
प्र०—बुद्धिमान विवेकी को किससे उद्वेग (भय) होता है ?
उ०—संसाररूपी जंगल से।

कस्य वशे प्राणिगणः सत्यप्रियभाषिणो विनीतस्य ।
क्व स्थातव्यं न्याय्ये, पथि दृष्टादृष्टलाभाढ्ये ॥२०॥

प्र०—तमाम प्राणियों का समुदाय किसके वश में होजाता है ?
उ० —सत्य एवं प्रियभाषी, विनयशील महापुरुष के ।
प्र०—कहां रहना चाहिये ?
उ०—दृष्टलाभ (कीर्ति आदि) एवं अदृष्ट लाभ (परमधाम प्राप्ति आदि) से युक्त, न्याय (धर्म) के मार्ग में ।

कोऽन्धो योऽकार्यरतः, को बधिरो योहितानि न श्रणोति ।
को मूको यः काले प्रियाणि वक्तुं न जानाति ॥२१॥

प्र०—अन्धा कौन है ?
उ०—पाप कर्म में प्रीति करने वाला ।
प्र०—बहिरा कौन है ?
उ०—जो हित कर वचनों को नहीं सुनता है ।
प्र०—मूक कौन है ?
उ०—जो समय पर प्रिय भाषण करना नहीं जानता है ।

किं दानमनाकांक्षं किं मित्रम् यो निवारयति पापात् ।
कोऽलंकारः शीलं किं, वाचां मण्डनं सत्यम् ॥ २२ ॥

प्रश्न—दान क्या है ?
उत्तर—जिसमें प्रत्युपकार की आकांक्षा न हो ।
प्रश्न—मित्र कौन है ?
उत्तर—जो पापकर्म से रक्षा करे ।
प्रश्न—अलंकार क्या है ?
उत्तर—शील (सरल निष्कपट स्वभाव) ।
प्रश्न—वाणी का भूषण क्या है ?
उत्तर—सत्य-भाषण ।

विद्युद्विलसितचपलं, किं दुर्जन संगति युवतयश्च ।
कुलशील निष्प्रकंपाः के, कलिकालेऽपि सज्जना एव ॥ २३ ॥

प्रश्न—बिजली समान चपल क्या है ?

उत्तर—दुष्टों की संगति और युवती स्त्रियां।
प्रश्न—घोर कलिकाल में भी कुल से एवं शील से सदा अचल कौन है ?
उत्तर—सज्जन महापुरुष।

चिन्तामणिरिव दुर्लभमिह, किं कथयामि तच्चतुर्भद्रम् ।
किं तद्वदन्ति भूयो, विधूतमसो विशेषेण ॥२४॥
दानं प्रिय वाक्सहितं, ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागसमेतं, दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥२५॥

प्रश्न—चिन्तामणि के समान, इस लोक में दुर्लभ क्या है ?
उत्तर—चतुर्भद्र ।
प्रश्न—अज्ञान से रहित विद्वान् लोग विशेषरूप से चतुर्भद्र किसको कहते हैं ?
उत्तर—(१) प्रियवाणी सहित दान (२) गर्व से रहित ज्ञान (३)क्षमा से युक्त शौर्य (४) त्याग से युद्ध धन, इन चारों को कल्याण के साधन होने से चतुर्भद्र कहते हैं।

किं शोच्यं कार्पण्यं सति विभवे किं प्रशस्त मौदार्यम् ।
कः पूज्यो विद्वद्भिः स्वभावतः सर्वदा विनीतो यः ॥२६॥

प्रश्न—शोक करने योग्य कौन है ?
उत्तर—वैभव होने पर भी कृपणता।
प्रश्न—प्रशंसा करने योग्य कौन है ?
उत्तर—उदारता।
प्रश्न—विद्वानों से भी पूजा करने योग्य कौन है ?
उत्तर—जो स्वभाव से सर्वदा विनयशील है।

कः कुलकमलदिनेशः सति गुणविभवेऽपि नम्रः ।
कस्य वशे जगदेतत्प्रियहितवचनस्य धर्म निरतस्य ॥२७॥

प्रश्न—कुलरूपी कमल को सूर्य के समान प्रफुल्लित करने वाला कौन है ?
उत्तर—विद्या, दान आदि दैवीगुणरूपी विभव-होने पर भी जो नम्र है।
प्रश्न—यह समस्त जगत् किस के वश में है ?
उत्तर—जो धर्म में प्रेम करता है और प्रिय एवं हितकर वाणी बोलता है, उसके।

विद्वन्मनोहरा का सत्कविता वोधवनिता च ।
कं न स्पृशति विपत्तिः प्रवृद्धवचनानुवर्तिनं दान्तम् ॥२८॥

प्रश्न—विद्वानों के भी मन को हरण करने वाली कौन है ?
उत्तर—बोधप्रद, ईश्वर महिमा युक्त, सच्ची कविता और ब्रह्मविद्यारूपी (वनिता) (स्त्री) ।
प्रश्न—विपत्ति किसको स्पर्श नहीं करती है ?
उत्तर—जो जितेन्द्रिय है यानी संयमी है, और ज्ञानवृद्ध धर्मवृद्ध आदि महापुरुषों के अनुसार चलने वाला है, उसको ।

कस्यै स्पृहयति कमला त्वनल सचित्ताप नीतिवृत्ताप ।
त्यजति च कं सहसा द्विजगुरुसुरनिन्दाकरं च सालस्यम् ॥ २६ ॥

प्रश्न—लक्ष्मी किसी की स्पृहा (इच्छा) करती है ?
उत्तर—जिसके चित्त में आलस नहीं है, और जो नीति से युक्त है, उसकी ।
प्रश्न—लक्ष्मी सहसा किसको छोड़ देती है ?
जो आलसी है और ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओं की निन्दा करता है, उसको ।

कुत्र विधेयो वासः सज्जन निकटेऽथवा काश्याम् ।
कः परिहार्यो देशः पिशुन युतो लुब्धभूपश्च ॥ ३० ॥

प्रश्न—कहां निवास करना चाहिये ?
उ०—सज्जन महापुरुषों के समीप में अथवा काशी धाम में ।
प्र०—किस देश को छोड़ देना चाहिये ?
उ०—जो पिशुन (चुगलखोर) से युक्त एवं लोभी-कृपण राजा से युक्त देश है उसको ।

केनाशोच्यः पुरुषः प्रणतकलत्रेण धीरविभवेन ।
इह भुवने कः शोच्यः सत्यपि विभवे न यो दाता ॥ ३१ ॥

प्र०—किससे मनुष्य शोक रहित होता है ।
उ०—नम्र-सरल सती स्त्री से और अच्छे मार्ग में जानने वाले वैभव से ।
प्र०—इस भुवन में शोचनीय कौन है ?
उ०—वैभव होने पर भी जो दान नहीं करता है, वह ।

किं लघुतायाः मूलं प्राकृतपुरुषेषु या याञ्चा ।
रामादपि कः शूर स्मरशरनिहतो न यश्चलति ॥ ३२ ॥

प्र०—छोटेपन की जड़ क्या है ?
उ०—विषयी-पामर मनुष्यों से याचना करना ।
प्र०—भगवान् राम से भी महाशूरवीर कौन है ।
उ०—जो कामदेव के बाण से ताड़ित होने पर भी चलायमान न हो ।

किमहर्निशमनुचिन्त्यं भगवच्चरणं न संसारः।
चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धाः केस्युर्ये नास्तिका मनुजाः ॥ ३३ ॥

प्र०—दिन रात किसी की चिन्ता करना चाहिये ?
उ०—भगवान् के परम पावन चरण-कमलों की।
प्र०—किसकी चिन्ता नहीं करना चाहिये ?
उ०—संसार की।
प्र०—चक्षु होने पर भी अन्धे कौन हैं ?
उ०—जो नास्तिक (ईश्वर, वेद एवं परलोक में विश्वास नहीं करने वाले) मनुष्य हैं, वे।

कः पंगुरिह प्रथितो व्रजति न यो वार्धके तीर्थम्।
किं तीर्थमपि च मुख्यं चित्तमलं यन्निवारयति ॥ ३४ ॥

प्र०—इस संसार में पंगु कौन प्रसिद्ध है ?
उ०—जो वृद्ध होने पर भी काशी आदि स्थावर तीर्थ और सन्त-महात्मा-रूपी जंगम तीर्थ में पाप-निवृत्ति के लिये नहीं जाता है।
प्र०—मुख्य तीर्थ कौन है ?
उ०—जो चित्त के पाप को निवारण करे, वह

किं स्मर्तव्यं पुरुषैर्हरिनाम सदा न यावनी भाषा।
को हि न वाच्यः सुधिया परदोषश्चानृतं तद्वत् ॥ ३५ ॥

प्र०—मनुष्यों को हरदम में किसका स्मरण करना चाहिये ?
उ०—श्रीहरि के नाम का।
प्र०—किसका स्मरण नहीं करना चाहिये ?
उ०—यवनों की (उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि) भाषा का।
प्र०—बुद्धिमान मनुष्य को क्या नहीं करना चाहिये ?
उ०—दूसरों का दोष और अनृत (झूंठी भाषा)।

किं संपाद्यं मनुजैर्विद्या वित्तं बलं यशः पुण्यम्।
कः सर्वगुणविनाशी लोभः शत्रुश्च कः कामः ॥ ३६ ॥

प्र०—मनुष्यों को क्या सम्पादन करना चाहिये ?
उ०—विद्या, धन, बल, कीर्ति और पुण्य।
प्र०—सर्वगुणों के विनाश करने वाला कौन है ?
उ०—लोभ।

प्र०—शत्रु कौन है ?
उ०—काम ।

का च सभा परिहार्या हीना या वृद्धिसचिवेन ।
इह कुत्रावहितः स्यान्मनुजः किल राजसेवायाम् ॥ ३७ ॥

प्र०—किस सभा का त्याग करना चाहिये ?
उ०—जो धर्मवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध मन्त्री से रहित सभा है, उसका ।
प्र०—मनुष्य को कहां विशेष-रूप से सावधानी रखनी चाहिये ?
उ०—धार्मिक राजा की सेवा में ।

प्राणादापि को रम्यः कुलधर्मः साधुसंगश्च ।
का संरक्ष्या कीर्तिः पतिव्रता नैनबुद्धिश्च ॥३८॥

प्र०—प्राण से भी अत्यन्त प्यारा कौन है ?
उ०—कुल का धर्म और साधु पुरुषों की संगति ।
प्र०—अति प्रयत्न से कौन रक्षा करने योग्य है ?
उ०—कीर्ति, पतिव्रता स्त्री और अपनी बुद्धि ।

का कल्पलता लोके, सच्छिष्यायार्पिता विद्या ।
कोऽक्षयवटवृक्षः स्याद्विधिवत्सत्पात्रदत्तदानंयत् ॥ ३९ ॥

प्र०—इस लोक में कल्पलता क्या है ?
उ०—योग्य शिष्य को दी हुई विद्या ।
प्र०—अक्षयवट वृक्ष क्या है ?
उ०—विधिपूर्वक सत्पात्र को दिया हुआ दान ।

किं शस्त्रम् सर्वेषां युक्तिर्माता च का धेनुः ।
किं नु बलं यद्धैर्यं को मृत्युर्यदवधानरहितत्वम् ॥ ४० ॥

प्र०—सभी के लिये शस्त्र क्या है ?
उ०—युक्ति ।
प्र०—माता क्या है ?
उ०—गाय ।
प्र०—मृत्यु क्या है ?
उ०—सावधानी से नहीं रहना ।

कुत्र विषं दुष्टजने किमिहाशौचं भवेदृणं नृणाम् ।
किमभयमिह वैराग्यं भयमपि किं वित्तमेव सर्वेषाम् ॥ ४१ ॥

प्र०—विष कहां है ?
उ०—दुष्ट मनुष्य में
प्र०—मनुष्यों को अशौच क्या है ?
उ०—ऋण ।
प्र०—संसार में अभय क्या है ?
उ०—वैराग्य ।
प्र०—सब के लिये भय क्या है ?
उ०—धन ।

का दुर्लभा नराणां हरिभक्तिः पातकं च किं हिंसा ।
को हि भगवत्प्रियः स्याद्योऽन्यं नोद्वेजयेदनुद्विग्न ॥ ४२ ॥

प्र०—मनुष्यों को दुर्लभ क्या है ?
उ०—श्री हरि की भक्ति ।
प्र०—पाप क्या है ?
उ०—मन से वाणी से एवं शरीर से होने वाली हिंसा ।
प्र०—भगवान् को प्रिय कौन है ?
उ०—जो स्वयं उद्वेग से रहित है, और अन्य को कदापि उद्विग्न करता नहीं है, वह

कस्मात्सिद्धिस्तपसो बुद्धिः क्व तु भूसुरे कुतो बुद्धिः ।
वृद्धोपसेवया के वृद्धा ये धर्मतत्त्वज्ञाः ॥ ४३ ॥

प्र०—किस से सिद्धि होती है ?
उ०—तप से ।
प्र०—बुद्धि कहां है ?
उ०—भूदेव ब्राह्मण में ।
प्र०—वृद्ध कौन हैं ?
उ०—जो धर्म-तत्त्व को जानने वाले हैं ।

संभावितस्य मरणादधिकं किं दुर्यशो भवति ।
लोके सुखी भवेत्को धनवान्धनमपि च किं यतचेष्टम् ॥४४॥

प्र०—संभावित (प्रसिद्ध) मनुष्य को मरण से भी अधिक दुःखदायक क्या है ?
उ०—अपयश ।

प्र०—लोक में लोकदृष्टि से सुखी कौन है ?
उ०—धनवान् ।
प्र०—धन क्या है ?
उ०—संयमपूर्वक आहार-विहार यानी सदाचार ।

सर्वसुखानां बीजं किं पुण्यं दुःखमपि कुतःपापात् ।
कस्यैश्वर्यं यः किल शङ्करमाराधयेद्भक्त्या ॥४५॥

प्र०—तमाम सुखों की जड़ क्या है ?
उ०—पुण्य ।
प्र०—दुःख किससे होता है ?
उ०—पाप से ।
प्र०—ऐश्वर्य किससे होता है ?
उ०—भगवान् श्रीशंकर की विशुद्ध भक्तिपूर्वक आराधना करने से ।

को वर्धते विनीतः को वा हीयते यो दृप्तः ।
को न प्रत्येतव्यो ब्रूते यश्चानृतं शाश्वत् ॥४६॥

प्र०—कौन सभी प्रकार से बढ़ता है ?
उ०—विनयशील ।
प्र०—कौन सब प्रकार से घटता है ?
उ०—अभिमानी ।
प्र०—किसका विश्वास नहीं करना चाहिये ?
उ०—जो निरन्तर अनृत भाषण करता है ।

कुत्रानृतेप्यापायं यच्चोक्तं धर्मरक्षार्थम् ।
को धर्मोऽभिमतो यः शिष्टानां निजकुलीनानाम् ॥४७॥

प्र०—किस जगह अनृत कहने पर भी पाप नहीं होता है ?
उ०—जहां धर्म की रक्षा होती हो, वहां ।
प्र०—धर्म कौन है ?
उ०—जो निजकुल में होनेवाले सदाचारी वृद्ध पुरुषों के अभिमत हो ।

साधुबलं किं दैवं कः साधुः सर्वदा तुष्टः ।
दैवं किं यत्सुकृतं कः सुकृती श्लाघ्यते च यः सद्भिः॥४८॥

प्र०—साधु-महात्माओं का बल क्या है ?
उ०—आध्यात्म ।

प्र०—साधु कौन है ?
उ०—जो सर्वदा सन्तुष्ट हो।
प्र०—दैव क्या है ?
उ०—धर्म, भक्ति, वैराग्य, ज्ञान आज्ञा से होने वाला पुण्य।
प्र०—पुण्यशाली कौन है ?
उ०—जिसकी सत्पुरुष भी प्रशंसा करते हों वह।

गृहमेधिनश्च मित्रं किं भार्या को गृही च यो यजते।
को यज्ञो यः श्रुत्या विहतः श्रेयस्करी नृणाम् ॥ ४६ ॥

प्र०—गृहस्थ का वास्तविक मित्र कौन है ?
उ०—भार्या।
प्र०—गृहस्थ कौन है ?
उ०—जो पञ्चमहायज्ञ के द्वारा विश्वरूप भगवान् का यजन करता है।
प्र०—यज्ञ कौन है ?
उ०—जो वेद ने विधान किया हो, और अनुष्ठान से मनुष्यों का श्रेयः (कल्याण) करने वाला हो, वह।

कस्य क्रिया हि सफला यः पुनराचारवान् शिष्टः।
कः शिष्टो यो वेद प्रमाणवान्को हतः क्रियाभ्रष्टः ॥ ५० ॥

प्र०—किसकी क्रिया फलवाली होती है ?
उ०—जो सदाचारी विचारशील शिष्ट है, उसकी।
प्र०—शिष्ट कौन है ?
उ०—जो वेद को परम प्रामाणिक मान कर वैदिक उपदेश को अपने आचरण में रखता है, वह
प्र०—मरा हुआ कौन है ?
उ०—जो क्रिया (सदाचार) से भ्रष्ट है।

को धन्यः सन्यासी को मान्यः पण्डितः साधुः।
कः सेव्यो यो दाता को दाता योऽर्थितृप्तिमातनुते ॥ ५१ ॥

प्र०—धन्य कौन है ?
उ०—सदाचारी विद्वान्।
प्र०—सेव्य कौन है ?
उ०—दाता (दान शील)।

प्र०—दाता कौन है ?
उ०—अर्थी को जो तृप्त करता है, वह।

किं भाग्यं देहवतामारोग्यं कः फली कृषिकृत्।
कस्य न पापं जपतः कः पूर्णो यः प्रजावान्स्यात् ॥ ५२ ॥

प्र०—देह धारियों का भाग्य क्या है ?
उ०—आरोग्य।
प्र०—फलवाला कौन है ?
उ०—किसान (खेती करने वाला)।
प्र०—किसको पाप स्पर्श नहीं करता है ?
उ०—जो भगवन्मन्त्र को जपता रहता है, उसको।
प्र०—पूर्ण कौन है ?
उ०—जो प्रजावाला है, वह।

किं दुष्करं नराणां यन्मनसो निग्रहः सततम्।
को ब्रह्मचर्यवानस्याद्यश्चास्खलितोर्ध्वरेतस्कः ॥ ५३ ॥

प्र०—मनुष्यों के लिये दुष्कर क्या है ?
उ०—निरन्तर मन को स्वाधीन रखना।
प्र०—ब्रह्मचारी कौन है ?
उ०—जिसका वीर्य कदाचित् स्खलित न हो, किन्तु ऊर्ध्व-मस्तिष्क में विशेषरूप से वीर्य का धारण हो, वह।

का च परदेवतोक्ता चिच्छक्तिः को जगद्भृती।
सूर्य सर्वेषां को जीवन हेतुः स यजेन्यः ॥ ५४ ॥

प्र०—पर देवता कौन है ?
उ०—सर्व-व्यापिनी चेतन-शक्ति।
प्र०—जगत् का भर्ता कौन है ?
उ०—सूर्य-भगवान्।
प्र०—सभी के जीवन का हेतु कौन है ?
उ०—पर्जन्य (बारिश) वृष्टि।

कः शूरो यो भीतत्राता त्राता कः च स गुरुः।
को हि जगद्गुरुः शम्भुर्ज्ञानं कुतः शिवादेव ॥ ५५ ॥

प्र०—शूर कौन है ?
उ०—भयभीत मनुष्य की रक्षा करने वाला ।
प्र०—रक्षक कौन है ?
उ०—गुरु ।
प्र०—जगद्गुरु कौन है ?
उ०—श्री शंकर महादेव ।
प्र०—ज्ञान किससे होता है ?
उ०—जगद्गुरु श्री शिवजी महाराज की कृपा से ।

मुक्तिं लभते कस्मान्मुकुन्दभक्तेर्मुकुन्दः कः ।
यस्तारयेदविद्यां का चाविद्या यदात्मनोऽस्फूर्तिः ॥ ५६ ॥

प्र०—किससे मुक्ति प्राप्त होती है ?
उ०—मुकुन्द भगवान् की भक्ति से ।
प्र०—मुकुन्द कौन है ?
उ०—जो अविद्या से तार देवे ।
प्र०—अविद्या क्या है ?
उ०—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान न होना ।

कस्य न शोको यः स्यादकामः किं सुखं तुष्टिः ।
को राजा रंजनकृत्कश्च श्वा नीचसेवको यः स्यात् ॥ ५७ ॥

प्र०—शोक किस को नहीं होता ?
उ०—जो कामनाओं से रहित है ।
प्र०—सुख क्या है ?
उ०—सन्तोष ।
प्र०—राजा कौन है ?
उ०—जो अपनी प्रजा का लालन-पालन द्वारा रंजन व (हर्ष) करने वाला हो ।
प्र०—कुत्ता कौन है ?
उ०—जो नीच पामर का सेवक है ।

को मायी परमेशः क इन्द्रजालायते प्रपञ्चोऽयम् ।
कः स्वप्ननिभो जाग्रद्व्यवहारः सत्यमपि च किं ब्रह्म ॥ ५८ ॥

प्र०—माया वाला कौन है ?
उ०—परमेश्वर ।

प्र०—इन्द्रजाल के समान मिथ्या कौन है ?
उ०—यह नाम रूपात्मक द्वैत प्रपंच ।
प्र०—स्वप्न के समान क्षण-भंगुर क्या है ?
उ०—जाग्रत संसार का व्यवहार ।
प्र०—सत्य (तीन काल में भी अबाधित) क्या है ?
उ०—ब्रह्म (सर्वव्यापक आत्मा) ।

किं मिथ्या यद्विद्याविनाश्यं तुच्छं तु शशविषाणादि ।
का चानिर्वचनीया माया किं कल्पितं द्वैतम् ॥ ५९ ॥

प्र०—मिथ्या क्या है ?
उ०—जिसका ब्रह्म विद्या से नाश हो, वह ।
प्र०—तुच्छ क्या है ?
उ०—शशशृंङ्ग, वन्ध्यापुत्र आदि ।
प्र०—अनिर्वचनीया क्या है ?
उ०—माया और माया का कार्य संसार ।
प्र०—कल्पित (अध्यस्त) क्या है ?
उ०—द्वैत - प्रपंच ।

किं पारमार्थिकं स्याद्द्वैतं चा विद्या कुतोऽनादिः ।
वपुषश्च पोषकं किं प्रारब्धं चन्नदापि किमायुः ॥ ६० ॥

प्र० —पारमार्थिक तत्त्व क्या है ?
उ०—अद्वैत-ब्रह्म ।
प्र०—अविद्या किससे हुई ?
उ०—किसी से भी नहीं, क्यों कि वह अनादि है, उसका आदि (कारण) कोई नहीं बतला सकता, परन्तु उसकी अनादि कल्पना का अधिष्ठान ब्रह्म है ।
प्र०—शरीर को पोषण करने वाला कौन है ?
उ०—प्रारब्ध-कर्म ।
प्र०—अन्न देने वाला कौन है ?
उ०—आयु ।

को ब्राह्मणैरुपास्यो गायत्र्यर्काग्निगोचरः शम्भुः ।
गायत्र्यामादित्ये चाग्नौ शम्भौ च किं नु तत्तत्त्वम् ॥ ६१ ॥

प्र० - ब्राह्मणों से उपासना करने योग्य कौन है ?
उ०—गायत्री, सूर्य और अग्नि के अधिष्ठाता भगवान् श्री शंकर ।

प्र०—गायत्री में, सूर्य में, अग्नि में और श्री शंकर में कौन तत्त्व है ?
उ०—वही सर्वव्यापक अद्वैत-ब्रह्म ।

प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः ।
कः सर्व देवतात्मा विद्याकर्मान्वितो विप्रः ॥ ६२ ॥

प्र०—प्रत्यक्ष देवता कौन है ?
उ०—माता ।
प्र०—पूज्य गुरु कौन है ?
उ०—पिता ।
प्र०—सर्व देवता स्वरूप कौन है ?
उ०—ज्ञान (उपासना) और वैदिक-विहित-शुभ कर्म से युक्त ब्राह्मण ।

कश्च कुलक्षयहेतुः सन्तापः सज्जनेषु योऽकारि ।
केषाममोघवचनं ये च पुनः सत्यमौनशमशीलाः ॥ ६३ ॥

प्र०—कुल-क्षय का क्या कारण है ?
उ०—सज्जन महात्माओं को पहुँचाया हुआ कष्ट ।
प्र०—किनका अमोघ (यथार्थ) वचन है ?
उ०—जो सत्य, मौन, एवं शम (मन का निग्रह) के स्वभाववाले हैं ।

किं जन्म विषयः संगः, किमुत्तरं ब्रह्मबोधः स्यात् ।
कोऽपरिहार्यो मृत्युः कुत्र पदं विन्यसेच्च दृक्पूते ॥ ६४ ॥

प्र०—जन्म क्यों होता है ?
उ०—विषयाशक्ति के होने से ।
प्र०—जन्म से तरना अर्थात् मुक्त कैसे हो ?
उ०—ब्रह्मज्ञान से ।
प्र०—अपरिहार्य कौन है ?
उ०—मृत्यु (कालदेवता) ।
प्र०—पाद (पैर) कहाँ रखना चाहिये ?
उ०—दृष्टि से पवित्र किये हुए मार्ग में ।

पात्रं किमन्नदाने क्षुधितं कोऽर्च्यो हि भगवदवतारः ।
कश्च भगवान्महेशः शङ्कर-नारायणात्मैकः ॥ ६५ ॥

प्र०—अन्नदान का पात्र (अधिकारी) कौन है ।
उ०—जो क्षुधित (भूखा) हो ।

प्र०—अर्चा (पूजा) करने योग्य कौन है ?
उ०—भगवदवतार श्रीराम-कृष्णादि ।
प्र०—भगवान् महेश्वर कौन हैं ?
उ०—श्री शंकर और श्री नारायण का अभिन्न स्वरूप ।

फलमपि भगवद्भक्ते किं तद्देवस्वरूपसाक्षात्वम् ।
मोक्षश्च कोह्यविद्यास्तमयः कः सर्ववेद भूरथ चोम् ॥ ६६ ॥

प्र०—भगवद्भक्ति का फल क्या है ?
उ०—अविद्या का अत्यन्ता भाव ।
प्र०—सर्व वेदों का सार क्या है ?
उ०—ॐकार ।

इत्येषा कण्ठस्था प्रश्नोत्तररत्नमालिकायेषाम् ।
तेमुक्ताभरण इव विमलाश्चाभान्ति सत्समाजेषु ॥ ६७ ॥

यह प्रश्नोत्तर रत्नमालिका जिनके कण्ठ में स्थित है, वे मुक्ता के आभूषण की भाँति सत्पुरुषों के समाज में निर्मल होकर प्रकाशित होवेंगे ।

॥ इति प्रश्नोत्तर रत्नमालिका ॥

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। मौन से बढ़कर कोई तप नहीं है। जप से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है। विचार से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। और त्याग से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

॥ अन्तःकरण चतुष्टयः ॥

'मन' के छः अंश यह हैं—कर्म, अकर्म, विकर्म, नियम, संकल्प और विकल्प।
'बुद्धि' भी छः अंशों में विभक्त है—जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन।
'चित्त' छः अंशों में विभक्त है—योग, विराग, स्मरण, ज्ञान, विज्ञान और उच्चाटन।
'अहंकार' के विभाग इस प्रकार किये गये हैं—मान क्रोध, ईर्ष्या, पारुश्य, उपहिंसा और दृढ़ वैराग्य।
इसी मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के समूह को अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं।

वेदान्तार्थ का प्रकाशक कुंजी।

नीचे लिखे भावों को ठीक जान लेने से वेदान्त सब स्पष्ट होवेगा।

अभेदता—	किसी प्रकार की दूरी का शेष न रहना ही अभेदता है।
आनन्द—	सुख तथा दुःख के अभाव होने पर शेष रहता है वही आनन्द है? सुख, प्रिय, इष्ट, मोद, प्रसन्नता पर्याय शब्द हैं।
अनुभव—	ज्ञान, बोध, चैतन्य, प्रकाश, संचित, साक्षी पर्याय।
आत्मा—	स्वरूप, सब का प्रकाशक, सर्वत्र व्यापक, अधिष्ठान।
अखण्ड—	सजाति, विजाति, स्वगत तीनों भेदों से रहित।
अन्तर्मुख—	सदा आत्मा का चिन्तन करने वाला [आत्मरामी]।
अभ्यास—	श्रवण, मनन, निदिध्यासन, निर्विकल्प समाधि।
अन्त,करण—	मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह चारों वृत्तियां।
अपवाद—	मिथ्या निषेध करके केवल सत्य का कथन।
अनुबन्ध—	विषय, सम्बन्ध, अधिकारी, प्रयोजन यह चारों।
अर्थवाद—	अभीष्टार्थ के प्रतिपालक प्रशंसा वाले वाक्य।
अध्यास—	अन्य धर्मों वाले पदार्थ में अन्य धर्मों की भ्रान्ति।
अनादि—	उत्पन्न न हुआ हो व जिसकी आदि न जानी जाय।
आरोप—	सत्य पदार्थ में अवस्तु [असत्य] का प्रतिपादन करना।
अज्ञान—	ब्रह्मस्वरूप का आच्छादक अनादि अभाव रूप।
अभाव—	प्राग, प्रध्वंसा, अन्योन्य, सामयिका, अंत्यताभाव।
अविद्या—	न विद्यमान हुई आत्मा को भुलाने वाली शक्ति।

ईश्वर—	जिसके बिना मिले परम शान्ति नहीं पाते हो वही ईश्वर है।
	मायावशिष्ठ, सर्वज्ञ जगत् का करता, हरता।
उपशम—	संशय, व विपर्यय आदि वासनाओं की निवृत्ति।
उपाधि—	आप भिन्न हुई वस्तु को अल्य पदार्थों से अलग करे।
एकान्त—	अद्वैत दृष्टि, आसक्ति का त्याग, निर्जन स्थान का वास।
काण्डवेद—	कर्म [धर्म], उपासना [भक्ति], ज्ञा.. [प्रबोध], तीन।
कृतार्थ—	करने योग्य, जानने योग्य, प्राप्ति के योग की उपलब्धि।
कर्तव्य—	स्वधर्म, इन्द्रिय दमन, सद्विचार, ब्रह्मज्ञान आदि प्रयत्न।
करण—	ज्ञान की साधक, अन्तःकरण की वृत्ति व ज्ञान इन्द्रियां।
कारण—	कार्य को सिद्ध करने वाले उपादान, निमित्त दो हैं।
कोष—	ब्रह्म का आच्छादक, अन्न, प्राण, मनोविज्ञान, आनन्दमय।
वास्तविक—	असली रूप, पारमार्थिक, अधिष्ठान, यथार्थ तत्त्व।
वेदान्त—	चारों वेदों का अन्त [निचोड़] ज्ञान के प्रतिपादक वाक्य।
वैराग्य—	आत्मा से भिन्न विषयों में "विरसता" कहा जाता हैं, उससे भी अपने ब्रह्म भाव का स्मरण हो आता है।
वृत्तियां—	प्रमा, अप्रमा, विकल्प, स्मृति, अभाव पांच प्रकार की।
विपर्यय—	आत्मा को कर्ता, देह में अहंता, जगत् में सत्यतादि।
वासना—	ध्येय [तीन विपर्यय], नेय, मुक्ति तक देह की निर्वाहक है।
विशेषण—	ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य, शान्त, अद्वैत, निर्विकार इत्यादि।
व्यवहार—	कहना, जानना, सब क्रियाओं का साधक बर्ताव।
विक्षेप—	संसार को प्रत्यक्ष करने वाली अज्ञान रूप शक्ति।
विवर्त—	विषम सत्ता वाला और अन्यथा स्वरूप होता है।
बाध समानाधिकरण—	जगत् को बाध करके ब्रह्म में एकता।
पुरुषार्थ—	पुरुषों का अर्थ [हितकारी] साधन, ज्ञान, मुक्ति आदि।
प्रकृति—	जगत् के कार्यों को सिद्ध करने वाली, त्रिगुणमयी।
पर्याय—	एक अर्थों को जानने वाले अनेक पद [शब्द]।
परिणाम—	उपादान के समसत्ता, रूप उसका भिन्न होता है।
पदार्थ—	ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत् सबके भेद व सम्बन्ध, षट्।
पुरुष—	असंग हुआ सर्वत्र पूर्ण रहने वाला चैतन्य रूप।
भक्ति—	गुरु में तथा ब्रह्म के अभेद में स्वाभाविक प्रेम को 'भक्ति' कहते हैं, यह भी अपने ब्रह्म भाव के स्मरण का कारण होता है।
मुक्ति—	सब दुःखों की निवृत्ति, परमानन्द प्राप्ति, अवान्तर चार।
मनन—	सद् युक्तियों द्वारा जीव, ब्रह्म की एकता का विचार।
मनोनाश—	स्वरूप होते मन का बाध व अरूप [सर्वथा अभाव]।
माया—	वास्तव में न हुई, त्रयगुणमयी, ईश्वर की उपाधि।

मन— आवरण, विक्षेप, आगामी शुभाशुभ वासना का समूह।
निर्विकल्प — भेद व संशय से रहित अद्वैत ज्ञान व उत्तम समाधि।
निराकार— मन, वाणी का अविषय, अव्यक्त, निर्गुण, सूक्ष्म।
निर्विकार— उत्पत्ति, स्थिति, परिणाम, क्षय, विनाश से रहित।
निरोपाधिक— माया, अविद्या, उपाधियों से अतीत शुद्ध ब्रह्म।
निदिध्यासन— विजाति वृत्तियों के बिना सजातियों का प्रवाह।
सिद्धान्त— वेद, वेदान्त करके सिद्ध किया हुआ उत्तम अर्थ।
समाधि— यथार्थ निश्चयात्मक व प्राण जन्य हठ रूपी।
समदृष्टि— सब पदार्थों को मिथ्या व ब्रह्मरूप निश्चय करना।
सत्य— नित्य, भाव, अस्ति, हेता, एकरस, त्रिकाल अबाध्य।
साक्षी— असंग हुआ ज्ञाता व अन्तर्वृत्तियों का प्रकाशक।
सर्वज्ञ— निष्काम, निष्पक्ष, ब्रह्मवेत्ता, वेद व सृष्टि के क्रम का ज्ञाता।
सद्गुरु— आत्मज्ञानी, वेदान्त का ज्ञाता, सर्वहितैषी।
जीवन्मुक्ति — जीवित व्यवहार कर्त्ता भी आत्मा को मुक्त जाने।
जीव— अविद्यावशिष्ट हुआ चैतन्य, सुख दुःख का आधार।
जगत्— नाम, रूप, व्यवहारों सहित प्रत्यक्ष भासने वाला।
त्रिक— रूप, अवलोकन, मनस्कार यह तीन जगत् के भेद।
त्रिपुटि— प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इत्यादि चतुर्दश प्रकार की हैं।
दृष्टान्त— वादी, प्रतिवादी को ज्ञात व द्राष्टान्त के समान।
द्राष्टान्त— जिसके लिए उपमा दी जाय, वह उपमेय पदार्थ।
देह तीन— स्थूल, सूक्ष्म तथा इन दोनों का कारण अज्ञान रूप।
दोष— अति व्याप्ति और अव्याप्ति तथा असम्भव यह तीन हैं।
धर्म— आत्मा के समान जान कर किसी का दुःख न चाहना।
ध्यान— सब ओर से मन को उठा कर अभीष्ट का चिन्तन।
भक्त— आरत, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी यह श्रेष्ठ हैं।
भूमिका— ज्ञान की साधक चित्त व चिदाभास की सात अवस्था।
भाव— सुख, दुःख, हानि, लाभ, बंध, मोक्ष आदि का कारण।
लक्षण— तीनों दोषों से रहित हुआ जो लक्ष्य को सिद्ध करे।
लक्ष्य— निर्दोष लक्षण करके जो पदार्थ सिद्ध किया जाता है।
योग— अपने में आनन्दघन भगवान् की स्थापना कर अपना सब कुछ उनके समर्पण कर देना अर्थात् भाव का अभाव कर देना। ऐक्यावस्था रूप राजयोग व हठयोग भेद से दो विधि।
युक्ति — अज्ञातार्थ को सहज में सिद्ध करने वाला दृष्टान्त आदि।
क्षेत्र — स्थूल, सूक्ष्म आदि दृश्यमान, पांच भौतिक सब पदार्थ।

क्षेत्रज्ञ— असंग हुआ क्षेत्ररूप दृश्य का प्रकाशक चैतन्य।

श्रद्धा— गुरु या वेदान्त के वाक्यों में विश्वास 'श्रद्धा' कहाती है, इसकी सहायता से जीव को अपने में ब्रह्मत्व की स्मृति हो जाती है।

(याद रहे कि 'श्रद्धा' 'भक्ति' और 'वैराग्य' ये तीनों ही ब्रह्माकार वृत्ति रूपी विभूति के आवश्यक अंश हैं इनके बिना ब्रह्मभाव का स्मरण होता ही नहीं।)

संज्ञा शब्दार्थ

अण्डज—पक्षी, सर्प, घड़ियाल, मछली और कछुए तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलचर और जलचर जीव अण्डज हैं।

अग्नि—गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि, यही तीनों अग्नि श्रेष्ठ हैं (सन्ध्याग्नि और आवसथ्याग्नि सहित पञ्चाग्नि होता है आगे पञ्चाग्नि में लिखा है)।

अतिथि—केवल एक रात अन्य के गृह में बसने वाले ब्राह्मण को अतिथि कहते हैं; जिसकी अनित्य स्थिति है वही अतिथि कहा जाता है। जो ब्राह्मण एक ही गांव का बसने वाला है या परिहास से जीविका करने वाला है अथवा जिसके साथ भार्या या अग्नि है वह अतिथि नहीं समझा जाता।

अनसूया—गुणों वाले के गुणों को नष्ट नहीं करना, अन्य के गुणों की बड़ाई करना और अन्य के दोषों की हंसी नहीं करना उसे अनसूया कहते हैं।

अनायास—जिस शुभ या अशुभ कर्म करने से शरीर को दुःख हो उसको अत्यन्त नहीं करना उसे अनायास कहते हैं।

अस्पृहा—अकस्मात् प्राप्त सम्पूर्ण वस्तुओं में संतोष करना और पर की स्त्रियों की इच्छा नहीं करना उसको अस्पृहा कहते हैं।

अन्त्यज—धोबी, चमार, नट; बंसफोर, कैवर्त, मेद (व्याध विशेष) और भील ये, जाति अन्त्यज कहलाते हैं।

अनुदात्त—वेदगान में नीच स्वर, उत्तम नहीं।

अयाचित—जो वस्तु बिना मांगे मिल जाय उसे अयाचित कहते हैं।

अष्टका—अगहन, पूस और माघ के कृष्णपक्ष की तीन अष्टमी को अष्टका कहते हैं। पूस, माघ, और फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की ३ अष्टमी को अष्टका कहते हैं।

अकृत अन्न—धान आदि (बिना कुटे हुए अन्न) को अकृत अन्न कहते हैं।

अन्वाहार्य श्राद्ध—जिस कर्म के आदि में श्राद्ध होता है अन्त में दक्षिणा दी जाती है और अमावस्या को दूसरा श्राद्ध होता है उसे अन्वाहार्य कहते हैं।

अक्षत—यव को अक्षत कहते हैं।

अर्घ्य—अक्षत, फूल और दही से युक्त जल अर्घ्य कहलाता है, जिसे अपने पूज्य को अर्घ्य देना हो उसकी अञ्जली में कांसे के पात्र से अर्घ्य छोड़े।

अपच—जो ब्राह्मण गृहस्थ धर्म में रहकर किसी को कुछ नहीं देता है धर्म तत्त्व के ज्ञाता ऋषियों ने उसको अपच कहा है।

अपरान्ह—पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है-उसमें से ३ मुहूर्त्त प्रातःकाल, ३ मुहूर्त्त सङ्गवकाल, ३ मुहूर्त्त मध्याह्नकाल, ३ मुहूर्त्त अपराह्नकाल और ३ मुहूर्त्त सायंकाल रहता है। इस प्रकार पाँच प्रकार के काल होते हैं। पांच प्रकार से विभाग किये दिन के चौथे भाग को अपरान्ह कहते हैं।

आचार्य—जो ब्राह्मण शिष्य को जनेऊ देकर यज्ञविधि और उपनिषद् के सहित वेदों को पढ़ाता है उसको आचार्य कहते हैं।

आद्यश्राद्ध—मरने के ग्यारहवें दिन (ब्राह्मण का) आद्य श्राद्ध होता है।

आततायी—तलवार से मारने के लिये, विष देने के लिये, आग लगाने के लिये, शाप देने के लिये, अभिचार द्वारा वध करने के लिये, चुगुली करके राजा से वध कराने के लिये और भार्या हरण करने के लिये जो उद्यत होते हैं, इन्हीं सात को आततायी कहते हैं तथा यश, धन और धर्म हरण करने वाले भी आततायी कहलाते हैं—(बृहद्विष्णुस्मृति, अ०५ श्लो० १८७-१८८)। आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र हाथ में लेकर मारने के लिये आने वाला, धन हरण करने वाला, खेत हरण करने वाला और स्त्री हरण करने वाला, ये ६ आततायी हैं—(वसिष्ठस्मृति अ० ३ श्लो० १९)।

आग्नेय तीर्थ—हथेली के बीच में आग्नेय तीर्थ है।

आत्रेयी—रजस्वला होकर ऋतुस्नान की हुई स्त्री को आत्रेयी कहते हैं।

इन्द्रिय—कान, त्वचा, नेत्र जीभ और नासिका—ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा, लिङ्ग, हाथ, पांव और वाक्—ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। मन को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों कहते हैं।

इष्ट—अग्नि होत्र, तपस्या, सत्य, वेदों की रक्षा, अतिथि सत्कार और बलिवैश्वदेव इन्हें इष्ट कहते हैं।

उद्भिज—वृक्ष आदि स्थावर उद्भिज हैं इनमें से अनेक बीज से और अनेक रोपीहुई शाखा से उत्पन्न होते हैं।

उपाध्याय—जो लोग जीविका के लिये वेद का एक अंग अथवा वेदाङ्ग पढ़ाते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

उपनिधि—यदि कोई पिटारे आदि किसी वासन में बन्द करके बिना गिनाये हुए द्रव्य रक्षा के लिये अन्य किसी के पास रख देता है तो वह उपनिधि कहलाता है—(याज्ञवल्क्य, अ० २ श्लोक ६६ और नारद स्मृति विवादपद २ श्लोक २)।

उपकुवाणक—जो २६ वर्ष का द्विज केशान्त संस्कार तक यथोक्त ब्रह्मचर्य ब्रत करता है वह उपकुवाणक कहलाता है—(व्यासस्मृति, अ० १ श्लो० ४१)।

ऋत्विक्—जो ब्राह्मण अग्निस्थापन कार्य पाक यज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञ कराते हैं उनको ऋत्विक् कहते हैं।

एणमृग—काले मृग को एण कहते हैं। (कात्यायन स्मृति खंड २७ श्लो० ११)।

औषधि—जो (धान गेंहू आदि) बहुत फूल फलों से मुक्त होते हैं और फल के पक जाने पर सूख जाते हैं उन्हें औषधि कहते हैं—(मनुस्मृति, अ० १ श्लोक० ४६)। धान, साठी धान, मूंग, गेंहूँ, सरसों, तिल और यव ये सप्त औषधि हैं। (कात्यायन स्मृति, खंड २६, श्लो० १३)।

औदुम्बरायण— जो ब्रह्मचारी विवाह करके ६ मास अथवा १ वर्ष तक स्त्री का संग नहीं करता है घर में रहते हुए भी उसको औदुम्बरायण कहते हैं।

काम्यस्नान—पुष्प नक्षत्र आदि में जो ज्योतिष के अनुसार स्नान किया जाता है वह काम्य स्नान कहलाता है। (शंख स्मृति अ० ८ श्लोक ४)।

कायतीर्थ—कनिष्ठका अंगुली के मूल में कायतीर्थ अर्थात् प्रजापति तीर्थ कहा गया है—मनुस्मृति अ० २ श्लो० ५९ और शंखस्मृति अ० १०,श्लो० १।

कुण्ड—पति के जीवित रहने पर अन्य पुरुष से उसकी स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको कुण्ड कहते हैं—मनुस्मृति, अ० ३, श्लोक १७४ आदि स्मृतियां।

कुतप—दिन के आठवें भाग (८ वें मुहूर्त) में सूर्य का तेज मन्द होता है—उस काल को कुतप काल कहते हैं उस समय श्राद्ध करने से पितरों की अक्षय तृप्ति होती है—वसिष्ठ स्मृति, अ० ११, श्लो० ३३; शातातप स्मृ० १०९ श्लोक; और लघुहारी स्मृ० श्लो० ९९। सदा १५ मुहूर्त का दिन होता है, उसका आठवां मुहूर्त कुतपकाल कहलाता है—प्रजाप० स्मृ० श्लो० १५९। सातवें मुहूर्त के पीछे और नवें मुहूर्त के पहिले के समय को पण्डित लोग कुतपकाल कहते हैं। लघुहारी स्मृति, १०९ श्लोक। ब्राह्मण, कम्बल, गौ, सूर्य, अग्नि, अतिथि गुरु, तिल, कुशा और समय ये १० कुतप कहलाते हैं—लघुहारी स्मृति, श्लोक ९८।

कृष्णल (रत्ती)—लोक व्यवहार में ताम्बा, रूपा और सोने का परिमाण कहता हूँ। झरोखे के छिद्रों में होकर आये हुए सूर्य के किरणों में जो सूक्ष्म धूलि की कण दीख पड़ती है उसे त्रसरेणु कहते हैं, ८ त्रिसरेणु का १ लिक्षा, ३ लिक्षा का एक राज सर्षप, ३ राजसर्ष का एक गौर सर्षप, ६ गौरसर्षप का एक मध्यम यव और ३ यव का एक कृष्णल गुंजा (अर्थात् रत्ती) होता है—मनु० अ० ८ श्लोक १३१-१३४, याज्ञ० अ० १ श्लो० ३६२-३६३;

कृतअन्न—भात और सत्त आदि (पकाये हुए तथा पीसे हुए) अन्न को कृतान्न कहते हैं—कात्यायन स्मृति, खंड २४ श्लोक, ३।

कृताकृतअन्न—चांवल आदि (कूटे हुए) अन्न को कृताकृत अन्न कहते हैं। कात्यायन स्मृति, खंड २४ श्लोक ३।

क्रियाङ्गस्नान—पवित्र मन्त्रों के जपने के लिये अथवा देवपितरों की पूजा करने के लिये जो स्नान किया जाता है उसको क्रियाङ्ग स्नान कहते हैं—शंख स्मृति, अ० ८, श्लो० ५।

क्रियास्नान—सरित, तीर्थ और नदी का स्नान क्रिया स्नान कहाता है। श्लोक० ७।

खांड़िक—घड़े को खाण्डिक कहते हैं—कात्यायन स्मृति, खंड २८, श्लो०१ आदि

गुरु—जो ब्राह्मण गर्भाधान आदि संस्कारों को विधि पूर्वक करके अन्न से पालता है वह गुरु कहलाता है—मनु० अ० २ श्लो० १५२। जो गर्भाधान आदि कर्म करके वेद पढ़ाता है उसको गुरु कहते हैं—याज्ञवल्क्य स्मृति, अ० १ श्लो० ४।

गोलक—विधवा स्त्री में (बिना नियोग के) अन्य पुरुष से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह गोलक कहाता है— मनुस्मृति अ० ३ श्लोक १७४ और लघु आदि।

गोत्रज—सब सपिण्डों में सात पीढ़ी तक गोत्रज होता है उसको पिण्डदान, जलदान और मृत्यु के अशौच का अधिकार है—अत्रि स्मृति, श्लोक ८५।

घातक—जीव के वध करने की अनुमति देने वाला, उसके अङ्गों का विभाग करने वाला, जीव वध करने वाला, मांस मोल लेने वाला, मांस बेचने वाला, मांस रोंधने वाला, मांस परोसने वाला और मांस खाने वाला, ये सब घातक हैं—मनुस्मृति अ० ५ श्लो० ५१ आदि।

चक्रवृद्धि—ब्याज पर ब्याज लगाने को चक्रवृद्धि कहते हैं—नारद स्मृति, १ विवादपद, अ० ४ श्लो०३२।

चोरी—द्रव्य के स्वामी के पीछे द्रव्य हरण करने को और धरोहर लेने को चोरी कहते हैं—मनुस्मृति, अ० ८ श्लो० ३३२।

जरायुज—जीवों में पशु, मृग, ब्याल (सिंहादिक हिंसक जन्तु) दोनों ओर दाँत वाले जीव, राक्षस, पिशाच और मनुष्य, जरायुज (पिण्डज) हैं— मनु० अ० १ श्लोक ४३।

जितेन्द्रिय--जिस मनुष्य को प्रशंसा तथा निन्दा सुनने से, कोमल वा कठोर वस्तु स्पर्श करने से, सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु के देखने से, स्वादयुक्त या बेस्वाद युक्त पदार्थ भोजन करने से और गन्धयुक्त वा दुर्गन्ध वस्तु सूंघने से हर्ष विषाद नहीं होता है उसको जितेन्द्रिय जानना चाहिये—मनु० अ० २ श्लो० ९८।

जीव—जो अन्तरात्मा सम्पूर्ण देहधारियों के सङ्ग उत्पन्न होता है और जन्म लेने पर सुख दुःख भोगता है वह जीव कहाता है—मनु० अ० १२, श्लो० १३।

तम्बलमृग—लालमृग को तम्बल मृग कहते हैं—कात्यायन स्मृति खं० २७ श्लोक ११।

तप—जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहना, सत्य बोलना, त्रिकाल स्नान करना, भीगे हुए वस्त्र पहनना, भूमि पर सोना और भोजन का त्याग करना ये सब तप कहाते हैं—गौतम स्मृति अ० १९, खं० ५।

त्रिदण्डी—जिसकी बुद्धि में वाणी का दण्ड, मन का दण्ड और काम का दण्ड स्थिति है वह त्रिदण्डी कहलाता है—मनुस्मृति अध्याय १२, श्लोक १०।

दम—यदि कोई मनुष्य बाह्य अथवा मानसिक दुःख पहुँचावे तो उसके ऊपर न तो क्रोध करे और न उसको तंग करे इसी को दम कहते हैं—अत्रि स्मृति, श्लो० ३९। इन्द्रिय दमन को दम कहते हैं—वृहद्विष्णु-स्मृति, अ० ७२ अंक २।

दण्ड—अंगूठे के पोर के समान मोटे, बाहु के समान लम्बे, पत्तों तथा अग्र भाग के सहित काठ को दण्ड कहते हैं—अंगिरा स्मृति, श्लोक २८। अंगूठे के समान मोटे, बाहु के समान लम्बे, ओदे और पत्तों के सहित काठ को गोदण्ड कहते हैं—यम स्मृति, श्लोक ४१ और पाराशर स्मृ० अ० ९।

दण्डपारुष्य—अन्य के शरीर में क्लेश पहुँचाने के लिये हाथ, पैर तथा शस्त्र चलाना अथवा भस्म आदि फेंकना इनको दण्ड पारुष्य कहते हैं-नारदस्मृति, विवाद पद ४, श्लोक ४।

दान—किंचित् प्राप्ति के होने पर भी उसमें से थोड़ा २ प्रतिदिन प्रसन्न चित्त से दूसरे को देते हैं वह दान कहलाता है _अत्रि स्मृति, श्लो० ४० ।

देवतीर्थ—सब अंगुलियों के अग्रभाग का नाम देवतीर्थ है—मनु० अ० ८, श्लो० ५८ आदि ।

द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य ये ३ वर्ण द्विज हैं। मनुस्मृति अ० १०, श्लोक ४ और व्यास-स्मृति, अ० १ श्लो० ५ । यज्ञोपवीत संस्कार होने से मनुष्य द्विज कहाता है—अत्रि स्मृति, श्लो० १३८ ।

द्यूत—जो खेल प्राण रहित (पाशे आदि) वस्तुओं से खेली जाती है उसको द्यूत अर्थात् जूआ कहते हैं—मनुस्मृति अ० ९, श्लो० २२३ ।

धर्म—वेद और धर्मशास्त्र में विधान किए हुए कर्मों को धर्म कहते हैं—वसिष्ठ स्मृति, अ० १, अंक ३ ।

धारणा - संयम के जानने वाले मन के रोकने को धारणा कहते हैं—शंख स्मृति अ० ७ श्लोक १३ ।

ध्यान—हृदय में ध्यान के योग से ब्रह्म के दर्शन को ध्यान कहते हैं—शंख स्मृति, अध्याय ७ श्लोक १४-१५ ।

नरक २१— १ तामिस्र, २ लोहशङ्कु, ३ महानिरय, ४ शाल्मली, ५ रौरव, ६ कुडमल, ७ पूतिमृत्तिका, ८ कालसूचक, ९ संघात, १० लौहितोदक, ११ सविष, १२ संप्रयातन, १३, महानरक १४ काकोल, १५ संजीवन, १६ महापथ, १७ अवीचि, १८ अन्धतामिस्र, १९ कुम्भीपाक, २० असिपत्रवन और २१ तापन —याज्ञव० स्मृ० श्लोक २२२-२२४ ।

नव श्राद्ध—पाँचवें, नवें और ग्यारहवें दित अयुग्म ब्राह्मण को भोजन करावे । इसी को पंडित लोग नव श्राद्ध कहते हैं । उशन स्मृति, अध्याय ७ श्लोक १२ । चौथे. पाँचवें, नवें और ग्यारहवें दिन जन्तुओं को अन्न दिया जाता है उसी को नव श्राद्ध कहते हैं—लघुहारी स्मृति, श्लो० १०८ ।

नियम—स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, वेदाध्ययन, लिङ्गेन्द्रिय का निग्रह, गुरु की सेवा, शौच, क्रोध का त्याग और प्रमाद का त्याग ये, (१०) नियम हैं-याज्ञ० स्मृति अ० ३ श्लोक ३१४ । शौच, यज्ञ, तप, दान वेदाध्ययन, लिङ्गेन्द्रिय का निग्रह, व्रत, मौन, उपवास और स्नान ये (१०) नियम हैं । अत्रि स्मृति, श्लोक ४९ ।

नित्य स्नान—जप और अग्निहोत्र करने के लिये प्रातःकाल का स्नान नित्य स्नान कहाता है । शंख स्मृ० अ० ९ श्लोक २ ।

नील वृषभ—जो बैल लाल रङ्ग का है, उसकी पूँछ का अग्रभाग पीला है । और उसके खुर तथा सींग श्वेत हैं उसको नील वृषभ कहते हैं । वृहस्पति स्मृति श्लोक २२ । जो बैल लाल रङ्ग का है और उसके खुर, पूँछ तथा शिर श्वेत हैं वह नील वृषभ कहाता है—लिखित स्मृति, श्लोक १४ ।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जो ब्रह्मचारी प्रसन्न मन से वेद पढ़ते हुए गुरु के अधीन रहकर गुरु के अधीन कार्यों को करते हुए मर ने के समय तक गुरु के गृह में रहता है उसको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते है। (विष्णु स्मृति अ० १ श्लोक २४)। जो मनुष्य यज्ञोपवीत से लेकर अपनी मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचर्यवृत धारण करता है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्म सायुज्य पाता है—(व्यास स्मृति अ० १ श्लोक ४०)। नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप बसे, आचार्य के मरने पर उनके पुत्र के अथवा उनकी पत्नी के पास वा उनकी अग्नि की रक्षा करे—(याग्वल्क्य स्मृति अ० १ श्लोक ४८)।

नैमित्तिक स्नान—चाण्डाल आदि के छूने पर जो स्नान किया जाता है वह नैमित्तिक स्नान कहाता हैं।

परिवेत्ता—जब बड़े भाई के कारे रहते हुए छोटा भाई विवाह करके अग्नि होत्र ग्रहण करता है तब छोटा भाई परिवेत्ता कहाता है।

परिवित्ति—जब बड़े भाई के कारे रहते हुए छोटा भाई विवाह करके अग्नि होत्र ग्रहण करता है तब बड़ा भाई परिवित्ति कहा जाता है।

पल—अस्सी रत्ती का एक सुवर्ण और ४ सुवर्ण का १ पल होता है।

पञ्चगव्य—गोमूत्र, गोबर, दूध, दही घी और कुशा का जल यह पापों का नाशक पवित्र पञ्चगव्य कहाता है। काली गौ का गोमूत्र, श्वेत गौ का गोबर, ताम्बे के रङ्ग की गौ का दूध, लाल गौ का दही, कपिल्य गौ का घी अथवा कपिल्य गौ का ही सब लेकर पञ्चगव्य बनाना चाहिये। गोबर से दूना गो मूत्र, चौगुना घी, आठ गुना दूध और आठ गुना ही दही एकत्र कर देने से पञ्चगव्य बनता है। (अत्रि स्मृति, श्लोक २९५-२९६)।

पञ्चअग्नि—गार्हपत्याग्नि, अन्वहार्य (दक्षिणाग्नि), आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य ये पाँच अग्नि आत्मा में स्थत हैं।

पञ्चयज्ञ—वेद पढ़ना पढ़ाना-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण करना-पितृयज्ञ, होम करना—देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव कर्म—भूतयज्ञ और अतिथि सत्कार मनुष्य यज्ञ यही पञ्चयज्ञ हैं।

पञ्च विषय। शब्द, स्पर्श. रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं।

पाकयज्ञ—तीन अष्टकाओं का ३ पार्वण, श्राद्ध १, श्रावणी कर्म, आग्रहायणीयज्ञ, १ चैत की पूर्णिमासी का यज्ञ ये ७ पाक यज्ञ, कहाते हैं। (गौतम स्मृत्ति अ० ८ अंक ३)।

पितृतीर्थ—अंगूठे के पास की तर्जनी अंगुली और अंगूठे के बीच की अंगूठे की जड़ को पितृतीर्थ कहते हैं।

पितृ-यज्ञ - तर्पण पितृयज्ञ है ।

पुत्रिका—अपुत्रक पुरुष जब, ऐसा नियम ठहराके कि इस कन्या से जो पुत्र होगा वह श्राद्धादि कर्म करेगा, अपनी कन्या वर को देता है तब वह कन्या पुत्रिका कहाती है ।

पुरोहित—जो ब्राह्मण ज्योतिष जानने वाला, शास्त्रज्ञ, अर्थ शास्त्र में कुशल और अथर्वाङ्गि में निपुण हो राजा उसी को अपना पुरोहित बनावे । (याज्ञ-स्मृति अ० १ श्लो० ३१३)

पुष्कल—चार ग्रास अन्न को पुष्कल कहते हैं—शातातपस्मृति श्लो० ५७ ।

पूर्तकर्म—बावली, कूप, तड़ाग, देवीमन्दिर और बाग निर्माण तथा अन्नदान को पूर्त कहते हैं । (अत्रि स्मृति श्लो० ४५) ।

पोष्यवर्ग—माता, पिता, गुरु, भार्या, सन्तान, दीन, समाश्रित (दास दासी आदि) अभ्यागत, अतिथि और अग्नि ये सब पोष्यवर्ग कहे गये हैं और धनवान् मनुष्यों के लिये जो जाति और बन्धु जनों के बीच क्षीण अनाथ और समाश्रित हैं वे भी पोष्यवर्ग समझे जाते हैं । दक्ष स्मृति अ० १ श्लो० ३२-३३ ।

प्रजापति तीर्थ—कनिष्ठा अंगुली के मूल भाग को प्रजापति तीर्थ (और कायतीर्थ कहते हैं । याज्ञ-स्मृति, अ० १ श्लोक १६ ।

प्रवृत्त—जो द्विज सम्पूर्ण वेद अथवा एक वेद समाप्त करके गुरु की आज्ञा से समावर्तन स्नान करके गुरु को दक्षिणा देकर, अपने घर जाता है उसको प्रवृत्त कहते हैं । व्यास स्मृति, अ० १,श्लोक ४२ ।

प्रत्याहार—विषयों से इन्द्रियों को हटाने को प्रत्याहार कहते है । शंख० स्मृति अ० ७ श्लो० १४ ।

प्राणायाम—प्राण वायु को रोक कर शिरोमंत्र (आपोज्योति इत्यादि,) ७ व्याहृति (भूर्भुवः आदि) और प्रणव से युक्त गायत्री को तीन बार जपें तो एक प्राणायाम होता है—याज्ञ-स्मृति अ० १, श्लोक २३, अत्रिस्मृति श्लोक २६४-२६५, सवर्त स्मृति श्लोक २२६-२२७-बौधायन स्मृति, अ० ४, अ० १ अङ्क ३० और शङ्ख स्मृति, अ० २, श्लोक १२-१३ ।

प्राजापत्य तीर्थ—अँगूठे की जड़ को प्राजापत्य तीर्थ कहते हैं—शङ्ख स्मृति, अ० २० श्लोक २ ।

प्रातःकाल—१५ मुहूर्त्त का दिन होता है उसमें से प्रथम के ३ मुहूर्त्त को प्रातःकाल कहते हैं—प्रजापति स्मृति, श्लो० १५६ ।

बकव्रती—जो द्विज अपनी नम्रता दिखाने के लिये पाखण्ड से नीचे दृष्टि रखता है, किन्तु उसका अंतःकरण स्वार्थ साधन से पूर्ण है उस मूर्ख तथा वृथा नम्रता दिखाने वाले को बकव्रति कहते हैं क्योंकि

उसका आचरण बगुले के समान है—मनुस्मृति, अ० ४, श्लोक १९६ और वृहद्विष्णु स्मृति, अ० ९२ श्लोक ९।

बहुश्रुत—जो ब्राह्मण लोक व्यवहार और वेद तथा वेद तथा वेदाङ्गों को जानता है वाक्य (प्रश्नोत्तररूप वैदिक ग्रन्थ) इतिहास और पुराण जानने में प्रवीण है, इन्हीं की अपेक्षा करने वाला और इन्हीं से जीविका करने वाला ४० संस्कारों से शुद्ध, ३ कर्म (वेद पढ़ाना यज्ञ कराना और दान लेना) में तत्पर और समय के अनुकूल नम्रता के सहित आचार बिहार में बर्त्ताव करने वाला है उसको बहुश्रुत कहते हैं—गौतम स्मृति, अ० ८, अङ्क २।

विडालव्रती—जो द्विज लोगों के लिये जानने के लिये पाखण्ड से धर्म करता है, सदा लोभ में रत रहता है, कपटवेष धारण करता है, लोगों को ठगता है, परहिंसा में तत्पर रहता है। और द्वेष से सब की निन्दा किया करता है उसको बिडालव्रती कहते हैं—मनुस्मृति, अ० ४, श्लो० ११५ और वृहद्विष्णुस्मृति, अ० ९३—श्लो० ८।

ब्रह्मयज्ञ—वेद पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है,—मनुस्मृति, अ०, ३, श्लो० ७० याज्ञ० अ० १, श्लो० १०२, शंख स्मृति, अ० ५, श्लो० ८, कात्यायनस्मृति, खंड १३, श्लो० ३-४, गोमितास्मृति, प्रपाठक २, श्लो० २७-२८।

ब्रह्मतीर्थ—अंगुष्ठ के मूल भाग को ब्रह्मतीर्थ कहते हैं। याज्ञ० अ० १, श्लो० १९।

ब्राह्मतीर्थ—अंगुष्ठ के मूल के नीचे भाग को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं। मनुस्मृति, अध्याय २, श्लो० ५९।

ब्राह्मणब्रुव—जिसका गर्भादान आदि संस्कार और वेदोक्त यज्ञोपवीत हुआ है, किन्तु वह पढ़ता पढ़ाता नहीं है उसको ब्राह्मणब्रुव कहते हैं। व्यास स्मृति अ० ४, श्लो० ४२।

व्रीहि—यव के समान गेहूँ, और व्रीहि (धान) के समान शालि (साठी धान) है। कात्यायनस्मृति खण्ड १५, श्लोक २१।

भिक्षुक—ब्रह्मचारी, सन्यासी, विद्यार्थी गुरु की पालना करने वाला, पथिक और वृत्ति से हीन ये ६ भिक्षुक कहे जाते हैं। अत्रि स्मृति, श्लो० १६२।

भूतयज्ञ—बलिवैश्वदेव कर्म भूत यज्ञ है—मनुस्मृति, अ० ३ श्लो० ७० आदि स्मृतियां।

भूतात्मा—जो शरीर के कार्यों को करता है उसको बुद्धिमान लोग भूतात्मा कहते हैं—मनुस्मृति, अ० १२ श्लो० १२।

भ्रूणहत्या—ब्राह्मण को मार कर तथा ब्राह्मणी के अविज्ञात (पुत्र है या पुत्री ऐसा नहीं जाना हुआ) गर्भ को गिराकर मनुष्य भ्रूण हत्यारा होता है, क्योंकि अविज्ञात गर्भ पुरुष माना जाता है—वसिष्ठस्मृति, अ० २०, अंक २६।

मनुष्य यज्ञ—अतिथि सत्कार मनुष्य यज्ञ है—मनुस्मृति, अ० ३, श्लो० ७० आदि स्मृतियां।

मङ्गल—प्रतिदिन उत्तम आचरण करे और निन्दित आचरण को त्याग देवे इसको धर्मवादी ऋषियों ने मङ्गल कहा है—अत्रिस्मृति श्लो० ३६।

मधुपर्क—दही और मधु मिलने से मधुपर्क बनता है, अपने पूज्य को मधुपर्क देना हो तो कांसे के पात्र से ढके हुए कांसे के पात्र में मधुपर्क समपर्ण करे। कत्यापन स्मृति, खड २६, श्लो० १८-१६। मधु, घी, और दही को मिलाकर मधुषर्क बनाना चाहिये; यदि दही नहीं मिले तो उसके स्थान में दूध और मधु नहीं मिले तो उसके स्थान में गुड़ मिलावे; इनको नवीन कांसे के पात्र (कटोरी) में रखकर दूसरे कांसे के पात्र से ढांप के सूत से लपेट देवे, इसी को मधुपर्क कहते हैं।

मलकर्षण स्नान—जो स्नान शरीर के मैल दूर करने के लिए उबटन आदि लगाकर किया जाता है वह मलकर्षणस्नान कहाता है—शंख स्मृति, अ० ८, श्लो० ६।

मनुष्यतीर्थ—अंगुलियों के अग्र भाग में मनुष्य तीर्थ है—बसिष्ठस्मृति, अ०३ अंक ५६।

महागुरु—माता, पिता और आचार्य; ये ३ मनुष्य के महागुरु हैं वृहदविष्णु स्मृ० अ० ३१अंक १२।

महानिशि—रात का दूसरा पहर और तीसरा पहर यह निशा कहाता है—पाराशरस्ट अ० १२० श्लो० २४।

महाव्याहृति— भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्।

मद्य—पानस, द्राक्ष, माधूक, खार्जूर, ताल, ऐक्षव, मधून्य, सैर, आरिष्ट, मैरेय, और नालिकेरज इन ११ मद्यों को समान जानों, बारहवां जो सुरा मद्य है उसको सबसे अधम कहा है—पुलस्त्य स्मृति (४-५)।

मध्याह्नकाल—१५ मुहूर्त का दिन होता है उसको पांच भागों में करने से तीसरे भाग को अर्थात् सातवें मुहूर्त से नवें मुहूर्त तक को मध्याह्नकाल कहते हैं—प्रजापति स्मृत श्लो० १५६-१५७।

महिषी—व्यभिचारिणी भार्या को महिषी कहते हैं—वृहद्यम स्मृति अ० ८ श्लो० १७। और प्रजापति-स्मृति श्लो० ८६। जो भार्या भग से अर्थात् व्यभिचार करके धन उपार्जन करती है वह महिषी कहलाती है—लघुआश्वलायनस्मृति, लोकेनिंद्यप्रकरण २१, श्लो० ४।

माहिषक—व्यभिचारिणी भार्या को महिषी और उसके दोष को सहन करने वाले उसके पति को माहिषक कहते हैं—वृहद्यमस्मृति, अ० ३, श्लो० १७ और प्रजापतिस्मृति, श्लोक ८६-८७।

मुहूर्त—१८ पलका एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला, ३० कला का एक मुहूर्त ३० मुहूर्त की दिन-रात होती है—मनुस्मृति अ० १ श्लोक ६४।

मैथुन—स्त्री का स्मरण करना, स्त्री के अङ्ग का वर्णन करना, स्त्री के संग खेलना, स्त्री को देखना, एकान्त में स्त्री से बातें करना, स्त्री से मैथुन करने का मनोरथ होना, स्त्री से मैथुन करने का निश्चय करना और स्त्री से मैथुन करना—यह आठ प्रकार का मैथुन बुद्धिमानों ने कहा है —दक्ष स्मृति अ० ७ श्लो० ३१-३२।

पाचित—अच्छा कह कर किसी पदार्थ को लेने को पाचित कहते हैं—वि० सृ० अ० श्लो० ११०

नृरुमृग—गौरमृग को रुरु कहते हैं—कात्यायन स्मृ०, खंड २७ श्लो० ११।

रौहिण—जिस मुहूर्त्त में दोपहर के बाद सूर्य की छाया आधा अंगुल पूर्व की ओर पड़ती है उस मुहूर्त्त को रौहिण कहते हैं, उस समय श्राद्ध करना चाहिये, लघुहारीस्मृति, श्लोक १११।

लाजा—भुने हुए व्रीहि को लाजा (लावा) कहते हैं—कात्यायनस्मृति, खं० २८ श्लोक० १ आदि स्मृति।

बनस्पति—जो बिना फूल लगे ही फलते हैं (बड़ पीपल आदि) वे बनस्पति हैं-मनुस्मृति, अध्याय १ श्लो० ४७।

ब्रज्र—गो मूत्र मिला हुआ तथा घी में पका हुआ यावक (यव का रस) वज्र कहाता है। अत्रि स्मृति श्लो० १६१।

वार्ता—कृषि गोरक्षा और वाणिज्य तथा द्विज की अन्य विहित क्रिया को वार्तावृत्ति कहते हैं—बृहत्पाराशरीय धर्मशास्त्र अ० १० आदि।

वार्धुषिक—जो (ब्राह्मण या क्षत्रिय) सस्ता अन्न लेकर उसको महँगा करके देता है वह वार्धुषिक कहाता है, वह ब्रह्म वादियों में निद्रित है, वसिष्ठ स्मृति, अ० २ श्लोक ४६ आदि स्मृति। वार्धुषिक ब्राह्मण और वार्धुषिक क्षत्रिय का अन्न नहीं खाना चाहिए-व० स्मृ० अ० २ श्लोक ४४।

वार्षलेय—जब बिना विवाही हुई कन्या रजस्वला होती है तब उसको वृषली और (विवाह होने पर) उससे उत्पन्न संतान को वार्षलेय कहते हैं-लघुआश्वलापन स्मृति, लोके निंद्यप्रकरण २१, श्लोक ५।

वाक्पारुष्य—देश, जाति, कुल आदि के आक्षेप, व्यङ्गयुक्त वचन और अर्थ प्रतिकूल वचन को वाक्पारुष्य कहते हैं-नारद स्मृति, विवादपद १५, श्लोक १।

विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध-ये ५ विषय कहे जाते हैं। याज्ञ० स्मृ० अ० ३ श्लोक ९१

विप्र—नेक विद्या पढ़ने से ब्राह्मण विप्र होता है-अग्नि स्मृति, श्लोक १३९।

वृष—भगवान् धर्म को वृष कहते हैं-मनुस्मृति, श्लोक १६।

वेदवित्—ऋग्वेद, यजुर्वेद और विविध प्रकार के सामवेद के मंत्रों को त्रिवृत्वेद कहते हैं, जो द्विज इन सब को जानता है वह वेदवित् कहाता है। सब वेदों का आदि, तीन अक्षर (आकार, उकार और मकार) वाला, तीनों वेदों का अधिष्ठानभूत ओंकार का भी त्रिवृत वेद कहते हैं जो इसको भली भांति से जानता है वह भी वेदवित् कहलाता है—मनुस्मृति, अ० ११, श्लोक २६५-२६६। वेद और शास्त्र पढ़े हुए और शास्त्र के अर्थ को बताने वाले ब्राह्मण को वेदवित् (वेद जानने वाला) कहते हैं—अत्रि स्मृति श्लोक १३९-१४०।

वेदपारग—जो (ब्राह्मण) विस्तारपूर्वक सम्पूर्ण वेद, ६ वेदाङ्ग इतिहास और पुराण के विषय का निर्णय करता है वह वेदपारग कहलाता है—व्यास स्मृति, अ० ४ श्लोक ४५।

वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् ये ६ वेदाङ्ग हैं।

व्यसन—शिकार खेलना, जूआ खेलना, दिन में सोना, पर की निन्दा करना, स्त्रियों में आसक्त होना, मदिरा आदि में प्रमत्त होना, नाचना, गाना बजाना और वृथा घूमना ये १० कामज व्यसन और चुग़ली करना, दुःसाहस करना, द्रोह करना, ईर्षा करना, पर के गुणों में दोषों को प्रकट करना, अन्याय से अन्य का द्रव्य ले लेना, कठोर वचन बोलना, और ताड़ना करना ये ८ क्रोधज व्यसन हैं—मनुस्मृति अ० ७, श्लोक ४७-४८।

व्रात्य- ब्राह्मण का जनेऊ १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का जनेऊ २४ वर्ष तक [illegible] सकता है; यदि इतने समय तक उनका उपनयन संस्कार न किया जाय तो सावित्री से पतित हो साधु समाज में निन्दित होते हैं; इन्हें व्रात्य कहा जाता है। मनु० अ० २ श्लोक ३८-३९; व्यास स्मृ० अ० १ श्लोक २०; शङ्ख और गौतम आदि स्मृतियां।

शिष्ट—जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य आदि धर्म से युक्त होकर और वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र आदि के सहित वेद पढ़के वेद के अर्थ का उपदेश करता है उसको शिष्ट ब्राह्मण कहते हैं। मनु१ अध्याय १२ श्लो० १०९ और [illegible]यन स्मृति, अ० १ श्लोक ६। जिस ब्राह्मण के घर कुल परम्परा से वेद, वेदांग आदि पढ़के वेद का [illegible]ा करने की परिपाटी चली आती है वह शिष्ट ब्राह्मण कहाता है—वसिष्ठ स्मृति, अ० ५ श्लोक ४०।

शौच—अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग, अनिन्दित लोगों का संग और उत्तम आचरणों में स्थित शौच [illegible]ाता है—अत्रि स्मृति ३५।

श्रुति—वेद को श्रुति कहते हैं—मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०।

श्रोत्रिय—ब्राह्मण के घर जन्म से ब्राह्मण संज्ञा होती है, संस्कार से द्विज कहाता है और वेद विद्या पढ़ने से [illegible] होता है और इन तीनों के होने से श्रोत्रिय कहलाता है—अत्रि स्मृति श्लोक १३८-१३९।

सप्त औषधि—धान,, साठी चावल,मूंग, गेहूँ, सरसों, तिल और यव इन सप्त औषधियों को खाने से विपद् दूर होती है-कात्यायन स्मृति खं० २६ श्लोक २३।

संध्या--दिन और रात्रि के सन्धि (मेल) को सन्ध्या कहते हैं और दिन के पूर्व भाग और अपरभाग का सन्धि मध्याह्न भी सन्ध्या कहाता है।

समाधि--विषय भोगों को त्याग कर आत्म शक्ति रूप से मन की स्थिरता को समाधि कहते हैं—दक्ष स्मृति—अ० ७ श्लोक २२।

सम ब्राह्मण- जो ब्राह्मण के वीर्य से उत्पन्न हुआ है, किन्तु मंत्र संस्कार से रहित होकर सपने को ब्राह्मण कहके जीविका करता है उसको समब्राह्मण कहते हैं- व्यास स्मृति अ० ७ श्लोक ४१।

सपिण्ड—सातावीं पीढ़ी में सपिण्डता दूर हो जाती है=मनु अ० ५, श्लो० ६० और उशन्स्मृति, अ० ६ श्लो० ५२। एक वंश में उत्पन्न ७ पीढ़ियों तक सपिण्ड संज्ञा होती है=अत्रिस्मृति, श्लो० ८५। पिता, पितामह, प्रपितामह, लेपभागी अर्थात् प्रपितामह का पिता, पितामह और प्रपितामह और जिससे गिना जाता है वह यही ७ पुरुष सपिण्ड हैं- उशन्स्मृति, अ० ६ श्लो० ५३ और लघु आश्वलायनस्मृति, प्रेत कर्मप्रकरण, २०, श्लो० ८२-८३। सात पीढ़ी के मनुष्यों में सपिण्डता मानी जाती है—वसिष्ठ स्मृति, अ० ४ अंक १७। प्रपितामह, पितामह, पिता स्वयं (आप) सहोदर भाई, सवर्णस्त्री के पुत्र पौत्र और प्रपौत्र ये सब सपिण्ड हैं वो स्मृति, प्र० १ अ०, ५ अंक ११३। सपिण्ड, सोदक और सगोत्र इनको एक एक क्रम से एक एक की ७ पीढ़ी को सपिण्ड जानना चाहिये। लघु आश्वलायनस्मृ० २० प्रेतकर्म प्र० श्लो० ८४।

सङ्गवकाल—१५ मुहूर्त का दिन होता है उसमें प्रातःकाल ३ मुहूर्त और उसके बाद संगवकाल ३ मुहूर्त तक रहता है—प्रजापति स्मृति, श्लो० १५६।

सायंकाल—१५ मुहूर्त्त का दिन होता है, उसमें प्रातःकाल, ३ मुहूर्त्त संगव काल, ३ मुहूर्त्त मध्यान्ह काल, ३ मुहूर्त्त अपरान्हकाल और अन्त में ३ मुहूर्त्त सायंकाल कहलाता है—प्रजापति स्मृति, श्लो० १५६-१५७,

सुरा—गुड़ से बनी हुई चांवल के पिसान से बनी हुई और मधु से बनीहुई तीन प्रकार की सुरा होती है—मनुस्मृति अ० ११ श्लो० ९५।

सोमयज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़सी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ कहाते हैं—गौतम स्मृति, अ० ८, अंक ३।

स्नातक—जो (ब्राह्मण) ब्रह्मचर्य व्रत और विद्या समाप्त कर समावर्तन स्नान करके अपने घर आता है वह स्नातक कहाता है, विद्या को समाप्त करके समावर्तन स्नान करने वाला विद्यास्नातक और ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर स्नान करने वाला व्रत स्नातक कहाता है—बृहत्पराशरीय धर्मशास्त्र—अ० ४, श्लो० १६४-१५६।

स्मृति—धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं—मनुस्मृति अ० २, श्लोक १०।

स्त्री धन—स्त्री धन ६ प्रकार का है, विवाह के होम के समय का मिला हुआ, ससुराल में जाने के समय मिला हुआ, प्रतिनिमित्तक, स्वामी का दिया हुआ, भाई से मिला हुआ, माता से मिला हुआ और पिता का दिया हुआ—मनु० अ० ९, श्लो० १९४। पिता, माता, पति और भाई से मिला हुआ,—विवाह के होम के समय का मिला हुआ और दूसरी स्त्री से विवाह करने के समय पति का दिया हुआ 'धन' स्त्री धन कहाता है। और बन्धु लोगों का दिया हुआ, वर से कन्या का मूल्य लिया हुआ तथा विवाह के बाद पति के कुल और पिता के कुल से मिला हुआ धन भी स्त्री धन कहा जाता है—याज्ञ० अ० २, श्लो० १४७-१४८ और वृहद्विष्णु-स्मृति अ० १७ अंक ८।

स्वरित—वेदगान में अधिक उच्चस्वर।

स्वेदज—दंश, मच्छर यूक, मक्खी, खटमल आदि स्वेदज जन्तु हैं मनु० अ० १, श्लो० ४५।

हविष्—मुनियों के अन्न (नीवार आदि) दूध, सोमरस, दुर्गंध आदि से रहित मांस और बिना बनाया हुआ सेंधा नोंन ये सब स्वाभाविक हवि कहाते हैं—मनु० अ० ३, श्लो० २५।

हविर्यज्ञ—श्रौत स्मार्त्त अग्नियों का स्थान, नित्य का अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमासयज्ञ, आदाय ऐष्टिक, चातुर्मासयज्ञ, निरूढपशुबन्धकर्म अर्थात् पशुयागकर्म और सौत्रामणीयज्ञ ये सातों हविर्यज्ञ अर्थात् चरुपुरोडाशादि से होने वाले यज्ञ कहाते हैं। गौतम स्मृति अ० ८ अंक ३।

हन्तकार—भोजन के लिये जितना अन्न होम करने वाला स्नातक द्विज बनाता है उसके चतुर्भाग को ऋषि लोग हन्तकार कहते हैं; एक ग्रास अन्न भिक्षा उसका चौगुना अन्न पुष्कल और ४ पुष्कल अन्न हन्तकार है—शातातपस्मृति, श्लो० ५५-५७।

क्षेत्रज्ञ— जो इस शरीर से कार्य कराता है उसे क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) कहते हैं— मनु० २२ श्लो० ३२।

इति
समाप्तम्

मैसर्स रामप्रसाद बंसीधर मिश्र द्वारा अरावली प्रेस, अलवर (राजस्थान) में मुद्रित।

॥ श्री रामजी ॥

प्रातः स्मरामि रघुनाथ मुखारविन्दं
मन्दस्मितं मधुरभाषि विशाल भालम् ॥
कर्णावलम्बि चलकुण्डलशोभि गण्डं ॥
कर्णान्त दीर्घनयनं नयनाभिरामम् ॥ १ ॥
प्रातः स्मरामि रघुनाथ करारविन्दं
रक्षो गणायभयदं वरदं निजेभ्यः
यद्राज संसदिविभज्य महेश चापं
सीता कर ग्रहण मङ्गलमापसद्यः ॥ २ ॥
प्रातः स्मरामि रघुनाथ विशाल मूर्तिं
नीलाम्बुजेक्षण सितेतररत्ननीलाम् ॥
आमुक्त मौक्तिक विशेष विभूषणाढ्यां
ध्येयां समस्त मुनिभिर्जनिमृत्यु हन्त्रीम् ॥ ३ ॥
प्रातः स्मरामि रघुनाथ पदारविन्दं
पद्माङ्कुशादि शुभमेकशुभावहं मे
योगीन्द्र मानस मधुव्रत सेव्यमानं
शापापहं सपदि गौतम धर्मपत्न्या ॥ ४ ॥
प्रातः श्रेय श्रुतिनुतं रघुनाथ नाम
वाग्दोषहारिसकलं शवलं निहन्ति ॥
यत्पार्वती स्व पतिना सह भोक्त कामा
प्रीत्या सहस्र हरिनाम समं जजाप ॥ ५ ॥
यः श्लोक पञ्चकमिदं प्रयतः पठेतु
नित्यं प्रभात समये रघुनन्दनस्य ॥
श्री राम किंकर जनेषु सएव मुख्यो
भूत्वा प्रयतिहरिलोकम् नान्य लभ्यम् ॥ ६ ॥

इति श्री रघुनाथ जी महाराज का प्रातः स्मरण समाप्तम्

॥ इति ॥

—पं० गौरीशङ्कर शास्त्री द्वारा प्रस्तुत